आश्वमेधिकपर्व आश्रमवासिकपर्व मौसलपर्व
महाप्रस्थानिकपर्व स्वर्गारोहणपर्व

सम्पादक
डॉ. पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

१४
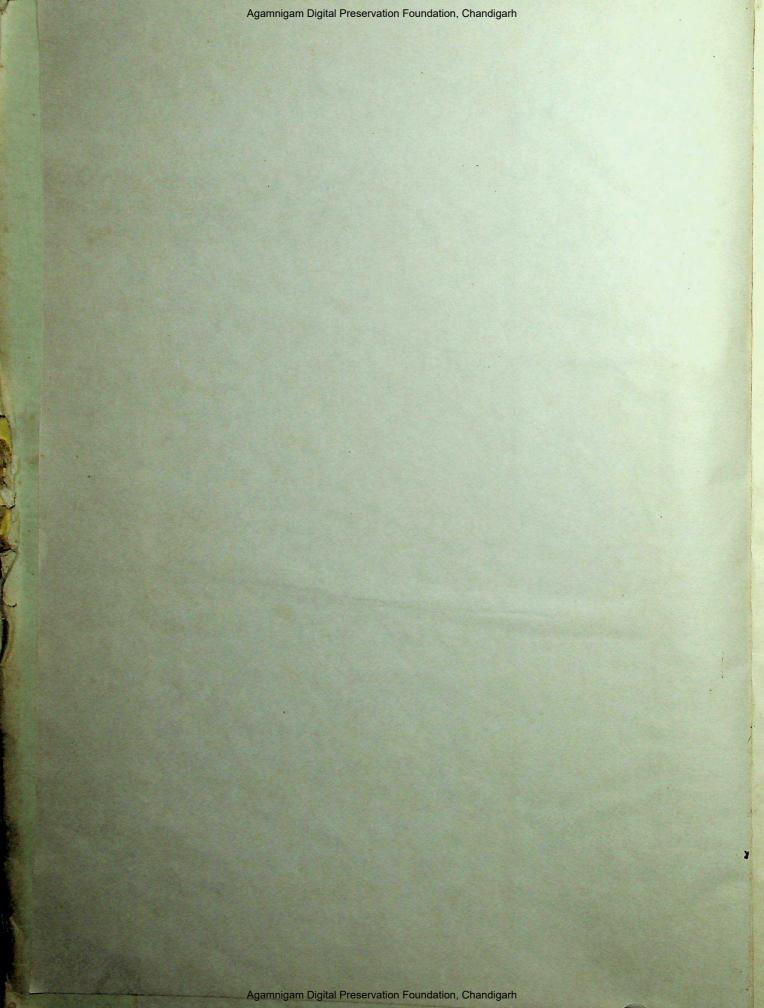
म हा भा र त

आश्वमेधिकपर्व

[मूल संस्कृत श्लोक और हिन्दी अर्थ सहित]

प्रधान सम्पादक

डॉ. पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

पारडी [जि. वलसाड]

संवत् २०३३, शक १८९९; सन् १९७७

*

प्रथम आवृत्ति

*

प्रकाशक और मुद्रक :
वसन्त श्रीपाद सातवलेकर
स्वाध्याय-मण्डल, भारत मुद्रणालय,
किल्ला-पारडी [जि. वलसाड] गुजरात

आश्वमेधिकपर्व

आभार प्रदर्शन

इस महाभारत प्रकाशनके लिए भारतसरकारके शिक्षा मंत्रालयने आर्थिक सहायता प्रदान करके जो महान् कार्य किया है, उसके लिए हम हृदयसे आभारी हैं।

इस महाभारत प्रकाशनके लिए हम माननीय श्री सेठ गंगाप्रसादजी बिरला और माननीय श्री सेठ बी. एम. बिरला का भी उपकार नहीं भूल सकते। उन्होंने कागज देकर हमारी जो सहायता की है, उसके लिए हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

*

महाभारत

आश्वमेधिकपर्व

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

ॐ नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

ॐ गणोंके ईशके लिये नमस्कार हो ।

ॐ नरोत्तम नारायण, नर और देवी सरस्वतीको प्रणाम करके जयकी घोषणा करनी चाहिये ।

: १ :

वैशम्पायन उवाच—

कृतोदकं तु राजानं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरः ।
पुरस्कृत्य महाबाहुरुत्ततारकुलेन्द्रियः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— महाबाहु युधिष्ठिर कृततर्पण राजा धृतराष्ट्रको आगे करके व्याकुल-चित्तसे गंगाजलसे बाहर आये ॥ १ ॥

उत्तीर्य च महीपालो बाष्पव्याकुललोचनः ।
पपात तीरे गङ्गाया व्याधविद्ध इव द्विपः ॥ २ ॥

पृथ्वीपति युधिष्ठिर आंसू डबडबाये हुए नेत्रसे गङ्गासे उत्तीर्ण होकर व्याधके द्वारा विद्ध हाथीकी भांति तटपर गिर पडे ॥ २ ॥

तं सीदमानं जग्राह भीमः कृष्णेन चोदितः ।
मैवमित्यब्रवीच्चैनं कृष्णः परबलार्दनः ॥ ३ ॥

अनन्तर श्रीकृष्णकी प्रेरणानुसार भीमने उस अवसन्न युधिष्ठिरको पकडा और परबलपीडक श्रीकृष्णने उनसे कहा, “ आप ऐसा न करिये । ” ॥ ३ ॥

तमार्तं पतितं भूमौ निश्वसन्तं पुनः पुनः ।
दहशुः पाण्डवा राजन्धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥ ४ ॥

हे महाराज ! उस समय पाण्डवोंने उस धर्मात्मा युधिष्ठिरको शोकार्त होकर पृथ्वीपर पडकर, बार बार लंबी सांस छोडते हैं ॥ ४ ॥

तं दृष्ट्वा दीनमनसं गतसत्त्वं जनेश्वरम् ।
भूयः शोकसमाविष्टाः पाण्डवाः समुपाविशन् । ॥ ५ ॥

राजाको दीनचित्त और ज्ञानरहित देखकर पाण्डव अत्यन्त शोकयुक्त होके उन्हींके पास बैठ गये ॥ ५ ॥

राजा च धृतराष्ट्रस्तमुपासीनो महाभुजः ।
वाक्यमाह महाप्राज्ञो महाशोकप्रपीडितम् ॥ ६ ॥

अनन्तर प्रज्ञाचक्षु महाबाहु राजा धृतराष्ट्र अत्यन्त शोकसे पीडित युधिष्ठिरके पास बैठकर बोले ॥ ६ ॥

उत्तिष्ठ कुरुशार्दूल कुरु कार्यमनन्तरम् ।
क्षत्रधर्मेण कौरव्य जितेयमवनिस्त्वया ॥ ७ ॥

हे कुरुशार्दूल ! तुम उठके इसके अनन्तर कर्तव्य कर्मोंको सम्पादन करो । हे कौरव ! तुमने क्षत्रियधर्मके अनुसार इस पृथ्वीको जीता है ॥ ७ ॥

तां भुङ्क्ष्व भ्रातृभिः सार्धं सुहृद्भिश्च जनेश्वर ।
न शोचितव्यं पश्यामि त्वया धर्मभृतां वर ॥ ८ ॥

इसलिये सुहृदों और भाइयोंके सहित इसे भोग करो । हे धार्मिकश्रेष्ठ ! इस समय तुम्हारे लिये शोक करनेका उचित कारण मैं नहीं देखता ॥ ८ ॥

शोचितव्यं मया चैव गान्धार्या च विशां पते ।
पुत्रैर्विहीनो राज्येन स्वप्नलब्धधनो यथा ॥ ९ ॥

हे पृथ्वीपते ! सपनेमें मिले हुए धनकी भांति जिनका राज्य पुत्रोंसे रहित हुआ है, उस गान्धारी और मुझे ही शोक करना उचित है ॥ ९ ॥

अश्रुत्वा हितकामस्य विदुरस्य महात्मनः ।
वाक्यानि सुमहार्थानि परितप्यामि दुर्मतिः ॥ १० ॥

दुर्बुद्धिके वशमें होकर महात्मा हितैषी विदुरके महान् अर्थयुक्त वचनोंको न सुननेसे मैं इस समय परितापित होता हूं ॥ १० ॥

उक्तवानेष मां पूर्वं धर्मात्मा दिव्यदर्शनः ।
दुर्योधनापराधेन कुलं ते विनशिष्यति ॥ ११ ॥

दिव्यदर्शी धर्मात्मा विदुरने मुझसे पहिलेही कहा था, कि दुर्योधनके अपराधसे ही आपका श्रेष्ठ कुल नष्ट होगा ॥ ११ ॥

स्वस्ति चेदिच्छसे राजन्कुलस्यात्मन एव च ।
वध्यतामेष दुष्टात्मा मन्दो राजा सुयोधनः ॥ १२ ॥

यदि आप अपने कुलका और स्वयंका कुशल चाहते हैं तो इस दुरात्मा मन्दबुद्धि राजा दुर्योधनको मार डालिये ॥ १२ ॥

कर्णश्च शकुनिश्चैव मैनं पश्यतु कर्हिचित् ।
द्यूतसंपातमप्येषामप्रमत्तो निवारय ॥ १३ ॥

कर्ण तथा शकुनिके सङ्ग इसकी भेंट कभी न होने दीजिये और सावधान रहकर इनकी द्यूतक्रीडा रोकिये ॥ १३ ॥

अभिषेचय राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
स पालयिष्यति वशी धर्मेण पृथिवीमिमाम् ॥ १४ ॥

धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरको ही राज्यपर अभिषिक्त करिये, वे चित्तको वशमें करनेवाले धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन करेंगे ॥ १४ ॥

अथ नेच्छसि राजानं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
मेढीभूतः स्वयं राज्यं प्रतिगृह्णीष्व पार्थिव ॥ १५ ॥

राजन् ! यदि उन कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको राज्यपर अभिषिक्त करनेके लिये आपकी इच्छा न हो, तो आप मध्यस्थ होकर स्वयं राज्य ग्रहण करिये ॥ १५ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु वर्तमानं नराधिप ।
अनुजीवन्तु सर्वे त्वां ज्ञातयो ज्ञातिवर्धन ॥ १६ ॥

हे ज्ञातिवर्धन नरनाथ ! आप सब प्राणियोंके विषयमें समभावसे विद्यमान रहके राज्यपालन करें, और स्वजनवृन्द आपका आसरा करके जीविका निर्वाह करें ॥ १६ ॥

एवं ब्रुवति कौन्तेय विदुरे दीर्घदर्शिनि ।
दुर्योधनमहं पापमन्ववर्तं वृथामतिः ॥ १७ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! दीर्घदर्शी महात्मा विदुरके ऐसा कहनेपर भी मैं दुर्बुद्धिके वशमें होकर उनके वचनको न मानके पापात्मा दुर्योधनका अनुवर्ती हुआ था ॥ १७ ॥

अश्रुत्वा ह्यस्य वीरस्य वाक्यानि मधुराण्यहम् ।
फलं प्राप्य महद्दुःखं निमग्नः शोकसागरे ॥ १८ ॥

उस वीरवर विदुरके मधुर वचनोंको टालनेसे ही यह फल प्राप्त करके महादुःखरूपी शोक समुद्रमें डूबा हूं ॥ १८ ॥

वृद्धौ हि ते स्वः पितरौ पश्यावां दुःखितौ नृप ।
न शोचितव्यं भवता पश्यामीह जनाधिप ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ १९ ॥

हे प्रजानाथ ! तुम इन दुःखित वृद्ध पिता–माताकी ओर देखो, इस समय तुम्हारे शोकका विषय मुझे तो कुछ भी नहीं दीखता है ॥ १९ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें पहला अध्याय समाप्त ॥ १ ॥ १९ ॥

: २ :

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तस्तु राज्ञा स धृतराष्ट्रेण धीमता ।
तूष्णीं बभूव मेधावी तमुवाचाथ केशवः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– मेधावी युधिष्ठिर बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रका ऐसा वचन सुनके जब मौनभावसे ही स्थित रहे, तब श्रीकृष्णचन्द्रने उनसे कहा ॥ १ ॥

अतीव मनसा शोकः क्रियमाणो जनाधिप ।
संतापयति वैतस्य पूर्वप्रेतान्पितामहान् ॥ २ ॥

हे प्रजानाथ ! जो मन ही मन मरे हुए प्राणीके लिये अत्यन्त शोक करता है, उसके प्रेतीभूत पूर्वपितामहगण अधिक सन्तापित होते हैं ॥ २ ॥

यजस्व विविधैर्यज्ञैर्बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ।
देवांस्तर्पय सोमेन स्वधया च पितॄनपि ॥ ३ ॥

इसलिये आप शोक परित्याग करके दक्षिणायुक्त विविध यज्ञोंका अनुष्ठान कर देवताओंका विधिपूर्वक पूजन और सोमके सहारे तर्पण करके स्वधामन्त्रोंसे पितरोंको तृप्त करिये ॥ ३ ॥

त्वद्विधस्य महाबुद्धे नैतदद्योपपद्यते ।
विदितं वेदितव्यं ते कर्तव्यमपि ते कृतम् ॥ ४ ॥

हे महाबुद्धिमान् ! इस समय आपके सदृश पुरुषके. लिये यह बात उपस्थित नहीं होती । आपने जानने योग्यको जान लिया है और कर्तव्यको भी पूरा किया है ॥ ४ ॥

श्रुताश्च राजधर्मास्ते भीष्माद्भागीरथीसुतात् ।
कृष्णद्वैपायनाच्चैव नारदाद्विदुरात्तथा ॥ ५ ॥

आपने गङ्गानन्दन भीष्म, कृष्णद्वैपायन व्यास, नारद और विदुरके निकट सब जानने योग्य कर्तव्य विषयोंको जाना तथा समस्त राजधर्मोंको सुना है ॥ ५ ॥

नेमामर्हसि मूढानां वृत्तिं त्वमनुवर्तितुम् ।
पितृपैतामहीं वृत्तिमास्थाय धुरमुद्वह ॥ ६ ॥

इसलिये आपको इस प्रकार मूढ पुरुषोंकी वृत्तिका अनुवर्ती होना उचित नहीं है, आप पितृ–पितामहकी वृत्तिका अवलम्बन करके राज्यका भार उठाइये ॥ ६ ॥

युक्तं हि यशसा क्षत्रं स्वर्गं प्राप्तुमसंशयम् ।
न हि कश्चन शूराणां निहतोऽत्र पराङ्मुखः ॥ ७ ॥

क्षत्रियोंके यशस्वरूप क्षत्रधर्म युद्धके सहारे जो स्वर्गलाभ होना उचित है, उन लोगोंके विषयमें वैसा ही हुआ है, क्योंकि कोई शूर युद्धमें पराङ्मुख होके नहीं मारे गये ॥ ७ ॥

त्यज शोकं महाराज भवितव्यं हि तत्तथा ।
न शक्यास्ते पुनर्द्रष्टुं त्वया ह्यस्मिन्रणे हताः ॥ ८ ॥

हे महाराज ! जो होनहार था, वही हुआ है, इस विषयमें आप अब शोक न करिये, शोकका परित्याग करिये; इस युद्धमें जिनका संहार किया गया है, उन्हें आप फिर कदापि न देख सकते ॥ ८ ॥

एतावदुक्त्वा गोविन्दो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
विरराम महातेजास्तमुवाच युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

जब महातेजस्वी गोविन्द धर्मराज युधिष्ठिरसे ऐसा कहके विरत हुए, तब युधिष्ठिर उनसे कहने लगे ॥ ९ ॥

गोविन्द मयि या प्रीतिस्तव सा विदिता मम ।
सौहृदेन तथा प्रेम्णा सदा मामनुकम्पसे ॥ १० ॥

हे गोविन्द ! मुझपर तुम्हारी जो प्रीति विद्यमान है, वह मुझे विदित है । तुम प्रेम तथा सुहृदयताके सहित सदा मेरे ऊपर कृपा करते हैं ॥ १० ॥

प्रियं तु मे स्यात्सुमहत्कृतं चक्रगदाधर ।
श्रीमन्प्रीतेन मनसा सर्वं यादवनन्दन ॥ ११ ॥
यदि मामनुजानीयाद्भवान्गन्तुं तपोवनम् ।
न हि शान्तिं प्रपश्यामि घातयित्वा पितामहम् ।
कर्णं च पुरुषव्याघ्रं संग्रामेष्वपलायिनम् ॥ १२ ॥

हे श्रीमान् चक्रगदाधारी यादवनन्दन ! अब यदि तुम मुझे सन्तुष्टचित्तसे तपोवनमें जानेके लिये आज्ञा दें, तो तुम्हारे द्वारा मेरा सारा अत्यन्त प्रिय कार्य सिद्ध होगा । संग्राममें भीष्म पितामहको और अपराङ्मुख पुरुषश्रेष्ठ कर्णको मारके किसी प्रकारसे भी मैं शान्तिका उपाय नहीं देखता हूं ॥ ११–१२ ॥

कर्मणा येन मुच्येयमस्मात्क्रूरादरिंदम ।
कर्मणस्तद्विधत्स्वेह येन शुध्यति मे मनः ॥ १३ ॥

हे शत्रुओंका दमन करनेवाले जनार्दन ! जिस कार्यके करनेसे मैं इस क्रूरतापूर्ण पापसे छुटूं और मेरा चित्त पवित्र हो, तुम उसहीका विधान करो ॥ १३ ॥

तमेवंवादिनं व्यासस्ततः प्रोवाच धर्मवित् ।
सान्त्वयन्सुमहातेजाः शुभं वचनमर्थवत् ॥ १४ ॥

जब पृथापुत्र युधिष्ठिरने श्रीकृष्णचन्द्रसे ऐसा वचन कहा, तब महातेजस्वी धर्मज्ञ व्यासदेव उन्हें धीरज देते हुए अर्थयुक्त कल्याणकारी वचन कहने लगे ॥ १४ ॥

अकृता ते मतिस्तात पुनर्बाल्येन मुह्यसे ।
किमाकाशे वयं सर्वे प्रलपाम मुहुर्मुहुः ॥ १५ ॥

तुम फिर बालकके स्वभावके अनुसार अविवेकसे ही मोहित होते हो; क्या हम सब लोग उन्मत्तकी भांति बार बार आकाशसे वचन कहेंगे ? ॥ १५ ॥

विदिता क्षत्रधर्मास्ते येषां युद्धेन जीविका ।
यथा प्रवृत्तो नृपतिर्नाधिबन्धेन युज्यते ॥ १६ ॥

जिनकी युद्धसे जीविका निभती है, उन क्षत्रियोंके सब धर्म तुम्हें विदित हैं । जो राजा न्यायपूर्वक कार्य करता है, उसे आधिरूपी बन्धनमें बद्ध नहीं होना पडता ॥ १६ ॥

मोक्षधर्माश्च निखिला याथातथ्येन ते श्रुताः ।
असकृच्चैव संदेहाश्छिन्नास्ते कामजा मया ॥ १७ ॥

तुमने निखिल मोक्षधर्मोंको यथार्थ रीतिसे सुना है, तथा मैंने भी अनेक बार तुम्हारे कामज सन्देहोंको दूर किया है ॥ १७ ॥

अश्रद्दधानो दुर्मेधा लुप्तस्मृतिरसि ध्रुवम् ।
मैवं भव न ते युक्तमिदमज्ञानमीदृशम् ॥ १८ ॥

तुम दुर्बुद्धिके वशमें होकर उसपर श्रद्धा नहीं करते हो; तुम्हारी स्मरणशक्ति निश्चयही लुप्त हो गई है । तुम्हें ऐसा न होना चाहिये; तुम्हारे लिये ऐसा अज्ञान अयुक्त है ॥ १८ ॥

प्रायश्चित्तानि सर्वाणि विदितानि च तेऽनघ ।
युद्धधर्माश्च ते सर्वे दानधर्माश्च ते श्रुताः ॥ १९ ॥

हे पापरहित ! तुम्हें सब प्रायश्चित्त विदित हैं, तुमने सब युद्धधर्म और दानधर्म सुने हैं ॥ १९ ॥

स कथं सर्वधर्मज्ञः सर्वागमविशारदः ।
परिमुह्यसि भूयस्त्वमज्ञानादिव भारत ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ ३२ ॥

भारत ! इसलिये सब प्रकारके धर्मोंको अच्छी तरह जानके तथा वेदादि सर्व शास्त्रोंमें विशारद होनेपर भी, किस निमित्त बारबार अज्ञानकी भांति मोहित होते हो ? ॥ २० ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें दूसरा अध्याय समाप्त ॥ २ ॥ ३२ ॥

: ३ :

व्यास उवाच—

युधिष्ठिर तव प्रज्ञा न सम्यगिति मे मतिः ।
न हि कश्चित्स्वयं मर्त्यः स्ववशः कुरुते क्रियाः ॥ १ ॥

व्यासमुनि बोले– हे युधिष्ठिर ! मुझे बोध होता है, कि तुम्हारी बुद्धि सम नहीं है, क्योंकि कोई भी मनुष्य स्वयं स्ववश होके कार्य नहीं करता ॥ १ ॥

ईश्वरेण नियुक्तोऽयं साध्वसाधु च मानवः ।
करोति पुरुषः कर्म तत्र का परिदेवना ॥ २ ॥

मनुष्य ईश्वरकी प्रेरणासे जो उत्तम वा अधम कार्य करता है, इसलिये उसमें शोक करनेकी क्या जरूरी है ? ॥ २ ॥

आत्मानं मन्यसे चाथ पापकर्माणमन्ततः ।
शृणु तत्र यथा पापमपकृष्येत भारत ॥ ३ ॥

हे भारत ! यदि तुम निश्चय ही अंतमें युद्धके लिये अपनेको पापी समझते हो, तो जिस प्रकार वह पाप छूटता है, उसे सुनो ॥ ३ ॥

तपोभिः क्रतुभिश्चैव दानेन च युधिष्ठिर ।
तरन्ति नित्यं पुरुषा ये स्म पापानि कुर्वते ॥ ४ ॥

हे युधिष्ठिर ! मनुष्य लोग बहुतसे पापकर्म करके तपस्या, यज्ञ और दानके सहारे सदा उनसे मुक्त हो सकते हैं ॥ ४ ॥

यज्ञेन तपसा चैव दानेन च नराधिप ।
पूयन्ते नरशार्दूल नरा दुष्कृतकर्मिणः ॥ ५ ॥

हे नरेन्द्रनाथ ! पुरुषश्रेष्ठ ! पाप करनेवाले मनुष्य यज्ञ, तपस्या और दानसे ही पवित्र हुआ करते हैं ॥ ५ ॥

अमुराश्च सुराश्चैव पुण्यहेतोर्मखक्रियाम् ।
प्रयतन्ते महात्मानस्तस्माद्यज्ञाः परायणम् ॥ ६ ॥

महात्मा देववृन्द और असुर लोग भी पुण्यके लिये यज्ञकार्यमें समधिक यत्न करते हैं; इस ही निमित्त यज्ञ श्रेष्ठ अवलम्बन हुआ है ॥ ६ ॥

यज्ञैरेव महात्मानो बभूवुरधिकाः सुराः ।
ततो देवाः क्रियावन्तो दानवानभ्यधर्षयन् ॥ ७ ॥

महानुभाव देवगण यज्ञोंके द्वारा ही असुरोंसे अधिक महत्त्वयुक्त हुए, इस ही लिये क्रियावान् देवताओंने दानवोंको पराजित किया है ॥ ७ ॥

राजसूयाश्वमेधौ च सर्वमेधं च भारत ।
नरमेधं च नृपते त्वमाहर युधिष्ठिर ॥ ८ ॥

हे भरतकुलोत्पन्न राजन् युधिष्ठिर ! इसलिये तुम राजसूय, अश्वमेध, सर्वमेध और नरमेध यज्ञ करो ॥ ८ ॥

यजस्व वाजिमेधेन विधिवद्दक्षिणावता ।
बहुकामान्नवित्तेन रामो दाशरथिर्यथा ॥ ९ ॥

विधिपूर्वक दक्षिणा देकर बहुतसे इच्छित पदार्थ, अन्न और वित्तसमन्वित अश्वमेध यज्ञ दशरथ पुत्र श्रीरामके समान करो ॥ ९ ॥

यथा च भरतो राजा दौःषन्तिः पृथिवीपतिः ।
शाकुन्तलो महावीर्यस्तव पूर्वपितामहः ॥ १० ॥

तुम्हारे पितामह दुष्यन्तपुत्र शकुन्तलानन्दन महावीर पृथ्वीपति राजा भरतने जैसे यज्ञ किया था, उसी प्रकार तुम करो ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच—

असंशयं वाजिमेधः पावयेत्पृथिवीमपि ।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित्तं त्वं श्रोतुमिहार्हसि ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर बोले– अश्वमेध यज्ञ निःसंदेह पृथिवीको भी पवित्र करता है, परन्तु इस विषयमें मेरा जो अभिप्राय है, उसे भी आपको सुनना उचित है ॥ ११ ॥

इमं ज्ञातिवधं कृत्वा सुमहान्तं द्विजोत्तम ।
दानमल्पं न शक्यामि दातुं वित्तं च नास्ति मे ॥ १२ ॥

हे द्विजोत्तम ! मैं यह महत् स्वजन जातियोंका वध करके अल्प दान भी नहीं कर सकूंगा, कारण दान करनेके लिये मेरे पास धन नहीं है ॥ १२ ॥

न च बालानिमान्दीनानुत्सहे वसु याचितुम् ।
तथैवार्द्रव्रणान्कृच्छ्रे वर्तमानान्नृपात्मजान् ॥ १३ ॥

तथा मैं उपस्थित इन आर्द्रघावयुक्त अत्यन्त संकटमें पडे बालक और दीन राजपुत्रोंके निकट धनकी याचना नहीं कर सकता ॥ १३ ॥

स्वयं विनाश्य पृथिवीं यज्ञार्थे द्विजसत्तम ।
करमाहारयिष्यामि कथं शोकपरायणान् ॥ १४ ॥

हे द्विजसत्तम ! मैं स्वयं पृथ्वीका विनाश कराके यज्ञके लिये फिर किस प्रकार इन शोक-मग्न लोगोंसे कर लूंगा ? ॥ १४ ॥

दुर्योधनापराधेन वसुधा वसुधाधिपाः ।
प्रनष्टा योजयित्वास्मानकीर्त्या मुनिसत्तम ॥ १५ ॥

हे मुनिसत्तम ! दुर्योधनके अपराधसे ही पृथ्वी और सब राजा हमारे ऊपर अपयशका दोष लगाकर नष्ट हो गये हैं ॥ १५ ॥

दुर्योधनेन पृथिवी क्षयिता वित्तकारणात् ।
कोशश्चापि विशीर्णोऽसौ धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ॥ १६ ॥

दुर्योधनने धनलोभसे पृथ्वीका संहार किया है और उस नीचबुद्धि धृतराष्ट्रपुत्रका कोष भी खाली होगया है ॥ १६ ॥

पृथिवी दक्षिणा चात्र विधिः प्रथमकल्पिकः
विद्वद्भिः परिदृष्टोऽयं शिष्टो विधिविपर्ययः ॥ १७ ॥

अश्वमेध यज्ञमें पृथ्वीकी दक्षिणा ही प्रथम कल्प है, यही विधि विद्वान् पण्डितोंके द्वारा मान्य हुई है, इसमें अन्यथा होनेसे विधिमें प्रमाद हुआ करता है ॥ १७ ॥

न च प्रतिनिधिं कर्तुं चिकीर्षामि तपोधन ।
अत्र मे भगवन्सम्यक्साचिव्यं कर्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

हे तपोधन ! मैं इस विधिमें प्रतिनिधि दक्षिणा देनेकी इच्छा नहीं करता; इसलिये भगवन् ! इस विषयमें आप पूरी रीतिसे मुझे योग्य सलाह दीजिये ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तस्तु पार्थेन कृष्णद्वैपायनस्तदा ।
मुहूर्तमनुसंचिन्त्य धर्मराजानमब्रवीत् ॥ १९ ॥

वैशम्पायन बोले— उस समय कृष्णद्वैपायन व्यास पृथापुत्र युधिष्ठिरका ऐसा वचन सुनकर मुहूर्तभर चिन्तन करके धर्मराजसे कहने लगे ॥ १९ ॥

विद्यते द्रविणं पार्थ गिरौ हिमवति स्थितम् ।
उत्सृष्टं ब्राह्मणैर्यज्ञे मरुत्तस्य महीपतेः ।
तदानयस्व कौन्तेय पर्याप्तं तद्भविष्यति ॥ २० ॥

व्यासदेव बोले– हे पार्थ ! पृथ्वीपति मरुत्तराजके यज्ञमें ब्राह्मणोंने जो धन हिमालय पर्वतपर छोडा था, वह वहीं है; उसही धनको ले आवो; वह पर्याप्त होगा ॥ २० ॥

युधिष्ठिर उवाच–

कथं यज्ञे मरुत्तस्य द्रविणं तत्समाचितम् ।
कस्मिंश्च काले स नृपो बभूव वदतां वर ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे वक्तृप्रवर ! मरुत्तराजके यज्ञमें किस प्रकार धन सञ्चित किया हुआ था और वे किस समय यहां राजा हुए थे ? ॥ २१ ॥

व्यास उवाच–

यदि शुश्रूषसे पार्थ शृणु कारंधमं नृपम् ।
यस्मिन्काले महावीर्यः स राजासीन्महाधनः ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ ६१ ॥

व्यासदेव बोले– हे पार्थ ! वह महाधनशाली महावीर जिस समयमें राजा हुए थे, उसे यदि तुम्हें सुननेकी इच्छा है, तो उस कारन्धम राजाका वृत्तान्त सुनो ॥ २२ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें तीसरा अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥ ६१ ॥

: ४ :

युधिष्ठिर उवाच–

शुश्रूषे तस्य धर्मज्ञ राजर्षेः परिकीर्तनम् ।
द्वैपायन मरुत्तस्य कथां प्रब्रूहि मेऽनघ ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे धर्मज्ञ निष्पाप व्यास महर्षि ! मैं उस राजर्षि मरुत्तका वृत्तांत सुननेकी इच्छा करता हूं, आप मेरे समीप विस्तारपूर्वक उनकी कथा यथार्थ कहिये ॥ १ ॥

व्यास उवाच–

आसीत्कृतयुगे पूर्वं मनुर्दण्डधरः प्रभुः ।
तस्य पुत्रो महेष्वासः प्रजातिरिति विश्रुतः ॥ २ ॥

व्यासदेव बोले– सत्ययुगमें पहिले मनु नाम प्रजापालक दण्डधारी राजा थे, उनका पुत्र महाबाहु प्रजाति नामसे विख्यात हुआ था ॥ २ ॥

प्रजातेरभवत्पुत्रः क्षुप इत्यभिविश्रुतः ।
क्षुपस्य पुत्रस्त्विक्ष्वाकुर्महीपालोऽभवत्प्रभुः ॥ ३ ॥

प्रजातिका पुत्र क्षुप और क्षुपका पुत्र इक्ष्वाकु शक्तिमान् राजा हुआ था ॥ ३ ॥

तस्य पुत्रशतं राजन्नासीत्परमधार्मिकम् ।
तांस्तु सर्वान्महीपालानिक्ष्वाकुरकरोत्प्रभुः ॥ ४ ॥

हे महाराज ! उस महात्मा इक्ष्वाकुके परम धार्मिक एक सौ पुत्र हुए थे, इक्ष्वाकु प्रभुने उन सभी पुत्रोंको ही महीपाल किया था ॥ ४ ॥

तेषां ज्येष्ठस्तु विंशोऽभूत्प्रतिमानं धनुष्मताम् ।
विंशस्य पुत्रः कल्याणो विविंशो नाम भारत ॥ ५ ॥

धनुर्धारियोंमें मुख्य विंश उनके बीच जेठे थे । भारत ! विंशका पुत्र परम सुन्दर विविंश नामका हुआ था ॥ ५ ॥

विविंशस्य सुता राजन्बभूवुर्दश पञ्च च ।
सर्वे धनुषि विक्रान्ता ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ॥ ६ ॥

राजन् ! विविंशके पन्द्रह पुत्र हुए थे; वे सब पुत्र धनुर्विद्यामें विक्रान्त, ब्रह्मनिष्ठ, सत्यवादी ॥ ६ ॥

दानधर्मरताः सन्तः सततं प्रियवादिनः ।
तेषां ज्येष्ठः खनीनेत्रः स तान्सर्वानपीडयत् ॥ ७ ॥

दानधर्ममें रत, साधु और सदा प्रियवादी थे । उनमें जैठे खनीनेत्र थे, उन्होंने उन सबको पीडित किया था ॥ ७ ॥

खनीनेत्रस्तु विक्रान्तो जित्वा राज्यमकण्टकम् ।
नाशक्नोद्रक्षितुं राज्यं नान्वरज्यन्त तं प्रजाः ॥ ८ ॥

खनीनेत्र अत्यन्त पराक्रमी थे, उन्होंने निष्कण्टक राज्य जीत लिया था, तोभी वे राज्यकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हुए, क्योंकि प्रजा उनमें अनुरक्त न हुई ॥ ८ ॥

तमपास्य च तद्राष्ट्रं तस्य पुत्रं सुवर्चसम् ।
अभ्यषिञ्चत राजेन्द्र मुदितं चाभवत्तदा ॥ ९ ॥

हे राजेन्द्र ! प्रजा उसे राष्ट्रसे हटाकर उसके पुत्र सुवर्चाको राज्यपर अभिषिक्त करके आनन्दित हुई थी ॥ ९ ॥

स पितुर्विक्रियां दृष्ट्वा राज्यान्निरसनं तथा ।
नियतो वर्तयामास प्रजाहितचिकीर्षया ॥ १० ॥

वह सुवर्चा पिताकी दुर्दशा तथा राज्यसे उन्हें निर्वासित होते देखकर, प्रजासमूहकी हितकामनासे संयत होकर रहता था ॥ १० ॥

×

ब्रह्मण्यः सत्यवादी च शुचिः शमदमान्वितः ।
प्रजास्तं चान्वरज्यन्त धर्मनित्यं मनस्विनम् ॥ ११ ॥

प्रजा उस ब्रह्मनिष्ठ, सत्यवादी, पवित्र, शमदमयुक्त, मनस्वी और धार्मिक सुवर्चामें अनुरक्त थी ॥ ११ ॥

तस्य धर्मप्रवृत्तस्य व्यशीर्यत्कोशवाहनम् ।
तं क्षीणकोशं सामन्ताः समन्तात्पर्यपीडयन् ॥ १२ ॥

अनन्तर केवल धर्ममेंही प्रवृत्त रहनेके कारण सुवर्चाका कोष और वाहन नष्ट हो गये । उनका कोष खाली हो गया है, यह जानकर सामन्तगण उन्हें सब भांतिसे पीडित करने लगे ॥ १२ ॥

स पीडयमानो बहुभिः क्षीणकोशस्त्ववाहनः ।
आर्तिमार्छत्परां राजा सह भृत्यैः पुरेण च ॥ १३ ॥

खजाना तथा वाहनोंसे रहित होनेपर वह राजा बहुसंख्यक शत्रुओंके द्वारा पीडित होकर, सेवकों और पुरजनोंके सहित परम दुःखित हुए थे ॥ १३ ॥

न चैनं परिहर्तुं तेऽशक्नुवन्परिसंक्षये ।
सम्यग्वृत्तो हि राजा स धर्मनित्यो युधिष्ठिर ॥ १४ ॥

हे युधिष्ठिर ! वह सुवर्चा राजा सब नष्ट होनेपर भी सदा धर्ममें प्रवृत्त और सदाचारी थे, इसलिये शत्रु उन्हें विनष्ट करनेमें और जीतनेमें समर्थ न हुए ॥ १४ ॥

यदा तु परमामार्तिं गतोऽसौ सपुरो नृपः ।
ततः प्रदध्मौ स करं प्रादुरासीत्ततो बलम् ॥ १५ ॥

परन्तु जब वह पृथ्वीपति सुवर्चा पुरजनोंके सहित परम पीडा पाने लगे, तब उन्होंने अपना हाथ मुंहको लगाकर उसे शंखकी भांति बजाया; उससे बहुत बडी सेना प्रकट हो गयी ॥ १५ ॥

ततस्तानजयत्सर्वान्प्रातिसीमान्नराधिपान् ।
एतस्मात्कारणाद्राजन्विश्रुतः स करंधमः ॥ १६ ॥

अनन्तर उसही सेनाके सहारे उन्होंने निज सीमाके अन्तर्वर्ती सब राजाओंको पराजित किया था । हे महाराज ! इस ही कारण वह करन्धम नामसे विख्यात हुआ था ॥ १६ ॥

तस्य कारंधमः पुत्रस्त्रेतायुगमुखेऽभवत् ।
इन्द्रादनवरः श्रीमान्देवैरपि सुदुर्जयः ॥ १७ ॥

त्रेतायुगके प्रारम्भमें करन्धमके इन्द्रसदृश तेजस्वी श्रेष्ठ देवताओंसे भी दुर्जय कारन्धम नामका पुत्र हुआ था ॥ १७ ॥

तस्य सर्वे महीपाला वर्तन्ते स्म वशे तदा ।
स हि सम्राडभूत्तेषां वृत्तेन च बलेन च ॥ १८ ॥

उस समयमें उसने बल और सदाचारके सहारे सबका सम्राट होकर सब राजाओंको अपने वशमें किया था ॥ १८ ॥

अविक्षिन्नाम धर्मात्मा शौर्येणेन्द्रसमोऽभवत् ।
यज्ञशीलः कर्मरतिर्धृतिमान्संयतेन्द्रियः ॥ १९ ॥

वही कारन्धम अविक्षित् नामसे विख्यात हुए थे, वह धर्मात्मा अविक्षित इन्द्रके समान पराक्रमी, यज्ञशील, धर्ममें रत रहनेवाले, धृतिमान्, संयतेन्द्रिय ॥ १९ ॥

तेजसादित्यसदृशः क्षमया पृथिवीसमः ।
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या हिमवानिव सुस्थिरः ॥ २० ॥

सूर्यसदृश तेजस्वी, पृथिवीकी भांति क्षमाशील, बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् तथा हिमवान्की भांति सुस्थिर थे ॥ २० ॥

कर्मणा मनसा वाचा दमेन प्रशमेन च ।
मनांस्याराधयामास प्रजानां स महीपतिः ॥ २१ ॥

उस पृथ्वीपति अविक्षितने मन, वचन, कर्म, दम और शमके द्वारा प्रजासमूहके चित्तको आनन्दित किया था ॥ २१ ॥

य ईजे हयमेधानां शतेन विधिवत्प्रभुः ।
याजयामास यं विद्वान्स्वयमेवाङ्गिराः प्रभुः ॥ २२ ॥

उन प्रभु अविक्षितने विधिपूर्वक एक सौ अश्वमेध यज्ञ किये थे, विद्वान् प्रभावी अङ्गिराने स्वयं उनका यज्ञ कराया था ॥ २२ ॥

तस्य पुत्रोऽतिचक्राम पितरं गुणवत्तया ।
मरुत्तो नाम धर्मज्ञश्चक्रवर्ती महायशाः ॥ २३ ॥

उसके पुत्र धर्मज्ञ, चक्रवर्ती और महायशस्वी मरुत्तने निजगुणोंके सहारे पिताको अतिक्रम किया था ॥ २३ ॥

नागायुतसमप्राणः साक्षाद्विष्णुरिवापरः ।
स यक्ष्यमाणो धर्मात्मा शातकुम्भमयान्युत ।
कारयामास शुभ्राणि भाजनानि सहस्रशः ॥ २४ ॥

दस हजार हाथियोंके समान बलवान्, साक्षात् दूसरे विष्णुरूप धर्मात्मा मरुत्तने यज्ञ करनेके लिये सुवर्णमय सहस्रों सुशोभित पात्र बनवाये थे ॥ २४ ॥

मेरुं पर्वतमासाद्य हिमवत्पार्श्व उत्तरे ।
काञ्चनः सुमहान्पादस्तत्र कर्म चकार सः ॥ २५ ॥

उन्होंने हिमालयके उत्तर भागमें मेरु पर्वतके पास एक उत्तम महान् काञ्चनमय पर्वत है, उसीके समीप यज्ञ कार्य किया ॥ २५ ॥

ततः कुण्डानि पात्रीश्च पिठराण्यासनानि च
चक्रुः सुवर्णकर्तारो येषां संख्या न विद्यते ॥ २६ ॥

वहांपर सुनारोंने असंख्य सुवर्णमय कुण्ड, पात्र, थाली और आसन बनाये थे; उन सब वस्तुओंकी गणना नहीं की जा सकती ॥ २६ ॥

तस्यैव च समीपे स यज्ञवाटो बभूव ह ।
ईजे तत्र स धर्मात्मा विधिवत्पृथिवीपतिः ।
मरुत्तः सहितैः सर्वैः प्रजापालैर्नराधिपः ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ ८८ ॥

उसीके समीपमें ही वह यज्ञशाला बनवायी थी । धर्मात्मा पृथ्वीपति राजा मरुत्तने सब राजाओंके सहित उस ही स्थानमें विधिपूर्वक यज्ञ किया था । ॥ २७ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें चौथा अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥ ८८ ॥

: ५ :

युधिष्ठिर उवाच—

कथंवीर्यः समभवत्स राजा वदतां वरः ।
कथं च जातरूपेण समयुज्यत स द्विज ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे वाग्मिवर ब्रह्मर्षि ! वह मरुत्त राजा कैसे वीर्यसम्पन्न थे और किस भांति उन्होंने सुवर्ण सञ्चय किया था ? ॥ १ ॥

क्व च तत्सांप्रतं द्रव्यं भगवन्नवतिष्ठते ।
कथं च शक्यमस्माभिस्तदवाप्तुं तपोधन ॥ २ ॥

हे भगवन् ! तपोधन ! इस समय वह सब धन कहां है और हम किस प्रकार उसे प्राप्त कर सकेंगे ? ॥ २ ॥

व्यास उवाच—

असुराश्चैव देवाश्च दक्षस्यासन्प्रजापतेः ।
अपत्यं बहुलं तात तेऽस्पर्धन्त परस्परम् ॥ ३ ॥

वेदव्यास बोले— हे तात ! प्रजापति दक्षके देवता और असुर नामक बहुतसे पुत्र हैं, वे सदा परस्पर स्पर्धा करते हैं ॥ ३ ॥

तथैवाङ्गिरसः पुत्रौ व्रततुल्यौ बभूवतुः ।
बृहस्पतिर्बृहत्तेजाः संवर्तश्च तपोधनः ॥ ४ ॥

उसी भांति अङ्गिराके तुल्यव्रतशाली तपोधन संवर्त और बृहत्तेजस्वी बृहस्पति नामके दो पुत्र हुए थे ॥ ४ ॥

तावपि स्पर्धिनौ राजन्पृथगास्तां परस्परम् ।
बृहस्पतिश्च संवर्तं बाधते स्म पुनः पुनः ॥ ५ ॥

हे महाराज ! वे दोनों परस्पर स्पर्धा करनेके कारण पृथक् पृथक् स्थानमें रहते थे; परन्तु बृहस्पति सदा संवर्तको दुःख देते थे ॥ ५ ॥

स बाध्यमानः सततं भ्रात्रा ज्येष्ठेन भारत ।
अर्थानुत्सृज्य दिग्वासा वनवासमरोचयत् ॥ ६ ॥

हे भारत ! वह संवर्त जेठ भाई बृहस्पतिके द्वारा सदा पीडित होनेसे दिगम्बर होकर समस्त धनदौलतका परित्याग कर वनवासकी अभिलाष करके वनमें चले गये ॥ ६ ॥

वासवोऽप्यसुरान्सर्वान्निर्जित्य च निहत्य च ।
इन्द्रत्वं प्राप्य लोकेषु ततो वव्रे पुरोहितम् ।
पुत्रमङ्गिरसो ज्येष्ठं विप्रश्रेष्ठं बृहस्पतिम् ॥ ७ ॥

इधर इन्द्रने सारे असुरोंको जीतकर तथा मारके तीनों लोकोंका इन्द्रत्व पाया; फिर अङ्गिराके जेठे पुत्र ब्राह्मणश्रेष्ठ बृहस्पतिको अपना पुरोहित बनाया ॥ ७ ॥

याज्यस्त्वाङ्गिरसः पूर्वमासीद्राजा करंधमः ।
वीर्येणाप्रतिमो लोके वृत्तेन च बलेन च ।
शतक्रतुरिवौजस्वी धर्मात्मा संशितव्रतः ॥ ८ ॥

जगत्के बीच अप्रतिम बलवित्तवीर्यसम्पन्न इन्द्रके समान तेजस्वी, धर्मात्मा, संशितव्रती राजा करन्धम पहले अङ्गिराके यजमान थे ॥ ८ ॥

वाहनं यस्य योधाश्च द्रव्याणि विविधानि च ।
ध्यानादेवाभवद्राजन्मुखवातेन सर्वशः ॥ ९ ॥

राजन् ! उनके यहां वाहन, योद्धा और बुद्धिमान्, विविध प्रकारके द्रव्य ध्यान करनेसे और मुख वायुसे सब ओरसे प्रकट होते थे ॥ ९ ॥

स गुणैः पार्थिवान्सर्वान्वशे चक्रे नराधिपः ।
संजीव्य कालमिष्टं च सशरीरो दिवं गतः ॥ १० ॥

राजाने निज गुणोंसे सब राजाओंको वशीभूत किया था। वह निज अभिलषित समय–पर्यन्त जीवित रहके सशरीर स्वर्गमें गये ॥ १० ॥

बभूव तस्य पुत्रस्तु ययातिरिव धर्मवित् ।
अविक्षिन्नाम शत्रुक्षित्स वशे कृतवान्महीम् ।
विक्रमेण गुणैश्चैव पितेवासीत्स पार्थिवः ॥ ११ ॥

अनन्तर ययातिकी भांति धर्म जाननेवाले शत्रुओंका नाश करनेवाले अविक्षित नामक उनके पुत्रने पृथ्वीको अपने वशमें करके, निज विक्रम और गुणोंके सहारे पिताकी भांति राज्य किया था ॥ ११ ॥

तस्य वासवतुल्योऽभून्मरुत्तो नाम वीर्यवान्।
पुत्रस्तमनुरक्ताभूत्पृथिवी सागराम्बरा ॥ १२ ॥

इन्द्रके सदृश वीर्यवान् मरुत्त उनके पुत्र थे; समुद्रके सहित सारी पृथ्वी उनपर अत्यन्त अनुरक्त हुई थी ॥ १२ ॥

स्पर्धते सततं स स्म देवराजेन पार्थिवः।
वासवोऽपि मरुत्तेन स्पर्धते पाण्डुनन्दन ॥ १३ ॥

हे पाण्डुनन्दन ! वह पृथ्वीपति मरुत्त सदा देवराज इन्द्रके सङ्ग स्पर्धा करते थे, और इन्द्र भी मरुत्तके साथ स्पर्धा रखते थे ॥ १३ ॥

शुचिः स गुणवानासीन्मरुत्तः पृथिवीपतिः।
यतमानोऽपि यं शक्रो न विशेषयति स्म ह ॥ १४ ॥

ऐसा ही नहीं परंतु इन्द्र अनेक यत्न करनेपर भी उस गुणवान् पवित्र चित्तवाले पृथिवीपति मरुत्तसे विशिष्टता लाभ न कर सके ॥ १४ ॥

सोऽशक्नुवन्विशेषाय समाहूय बृहस्पतिम्।
उवाचेदं वचो देवैः सहितो हरिवाहनः ॥ १५ ॥

देवताओंके सहित इन्द्र किसी तरह उनसे बढ न सके, तब इन्द्रने बृहस्पतिको बुलाकर उनसे कहा ॥ १५ ॥

बृहस्पते मरुत्तस्य मा स्म कार्षीः कथंचन।
दैवं कर्माथ वा पित्र्यं कर्तासि मम चेत्प्रियम् ॥ १६ ॥

हे बृहस्पति ! आप यदि मेरे प्रिय कार्य करनेकी इच्छा करते हैं, तो आप किसी प्रकार मरुत्तराजके देव और पितृकर्म न करावें ॥ १६ ॥

अहं हि त्रिषु लोकेषु सुराणां च बृहस्पते।
इन्द्रत्वं प्राप्तवानेको मरुत्तस्तु महीपतिः ॥ १७ ॥

हे बृहस्पति ! अकेले मैंने ही तीनों लोकोंका आधिपत्य और देवताओंके इन्द्रत्वका लाभ किया है; मरुत्त केवल पृथिवीका अधिपति हुआ है ॥ १७ ॥

कथं ह्यमर्त्यं ब्रह्मंस्त्वं याजयित्वा सुराधिपम्।
याजयेर्मृत्युसंयुक्तं मरुत्तमविशङ्कया ॥ १८ ॥

हे ब्रह्मन् ! आप अमर सुरपति इन्द्रका याजन कराके, किस प्रकार निःशङ्क चित्तसे उस मरणधर्म विशिष्ट राजा मरुत्तका याजन करेंगे ? ॥ १८ ॥

मां वा वृणीष्व भद्रं ते मरुत्तं वा महीपतिम् ।
परित्यज्य मरुत्तं वा यथाजोषं भजस्व माम् ॥ १९ ॥

आपका कुशल हो । आप केवल मुझे अपना यजमान मान लीजिये अथवा महीपति मरुत्तका स्वीकार करिये; अथवा मुझे छोडिये या मरुत्तको परित्यागके सुखपूर्वक मुझेहि भजिये ॥ १९ ॥

एवमुक्तः स कौरव्य देवराज्ञा बृहस्पतिः ।
मुहूर्तमिव संचिन्त्य देवराजानमब्रवीत् ॥ २० ॥

हे कुरुनन्दन ! बृहस्पति देवराज इन्द्रका ऐसा वचन सुनके मुहूर्तभर सोचकर उनसे बोले ॥ २० ॥

त्वं भूतानामधिपतिस्त्वयि लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
नमुचेर्विश्वरूपस्य निहन्ता त्वं बलस्य च ॥ २१ ॥

हे देवराज ! आप सब प्राणियोंके अधिपति हैं, तुम्हारे ही द्वारा सब लोक प्रतिष्ठित हैं, आपने नमुचि विश्वरूप और बलको नष्ट किया है ॥ २१ ॥

त्वमाजहर्थ देवानामेको वीर श्रियं पराम् ।
त्वं बिभर्षि भुवं द्यां च सदैव बलसूदन ॥ २२ ॥

बलसूदन ! अद्वितीय वीर आपने उत्तम संपत्ति प्राप्त की है और आपही सर्वदा पृथिवी तथा स्वर्गका पालन–पोषण करते हैं ॥ २२ ॥

पौरोहित्यं कथं कृत्वा तव देवगणेश्वर ।
याजयेयमहं मर्त्यं मरुत्तं पाकशासन ॥ २३ ॥

देवराज ! पाकशासन ! इसलिये मैं आपका पुरोहित होकर किस प्रकार मनुष्य महीपति मरुत्तका यज्ञ कराऊंगा ? ॥ २३ ॥

समाश्वसिहि देवेश नाहं मर्त्याय कर्हिचित् ।
ग्रहीष्यामि स्रुवं यज्ञे शृणु चेदं वचो मम ॥ २४ ॥

हे देवेन्द्र ! आप आश्वासित होइये; मैं कभी भी उस मनुष्य मरुत्तके यज्ञमें स्रुवा ग्रहण नहीं करूंगा, आप निश्चयही मेरा यह वचन ध्यानमें रखिये ॥ २४ ॥

हिरण्यरेतसोऽम्भः स्यात्परिवर्तेत मेदिनी ।
भासं च न रविः कुर्यान्मत्सत्यं विचलेद्यदि ॥ २५ ॥

अग्नि जल हो जाय, पृथिवी उलट जाय और सूर्य प्रकाशित न हो; तोभी मेरा सत्य विचलित न होगा ॥ २५ ॥

बृहस्पतिवचः श्रुत्वा शक्रो विगतमत्सरः ।
प्रशस्यैनं विवेशाथ स्वमेव भवनं तदा ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥ ११४ ॥

उस समय देवराजने बृहस्पतिका ऐसा वचन सुनके मत्सररहित होकर उनकी प्रशंसा करके निज भवनमें प्रवेश किया ॥ २६ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें पांचवां अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥ ११४ ॥

: ६ :

व्यास उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
बृहस्पतेश्च संवादं मरुत्तस्य च भारत ॥ १ ॥

वेदव्यास मुनि बोले– हे युधिष्ठिर ! इस स्थलमें पण्डित लोग बृहस्पति और बुद्धिमान् मरुत्तके संवादयुक्त यह पुराना इतिहास कहा करते हैं ॥ १ ॥

देवराजस्य समयं कृतमाङ्गिरसेन ह ।
श्रुत्वा मरुत्तो नृपतिर्मन्युमाहारयत्तदा ॥ २ ॥

राजा मरुत्तने देवराज इन्द्रके सामने बृहस्पतिकी की हुई प्रतिज्ञा सुनकर, एक उत्तम यज्ञके आरम्भका विचार किया ॥ २ ॥

संकल्प्य मनसा यज्ञं करंधमसुतात्मजः ।
बृहस्पतिमुपागम्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

बोलनेमें श्रेष्ठ करन्धमपौत्र मरुत्त मन ही मन यज्ञका सङ्कल्प स्थिर करके बृहस्पतिके निकट जाकर उनसे बोले ॥ ३ ॥

भगवन्यन्मया पूर्वमभिगम्य तपोधन ।
कृतोऽभिसंधिर्यज्ञाय भवतो वचनाद्गुरो ॥ ४ ॥

हे भगवन् ! तपोधन ! गुरु ! पहले मैंने आपके समीप आकर यज्ञका प्रस्ताव किया था, और आपने मुझे आज्ञा दी थी; ॥ ४ ॥

तमहं यष्टुमिच्छामि संभाराः संभृताश्च मे ।
याज्योऽस्मि भवतः साधो तत्प्राप्नुहि विधत्स्व च ॥ ५ ॥

मैं आपके वचनानुसार उस यज्ञको करना चाहता हूं । हे साधु ! मैंने उस यज्ञके लिये सब सामग्री सञ्चय की है; मैं आपका यजमान हूं, इसलिये आप उन सामग्रियोंको ग्रहण करके यज्ञ सम्पादन करिये ॥ ५ ॥

बृहस्पतिरुवाच—

न कामये याजयितुं त्वामहं पृथिवीपते ।
वृतोऽस्मि देवराजेन प्रतिज्ञातं च तस्य मे ॥ ६ ॥

बृहस्पति बोले— हे पृथ्वीनाथ ! मैं आपका यज्ञ करानेकी इच्छा नहीं करता। देवराज इन्द्रने मुझे अपना पुरोहित बनाया है और मैंने भी उनके निकट यह प्रतिज्ञा की है ॥ ६ ॥

मरुत्त उवाच—

पित्र्यमस्मि तव क्षेत्रं बहु मन्ये च ते भृशम् ।
न चास्म्ययाज्यतां प्राप्तो भजमानं भजस्व माम् ॥ ७ ॥

मरुत्त बोले— मैं आपके पिताके समयसे आपका यजमान हूँ और आपका अत्यन्त सम्मान करता हूं । किसी समय मुझे आपकी याज्यता प्राप्त नहीं हुई ऐसा नहीं है; मैं आपकी सेवा करता हूं; इसलिये आप मुझे अपनाइये ॥ ७ ॥

बृहस्पतिरुवाच—

अमर्त्यं याजयित्वाहं याजयिष्ये न मानुषम् ।
मरुत्त गच्छ वा मा वा निवृत्तोऽस्म्यद्य याजनात् ॥ ८ ॥

बृहस्पति बोले— हे मरुत्त ! मैं अमर्त्यका याजन करके मर्त्य मनुष्यका याजन नहीं करूंगा, इसलिये आप जाइये वा न जाइये; अब मैं मनुष्योंका यज्ञ कार्य करानेसे निवृत्त हो गया हूं ॥ ८ ॥

न त्वां याजयितास्म्यद्य वृणु त्वं यमिहेच्छसि ।
उपाध्यायं महाबाहो यस्ते यज्ञं करिष्यति ॥ ९ ॥

हे महाबाहो ! अब मैं आपका यज्ञ न करा सकूंगा, इसलिये आपकी जिसे उपाध्याय करनेकी इच्छा हो और जो आपका यज्ञ करे, आप उसेही स्वीकार करिये ॥ ९ ॥

व्यास उवाच—

एवमुक्तस्तु नृपतिर्मरुत्तो व्रीडितोऽभवत् ।
प्रत्यागच्छच्च संविग्नो ददर्श पथि नारदम् ॥ १० ॥

वेदव्यास मुनि बोले— पृथ्वीपति मरुत्त बृहस्पतिका ऐसा वचन सुनके अत्यन्त लज्जित हुए और बहुत खिन्न चित्तसे लौटे जा रहे थे; मार्गमें नारदमुनिका दर्शन हुआ ॥ १० ॥

देवर्षिणा समागम्य नारदेन स पार्थिवः ।
विधिवत्प्राञ्जलिस्तस्थावथैनं नारदोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

देवर्षि नारदके साथ समागम होनेपर राजा मरुत्त यथारीति हाथ जोडके स्थित हुए । तब नारदमुनि उनसे बोले ॥ ११ ॥

×

राजर्षे नातिहृष्टोऽसि कच्चित्क्षेमं तवानघ ।
क्व गतोऽसि कुतो वेदमप्रीतिस्थानमागतम् ॥ १२ ॥

हे राजर्षि ! आप अत्यन्त असन्तुष्ट क्यों हुए हैं ? हे पापरहित ! आपका मङ्गल तो है ? आप कहां गये थे ? कहांपर इस प्रकार अप्रीति प्राप्त हुई ? ॥ १२ ॥

श्रोतव्यं चेन्मया राजन्ब्रूहि मे पार्थिवर्षभ ।
व्यपनेष्यामि ते मन्युं सर्वयत्नैर्नराधिप ॥ १३ ॥

हे राजन् ! नृपश्रेष्ठ ! यदि मेरे सुननेके उपयुक्त हो तो आप मुझसे यह विषय कहिये; जनाधिप ! मैं सब प्रकारसे यत्नपूर्वक आपके मनका दुःख दूर करूंगा ॥ १३ ॥

एवमुक्तो मरुत्तस्तु नारदेन महर्षिणा ।
विप्रलम्भमुपाध्यायात्सर्वमेव न्यवेदयत् ॥ १४ ॥

मरुत्तने महर्षि नारदका ऐसा वचन सुनके उपाध्याय बृहस्पतिसे वियोग होनेका समस्त वृत्तांत उन्हें सुनाया ॥ १४ ॥

गतोऽस्म्यङ्गिरसः पुत्रं देवाचार्यं बृहस्पतिम् ।
यज्ञार्थमृत्विजं द्रष्टुं स च मां नाभ्यनन्दत ॥ १५ ॥

मैं अङ्गिराके पुत्र देवगुरु बृहस्पतिको यज्ञमें ऋत्विक् करनेके लिये उनका दर्शन करने गया था; उन्होंने मेरी प्रार्थनाका स्वीकार नहीं किया ॥ १५ ॥

प्रत्याख्यातश्च तेनाहं जीवितुं नाद्य कामये ।
परित्यक्तश्च गुरुणा दूषितश्चास्मि नारद ॥ १६ ॥

हमारे गुरुने मैं मनुष्य हूं इसलिये मुझे परित्याग किया है। हे नारद ! इसलिये जब मैं गुरुके द्वारा दूषित और परित्यक्त हुआ हूं, तब अब मैं जीवित रहनेकी इच्छा नहीं करता ॥ १६ ॥

एवमुक्तस्तु राज्ञा स नारदः प्रत्युवाच ह ।
आविक्षितं महाराज वाचा संजीवयन्निव ॥ १७ ॥

हे महाराज ! देवर्षि नारद राजा मरुत्तका ऐसा वचन सुनके अविक्षितपुत्र मरुत्तको अपनी अमृतमयी वाणीके द्वारा जीवित करते हुएसे कहने लगे ॥ १७ ॥

राजन्नङ्गिरसः पुत्रः संवर्तो नाम धार्मिकः ।
चङ्क्रमीति दिशः सर्वा दिग्वासा मोहयन्प्रजाः । ॥ १८ ॥

राजन् ! अंङ्गिराके पुत्र धर्मशील संवर्त दिगम्बर होकर प्रजासमूहको मोहित करते हुए सब दिशाओंमें भ्रमण करते हैं ॥ १८ ॥

तं गच्छ यदि याज्यं त्वां न वाञ्छति बृहस्पतिः ।
प्रसन्नस्त्वां महाराज संवर्तो याजयिष्यति ॥ १९ ॥

यदि बृहस्पति आपको अपना यजमान करनेकी इच्छा नहीं करते हैं, तो आप उस महातेजस्वी संवर्तके निकट जाइये; वह प्रसन्न होकर आपका यज्ञ करेंगे ॥ १९ ॥

मरुत्त उवाच—

संजीवितोऽहं भवता वाक्येनानेन नारद ।
पश्येयं क नु संवर्तं शंस मे वदतां वर ॥ २० ॥

मरुत्त बोले— हे वाग्मिवर नारद ! आपके इस वचनके सहारे मैं जीवित हुआ; परन्तु आप बताईये कि कहांपर मैं संवर्तका दर्शन पाऊंगा ? ॥ २० ॥

कथं च तस्मै वर्तेयं कथं मां न परित्यजेत् ।
प्रत्याख्यातश्च तेनापि नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ २१ ॥

और मुझे किस प्रकार उनके साथ बर्तन करना होगा ? किस प्रकार वह मुझे परित्याग न करेंगे ? मैं उनसे परित्यक्त होनेपर जीवित न रह सकूंगा ॥ २१ ॥

नारद उवाच—

उन्मत्तवेषं बिभ्रत्स चङ्क्रमीति यथासुखम् ।
वाराणसीं तु नगरीमभीक्ष्णमुपसेवते ॥ २२ ॥

नारद मुनि बोले— हे महाराज ! वह संवर्त पागलकासा वेष बनाके वाराणसी नगरीमें सुखपूर्वक विचरते हैं और सतत उपासना भी करते हैं ॥ २२ ॥

तस्या द्वारं समासाद्य न्यसेथाः कुणपं क्वचित् ।
तं दृष्ट्वा यो निवर्तेत स संवर्तो महीपते ॥ २३ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! आप उस काशीपुरीके द्वारपर उपस्थित होके उसके किसी स्थानमें एक मुर्दा रखियेगा, उस मुर्देको देखकर जो वहांसे निवृत्त होगा, उसे ही संवर्त समझना ॥ २३ ॥

तं पृष्ठतोऽनुगच्छेथा यत्र गच्छेत्स वीर्यवान् ।
तमेकान्ते समासाद्य प्राञ्जलिः शरणं व्रजेः ॥ २४ ॥

वह वीर्यवान् संवर्त जिस स्थानपर जावें, आपभी उनका अनुगमन करते हुए, उन्हें एकान्त स्थानमें पानेपर हाथ जोडकर उनकी शरण जाना ॥ २४ ॥

पृच्छेत्त्वां यदि केनाहं तवाख्यात इति स्म ह ।
ब्रूयास्त्वं नारदेनेति संतप्त इव शत्रुहन् ॥ २५ ॥

यदि वह संवर्त आपसे पूछे, कि 'मेरा पता तुम्हें किसने बताया ?' तो आप कहना कि 'नारदने मुझसे आपका पता कह दिया है ।' यह संतप्त शत्रुघ्नके समान करना ॥ २५ ॥

स चेत्त्वामनुयुञ्जीत ममाभिगमनेप्सया ।
शंसेथा वह्निमारूढं मामपि त्वमशङ्कया ॥ २६ ॥

यदि वह आपसे मेरे पास आनेके लिये मेरा पता पूछें तो आप निःशङ्कचित्तसे कहना, कि उन्होंने अग्निमें प्रवेश किया है ॥ २६ ॥

व्यास उवाच—

स तथेति प्रतिश्रुत्य पूजयित्वा च नारदम् ।
अभ्यनुज्ञाय राजर्षिर्ययौ वाराणसीं पुरीम् ॥ २७ ॥

वेदव्यास मुनि बोले— राजर्षि मरुत्तने नारद मुनिका वचन सुनकर बहुत अच्छा कहकर उनकी पूजा की और उनकी अनुमतिसे वाराणसी पुरीकी ओर चले गये ॥ २७ ॥

तत्र गत्वा यथोक्तं स पुर्या द्वारे महायशाः ।
कुणपं स्थापयामास नारदस्य वचः स्मरन् ॥ २८ ॥

महायशस्वी मरुत्तने वाराणसी पुरीमें जाकर नारद मुनिके वचनको स्मरण करते हुए उस नगरीके द्वारपर यथोक्त शव स्थापित किया ॥ २८ ॥

यौगपद्येन विप्रश्च स पुरीद्वारमाविशत् ।
ततः स कुणपं दृष्ट्वा सहसा स न्यवर्तत ॥ २९ ॥

विप्रवर संवर्त समकालमें ही पुरीके द्वारपर आये; परन्तु शवको देखकर द्वारदेशसे वे सहसा वहांसे निवृत्त हुए ॥ २९ ॥

स तं निवृत्तमालक्ष्य प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात् ।
आविक्षितो महीपालः संवर्तमुपशिक्षितुम् ॥ ३० ॥

अविक्षितपुत्र पृथ्वीनाथ मरुत्त उन्हें निवृत्त होते देखकर संवर्तके निकट शिक्षित होनेके निमित्त हाथ जोडके उनके पीछे पीछे चले ॥ ३० ॥

स एनं विजने दृष्ट्वा पांसुभिः कर्दमेन च ।
श्लेष्मणा चापि राजानं ष्ठीवनैश्च समाकिरत् ॥ ३१ ॥

संवर्तने महाराज मरुत्तको अपने पीछे आते देखके निर्जन स्थानमें पहुंचकर उन्हें पांसु, कर्दम, श्लेष्मा और ष्ठीवनके सहारे समाच्छन्न किया ॥ ३१ ॥

स तथा बाध्यमानोऽपि संवर्तेन महीपतिः ।
अन्वगादेव तमृषिं प्राञ्जलिः संप्रसादयन् ॥ ३२ ॥

पृथ्वीनाथ मरुत्तने संवर्तके द्वारा इस प्रकार बाधित होके भी हाथ जोडके उन्हें प्रसन्न करनेके उद्देश्यसे उन ऋषिका अनुगमन किया ॥ ३२ ॥

ततो निवृत्य संवर्तः परिश्रान्त उपाविशत् ।
शीतलच्छायमासाद्य न्यग्रोधं बहुशाखिनम् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ १४७ ॥

कुछ समयके अनन्तर संवर्त थककर अनेक शाखाओंसे युक्त न्यग्रोध वृक्षकी शीतल छायामें बैठ गये ॥ ३३ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें छठा अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥ १४७ ॥

: ७ :

संवर्त उवाच—

कथमस्मि त्वया ज्ञातः केन वा कथितोऽस्मि ते ।
एतदाचक्ष्व मे तत्त्वमिच्छसे चेत्प्रियं मम ॥ १ ॥

संवर्त बोले—तुमने मुझे किस प्रकार जाना और किस पुरुषने तुमसे मेरा परिचय कह दिया ? यदि तुम मेरे प्रिय होनेके अभिलाषी हो, तो इसे यथार्थ रीतिसे मेरे निकट कहो ॥ १ ॥

सत्यं ते ब्रुवतः सर्वे संपत्स्यन्ते मनोरथाः ।
मिथ्या तु ब्रुवतो मूर्धा सप्तधा ते फलिष्यति ॥ २ ॥

यदि तुम इस विषयमें सत्य कहोगे, तो तुम्हारे सब मनोरथ सफल होंगे; झूठ बोलनेसे तुम्हारे सिरके सात टुकडे हो जायेंगे ॥ २ ॥

मरुत्त उवाच—

नारदेन भवान्मह्यमाख्यातो ह्यटता पथि ।
गुरुपुत्रो ममेति त्वं ततो मे प्रीतिरुत्तमा ॥ ३ ॥

मरुत्त बोले— आपका परिचय मैंने मार्गके बीचमें भ्रमण करनेवाले नारद मुनिके समीप सुना है और उन्होंने ही आपका पता बताया । आप मेरे गुरुपुत्र हैं, यह जानकर आपके विषयमें मेरी उत्तम प्रीति उत्पन्न हुई है ॥ ३ ॥

संवर्त उवाच—

सत्यमेतद्भवानाह स मां जानाति सत्रिणम् ।
कथयस्वैतदेकं मेऽक्व नु संप्रति नारदः ॥ ४ ॥

संवर्त बोले— वह नारद मुनि मुझे याज्ञिकके रूपमें जानते हैं, यह वचन तुमने मेरे समीप सत्य कहा है । अच्छा, मुझसे बताओ, कि अब वह कहां हैं ? ॥ ४ ॥

मरुत्त उवाच—

भवन्तं कथयित्वा तु मम देवर्षिसत्तमः ।
ततो मामभ्यनुज्ञाय प्रविष्टो हव्यवाहनम् ॥ ५ ॥

मरुत्त बोले– देवर्षिसत्तम नारदमुनिने मुझे आपका परिचय और पता कहके तथा मुझे जानेकी अनुमति देकर अग्निमें प्रवेश किया है ॥ ५ ॥

व्यास उवाच—

श्रुत्वा तु पार्थिवस्यैतत्संवर्तः परया मुदा ।
एतावदहमप्येनं कुर्यामिति तदाब्रवीत् ॥ ६ ॥

वेदव्यासमुनि बोले– संवर्त पृथ्वीपति मरुत्तका ऐसा वचन सुनके अत्यंत सन्तुष्ट होकर उनसे बोले, "मैं यह कार्य करूंगा" ॥ ६ ॥

ततो मरुत्तमुन्मत्तो वाचा निर्भर्त्सयन्निव ।
रूक्षया ब्राह्मणो राजन्पुनः पुनरथाब्रवीत् ॥ ७ ॥

हे राजन् ! अनन्तर वे उन्मत्त ब्राह्मण कठोर वचनसे मरुत्तकी बार बार निन्दा करते हुएसे बोले ॥ ७ ॥

वातप्रधानेन मया स्वचित्तवशवर्तिना ।
एवं विकृतरूपेण कथं याजितुमिच्छसि ॥ ८ ॥

मैं वायुरोगग्रस्त हूं, इसलिये मेरे चित्तमें जिस समय जो उदय होता है, उस समय वही किया करता हूं; मैं विकृतरूप हूं; तब तुम ऐसे स्वभाववाले ब्राह्मणके द्वारा क्यों यज्ञ करनेकी अभिलाषा करते हो ? ॥ ८ ॥

भ्राता मम समर्थश्च वासवेन च सत्कृतः ।
वर्तते याजने चैव तेन कर्माणि कारय ॥ ९ ॥

यज्ञकार्यमें समर्थ मेरे भाई बृहस्पति इन्द्रसे सम्मानित हैं और उनके याज्य कर्ममें नियुक्त हैं, तुम उन्हींके सहारे अपना कार्य सिद्ध कराओ ॥ ९ ॥

गृहं स्वं चैव याज्याश्च सर्वा गृह्याश्च देवताः ।
पूर्वजेन ममाक्षिप्तं शरीरं वर्जितं त्विदम् ॥ १० ॥

मेरे बडे भाई बृहस्पतिने मेरे इस शरीरके अतिरिक्त जो कुछ गृहमें स्थित सामग्री, यजमान और गृह्य देवता थे, वह सब हर लिया है ॥ १० ॥

नाहं तेनाननुज्ञातस्त्वामाविक्षित कर्हिचित् ।
याजयेयं कथंचिद्वै स हि पूज्यतमो मम ॥ ११ ॥

हे अविक्षितपुत्र ! वह मेरे परम पूज्य हैं, उनकी अनुमतिके विना मैं कभी किसी प्रकार तुम्हारा यज्ञ न कर सकूंगा ॥ ११ ॥

स त्वं बृहस्पतिं गच्छ तमनुज्ञाप्य चाव्रज ।
ततोऽहं याजयिष्ये त्वां यदि यष्टुमिहेच्छसि ॥ १२ ॥

इसलिये यदि तुम यज्ञ करानेकी इच्छा करते हो, तो बृहस्पतिके निकट जाकर उनकी अनुमति लेकर आओ, तब मैं तुम्हारा याजनकर्म करूंगा ॥ १२ ॥

मरुत्त उवाच—

बृहस्पतिं गतः पूर्वमहं संवर्त तच्छृणु ।
न मां कामयते याज्यमसौ वासववारितः ॥ १३ ॥

मरुत्त बोले— हे संवर्त ! मैं आपके समीप बृहस्पतिका वृत्तान्त कहता हूं, आप उसे सुनिये। मैं पहलेही बृहस्पतिके पास गया था, वह इन्द्रसे प्रतिबंधित होनेके कारण मुझे यजमान करनेके अभिलाषी नहीं हैं ॥ १३ ॥

अमरं याज्यमासाद्य मामृषे मा स्म मानुषम् ।
याजयेथा मरुत्तं त्वं मर्त्यधर्माणमातुरम् ॥ १४ ॥

हे ऋषि ! वह मुझसे बोले, कि इन्द्रने मुझसे कहा है कि मेरे जैसे अमर यजमानको पाकर अब तुम सोत्कंठ मर्त्यधर्मा मरुत्तका यज्ञ न कराइयेगा ॥ १४ ॥

स्पर्धते च मया विप्र सदा वै स हि पार्थिवः ।
एवमस्त्विति चाप्युक्तो भ्रात्रा ते बलवृत्रहा ॥ १५ ॥

क्योंकि हे ब्रह्मन् ! पृथ्वीपति मरुत्त सदा मेरे सङ्ग स्पर्धा किया करता है। वृत्रासुरको मारनेवाले इन्द्रकी इस बातको आपके भाईने 'ऐसा ही होगा' कहकर मान्य किया ॥१५॥

स मामभिगतं प्रेम्णा याज्यवन्न बुभूषति ।
देवराजमुपाश्रित्य तद्विद्धि मुनिपुङ्गव ॥ १६ ॥

हे मुनिवर ! आप यह निश्चय जानिये, कि उन्हें देवराज इन्द्रका सहारा मिला है, इसीसे मैं प्रीतिपूर्वक उनके निकट गया था, तथापि वह मुझे यजमान करनेमें अभिलाषी नहीं हुए ॥१६॥

सोऽहमिच्छामि भवता सर्वस्वेनापि याजितुम् ।
कामये समतिक्रान्तुं वासवं त्वत्कृतैर्गुणैः ॥ १७ ॥

उसही हेतु मैं सर्वस्व अर्पण करके भी आपके द्वारा यज्ञ कराने तथा आपके द्वारा सम्पादित गुणोंके सहारे इन्द्रको भी अतिक्रम करनेकी इच्छा करता हूं ॥ १७ ॥

न हि मे वर्तते बुद्धिर्गन्तुं ब्रह्मन्बृहस्पतिम् ।
प्रत्याख्यातो हि तेनास्मि तथानपकृते सति । ॥ १८ ॥

हे ब्रह्मन् ! जब मैं विना अपराधके ही उस बृहस्पतिके द्वारा अस्वीकृत हुआ हूं, तब मेरा मन फिर उनके निकट जानेके लिये प्रवृत्त नहीं होता है ॥ १८ ॥

संवर्त उवाच—

चिकीर्षसि यथाकामं सर्वमेतत्त्वयि ध्रुवम् ।
यदि सर्वानभिप्रायान्कर्तासि मम पार्थिव ॥ १९ ॥

संवर्त बोले– हे पार्थिव ! यदि तुम मेरी सब इच्छाओंको पूरी कर सकोगे, तो तुम्हारे सब अभिलषित कार्य निश्चयरूपसे पूर्ण होंगे ॥ १९ ॥

याज्यमानं मया हि त्वां बृहस्पतिपुरंदरौ ।
द्विषेतां समभिक्रुद्धावेतदेकं समर्थय ॥ २० ॥

मैं जब तुम्हारा याजनकर्म करनेमें प्रवृत्त होऊंगा तब बृहस्पति और इन्द्र दोनों ही अत्यन्त क्रुद्ध होकर मेरे साथ द्वेष करेंगे; उस समय तुम्हें मेरा समर्थन करना होगा ॥ २० ॥

स्थैर्यमत्र कथं ते स्यात्स त्वं निःसंशयं कुरु ।
कुपितस्त्वां न हीदानीं भस्म कुर्यां सबान्धवम् ॥ २१ ॥

तुम मेरा साथ दोगे, इस बातका विश्वास मुझे कैसे हो सकेगा; इसलिये तुम मेरे मनका यह संशय दूर करो। यदि किसी प्रकारसे उसमें त्रुटियां होगी, तो मैं अभी क्रोधित होकर तुम्हें बान्धवोंके सहित भस्म करूंगा ॥ २१ ॥

मरुत्त उवाच—

यावत्तपेत्सहस्रांशुस्तिष्ठेरंश्चापि पर्वताः ।
तावल्लोकान्न लभेयं त्यजेयं संगतं यदि ॥ २२ ॥

मरुत्त बोले– हे ब्रह्मन् ! यदि मैं आपका सङ्ग छोडूं तो जबतक सूर्य प्रकाशित रहेगा तथा समस्त पर्वत विद्यमान रहेंगे, तबतक मुझे उत्तम लोकोंकी प्राप्ति न होवे ॥ २२ ॥

मा चापि शुभबुद्धित्वं लभेयमिह कर्हिचित् ।
सम्यग्ज्ञाने वैषये वा त्यजेयं संगतं यदि ॥ २३ ॥

और यदि मैं आपका सङ्ग परित्याग करूं, तो मैं कदापि इस जगत्में शुभ बुद्धिका लाभ न कर सकूं तथा विषयोंके सहित मेरी आसक्ति होवे ॥ २३ ॥

संवर्त उवाच—

आविक्षित शुभा बुद्धिर्धीयतां तव कर्मसु ।
याजनं हि ममाप्येवं वर्तते त्वयि पार्थिव ॥ २४ ॥

संवर्त बोले– हे अविक्षितपुत्र ! सुनो। जिस प्रकार सत्कर्मोंमें तुम्हारा सुन्दर मनोयोग हुआ है, राजन् ! मेरे अन्तःकरणमें भी उस ही प्रकार तुम्हारा यज्ञ करानेकी इच्छा है ॥ २४ ॥

संविधास्ये च ते राजन्नक्षय्यं द्रव्यमुत्तमम् ।
येन देवान्सगन्धर्वाञ्शक्रं चाभिभविष्यसि ॥ २५ ॥

हे महाराज ! इसलिये मैं कहता हूं कि मैं तुम्हें उत्तम अक्षय धनकी प्राप्तिका मार्ग दिखाऊंगा; और तुम गन्धर्वों तथा देवताओंके सहित इन्द्रको नीचा करोगे ॥ २५ ॥

न तु मे वर्तते बुद्धिर्धने याज्येषु वा पुनः ।
विप्रियं तु चिकीर्षामि भ्रातुश्चेन्द्रस्य चोभयोः ॥ २६ ॥

परन्तु याज्य वा धनमें मेरी स्पृहा नहीं है, मैं केवल उस भ्राता बृहस्पति और इन्द्र दोनोंके ही विरुद्ध कार्य करूंगा ॥ २६ ॥

गमयिष्यामि चेन्द्रेण समतामपि ते ध्रुवम् ।
प्रियं च ते करिष्यामि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥ १७४ ॥

मैं तुमसे यह सत्य वचन कहता हूं, कि निश्चय ही मैं तुम्हें इन्द्रके सहित समता लाभ कराऊंगा और तुम्हारा प्रिय करूंगा ॥ २७ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें सातवां अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥ १७४ ॥

: ८ :

संवर्त उवाच—

गिरेर्हिमवतः पृष्ठे मुञ्जवान्नाम पर्वतः ।
तप्यते यत्र भगवांस्तपो नित्यमुमापतिः ॥ १ ॥

संवर्त बोले— हिमालय पर्वतके पृष्ठभागमें मुञ्जवान् नामक एक पर्वत है, भगवान् उमानाथ वहां नित्य तपस्या किया करते हैं ॥ १ ॥

वनस्पतीनां मूलेषु टङ्केषु शिखरेषु च ।
गुहासु शैलराजस्य यथाकामं यथासुखम् ॥ २ ॥

वहांके वनस्पतियों तथा वृक्षोंके तले, ऊंचे शिखरोंपर और शैलराजकी गुहाओंमें इच्छानुसार सुखपूर्वक ॥ २ ॥

उमासहायो भगवान्यत्र नित्यं महेश्वरः ।
आस्ते शूली महातेजा नानाभूतगणावृतः ॥ ३ ॥

शूलपाणि महातेजस्वी भगवान् महेश्वर अनेक भूतगणोंसे घिरकर उमाके सहित सदा निवास करते हैं ॥ ३ ॥

तत्र रुद्राश्च साध्याश्च विश्वेऽथ वसवस्तथा ।
यमश्च वरुणश्चैव कुबेरश्च सहानुगः ॥ ४ ॥

वहां रुद्रगण, साध्यगण, विश्वेदेवगण, वसुगण, यम, वरुण, सहचरोंके सङ्ग कुबेर, ॥ ४ ॥

भूतानि च पिशाचाश्च नासत्यावश्विनावपि ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव यक्षा देवर्षयस्तथा ॥ ५ ॥

भूत, पिशाच, दोनों अश्विनीकुमार, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, देवर्षि ॥ ५ ॥

+

आदित्या मरुतश्चैव यातुधानाश्च सर्वशः ।
उपासन्ते महात्मानं बहुरूपमुमापतिम् ॥ ६ ॥

आदित्यगण, मरुद्गण और यातुधानगण सब कोई महात्मा अनेक रूपी उमापतिकी उपासना किया करते हैं ॥ ६ ॥

रमते भगवांस्तत्र कुबेरानुचरैः सह ।
विकृतैर्विकृताकारैः क्रीडद्भिः पृथिवीपते ।
श्रिया ज्वलन्दृश्यते वै बालादित्यसमद्युतिः ॥ ७ ॥

हे पृथ्वीपति ! भगवान् शङ्कर विरूप और विकृताकार कुबेरके अनुचरोंके साथ वहां क्रीडाएं करते हैं, उनके साथ आनन्दसे रहते हैं। बालादित्यसदृश द्युतिशाली वह शैलपर निज सौन्दर्यसे प्रज्वलित दीखते हैं ॥ ७ ॥

न रूपं ते दृश्य तस्य संस्थानं वा कथंचन ।
निर्देष्टुं प्राणिभिः कैश्चित्प्राकृतैर्मांसलोचनैः ॥ ८ ॥

जगत्के मांसलोचनयुक्त कोई प्राकृत प्राणी उनके रूप तथा अवयवोंको किसी प्रकार देखनेमें समर्थ नहीं होते ॥ ८ ॥

नोष्णं न शिशिरं तत्र न वायुर्न च भास्करः ।
न जरा क्षुत्पिपासे वा न मृत्युर्न भयं नृप ॥ ९ ॥

हे महाराज ! वहां गर्मी, सर्दी, वायु, सूर्य, जरा, भूख, प्यास, मृत्यु और दूसरा कोई भी भय नहीं है ॥ ९ ॥

तस्य शैलस्य पार्श्वेषु सर्वेषु जयतां वर ।
धातवो जातरूपस्य रश्मयः सवितुर्यथा ॥ १० ॥

हे विजयीप्रवर ! उस पहाडके चारों ओर सूर्यकिरणसदृश प्रभाशाली सुवर्णकी खानें विद्यमान हैं ॥ १० ॥

रक्ष्यन्ते ते कुबेरस्य सहायैरुद्यतायुधैः ।
चिकीर्षद्भिः प्रियं राजन्कुबेरस्य महात्मनः । ॥ ११ ॥

हे महाराज ! महात्मा कुबेरके प्रिय करनेवाले उद्यतशस्त्रधारी सहायकवृन्द उन खानोंकी रक्षा करते हैं ॥ ११ ॥

तस्मै भगवते कृत्वा नमः शर्वाय वेधसे।
रुद्राय शितिकण्ठाय सुरूपाय सुवर्चसे ॥ १२ ॥

तुम वहां जाकर उस जगत्स्रष्टा भगवान् शिवको नमस्कार करके इन कहे हुए नामोंसे उनकी स्तुति करो– भगवन् ! आप रुद्र, शितिकण्ठ, सुरूप, सुवर्चा, ॥ १२ ॥

कपर्दिने करालाय हर्यक्षणे वरदाय च।
त्र्यक्षणे पूष्णो दन्तभिदे वामनाय शिवाय च ॥ १३ ॥
कपर्दी, कराल, हर्यक्ष, वरद, त्रिलोचन, सूर्यदन्तभेदी, वामन, शिव, ॥ १३ ॥
याम्यायाव्यक्तकेशाय सद्वृत्ते शंकराय च।
क्षेम्याय हरिनेत्राय स्थाणवे पुरुषाय च ॥ १४ ॥
दक्षिणामूर्ति, अव्यक्तरूपी, सद्वृत्त, शङ्कर, मङ्गल, हरिनेत्र, स्थाणु, पुरुष, ॥ १४ ॥
हरिकेशाय मुण्डाय कृशायोत्तारणाय च।
भास्कराय सुतीर्थाय देवदेवाय रंहसे ॥ १५ ॥
हरिकेश, मुण्ड, कृश, उत्तरण, भास्कर, सुतीर्थ, देवदेव, रंहस, ॥ १५ ॥
उष्णीषिणे सुवक्त्राय सहस्राक्षाय मीढुषे।
गिरिशाय प्रशान्ताय यतये चीरवाससे ॥ १६ ॥
उष्णीषी, सुवक्त्र, सहस्राक्ष, मीढ्वान्, गिरिश, प्रशान्त, यति, चीरवासा, ॥ १६ ॥
बिल्वदण्डाय सिद्धाय सर्वदण्डधराय च।
मृगव्याधाय महते धन्विनेऽथ भवाय च ॥ १७ ॥
बिल्वदण्ड, सिद्ध, सर्वदण्डधारी, मृगव्याध, महान्, धन्वी, भव, ॥ १७ ॥
वराय सौम्यवक्त्राय पशुहस्ताय वर्षिणे।
हिरण्यबाहवे राजन्नुग्राय पतये दिशाम् ॥ १८ ॥
वर, सौम्यवक्त्र, पशुहस्त, वर्षी, हिरण्यबाहु, उग्र, दिक्पति, ॥ १८ ॥
पशूनां पतये चैव भूतानां पतये तथा।
वृषाय मातृभक्ताय सेनान्ये मध्यमाय च ॥ १९ ॥
पशुपति, भूतपति, वृष, मातृभक्त, सेनानी, मध्यम, ॥ १९ ॥
स्रुवहस्ताय पतये धन्विने भार्गवाय च।
अजाय कृष्णनेत्राय विरूपाक्षाय चैव ह ॥ २० ॥
स्रुवहस्त, पति, धन्वी, भार्गव, अज, कृष्णनेत्र, विरूपाक्ष, ॥ २० ॥
तीक्ष्णदंष्ट्राय तीक्ष्णाय वैश्वानरमुखाय च।
महाद्युतयेऽनङ्गाय सर्वाङ्गाय प्रजावते ॥ २१ ॥
तीक्ष्णदंष्ट्र, तीक्ष्ण, अग्निमुख, महाद्युति, अनङ्ग, सर्वाङ्ग, ॥ २१ ॥
तथा शुक्राधिपतये पृथवे कृत्तिवाससे।
कपालमालिने नित्यं सुवर्णमुकुटाय च ॥ २२ ॥
शुक्राधिपति, पृथु, कृत्तिवासा, कपालमाली, सुवर्ण मुकुटधारी, ॥ २२ ॥

महादेवाय कृष्णाय त्र्यम्बकायानघाय च ।
क्रोधनाय नृशंसाय मृदवे बाहुशालिने ॥ २३ ॥
महादेव, कृष्ण, त्र्यम्बक, अनघ, क्रोधन, नृशंस, मृदु, बाहुशाली, ॥ २३ ॥

दण्डिने तप्ततपसे तथैव क्रूरकर्मणे ।
सहस्रशिरसे चैव सहस्रचरणाय च ।
नमः स्वधास्वरूपाय बहुरूपाय दंष्ट्रिणे ॥ २४ ॥
दण्डी, तपस्वी, क्रूरकर्मा, सहस्रशिरा, सहस्रपाद, स्वधास्वरूप, बहुरूप, दंष्ट्री ॥ २४ ॥

पिनाकिनं महादेवं महायोगिनमव्ययम् ।
त्रिशूलपाणिं वरदं त्र्यम्बकं भुवनेश्वरम् ॥ २५ ॥
पिनाकी, महादेव, महायोगी, अव्यय, त्रिशूलहस्त, वरद, त्र्यम्बक, भुवनेश्वर, ॥ २५ ॥

त्रिपुरघ्नं त्रिनयनं त्रिलोकेशं महौजसम् ।
प्रभवं सर्वभूतानां धारणं धरणीधरम् ॥ २६ ॥
त्रिपुरघ्न, त्रिनेत्री, त्रिलोकेश, सर्वभूतप्रभव, सर्वभूताधार, धरणीधर, ॥ २६ ॥

ईशानं शङ्करं सर्वं शिवं विश्वेश्वरं भवम् ।
उमापतिं पशुपतिं विश्वरूपं महेश्वरम् ॥ २७ ॥
ईशान, शङ्कर, शर्व, शिव, विश्वेश्वर, भव, उमापति, पशुपति, विश्वरूप, महेश्वर, ॥ २७ ॥

विरूपाक्षं दशभुजं तिष्यगोवृषभध्वजम् ।
उग्रं स्थाणुं शिवं घोरं शर्वं गौरीशमीश्वरम् ॥ २८ ॥
विरूपाक्ष, दशभुज, तिष्य गोवृषध्वज, उग्र, स्थाणु, शिव, घोर, शर्व, गौरीश, ईश्वर, ॥२८॥

शितिकण्ठमजं शुक्रं पृथुं पृथुहरं हरम् ।
विश्वरूपं विरूपाक्षं बहुरूपमुमापतिम् ॥ २९ ॥
शितिकण्ठ, अज, शुक्र, पृथु, पृथुहर, हर, विश्वरूप, विरूपाक्ष, बहुरूप, उमापति, ॥ २९ ॥

प्रणम्य शिरसा देवमनङ्गाङ्गहरं हरम् ।
शरण्यं शरणं याहि महादेवं चतुर्मुखम् ॥ ३० ॥
कामदेवको भस्म करनेवाले, हर, शरण्य, चतुर्मुख महादेवको सिर झुकाकार प्रणाम करके उनका शरणागत होना ॥ ३० ॥

एवं कृत्वा नमस्तस्मै महादेवाय रंहसे ।
महात्मने क्षितिपते तत्सुवर्णमवाप्स्यसि ।
सुवर्णमाहरिष्यन्तस्तत्र गच्छन्तु ते नराः ॥ ३१ ॥
हे पृथ्वीपति ! उस महान् वेगवान् महात्मा महादेवको इस ही प्रकार नमस्कार करके उनका शरणागत होनेसे तुम वह सुवर्ण पाओगे। तुम्हारे सेवक सुवर्ण लानेके लिये वहा जांय ॥३१॥

व्यास उवाच—

इत्युक्तः स वचस्तस्य चक्रे कारंधमात्मजः ।
ततोऽतिमानुषं सर्वं चक्रे यज्ञस्य संविधिम् ।
सौवर्णानि च भाण्डानि संचक्रुस्तत्र शिल्पिनः ॥ ३२ ॥

व्यास मुनि बोले– अनन्तर करन्धमके पौत्र मरुत्तने संवर्तका ऐसा बचन सुनके वैसाही कार्य किया; और अलौकिक रूपसे यज्ञकी सारी तैयारी आरंभ की। उनके शिल्पीगणोंने वहांपर सुवर्णमय पात्र तैयार किये ॥ ३२ ॥

बृहस्पतिस्तु तां श्रुत्वा मरुत्तस्य महिपतेः ।
समृद्धिमति देवेभ्यः संतापमकरोद्भृशम् ॥ ३३ ॥

अनन्तर बृहस्पति राजा मरुत्तकी देवताओंसे भी अधिक समृद्धि सुनके अत्यन्त सन्ताप करने लगे ॥ ३३ ॥

स तप्यमानो वैवर्ण्यं कृशत्वं चागमत्परम् ।
भविष्यति हि मे शत्रुः संवर्तो वसुमानिति ॥ ३४ ॥

बृहस्पति मनही मन " मेरा शत्रु संवर्त अत्यन्त धनी होगा " ऐसी चिन्ता करके सन्तप्त, विवर्ण और बहुत कृशताको प्राप्त हुए ॥ ३४ ॥

तं श्रुत्वा भृशसंतप्तं देवराजो बृहस्पतिम् ।
अभिगम्यामरवृतः प्रोवाचेदं वचस्तदा ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अष्टमोऽध्याय ॥ ८ ॥ २०९ ॥

तब देवराज इन्द्र बृहस्पतिके अत्यंत सन्तापका वृत्तान्त सुनकर देवताओंके बीच घिरकर उनके समीप आके कहने लगे ॥ ३५ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें आठवां अध्याय समाप्त ॥ ८ ॥ २०९ ॥

: ९ :

इन्द्र उवाच—

कच्चित्सुखं स्वपिषि त्वं बृहस्पते कच्चिन्मनोज्ञाः परिचारकास्ते ।
कच्चिद्देवानां सुखकामोऽसि विप्र कच्चिद्देवास्त्वां परिपालयन्ति ॥ १ ॥

इन्द्र बोले– हे बृहस्पति ! आपको सुखपूर्वक नींद लगती है न ? परिचारक गण आपके मनके अनुसार प्राप्त हुए हैं न ? हे प्रवर ! आप देवताओंके सुखकी कामना करते हैं न ? देवगण आपका पालन करते हैं न ? ॥ १ ॥

बृहस्पतिरुवाच—

सुखं शयेऽहं शयने महेन्द्र तथा मनोज्ञाः परिचारका मे ।
तथा देवानां सुखकामोऽस्मि शक्र देवाश्च मां सुभृशं पालयन्ति ॥ २ ॥

बृहस्पति बोले— हे देवराज ! मैं शय्यापर सुखसे सोता हूं, परिचारकगण मेरे मनके अनुसार प्राप्त हुए हैं, मैं सदा देवताओंके सुखकी कामना किया करता हूं और देवगण भी मुझे परम आदरसे पालन किया करते हैं ॥ २ ॥

इन्द्र उवाच—

कुतो दुःखं मानसं देहजं वा पाण्डुर्विवर्णश्च कुतस्त्वमद्य ।
आचक्ष्व मे तद्द्विज यावदेतान्निहन्मि सर्वांस्तव दुःखकर्तॄन् ॥ ३ ॥

इन्द्र बोले— हे ब्रह्मन् ! तब किस कारण आपको शारीरिक तथा मानसिक दुःख उपस्थित हुआ ? आज किस निमित्तसे आप उदास और विवर्ण हुए हैं ? जिनसे आपको यह दुःख उत्पन्न हुआ है, आप मुझे बताइये, मैं इसी समय उन दुःख देनेवालोंका वध करूंगा ॥३॥

बृहस्पतिरुवाच—

मरुत्तमाहुर्मघवन्यक्ष्यमाणं महायज्ञेनोत्तमदक्षिणेन ।
तं संवर्तो याजयितेति मे श्रुतं तदिच्छामि न स तं याजयेत ॥ ४ ॥

बृहस्पति बोले— हे मघवन् ! मैंने परम्परासे सुना है कि मरुत्त उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त एक महायज्ञ करनेवाला है, और भी सुना है कि संवर्त ही उस मरुत्तका वह यज्ञ करावेगा; इसलिये मेरी यह इच्छा है, कि संवर्त मरुत्तके उस यज्ञको न कराने पावे ॥ ४ ॥

इन्द्र उवाच—

सर्वान्कामाननुजातोऽसि विप्र यस्त्वं देवानां मन्त्रयसे पुरोधाः ।
उभौ च ते जन्ममृत्यू व्यतीतौ किं संवर्तस्तव कर्ताद्य विप्र ॥ ५ ॥

इन्द्र बोले— हे विप्र ! सब इच्छित भोग आपको प्राप्त हैं; जब आप देवताओंके मन्त्रज्ञ उत्तम पुरोहित हुए हैं और जन्म तथा मृत्यु दोनोंको ही जीत लिया है, तब संवर्त आपका क्या करेगा ? ॥ ५ ॥

बृहस्पतिरुवाच—

देवैः सह त्वमसुरान्संप्रणुद्य जिघांससेऽप्युत सानुबन्धान् ।
यं यं समृद्धं पश्यसि तत्र तत्र दुःखं सपत्नेषु समृद्धभावः ॥ ६ ॥

बृहस्पति बोले— हे देवेन्द्र ! शत्रुओंके बीच किसीके समृद्धि सम्पन्न होनेसे वह दुःखकर बोध होता है । जैसे आप असुरोंमेंसे जिसे जिसे समृद्धिसम्पन्न देखते हैं, उन्हीं असुरोंको भिन्न स्थानोंमें देवताओंके साथ आक्रमण करके मारनेकी इच्छा किया करते हैं ॥ ६ ॥

अतोऽस्मि देवेन्द्र विवर्णरूपः सपत्नो मे वर्धते तन्निशम्य ।
सर्वोपायैर्मघवन्संनियच्छ संवर्तं वा पार्थिवं वा मरुत्तम् ॥ ७ ॥

देवेन्द्र ! उस ही प्रकार मैं भी अपने शत्रु संवर्तको संवर्धित होते हुए सुनके दुःखसे विवर्ण हुआ हूं। हे मघवन् ! इसलिये आप सब भांतिसे उपायके सहारे उस संवर्त वा राजा मरुत्तको दमन करिये ॥ ७ ॥

इन्द्र उवाच—

एहि गच्छ प्रहितो जातवेदो बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते ।
अयं वै त्वा याजयिता बृहस्पतिस्तथामरं चैव करिष्यतीति ॥ ८ ॥

इन्द्र बोले– बृहस्पतिका वचन सुननेके अनन्तर अग्निको सम्बोधनपूर्वक आह्वान करके इन्द्र बोले, हे अग्निदेव ! इधर आओ और मेरा संदेश लेकर मरुत्तके पास जाओ। बृहस्पतिको मरुत्तके समीप उनकी संमतिसे पहुंचा देना। वहां जाकर उनको कहो कि बृहस्पति तुम्हारा याजनकर्म करेंगे और ये आपको अमर भी कर देंगे ॥ ८ ॥

अग्निरुवाच—

अयं गच्छामि तव शक्राद्य दूतो बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते ।
वाचं सत्यां पुरुहूतस्य कर्तुं बृहस्पतेश्चापचितिं चिकीर्षुः ॥ ९ ॥

अग्निदेव बोले– हे मघवन् ! मैं बृहस्पतिको मरुत्तके निकट पहुंचानेके लिये आपका दूत होकर इस समय उसके समीप जाता हूं। ऐसा करके मैं बृहस्पतिका सम्मानवर्धन और देवेन्द्रका वचन सत्य करना चाहता हूं ॥ ९ ॥

व्यास उवाच—

ततः प्रायाद्धूमकेतुर्महात्मा वनस्पतीन्वीरुधश्चावमृद्नन् ।
कामाद्धिमान्ते परिवर्तमानः काष्ठातिगो मातरिश्वेव नर्दन् ॥ १० ॥

व्यासदेव बोले– तिसके अनन्तर महात्मा धूमकेतु अग्निदेव, हिमके शेषमें इच्छानुसार बहनेवाली महावेगशाली शब्दायमान वायुकी भांति समस्त वनस्पतियों और लताओंको विमर्दित करते हुए वहांसे निकले ॥ १० ॥

मरुत्त उवाच –

आश्चर्यमद्य पश्यामि रूपिणं वह्निमागतम् ।
आसनं सलिलं पाद्यं गां चोपानय वै मुने ॥ ११ ॥

मरुत्त बोले– हे मुनि ! आज मैं यह अत्यन्त विस्मययुक्त बात देख रहा हूं, क्योंकि अग्निदेव निज रूप धारण करके यहां आये हैं, इसलिये आप इन्हें आसन, जल, पाद्य और गौ प्रदान करिये ॥ ११ ॥

अग्निरुवाच—

आसनं सलिलं पाद्यं प्रतिनन्दामि तेऽनघ ।
इन्द्रेण तु समादिष्टं विद्धि मां दूतमागतम् ॥ १२ ॥

अग्निदेव बोले— हे अनघ ! मैं तुम्हारा आसन, जल और पाद्य अभिनन्दनपूर्वक ग्रहण करता हूं, परन्तु तुम मुझे ऐसा जानो, कि मैं इन्द्रकी आज्ञानुसार उनका दूत होकर तुम्हारे निकट आया हूं ॥ १२ ॥

मरुत्त उवाच—

कच्चिच्छ्रीमान्देवराजः सुखी च कच्चिचास्मान्प्रीयते धूमकेतो ।
कच्चिद्देवाश्चास्य वशे यथावत्तद्ब्रूहि त्वं मम कात्स्न्र्येन देव ॥ १३ ॥

मरुत्त बोले— हे धूमकेतु ! श्रीमान् देवराज सुखसे तो हैं ? वह हमारे पर सन्तुष्ट तो हैं और देवगण उनकी आज्ञाके बशमें हैं न ? हे देव ! आप यह सब वृत्तान्त मुझे यथार्थ रीतिसे कहिये ॥ १३ ॥

अग्निरुवाच—

शक्रो भृशं सुसुखी पार्थिवेन्द्र प्रीतिं चेच्छत्यजरां वै त्वया सः ।
देवाश्च सर्वे वशगास्तस्य राजन्संदेशं त्वं शृणु मे देवराज्ञः ॥ १४ ॥

अग्निदेब बोले— हे पार्थिवेन्द्र ! देवराज इन्द्र परम सुखसे निवास करते हैं और सब देवगण भी उनके वशीभूतही हुए हैं; बह तुम्हारे साथ अटूट प्रीति चाहते हैं। परन्तु तुम देवराजका संदेश मुझसे सुनो । ॥ १४ ॥

यदर्थं मां प्राहिणोत्त्वत्सकाशं बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते ।
अयं गुरुर्याजयिता नृप त्वां मर्त्यं सन्तममरं त्वां करोतु ॥ १५ ॥

जिस कामके लिये उन्होंने मुझे तुम्हारे पास भेजा है, वह सुनो । वे बृहस्पतिको मेरे द्वारा तुम्हारे निकट भेजना चाहते है । हे राजन् ! वह सुरगुरु बृहस्पति तुम्हारा याजनकर्म करायेंगे आप मर्त्य हैं, ये आपको अमर बनायेंगे ॥ १५ ॥

मरुत्त उवाच—

संवर्तोऽयं याजयिता द्विजो मे बृहस्पतेरञ्जलिरेष तस्य ।
नासौ देवं याजयित्वा महेन्द्रं मर्त्यं सन्तं याजयन्नद्य शोभेत् ॥ १६ ॥

मरुत्त बोले— ये द्विजसत्तम संवर्त ही मेरा याजनकर्म करेंगे, उस बृहस्पतिके निकट में हाथ जोडता हूं; उनसे अब मेरा प्रयोजन नहीं है और महेन्द्रका यज्ञ कराके इस समय मेरे जैसे मरणशील मनुष्यका याजनकर्म करानेसे उनको वैसी प्रतिभा न रहेगी ॥ १६ ॥

अग्निरुवाच—

ये वै लोका देवलोके महान्तः संप्राप्स्यसे तान्देवराजप्रसादात् ।
त्वां चेदसौ याजयेद्वै बृहस्पतिर्नूनं स्वर्गं त्वं जयेः कीर्तियुक्तः ॥ १७ ॥

अग्निदेव बोले- यदि बृहस्पति तुम्हारा याजनकर्म करें, तो देवराजकी कृपासे देवलोकके भीतर जितने बडे लोक हैं, वे सब तुम्हें सुलभतासे प्राप्त होंगे और तुम महायशस्वी होकर निश्चय ही स्वर्ग पर विजय प्राप्त करोगे ॥ १७ ॥

तथा लोका मानुषा ये च दिव्याः प्रजापतेश्चापि ये वै महान्तः ।
ते ते जिता देवराज्यं च कृत्स्नं बृहस्पतिश्चेद्याजयेत्त्वां नरेन्द्र ॥ १८ ॥

हे नरेन्द्र ! इसके अतिरिक्त यदि बृहस्पति तुम्हारा यज्ञकर्म करेंगे, तो तुम मनुष्यलोक, देवलोक, समस्त देवराज्य तथा प्रजापतिके बनाये हुए जितने लोक हैं, उन सब पर आप जय कर सकोगे ॥ १८ ॥

संवर्त उवाच—

मास्मानेवं त्वं पुनरागाः कथंचिद्बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते ।
मा त्वां धक्ष्ये चक्षुषा दारुणेन संक्रुद्धोऽहं पावक तन्निबोध ॥ १९ ॥

संवर्त बोले- हे पावक ! तुम बृहस्पतिको मरुत्तके निकट पहुंचानेके लिये कदापि इस प्रकार फिर न आना । यदि तुम फिर आओगे, तो निश्चय जान रखो, कि मैं क्रुद्ध होकर अपनी दारुण दृष्टिके द्वारा तुम्हें भस्म करूंगा ॥ १९ ॥

व्यास उवाच—

ततो देवानगमद्धूमकेतुर्दाहाद्भीतो व्यथितोऽश्वत्थपर्णवत् ।
तं वै दृष्ट्वा प्राह शक्रो महात्मा बृहस्पतेः संनिधौ हव्यवाहम् ॥ २० ॥

व्यासदेव बोले- अनन्तर धूमकेतु अग्निदेव भस्म होनेके भयसे व्यथित हो अश्वत्थपत्रकी भांति कांपकर देवताओंके निकट लौट गये । तब महात्मा शक्र हव्यवाहन अग्निको देखकर बृहस्पतिके सामनेही उनसे पूछने लगे ॥ २० ॥

यत्त्वं गतः प्रहितो जातवेदो बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते ।
तत्किं प्राह स नृपो यक्ष्यमाणः कच्चिद्वचः प्रतिगृह्णाति तच्च ॥ २१ ॥

हे जातवेद ! तुम जो बृहस्पतिको राजा मरुत्तके समीप पहुंचानेके लिये मेरी प्रेरणासे उसके निकट गये थे, उस विषयमें क्या हुआ ? वह यज्यमान पृथ्वीपति मरुत्त क्या बोला ? उसने उस वचनका स्वीकार किया है न ? ॥ २१ ॥

×

अग्निरुवाच—

न ते वाचं रोचयते मरुत्तो बृहस्पतेरञ्जलिं प्राहिणोत्सः ।
संवर्तो मां याजयितेत्यभीक्ष्णं पुनः पुनः स मया प्रोच्यमानः ॥ २२ ॥

अग्निदेव बोले— मैंने मरुत्तको बारबार आपका वचन सुनाया, परन्तु वह उसमें सम्मत न हुआ; किन्तु उन्होंने बृहस्पतिको हाथ जोडकर प्रणाम कहा है और बोला, "संवर्त ही मेरा याजनकर्म करेंगे" ॥ २२ ॥

उवाचेदं मानुषा ये च दिव्याः प्रजापतेर्ये च लोका महान्तः ।
तांश्चेल्लभेयं संविदं तेन कृत्वा तथापि नेच्छेयमिति प्रतीतः ॥ २३ ॥

और उसने यह भी वचन कहा, कि मनुष्यलोक, स्वर्गलोक तथा प्रजापतिने जिन सब उत्कृष्ट लोकोंकी उत्पत्ति की हैं, उन्हें पानेके लिये इन्द्रके साथ समझौता करना पडे, तो भी मैं बृहस्पतिको हमारे यज्ञका पुरोहित बनाना नहीं चाहता हूं, यह तुम जानो ॥ २३ ॥

इन्द्र उवाच—

पुनर्भवान्पार्थिवं तं समेत्य वाक्यं मदीयं प्रापय स्वार्थयुक्तम् ।
पुनर्यद्युक्तो न करिष्यते वचस्ततो वज्रं संप्रहर्तास्मि तस्मै ॥ २४ ॥

इन्द्र बोले— तुम फिर उस पृथ्वीपति मरुत्तके समीप जाके मिलो और मेरे इस अर्थयुक्त संदेशसे उसे सावधान करो; यदि वह फिर तुम्हारे वचनका प्रतिपालन नहीं करेगा, तो मैं उसके ऊपर वज्रसे प्रहार करूंगा ॥ २४ ॥

अग्निरुवाच—

गन्धर्वराड्यात्वयं तत्र दूतो बिभेम्यहं वासव तत्र गन्तुम् ।
संरब्धो मामब्रवीत्तीक्ष्णरोषः संवर्तो वाक्यं चरितब्रह्मचर्यः ॥ २५ ॥

अग्निदेव बोले— हे वासव ! यह गन्धर्वराज दूत होकर वहां जांय, फिर वहां जानेमें मुझे भय होता है, क्योंकि उस ब्रह्मचर्यसम्पन्न संवर्तने तीक्ष्ण रोषसे युक्त होकर संरम्भपूर्वक मुझे कहा है— ॥ २५ ॥

यद्यागच्छेः पुनरेवं कथंचिद्बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते ।
दहेयं त्वां चक्षुषा दारुणेन संक्रुद्ध इत्येतदवैहि शक्र ॥ २६ ॥

कि यदि तुम बृहस्पतिको मरुत्तके समीप पहुंचानेके लिये फिर किसी प्रकार यहांपर आओगे, तो मैं क्रुद्ध होकर दारुण दृष्टिके सहारे तुम्हें भस्म कर दूंगा । इन्द्र ! उनकी इस बातको समझ लीजिये ॥ २६ ॥

इन्द्र उवाच—

त्वमेवान्यान्दहसे जातवेदो न हि त्वदन्यो विद्यते भस्मकर्ता ।
त्वत्संस्पर्शात्सर्वलोको बिभेत्यश्रद्धेयं वदसे हव्यवाह ॥ २७ ॥

इन्द्र बोले— हे जातवेद ! तुम सबको जलाया करते हो, तुम्हारे अतिरिक्त कोई भस्मकर्ता विद्यमान नहीं है और तुम्हारे संस्पर्शसे ही सब लोग भयभीत हुआ करते हैं। हे हव्यवाहन ! इसलिये तुमने जो कहा, वह मुझे अश्रद्धेय बोध होता है ॥ २७ ॥

अग्निरुवाच—

दिवं देवेन्द्र पृथिवीं चैव सर्वां संवेष्टयेस्त्वं स्वबलेनैव शक्र ।
एवंविधस्येह सतस्तवासौ कथं वृत्रस्त्रिदिवं प्राग्जहार ॥ २८ ॥

अग्निदेव बोले— हे देवेन्द्र ! आपने निज बलसे सारी पृथ्वी और स्वर्ग लोकको आविष्टित किया है, परन्तु ऐसे यहां पर विद्यमान रहते भी पहले वृत्रासुरने किस प्रकार आपके इस स्वर्गको हरण किया था ? ॥ २८ ॥

इन्द्र उवाच—

न चण्डिका जङ्गमा नो करेणुर्न वारिसोमं प्रपिबामि वह्ने ।
न दुर्बले वै विसृजामि वज्रं को मेऽसुखाय प्रहरेन्मनुष्यः ॥ २९ ॥

इन्द्र बोले— हे अग्नि ! मैं पर्वतोको क्रोधसे चलित कर सकता हूं, परन्तु मैं शत्रुओंका दिया हुआ सोमपान नहीं करता, और मैं निर्बल पुरुषके ऊपर वज्र नहीं चलाता, तथापि ऐसा कौन मनुष्य है जो मुझे कष्ट देनेके लिये मुझपर प्रहार करे ? ॥ २९ ॥

प्रव्राजयेयं कालकेयान्पृथिव्यामपाकर्षं दानवानन्तरिक्षात् ।
दिवः प्रह्लादमवसानमानयं को मेऽसुखाय प्रहरेत मर्त्यः ॥ ३० ॥

हे अग्नि ! इसके अतिरिक्त मैं कालकेय जैसे असुरोंको आकाशसे खींचकर पृथ्वीपर गिरा सकता हूं; स्वर्गसे प्रह्लादका प्रभुत्व समाप्त करूंगा; तो फिर मर्त्य मानवोंमें कौन ऐसा है जो मुझे दुःख देनेके लिये मुझपर प्रहार कर सके ? ॥ ३० ॥

अग्निरुवाच—

यत्र शर्यातिं च्यवनो याजयिष्यन्सहाश्विभ्यां सोममगृह्णदेकः ।
तं त्वं क्रुद्धः प्रत्यषेधीः पुरस्ताच्छर्यातियज्ञं स्मर तं महेन्द्र ॥ ३१ ॥

अग्निदेव बोले— हे महेन्द्र ! पहले महर्षि च्यवनने राजा शर्यातिका यज्ञ कराके अश्विनीकुमारोंके सहित अकेले ही सोमपान किया था; आपने उनके ऊपर क्रुद्ध होकर शर्यातिके यज्ञका निवारण करते ही रहे, शर्यातिके उस यज्ञका एक बार स्मरण करिये ॥ ३१ ॥

वज्रं गृहीत्वा च पुरंदर त्वं संप्राहार्षीश्च्यवनस्यातिघोरम् ।
स ते विप्रः सह वज्रेण बाहुमपागृह्णात्तपसा जातमन्युः ॥ ३२ ॥

हे पुरन्दर ! आप अत्यंत घोर वज्र ग्रहण करके च्यवनके ऊपर प्रहार करनेके लिये उद्यत हुए थे, परंतु उस विप्रने क्रुद्ध होकर अपने तपोबलसे वज्रके सहित आपकी भुजा ग्रहण की थी ॥ ३२ ॥

ततो रोषात्सर्वतो घोररूपं सपत्नं ते जनयामास भूयः ।
मदं नामासुरं विश्वरूपं यं त्वं दृष्ट्वा चक्षुषी संन्यमीलः ॥ ३३ ॥

अनन्तर उन्होंने क्रुद्ध होकर आपके लिये फिर एक सब ओरसे भयानक रूपवाले शत्रुको उत्पन्न किया, कि आपने उस विश्वरूप भयङ्कर मद नामक असुरको देखते ही उस समय नेत्र मूंद लिये थे ॥ ३३ ॥

हनुरेका जगतीस्था तथैका दिवं गता महतो दानवस्य ।
सहस्रं दन्तानां शतयोजनानां सुतीक्ष्णानां घोररूपं बभूव ॥ ३४ ॥

उस विशाल दानवका एक बडा ओठ पृथ्वी और दूसरा स्वर्गमें व्याप्त था, सैकडों योजन लंबे उसके सहस्रों तीक्ष्ण दांत थे; इस कारण वह भयंकर रूपवाला दीखता था ॥ ३४ ॥

वृत्ताः स्थूला रजतस्तम्भवर्णा दंष्ट्राश्चतस्रो द्वे शते योजनानाम् ।
स त्वां दन्तान्विदशन्नभ्यधावज्जिघांसया शूलमुद्यम्य घोरम् ॥ ३५ ॥

उनमेंसे चार दांत गोल, मोटे और रजतस्तम्भकी भांति सफेद दो सौ योजन लम्बे थे; वह मद दानव आपको मारनेकी इच्छासे दांतोको कटकटाता हुआ घोर त्रिशूल उठाके तुम्हारी ओर दौडा था ॥ ३५ ॥

अपश्यस्त्वं तं तदा घोररूपं सर्वे त्वन्ये ददृशुर्दर्शनीयम् ।
यस्माद्भीतः प्राञ्जलिस्त्वं महर्षिमागच्छेथाः शरणं दानवघ्न ॥ ३६ ॥

हे दानवोंको मारनेवाले इन्द्र ! उस समय उस घोररूपवाले असुरको देखकर आप ऐसे हुए थे, कि सब कोई दर्शनीयकी भांति तुम्हारी ओर देखने लगे । अनन्तर आप उससे डरके हाथ जोडकर उस महर्षि च्यवनके शरणागत हुए ॥ ३६ ॥

क्षत्रादेवं ब्रह्मबलं गरीयो न ब्रह्मतः किंचिदन्यद्गरीयः ।
सोऽहं जानन्ब्रह्मतेजो यथावन्न संवर्तं गन्तुमिच्छामि शक्र ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥ २४६ ॥

हे शक्र ! क्षात्रबलसे ब्रह्मबल श्रेष्ठतम है, ब्राह्मणसे श्रेष्ठ दूसरी कोई भी शक्ति नहीं है, इसलिये मैं ब्रह्मतेजको विशेष रीतिसे जानके, संवर्तको जीतनेकी इच्छा नहीं करता ॥ ३७ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें नवां अध्याय समाप्त ॥ ९ ॥ २४६ ॥

: १० :

इन्द्र उवाच—

एवमेतद्ब्रह्मबलं गरीयो न ब्रह्मतः किंचिदन्यद्गरीयः ।
आविक्षितस्य तु बलं न मृष्ये वज्रमस्मै प्रहरिष्यामि घोरम् ॥ १ ॥

इन्द्र बोले– यह सत्य है, कि सब बलोंसे ब्रह्मबल महत्तम और ब्राह्मणोंसे दूसरा कोई भी श्रेष्ठ नहीं है। परंतु अविक्षितपुत्र मरुत्तके बलको मैं कदापि न सहूंगा; उसके ऊपर घोर वज्रसे प्रहार करूंगा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र प्रहितो गच्छ मरुत्तं संवर्तेन सहितं तं वदस्व ।
बृहस्पतिं त्वमुपशिक्षस्व राजन्वज्रं वा ते प्रहरिष्यामि घोरम् ॥ २ ॥

हे गंधर्व धृतराष्ट्र ! इसलिये तुम मेरे भेजनेसे वहां जाकर संवर्तके साथ मिले उस राजा मरुत्तसे यह बचन बोलो, महाराज ! तुम बृहस्पतिको आचार्य बनाकर यज्ञकी दीक्षा लीजिये; यदि तुम ऐसा न करोगे, तो मैं इन्द्र तुम्हारे ऊपर घोर वज्रसे प्रहार करूंगा ॥ २ ॥

व्यास उवाच—

ततो गत्वा धृतराष्ट्रो नरेन्द्रं प्रोवाचेदं वचनं वासवस्य ।
गन्धर्वं मां धृतराष्ट्रं निबोध त्वामागतं वक्तुकामं नरेन्द्र ॥ ३ ॥

व्यासदेव बोले– तिसके अनन्तर गन्धर्व धृतराष्ट्र पृथ्वीपति मरुत्तके समीप जाकर उनसे इन्द्रका बचन कहने लगा। हे नरेन्द्र ! आप मुझे धृतराष्ट्र गन्धर्व जानिये, मैं आपसे इन्द्रका बचन कहनेकी इच्छासे तुम्हारे समीप आया हूं ॥ ३ ॥

ऐन्द्रं वाक्यं शृणु मे राजसिंह यत्प्राह लोकाधिपतिर्महात्मा ।
बृहस्पतिं याजकं त्वं वृणीष्व वज्रं वा ते प्रहरिष्यामि घोरम्
वचश्चेदेतन्न करिष्यसे मे प्राहैतदेतावदचिन्त्यकर्मा ॥ ४ ॥

हे राजन् ! इसलिये लोकाधिपति महात्मा महेन्द्रने आपको जो कुछ कहा है, उसे सुनिये। अचिन्त्यकर्मा इन्द्र कहते हैं– तुम बृहस्पतिको यज्ञमें याजक रूपसे स्वीकार करो। यदि इस वचनको पालन न करोगे, तो मैं तुम्हारे ऊपर घोर वज्रसे प्रहार करूंगा ॥ ४ ॥

मरुत्त उवाच—

त्वं चैवैतद्वेत्थ पुरंदरश्च विश्वेदेवा वसवश्चाश्विनौ च ।
मित्रद्रोहे निष्कृतिर्वै यथैव नास्तीति लोकेषु सदैव वादः ॥ ५ ॥

मरुत्त बोले– आप, पुरन्दर, बिश्वदेव, वसुगण और अश्विनीकुमार ये सब कोई जानते हैं, कि इस लोकमें मित्रद्रोही पुरुषकी निष्कृति नहीं होती, ऐसी लोकोंमें सदैव सम्मति है ॥ ५ ॥

बृहस्पतिर्याजयितां महेन्द्रं देवश्रेष्ठं वज्रभृतां वरिष्ठम् ।
संवर्तो मां याजयिताद्य राजन्न ते वाक्यं तस्य वा रोचयामि ॥ ६ ॥

हे राजन् ! बृहस्पति उस वज्रधारियोंमें श्रेष्ठ देव श्रेष्ठ महेन्द्रका याजनकर्म करें और आज मेरा यज्ञकर्म संवर्त करेंगे। इस समय बृहस्पति और इन्द्रके वचनमें मेरी अभिरुचि नहीं होती है; ॥ ६ ॥

गन्धर्व उवाच—

घोरो नादः श्रूयते वासवस्य नभस्तले गर्जतो राजसिंह ।
व्यक्तं वज्रं मोक्ष्यते ते महेन्द्रः क्षेमं राजंश्चिन्त्यतामेष कालः ॥ ७ ॥

गन्धर्व बोले– हे राजसिंह ! आकाशमें गर्जनेवाले इन्द्रका घोर शब्द सुनाई देता है। ज्ञात होता है कि महेन्द्र तुम्हारे ऊपर वज्र छोड रहे हैं, इसलिये राजन् ! अब आप अपने कल्याणका विचार करिये। यह ही समय है ॥ ७ ॥

इत्येवमुक्तो धृतराष्ट्रेण राजा श्रुत्वा नादं नदतो वासवस्य ।
तपोनित्यं धर्मविदां वरिष्ठं संवर्तं तं ज्ञापयामास कार्यम् ॥ ८ ॥

पृथ्वीपति मरुत्तने धृतराष्ट्र गन्धर्वका ऐसा वचन और नभस्थलमें उत्कट शब्दायमान इन्द्रका शब्द सुनकर तपोनिधि धर्मवित् पुरुषोंमें वरिष्ठ संवर्तको शक्रके इस कार्यकी सूचना दी ॥ ८ ॥

मरुत्त उवाच—

इममश्मानं प्लवमानमारादध्वा दूरं तेन न दृश्यतेऽद्य ।
प्रपद्येऽहं शर्म विप्रेन्द्र त्वत्तः प्रयच्छ तस्मादभयं विप्रमुख्य ॥ ९ ॥

मरुत्त बोले– हे विप्रेन्द्र ! इन्द्र दूरसे ही वज्रका प्रहार करना चाहते हैं, वे दूर ही खडे हैं, इस कारण वे दिखाई नहीं देते। हे विप्रवर ! मैं आपकी शरणमें हूं, आपसे मेरी रक्षा चाहता हूं, इसलिये आप मुझे अभयदान दीजिये ॥ ९ ॥

अयमायाति वै वज्री दिशो विद्योतयन्दश ।
अमानुषेण घोरेण सदस्यास्त्रासिता हि नः ॥ १० ॥

यह वज्रधारी इन्द्र दशों दिशाओंको प्रकाशित करते हुए आ रहे हैं और इनके भयंकर तथा अमानुष शब्दसे यज्ञशालाके सब सदस्य भयभीत हो गये हैं ॥ १० ॥

संवर्त उवाच—

भयं शक्राद्व्येतु ते राजसिंह प्रणोत्स्येऽहं भयमेतत्सुघोरम् ।
संस्तम्भिन्या विद्यया क्षिप्रमेव मा भैस्त्वमस्माद्भव चापि प्रतीतः ॥ ११ ॥

संवर्त बोले– हे राजसिंह ! तुम्हारा इन्द्रसे भय दूर होगा; मैं शीघ्र ही स्तम्भिनी विद्याके सहारे तुम्हारे इस घोर भयको नष्ट करूंगा; इसलिये तुम धीरज धरो; इन्द्र पराजित होनेका भय छोडो ॥ ११ ॥

अहं संस्तम्भयिष्यामि मा भैस्त्वं शक्रतो नृप ।
सर्वेषामेव देवानां क्षपितान्यायुधानि मे ॥ १२ ॥

हे नरनाथ ! तुम इन्द्रसे मत डरो; मैं उन्हें अभी स्तम्भित करता हूं । मेरे स्तम्भन करनेसे ही संपूर्ण देवताओंके अस्त्र शस्त्र निष्फल हो गये हैं ॥ १२ ॥

दिशो वज्रं व्रजतां वायुरेतु वर्षं भूत्वा निपततु काननेषु ।
आपः प्लवन्त्वन्तरिक्षे वृथा च सौदामिनी दृश्यतां मा बिभेस्त्वम् ॥ १३ ॥

दसों दिशाओंमें वज्र गमन करे, आंधी चले, इंद्र स्वयं वर्षा होकर इस स्थानमें आकर वनके बीच जलकी वर्षा करे और समस्त जल आकाशमें व्यर्थ ही प्लावित होवे । यह जो बिजली दीख पडती है, वह व्यर्थ है, उससे मत डरो ॥ १३ ॥

अथो वह्निस्त्रातु वा सर्वतस्ते कामं वर्षं वर्षतु वासवो वा ।
वज्रं तथा स्थापयतां च वायुर्महाघोरं प्लवमानं जलौघैः ॥ १४ ॥

हे महाराज ! इन्द्र नल तथा कामनाओंकी वर्षा करें और तुम्हारे वधके निमित्त जलसमूहसे उछलती घोर वज्र और वायु चलाया है वह उनके हाथोंमेंही रहें । उससे तुम भयभीत न होना; अग्निदेव तुम्हारी सब ओरसे सब भांतिसे रक्षा करेंगे ॥ १४ ॥

मरुत्त उवाच—

घोरः शब्दः श्रूयते वै महास्वनो वज्रस्यैष सहितो मारुतेन ।
आत्मा हि मे प्रव्यथते मुहुर्मुहुर्न मे स्वास्थ्यं जायते चाद्य विप्र ॥ १५ ॥

मरुत्त बोले— हे विप्रवर ! वायुके सहित अशनिका यह महास्वनयुक्त भयंकर शब्द सुनाई दे रहा है; इस कारण मेरी आत्मा बार बार व्यथित होती है, आज मुझे शान्ति नहीं है ॥ १५ ॥

संवर्त उवाच—

वज्रादुग्राद्व्येतु भयं तवाद्य वातो भूत्वा हन्मि नरेन्द्र वज्रम् ।
भयं त्यक्त्वा वरमन्यं वृणीष्व कं ते कामं तपसा साधयामि ॥ १६ ॥

संवर्त बोले— हे नरनाथ ! इस उग्र वज्रसे आज तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिये । मैं इसी समय वायु होकर वज्रको निष्फल करता हूं इसलिये तुम भय छोडकर तुम्हारे मनमें जो दूसरी कोई अभिलाषा हो, वह वर मांगो कहो, मैं तुम्हारी कौनसी इच्छा पूर्ण करूं ? ॥ १६ ॥

मरुत्त उवाच—

इन्द्रः साक्षात्सहसाभ्येतु विप्र हविर्यज्ञे प्रतिगृह्णातु चैव ।
स्वं स्वं धिष्ण्यं चैव जुषन्तु देवाः सुतं सोमं प्रतिगृह्णन्तु चैव ॥ १७ ॥

मरुत्त बोले— हे विप्रवर ! इन्द्र प्रत्यक्ष होकर यज्ञमें सहसा आके अपना हविष्य भाग ग्रहण करें और देवगण भी अपने स्थानपर आकर बैठ जायं और अपना अपना यज्ञभाग ग्रहण करके सोमपान करें, मैं यही वर मांगता हूं ॥ १७ ॥

संवर्त उवाच—

अयमिन्द्रो हरिभिरायाति राजन्देवैः सर्वैं सहितः सोमपीथी ।
मन्त्राहूतो यज्ञमिमं मयाद्य पश्यस्वैनं मन्त्रविस्रस्तकायम् ॥ १८ ॥

संवर्त बोले– हे महाराज! ये सोमरस पीनेवाले इन्द्र सब देवताओंके सहित घोडोंसे युक्त रथकी सवारीसे इस यज्ञमें आ रहे हैं, मैंने मन्त्रोंके द्वारा आज इस यज्ञमें इनको आवाहन किया है, देखो, मंत्रोंके बलसे इनका शरीर इधर खींचकर आ रहा है ॥ १८ ॥

व्यास उवाच—

ततो देवैः सहितो देवराजो रथे युक्त्वा तान्हरीन्वाजिमुख्यान् ।
आयाद्यज्ञमधि राज्ञः पिपासुराविक्षितस्याप्रमेयस्य सोमम् ॥ १९ ॥

व्यास बोले– अनन्तर देवराज इन्द्र उन सर्वोत्कृष्ट घोडोंको अपने रथमें युक्त करके देवताओंके सहित सोमपानकी इच्छासे अविक्षितपुत्र अप्रमेयात्मा राजा मरुत्तके यज्ञमें आये ॥१९॥

तमायान्तं सहितं देवसंघैः प्रत्युद्ययौ सपुरोधा मरुत्तः ।
चक्रे पूजां देवराजाय चाग्र्यां यथाशास्त्रं विधिवत्प्रीयमाणः ॥ २० ॥

देवताओंके सहित इन्द्रको आते देख मरुत्तने पुरोधा संवर्तके साथ आगे बढकर अभिवादन करके प्रसन्न चित्तसे शास्त्रके अनुसार देवराजकी उत्तम रीतिसे कुशल आदि पूंछके अग्र पूजा की और संवर्त देवराजसे स्वागतप्रश्न करने लगे ॥ २० ॥

संवर्त उवाच—

स्वागतं ते पुरुहूतेह विद्वन्यज्ञोऽद्यायं संनिहिते त्वयीन्द्र ।
शोशुभ्यते बलवृत्रघ्न भूयः पिबस्व सोमं सुतमुद्यतं मया ॥ २१ ॥

संवर्त बोले– हे पुरुहूत इन्द्र! आपका स्वागत है? हे विद्वन्! आज आपके यहां आनेसे यह यज्ञ अत्यन्तही शोभित हुआ है। हे बलवृत्रहन्! इसलिये आज आप मेरे द्वारा तैयार किया हुआ इस सोमरसका पान करिये ॥ २१ ॥

मरुत्त उवाच—

शिवेन मां पश्य नमश्च तेऽस्तु प्राप्तो यज्ञः सफलं जीवितं मे ।
अयं यज्ञं कुरुते मे सुरेन्द्र बृहस्पतेरवरो जन्मना यः ॥ २२ ॥

मरुत्त बोले– हे सुरेन्द्र! आपको नमस्कार है, आप कुशलनेत्रसे मुझे देखिये। इस यज्ञमें आपके आनेसे मेरा यज्ञ और जीवन सफल हुआ। बृहस्पतिके जो जन्मसे कनिष्ठ भाई हैं, वे यह संवर्त मेरा यज्ञ करते हैं ॥ २२ ॥

इन्द्र उवाच—

जानामि ते गुरुमेनं तपोधनं बृहस्पतेरनुजं तिग्मतेजसम् ।

यस्याह्वानादागतोऽहं नरेन्द्र प्रीतिर्मेऽद्य त्वयि मन्युः प्रनष्टः ॥ २३ ॥

इन्द्र बोले— हे नरनाथ ! तुम्हारे गुरु बृहस्पतिके छोटे भाई अत्यंत तेजस्वी तपोधन संवर्तको मैं जानता हूं, इनके आवाहनसे ही मुझे आना पडा है । आज मैं आपपर अत्यन्त प्रसन्न हूं, तुम्हारे विषयमें जो मेरा कोप था, वह नष्ट हुआ है ॥ २३ ॥

संवर्त उवाच—

यदि प्रीतस्त्वमसि वै देवराज तस्मात्स्वयं शाधि यज्ञे विधानम् ।

स्वयं सर्वान्कुरु मार्गान्सुरेन्द्र जानात्वयं सर्वलोकश्च देव ॥ २४ ॥

संवर्त बोले— हे देवराज ! यदि आप प्रसन्न हुए हैं, तो स्वयंही यज्ञका विधान कहिये और स्वयं समस्त रीतियोंको करिये । हे सुरेन्द्र ! देव ! यह सब ये समस्त लोग जानें ॥ २४ ॥

व्यास उवाच—

एवमुक्तस्त्वाङ्गिरसेन शक्रः समादिदेश स्वयमेव देवान् ।

सभाः क्रियन्तामावसथाश्च मुख्याः सहस्रशश्चित्रभौमाः समृद्धाः ॥२५॥

व्यासदेव बोले—इन्द्रने अङ्गिरापुत्र संवर्तका ऐसा वचन सुनकर स्वयंही देवताओंको आज्ञा दी, कि तुम लोग चित्र-विचित्र सुन्दर अत्यन्त उत्कृष्ट हजारों सभागृह तैयार करो ॥ २५ ॥

क्लृप्तस्थूणाः कुरुतारोहणानि गन्धर्वाणामप्सरसां च शीघ्रम् ।

येषु नृत्येरन्नप्सरसः सहस्रशः स्वर्गोद्देशः क्रियतां यज्ञवाटः ॥ २६ ॥

गन्धर्वों और अप्सराओंके लिये शीघ्र ही अनेक सुंदर स्तम्भोंका रंगमण्डप निर्माण करो; उनके चढनेके लिये सीढियां बनाओ । यज्ञशालाके जिस स्थानमें हजारों अप्सराएं नृत्य करेंगी, उसे स्वर्गकी भांति सुसज्जित करो ॥ २६ ॥

इत्युक्तास्ते चक्रुराशु प्रतीता दिवौकसः शक्रवाक्यान्नरेन्द्र ।

ततो वाक्यं प्राह राजानमिन्द्रः प्रीतो राजन्पूज्यमानो मरुत्तम् ॥ २७ ॥

हे नरेन्द्र ! देवराजके ऐसा कहनेपर देवताओंने प्रसन्न होकर उनकी आज्ञानुसार शीघ्र ही सबका निर्माण किया । हे महाराज ! अनन्तर पूजित और प्रसन्न हुए इन्द्र पृथ्वीपति मरुत्तसे बोले, ॥ २७ ॥

एष त्वयाहमिह राजन्समेत्य ये चाप्यन्ये तव पूर्वे नरेन्द्राः ।

सर्वाश्चान्या देवताः प्रीयमाणा हविस्तुभ्यं प्रतिगृह्णन्तु राजन् ॥ २८ ॥

हे नरेन्द्र ! इस स्थानमें तुम्हारे सङ्ग मेरे मिलनेसे आपके जो अन्य राजालोग पूर्वपुरुष हैं वे और अन्य सब देवता भी सन्तुष्ट होकर तुम्हारा दिया हुआ हविष्य ग्रहण करेंगे ॥२८॥

×

आग्नेयं वै लोहितमालभन्तां वैश्वदेवं बहुरूपं विराजन् ।
नीलं चोक्षाणं मेध्यमभ्यालभन्तां चलच्छिश्नं मत्प्रदिष्टं द्विजेन्द्राः ॥२९॥

हे महाराज ! इस समय अग्निदेवके लिये लाल रंगकी सम्बन्धीय और विश्वदेवोंके लिये अनेक रूपवाली वस्तुएं दी जाये । ब्राह्मण श्रेष्ठ यहां छूकर दिये गये चञ्चल शिश्नके नील रंगके वृषभका दान ग्रहण करें ॥ २९ ॥

ततो यज्ञो ववृधे तस्य राज्ञो यत्र देवाः स्वयमन्नानि जह्रुः ।
यस्मिञ्शक्रो ब्राह्मणैः पूज्यमानः सदस्योऽभूद्धरिमान्देवराजः ॥ ३० ॥

हे महाराज ! तिसके अनन्तर पृथ्वीपति मरुत्तका यज्ञकार्य बर्धित होने लगा । उस यज्ञमें स्वयं देवगण अन्न परोसने लगे और ब्राह्मणोंसे पूजित उत्तम घोडोंसे युक्त देवराज इन्द्र उस यज्ञमें सदस्य बनकर बैठे थे ॥ ३० ॥

ततः संवर्तश्चित्यगतो महात्मा यथा वह्निः प्रज्वलितो द्वितीयः ।
हवींष्युच्चैराह्वयन्देवसंघाञ्जुहावाग्नौ मन्त्रवत्सुप्रतीतः ॥ ३१ ॥

अनन्तर द्वितीय अग्निसदृश तेजस्वी यज्ञकी वेदिके पास बैठे हुए महात्मा संवर्तने ऊंचे स्वरसे देवताओंको आवाहन करके प्रसन्नचित्तसे मन्त्रोंद्वारा अग्निमें घृताहुति प्रदान की ॥ ३१ ॥

ततः पीत्वा बलभित्सोममग्र्यं ये चाप्यन्ये सोमपा वै दिवौकसः ।
सर्वेऽनुज्ञाताः प्रययुः पार्थिवेन यथाजोषं तर्पिताः प्रीतिमन्तः ॥ ३२ ॥

अनन्तर बलसूदन इन्द्रने और अन्य सब सोम पीनेवाले देवताओंने सुखपूर्वक उत्तम सोमरसका पान किया । सब तृप्त प्रसन्न और प्रीतियुक्त हो गये फिर सब देवता पृथ्वीपति मरुत्तकी अनुमति लेकर चले गये ॥ ३२ ॥

ततो राजा जातरूपस्य राशीन्पदे पदे कारयामास हृष्टः ।
द्विजातिभ्यो विसृजन्भूरि वित्तं रराज वित्तेश इवारिहन्ता ॥ ३३ ॥

अनन्तर शत्रुनाशन राजा मरुत्तने अत्यंत प्रसन्न चित्तसे पग पगपर सुवर्णके ढेर लगवाकर ब्राह्मणोंको बहुतसा धनका दान किया । उस समय वे धनाध्यक्ष कुबेरकी भांति विराजने लगे ॥ ३३ ॥

ततो वित्तं विविधं संनिधाय यथोत्साहं कारयित्वा च कोशम् ।
अनुज्ञातो गुरुणा संनिवृत्य शशास गामखिलां सागरान्ताम् ॥ ३४ ॥

तदनन्तर जो नाना प्रकारका धन बाकी रह गया था, उसको मरुत्तने उत्साहपूर्वक खजाना निर्माण करके उसमें अर्पित किया और गुरुकी आज्ञालेकर वहांसे निवृत्त समुद्रसहित वसुन्धराका राज्य शासन किया ॥ ३४ ॥

एवंगुणः संबभूवेह राजा यस्य क्रतौ तत्सुवर्णं प्रभूतम् ।
तत्त्वं समादाय नरेन्द्र वित्तं यजस्व देवांस्तर्पयानो विधानैः । ॥ ३५ ॥

हे नरेन्द्र ! जिनके यज्ञमें बहुतसा सुवर्ण सञ्चित किया हुआ था, इस पृथ्वीपर वह ऐसे गुणसम्पन्न राजा थे । तुम उस सुवर्णको मंगवाकर विधिविधानपूर्वक देवताओंको तृप्त करते हुए यज्ञका विधान करो ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततो राजा पाण्डवो हृष्टरूपः श्रुत्वा वाक्यं सत्यवत्याः सुतस्य ।
मनश्चक्रे तेन वित्तेन यष्टुं ततोऽमात्यैर्मन्त्रयामास भूयः ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥ २८२ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— अनन्तर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर सत्यवतीसुत वेदव्यासका वचन सुनकर अत्यंत प्रसन्न होके, उस धनसे यज्ञ करनेका निश्चय करके, मन्त्रियोंके सङ्ग फिर बार बार विचार करने लगे ॥ ३६ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें दसवां अध्याय समाप्त ॥ १० ॥ २८२ ॥

: ११ :

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्ते नृपतौ तस्मिन्व्यासेनाद्भुतकर्मणा ।
वासुदेवो महातेजास्ततो वचनमाददे ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— जब राजा युधिष्ठिर अद्भुतकर्मा वेदव्यासका ऐसा वचन सुन चुके, तब महातेजस्वी बासुदेव कहने लगे ॥ १ ॥

तं नृपं दीनमनसं निहतज्ञातिबान्धवम् ।
उपप्लुतमिवादित्यं सधूममिव पावकम् ॥ २ ॥

राजा युधिष्ठिरको बन्धु तथा स्वजनोंके मारे जानेसे धुएंयुक्त अग्नि और राहुग्रस्त सूर्यकी भांति निष्प्रभ, दीनचित्त ॥ २ ॥

निर्विण्णमनसं पार्थं ज्ञात्वा वृष्णिकुलोद्वहः ।
आश्वासयन्धर्मसुतं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ ३ ॥

तथा खिन्नमन देखकर और जानकर वृष्णिवंश भूषण श्रीकृष्णने कुन्तिपुत्र धर्मसुत युधिष्ठिरको आश्वासन वचनके सहारे आश्वासित करते हुए कहना शुरू किया ॥ ३ ॥

वासुदेव उवाच—

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् ।
एतावाञ्ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥ ४ ॥

श्रीकृष्ण बोले— हे राजन् ! सब भांतिकी कुटिलता मृत्युका स्थान और सब प्रकारकी सरलता ब्रह्मकी प्राप्तिका साधन है; इतना ही समझ लेना ज्ञानका विषय है, इसके विपरीत प्रलाप है वह किसीका क्या लाभ करेगा ? ॥ ४ ॥

नैव ते निष्ठितं कर्म नैव ते शत्रवो जिताः ।
कथं शत्रुं शरीरस्थमात्मानं नावबुध्यसे ॥ ५ ॥

आपने कर्मको पूर्ण नहीं किया और शत्रुगणोंको पराजित नहीं किया आप निज शरीरमें रहनेवाले आपके शत्रुको क्यों नहीं जान सकते हैं ? ॥ ५ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि यथाधर्मं यथाश्रुतम् ।
इन्द्रस्य सह वृत्रेण यथा युद्धमवर्तत ॥ ६ ॥

इसलिये यहां मैं आपके समीप यथाधर्म तथा यथाश्रुत इन्द्र और वृत्रासुरका जैसा युद्ध हुआ था, उसका वृत्तान्त वर्णन करता हूं ॥ ६ ॥

वृत्रेण पृथिवी व्याप्ता पुरा किल नराधिप ।
दृष्ट्वा स पृथिवीं व्याप्तां गन्धस्य विषये हृते ।
धराहरणदुर्गन्धो विषयः समपद्यत ॥ ७ ॥

हे नरनाथ ! पहले समयमें वृत्रासुरने सब पृथ्वी अपने अधिकारमें ली थी; जब इन्द्रने देखा कि वृत्रासुरने पृथ्वीपर अधिकार करके, गन्धके विषयका भी अपहार किया है और पृथ्वीका अपहरण करनेसे दुर्गंधका प्रसार हो रहा है ॥ ७ ॥

शतक्रतुश्चुकोपाथ गन्धस्य विषये हृते ।
वृत्रस्य स ततः क्रुद्धो वज्रं घोरमवासृजत् ॥ ८ ॥

तब गन्धके विषयका अपहरण होनेसे इन्द्र बहुत क्रुद्ध हुए । अनन्तर इन्द्रने क्रुद्ध होकर वृत्रके ऊपर घोर वज्र चलाया ॥ ८ ॥

स वध्यमानो वज्रेण पृथिव्यां भूरितेजसा ।
विवेश सहसैवापो जग्राह विषयं ततः ॥ ९ ॥

वृत्र इन्द्रके उस अत्यन्त तेजस्वी वज्रसे बहुत ही घायल होकर सहसा जलमें प्रविष्ट हुआ और जल संगृहीत तथा जलके विषय भूत रसको ग्रहण करने लगा ॥ ९ ॥

व्याप्तास्वथासु वृत्रेण रसे च विषये हृते।
शतक्रतुरभिक्रुद्धस्तासु वज्रमवासृजत् ॥ १० ॥

जब वृत्रका जलपर अधिकार और रसरूपी विषयका अपहरण हो गया, तब इन्द्रने अत्यन्त क्रुद्ध होकर वहां उसके ऊपर वज्र छोडा ॥ १० ॥

स वध्यमानो वज्रेण सलिले भूरितेजसा।
विवेश सहसा ज्योतिर्जग्राह विषयं ततः ॥ ११ ॥

जलमें वृत्र इन्द्रके उस अमिततेजस्वी वज्रसे अत्यन्त घायल होकर सहसा तेजस्तत्त्वमें प्रविष्ट हुआ और तेजग्रहण तथा तेजके विषय रूपको ग्रहण करने लगा ॥ ११ ॥

व्याप्ते ज्योतिषि वृत्रेण रूपेऽथ विषये हृते।
शतक्रतुरभिक्रुद्धस्तत्र वज्रमवासृजत् ॥ १२ ॥

वृत्रने तेजपर भी अधिकार किया और उसके रूप-विषयका अपहरण किया, यह जानकर इन्द्रने अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसके ऊपर वहां वज्र छोडा ॥ १२ ॥

स वध्यमानो वज्रेण सुभृशं भूरितेजसा।
विवेश सहसा वायुं जग्राह विषयं ततः ॥ १३ ॥

अनन्तर वृत्रासुरने बलसूदनके अमित तेजस्वी वज्रके प्रहारसे पीडित होकर सहसा वायुके बीच प्रवेश किया और उसके स्पर्शविषयको ग्रहण किया ॥ १३ ॥

व्याप्ते वायौ तु वृत्रेण स्पर्शेऽथ विषये हृते।
शतक्रतुरभिक्रुद्धस्तत्र वज्रमवासृजत् ॥ १४ ॥

उस समय वृत्रासुरके द्वारा वायु व्याप्त और वायुका विषय स्पर्श अपहृत होनेपर, फिर इन्द्रने अत्यन्त क्रुद्ध होकर वहां उसके ऊपर वज्र चलाया ॥ १४ ॥

स वध्यमानो वज्रेण तस्मिन्नमिततेजसा।
आकाशमभिदुद्राव जग्राह विषयं ततः ॥ १५ ॥

अनन्तर वृत्रासुर इन्द्रके अमित-तेजस्वी वज्रसे घायल होकरआकाशमें भाग गया और उसके विषयको ग्रहण करने लगा ॥ १५ ॥

आकाशे वृत्रभूते च शब्दे च विषये हृते।
शतक्रतुरभिक्रुद्धस्तत्र वज्रमवासृजत् ॥ १६ ॥

उसके अनन्तर आकाश वृत्रासुरमय हो गया और आकाशका शब्दरूपी विषय अपहृत होनेपर, इन्द्रने अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसके ऊपर वहां भी वज्र चलाया ॥ १६ ॥

स वध्यमानो वज्रेण तस्मिन्नमिततेजसा ।
विवेश सहसा शक्रं जग्राह विषयं ततः ॥ १७ ॥

तब वृत्रासुरने इन्द्रके अमित-तेजस्वी वज्रसे घायल होकर सहसा इन्द्रको ही ग्रहण किया और उनके विषयको ग्रहण करने लगा ॥ १७ ॥

तस्य वृत्रगृहीतस्य मोहः समभवन्महान् ।
रथंतरेण तं तात वसिष्ठः प्रत्यबोधयत् ॥ १८ ॥

तात ! इन्द्र वृत्रासुरके द्वारा पकडे जानेपर महान् मोहको प्राप्त हुए । तब महर्षि वसिष्ठने रथन्तर सामके मंत्रों द्वारा उन्हें सचेत किया ॥ १८ ॥

ततो वृत्रं शरीरस्थं जघान भरतर्षभ ।
शतक्रतुरदृश्येन वज्रेणेतीह नः श्रुतम् ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! हमने ऐसा सुना है, कि अनन्तर शतक्रतु इन्द्रने अदृश्य वज्रके सहारे निज शरीरस्थ उस वृत्रासुरका बध किया ॥ १९ ॥

इदं धर्मरहस्यं च शक्रेणोक्तं महर्षिषु ।
ऋषिभिश्च मम प्रोक्तं तन्निबोध नराधिप ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥ ३०२ ॥

हे जननाथ ! तुमने जिस विषयको सुना, इस धर्मरहस्यको पहले इन्द्रने महर्षियोंके निकट और महर्षियोंने मेरे समीप वर्णन किया था आप इसे अच्छी तरह समझें ॥ २० ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें ग्यारहवां अध्याय समाप्त ॥ ११ ॥ ३०२ ॥

: १२ :

वासुदेव उवाच—

द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा ।
परस्परं तयोर्जन्म निर्द्वंद्वं नोपलभ्यते ॥ १ ॥

श्रीकृष्णचन्द्र बोले– हे महाराज ! शारीरिक और मानसिक, ये दो प्रकारकी व्याधियां उत्पन्न होती हैं; परन्तु परस्परके सहयोगसे ही उनकी उत्पत्ति हुआ करती है । दोनोंके परस्पर सहयोगके विना इनकी उत्पत्ति शक्य नहीं होती ॥ १ ॥

शरीरे जायते व्याधिः शारीरो नात्र संशयः ।
मानसो जायते व्याधिर्मनस्येवेति निश्चयः ॥ २ ॥

जो व्याधि शरीरमें उत्पन्न होती है, वह शारीरिक है, इसमें संशय नहीं है; और जो मनसे उत्पन्न होती है, वह निश्चयही मानसिक कहलाती है ॥ २ ॥

शीतोष्णे चैव वायुश्च गुणा राजञ्शरीरजाः ।
तेषां गुणानां साम्यं चेत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ।
उष्णेन बाध्यते शीतं शीतेनोष्णं च बाध्यते ॥ ३ ॥

राजन् ! सर्दी, गर्मी अर्थात् कफ और पित्त तथा वायु, ये शरीरके गुण हैं, इन गुणोंकी साम्यावस्थाको ही पण्डित लोग स्वस्थ शरीरका लक्षण कहा करते हैं। गर्मी सर्दीका निवारण करती और सर्दी गर्मीका निवारण करती है ॥ ३ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रयस्त्वात्मगुणाः स्मृताः ।
तेषां गुणानां साम्यं चेत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ।
तेषामन्यतमोत्सेके विधानमुपदिश्यते ॥ ४ ॥

सत्त्व, रज और तम ये तीनों ही आत्मगुण माने हुए हैं। इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाको ही पण्डित लोग मानसिक स्वास्थ्य कहा करते हैं, परन्तु इनके बीच किसी एककी वृद्धि होनेपर उसके शान्तिका उपाय करना चाहिये ॥ ४ ॥

हर्षेण बाध्यते शोको हर्षः शोकेन बाध्यते ।
कश्चिद्दुःखे वर्तमानः सुखस्य स्मर्तुमिच्छति ।
कश्चित्सुखे वर्तमानो दुःखस्य स्मर्तुमिच्छति ॥ ५ ॥

हर्षसे शोक और शोकसे हर्ष बाधा हुआ करती है। कोई दुःखमें वर्तमान रहके सुखको और कोई सुखमें वर्तमान रहके दुःखको स्मरण करनेकी इच्छा करता है ॥ ५ ॥

स त्वं न दुःखी दुःखस्य न सुखी सुसुखस्य वा ।
स्मर्तुमिच्छसि कौन्तेय दिष्टं हि बलवत्तरम् ॥ ६ ॥

हे कौन्तेय ! परन्तु आप सुखदुःखरूपी दोनों व्याधियोंसे रहित होकर उत्तम सुख वा दुःख किसीकी भी इच्छा नहीं करते हैं, तब दैव ही अत्यंत बलवान् है ॥ ६ ॥

अथ वा ते स्वभावोऽयं येन पार्थावकृष्यसे ।
दृष्ट्वा सभागतां कृष्णामेकवस्त्रां रजस्वलाम् ।
मिषतां पाण्डवेयानां न तत्संस्मर्तुमिच्छसि ॥ ७ ॥

हे पृथापुत्र ! अथवा यह दुःखित्वादिही आपका स्वभाव है, क्योंकि इसहीके द्वारा आप आकर्षित होते हैं। पाण्डवोंके सम्मुखमें रजस्वला एकवस्त्रवाली द्रौपदीको सभाके बीच लाया गया था; आप उसे उस अवस्थामें देखकर भी अब उसका स्मरण करना नहीं चाहते हैं ॥ ७ ॥

प्रव्राजनं च नगरादजिनैश्च विवासनम् ।
महारण्यनिवासश्च न तस्य स्मर्तुमिच्छसि ॥ ८ ॥

नगरसे प्रवासित होना, मृगाजिन पहरना और महाबनके बीच निवास करना, इन बातोंको आप याद करना नहीं चाहते हैं ॥ ८ ॥

जटासुरात्परिक्लेशश्चित्रसेनेन चाहवः ।
सैन्धवाच्च परिक्लेशो न तस्य स्मर्तुमिच्छसि ॥ ९ ॥

जटासुरसे क्लेश मिलना, चित्रसेनके सङ्ग संग्राम और सिन्धुराज जयद्रथके द्वारा अपमान और क्लेश भोगना, उसका स्मरण करनेकी आप इच्छा नहीं करते ॥ ९ ॥

पुनरज्ञातचर्यायां कीचकेन पदा वधः ।
याज्ञसेन्यास्तदा पार्थ न तस्य स्मर्तुमिच्छसि ॥ १० ॥

हे पृथापुत्र ! अज्ञातवासके दिनोंमें कीचकका द्रौपदीको लात मारना उसे भी आप स्मरण करना नहीं चाहते हैं ॥ १० ॥

यच्च ते द्रोणभीष्माभ्यां युद्धमासीदरिंदम ।
मनसैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ।
तस्मादभ्युपगन्तव्यं युद्धाय भरतर्षभ ॥ ११ ॥

शत्रुदमन ! द्रोणाचार्य तथा भीष्मके सङ्ग जो युद्ध हुआ था, वही युद्ध आपके सामने खडा है। आपको आकेले अपने मनके सङ्ग युद्ध करना होगा; हे भरतर्षभ ! इसलिये युद्धके निमित्त आप तैय्यार हो जाईये ॥ ११ ॥

परमव्यक्तरूपस्य परं मुक्त्वा स्वकर्मभिः ।
यत्र नैव शरैः कार्यं न भृत्यैर्न च बन्धुभिः ।
आत्मनैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ॥ १२ ॥

मनके सम्मुख होकर योग और निज कर्मोंके सहारे मनको जीतकर उससे पार होइये पर-ब्रह्मको प्राप्त कीजिये । हे महाराज ! इस युद्धमें बाण, सेवक और बान्धवोंकी आवश्यकता नहीं है, केवल मनके सङ्ग युद्ध करना होता है; इस समय आपके लिये अकेले ही युद्ध करना है, और वही युद्ध सामने उपस्थित हुआ है ॥ १२ ॥

तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे कामवस्थां गमिष्यसि ।
एतज्ज्ञात्वा तु कौन्तेय कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ १३ ॥

इस युद्धमें आप मनको न जीत सके तो आपकी क्या अवस्था होगी । हे कुन्तीनन्दन ! इसलिये आप इसे अच्छीतरह जानकर कृतकार्य होंगे ॥ १३ ॥

एतां बुद्धिं विनिश्चित्य भूतानामागतिं गतिम् ।
पितृपैतामहे वृत्ते शाधि राज्यं यथोचितम् ॥ १४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ ३१६ ॥

आप इस बुद्धि और प्राणियोंकी गति तथा अगतिको बिशेष रीतिसे निश्चय करते हुए पितृ-पितामह वृत्तिके अनुबर्ती होकर यथोचित राज्यशासन करिये ॥ १४ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें बारहवा अध्याय समाप्त ॥ १२ ॥ ३१६ ॥

: १३ :

वासुदेव उवाच—

न बाह्यं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति भारत ।
शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति वा न वा ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण बोले– हे भारत ! बाह्य राज्यादि परित्याग करनेसे ही सिद्धि प्राप्त नहीं होती; शारीरिक कामादि–द्रव्यका परित्याग करनेसे भी सिद्धि प्राप्त होती है अथवा नहीं भी होती है ॥ १ ॥

बाह्यद्रव्यविमुक्तस्य शारीरेषु च गृध्यतः ।
यो धर्मो यत्सुखं चैव द्विषतामस्तु तत्तथा ॥ २ ॥

बाह्यवस्तु राज्यादिमें विरक्ति और शारीरिक वस्तु कामादिमें आसक्तियुक्त पुरुषको जो धर्म और सुख प्राप्त होता है, वह तुम्हारे साथ द्वेष करनेवालोंको ही प्राप्त होवे ॥ २ ॥

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ममेति द्व्यक्षरो मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥ ३ ॥

संसार विषयमें ममतारूप द्व्यक्षर 'मम' मृत्यु कहके बर्णित हुआ है और निर्ममतारूप त्र्यक्षर 'न मम' शाश्वत ब्रह्म कहा गया है। ममता मृत्यु है और उसका त्याग शाश्वत अमृतत्व है ॥३॥

ब्रह्म मृत्युश्च तौ राजन्नात्मन्येव व्यवस्थितौ ।
अदृश्यमानौ भूतानि योधयेतामसंशयम् ॥ ४ ॥

हे महाराज ! वह ब्रह्म और मृत्यु ये दोनोंही अदृश्य भावसे मनुष्यचित्तके बीच विद्यमान रहके प्राणियोंको युद्धमें प्रवर्तित किया करते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ४ ॥

अविनाशोऽस्य सत्त्वस्य नियतो यदि भारत ।
भित्त्वा शरीरं भूतानामहिंसां प्रतिपद्यते ॥ ५ ॥

हे भारत ! यदि इस जगत्की सत्ताका अविनाश ही निश्चित हो तो प्राणियोंके शरीरका भेद न करनेसे भी मनुष्य अहिंसाका ही फल प्राप्त करेगा ॥ ५ ॥

×

लब्ध्वापि पृथिवीं सर्वां सहस्थावरजङ्गमाम् ।
ममत्वं यस्य नैव स्यात्किं तया स करिष्यति ॥ ६ ॥

हे पृथापुत्र ! यदि कोई स्थावर जङ्गमोंके सहित समस्त पृथ्वीको पाकर भी उसमें ममता नहीं करता, तो वह यह पृथिवी लेकर क्या करेगा ? (उसका कोई अनर्थ नहीं होगा) ॥ ६ ॥

अथ वा वसतः पार्थ वने वन्येन जीवतः ।
ममता यस्य द्रव्येषु मृत्योरास्ये स वर्तते ॥ ७ ॥

कुन्तीपुत्र और जो बनवासी होकर बनके फलमूलोंसे जीविका निर्वाह करता है उसकी यदि द्रव्योंमें ममता है, वह मृत्युमुखमें वास किया करता है ॥ ७ ॥

बाह्यान्तराणां शत्रूणां स्वभावं पश्य भारत ।
यन्न पश्यति तद्भूतं मुच्यते स महाभयात् ॥ ८ ॥

हे भारत ! आप ध्यानयोगसे बाह्य तथा आन्तरिक शत्रुओंके, राज्य और कामादिक माया-ममत्वरूप स्वभावका अवलोकन करिये । जो इस अनादि मायामय पदार्थोंको ममत्वकी दृष्टिसे नहीं देखता, वही महाभयङ्कर भयसे मुक्त हुआ करता है ॥ ८ ॥

कामात्मानं न प्रशंसन्ति लोके न चाकामात्काचिदस्ति प्रवृत्तिः ।
दानं हि वेदाध्ययनं तपश्च कामेन कर्माणि च वैदिकानि ॥ ९ ॥

लोकसमाज कामनावान् पुरुषकी प्रशंसा नहीं करता और कामनाके विना किसी विषयमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती । दान, वेदाध्ययन, तप और वेदोक्त कर्म ये कामना करनेवालेके नियम हैं ॥ ९ ॥

व्रतं यज्ञान्नियमान्ध्यानयोगान्कामेन यो नारभते विदित्वा ।
यद्यद्ध्ययं कामयते स धर्मो न यो धर्मो नियमस्तस्य मूलम् ॥ १० ॥

जो मनुष्य इसे विशेष रीतिसे जानकर कामनापूर्वक व्रत, यज्ञ, नियम और ध्यान योगका अनुष्ठान नहीं करता तथा जिस कर्मसे वह कुछ कामना रखता है, वह धर्म नहीं है। बास्तवमें कामनानिग्रह ही धर्म और मोक्षका मूल है ॥ १० ॥

अत्र गाथाः कामगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
शृणु संकीर्त्यमानास्ता निखिलेन युधिष्ठिर ॥ ११ ॥

हे युधिष्ठिर इस विषयमें प्राचीन तत्त्वोंके जाननेवाले पण्डित लोग एक पुरातना गाथाका वर्णन करते हैं, यह कामगीता नामसे प्रसिद्ध है। मैं आपके समीप वह गाथा पूरी रीतिसे कहता हूं, सुनिये ॥ ११ ॥

नाहं शक्योऽनुपायेन हन्तुं भूतेन केनचित्।
यो मां प्रयतते हन्तुं ज्ञात्वा प्रहरणे बलम्।
तस्य तस्मिन्प्रहरणे पुनः प्रादुर्भवाम्यहम् ॥ १२ ॥

काम कहता है, निर्ममता और योगाभ्यासरूपी उपायके अतिरिक्त कोई भी प्राणी मेरा नाश करनेमें समर्थ नहीं होता। जो मनुष्य स्वयंमें अस्त्रबलकी श्रेष्ठता जानकर मुझे नष्ट करनेका प्रयत्न करता है, उसके उस अस्त्रबलमें मैं अहंकार रूपसे पुनः प्रकट होता हूं ॥ १२ ॥

यो मां प्रयतते हन्तुं यज्ञैर्विविधदक्षिणैः।
जङ्गमेष्विव कर्मात्मा पुनः प्रादुर्भवाम्यहम् ॥ १३ ॥

जो पुरुष विविध दक्षिणायुक्त यज्ञके सहारे मुझे मारनेमें प्रयत्नवान् होता है, उत्तम जङ्गम योनिमें उत्पन्न हुए कर्मात्मा मनुष्यकी भांति मैं उसके चित्तमें दम्भादि रूपसे फिर प्रकट हुआ करता हूं ॥ १३ ॥

यो मां प्रयतते हन्तुं वेदैर्वेदान्तसाधनैः।
स्थावरेष्विव शान्तात्मा तस्य प्रादुर्भवाम्यहम् ॥ १४ ॥

जो पुरुष वेद और वेदाङ्गके स्वाध्याय—साधनोंके द्वारा मुझे विनष्ट करनेके लिये यत्नवान् होता है, स्थावर योनिमें अनभिव्यक्त रूपसे शान्तात्माओंकी भांति मैं उसके चित्तके बीच प्रकट हुआ करता हूं ॥ १४ ॥

यो मां प्रयतते हन्तुं धृत्या सत्यपराक्रमः।
भावो भवामि तस्याहं स च मां नावबुध्यते ॥ १५ ॥

जो सत्यपराक्रमी मनुष्य धैर्यके सहारे मुझे नष्ट करनेके लिये यत्नवान् होता है, मैं उसके मानसिक भावोंसे इतना एकरूप होता हूं, कि इसलिये वह मुझे नहीं जान सकता ॥ १५ ॥

यो मां प्रयतते हन्तुं तपसा संशितव्रतः।
ततस्तपसि तस्याथ पुनः प्रादुर्भवाम्यहम् ॥ १६ ॥

जो कठोर व्रतका पालन करनेवाला मनुष्य तपस्याके द्वारा मुझे नष्ट करनेके निमित्त यत्नवान् होता है, मैं उसके चित्तमें तपरूपसे उत्पन्न होता हूं, इसलिये वह मुझे नहीं जान सकता ॥ १६ ॥

यो मां प्रयतते हन्तुं मोक्षमास्थाय पण्डितः।
तस्य मोक्षरतिस्थस्य नृत्यामि च हसामि च।
अवध्यः सर्वभूतानामहमेकः सनातनः ॥ १७ ॥

जो पण्डित पुरुष नित्य मुक्त आत्माको न जानकर मोक्षके निमित्त मोक्षमार्गका अवलम्बन करके मुझे नष्ट करनेके लिये यत्नवान् होता है, मैं सब प्राणियोंसे अवध्य सनातन अद्वितीय उस मोक्षरतिस्थ मूर्ख पुरुषकी उपहास करते हुए उसके समीप खुशीसे नृत्य किया करता हूं ॥ १७ ॥

तस्मात्त्वमपि तं कामं यज्ञैर्विविधदक्षिणैः ।
धर्मं कुरु महाराज तत्र ते स भविष्यति ॥ १८ ॥

हे महाराज ! इसलिये आप भी विविध दक्षिणायुक्त यज्ञोंका अनुष्ठान करकेही उस कामनासे धर्मयुक्त आचरण कीजिये; वहां आपकी वह कामना कल्याणमयी सफल होगी ॥ १८ ॥

यजस्व वाजिमेधेन विधिवद्दक्षिणावता ।
अन्यैश्च विविधैर्यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः ॥ १९ ॥

इसलिये आप निष्काम होकर विधिपूर्वक दक्षिणायुक्त वाजिमेध तथा दूसरे प्रकारके पर्याप्त दक्षिणावाले समृद्धशाली यज्ञोंका अनुष्ठान करिये ॥ १९ ॥

मा ते व्यथास्तु निहतान्बन्धून्वीक्ष्य पुनः पुनः ।
न शक्यास्ते पुनर्द्रष्टुं ये हतास्मिन्रणाजिरे ॥ २० ॥

आप युद्धमें मारे गये बान्धवोंको बार बार स्मरण करके वृथा दुःखित न होइये । जो लोग इस रणभूमिमें मारे गये हैं, आप अब उन्हें फिर न देख सकेंगे ॥ २० ॥

स त्वमिष्ट्वा महायज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः ।
लोके कीर्तिं परां प्राप्य गतिमग्र्यां गमिष्यसि ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥ ३३७ ॥

इसलिये आप पर्याप्त दक्षिणायुक्त समृद्धिशाली महायज्ञोंका अनुष्ठान करके देवताओंकी पूजा करनेसे इस लोकमें उत्तम कीर्ति पाके परलोकमें उत्कृष्ट गति लाभ कर सकेंगे ॥ २१ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें तेरहवां अध्याय समाप्त ॥ १३ ॥ ३३७ ॥

: १४ :

वैशम्पायन उवाच—

एवं बहुविधैर्वाक्यैर्मुनिभिस्तैस्तपोधनैः ।
समाश्वस्यत राजर्षिर्हतबन्धुर्युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

श्री वैशम्पायन मुनि बोले— हतबन्धु राजर्षि युधिष्ठिर उन तपोधन मुनियोंके द्वारा ऐसे ही अनेक प्रकारके वचनोंके सहारे पूरी रीतिसे आश्वासित हुए ॥ १ ॥

सोऽनुनीतो भगवता विष्टरश्रवसा स्वयम् ।
द्वैपायनेन कृष्णेन देवस्थानेन चाभिभूः ॥ २ ॥

हे पार्थिव ! विजयी धर्मराजने स्वयं भगवान् विष्टरश्रवा, श्रीकृष्ण, कृष्णद्वैपायन व्यास, देवस्थान ॥ २ ॥

नारदेनाथ भीमेन नकुलेन च पार्थिवः ।
कृष्णया सहदेवेन विजयेन च धीमता ॥ ३ ॥

नारद, भीमसेन, नकुल, द्रौपदी, सहदेव, बुद्धिमान् अर्जुन ॥ ३ ॥

अन्यैश्च पुरुषव्याघ्रैर्ब्राह्मणैः शास्त्रदृष्टिभिः ।
व्यजहाच्छोकजं दुःखं संतापं चैव मानसम् ॥ ४ ॥

तथा अन्यान्य श्रेष्ठ पुरुषों और शास्त्रदर्शी ब्राह्मणोंके द्वारा अनुनीत होकर मानसिक शोकसन्ताप और दुःखका परित्याग किया ॥ ४ ॥

अर्चयामास देवांश्च ब्राह्मणांश्च युधिष्ठिरः ।
कृत्वाथ प्रेतकार्याणि बन्धूनां स पुनर्नृपः ।
अन्वशासत धर्मात्मा पृथिवीं सागराम्बराम् ॥ ५ ॥

अनन्तर राजा युधिष्ठिरने देवताओं और ब्राह्मणोंकी पूजा की और बन्धु–बान्धवोंका श्राद्ध कार्य पूरा करके वे धर्मात्मा समुद्रपर्यंत पृथ्वीका राज्य करने लगे ॥ ५ ॥

प्रशान्तचेताः कौरव्यः स्वराज्यं प्राप्य केवलम् ।
व्यासं च नारदं चैव तांश्चान्यानब्रवीन्नृपः ॥ ६ ॥

कुरुनन्दन राजा युधिष्ठिर केवल निज राज्य पाकर प्रशान्तचित्तसे व्यास, नारद तथा अन्यान्य मुनियोंसे कहने लगे ॥ ६ ॥

आश्वासितोऽहं प्राग्वृद्धैर्भवद्भिर्मुनिपुंगवैः ।
न सूक्ष्ममपि मे किंचिद्व्यलीकमिह विद्यते ॥ ७ ॥

आप सब लोग मुनियोंमें वृद्ध और श्रेष्ठ हैं, इसलिये आप लोगोंके द्वारा आश्वासित होनेसे अब मुझे अणुमात्र भी दुःख नहीं है ॥ ७ ॥

अर्थश्च सुमहान्प्राप्तो येन यक्ष्यामि देवताः ।
पुरस्कृत्येह भवतः समानेष्यामहे मखम् ॥ ८ ॥

विशेष करके जिसके सहारे देवताओंकी पूजा कर सकूंगा, वह यथेष्ट धन भी मुझे प्राप्त हुआ है; इससे आज हम आप लोगोंको अगाडी करके उस धनको यज्ञशालामें लायेंगे ॥ ८ ॥

हिमवन्तं त्वया गुप्ता गमिष्यामः पितामह ।
बह्वाश्चर्यो हि देशः स श्रूयते द्विजसत्तम ॥ ९ ॥

हे द्विजसत्तम पितामह ! हमने सुना है, कि वह स्थान अत्यन्त ही आश्चर्यजनक दृश्योंसे भरा है; हम लोग आपके द्वारा रक्षित होकर हिमालय पर्वतपर जायेंगे ॥ ९ ॥

तथा भगवता चित्रं कल्याणं बहु भाषितम् ।
देवर्षिणा नारदेन देवस्थानेन चैव ह ॥ १० ॥

हे विप्रर्षि ! आप भगवान् देवस्थान तथा देवर्षि नारदने बहुतसी मेरा कल्याण करनेवाली अद्भुत बातें बतायी हैं ॥ १० ॥

नाभागधेयः पुरुषः कश्चिदेवंविधान्गुरून् ।
लभते व्यसनं प्राप्य सुहृदः साधुसंमतान् ॥ ११ ॥

कोई भाग्यहीन मनुष्य संकटमें पडके साधुसम्मत सुहृत् तथा इस प्रकार हितैषी गुरुका लाभ नहीं कर सकता ॥ ११ ॥

एवमुक्तास्तु ते राज्ञा सर्व एव महर्षयः ।
अभ्यनुज्ञाप्य राजानं तथोभौ कृष्णफल्गुनौ ।
पश्यतामेव सर्वेषां तत्रैवादर्शनं ययुः ॥ १२ ॥

अनन्तर राजा युधिष्ठिरका ऐसा कृतज्ञताका वचन सुनके वे सब महर्षिगण राजा युधिष्ठिर, श्रीकृष्ण तथा अर्जुनकी अनुमति लेकर सबके सम्मुखमें वहीं अन्तर्धान हुए ॥ १२ ॥

ततो धर्मसुतो राजा तत्रैवोपाविशत्प्रभुः ।
एवं नातिमहान्कालः स तेषामभ्यवर्तत ॥ १३ ॥

और धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर उस स्थानमेंही बैठ गये । इस प्रकार पाण्डवोंका कुछ काल वहीं व्यतीत हुआ ॥ १३ ॥

कुर्वतां शौचकर्माणि भीष्मस्य निधने तदा ।
महादानानि विप्रेभ्यो ददतामौर्ध्वदैहिकम् ॥ १४ ॥

उस समय पाण्डवोंने भीष्मकी मृत्युके पश्चात् उनकी शौचकर्म किया । उन्होंने और्ध्वदेहिक कार्यमें ब्राह्मणोंको महत् दान प्रदान किया ॥ १४ ॥

भीष्मकर्णपुरोगाणां कुरूणां कुरुनन्दन ।
सहितो धृतराष्ट्रेण प्रददावौर्ध्वदैहिकम् ॥ १५ ॥

कुरुनन्दन ! और फिर उन्होंने धृतराष्ट्रके सहित भीष्म और कर्ण आदि कौरवोंके और्ध्वदेहिक कार्य पूरा करके ब्राह्मणोंको बहुतसा धन दान किया ॥ १५ ॥

ततो दत्त्वा बहु धनं विप्रेभ्यः पाण्डवर्षभः ।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विवेश गजसाह्वयम् ॥ १६ ॥

अनन्तर ब्राह्मणोंको बहुत धन देकर वह पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रको अगाडी करके हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥ १६ ॥

स समाश्वास्य पितरं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम् ।
अन्वशाद्वै स धर्मात्मा पृथिवीं भ्रातृभिः सह ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥ २५४ ॥

धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर प्रज्ञाचक्षु पितृव्य राजा धृतराष्ट्रको धीरज और सान्त्वना देकर भाइयोंके सहित पृथिवीका शासन करने लगे ॥ १७ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें चौदहवां अध्याय समाप्त ॥ १४ ॥ २५४ ॥

: १५ :

जनमेजय उवाच—

विजिते पाण्डवेयैस्तु प्रशान्ते च द्विजोत्तम ।
राष्ट्रे किं चक्रतुर्वीरौ वासुदेवधनंजयौ ॥ १ ॥

राजा जनमेजयने पूछा— हे द्विजसत्तम ! पाण्डवोंके द्वारा राष्ट्र विजित और प्रशान्त होनेपर वासुदेव और धनञ्जय इन दोनों वीरोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच—

विजिते पाण्डवेयैस्तु प्रशान्ते च विशां पते ।
राष्ट्रे बभूवतुर्हृष्टौ वासुदेवधनंजयौ ॥ २ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— हे महाराज ! पाण्डवोंके द्वारा राष्ट्र जित और प्रशान्त होनेपर श्रीकृष्ण तथा अर्जुन अत्यन्त हर्षित हो गये ॥ २ ॥

विजह्राते मुदा युक्तौ दिवि देवेश्वराविव ।
तौ वनेषु विचित्रेषु पर्वतानां च सानुषु ॥ ३ ॥

सुरपुरमें विहार करनेवाले दो देवेश्वरोंके समान वे दोनों प्रसन्नचित्त हो विचित्र वनोंमें और पर्वतोंके शिखरोंपर फिरने लगे ॥ ३ ॥

शैलेषु रमणीयेषु पल्वलेषु नदीषु च ।
चङ्क्रम्यमाणौ संहृष्टावश्विनाविव नन्दने ॥ ४ ॥

रमणीय पर्वत, छोटे तालाब और नदियोंपर घुमते हुए वे नन्दनवनमें विहार करनेवाले अश्विनी कुमारोंके समान आनन्दित हो गये ॥ ४ ॥

इन्द्रप्रस्थे महात्मानौ रेमाते कृष्णपाण्डवौ ।
प्रविश्य तां सभां रम्यां विजह्राते च भारत ॥ ५ ॥

हे भारत ! महात्मा श्रीकृष्ण और पाण्डुपुत्र अर्जुन दोनोंही इन्द्रप्रस्थमें अनेक प्रकार क्रीडा करते हुए रमणीय सभाके बीच प्रविष्ट होकर विहार करने लगे ॥ ५ ॥

तत्र युद्धकथाश्चित्राः परिक्लेशांश्च पार्थिव ।
कथायोगे कथायोगे कथयामासतुस्तदा ॥ ६ ॥

उस सभाके बीच वे दोनों अनेक प्रकारकी वार्ता करते हुए युद्धकी बिचित्र कथाओं और क्लेशोंका वर्णन करने लगे ॥ ६ ॥

ऋषीणां देवतानां च वंशांस्तावाहतुस्तदा ।
प्रीयमाणौ महात्मानौ पुराणावृषिसत्तमौ ॥ ७ ॥

उस समय पुरातन ऋषिसत्तम महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंही परम प्रसन्न होकर ऋषियों तथा देवताओंके वंशोंकी जान करने लगे ॥ ७ ॥

मधुरास्तु कथाश्चित्राश्चित्रार्थपदनिश्चयाः ।
निश्चयज्ञः स पार्थाय कथयामास केशवः ॥ ८ ॥

निश्चयज्ञ केशिनिषूदन श्रीकृष्णने पृथापुत्र अर्जुनको बिचित्र अर्थ, पद और सिद्धान्तयुक्त बिलक्षण और मधुर कथाएं सुनायीं ॥ ८ ॥

पुत्रशोकाभिसंतप्तं ज्ञातीनां च सहस्रशः ।
कथाभिः शमयामास पार्थं शौरिर्जनार्दनः ॥ ९ ॥

पुत्रशोकसे सन्तापित और सहस्रों स्वजनोंके मारे जानेसे दुःखित कुन्तीपुत्र अर्जुनको बासुदेव-पुत्र श्रीकृष्णने अनेक कथाएं सुनाकर शान्त किया ॥ ९ ॥

स तमाश्वास्य विधिवद्विधानज्ञो महातपाः ।
अपहृत्यात्मनो भारं विशश्रामेव सात्वतः ॥ १० ॥

बिधानज्ञ महातपस्वी श्रीकृष्ण अर्जुनको बिधिपूर्वक आश्वासित करके मानो अपने शरीरका बोझा हरकर बिश्राम करने लगे ॥ १० ॥

ततः कथान्ते गोविन्दो गुडाकेशमुवाच ह ।
सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा हेतुयुक्तमिदं वचः ॥ ११ ॥

तिसके अनन्तर वाक्यकी समाप्ति होनेपर गोविन्दने गुडाकेश अर्जुनकी अपनी मधुर बाणीके सहारे सान्त्वना करते हुए उनसे यह युक्तियुक्त वचन कहना आरम्भ किया ॥ ११ ॥

विजितेयं धरा कृत्स्ना सव्यसाचिन्परंतप ।
त्वद्बाहुबलमाश्रित्य राज्ञा धर्मसुतेन ह ॥ १२ ॥

हे शत्रुतापन सव्यसाचिन् ! धर्मराज युधिष्ठिरने तुम्हारे बाहुबलके अवलम्बनसे इस समुद्र-सहित पृथ्वीपर बिजय प्राप्त की है ॥ १२ ॥

असपत्नां महीं भुङ्क्ते धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनप्रभावेन यमयोश्च नरोत्तम ॥ १३ ॥

हे नरोत्तम ! भीमसेन और यमज नकुल तथा सहदेवके प्रभावसे धर्मराज युधिष्ठिर पृथ्वीका निष्कण्टक भोग करते हैं ॥ १३ ॥

धर्मेण राज्ञा धर्मज्ञ प्राप्तं राज्यमकण्टकम् ।
धर्मेण निहतः संख्ये स च राजा सुयोधनः ॥ १४ ॥

हे धर्मज्ञ ! धर्मराजने धर्मबलसे ही अकण्टक राज्य पाया है और धर्मबलसे ही युद्धमें राजा सुयोधन मारा गया है ॥ १४ ॥

अधर्मरुचयो लुब्धाः सदा चाप्रियवादिनः ।
धार्तराष्ट्रा दुरात्मानः सानुबन्धा निपातिताः ॥ १५ ॥

अधर्माभिलाषी, सदा अप्रिय वचन कहनेवाले, लोभी और दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्र थे; वे अपने बान्धवोंके सहित युद्धभूमिमें मार डाले गये ॥ १५ ॥

प्रशान्तामखिलां पार्थ पृथिवीं पृथिवीपतिः ।
भुङ्क्ते धर्मसुतो राजा त्वया गुप्तः कुरूद्वह ॥ १६ ॥

कुरुकुल श्रेष्ठ पार्थ ! धर्मपुत्र पृथ्वीपति राजा युधिष्ठिर तुम्हारे द्वारा रक्षित होकर अखिल प्रशान्त भूमण्डलका भोग करते हैं ॥ १६ ॥

रमे चाहं त्वया सार्धमरण्येष्वपि पाण्डव ।
किमु यत्र जनोऽयं वै पृथा चामित्रकर्शन ॥ १७ ॥

और मैं तुम्हारे सङ्ग रहनेपर वनमें भी सुखसे रहूंगा; शत्रूनाशन अर्जुन ! जहां इतने लोग और कुन्ती हैं, वहांकी बात ही क्या है ? ॥ १७ ॥

यत्र धर्मसुतो राजा यत्र भीमो महाबलः ।
यत्र माद्रवतीपुत्रौ रतिस्तत्र परा मम ॥ १८ ॥

मैं तुमसे अधिक क्या कहूं, धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर, महाबली भीम और माद्रवतीपुत्र नकुल–सहदेव–तुम लोग जहांपर रहते हों, उसही स्थानमें मुझे अत्यन्त ही आनन्द हुआ करता है ॥ १८ ॥

तथैव स्वर्गकल्पेषु सभोद्देशेषु भारत ।
रमणीयेषु पुण्येषु सहितस्य त्वयानघ ॥ १९ ॥

हे अनघ ! स्वर्गतुल्य सुखप्रद, रमणीय पुण्यजनक सभाओंके बीच तुम्हारे सङ्ग रहते हुए ॥ १९ ॥

×

कालो महांस्त्वतीतो मे शूरपुत्रमपश्यतः ।
बलदेवं च कौरव्य तथान्यान्वृष्णिपुंगवान् ॥ २० ॥

मुझे बहुत दीन बीत गये। मेरे पिता शूरसेनपुत्र वसुदेव, बलदेव और अन्य वृष्णिपुङ्गव पुरुषोंको भी बहुत कालतक न देखनेसे ॥ २० ॥

सोऽहं गन्तुमभीप्सामि पुरीं द्वारवतीं प्रति ।
रोचतां गमनं मह्यं तवापि पुरुषर्षभ ॥ २१ ॥

मुझे द्वारकापुरीमें जानेके लिये अत्यन्त ही अभिलाषा हुई है; हे पुरुषश्रेष्ठ ! इसलिये मेरे जानेमें तुम्हें सम्मत होना योग्य है ॥ २१ ॥

उक्तो बहुविधं राजा तत्र तत्र युधिष्ठिरः ।
स ह भीष्मेण यद्युक्तमस्माभिः शोककारिते ॥ २२ ॥

जब राजा युधिष्ठिर अत्यन्त शोकार्त हुए, तब उस शोकको निवारण करनेके लिये भीष्मके सहित हम लोगोंने उन्हें अनेक स्थानोंमें युक्तियुक्त उपदेशवचन कहे हैं। उन्हें समझाया है ॥ २२ ॥

शिष्टो युधिष्ठिरोऽस्माभिः शास्ता सन्नपि पाण्डवः ।
तेन तच्च वचः सम्यग्गृहीतं सुमहात्मना ॥ २३ ॥

महात्मा युधिष्ठिर हम लोगोंके शास्ता और पण्डित होनेपर भी, हमने उन्हें जो अनुशासन वाक्य कहा था, उन्होंने उस वाक्यमें अवहेलना न करके पूरी रीतिसे ग्रहण किया है ॥ २३ ॥

धर्मपुत्रे हि धर्मज्ञे कृतज्ञे सत्यवादिनि ।
सत्यं धर्मो मतिश्चाग्र्या स्थितिश्च सततं स्थिरा ॥ २४ ॥

धर्मपुत्र युधिष्ठिरके अत्यन्त धर्मज्ञ, कृतज्ञ तथा सत्यवादी होनेसे उनका धर्म तथा उत्कृष्ट बुद्धि और मर्यादा कभी भी विचलित नहीं होगी ॥ २४ ॥

तद्गत्वा तं महात्मानं यदि ते रोचतेऽर्जुन ।
अस्मद्गमनसंयुक्तं वचो ब्रूहि जनाधिपम् ॥ २५ ॥

हे अर्जुन ! यदि तुम मेरे जानेमें संमत हो, तो महात्मा प्रजानाथ युधिष्ठिरके निकट जाकर उनसे मेरे जानेकी बात कहो ॥ २५ ॥

न हि तस्याप्रियं कुर्यां प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते ।
कुतो गन्तुं महाबाहो पुरीं द्वारवतीं प्रति ॥ २६ ॥

हे महाबाहो ! उनकी सम्मतिके अतिरिक्त मैं किसी कार्यको नहीं कर सकता। द्वारकापुरीमें जाना तो दूर रहे, मेरे प्राणत्यागका समय उपस्थित होनेपर भी मैं उनके अनभिलषित कार्यको नहीं कर सकता ॥ २६ ॥

सर्वं ह्विदमहं पार्थ त्वत्प्रीतिहितकाम्यया ।
ब्रवीमि सत्यं कौरव्य न मिथ्यैतत्कथंचन ॥ २७ ॥

हे पृथापुत्र ! मैं तुम्हारा प्रीतिकर तथा हिताभिलाषी होनेसे यह सब मैंने किया है, यह सत्य बचन कह रहा हूं, इसे कदापि मिथ्या न समझना ॥ २७ ॥

प्रयोजनं च निर्वृत्तमिह वासे ममार्जुन ।
धार्तराष्ट्रो हतो राजा सबलः सपदानुगः ॥ २८ ॥

हे अर्जुन ! देखो, अपनी सेना और अनुयायियोंके सहित धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधनके मारे जानेसे, इस समय यहांपर मेरे वास करनेका प्रयोजन पूर्ण हुआ है ॥ २८ ॥

पृथिवी च वशे तात धर्मपुत्रस्य धीमतः ।
स्थिता समुद्रवसना सशैलवनकानना ।
चिता रत्नैर्बहुविधैः कुरुराजस्य पाण्डव ॥ २९ ॥

हे तात ! पर्वत, बन और काननयुक्त अनेक भांतिके रत्नोंसे परिपूर्ण समुद्रसे घिरी हुई पृथ्वी धर्मपुत्र धीमान् धर्मज्ञ राजा युधिष्ठिरके वशमें हुई है; ॥ २९ ॥

धर्मेण राजा धर्मज्ञः पातु सर्वां वसुंधराम् ।
उपास्यमानो बहुभिः सिद्धैश्चापि महात्मभिः ।
स्तूयमानश्च सततं बन्दिभिर्भरतर्षभ ॥ ३० ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस समय वह अनेक भांतिसे महानुभाव सिद्धोंके द्वारा उपासित और बंदिजनोंसे सदा स्तुत होकर धर्मपूर्वक इस समस्त पृथिवीका पालन करें ॥ ३० ॥

तन्मया सह गत्वाद्य राजानं कुरुवर्धनम् ।
आपृच्छ कुरुशार्दूल गमनं द्वारकां प्रति ॥ ३१ ॥

कुरुसिंह आज तुम मेरे सङ्ग कुरुवर्धन राजा युधिष्ठिरके समीप चलके उनसे मेरे द्वारकागमनका विषय पूंछो ॥ ३१ ॥

इदं शरीरं वसु यच्च मे गृहे निवेदितं पार्थ सदा युधिष्ठिरे ।
प्रियश्च मान्यश्च हि मे युधिष्ठिरः सदा कुरूणामधिपो महामतिः ॥ ३२ ॥

हे पार्थ ! वह कुरुपति महाबुद्धिमान् युधिष्ठिर मेरे माननीय और प्रिय हैं, मैंने यह अपना शरीर तथा गृहस्थित सारा धन सदा उन्हें अर्पण किया है ॥ ३२ ॥

प्रयोजनं चापि निवासकारणे न विद्यते मे त्वदृते महाभुज ।
स्थिता हि पृथ्वी तव पार्थ शासने गुरोः सुवृत्तस्य युधिष्ठिरस्य ह ॥ ३३ ॥

हे महाभुज ! जब यह पृथ्वी तुम्हारे और उत्तम चरितवाले गुरु युधिष्ठिरके वशमें हुई है, तब तुम्हारे साथ मन बहलानेके सिवा यहांपर मेरे रहनेका कुछ भी कारण वा प्रयोजन नहीं रह गया है ॥ ३३ ॥

इतीदमुक्तः स तदा महात्मना जनार्दनेनामितविक्रमोऽर्जुनः ।
तथेति कृच्छ्रादिव वाचमीरयञ्जनार्दनं संप्रतिपूज्य पार्थिव ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥ ३८८ ॥

हे राजन् ! उस समय अमितपराक्रमी अर्जुनने महात्मा श्रीकृष्णका ऐसा वचन सुनके उनकी बातका पूरी रीतिसे आदर करके दुःखपूर्वक कहा कि " ऐसा ही होगा " ॥ ३४ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें पन्द्रहवां अध्याय समाप्त ॥ १५ ॥ ३८८ ॥

: १६ :

जनमेजय उवाच—

सभायां वसतोस्तस्यां निहत्यारीन्महात्मनोः ।
केशवार्जुनयोः का नु कथा समभवद्द्विज ॥ १ ॥

राजा जनमेजय बोले– हे विप्र ! महात्मा केशव और अर्जुन शत्रुओंको मारके उस सभाके बीच निवास करने लगे । तब उन दोनोंमें कौनसी बात हुई थी ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच—

कृष्णेन सहितः पार्थः स्वराज्यं प्राप्य केवलम् ।
तस्यां सभायां रम्यायां विजहार मुदा युतः ॥ २ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– हे महाराज । पृथापुत्र अर्जुन अपने राज्यपर पूरा अधिकार प्राप्त करके हर्षपूर्वक श्रीकृष्णके सङ्ग उस रमणीय सभामें विहार करने लगे ॥ २ ॥

ततः कंचित्सभोद्देशं स्वर्गोद्देशसमं नृप ।
यदृच्छया तौ मुदितौ जग्मतुः स्वजनावृतौ ॥ ३ ॥

राजन् ! अनन्तर प्रहृष्टचित्त केशव और अर्जुनने स्वजनोंसे घिरकर इच्छानुसार स्वर्गस्थान-सदृश मनोहर किसी सभामण्डपमें गमन किया ॥ ३ ॥

ततः प्रतीतः कृष्णेन सहितः पाण्डवोऽर्जुनः ।
निरीक्ष्य तां सभां रम्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥

अनन्तर पाण्डुपुत्र अर्जुन श्रीकृष्णके सहित उस रमणीय सभाको देखके अधिक सन्तुष्ट होकर उनसे यह बचन बोले ॥ ४ ॥

विदितं ते महाबाहो संग्रामे समुपस्थिते ।
माहात्म्यं देवकीमातस्तच्च ते रूपमैश्वरम् ॥ ५ ॥

हे महाबाहो देवकीतनय ! संग्रामके उपस्थित समयमें आपका वह ईश्वरीय रूप और माहात्म्य मुझे विशेष रीतिसे विदित हुआ था ॥ ५ ॥

यत्तु तद्भवता प्रोक्तं तदा केशव सौहृदात् ।
तत्सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे नष्टचेतसः ॥ ६ ॥

हे केशव ! उस समय आपने सुहृदतापूर्वक मुझसे जो ज्ञानकी कथाएं कहीं थीं, मेरा इस समय चित्तभ्रंश होनेसे वे सब विषय भूल गये हैं ॥ ६ ॥

मम कौतूहलं त्वस्ति तेष्वर्थेषु पुनः प्रभो ।
भवांश्च द्वारकां गन्ता नचिरादिव माधव ॥ ७ ॥

हे माधव प्रभु ! आप भी शीघ्रही द्वारकामें जायंगे, परन्तु उन विषयोंको फिर सुननेकी मुझे अभिलाषा होती है ॥ ७ ॥

एवमुक्तस्ततः कृष्णः फल्गुनं प्रत्यभाषत ।
परिष्वज्य महातेजा वचनं वदतां वरः ॥ ८ ॥

महातेजस्वी वाग्मिवर श्रीकृष्ण फल्गुन अर्जुनका ऐसा वचन सुनके उन्हें आलिङ्गन करके कहने लगे ॥ ८ ॥

श्रावितस्त्वं मया गुह्यं ज्ञापितश्च सनातनम् ।
धर्मं स्वरूपिणं पार्थ सर्वलोकांश्च शाश्वतान् ॥ ९ ॥

हे पार्थ ! तुमने मेरे समीप समस्त गुप्त विषयोंको सुना है और स्वरूपयुक्त सनातन धर्म तथा शाश्वत लोकोंको जाना है ॥ ९ ॥

अबुद्धा यन्न गृह्णीथास्तन्मे सुमहदप्रियम्
नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधाश्चासि पाण्डव ॥ १० ॥

तुमने अज्ञानसे जो मेरे कहे हुए वचनको ग्रहण नहीं किया, वह मुझे अत्यन्त अप्रिय हुआ है; हे पाण्डुपुत्र ! इसलिये मुझे निश्चय बोध होता है, कि तुम दुर्मेधा तथा श्रद्धाहीन हो; ॥ १० ॥

स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने ।
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः ॥ ११ ॥

ब्रह्मपद प्राप्ति-विज्ञानमें वह धर्म ही पूर्ण था, मैं फिर तुमसे पहलेकी भांति उसे अशेष रूपसे नहीं कर सकता हूं ॥ ११ ॥

परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया ।
इतिहासं तु वक्ष्यामि तस्मिन्नर्थे पुरातनम् ॥ १२ ॥

उस समय मैंने योगयुक्त होकर तुमसे उस परब्रह्मका विषय कहा था; अब उस विषयका ज्ञान करानेके लिये मैं एक पुरातन इतिहास कहता हूं ॥ १२ ॥

यथा तां बुद्धिमास्थाय गतिमग्र्यां गमिष्यसि ।
श्रृणु धर्मभृतां श्रेष्ठ गदतः सर्वमेव मे ॥ १३ ॥

हे धार्मिकवर ! जिससे तुम उस बुद्धिका अवलम्बन करके श्रेष्ठ गति लाभ कर सकोगे; इसलिये तुम सावधान होकर मेरा समस्त वचन सुनो ॥ १३ ॥

आगच्छद्ब्राह्मणः कश्चित्स्वर्गलोकादरिंदम ।
ब्रह्मलोकाच्च दुर्धर्षः सोऽस्माभिः पूजितोऽभवत् ॥ १४ ॥

हे अरिंदमन ! एक बार कोई दुर्धर्ष ब्राह्मण स्वर्ग और ब्रह्मलोकसे मेरे पास आया, मैंने उसकी पूजा करके उसे धर्मविषयमें पूछा ॥ १४ ॥

अस्माभिः परिपृष्टश्च यदाह भरतर्षभ ।
दिव्येन विधिना पार्थ तच्छृणुष्वाविचारयन् ॥ १५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उसने दिव्य विधिके अनुसार मुझसे जो उत्तर दिया था, पार्थ ! वही मैं तुम्हें कह रहा हूं । तुम दूसरा विचार न करके उसे ध्यानपूर्वक सुनो ॥ १५ ॥

ब्राह्मण उवाच—

मोक्षधर्मं समाश्रित्य कृष्ण यन्मानुपृच्छसि ।
भूतानामनुकम्पार्थं यन्मोहच्छेदनं प्रभो ॥ १६ ॥

ब्राह्मण बोले— हे श्रीकृष्ण ! तुमने सब प्राणियोंपर कृपा करके उनके मोहका नाश करनेके लिये जो यह मोक्षधर्म विषयक प्रश्न मुझसे पूछा है ॥ १६ ॥

तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि यथावन्मधुसूदन ।
शृणुष्वावहितो भूत्वा गदतो मम माधव ॥ १७ ॥

मधुसूदन ! उसे मैं यथावत् कहता हूं, सावधान होके मेरे वचनोंको सुनो ॥ १७ ॥

कश्चिद्विप्रस्तपोयुक्तः काश्यपो धर्मवित्तमः ।
आससाद द्विजं कंचिद्धर्माणामागतागमम् ॥ १८ ॥

पहले तपस्वी धर्मवित्तम काश्यप नामके विप्र किसी धर्मके विषयमें शास्त्रके सम्पूर्ण आगम-आगतको जाननेवाले महर्षिके पास गये ॥ १८ ॥

गतागते सुबहुशो ज्ञानविज्ञानपारगम् ।
लोकतत्त्वार्थकुशलं ज्ञातारं सुखदुःखयोः ॥ १९ ॥

भूत और भविष्यके ज्ञान—विज्ञानमें निपुण, लोक तत्त्वके ज्ञानमें कुशल, सुख—दुःखके रहस्यको जाननेवाले ॥ १९ ॥

जातीमरणतत्त्वज्ञं कोविदं पुण्यपापयोः ।
द्रष्टारमुच्चनीचानां कर्मभिर्देहिनां गतिम् ॥ २० ॥

जन्ममरणके तत्त्वज्ञ, पुण्य-पाप-कोविद, ऊंचनीच, देहधारियोंको कर्मके अनुसार प्राप्त होनेवाली गतिके द्रष्टा थे ॥ २० ॥

चरन्तं मुक्तवत्सिद्धं प्रशान्तं संयतेन्द्रियम् ।
दीप्यमानं श्रिया ब्राह्म्या क्रममाणं च सर्वशः ॥ २१ ॥

वे मुक्तवत् विचरणशील, सिद्ध, प्रशान्त, संयतेन्द्रिय, ब्रह्मतेजसे दीप्यमान, सर्वत्रगामी ॥ २१ ॥

अन्तर्धानगतिज्ञं च श्रुत्वा तत्त्वेन काश्यपः ।
तथैवान्तर्हितैः सिद्धैर्यान्तं चक्रधरैः सह ॥ २२ ॥

और अन्तर्धान विद्याके साथ थे । उस द्विजवरकी यथार्थ महिमा सुनकर काश्यप उनके पास गये थे । अदृश्य रहनेवाले चक्रधर सिद्धगणोंके साथ विचरते थे ॥ २२ ॥

संभाषमाणमेकान्ते समासीनं च तैः सह ।
यदृच्छया च गच्छन्तमसक्तं पवनं यथा ॥ २३ ॥

सम्भाषण उन्हींके साथ करके उन लोगोंके सङ्ग एकान्तमें बैठते थे । पवनकी भांति कहीं आसक्त न होकर, सर्वत्र अनासक्तिसे इच्छानुसार घुमते थे ॥ २३ ॥

तं समासाद्य मेधावी स तदा द्विजसत्तमः ।
चरणौ धर्मकामो वै तपस्वी सुसमाहितः ।
प्रतिपेदे यथान्यायं भक्त्या परमया युतः ॥ २४ ॥

फिर उन प्राज्ञ, द्विजश्रेष्ठ, धर्मके तत्त्वोंको जाननेकी इच्छावाले और तपस्वी सिद्ध महर्षिने यथान्याय उनके पास जाकर उनके चरणोंमें अत्यंत भक्तियुक्त भावसे प्रणाम किया ॥ २४ ॥

विस्मितश्चाद्भुतं दृष्ट्वा काश्यपस्तं द्विजोत्तमम् ।
परिचारेण महता गुरुं वैद्यमतोषयत् ॥ २५ ॥

उन ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ, अद्भुत और विद्वान् गुरुको देखकर काश्यपको अत्यंत आश्चर्य हुआ; काश्यपने उनकी बहुत शुश्रूषा-सेवा करके उन्हें संतोषित किया ॥ २५ ॥

प्रीतात्मा चोपपन्नश्च श्रुतचारित्र्यसंयुतः ।
भावेन तोषयच्चैनं गुरुवृत्त्या परंतपः ॥ २६ ॥

प्रीतात्मा, सिद्ध, शास्त्रके ज्ञाता और सच्चरित्र, अत्यंत तपस्वी काश्यपने उनको गुरु मानकर गुरुभक्तिसे उन्हें संतुष्ट किया ॥ २६ ॥

तस्मै तुष्टः स शिष्याय प्रसन्नोऽथाब्रवीद्गुरुः ।
सिद्धिं परामभिप्रेक्ष्य शृणु तन्मे जनार्दन ॥ २७ ॥

हे जनार्दन ! उन सिद्धने अपने शिष्य काश्यपके उनपर परितुष्ट होकर प्रसन्नचित्तसे परमा सिद्धिकी पर्यालोचना करते हुए जो विषय कहा था, उसे तुम मेरे समीप सुनो ॥ २७ ॥

विविधैः कर्मभिस्तात पुण्ययोगैश्च केवलैः ।
गच्छन्तीह गतिं मर्त्या देवलोकेऽपि च स्थितिम् ॥ २८ ॥

हे तात ! मनुष्य विविध शुभ कर्मोंके सहारे केवल पुण्ययोगके द्वारा इस लोकमें उत्तम गति और देवलोकमें स्थानका लाभ किया करते हैं ॥ २८ ॥

न क्वचित्सुखमत्यन्तं न क्वचिच्छाश्वती स्थितिः ।
स्थानाच्च महतो भ्रंशो दुःखलब्धात्पुनः पुनः ॥ २९ ॥

परन्तु उससे उन लोगोंको कहीं भी किसी प्रकारका अत्यन्त सुख वा किसी लोकमें शाश्वती स्थितिका लाभ नहीं होता; बल्कि कष्टसे प्राप्त हुए अत्युच्च स्थानसे बार बार उनका पतन ही होता है ॥ २९ ॥

अशुभा गतयः प्राप्ताः कष्टा मे पापसेवनात् ।
काममन्युपरीतेन तृष्णया मोहितेन च ॥ ३० ॥

मैंने विषयतृष्णासे मोहित, काम तथा मन्युयुक्त होकर बहुतसे पापकार्योंका अनुष्ठान करते हुए अनेक प्रकारकी कष्टकरी अशुभ गतियोंको भोगा है ॥ ३० ॥

पुनः पुनश्च मरणं जन्म चैव पुनः पुनः ।
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ॥ ३१ ॥

बार बार जन्ममरणकी दुःखपीडा सही है । विविध आहार भोजन और अनेक प्रकारके स्तनपान किये हैं ॥ ३१ ॥

मातरो विविधा दृष्टाः पितरश्च पृथग्विधाः ।
सुखानि च विचित्राणि दुःखानि च मयानघ ॥ ३२ ॥

अनघ ! विविध माताएं और पृथग्विध पिताओंकेदर्शन तथा विचित्र सुख और दुःख भोग किये हैं ॥ ३२ ॥

प्रियैर्विवासो बहुशः संवासश्चाप्रियैः सह ।
धननाशश्च संप्राप्तो लब्ध्वा दुःखेन तद्धनम् ॥ ३३ ॥

मैंने बहुतेरे प्रियजनोंका वियोग तथा अप्रिय जनोंके सहित संवास किया है । बहुत कष्टसे जो सब धन मैंने अर्जुन किया था, उसे भी नष्ट किया है ॥ ३३ ॥

अवमानाः सुकष्टाश्च परतः स्वजनात्तथा ।
शारीरा मानसाश्चापि वेदना भृशदारुणाः ॥ ३४ ॥

अन्य और स्वजनोंसे अपमान और कष्ट क्लेश मुझे उठाने पडे हैं, शारीरिक और मानसिक अत्यन्त दारुण वेदनाएं सहनी पडी हैं ॥ ३४ ॥

प्राप्ता विमाननाश्चोग्रा वधबन्धाश्च दारुणाः ।
पतनं निरये चैव यातनाश्च यमक्षये ॥ ३५ ॥

मैं अत्यन्त घोर अपमान तथा दारुण प्राणदण्ड और कैदकी सजाएं प्राप्त कर चुका हूं। मैं नरकमें गिरना और यमलोकमें मिलनेवाली यातनाओंको सहन कर चुका हूं ॥ ३५ ॥

जरा रोगाश्च सततं वसनानि च भूरिशः ।
लोकेऽस्मिन्ननुभूतानि द्वंद्वजानि भृशं मया ॥ ३६ ॥

मैंने इस लोकमें जन्म लेकर जरा, रोग, विविध व्यसन और राग-द्वेषादि अनेक प्रकारके द्वन्द्वोंके अत्यंत दुःखोंका सदा अनुभव किया है ॥ ३६ ॥

ततः कदाचिन्निर्वेदान्निकारान्निकृतेन च ।
लोकतन्त्रं परित्यक्तं दुःखार्तेन भृशं मया ।
ततः सिद्धिरियं प्राप्ता प्रसादादात्मनो मया ॥ ३७ ॥

तिसके अनन्तर किसी समयमें मैंने दुःखसे अत्यन्त आर्त होकर, वैराग्य और निराकार ब्रह्मभाव अवलम्बन करते हुए इस लोकव्यवहारका परित्याग किया है और परमेश्वरकी कृपासे मुझे यह सिद्धि प्राप्त हुई है ॥ ३७ ॥

नाहं पुनरिहागन्ता लोकानालोकयाम्यहम् ।
आ सिद्धेरा प्रजासर्गादात्मनो मे गतिः शुभा ॥ ३८ ॥

इसलिये अब मैं इस लोकमें नहीं आऊंगा और जब तक सृष्टि कायम रहेगी और मैं मुक्त नहीं हो जाऊंगा, तब तक मैं अपनी और प्राणियोंकी शुभ गतिका अवलोकन करूंगा ॥ ३८ ॥

उपलब्धा द्विजश्रेष्ठ तथेयं सिद्धिरुत्तमा ।
इतःपरं गमिष्यामि ततः परतरं पुनः ।
ब्रह्मणः पदमव्यग्रं मा तेऽभूदत्र संशयः ॥ ३९ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! इस प्रकार मुझे ऐसी उत्तम सिद्धि प्राप्त हुई है। इसके बाद मैं श्रेष्ठ लोकमें जाऊंगा, फिर उससे भी परम श्रेष्ठ लोकमें जाऊंगा और इसके अनन्तर मैं ब्रह्मका परम पद पाऊंगा इसमें तुम कुछ भी सन्देह मत करो ॥ ३९ ॥

×

नाहं पुनरिहागन्ता मर्त्यलोकं परंतप ।
प्रीतोऽस्मि ते महाप्राज्ञ ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ ४० ॥

हे परन्तप ! मैं अब इस मृत्युलोकमें नहीं आऊंगा । हे महाप्राज्ञ ! मैं तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूं, इसलिये कहो, तुम्हारे निमित्त कौनसा प्रिय कार्य करूं ॥ ४० ॥

यदीप्सुरुपपन्नस्त्वं तस्य कालोऽयमागतः ।
अभिजाने च तदहं यदर्थं मा त्वमागतः ।
अचिरात्तु गमिष्यामि येनाहं त्वामचूचुदम् ॥ ४१ ॥

यदि तुम कुछ अभिलाषा करके आये हो, तो वह सिद्ध होगी; उसका यही समय उपस्थित हुआ है । तुम जिस लिये मेरे समीप आये हो, उसे मैंने जाना है; मैं थोडे ही समयके बीच चला जाऊंगा, इसीलिये तुम्हें मैं आदेश करता हूं ॥ ४१ ॥

भृशं प्रीतोऽस्मि भवतश्चारित्रेण विचक्षण ।
परिपृच्छ यावद्भवते भाषेयं यत्तवेप्सितम् ॥ ४२ ॥

हे चतुर ! मैं तुम्हारे उत्तम आचरणसे अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ हूं; इसलिये मैं यह बचन कहता हूं, कि तुम्हारी जिसमें कल्याणकामना हो, मुझसे तुम वही पूछो ॥ ४२ ॥

बहु मन्ये च ते बुद्धिं भृशं संपूजयामि च ।
येनाहं भवता बुद्धो मेधावी ह्यसि काश्यप ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥ ४३१ ॥

हे काश्यप ! जब तुम मुझे जान सके हो, तब मैं तुम्हारी बुद्धिकी बडाई और प्रशंसा करता हूं और कहता हूं कि तुम बडे बुद्धिमान् हो ॥ ४३ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें सोलहवां अध्याय समाप्त ॥ १६ ॥ ४३१ ॥

: १७ :

वासुदेव उवाच—

ततस्तस्योपसंगृह्य पादौ प्रश्नान्सुदुर्वचान् ।
पप्रच्छ तांश्च सर्वान्स प्राह धर्मभृतां वरः ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण बोले— अनन्तर धार्मिकप्रवर काश्यपने उन सिद्ध द्विजवरके दोनों चरण ग्रहण करके उनसे जिनका उत्तर कठिनाईसे दिया जाता हैं, ऐसे सब धर्मयुक्त प्रश्न पूछे ॥ १ ॥

काश्यप उवाच—

कथं शरीरं च्यवते कथं चैवोपपद्यते ।
कथं कष्टाच्च संसारात्संसरन्परिमुच्यते ॥ २ ॥

काश्यप बोले— किस प्रकार यह शरीर गिर जाता है ? किस प्रकार दूसरा शरीर पाता है ? और कष्टकर संसारमें आगमन करते हुए किस प्रकार उससे मुक्त होता है ? ॥ २ ॥

आत्मानं वा कथं युक्त्वा तच्छरीरं विमुञ्चति ।
शरीरतश्च निर्मुक्तः कथमन्यत्प्रपद्यते ॥ ३ ॥

प्रकृतिका परित्याग करके किस प्रकार उस शरीरको छोडता है ? और शरीरसे छूटनेपर किस भांति दूसरा शरीर ग्रहण करता है ? ॥ ३ ॥

कथं शुभाशुभे चायं कर्मणी स्वकृते नरः ।
उपभुङ्क्ते क्व वा कर्म विदेहस्योपतिष्ठति ॥ ४ ॥

यह मनुष्य किस प्रकार शुभाशुभ कर्मोंका भोग करता है और जब मनुष्य देहरहित होता है, तब उसके कर्म कहां निवास करते हैं ॥ ४ ॥

ब्राह्मण उवाच—

एवं संचोदितः सिद्धः प्रश्नांस्तान्प्रत्यभाषत ।
आनुपूर्व्येण वार्ष्णेय यथा तन्मे वचः शृणु ॥ ५ ॥

ब्राह्मण बोले— हे वार्ष्णेय ! काश्यपके इस प्रकार पूछनेपर सिद्धने इन प्रश्नोंका जो क्रमशः उत्तर दिया था, उसे विस्तारपूर्वक तुमसे कहता हूं, सुनो ॥ ५ ॥

सिद्ध उवाच—

आयुःकीर्तिकराणीह यानि कर्माणि सेवते ।
शरीरग्रहणेऽन्यस्मिंस्तेषु क्षीणेषु सर्वशः ॥ ६ ॥

सिद्ध बोले— जीव इस लोकमें आयु और कीर्तिकर जिन कर्मोंको सेवन करता है, वे शरीर प्राप्तिमें कारण होते हैं; शरीर ग्रहण करनेपर उन सब कर्मोंका अपना फल देनेके कारण क्षय होता है ॥ ६ ॥

आयुःक्षयपरीतात्मा विपरीतानि सेवते ।
बुद्धिर्व्यावर्तते चास्य विनाशे प्रत्युपस्थिते ॥ ७ ॥

उस समय जीव क्षीणायु होकर विपरीत कर्मोंका सेवन करनेमें प्रवृत्त होता है और उसके विनाशका समय उपस्थित होनेपर उसकी बुद्धि विपरीत हो जाती है ॥ ७ ॥

सत्त्वं बलं च कालं चाप्यविदित्वात्मनस्तथा ।
अतिवेलमुपाश्नाति तैर्विरुद्धान्यनात्मवान् ॥ ८ ॥

उस समय वह अपने सत्त्व, बल तथा अनुकूल कालको न जानके आत्मज्ञानसे रहित होकर असमयमें और अपनी प्रकृतिके विरुद्ध भोजन करता है ॥ ८ ॥

यदायमतिकष्टानि सर्वाण्युपनिषेवते ।
अत्यर्थमपि वा भुङ्क्ते न वा भुङ्क्ते कदाचन ॥ ९ ॥

जीव अनेक प्रकारके बहुतेरे क्लेश उपस्थित करनेवाली सब वस्तुओंका सेवन करता है । कभी बहुत खाता है, कभी बिलकुल नहीं खाता है ॥ ९ ॥

दुष्टान्नं विषमान्नं च सोऽन्योन्येन विरोधि च।
गुरु वापि समं भुङ्क्ते नातिजीर्णेऽपि वा पुनः ॥ १० ॥

कभी दूषित अन्न, विषम अन्न तथा अन्यान्य विरोधी गुणवाले पदार्थोंको वह सेवन करता है। कभी बहुत भारी अथवा सम अन्न खाता है। कभी पहला खाया हुआ अन्न पचने भी नहीं पाता तो दुबारा भोजन करता है ॥ १० ॥

व्यायाममतिमात्रं वा व्यवायं चोपसेवते।
सततं कर्मलोभाद्वा प्राप्तं वेगविधारणम् ॥ ११ ॥

अधिक कसरत व्यायाम तथा स्त्री–सम्भोग करता है और सदा काम करनेके लोभसे उपस्थित मल–मूत्रके वेगको रोकता है ॥ ११ ॥

रसातियुक्तमन्नं वा दिवास्वप्नं निषेवते।
अपक्वानागते काले स्वयं दोषान्प्रकोपयन् ॥ १२ ॥

रससे अभियुक्त अन्न खाता है तथा दिनमें सोता है। कभी भोजन किये हुए अन्नका पाचन न होनेपर भी असमयमें भोजन करके स्वयं सब वात–पित्तादि दोषोंको प्रकोपित करता है ॥ १२ ॥

स्वदोषकोपनाद्रोगं लभते मरणान्तिकम्।
अथ चोद्बन्धनादीनि परीतानि व्यवस्यति ॥ १३ ॥

इस प्रकार निज दोषोंको प्रकोपित करनेसे वह मरणान्तिक रोगोंको प्राप्त करता है तथा फांसी लगाने आदि शास्त्रविरुद्ध कार्योंका आचरण करता है ॥ १३ ॥

तस्य तैः कारणैर्जन्तोः शरीराच्च्यवते यथा।
जीवितं प्रोच्यमानं तद्यथावदुपधारय ॥ १४ ॥

इन्हीं कारणोंसे उस समय जीवके शरीरका नाश होता है। इस प्रकार जीवका जीवन बनाते हैं, उसे ध्यानपूर्वक समझ लो ॥ १४ ॥

ऊष्मा प्रकुपितः काये तीव्रवायुसमीरितः।
शरीरमनुपर्येति सर्वान्प्राणान्रुणद्धि वै ॥ १५ ॥

शरीरमें तीव्र वायुके द्वारा सञ्चालित होकर पित्तका प्रकोप होता है और वह शरीरमें फैलकर प्राणोंकी गतिको रोकती है ॥ १५ ॥

अत्यर्थं बलवानूष्मा शरीरे परिकोपितः।
भिनत्ति जीवस्थानानि तानि मर्माणि विद्धि च ॥ १६ ॥

इसही प्रकार वह पित्त शरीरमें प्रकोपित और अत्यन्त बलवान् होकर जीवस्थानके सब मर्मोंको भेद देता है; इस तत्त्वको समझो ॥ १६ ॥

ततः सवेदनः सद्यो जीवः प्रच्यवते क्षरन् ।
शरीरं त्यजते जन्तुश्छिद्यमानेषु मर्मसु ।
वेदनाभिः परीतात्मा तद्विद्धि द्विजसत्तम ॥ १७ ॥

अनन्तर जब मर्मस्थान छिन्नभिन्न होते हैं, तब जीव उस समय पीडायुक्त होकर शरीर परित्याग किया करता है । हे द्विजसत्तम ! मृत्युके समय जीव वेदनासे व्यथित होता है, इस बातको जान लो ॥ १७ ॥

जातीमरणसंविग्नाः सततं सर्वजन्तवः ।
दृश्यन्ते संत्यजन्तश्च शरीराणि द्विजर्षभ ॥ १८ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! सभी जीवगण जन्ममरणसे सदा उद्विग्न होनेपर भी अपने शरीरोंका त्याग करते देखे जाते हैं ॥ १८ ॥

गर्भसंक्रमणे चापि मर्मणामतिसर्पणे ।
तादृशीमेव लभते वेदनां मानवः पुनः ॥ १९ ॥

गर्भमें प्रवेश करते समय और गर्भसे नीचे आते समय मनुष्य फिर उस ही प्रकार पीडाका अनुभव करता है ॥ १९ ॥

भिन्नसंधिरथ क्लेदमाद्भिः स लभते नरः ।
यथा पञ्चसु भूतेषु संश्रितत्वं निगच्छति ।
शैत्यात्प्रकुपितः काये तीव्रवायुसमीरितः ॥ २० ॥

मृत्युके समय मनुष्यके शरीरकी सन्धियां तूटती है और जन्मकालके समय गर्भस्थ जलसे भींगकर वह अत्यंत पीडित होता है । तीव्र वायुसे प्रेरित हो शरीरके बीच सर्दीसे अत्यन्त कुपित हुई वायु पञ्चभूतोंके समूहोंका नाश करती है ॥ २० ॥

यः स पञ्चसु भूतेषु प्राणापाने व्यवस्थितः ।
स गच्छत्यूर्ध्वगो वायुः कृच्छ्रान्मुक्त्वा शरीरिणम् ॥ २१ ॥

पञ्च भूतोंके बीच जो वायु प्राण और अपान बायुके सङ्ग स्थित होता है, वह अत्यन्त कष्टसे मनुष्योंके शरीरोंको परित्याग करके उर्ध्वलोकको चली जाती है ॥ २१ ॥

शरीरं च जहात्येवं निरुच्छ्वासश्च दृश्यते ।
निरूष्मा स निरुच्छ्वासो निःश्रीको गतचेतनः ॥ २२ ॥

जीव जब इस प्रकार शरीरका परित्याग करता है, तब शरीर उच्छ्वासहीन दीखता है। उसमें गर्मी, उच्छ्वास, श्री और चेतना नहीं रह जाती ॥ २२ ॥

ब्रह्मणा संपरित्यक्तो मृत इत्युच्यते नरः।
स्रोतोभिर्यैर्विजानाति इन्द्रियार्थाञ्शरीरभृत्।
तैरेव न विजानाति प्राणमाहारसंभवम् ॥ २३ ॥

जब मनुष्य पूरी रीतिसे आत्मासे परित्यक्त होता है तब लोग उस शरीरको मृत कहते हैं। मनुष्य शरीर धारण करनेपर जिन इन्द्रियोंसे रूप, रस आदि विषयोंका भोग करता है, उनके द्वारा वह भोजनसे पुष्ट प्राणको नहीं जानता ॥ २३ ॥

तत्रैव कुरुते काये यः स जीवः सनातनः।
तेषां यद्यद्भवेद्युक्तं संनिपाते क्वचित्क्वचित्।
तत्तन्मर्म विजानीहि शास्त्रदृष्टं हि तत्तथा ॥ २४ ॥

जो इस शरीरमें रहकर कार्य करता है, वही सनातन जीव है। उस ही प्रकार किसी किसी संधिस्थानोंमें जो जो अङ्गयुक्त रहता है, उसको तुम मर्म समझो; क्योंकि शास्त्रदृष्टिके अनुसार उसे ही मर्मस्थानका लक्षण देखा गया है ॥ २४ ॥

तेषु मर्मसु भिन्नेषु ततः स समुदीरयन्।
आविश्य हृदयं जन्तोः सत्त्वं चाशु रुणद्धि वै।
ततः स चेतनो जन्तुर्नाभिजानाति किंचन ॥ २५ ॥

उन मर्मों संधियोंके भिन्न होनेपर जीव बाहर होकर प्राणीके हृदयमें प्रवेश करते हुए शीघ्र ही उसके सत्त्वको निरोध किया करता है; उसके अनन्तर मृत्युकालके समय जीव सचेतन होनेपर भी कुछ नहीं जान सकता ॥ २५ ॥

तमसा संवृतज्ञानः संवृतेष्वथ मर्मसु।
स जीवो निरधिष्ठानश्चाव्यते मातरिश्वना ॥ २६ ॥

तमअविद्याके द्वारा ज्ञान शक्ति घिरी जाती है, मर्मस्थान भी अवरुद्ध होते हैं। तब वही जीव आधाररहित होता है और वायुके सहारे सञ्चालित होता है ॥ २६ ॥

ततः स तं महोच्छ्वासं भृशमुच्छ्वस्य दारुणम्।
निष्क्रामन्कम्पयत्याशु तच्छरीरमचेतनम् ॥ २७ ॥

अनन्तर अत्यन्त भयंकर लंबी साँस बारबार छोडकर बाहर निकलकर उस अचेतन शरीरको शीघ्र ही कम्पित किया करता है ॥ २७ ॥

स जीवः प्रच्युतः कायात्कर्मभिः स्वैः समावृतः।
अङ्कितः स्वैः शुभैः पुण्यैः पापैर्वाप्युपपद्यते ॥ २८ ॥

वह जीव शरीरसे अलग होकर अपने किये हुए शुभ कर्म, पुण्य तथा पापसे सब ओरसे घिरा हुआ करता है ॥ २८ ॥

ब्राह्मणा ज्ञानसंपन्ना यथावच्छ्रुतनिश्चयाः ।
इतरं कृतपुण्यं वा तं विजानन्ति लक्षणैः ॥ २९ ॥

पूरी रीतिसे जिन्होंने वेद–शास्त्रोंके सिद्धान्तोंका यथावत् अध्ययन किया है, वे ज्ञानयुक्त ब्राह्मण उस कृत पुण्यकर्म और पापीको लक्षणोंसे जानते हैं ॥ २९ ॥

यथान्धकारे खद्योतं लीयमानं ततस्ततः ।
चक्षुष्मन्तः प्रपश्यन्ति तथा तं ज्ञानचक्षुषः ॥ ३० ॥

जिस तरह आँखवाले मनुष्य अन्धकारमें इधर–उधर उगते–बुझाते खद्योतको देखते हैं, वैसे ही उस जीवको ज्ञाननेत्रवाले ॥ ३० ॥

पश्यन्त्येवंविधाः सिद्धा जीवं दिव्येन चक्षुषा ।
च्यवन्तं जायमानं च योनिं चानुप्रवेशितम् ॥ ३१ ॥

सिद्ध पुरुष अपने दिव्य नेत्रके द्वारा जन्मते, मरते तथा गर्भमें प्रवेश करते हुए सदा देखते रहते हैं ॥ ३१ ॥

तस्य स्थानानि दृष्टानि त्रिविधानीह शास्त्रतः ।
कर्मभूमिरियं भूमिर्यत्र तिष्ठन्ति जन्तवः ॥ ३२ ॥

शास्त्रके अनुसार इस जीवके त्रिविध स्थान देखे गये हैं । यह भूमि जहां प्राणी निवास करते हैं, वह स्थान ही कर्मभूमि कहके वर्णित हुआ है ॥ ३२ ॥

ततः शुभाशुभं कृत्वा लभन्ते सर्वदेहिनः ।
इहैवोच्चावचान्भोगान्प्राप्नुवन्ति स्वकर्मभिः ॥ ३३ ॥

जीवगण इस ही कर्मभूमिमें शुभ और अशुभ कर्म करके, अपने कर्मोंके अनुसार अच्छे–बुरे भोगोंको प्राप्त करते हैं ॥ ३३ ॥

इहैवाशुभकर्मा तु कर्मभिर्निरयं गतः ।
अवाक्स निरये पापो मानवः पच्यते भृशम् ।
तस्मात्सुदुर्लभो मोक्ष आत्मा रक्ष्यो भृशं ततः ॥ ३४ ॥

पापी मनुष्यको निज कर्मोंसे इस लोकमें ही नरक प्राप्त होता है, यह जीवकी अधोगति ही उस पापी मनुष्यके लिये नरकमें अत्यंत कष्टकर होती है । इस ही निमित्त मोक्ष अत्यन्त दुर्लभ है, उससे स्वयंको नरकसे बचानेके लिये सब भांतिसे अत्यंत रक्षा करनी चाहिये ॥ ३४ ॥

ऊर्ध्वं तु जन्तवो गत्वा येषु स्थानेष्ववस्थिताः ।
कीर्त्यमानानि तानीह तत्त्वतः संनिबोध मे ।
तच्छ्रुत्वा नैष्ठिकीं बुद्धिं बुद्ध्येथाः कर्मनिश्चयात् ॥ ३५ ॥

जीवगण स्वर्ग आदि ऊर्ध्व लोकोंमें जाकर जिन स्थानोंमें निवास करते हैं, उन स्थानोंका मैं तुमसे यथार्थ रीतिसे वर्णन करता हूं, उसे सुनो। उन स्थानोंको मेरे समीप सुनके नैष्ठिकी बुद्धि प्राप्त होगी और तुम्हें कर्मोंकी गतिका निश्चय करना शक्य होगा ॥ ३५ ॥

तारारूपाणि सर्वाणि यच्चैतच्चन्द्रमण्डलम् ।
यच्च विभ्राजते लोके स्वभासा सूर्यमण्डलम् ।
स्थानान्येतानि जानीहि नराणां पुण्यकर्मणाम् ॥ ३६ ॥

जिस स्थानमें यह चन्द्रमण्डल और सब तारे विद्यमान हैं और जहांपर सूर्यमण्डल जगत्में निज तेजसे प्रकाशित होता है, पुण्यकारी कर्म करनेवाले मनुष्योंके ये सब स्थान हैं, ऐसा समझो ॥ ३६ ॥

कर्मक्षयाच्च ते सर्वे च्यवन्ते वै पुनः पुनः ।
तत्रापि च विशेषोऽस्ति दिवि नीचोच्चमध्यमः ॥ ३७ ॥

पुण्य कर्मोंका क्षय होनेपर वहांसे फिर पतित होते हैं। इस प्रकार बार बार उनका आनाजाना होता है। उस स्वर्गलोकमें भी ऊंचा, मध्यम और नीच, ऐसी ही विशेषता रहती है ॥ ३७ ॥

न तत्राप्यस्ति संतोषो दृष्ट्वा दीप्ततरां श्रियम् ।
इत्येता गतयः सर्वाः पृथक्त्वे समुदीरिताः ॥ ३८ ॥

वहांपर दूसरोंका अपनेसे अधिक प्रकाशमान श्री देखकर आनन्द नहीं होता। इन सब गतियोंका पृथक् रीतिसे मैंने तुम्हारे समीप वर्णन किया है ॥ ३८ ॥

उपपत्तिं तु गर्भस्य वक्ष्याम्यहमतः परम् ।
यथावत्तां निगदतः शृणुष्वावहितो द्विज ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥ ४७० ॥

हे द्विज ! इसके अनन्तर मैं तुमसे गर्भकी उत्पत्ति कहता हूं, तुम सावधान होकर उसे मेरे मुखसे यथावत् सुनो ॥ ३९ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें सत्रहवां अध्याय समाप्त ॥ १७ ॥ ४७० ॥

: १८ :

ब्राह्मण उवाच—

शुभानामशुभानां च नेह नाशोऽस्ति कर्मणाम् ।
प्राप्य प्राप्य तु पच्यन्ते क्षेत्रं क्षेत्रं तथा तथा ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोले– इस लोकमें किये हुए शुभ और अशुभ कर्मोंका नाश नहीं होता, उस ही हेतुसे जीवगण कर्मोंके अनुसार वैसे वैसे ही शरीरको प्राप्त होकर सुख दुःखका भोग किया करते हैं ॥ १ ॥

यथा प्रसूयमानस्तु फली दद्यात्फलं बहु ।
तथा स्याद्विपुलं पुण्यं शुद्धेन मनसा कृतम् ॥ २ ॥

जैसे फल देनेवाला फलने वृक्ष समय बहुतसे फल प्रदान करता है, वैसे ही शुद्ध मनसे किये हुए पुण्यका विपुल फल मिलता ॥ २ ॥

पापं चापि तथैव स्यात्पापेन मनसा कृतम् ।
पुरोधाय मनो हीह कर्मण्यात्मा प्रवर्तते ॥ ३ ॥

और पापचित्तसे किये हुए पापके फलमें भी बहुत वृद्धि होती है; क्योंकि आत्मा मनको अगाडी करके कर्ममें प्रवृत्त होता है ॥ ३ ॥

यथा कर्मसमादिष्टं काममन्युसमावृतः ।
नरो गर्भं प्रविशति तच्चापि शृणु चोत्तरम् ॥ ४ ॥

मनुष्य काम और क्रोधसे समावृत्त होकर कर्मके अनुसार जिस प्रकार गर्भमें प्रविष्ट होता है उसका उत्तर सुनो ॥ ४ ॥

शुक्रं शोणितसंसृष्टं स्त्रिया गर्भाशयं गतम् ।
क्षेत्रं कर्मजमाप्नोति शुभं वा यदि वाशुभम् ॥ ५ ॥

प्रथम पुरुषके वीर्यमें उत्पन्न जीव स्त्रीके गर्भाशयमें जाकर उसके रजमें मिल जाता है; फिर उसे कर्मानुसार शुभ या अशुभ शरीर प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

सौक्ष्म्यादव्यक्तभावाच्च न स क्वचन सज्जते ।
संप्राप्य ब्रह्मणः कायं तस्मात्तद्ब्रह्म शाश्वतम् ।
तद्बीजं सर्वभूतानां तेन जीवन्ति जन्तवः ॥ ६ ॥

परन्तु वह जीव ब्रह्मवित् होनेपर उस शरीरसे शाश्वत ब्रह्मको जानके, अभिलषित सिद्धि लाभ करते हुए सूक्ष्म और अव्यक्त भाववशमें किसी विषयमें ही संसक्त नहीं होता। वह शाश्वत ब्रह्म सब प्राणियोंका बीजस्वरूप है, इसलिये जीवगण उसहीके द्वारा जीवन धारण किया करते हैं ॥ ६ ॥

+

स जीवः सर्वगात्राणि गर्भस्याविश्य भागशः।
दधाति चेतसा सद्यः प्राणस्थानेष्ववस्थितः।
ततः स्पन्दयतेऽङ्गानि स गर्भश्चेतनान्वितः ॥ ७ ॥

वह ब्रह्म जीवरूपसे गर्भके सब अवयवोंमें विभागपूर्वक सञ्चार करते हुए चित्त उपाधि ग्रहण करके प्राणस्थानमें स्थित होकर अभिमान धारण करता है; अनन्तर वह गर्भ चेतना-युक्त होकर अङ्गोको स्पन्दित किया करता है ॥ ७ ॥

यथा हि लोहनिष्यन्दो निषिक्तो बिम्बविग्रहम्।
उपैति तद्वज्जानीहि गर्भे जीवप्रवेशनम् ॥ ८ ॥

जैसे तपाये लोहेका द्रव सांचेमें डाले जानेपर, उसीका रूप धारण करता है, उसी प्रकार गर्भमें जीवका प्रवेश होता है, ऐसा ही जानो ॥ ८ ॥

लोहपिण्डं यथा वह्निः प्रविशत्यभितापयन्।
तथा त्वमपि जानीहि गर्भे जीवोपपादनम् ॥ ९ ॥

जैसे अग्नि लोहपिण्डमें प्रविष्ट होके उसे अत्यन्त ही तापित करती है, वैसे ही जीव गर्भमें प्रविष्ट होकर उस गर्भको चेतनायुक्त किया करता है। इस बातको तुम समझो ॥ ९ ॥

यथा च दीपः शरणं दीप्यमानः प्रकाशयेत्।
एवमेव शरीराणि प्रकाशयति चेतना ॥ १० ॥

जैसे दीपक गृहके बीच प्रज्वलित होकर गृहको प्रकाशित करता है, वैसे ही जीवकी चेतनाशक्ति समस्त शरीरको प्रकाशिय किया करता है ॥ १० ॥

यद्यच्च कुरुते कर्म शुभं वा यदि वाशुभम्।
पूर्वदेहकृतं सर्वमवश्यमुपभुज्यते ॥ ११ ॥

जीव इस शरीरसे जो कुछ शुभ वा अशुभ कर्म करता है, अन्य शरीर ग्रहण करनेपर भी उसे पूर्वदेहकृत सब कर्मोंको अवश्यही भोगना पडता है ॥ ११ ॥

ततस्तत्क्षीयते चैव पुनश्चान्यत्प्रचीयते।
यावत्तन्मोक्षयोगस्थं धर्मं नैवावबुध्यते ॥ १२ ॥

परन्तु उपभोगसे उन पूर्व कर्मोका क्षय होता है और फिर दूसरे नये कर्मोंका संचय होता है। जबतक मोक्ष योगस्थ धर्मका ज्ञान नहीं होता, तबतक फिर अन्य कर्मोंकी परम्परा नहीं बंद हुआ करती है ॥ १२ ॥

तत्र धर्मं प्रवक्ष्यामि सुखी भवति येन वै।
आवर्तमानो जातीषु तथान्योन्यासु सत्तम ॥ १३ ॥

हे श्रेष्ठ ! जीव अन्यान्य योनियोंमें भ्रमण करते हुए धर्मोंसे सुखी होता है, उसे कहता हूं, सुनो ॥ १३ ॥

दानं व्रतं ब्रह्मचर्यं यथोक्तव्रतधारणम् ।
दमः प्रशान्तता चैव भूतानां चानुकम्पनम् ॥ १४ ॥

दान, व्रत, ब्रह्मचर्य, यथोक्त व्रत धारण, दम, प्रशान्तता, प्राणियोंके विषयमें अनुकम्पा ॥ १४ ॥

संयमश्चानृशंस्यं च परस्वादानवर्जनम् ।
व्यलीकानामकरणं भूतानां यत्र सा भुवि ॥ १५ ॥

संयम, अनृशंसता, परधन ग्रहण न करना, जगत्के प्राणियोंका मनसे भी अहित नहीं करना ॥ १५ ॥

मातापित्रोश्च शुश्रूषा देवतातिथिपूजनम् ।
गुरुपूजा घृणा शौचं नित्यमिन्द्रियसंयमः ॥ १६ ॥

माता-पिताकी सेवा, देवता तथा अतिथिपूजन, गुरुपूजा, करुणा, पवित्रता, सदा इन्यिद्रसंयम ॥ १६ ॥

प्रवर्तनं शुभानां च तत्सतां वृत्तमुच्यते ।
ततो धर्मः प्रभवति यः प्रजाः पाति शाश्वतीः ॥ १७ ॥

और शुभ कर्मोंका प्रचार करना, ये सब साधुओंके बर्ताव कहके वर्णित हुए हैं; जो धर्म सदा प्रजाओंकी रक्षा करता है, वही धर्म इन सबके सहारे वर्धित हुआ करता है ॥ १७ ॥

एवं सत्सु सदा पश्येत्तत्र ह्येषा ध्रुवा स्थितिः ।
आचारो धर्ममाचष्टे यस्मिन्सन्तो व्यवस्थिताः ॥ १८ ॥

सन्त साधुओंमें सदा ऐसा धार्मिक आचरण देखा जाता है, उन्हीं उत्तम आचरणसेही धर्मका ज्ञान होता है, सन्त महात्मा सदाचारमें ही स्थित रहते हैं ॥ १८ ॥

तेषु तद्धर्मनिक्षिप्तं यः स धर्मः सनातनः ।
यस्तं समभिपद्येत न स दुर्गतिमाप्नुयात् ॥ १९ ॥

लोगोंमें अविचल स्थिति होती है । वह धर्म साधुओंमें ही निक्षिप्त हुआ है, जो सनातन धर्म कहके वर्णित है । वह धर्म जिस पुरुषको सब भांतिसे प्राप्त हो सकता है, उसकी कभी दुर्गति नहीं होती ॥ १९ ॥

अतो नियम्यते लोकः प्रमुह्य धर्मवर्त्मसु ।
यस्तु योगी च मुक्तश्च स एतेभ्यो विशिष्यते ॥ २० ॥

इसलिये धर्ममार्गसे चलित होनेवालोंका नियंत्रण किया जाता है । जो योगी और मुक्त है, वह सबसे श्रेष्ठ हुआ करता है ॥ २० ॥

वर्तमानस्य धर्मेण पुरुषस्य यत्र यथा तथा ।
संसारतारणं ह्यस्य कालेन महता भवेत् ॥ २१ ॥

धर्ममार्गानुसारी मनुष्य, वह जहां जिस स्थितिमें हो, वहां उसी अवस्थामें उसको कर्मानुसार उत्तम फलकी प्राप्ति होती है और वह बहुत समयके अनन्तर संसारसागरसे मुक्ति होती है ॥ २१ ॥

एवं पूर्वकृतं कर्म सर्वो जन्तुर्निषेवते ।
सर्वं तत्कारणं येन निकृतोऽयमिहागतः ॥ २२ ॥

जीव इस ही प्रकार पूर्वकृत कर्मोंका फल सदा भोगता है, आत्मा जिसके द्वारा विकृत होकर जीवत्वको प्राप्त होता है, उस विषयमें कर्म ही उसका कारण है ॥ २२ ॥

शरीरग्रहणं चास्य केन पूर्वं प्रकल्पितम् ।
इत्येवं संशयो लोके तच्च वक्ष्याम्यतः परम् ॥ २३ ॥

इसके अतिरिक्त पहले किसने आत्माके शरीरग्रहणकी कल्पना की है ? यदि लोकके बीच ऐसा संशय उपस्थित हो, इसलिये उसे भी मैं विस्तारपूर्वक कहता हूं, सुनो ॥ २३ ॥

शरीरमात्मनः कृत्वा सर्वभूतपितामहः ।
त्रैलोक्यमसृजद्ब्रह्मा कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम् ॥ २४ ॥

सर्वभूत पितामह ब्रह्माने पहले स्वयंही आत्माके शरीरकी कल्पना करके स्थावर और जङ्गमके सहित जगत्की रचना की ॥ २४ ॥

ततः प्रधानमसृजच्चेतना सा शरीरिणाम् ।
यया सर्वमिदं व्याप्तं यां लोके परमां विदुः ॥ २५ ॥

अनन्तर जिसके द्वारा यह समस्त जगत् व्याप्त हो रहा है, लोकमें जिसे मूल प्रकृतिके नामसे श्रेष्ठ समझते हैं, देहधारियोंकी अभिव्यक्त स्थान देहादिके आकार स्वरूप उस प्रधान प्रकृतिको उन्होंने उत्पन्न किया ॥ २५ ॥

इह तत्क्षरमित्युक्तं परं त्वमृतमक्षरम् ।
त्रयाणां मिथुनं सर्वमेकैकस्य पृथक्पृथक् ॥ २६ ॥

उस जडस्वभाववाली प्रकृतिको लोग क्षर कहा करते हैं, परन्तु शुद्ध ब्रह्म चैतन्य उसमें प्रतिबिम्बित होकर जीव तथा ईशभावसे आक्रान्त होनेसे अमृत अक्षर कहके वर्णित होता है। इन तीनोंमेंसे जो–क्षर और अक्षर तत्त्व हैं, वे सब प्रत्येक जीवके लिये अलग अलग होते हैं ॥२६॥

असृजत्सर्वभूतानि पूर्वसृष्टः प्रजापतिः ।
स्थावराणि च भूतानि इत्येषा पौर्विकी श्रुतिः ॥ २७ ॥

इस प्रकार पुरातनी जनश्रुति है, कि जो सृष्टिके प्रारंभमें सत् रूपसे निर्दिष्ट हुए हैं, उन प्रजापतिने स्थावर और जङ्गमोंके सहित सब प्राणियोंके विषयादि भूतोंकी सृष्टि की ॥२७॥

तस्य कालपरीमाणमकरोत्स पितामहः ।
भूतेषु परिवृत्तिं च पुनरावृत्तिमेव च ॥ २८ ॥

अनन्तर उस प्रजापति पितामहने जीवके लिये शरीर धारण करनेका समय, भिन्न योनियोंमें भ्रमण करनेका समय और परलोकसे वापस आकर फिर इस जगत्में जन्म लेनेका समय–आदिकी व्यवस्था की है ॥ २८ ॥

यथात्र कश्चिन्मेधावी दृष्टात्मा पूर्वजन्मनि ।
यत्प्रवक्ष्यामि तत्सर्वं यथावदुपपद्यते ॥ २९ ॥

जैसे कोई मेधावी मनुष्य जिसने पूर्व जन्ममें परमात्माका दर्शन कर लिया है, और संसारकी अनित्यताका विषय कहा करता है, वैसे ही मैं भी कहूंगा; मेरी कही हुई सब बातें यथावत् सुसंगत होंगी ॥ २९ ॥

सुखदुःखे सदा सम्यगनित्ये यः प्रपश्यति ।
कायं चामेध्यसंघातं विनाशं कर्मसंहितम् ॥ ३० ॥

जो मनुष्य सुख और दुःखको पूरी रीतिसे सदा अनित्य समझता है, शरीरको अपवित्र वस्तुओंका समूह मानता है और मृत्युको कर्मका फल समझता है ॥ ३० ॥

यच्च किंचित्सुखं तच्च सर्वं दुःखमिति स्मरन् ।
संसारसागरं घोरं तरिष्यति सुदुस्तरम् ॥ ३१ ॥

और थोडे सुखके रूपमें अनुभव किया हुआ जो कुछ है, वह सब दुःख ही मानता है, वह घोर दुस्तर संसारसागरसे पार हो जायगा ॥ ३१ ॥

जातीमरणरोगैश्च समाविष्टः प्रधानवित् ।
चेतनावत्सु चैतन्यं समं भूतेषु पश्यति ॥ ३२ ॥

जो पुरुष जरा, मृत्यु और रोगसे आक्रान्त होकर प्रधानतत्त्वको जानता है और चेतना-विशिष्ट प्राणियोंमें चैतन्यको समान रूपसे व्याप्त देखता है ॥ ३२ ॥

निर्विद्यते ततः कृत्स्नं मार्गमाणः परं पदम् ।
तस्योपदेशं वक्ष्यामि याथातथ्येन सत्तम ॥ ३३ ॥

वह परमपद अन्वेषण करनेमें जिस प्रकार जगत्के भोगोंसे निर्वेद लाभ करता है, हे श्रेष्ठ ! उसके विषयमें यथावत् उपदेशवचन कहता हूं ॥ ३३ ॥

शाश्वतस्याव्ययस्याथ पदस्य ज्ञानमुत्तमम् ।
प्रोच्यमानं मया विप्र निबोधेदमशेषतः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥ ५०४ ॥

हे विप्र ! शाश्वत तथा अव्यय ब्रह्मके विषयमें जो ज्ञान उत्तम है, वह मैं तुमसे विस्तारपूर्वक कहता हूं, तुम ध्यानपूर्वक सुनो ॥ ३४ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें अठारहवां अध्याय समाप्त ॥ १८ ॥ ५०४ ॥

: १९ :

ब्राह्मण उवाच—

यः स्यादेकायने लीनस्तूष्णीं किंचिदचिन्तयन् ।
पूर्वं पूर्वं परित्यज्य स निरारम्भको भवेत् ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोला— जो मनुष्य पहलेके स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरको परित्याग करके सबके एकमात्र अधिष्ठानभूत परब्रह्ममें लीन होकर दूसरी किसी प्रकारकी चिन्ता न करते हुए मौनभावसे निवास करता है, वही संसारबन्धनसे छूटता है ॥ १ ॥

सर्वमित्रः सर्वसहः समरक्तो जितेन्द्रियः ।
व्यपेतभयमन्युश्च कामहा मुच्यते नरः ॥ २ ॥

सब लोगोंका मित्र, सबकुछ सहनेवाला, समभाव माननेवाला, चित्तनिग्रहमें अनुरक्त, जितेन्द्रिय, भय और क्रोधसे रहित और सब कामनाओंका परित्याग करनेवाला जो मनुष्य है, वह बन्धनसे मुक्त होता है ॥ २ ॥

आत्मवत्सर्वभूतेषु यश्चरेन्नियतः शुचिः ।
अमानी निरभीमानः सर्वतो मुक्त एव सः ॥ ३ ॥

जो मनुष्य संयत और पवित्र रहकर सब प्राणियोंके विषयमें आत्मवत् आचरण करता है, जो अहङ्कार तथा अभिमानसे रहित होता है, वह सब प्रकारसे मुक्त हुआ करता है ॥ ३ ॥

जीवितं मरणं चोभे सुखदुःखे तथैव च ।
लाभालाभे प्रियद्वेष्ये यः समः स च मुच्यते ॥ ४ ॥

जो जीना–मरना, सुख–दुःख, लाभ–हानि, प्रिय और अप्रियमें समभावसे देखता है, वह मुक्त होता है ॥ ४ ॥

न कस्यचित्स्पृहयते नावजानाति किंचन ।
निर्द्वंद्वो वीतरागात्मा सर्वतो मुक्त एव सः । ॥ ५ ॥

जो मनुष्य निर्द्वन्द्व और निःस्पृह होकर किसीके धनमें अभिलाषा नहीं करता तथा किसीकी भी अवहेलना नहीं करता, वह सब भांतिसे मुक्तिलाभ किया करता है ॥ ५ ॥

अनमित्रोऽथ निर्बन्धुरनपत्यश्च यः क्वचित् ।
त्यक्तधर्मार्थकामश्च निराकाङ्क्षी स मुच्यते ॥ ६ ॥

मनुष्य किसी प्रकारके शत्रुओंके रहित, बन्धुविहीन, अनपत्य, धर्म, अर्थ और काम, इन त्रिवर्गोंसे रहित तथा निराकांक्षी होनेसे मुक्त हो सकता है ॥ ६ ॥

नैव धर्मी न चाधर्मी पूर्वोपचितहा च यः ।
धातुक्षयप्रशान्तात्मा निर्द्वंद्वः स विमुच्यते ॥ ७ ॥

जो धर्ममें और अधर्ममें आसक्ति नहीं रखता, जो पूर्वसंचित कर्मोंको परित्याग कर चुका है, वासना-इच्छाओंका क्षय होनेपर जो शान्तचित्त है और जो द्वन्द्वोंसे रहित है वह मुक्त होता है ॥ ७ ॥

अकर्मा चाविकाङ्क्षश्च पश्यञ्जगदशाश्वतम् ।
अस्वस्थमवशं नित्यं जन्मसंसारमोहितम् ॥ ८ ॥

अकर्मा, निराकांक्षी संन्यासी पुरुष जगत्को अनित्य, सदा अस्वस्थ, अवश, अचैतन्य और जन्म-संसारमोहित युक्त देखता है ॥ ८ ॥

वैराग्यबुद्धिः सततं तापदोषव्यपेक्षकः ।
आत्मबन्धविनिर्मोक्षं स करोत्यचिरादिव ॥ ९ ॥

वैराग्यबुद्धियुक्त मनुष्य सदा ताप दोषदर्शी होकर शीघ्र ही आत्माको बन्धनसे विमुक्त किया करता है ॥ ९ ॥

अगन्धरसमस्पर्शमशब्दमपरिग्रहम् ।
अरूपमनभिज्ञेयं दृष्ट्वात्मानं विमुच्यते ॥ १० ॥

जो मनुष्य गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, परिग्रह, रूप रहित अनभिज्ञ आत्माका दर्शन करता है, वही मुक्त होता है ॥ १० ॥

पञ्चभूतगुणैर्हीनममूर्तिमदलेपकम् ।
अगुणं गुणभोक्तारं यः पश्यति स मुच्यते ॥ ११ ॥

जो पुरुष पञ्चभौतिक स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरसे रहित, निराकार, निर्लेप, निर्गुण तथा सत्त्व, रज, तमरूपसे विषयभोक्ता परमात्माका दर्शन करता है वह मुक्ति लाभ करता है ॥ ११ ॥

विहाय सर्वसंकल्पान्बुद्ध्या शारीरमानसान् ।
शनैर्निर्वाणमाप्नोति निरिन्धन इवानलः ॥ १२ ॥

मनुष्य ज्ञानपूर्वक शारीरिक और मानसिक सङ्कल्पोंको परित्याग करनेसे विना इंधनकी अग्निकी भांति धीरे धीरे निर्वाणका लाभ किया करता है ॥ १२ ॥

विमुक्तः सर्वसंस्कारैस्ततो ब्रह्म सनातनम् ।
परमाप्नोति संशान्तमचलं दिव्यमक्षरम् ॥ १३ ॥

जो मनुष्य सब संस्कारोंसे निर्मुक्त होता है, वह शान्त, अचल, दिव्य, अविनाशी और सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त करता है ॥ १३ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि योगशास्त्रमनुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा सिद्धमात्मानं लोके पश्यन्ति योगिनः ॥ १४ ॥

योगी लोग योगयुक्त होकर जिस प्रकार नित्यसिद्ध परमात्माका दर्शन लोकमें करते हैं, मैं उस परमोत्तम योगशास्त्रका तुम्हारे निकट यथावत् वर्णन करता हूं, सुनो ॥ १४ ॥

तस्योपदेशं पश्यामि यथावत्तन्निबोध मे ।
यैर्द्वारैश्चारयन्नित्यं पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ १५ ॥
इन्द्रियाणि तु संहृत्य मन आत्मनि धारयेत् ।
तीव्रं तप्त्वा तपः पूर्वं ततो योक्तुमुपक्रमेत् ॥ १६ ॥

पुरुष इन्द्रियोंको निज निज विषयोंसे निवृत्त करके चित्तको क्षेत्रज्ञ जीवात्मामें धारण करे; इसी प्रकार पहले तीव्र तपस्या करके फिर योगका आचरण करे ॥ १५–१६ ॥

तपस्वी त्यक्तसंकल्पो दम्भाहंकारवर्जितः ।
मनीषी मनसा विप्रः पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ १७ ॥

मनीषी, संकल्पत्यागी, दम्भाहंकाररहित तपस्वी ब्राह्मण मनके द्वारा अंतःकरणमें आत्माका दर्शन करता है ॥ १७ ॥

स चेच्छक्नोत्ययं साधुर्योक्तुमात्मानमात्मनि ।
तत एकान्तशीलः स पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ १८ ॥

एकान्तमें रहनेवाला साधु पुरुष यदि अपने मनको आत्मामें लगानेमें समर्थ हो सकता है, तो वह अपने शरीरमें आत्माका दर्शन पाता है ॥ १८ ॥

संयतः सततं युक्त आत्मवान्विजितेन्द्रियः ।
तथायमात्मनात्मानं साधु युक्तः प्रपश्यति ॥ १९ ॥

संयत, सदा योगयुक्त, जितचित्त और जितेन्द्रिय पुरुष पूरी रीतिसे प्रयुक्त होनेसे मनके सहारे आत्माका दर्शन करता है ॥ १९ ॥

यथा हि पुरुषः स्वप्ने दृष्ट्वा पश्यत्यसाविति ।
तथारूपमिवात्मानं साधु युक्तः प्रपश्यति ॥ २० ॥

जैसे पुरुष स्वप्नावस्थामें किसी अदृष्टगोचर पुरुषको देखकर जागनेपर फिर उसे देखनेसे 'यह वही पुरुष है,' ऐसा ही बोध करता है, उस ही प्रकार समाधिस्थ पुरुष समाधिसमयमें आत्माको देखकर व्युत्थित होकर उसका विश्वात्मरूपसे दर्शन किया करता है ॥ २० ॥

इषीकां वा यथा मुञ्जात्कश्चिन्निर्हृत्य दर्शयेत् ।
योगी निष्कृष्टमात्मानं तथा संपश्यते तनौ ॥ २१ ॥

जैसे कोई मनुष्य मुञ्जसे सींक निकालकर लोगोंको दिखाता है, वैसेही योगी देहसे आत्माको निकालके दर्शन किया करता है ॥ २१ ॥

मुञ्जं शरीरं तस्याहुरिषीकामात्मनि श्रिताम् ।
एतन्निदर्शनं प्रोक्तं योगविद्भिरनुत्तमम् ॥ २२ ॥

पण्डित लोग शरीरको मुञ्ज और आत्माको इषीका—सींक कहते हैं । योगवित् पण्डितोंने देह और आत्माके अलगताको दिखानेके लिये यह अत्यंत श्रेष्ठ उदाहरण दिया है ॥ २२ ॥

यदा हि युक्तमात्मानं सम्यक्पश्यति देहभृत् ।
तदास्य नेशते कश्चित्त्रैलोक्यस्यापि यः प्रभुः ॥ २३ ॥

मनुष्यदेह धारण करके शरीरके बीच आत्माका पूरी रीतिसे दर्शन करनेसे इस लोकमें कोई पुरुष ही उसका प्रभु नहीं हो सकता; ऐसा ही नहीं वरन् त्रिलोकाधिपति भी उसके अधिपति नहीं हो सकते ॥ २३ ॥

अन्योन्याश्चैव तनवो यथेष्टं प्रतिपद्यते ।
विनिवृत्य जरामृत्यू न हृष्यति न शोचति ॥ २४ ॥

वह मनुष्य अपनी इच्छाके अनुसार अनेक प्रकारके शरीर धारण करनेमें समर्थ होता है; और बुढापा तथा मृत्युको भगा कर कभी हर्षित वा शोकार्त नहीं होता ॥ २४ ॥

देवानामपि देवत्वं युक्तः कारयते वशी ।
ब्रह्म चाव्ययमाप्नोति हित्वा देहमशाश्वतम् ॥ २५ ॥

इन्द्रियोंको वशमें करनेवाला मनुष्य योगयुक्त होकर देवताओंका भी देवत्व विधान करनेमें समर्थ होता है और अनित्य देहका परित्याग करके नित्य शाश्वत ब्रह्मको प्राप्त करता है ॥२५॥

विनश्यत्स्वपि लोकेषु न भयं तस्य जायते ।
क्लिश्यमानेषु भूतेषु न स क्लिश्यति केनचित् ॥ २६ ॥

समस्त लोकोंके विनष्ट होनेपर भी उसे भय नहीं होता और प्राणियोंके किसीके सहारे क्लेशित होनेपर भी उसे किसीसे क्लेश नहीं होता ॥ २६ ॥

दुःखशोकमयैर्घोरैः सङ्गस्नेहसमुद्भवैः ।
न विचाल्येत युक्तात्मा निस्पृहः शान्तमानसः ॥ २७ ॥

निःस्पृह प्रशान्तचित्त युक्तात्मा मनुष्य आसक्ति और स्नेहसे उत्पन्न भयङ्कर दुःख, शोक तथा भयसे विचलित नहीं होता । ॥ २७ ॥

नैनं शस्त्राणि विध्यन्ते न मृत्युश्चास्य विद्यते ।
नातः सुखतरं किंचिल्लोके क्वचन विद्यते ॥ २८ ॥

समस्त शस्त्र ऐसे मनुष्यका बिनाश करनेमें समर्थ नहीं हैं तथा मृत्यु भी इसके निकट पहुंच नहीं सकती; इसलिये जगत्में कहीं भी इस योगीसे बढकर सुखी अन्य कोई नहीं होता ॥ २८ ॥

*

सम्यग्युक्त्वा यदात्मानमात्मन्येव प्रपश्यति ।
तदेव न स्पृहयते साक्षादपि शतक्रतोः ॥ २९ ॥

योगी पुरुष मनको आत्मामें पूरी रीतिसे लीन करके उसीको देखता है; उसी समय वह साक्षात् इन्द्रके पदकी भी इच्छा नहीं करता ॥ २९ ॥

निर्वेदस्तु न गन्तव्यो युञ्जानेन कथंचन ।
योगमेकान्तशीलस्तु यथा युञ्जीत तच्छृणु ॥ ३० ॥

योगबलसे ऐश्वर्यका भोग लेनेवाले योगीको योगसे कदापि विरक्त नहीं होना चाहिये; एकान्तमें ध्यानशील पुरुष जिस प्रकार योगका लाभ करता है, उसे सुनो ॥ ३० ॥

दृष्टपूर्वां दिशं चिन्त्य यस्मिन्संनिवसेत्पुरे ।
पुरस्याभ्यन्तरे तस्य मनश्चार्यं न बाह्यतः ॥ ३१ ॥

योगी पुरुष वेदान्तको सुनकर गुरुपदिष्ट उपदेशकी पर्यालोचना करके जिसमें जीवका निवास माना गया है, उसीमें मनको स्थापित करे; मनको उस शरीरके बाहिरी भागमें न रखे, अभ्यन्तरमें ही स्थापन करे ॥ ३१ ॥

पुरस्याभ्यन्तरे तिष्ठन्यस्मिन्नावसथे वसेत् ।
तस्मिन्नावसथे धार्यं सबाह्याभ्यन्तरं मनः ॥ ३२ ॥

स्वयं शरीरके अभ्यन्तरमें रहके आत्मा मूलाधारादि अन्यतम जिस किसीमें वास करता है उसीमें बाह्य और आभ्यन्तर विषयों सहित मनको धारण रखे ॥ ३२ ॥

प्रचिन्त्यावसथं कृत्स्नं यस्मिन्कायेऽवतिष्ठते ।
तस्मिन्काये मनश्चार्यं न कथंचन बाह्यतः ॥ ३३ ॥

जिस समय वह किसी अवस्थामें रहके सर्वात्मक ब्रह्मका ध्यान करेगा, उस समय उसका मन आत्मासे भिन्न कदापि बहिर्मुख न होने पावेगा ॥ ३३ ॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं निर्घोषे निर्जने वने ।
कायमभ्यन्तरं कृत्स्नमेकाग्रः परिचिन्तयेत् ॥ ३४ ॥

निर्जन शब्द रहित वनके बीच इन्द्रियोंको वशमें करते हुए एकाग्र होकर देहके बाहिर तथा भीतरमें परिपूर्ण ब्रह्मका ध्यान करे ॥ ३४ ॥

दन्तांस्तालु च जिह्वां च गलं ग्रीवां तथैव च ।
हृदयं चिन्तयेच्चापि तथा हृदयबन्धनम् ॥ ३५ ॥

और योगके साधनस्वरूप दांत, तालु, जिह्वा, गला, हृदय वा हृदयमें बंधी हुई नाडियोंका ध्यान करे अर्थात् दांतसे भोजनकी सब सामग्रियोंको शुद्ध करे, जिह्वाको तालुके सङ्ग संयुक्त करे, गला तथा ग्रीवाको भूख प्याससे निवृत्त करे और हृदय तथा हृदयस्थित नाडियोंको परिष्कृत कर रखे ॥ ३५ ॥

इत्युक्तः स मया शिष्यो मेधावी मधुसूदन।
पप्रच्छ पुनरेवेमं मोक्षधर्मं सुदुर्वचम् ॥ ३६ ॥

हे मधुसूदन! उस मेधावी शिष्यने मेरे द्वारा इतनी कथा सुनके फिर मुझसे जिसका निरूपण करना कठिन है, उस मोक्षधर्मके विषयमें पूंछा ॥ २६ ॥

भुक्तं भुक्तं कथमिदमन्नं कोष्ठे विपच्यते।
कथं रसत्वं व्रजति शोणितं जायते कथम्
तथा मांसं च मेदश्च स्नाय्वस्थीनि च पोषति ॥ ३७ ॥

उदरमें किस प्रकार बार बार खाया हुआ अन्न पहुंकर पाचन होता है? किस प्रकार वह रस बनता है तथा किस प्रकार वह रक्तमें परिणत होता है और किस भांतिसे बह जीवोंके समस्त शरीर मांस, मेद, स्नायु और हड्डियोंको पुष्ट करता है ॥ ३७ ॥

कथमेतानि सर्वाणि शरीराणि शरीरिणाम्।
वर्धन्ते वर्धमानस्य वर्धते च कथं बलम्।
निरोजसां निष्क्रमणं मलानां च पृथक् पृथक् ॥ ३८ ॥

देहधारियोंके समस्त शरीर कैसे बढते है तथा बर्धमान शरीरका बल किस प्रकार वर्धित होता है और किस प्रकारसे निरोगी पुरुषोंके मल पृथक् पृथक् भावसे बाहिर होते हैं? ॥ ३८ ॥

कुतो वायं प्रश्वसिति उच्छ्वसित्यपि वा पुनः।
कं च देशमधिष्ठाय तिष्ठत्यात्मायमात्मनि ॥ ३९ ॥

यह जीव कैसे श्वास लेता है, कैसे प्रश्वास करता है तथा यह आत्मा किस स्थानको अवलंबन करके शरीरमें निवास करता है? ॥ ३९ ॥

जीवः कायं वहति चेचेष्टयानः कलेवरम्।
किंवर्णं कीदृशं चैव निवेशयति वै मनः।
याथातथ्येन भगवन्वक्तुमर्हसि मेऽनघ ॥ ४० ॥

जीव नाडीमार्गमें चेष्टमान होकर किस सूक्ष्म शरीरका भार वाहन करता है? नाडीमार्गका कैसा वर्ण है और उससे फिर किस प्रकार मन शरीर प्राप्त करता है? हे भगवन्! अनघ! यह सब मेरे निकट आपको यथार्थ रीतिसे वर्णन करना उचित है ॥ ४० ॥

इति संपरिपृष्टोऽहं तेन विप्रेण माधव।
प्रत्यब्रुवं महाबाहो यथाश्रुतमरिंदम ॥ ४१ ॥

हे महाबाहो! माधव! मैंने उस ब्राह्मणके इस विषयमें पूछनेपर, जैसा मैंने सुना था वैसाही उसे कहा ॥ ४१ ॥

यथा स्वकोष्ठे प्रक्षिप्य कोष्ठं भाण्डमना भवेत् ।
तथा स्वकाये प्रक्षिप्य मनो द्वारैरनिश्चलैः ।
आत्मानं तत्र मार्गेत प्रमादं परिवर्जयेत् ॥ ४२ ॥

जैसे मनुष्य निज धन, घरका सामान कोठेमें डालकर उसीके चिंतनमें मन लगाये रहता है, वैसे ही निज शरीरमें अनिश्चल इन्द्रियोंके द्वारा बिचरनेवाले मनको रखकर प्रमाद परित्यागके उस शरीरमें आत्माकी खोज करे ॥ ४२ ॥

एवं सततमुद्युक्तः प्रीतात्मा नचिरादिव ।
आसादयति तद्ब्रह्म यद्दृष्ट्वा स्यात्प्रधानवित् ॥ ४३ ॥

इस ही प्रकार सदा ध्यानके लिये उद्युक्त पुरुषका मन शीघ्रही प्रसन्नचित्त होता है; वह उस परब्रह्म परमात्माको पाता है, और उसका साक्षात्कार करके प्रकृतिको जान लेता है ॥४३॥

न त्वसौ चक्षुषा ग्राह्यो न च सर्वैरपीन्द्रियैः ।
मनसैव प्रदीपेन महानात्मनि दृश्यते ॥ ४४ ॥

नेत्रोंसे परमात्माको देखा नहीं जाता, सब इन्द्रियोंसे भी उसको ग्रहण नहीं किया जाता; केवल मनरूपी दीपकके द्वारा ही उस महानूका स्वयंमें दर्शन हुआ करता है ॥ ४४ ॥

सर्वतःपाणिपादं तं सर्वतोक्षिशिरोमुखम् ।
जीवो निष्क्रान्तमात्मानं शरीरात्संप्रपश्यति ॥ ४५ ॥

वह सब ओर हाथपैरवाला और सब ओर आंख, सिर, मुखवाला—सर्वग्राही, सर्बत्रगामी, सर्वदर्शी, सर्वशिरा, सर्वानन है— जीव स्वयंको शरीरसे पृथक् देखता है ॥ ४५ ॥

स तदुत्सृज्य देहं स्वं धारयन्ब्रह्म केवलम् ।
आत्मानमालोकयति मनसा प्रहसन्निव ॥ ४६ ॥

जीव शरीरमें रहकर सब लक्षणोंसे आक्रान्त सब वस्तुओंको परित्याग करके मनको निजरूपमें धारण करनेसे मानो मन ही मन हंसते हुए निर्गुण परब्रह्मका दर्शन किया करता है ॥ ४६ ॥

इदं सर्वरहस्यं ते मयोक्तं द्विजसत्तम ।
आपृच्छे साधयिष्यामि गच्छ शिष्य यथासुखम् ॥ ४७ ॥

हे श्रेष्ठ द्विज ! मैंने तुम्हारे निकट इस रहस्यको यथावत् वर्णन किया; अब मैं जाना चाहता हूं। हे शिष्य ! मैं तुम्हें अनुमति प्रदान करता हूं, कि तुम यथासुखसे गमन करो ॥ ४७ ॥

इत्युक्तः स तदा कृष्ण मया शिष्यो महातपाः ।
अगच्छत यथाकामं ब्राह्मणश्छिन्नसंशयः ॥ ४८ ॥

ह श्रीकृष्ण ! मेरे ऐसे बचनको सुनके मेरे शिष्य वह महातपस्वी— जिनकी सब शंकाओंका निरसन हुआ है— विप्रने इच्छानुसार गमन किया ॥ ४८ ॥

वासुदेव उवाच—

इत्युक्त्वा स तदा वाक्यं मां पार्थ द्विजसपुंगवः ।
मोक्षधर्माश्रितः सम्यक्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ४९ ॥

श्रीकृष्ण बोले– हे पार्थ ! मोक्षधर्मावलम्बी वह द्विजवर मुझसे यह सब विषय पूरी रीतिसे कहके अन्तर्धान हो गये ॥ ४९ ॥

कच्चिदेतत्त्वया पार्थ श्रुतमेकाग्रचेतसा ।
तदापि हि रथस्थस्त्वं श्रुतवानेतदेव हि ॥ ५० ॥

हे पार्थ ! तुमने एकाग्र चित्तसे मैंने कहे हुए इस उपदेशको सुना है न ? एक बार मेरे निकट यह विषय युद्धके समय तुमने रथपर बैठे ही सुना था ॥ ५० ॥

नैतत्पार्थ सुविज्ञेयं व्यामिश्रेणेति मे मतिः ।
नरेणाकृतसंज्ञेन विदग्धेनाकृतात्मना ॥ ५१ ॥

हे अर्जुन ! इसमें मुझे ऐसी विवेचना होती है, कि जो पण्डित पुरुष व्यग्रचित्त, तत्त्वविद्या-विहीन, विदग्ध और अकृतात्मा है, वह इसे भलीभांति सुगमतापूर्वक नहीं जान सकता ॥ ५१ ॥

सुरहस्यमिदं प्रोक्तं देवानां भरतर्षभ ।
कच्चिन्नेदं श्रुतं पार्थ मर्त्येनान्येन केनचित् ॥ ५२ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! मैंने तुमसे देवताओंका परम गोपनीय रहस्य कहा है, इस लोकमें किसी मर्त्य मनुष्यने कभी इसे नहीं सुना ॥ ५२ ॥

न ह्येतच्छ्रोतुमर्होऽन्यो मनुष्यस्त्वामृतेऽनघ ।
नैतदद्य सुविज्ञेयं व्यामिश्रेणान्तरात्मना ॥ ५३ ॥

हे अनघ ! तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई मनुष्य इसे सुननेका योग्य अधिकारी नहीं है। जिसका अन्तरात्मा अत्यन्त व्यग्र है, वह पुरुष इस समय उत्तम रीतिसे इसे नहीं समझ सकता ॥ ५३ ॥

क्रियावद्भिर्हि कौन्तेय देवलोकः समावृतः ।
न चैतदिष्टं देवानां मर्त्यै रूपनिवर्तनम् ॥ ५४ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! देखो, क्रियावान् मनुष्योंके द्वारा देवलोक समावृत है; मर्त्य मनुष्योंकी रूप निवृत्ति हो, यह देवताओंको अभिलषित नहीं है ॥ ५४ ॥

परा हि सा गतिः पार्थ यत्तद्ब्रह्म सनातनम् ।
यत्रामृतत्वं प्राप्नोति त्यक्त्वा दुःखं सदा सुखी ॥ ५५ ॥

पार्थ ! सनातन परब्रह्मही उस जीवकी परम गति है। मनुष्य देहका परित्याग कर उस ब्रह्ममें अमरत्वका लाभ करके सर्वथा सुखभोग करता है ॥ ५५ ॥

एवं हि धर्ममास्थाय येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ५६ ॥

पापयोनिमें उत्पन्न हुए मनुष्य, स्त्री, वैश्य और शूद्रलोग भी इस मोक्षधर्मको अवलम्बन करनेसे परम गति पाते हैं ॥ ५६ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पार्थ क्षत्रिया वा बहुश्रुताः ।
स्वधर्मरतयो नित्यं ब्रह्मलोकपरायणाः ॥ ५७ ॥

हे पार्थ ! फिर स्वधर्ममें रत, सदा ब्रह्मलोकपरायण ब्राह्मण और बहुश्रुत क्षत्रियोंकी तो बात ही क्या है ॥ ५७ ॥

हेतुमच्चैतदुद्दिष्टमुपायाश्चास्य साधने ।
सिद्धेः फलं च मोक्षश्च दुःखस्य च विनिर्णयः ।
अतः परं सुखं त्वन्यत्किं नु स्याद्भरतर्षभ ॥ ५८ ॥

जिससे सिद्धिके फल, मोक्ष और दुःखके स्वरूपका निर्णय होता है, मेरे द्वारा उस मोक्षधर्मका उपदेश तथा उसके साधनके उपाय बतलाये गये हैं। हे भरतश्रेष्ठ ! इससे बढके दूसरा सुखकर धर्म और कुछ भी नहीं है ॥ ५८ ॥

श्रुतवाञ्श्रद्दधानश्च पराक्रान्तश्च पाण्डव ।
यः परित्यजते मर्त्यो लोकतन्त्रमसारवत् ।
एतैरुपायैः स क्षिप्रं परां गतिमवाप्नुयात् ॥ ५९ ॥

जो बुद्धिमान्, श्रद्धावान् और पराक्रमी मनुष्य इस लोकके सारभूत धनादि सुखको तृणादिकी भांति सारहीन समझकर परित्याग करता है, वह उपर्युक्त इन उपायोंसे शीघ्र ही परम गति प्राप्त करता है ॥ ५९ ॥

एतावदेव वक्तव्यं नातो भूयोऽस्ति किंचन ।
षण्मासान्नित्ययुक्तस्य योगः पार्थ प्रवर्तते ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥ ५६४ ॥

हे पार्थ ! इतनाही कहने योग्य इसमें है; इसके अनन्तर और कुछ भी बढकर नहीं है; क्योंकि जो पुरुष छः महीनेतक सदा इसमें नियुक्त रहता है, उसमें ही योग सम्यक् रूपसे प्रवृत्त होता है ॥ ६० ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें उन्नीसवां अध्याय समाप्त ॥ १९ ॥ ५६४ ॥

: २० :

वासुदेव उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
दंपत्योः पार्थ संवादमभयं नाम नामतः ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण बोले— हे पार्थ ! इस प्रश्नके विषयमें पण्डित लोग दम्पतीके अभय नामसे प्रख्यात संवादयुक्त यह पुरातन इतिहास कहा करते हैं ॥ १ ॥

ब्राह्मणी ब्राह्मणं कंचिज्ज्ञानविज्ञानपारगम् ।
दृष्ट्वा विविक्त आसीनं भार्या भर्तारमब्रवीत् ॥ २ ॥

कोई ब्राह्मणी ज्ञानविज्ञानपारग निज स्वामीको एकान्त स्थानमें बैठे हुए देखकर उनसे बोली ॥ २ ॥

कं नु लोकं गमिष्यामि त्वामहं पतिमाश्रिता ।
न्यस्तकर्माणमासीनं कीनाशमविचक्षणम् ॥ ३ ॥

हे स्वामी ! आप अग्निहोत्र आदि कर्मोंसे विहीन, मेरे सदृश भार्याके विषयमें निर्दय तथा अनन्यगतित्वमें अनभिज्ञ हैं; तब मैं आपके सदृश पतिका आसरा करके किस लोकमें गमन करूंगी ? ॥ ३ ॥

भार्याः पतिकृताँल्लोकानाप्नुवन्तीति नः श्रुतम् ।
त्वामहं पतिमासाद्य कां गमिष्यामि वै गतिम् ॥ ४ ॥

मैंने ऐसा सुना है, कि भार्या पतिकृत लोकोंको पाती है । मैं आपको पति पाकर कौनसी गति लाभ करूंगी ? ॥ ४ ॥

एवमुक्तः स शान्तात्मा तामुवाच हसन्निव ।
सुभगे नाभ्यसूयामि वाक्यस्यास्य तवानघे ॥ ५ ॥

प्रशान्तचित्त ब्राह्मण भार्याका ऐसा वचन सुनके हंसके बोला, हे शुभगे पुण्यशील ! मैं तुम्हारे इस वचनको बुरा नहीं मानता ॥ ५ ॥

ग्राह्यं दृश्यं च श्राव्यं च यदिदं कर्म विद्यते ।
एतदेव व्यवस्यन्ति कर्म कर्मेति कर्मिणः ॥ ६ ॥

दीक्षा और व्रतादि ग्रहण करने योग्य, आंखोंसे दिखाई देनेवाले तथा कानोंसे श्रवण करने योग्य जो सब कर्म विद्यमान हैं, कर्म करनेवाले इसे ही कर्तव्य कर्म कहके व्यवहार किया करते हैं ॥ ६ ॥

मोहमेव नियच्छन्ति कर्मणा ज्ञानवर्जिताः ।
नैष्कर्म्यं न च लोकेऽस्मिन्मौर्तमित्युपलभ्यते ॥ ७ ॥

परन्तु ज्ञानहीन मनुष्य इस लोकमें शरीरायाससाध्य कर्मके द्वारा केवल मोहका संग्रह करते हैं; एक मुहूर्तके लिये भी इस लोकमें विना कर्म किये नहीं रह सकते ॥ ७ ॥

कर्मणा मनसा वाचा शुभं वा यदि वाशुभम् ।
जन्मादिमूर्तिभेदानां कर्म भूतेषु वर्तते ॥ ८ ॥

कर्म, मन और वचनसे संचित शुभाशुभ कार्य तथा जन्मस्थिति, विनाश और अनेक योनियोंमें भ्रमणरूपी कर्म सब भूतोंमें विद्यमान है ॥ ८ ॥

रक्षोभिर्वध्यमानेषु दृश्यद्रव्येषु कर्मसु ।
आत्मस्थमात्मना तेन दृष्टमायतनं मया ॥ ९ ॥

दृश्य वस्तु सोम तथा घृतादि द्रव्य विशिष्ट सब कर्ममार्गोंका जब राक्षसोंने—दुर्जनोंने विनाश करना शुरू किया, तब मैं उन कर्ममार्गोंसे विरत होकर निज शरीरस्थ भौं और नासिकाके मध्यवर्ती अविमुक्ताख्य स्थानका दर्शन किया करता हूं ॥ ९ ॥

यत्र तद्ब्रह्म निर्द्वंद्वं यत्र सोमः सहाग्निना ।
व्यवायं कुरुते नित्यं धीरो भूतानि धारयन् ॥ १० ॥

जिस स्थानमें वह अद्वैत ब्रह्म विद्यमान रहता है और जहां ईडा तथा पिङ्गला नाडी निवास करती है, जहां सोम अग्निके साथ रहता है, वहां बुद्धिप्रेरक धीर वायु सब भूतोंको धारण करता हुआ सदा सञ्चार किया करता है ॥ १० ॥

यत्र ब्रह्मादयो युक्तास्तदक्षरमुपासते ।
विद्वांसः सुव्रता यत्र शान्तात्मानो जितेन्द्रियाः ॥ ११ ॥

जहां ब्रह्मादि देवता, योगीगण और सुव्रत, प्रशान्तचित्त, जितेन्द्रिय विद्वान् मनीषी वृन्द जिस अविनाशी ब्रह्मकी उपासना करते हैं ॥ ११ ॥

घ्राणेन न तदाघ्रेयं न तदाद्यं च जिह्वया ।
स्पर्शेन च न तत्स्पृश्यं मनसा त्वेव गम्यते ॥ १२ ॥

उस अक्षर ब्रह्मको नासिकासे सूंघा नहीं जाता, जीभसे आस्वादन नहीं किया जाता और त्वचासे स्पर्श नहीं किया जाता; केवल मनसे ही जाना जाता है ॥ १२ ॥

चक्षुषा ना विषह्यं च यत्किंचिच्छ्रवणात्परम् ।
अगन्धमरसस्पर्शमरूपाशब्दमव्ययम् ॥ १३ ॥

वह आंखोंका विषय नहीं है तथा श्रवणेन्द्रियसे अतीत है; गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शब्द विहीन और अव्यय है ॥ १३ ॥

यतः प्रवर्तते तन्त्रं यत्र च प्रतितिष्ठति ।
प्राणोऽपानः समानश्च व्यानश्चोदान एव च ॥ १४ ॥

उसीसे सृष्टिका विस्तार होता है और उसीमें उसकी स्थिति है । प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान प्रभृति सृष्टिव्यापार ॥ १४ ॥

तत एव प्रवर्तन्ते तमेव प्रविशन्ति च ।
समानव्यानयोर्मध्ये प्राणापानौ विचेरतुः ॥ १५ ॥

उसीसे प्रवर्तित होकर उसीमें प्रतिष्ठित हुआ करते हैं; समान और व्यानके बीचमें प्राण, और अपान विचरण किया करते हैं ॥ १५ ॥

तस्मिन्सुप्ते प्रलीयेते समानो व्यान एव च ।
अपानप्राणयोर्मध्ये उदानो व्याप्य तिष्ठति ।
तस्माच्छयानं पुरुषं प्राणापानौ न मुञ्चतः ॥ १६ ॥

उस अपानके सहित प्राणके प्रसुप्त अर्थात् भौं और नासिकाके बीच निरुद्ध होनेपर समान और व्यान विलीन होते हैं और उदान, अपान तथा प्राणके बीच निवास करते हुए दोनोंमें व्याप्त रहता है, इसीसे प्राण और अपान सोये हुए पुरुषको परित्याग नहीं कर सकते ॥ १६ ॥

प्राणानायम्यते येन तमुदानं प्रचक्षते ।
तस्मात्तपो व्यवस्यन्ति तद्भवं ब्रह्मवादिनः ॥ १७ ॥

प्राणादिके अधिकारत्व तथा चेष्टाजनकत्व निबन्धनसे पण्डित लोग उसे उदान कहा करते हैं; उस एकमात्र उदानमें प्राणादिका अन्तर्भाव होता है, इसीसे ब्रह्मादि विप्रगण सद्रत परात्मप्रापक तपस्याका निश्चय किया करते हैं ॥ १७ ॥

तेषामन्योन्यभक्षाणां सर्वेषां देहचारिणाम् ।
अग्निर्वैश्वानरो मध्ये सप्तधा विहितोऽन्तरा ॥ १८ ॥

परस्पर भक्षक शरीरोंमें रहनेवाले प्राणादि वायुके बीच समान वायुके निवासस्थान नाभिमण्डलमें वैश्वानर नाम अग्नि निवास करती है । वह अग्नि सात हिस्सेमें बटके उसके बीच प्रकाशित हुआ करती है ॥ १८ ॥

घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक्च श्रोत्रं च पञ्चमम् ।
मनो बुद्धिश्च सप्तैता जिह्वा वैश्वानरार्चिषः ॥ १९ ॥

नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, पांचवां कान, मन और बुद्धि ये सातों उस वैश्वानर अग्निकी जिह्वाएं हैं ॥ १९ ॥

×

घ्रेयं दृश्यं च दृश्यं च स्पृश्यं श्रव्यं तथैव च ।
मन्तव्यमथ बोद्धव्यं ताः सप्त समिधो मम ॥ २० ॥

सूंघना, देखना, पीना, स्पर्श करना, सुनना, मनन और बोध करना, ये सातों मुझ वैश्वानरकी समिधाएं हैं ॥ २० ॥

घ्राता भक्षयिता द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता च पञ्चमः ।
मन्ता बोद्धा च सप्तैते भवन्ति परमर्त्विजः ॥ २१ ॥

सुंघनेवाला, खानेवाला, देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला, पांचवां सुननेवाला, मनन करनेवाला और समझनेवाला ये सात श्रेष्ठ ऋत्विक हैं ॥ २१ ॥

घ्रेये पेये च दृश्ये च स्पृश्ये श्रव्ये तथैव च ।
हवींष्यग्निषु होतारः सप्तधा सप्त सप्तसु ।
सम्यक्प्रक्षिप्य विद्वांसो जनयन्ति स्वयोनिषु ॥ २२ ॥

हे सुभगे! घ्रेय, पेय, दृश्य, स्पृश्य, श्रव्य, मन्तव्य और बोधव्य, इन सात विषयोंमें सर्वदा हविष्य बुद्धि करनी चाहिये । पहले कहे हुए सात प्रकारके होतागण सात रूपोंमें विभक्त ब्रह्माग्निमें सात भांतिके हवि डालकर, विद्वान पुरुष अपने योनियोंमें शब्दादि विषयोंको उत्पन्न करते हैं ॥ २२ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।
मनो बुद्धिश्च सप्तैते योनिरित्येव शब्दिताः ॥ २३ ॥

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, मन और बुद्धि, ये सात योनि कहके वर्णित हुई हैं ॥ २३ ॥

हविर्भूता गुणाः सर्वे प्रविशन्त्यग्निजं मुखम् ।
अन्तर्वासमुषित्वा च जायन्ते स्वासु योनिषु
तत्रैव च निरुध्यन्ते प्रलये भूतभावने ॥ २४ ॥

हविर्भूत गुण घ्रेयादि विषय, अग्निके गुणगन्धादि ज्ञानरूप धीवृत्तिमें प्रविष्ट होकर, संस्कारात्मक अन्तर्वास चित्तके बीच वास करते हुए निज योनिभूत घ्राणादिमें जन्म लेते हैं और प्रलयकाल उपस्थित होनेपर भीतर ही अवरुद्ध रहते और भूतोंकी सृष्टिके समय वहींसे प्रकट होते हैं ॥ २४ ॥

ततः संजायते गन्धस्ततः संजायते रसः ।
ततः संजायते रूपं ततः स्पर्शोऽभिजायते ॥ २५ ॥

अनन्तर उस अन्तर्वाससे गन्ध और रसकी उत्पत्ति होती है । वहींसे रूप और स्पर्श निर्माण होता है ॥ २५ ॥

ततः संजायते शब्दः संशयस्तत्र जायते ।
ततः संजायते निष्ठा जन्मैतत्सप्तधा विदुः　　॥ २६ ॥

वहींसे शब्द प्रकट होता है; संशयका जन्म वहीं होता है; और निष्ठायुक्त बुद्धि वहीं उत्पन्न होती है; पण्डित लोग इस ही प्रकार सात भाँतिकी उत्पत्तिको मालूम किया करते हैं ॥ २६ ॥

अनेनैव प्रकारेण प्रगृहीतं पुरातनैः ।
पूर्णाहुतिभिरापूर्णास्तेऽभिपूर्यन्ति तेजसा　　॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥ ५९१ ॥

प्राचीन पण्डितगण इस ही प्रकार वेदोपदेशके अनुसार प्राणादिरूप ग्रहण करते हैं । सब लोग प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता इस त्रिविध पूर्णाहुति अर्थात् पूर्ण यज्ञके ज्ञापक आह्वानके द्वारा परिपूर्ण होकर निज तेजके सहारे परिपूर्ण हुआ करते हैं ॥ २७ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें बीसवां अध्याय समाप्त ॥ २० ॥ ५९१ ॥

: २१ :

ब्राह्मण उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
निबोध दशहोतॄणां विधानमिह यादृशम्　　॥ १ ॥

ब्राह्मण बोला— हे भामिनि ! इस विषयमें पण्डित लोग दस प्रकारके होताविधानसंयुक्त यह प्राचीन इतिहास कहा करते हैं, उसे तुम सुनो ॥ १ ॥

सर्वमेवात्र विज्ञेयं चित्तं ज्ञानमवेक्षते ।
रेतः शरीरभृत्काये विज्ञाता तु शरीरभृत्　　॥ २ ॥

यह जाननेयोग्य सब जगत् चित्तरूप है, वह ज्ञानकी इच्छा करता है; वीर्यजनित स्थूल शरीरमें रहनेवाला शरीरधारी जीव उसको जानता है ॥ २ ॥

शरीरभृद्गार्हपत्यस्तस्मादन्यः प्रणीयते ।
ततश्चाहवनीयस्तु तस्मिन्संक्षिप्यते हविः　　॥ ३ ॥

वह सूक्ष्म शरीराभिमानी जीव गार्हपत्य अग्नि और उससे अन्य मन आवहनीय नामसे विख्यात होता है; वह आहवनीय अग्नि है । उसमेंही हवि डाली जाती है ॥ ३ ॥

ततो वाचस्पतिर्जज्ञे समानः पर्यवेक्षते ।
रूपं भवति वै व्यक्तं तदनुद्रवते मनः　　॥ ४ ॥

उससे पहले वाचस्पति वेद उत्पन्न होता है; तिसके अनन्तर समान उत्पन्न होकर उस वाचस्पतिको पर्यवेक्षण करता है; अनन्तर व्यक्त रूप अर्थात् प्राणवायु उत्पन्न होकर मनका अनुगामी हुआ करता है ॥ ४ ॥

ब्राह्मण्युवाच—

कस्माद्वागभवत्पूर्वं कस्मात्पश्चान्मनोऽभवत् ।
मनसा चिन्तितं वाक्यं यदा समभिपद्यते ॥ ५ ॥

ब्राह्मणी बोली— जब मनके द्वारा सोचके वचन कहा जाता है, तब किस निमित्त पहले वाक्की उत्पत्ति हुई और पीछे मन उत्पन्न हुआ ? ॥ ५ ॥

केन विज्ञानयोगेन मतिश्चित्तं समास्थिता ।
समुन्नीता नाध्यगच्छत्को वैनां प्रतिषेधति ॥ ६ ॥

किस प्रमाणके अनुसार प्राण (मति) मनका अनुगामी होता है और सुषुप्तिसमयमें उदित होकर विषयभोग न करनेपर भी, कौन उसकी ज्ञानशक्तिके मार्गमें बाधा करता है ? ॥६॥

ब्राह्मण उवाच—

तामपानः पतिर्भूत्वा तस्मात्प्रेष्यत्यपानताम् ।
तां मतिं मनसः प्राहुर्मनस्तस्मादवेक्षते ॥ ७ ॥

ब्राह्मण बोला— अपान प्राणका प्रभु होकर उस प्राणको अपान भावकी ओर ले जाता है; इसही हेतु पण्डित लोग प्राणकी उस अपान भावकी गतिको मनकी मति कहा करते हैं, इसलिये मन उसकी प्रतीक्षा करता है ॥ ७ ॥

प्रश्नं तु वाङ्मनसोर्मां यस्मात्त्वमनुपृच्छसि ।
तस्मात्ते वर्तयिष्यामि तयोरेव समाह्वयम् ॥ ८ ॥

और तुमने मुझसे वचन तथा मनके विषयमें प्रश्न किया है, इसलिये मैं तुमसे उस वाक्य और मनका संवाद बताता हूं ॥ ८ ॥

उभे वाङ्मनसी गत्वा भूतात्मानमपृच्छताम् ।
आवयोः श्रेष्ठमाचक्ष्व छिन्धि नौ संशयं विभो ॥ ९ ॥

एक बार मन और वाणी दोनों ही भूतात्माके निकट जाकर उससे पूछने लगे, हे विभु ! हम दोनोंके बीच श्रेष्ठ कौन है ? आप यह कहके हमारा सन्देह दूर करिये ॥ ९ ॥

मन इत्येव भगवांस्तदा प्राह सरस्वतीम् ।
अहं वै कामधुक्तुभ्यमिति तं प्राह वागथ ॥ १० ॥

आत्मदेव भगवान् वाग्देवी सरस्वतीसे बोले, मनही श्रेष्ठ है; अनन्तर वाग्देवीने उनसे कहा, कि तुम जो सोचते हो, मैं उसे प्रकाश करती हूं; तब मैं तुम्हारी कामधेनु हुई, इस प्रकार वाग्देवीने अपनी श्रेष्ठता कही ॥ १० ॥

स्थावरं जङ्गमं चैव विद्ध्युभे मनसी मम।
स्थावरं मत्सकाशे वै जङ्गमं विषये तव ॥ ११ ॥

स्थावर बाह्य इन्द्रियोंके विषय तथा जङ्गम अतीन्द्रिय स्वर्गादि विषय, ये दोनों ही मेरे मन हैं; परन्तु स्थावर मेरे निकट और जङ्गम तुम्हारे समीप विद्यमान रहता है ॥ ११ ॥

यस्तु ते विषयं गच्छेन्मन्त्रो वर्णः स्वरोऽपि वा।
तन्मनो जङ्गमं नाम तस्मादसि गरीयसी ॥ १२ ॥

इसके अतिरिक्त जो मन्त्र वर्ण अथवा स्वरके द्वारा उस विषयको प्रकाशित करता है, वह जङ्गम मन तुम्हारे आश्रयसेही स्वर्गादि विषयको प्राप्त होकर वहां प्रवेश करता है; उस ही निमित्त तुम मनसे भी श्रेष्ठ हो ॥ १२ ॥

यस्मादसि च मा वोचः स्वयमभ्येत्य शोभने।
तस्मादुच्छ्वासमासाद्य न वक्ष्यसि सरस्वति ॥ १३ ॥

हे शोभने ! जब वागूदेवी स्वयं कामधुक होकर मनके निकट आती है, और मुझे कहती है, तब सरस्वति ! तूं उच्छ्वासको प्राप्त होकर कुछ नहीं कहती ॥ १३ ॥

प्राणापानान्तरे देवी वाग्वै नित्यं स्म तिष्ठति।
प्रेर्यमाणा महाभागे विना प्राणमपानती।
प्रजापतिमुपाधावत्प्रसीद भगवन्निति ॥ १४ ॥

हे महाभागे ! वागूदेवी प्राणके द्वारा प्रेरित होकर मनोवृत्ति बिशेष प्राण और अपानके भीतर सदा निवास किया करती है, परन्तु जब वह प्राणकी सहायताके बिना अत्यन्त नीच दशाको प्राप्त होती है, तब प्रजा पतिके निकट दौडती हुई जाकर ऐसा वचन कहा करती है, कि " हे भगवन् ! मुझपर प्रसन्न होईये " ॥ १४ ॥

ततः प्राणः प्रादुरभूद्वाचमाप्याययन्पुनः।
तस्मादुच्छ्वासमासाद्य न वाग्वदति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

अनन्तर जब प्राण बाक्यको तृप्त-पुष्ट करके पुनः प्रकट होता है, तब वाग्देवी प्राणसे उच्छ्वास लाभ करके मौनावलम्बन किया करती है, कभी कोई शब्द नहीं बोलती ॥१५॥

घोषिणी जातनिर्घोषा नित्यमेव प्रवर्तते।
तयोरपि च घोषिण्योर्निर्घोषैव गरीयसी ॥ १६ ॥

वाणी दो प्रकारकी है —एक घोषयुक्त और दूसरी घोष रहित, जो सदा विद्यमान रहती है। उसके बीच घोषिणी वाग्देवी प्राणके आप्यायनकी अपेक्षा करती है; हंसमन्त्रस्वरूपिणी अघोषा वाग्देवी प्राणके अप्यायनकी अपेक्षा नहीं करती, इसही निमित्त वह घोषिणीसे श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

गौरिव प्रस्रवत्येषा रसमुत्तमशालिनी ।
सततं स्यन्दते ह्येषा शाश्वतं ब्रह्मवादिनी ॥ १७ ॥
दिव्यादिव्यप्रभावेन भारती गौः शुचिस्मिते ।
एतयोरन्तरं पश्य सूक्ष्मयोः स्यन्दमानयोः ॥ १८ ॥

जैसे गाय उत्तम दूध प्रदान करती है, वैसे ही यह उत्तम गुणोंसे युक्त अक्षरशालिनी ब्रह्मवादिनी घोषिणी वाग्देवी सदा शाश्वत मोक्ष और सब अर्थोंको–शाश्वत ब्रह्मका उपदेश–प्रकट किया करती है। हे शुचिस्मिते ! गोरूपी वाग्देवी दिव्य देवताद्याकर्षण और अदिव्य व्यवहार प्रकटरूप दोनों भांतिके प्रभावसे प्रकाशित होती है, दोनों ही सूक्ष्म और अभीष्ट पदार्थोंका प्रसव करनेवाली हैं, इन दोनोंमें क्या अन्तर है, यह तुम स्वयं देखो ॥ १७–१८ ॥

अनुत्पन्नेषु वाक्येषु चोद्यमाना सिसृक्षया ।
किं नु पूर्वं ततो देवी व्याजहार सरस्वती ॥ १९ ॥

ब्राह्मणी बोली– जब वाक्य उत्पन्न नहीं हुए थे, तब बोलनेकी इच्छासे प्रेरित वाङ्मयी सरस्वती देवी उस समय पहले क्या बोली ? ॥ १९ ॥

प्राणेन या संभवते शरीरे प्राणादपानं प्रतिपद्यते च ।
उदानभूता च विसृज्य देहं व्यानेन सर्वं दिवमावृणोति ॥ २० ॥

वह वाग्देवी शरीरके बीच प्राणवायुके सहयोगसे प्रस्फुरित होकर प्राणसे अपानको प्राप्त होती है; अनन्तर उदानभूत होकर शरीरको छोडके व्यानके रूपसे सारेआकाशको आवरण किया करती है ॥ २० ॥

ततः समाने प्रतितिष्ठतीह इत्येव पूर्वं प्रजजल्प चापि ।
तस्मान्मनः स्थावरत्वाद्विशिष्टं तथा देवी जङ्गमत्वाद्विशिष्टा ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥ ६१२ ॥

तिसके अनन्तर वह समानमें प्रतिष्ठित होकर पहलेकी भांति सबको विदित होती है । उक्त कारणसे स्थावरत्व निबन्धन मनविशिष्ट और जंगमत्व निबन्धनसे वाग्देवी श्रेष्ठ होती है ॥२१॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें इक्कीसवां अध्याय समाप्त ॥ २१ ॥ ६१२ ॥

: २२ :

ब्राह्मण उवाच–

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सुभगे सप्तहोतॄणां विधानमिह यादृशम् ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोला– हे सुभगे ! इस वाक्य और मनके समप्राधान्य विषयमें पण्डित लोग जिस प्रकार सप्तहोताओंके यज्ञका विधानसंयुक्त यह पुरातन इतिहास कहा करते हैं, उसे सुनो॥१॥

घ्राणं चक्षुश्च जिह्वा च त्वक्श्रोत्रं चैव पञ्चमम् ।
मनो बुद्धिश्च सप्तैते होतारः पृथगाश्रिताः ॥ २ ॥

नासिका, नेत्र, जिह्वा, त्वचा, पांचवां कान, मन और बुद्धि, येही सात होता हैं; ये पृथक् पृथक् स्थानमें निवास किया करते हैं ॥ २ ॥

सूक्ष्मेऽवकाशे सन्तस्ते न पश्यन्तीतरेतरम् ।
एतान्वै सप्तहोतॄंस्त्वं स्वभावाद्विद्धि शोभने ॥ ३ ॥

हे शोभने ! ये सातों होता सूक्ष्म शरीरमें निवास करते हुए परस्परमें परस्परका दर्शन नहीं करते हैं । तुम इन स्वभावसिद्ध सातों होताओंको विशेष रीतिसे मालूम करो ॥ ३ ॥

ब्राह्मण्युवाच—

सूक्ष्मेऽवकाशे सन्तस्ते कथं नान्योन्यदर्शिनः ।
कथंस्वभावा भगवन्नेतदाचक्ष्व मे विभो ॥ ४ ॥

ब्राह्मणी बोली– हे भगवन् ! वे सातों होता सूक्ष्म शरीरमें निवास करते हुए किस निमित्त परस्परमें परस्परका दर्शन नहीं करते ? विभो ! और उनके स्वभाव कैसे हैं ? यह विषय आप विस्तारपूर्वक मुझसे कहिये ॥ ४ ॥

ब्राह्मण उवाच—

गुणाज्ञानमविज्ञानं गुणज्ञानमभिज्ञता ।
परस्परगुणानेते न विजानन्ति कर्हिचित् ॥ ५ ॥

ब्राह्मण बोला– गुणोंको न जानना गुणवान्‌को न जानना है और गुणोंको जानना गुणवानको जानना है । घ्राण आदि सातों होताओंको निज निज गुणको ग्रहण करनेकी अभिज्ञता है, इसलिये वे परस्परमें परस्परके गुण कदापि नहीं जान सकते ॥ ५ ॥

जिह्वा चक्षुस्तथा श्रोत्रं त्वङ्मनो बुद्धिरेव च ।
न गन्धानधिगच्छन्ति घ्राणस्तानधिगच्छति ॥ ६ ॥

जिह्वा, नेत्र, कान, त्वचा, मन और बुद्धि ये गन्धोंको ग्रहण नहीं करते, केवल नासिका ही गन्धको ग्रहण किया करती है ॥ ६ ॥

घ्राणं चक्षुस्तथा श्रोत्रं त्वङ्मनो बुद्धिरेव च ।
न रसानधिगच्छन्ति जिह्वा तानधिगच्छति ॥ ७ ॥

नासिका, नेत्र, कान, त्वचा, मन और बुद्धि ये रसोंको नहीं जानते, केवल जिह्वा ही उसका स्वाद ले सकती है ॥ ७ ॥

घ्राणं जिह्वा तथा श्रोत्रं त्वङ्मनो बुद्धिरेव च ।
न रूपाण्यधिगच्छन्ति चक्षुस्तान्यधिगच्छति ॥ ८ ॥

नासिका, जिह्वा, कान, त्वचा, मन और बुद्धि ये रूपको ग्रहण नहीं करते, केवल नेत्र ही रूपको ग्रहण किया करते हैं ॥ ८ ॥

घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च श्रोत्रं बुद्धिर्मनस्तथा ।
न स्पर्शानधिगच्छन्ति त्वक्च तानधिगच्छति ॥ ९ ॥

नासिका, जिह्वा, नेत्र, कान, मन और बुद्धि, ये स्पर्शगुणको ग्रहण नहीं करते, केवल त्वचा ही उस स्पर्शगुणको ग्रहण किया करती है ॥ ९ ॥

घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वङ्मनो बुद्धिरेव च ।
न शब्दानधिगच्छन्ति श्रोत्रं तानधिगच्छति ॥ १० ॥

नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, मन और बुद्धि, ये शब्द गुणको ग्रहण नहीं करते, केवल कान ही उस शब्दगुणको ग्रहण किया करता है ॥ १० ॥

घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक्श्रोत्रं बुद्धिरेव च ।
संशयान्नाधिगच्छन्ति मनस्तानधिगच्छति ॥ ११ ॥

नासिका, जिह्वा, नेत्र त्वचा, कान और बुद्धि ये संशय गुणको ग्रहण नहीं करते, केवल मन ही उस संशयगुणको ग्रहण किया करता है ॥ ११ ॥

घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक्श्रोत्रं मन एव च ।
न निष्ठामधिगच्छन्ति बुद्धिस्तामधिगच्छति ॥ १२ ॥

नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, कान और मन ये निष्ठागुणको ग्रहण नहीं करते; केवल बुद्धिही उस निष्ठागुणको ग्रहण किया करती है ॥ १२ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
इन्द्रियाणां च संवादं मनसश्चैव भामिनि ॥ १३ ॥

हे भामिनि ! इस विषयमें पण्डित लोग मन और इन्द्रियोंके संवादयुक्त पुरातन इतिहासको कहा करते हैं, उसे सुनो ॥ १३ ॥

मन उवाच—

न घ्राति मामृते घ्राणं रसं जिह्वा न बुध्यते ।
रूपं चक्षुर्न गृह्णाति त्वक्स्पर्शं नावबुध्यते ॥ १४ ॥

मन बोला— मेरी सहाय्यताके बिना नासिका सूंघ नहीं सकती, जिह्वा रसका स्वाद नहीं ले सकती, नेत्र रूप नहीं देख सकता, त्वचा स्पर्शका अनुभव नहीं कर सकती ॥ १४ ॥

न श्रोत्रं बुध्यते शब्दं मया हीनं कथंचन ।
प्रवरं सर्वभूतानामहमस्मि सनातनम् ॥ १५ ॥

और कान शब्दको ग्रहण करनेमें किसी प्रकार समर्थ नहीं होते; इसलिये सब भूतोंके बीच मैं ही प्रधान तथा सनातन हूं ॥ १५ ॥

अगाराणीव शून्यानि शान्तार्चिष इवाग्नयः ।
इन्द्रियाणि न भासन्ते मया हीनानि नित्यशः ॥ १६ ॥

इन्द्रियां मुझसे रहित होनेपर शून्य गृह तथा बुझी लपटोंवाली अग्निकी भांति सदा प्रभा और शोभा हीन होती हैं ॥ १६ ॥

काष्ठानीवार्द्रशुष्काणि यतमानैरपीन्द्रियैः ।
गुणार्थान्नाधिगच्छन्ति मामृते सर्वजन्तवः ॥ १७ ॥

सब जीव मुझसे रहित होनेसे यतमान इन्द्रियोंके द्वारा आर्द्र तथा सूखे हुए काष्ठकी भांति गुणार्थोंको ग्रहण नहीं कर सकते ॥ १७ ॥

इन्द्रियाण्यूचुः—

एवमेतद्भवेत्सत्यं यथैतन्मन्यते भवान् ।
ऋतेऽस्मानस्मदर्थांस्तु भोगान्भुङ्क्ते भवान्यदि ॥ १८ ॥

इन्द्रियोंने कहा, आप जैसा समझते हैं, यदि सत्य ही यह इसी प्रकार हो, यदि आप हम लोगोंके बिना हमारे बिषयोंको भोग कर सकें ॥ १८ ॥

यद्यस्मासु प्रलीनेषु तर्पणं प्राणधारणम् ।
भोगान्भुङ्क्षे रसान्भुङ्क्षे यथैतन्मन्यते तथा ॥ १९ ॥

हमारे प्रलीन होनेपर यदि आप तृप्त रह सकें, प्राणधारण कर सकें, अपनी इच्छानुसार विषयोंको भोग करें और रसोंका स्वाद ले सकें,तो आप जैसा कहते और मानते हैं, वह सब सत्य है ॥ १९ ॥

अथ वास्मासु लीनेषु तिष्ठत्सु विषयेषु च ।
यदि संकल्पमात्रेण भुङ्क्ते भोगान्यथार्थवत् ॥ २० ॥

अथवा हमारे प्रलीन होने तथा विषयोंमें रत रहनेपर यदि आप यथार्थमें ही संकल्पमात्रसे विषयोंको भोगकर सकें ॥ २० ॥

अथ चेन्मन्यसे सिद्धिमस्मदर्थेषु नित्यदा ।
घ्राणेन रूपमादत्स्व रसमादत्स्व चक्षुषा ॥ २१ ॥

और हमारे बिपयमें आप अपने मनकी अभिलाषा सिद्ध करनेमें सदा समर्थ हों; तो आप नासिकासे रूपका अनुभव लीजिये, नेत्रसे रसका स्वाद लीजिये ॥ २१ ॥

+

श्रोत्रेण गन्धमादत्स्व निष्ठामादत्स्व जिह्वया ।
त्वचा च शब्दमादत्स्व बुद्ध्या स्पर्शमथापि च ॥ २२ ॥

कानसे गन्धको ग्रहण कीजिये, जिह्वासे निष्ठा, त्वचासे शब्द तथा बुद्धिसे स्पर्श ग्रहण करिये ॥ २२ ॥

बलवन्तो ह्यनियमा नियमा दुर्बलीयसाम् ।
भोगानपूर्वानादत्स्व नोच्छिष्टं भोक्तुमर्हसि ॥ २३ ॥

निर्बलोंके लिये ही नियम निर्धारित होते हैं, बलवान् लोगोंमें कुछ भी नियम विहित नहीं होते, आप हमारे जूठे भोजनके योग्य नहीं हैं, इसलिये आप यह सब अपूर्व भोग नयी पद्धतिसे ग्रहण करिये ॥ २३ ॥

यथा हि शिष्यः शास्तारं श्रुत्यर्थमभिधावति ।
ततः श्रुतमुपादाय श्रुतार्थमुपतिष्ठति ॥ २४ ॥

जैसे शिष्य वेदका अर्थ जाननेके लिये गुरुके समीप जाकर, उसके निकट श्रुतिके अर्थका ज्ञान ग्रहण करके उसके अर्थको अनुभव करता है और अनुसरण करता है ॥ २४ ॥

विषयानेवमस्माभिर्दर्शितानभिमन्यसे ।
अनागतानतीतांश्च स्वप्ने जागरणे तथा ॥ २५ ॥

वैसे ही स्वप्न और जाग्रत अवस्थामें अतीत और अनागत विषय हम लोगोंके द्वारा दर्शित होनेपर आप उन विषयोंका अनुभव किया करते हैं ॥ २५ ॥

वैमनस्यं गतानां च जन्तूनामल्पचेतसाम् ।
अस्मदर्थे कृते कार्ये दृश्यते प्राणधारणम् ॥ २६ ॥

और ऐसा देखा जाता है, कि हम लोगोंके निज निज अर्थ शब्दादि ग्रहण करनेपर, अल्पचित्त मनरहित प्राणियोंका प्राणधारण देखा जाता है ॥ २६ ॥

बहूनपि हि संकल्पान्मत्वा स्वप्नानुपास्य च ।
बुभुक्षया पीड्यमानो विषयानेव धावसि ॥ २७ ॥

सङ्कल्प पूर्ण करनेके हेतु बहुतसे स्वप्नोंको मननपूर्वक उसकी उपासना करते हुए भोग भोगनेकी इच्छासे पीडित होकर तू विषयोंकी ओर दौडता है ॥ २७ ॥

अगारमद्वारमिव प्रविश्य संकल्पभोगो विषयानविन्दन् ।
प्राणक्षये शान्तिमुपैति नित्यं दारुक्षयेऽग्निर्ज्वलितो यथैव ॥ २८ ॥

द्वाररहित गृहमें घुसे हुए मनुष्यकी भांति विषयोंसे निबद्ध सङ्कल्प भोग समूहोंका उपभोग करके, जिस प्रकार काष्ठ क्षय होनेसे प्रज्वलित अग्नि शान्त होजाती है, उस ही प्रकार प्राण शक्ति क्षीण होनेसे शान्तिको प्राप्त हुआ करता है ॥ २८ ॥

कामं तु नः स्वेषु गुणेषु संगः कामं च नान्योन्यगुणोपलब्धिः ।
अस्मानृते नास्ति तवोपलब्धिस्त्वामप्यृतेऽस्मान्न भजेत हर्षः ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि द्वाविंशोऽध्याय ॥ २२ ॥ ६४१ ॥

इच्छानुसार हम लोगोंकी निज निज गुणोंमें आसक्ति होती है, और परस्परके गुणोंको हम नहीं जान सकते; परन्तु यह सत्य है कि हमारी सहायताके बिना तुम किसी भी विषयका उपभोग नहीं ले सकते । तुम्हारे बिना हमें केवल आनन्दकी ही प्राप्ति नहीं होती ॥ २९ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें बाईसवां अध्याय समाप्त ॥ २२ ॥ ६४१ ॥

: २३ :

ब्राह्मण उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सुभगे पञ्चहोतॄणां विधानमिह यादृशम् ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोला– हे सुभगे ! पण्डित लोग पञ्च होताओंके यज्ञके विधानके विषयमें संवाद-युक्त यह पुरातन इतिहास कहा करते हैं ॥ १ ॥

प्राणापानावुदानश्च समानो व्यान एव च ।
पञ्चहोतॄनथैतान्वै परं भावं विदुर्बुधाः ॥ २ ॥

बुद्धिमान् लोग प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान इन पञ्च प्राणोंको पञ्च होता समझते तथा इनको परम श्रेष्ठ मानते हैं ॥ २ ॥

ब्राह्मण्युवाच—

स्वभावात्सप्त होतार इति मे पूर्विका मतिः ।
यथा वै पञ्च होतारः परो भावस्तथोच्यताम् ॥ ३ ॥

ब्राह्मणी बोली– पहले मैं स्वभावसिद्ध सप्त होता हैं ऐसा मानती थी, परन्तु अब पांच होता हैं, यह समझ गयी ! अब इस समय पञ्च होताओं और उनके परम तत्त्वोंको विस्तारपूर्वक कहिये ॥ ३ ॥

ब्राह्मण उवाच—

प्राणेन संभृतो वायुरपानो जायते ततः ।
अपाने संभृतो वायुस्ततो व्यानः प्रवर्तते ॥ ४ ॥

ब्राह्मण बोला– वायु प्राणसे पुष्ट होनेपर अपानरूपसे परिणत होता है, अनन्तर अपानसे पुष्ट होके व्यान रूप होता है ॥ ४ ॥

व्यानेन संभृतो वायुस्ततोदानः प्रवर्तते ।
उदाने संभृतो वायुः समानः संप्रवर्तते ॥ ५ ॥

और व्यानसे पुष्ट होकर उदानरूप तथा उदानसे पुष्ट होके समानरूपसे परिणत हुआ करता है ॥ ५ ॥

तेऽपृच्छन्त पुरा गत्वा पूर्वजातं प्रजापतिम् ।
यो नो ज्येष्ठस्तमाचक्ष्व स नः श्रेष्ठो भविष्यति ॥ ६ ॥

एक समय उन प्राणादि पञ्च वायुओंने एकत्रित होकर पूर्वजात प्रजापति ब्रह्मासे इस प्रकार पूछा । हे ब्रह्मन् ! आप बताइये, हम लोगोंके बीच श्रेष्ठ कौन है ? आप जिसे श्रेष्ठ कहेंगे, वही हम लोगोंमें श्रेष्ठ होगा ॥ ६ ॥

ब्रह्मोवाच—

यस्मिन्प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
यस्मिन्प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति स वै श्रेष्ठो गच्छत यत्र कामः ॥ ७ ॥

ब्रह्मा बोले— प्राणधारियोंके शरीरमें जिस प्राणके लय होनेसे सब प्राण ही प्रलीनताको प्राप्त होते हैं और जिस प्राणके संचरित होनेसे फिर सब प्रकाशित होते हैं, वही तुम लोगोंमें श्रेष्ठ है । इस समय तुम लोगोंकी जहां अभिलाष हो, वहां जाओ ॥ ७ ॥

प्राण उवाच—

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ ८ ॥

प्राण बोला— प्राणियोंके शरीरके बीच मेरे प्रलीन होनेसे सब प्राण ही प्रलीन होते हैं और मेरे संचरित होनेसे सभी प्रकाशित हुआ करते हैं । इसलिये मैं ही श्रेष्ठ हूं । देखो, इस समय मैं प्रलीन होता हूं, तुम सब कोई अवलोकन करो ॥ ८ ॥

ब्राह्मण उवाच—

प्राणः प्रलीयत ततः पुनश्च प्रचचार ह ।
समानश्चाप्युदानश्च वचोऽब्रूतां ततः शुभे ॥ ९ ॥

ब्राह्मण बोला— हे शुभे ! इतना कहकर प्राण प्रलीन होके पुनः संचरित होने लगा, तब समान और उदान वायु कहने लगे ॥ ९ ॥

न त्वं सर्वमिदं व्याप्य तिष्ठसीह यथा वयम् ।
न त्वं श्रेष्ठोऽसि नः प्राण अपानो हि वशे तव ।
प्रचचार पुनः प्राणस्तमपानोऽभ्यभाषत ॥ १० ॥

हे प्राण ! तुम हमारी भांति इस शरीरमें सर्वत्र व्याप्त रहनेमें अक्षम हो, इसलिये तुम हमसे श्रेष्ठ नहीं हो सकते, केवल अपान तुम्हारे वशमें है, इसलिये अपानके ही प्रभु हो सकते हो । प्राण इतनी बात सुनके फिर चलने लगा, तब अपान उससे कहने लगा ॥ १० ॥

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ ११ ॥

मेरे प्रलीन होनेसे प्राणियोंके शरीरमें स्थित सब प्राणही प्रलयको प्राप्त होते हैं और मेरे संचरित होनेसे सभी संचार करने लगते हैं, इसलिये मैंही सबसे श्रेष्ठ हूं । मैं प्रलीन होता हूं, तुम सब अवलोकन करो ॥ ११ ॥

व्यानश्च तमुदानश्च भाषमाणमथोचतुः ।
अपान न त्वं श्रेष्ठोऽसि प्राणो हि वशगस्तव ॥ १२ ॥

अनन्तर व्यान और उदान पूर्वोक्त बात करनेवाले अपानसे बोले, हे अपान ! केवल प्राणही तुम्हारे वशवर्ती है, इसलिये तुम हम लोगोंसे श्रेष्ठ नहीं हो ॥ १२ ॥

अपानः प्रचचाराथ व्यानस्तं पुनरब्रवीत् ।
श्रेष्ठोऽहमस्मि सर्वेषां श्रूयतां येन हेतुना ॥ १३ ॥

यह सुनकर अपानके प्रकाशित होनेपर व्यान उससे फिर कहने लगा, कि मैं सबसे श्रेष्ठ हूं; जिस कारण श्रेष्ठ हूं उसे सुनो ॥ १३ ॥

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ १४ ॥

मेरे प्रलीन होनेसे प्राणियोंके शरीरके बीच स्थित सब प्राणही प्रलयको प्राप्त होते हैं और मेरे संचरित होनेसे सभी संचार करने लगते हैं, इसलिये मैंही सबसे श्रेष्ठ हूं । अब मैं प्रलीन होता हूं, तुम सब कोई अवलोकन करो ॥ १४ ॥

प्रालीयत ततो व्यानः पुनश्च प्रचचार ह ।
प्राणापानावुदानश्च समानश्च तमब्रुवन् ।
न त्वं श्रेष्ठोऽसि नो व्यान समानो हि वशे तव ॥ १५ ॥

अनन्तर व्यान प्रलीन होके पुनः प्रकाशित हुआ; तब प्राण, अपान, उदान और समान उससे कहने लगे– हे व्यान ! तुम हमारेसे श्रेष्ठ नहीं हो सकते, केवल समान वायु तुम्हारे वशमें है ॥ १५ ॥

प्रचचार पुनर्व्यानः समानः पुनरब्रवीत् ।
श्रेष्ठोऽहमस्मि सर्वेषां श्रूयतां येन हेतुना ॥ १६ ॥

यह सुनकर व्यान फिर प्रचरित हुआ, तब समानने फिर कहा– जिसलिये मैं सबसे श्रेष्ठ हूं, उसे तुम लोग सुनो ॥ १६ ॥

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ १७ ॥

मेरे प्रलीन होनेसे प्राणियोंके शरीरके बीच स्थित सभी प्राण प्रलयको प्राप्त होते हैं और मेरे प्रगट होनेपर सभी प्रादुर्भूत होकर संचार करने लगते हैं, इसलिये मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूं ॥१७॥

ततः समानः प्रालिल्ये पुनश्च प्रचचार ह ।
प्राणापानावुदानश्च व्यानश्चैव तमब्रुवन् ।
समान न त्वं श्रेष्ठोऽसि व्यान एव वशे तव ॥ १८ ॥

इस समय मैं प्रलीन होता हूं, तुम अवलोकन करो । यह कहकर समान लीन हो गया और फिर चलने लगा, तब प्राण, अपान, उदान और व्यान उससे बोले– समान, तू हमसे श्रेष्ठ नहीं है, केवल व्यान ही तेरे वशमें है ॥ १८ ॥

समानः प्रचचाराथ उदानस्तमुवाच ह ।
श्रेष्ठोऽहमस्मि सर्वेषां श्रूयतां येन हेतुना ॥ १९ ॥

अनन्तर समानके पूर्ववत् प्रकाशित होनेपर उदान उससे कहने लगा, कि मैं जिस निमित्त सबसे श्रेष्ठ हूं उसका कारण सुनो ॥ १९ ॥

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ २० ॥

मेरे प्रलीन होनेसे प्राणियोंके शरीरके बीच स्थित सभी प्राण प्रलयको प्राप्त होते हैं और मेरे प्रगट होनेपर सब फिर प्रादूर्भूत हुआ करते हैं, इसलिये मैंही सबसे श्रेष्ठ हूं । मैं प्रलीन होता हूं, तुम लोग देखो ॥ २० ॥

ततः प्रालीयतोदानः पुनश्च प्रचचार ह ।
प्राणापानौ समानश्च व्यानश्चैव तमब्रुवन् ।
उदान न त्वं श्रेष्ठोऽसि व्यान एव वशे तव ॥ २१ ॥

तिसके अनन्तर यह सुनकर उदान प्रलीन हो गया और फिर प्रगट हो गया । तब प्राण, अपान, समान और व्यान उससे बोले, हे उदान! केवल व्यान तुम्हारे वशवर्ती है, इसलिये हम लोगोंसे तुम श्रेष्ठ नहीं हो सकते ॥ २१ ॥

ततस्तानब्रवीद्ब्रह्मा समवेतान्प्रजापतिः ।
सर्वे श्रेष्ठा न वा श्रेष्ठाः सर्वे चान्योन्यधर्मिणः ।
सर्वे स्वविषये श्रेष्ठाः सर्वे चान्योन्यरक्षिणः ॥ २२ ॥

तिसके अनन्तर वे सब प्राण मिलकर ब्रह्माजीके पास गये, तब प्रजापति ब्रह्मा उन प्राणादि वायुसे बोले, तुम सब निज निज विषयमें श्रेष्ठ हो और परस्परमें परस्परके रक्षित हो; परन्तु परस्परमें कोई किसीसे श्रेष्ठ नहीं हो सकते ॥ २२ ॥

एकः स्थिरश्चास्थिरश्च विशेषात्पञ्चवायवः ।
एक एव ममैवात्मा बहुधाप्युपचीयते ॥ २३ ॥

जैसे एक ही प्राण स्थिर और अस्थिर रूपसे उपस्थित है, उसीके विशेष भेदसे पांच वायु होते हैं । उसही भांति एकही मेरा आत्मा उपाधिभेदसे बहुरूपी हुआ करता है ॥ २३ ॥

परस्परस्य सुहृदो भावयन्तः परस्परम् ।
स्वस्ति व्रजत भद्रं वो धारयध्वं परस्परम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥ ६६५ ॥

परस्परमें परस्परके सुहृत् होकर परस्परको धारण करनेमें तुम लोगोंका मङ्गल है । तुम लोग इस समय आपसका विरोध त्यागके कुशलतापूर्वक गमन करो, तुम लोगोंका मङ्गल हो ॥ २४ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें तेईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २३ ॥ ६६५ ॥

: २४ :

ब्राह्मण उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादमृषेर्देवमतस्य च ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोला— इस विषयमें पण्डित लोग देवमत ऋषि और नारदके संवादयुक्त यह प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

देवमत उवाच—

जन्तोः संजायमानस्य किं नु पूर्वं प्रवर्तते ।
प्राणोऽपानः समानो वा व्यानो वोदान एव च ॥ २ ॥

देवमत बोले— हे नारद ! उत्पन्न होनेवाले जीवके विषयमें प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान, इन पञ्चवायुके बीच प्रथम कौनसा प्रवृत्त होता है ? ॥ २ ॥

नारद उवाच—

येनायं सृज्यते जन्तुस्ततोऽन्यः पूर्वमेति तम् ।
प्राणद्वंद्वं च विज्ञेयं तिर्यगं चोर्ध्वगं च यत् ॥ ३ ॥

नारद मुनि बोले— जीव किस कारणसे उत्पन्न होता है, उत्पत्तिके पहले उसी कारणसे अन्य कोई वस्तु संयुक्त होती है, वह प्राणोंका द्वंद्व है, जो तिर्यक् (मनुष्यलोक) और ऊर्ध्व (देवलोक) में व्याप्त है, ऐसा मानना चाहिये ॥ ३ ॥

देवमत उवाच—

केनायं सृज्यते जन्तुः कश्चान्यः पूर्वमेति तम् ।
प्राणद्वंद्वं च मे ब्रूहि तिर्यगूर्ध्वं च निश्चयात् ॥ ४ ॥

देवमत बोले– जीव कहाँसे किस कारणसे उत्पन्न होता है, उससे भिन्न कौन पहले प्राप्त होता है और तिर्यक्, ऊर्ध्व इन सबका रूप तथा प्राणद्वन्द्व क्या है ? यह तुम सब मुझसे विशेष रीतिसे कहिये ॥ ४ ॥

नारद उवाच—

संकल्पाज्जायते हर्षः शब्दादपि च जायते ।
रसात्संजायते चापि रूपादपि च जायते ॥ ५ ॥

नारद मुनि बोले– संकल्पसे हर्ष उत्पन्न होता है, वैदिक शब्दसे, रससे और रूपसे भी हर्षकी उत्पत्ति होती है ॥ ५ ॥

स्पर्शात्संजायते चापि गन्धादपि च जायते ।
एतद्रूपमुदानस्य हर्षो मिथुनसंभवः ॥ ६ ॥

स्पर्शसे तथा गन्धसे भी हर्षकी उत्पत्ति होती है । यह उदानका रूप है । मिथुनके कारण हर्षकी उत्पत्ति होती है, मिथुनमें वह व्याप्त है ॥ ६ ॥

कामात्संजायते शुक्रं कामात्संजायते रसः ।
समानव्यानजनिते सामान्ये शुक्रशोणिते ॥ ७ ॥

कामसे वीर्य उत्पन्न होता है, कामसे रस उत्पन्न होता है । वे दोनों शुक्र और शोणित समान और व्यानसे उत्पन्न होते हैं । इस कारण सामान्य कहे जाते हैं ॥ ७ ॥

शुक्राच्छोणितसंसृष्टात्पूर्वं प्राणः प्रवर्तते ।
प्राणेन विकृते शुक्रे ततोऽपानः प्रवर्तते ॥ ८ ॥

अनन्तर शोणित संसृष्ट अर्थात् वासनामिश्रित शुक्ररूप अदृष्टसे पहले प्राण प्रवृत्त होता है, फिर शुक्ररूप अदृष्टके प्राणसे विकृत होनेपर अपान प्रवृत्त होता है ॥ ८ ॥

प्राणापानाविदं द्वंद्वमवाक्चोर्ध्वं च गच्छतः ।
व्यानः समानश्चैवोभौ तिर्यग्द्वंद्वत्वमुच्यते ॥ ९ ॥

प्राण और अपान इस काम प्रवृत्याख्य द्वन्द्वको प्राप्त होकर, जीव उपाधि ग्रहण करते हुए ऊपर नीचे गमन करते हैं; उक्त रीतिके अनुसारही व्यान और समान मध्यगामी द्वंद्व कहे जाते हैं ॥ ९ ॥

अग्निर्वै देवताः सर्वा इति वेदस्य शासनम् ।
संजायते ब्राह्मणेषु ज्ञानं बुद्धिसमन्वितम् ॥ १० ॥

वेदाज्ञानुसार अग्निही संपूर्ण देवता हैं, उस परमात्मारूप अग्निसे ब्राह्मणोंमें बुद्धियुक्त ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है ॥ १० ॥

तस्य धूमस्तमोरूपं रजो भस्म सुरेतसः ।
सत्त्वं संजायते तस्य यत्र प्रक्षिप्यते हविः ॥ ११ ॥

उस उत्तम वीर्ययुक्त अग्निका धूप तमोरूप और भस्म रजोरूप है; जिसमें हविरूपी भोगवस्तुएं डाली जाती हैं । उसही अग्निसे सबकी उत्पत्ति हुआ करती है ॥ ११ ॥

आघारौ समानो व्यानश्च इति यज्ञविदो विदुः ।
प्राणापानावाज्यभागौ तयोर्मध्ये हुताशनः ।
एतद्रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ॥ १२ ॥

समान और व्यान बुद्धि सत्त्वसे उत्पन्न होते हैं, यह यज्ञवेत्ता ऋषियोंका अनुभव निश्चित है। प्राण और अपान आज्यभाग हैं, उस प्राणापानके बीच वह परमात्मारूप अग्नि विद्यमान रहती है । ब्राह्मण लोग उदानके इस श्रेष्ठ रूपको बोध करते हैं ॥ १२ ॥

निर्द्वंद्वमिति यत्त्वेतत्तन्मे निगदतः शृणु ॥ १३ ॥

परन्तु यह जो निर्द्वन्द्व कहा गया है, उसे मैं कहता हूं, तुम सावधानतासे मेरे निकट सुनो ॥ १३ ॥

अहोरात्रमिदं द्वंद्वं तयोर्मध्ये हुताशनः ।
एतद्रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ॥ १४ ॥

ये दिन और रात द्वन्द्व हैं, उनके बीच वह परमात्मारूप अग्नि विद्यमान रहती है; ब्राह्मणगण इसीको उदानका उत्कृष्ट रूप मानते हैं ॥ १४ ॥

उभे चैवायने द्वंद्वं तयोर्मध्ये हुताशनः ।
एतद्रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ॥ १५ ॥

सत् और असत् ये दोनों द्वन्द्व हैं और इनके बीच परमात्मारूपी अग्नि विद्यमान रहती है; ब्राह्मणगण उदानके इस रूपको परब्रह्म बोध करते हैं ॥ १५ ॥

उभे सत्यानृते द्वंद्वं तयोर्मध्ये हुताशनः ।
एतद्रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ॥ १६ ॥

सत्य और असत्य ये दोनों द्वन्द्व हैं । इनके बीच अग्नि है । ब्राह्मणोंने उदानका यह श्रेष्ठ रूप माना है ॥ १६ ॥

*

उभे शुभाशुभे द्वंद्वं तयोर्मध्ये हुताशनः ।
एतद्रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ॥ १७ ॥

शुभ और अशुभ दोनों द्वन्द्व है। इनके बीच हुताशन है। ब्राह्मणोंने उदानका यह परमरूप माना है ॥ १७ ॥

सच्चासच्चैव तद्द्वंद्वं तयोर्मध्ये हुताशनः
एतद्रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ॥ १८ ॥

सत् और असत् ये दोनों द्वन्द्व है, हुताशन उनके मध्यमें है। उदानका यह परम रूप ब्राह्मणोंने माना है ॥ १८ ॥

प्रथमं समानो व्यानो व्यस्यते कर्म तेन तत् ।
तृतीयं तु समानेन पुनरेव व्यवस्यते ॥ १९ ॥

वह प्रथम जो सङ्कल्पाख्य हेतुके द्वारा समान और व्यानरूपसे उत्पन्न होता है, उस संकल्पसे ही कर्म विस्तृत हुआ करता है। जाग्रत और सुषुप्तिके अतिरिक्त जो तीसरी अवस्था है, उससे संबंधित ब्रह्मका समानके द्वाराही निश्चय होता है ॥ १९ ॥

शान्त्यर्थं वामदेवं च शान्तिर्ब्रह्म सनातनम् ।
एतद्रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥ ६८५ ॥

शान्तिके निमित्त एक मात्र वामदेव है, शान्ति सनातन ब्रह्म है। ब्राह्मणगण उदानके इस हर्षरूपको परब्रह्म कहके बोध किया करते हैं ॥ २० ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें चौवीसवां अध्याय समाप्त ॥ २४ ॥ ॥ ६८५ ॥

: २५ :

ब्राह्मण उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
चातुर्होत्रविधानस्य विधानमिह यादृशम् । ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोला— इस विषयमें पण्डित लोग चातुर्होत्रविधानकी विधिसंयुक्त पुराने इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

तस्य सर्वस्य विधिवद्विधानमुपदेक्ष्यते ।
शृणु मे गदतो भद्रे रहस्यमिदमुत्तमम् ॥ २ ॥

हे भद्रे ! मैं वह सब विधान विधिपूर्वक वर्णन करता हूं, तुम मेरे मुखसे यह अद्भुत रहस्य सुनो ॥ २ ॥

करणं कर्म कर्ता च मोक्ष इत्येव भामिनि ।
चत्वार एते होतारो यैरिदं जगदावृतम् ॥ ३ ॥

हे भामिनी ! करण, कर्म, कर्ता और मोक्ष, ये चारों होता हैं, जिनके द्वारा यह जगत् आवृत हो रहा है ॥ ३ ॥

होतॄणां साधनं चैव शृणु सर्वमशेषतः ।
घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक्च श्रोत्रं च पञ्चमम् ।
मनो बुद्धिश्च सप्तैते विज्ञेया गुणहेतवः ॥ ४ ॥

इस समय युक्तिबल अवलम्बन करके होताओंके साधनको विशेषरूपसे कहता हूं, वह सब पूर्णतः सुनो । नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, पांचवां कान, मन और बुद्धि- ये सात कारणरूप हेतु गुण हैं ॥ ४ ॥

गन्धो रसश्च रूपं च शब्दः स्पर्शश्च पञ्चमः ।
मन्तव्यमथ बोद्धव्यं सप्तैते कर्महेतवः ॥ ५ ॥

गन्ध, रस, रूप, शब्द, पांचवा स्पर्श, मन्तव्य और बोद्धव्य, ये सात कर्मरूप हेतु हैं ॥५॥

घ्राता भक्षयिता द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता च पञ्चमः ।
मन्ता बोद्धा च सप्तैते विज्ञेयाः कर्तृहेतवः ॥ ६ ॥

सूंघनेवाला, खानेवाला, देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला, पांचवा सुननेवाला, मनन करनेवाला और बोध प्राप्त करनेवाला- ये सात कर्तृत्वादिके हेतु हैं ॥ ६ ॥

स्वगुणं भक्षयन्त्येते गुणवन्तः शुभाशुभम् ।
अहं च निर्गुणोऽनन्तः सप्तैते मोक्षहेतवः ॥ ७ ॥

ये घ्राता प्रेरित सातों उपाधिरूप घ्रातृत्वादि-प्राण आदि इन्द्रियां धर्मविशिष्ट होकर निज निज शुभाशुभ गन्ध आदि गुणोंका भोग किया करती हैं; परन्तु गन्धादिका प्रमाता असत् शब्द वाच्यमें मैं निर्गुण और अनन्त हूं, और ये घ्रातादि निज निज उपाधि तथा घ्रातृत्वादि अभिमान परित्याग करके चिन्मात्ररूपसे स्थित होनेपर मोक्षके हेतु होते हैं ॥ ७ ॥

विदुषां बुध्यमानानां स्वं स्वं स्थानं यथाविधि ।
गुणास्ते देवताभूताः सततं भुञ्जते हविः ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् तत्त्वज्ञानियोंके नासिका आदि इन्द्रियाँ निज निज अधिष्ठानको विधिपूर्वक जानती हैं और देवतारूप होकर नियमानुसार सदा घ्रेयादि विषयोंके हविष्यका भोग किया करती हैं ॥ ८ ॥

अदन्ह्यविद्वानन्नानि ममत्वेनोपपद्यते ।
आत्मार्थं पाचयन्नित्यं ममत्वेनोपहन्यते ॥ ९ ॥

अज्ञ पुरुष अन्न भोजन करते समय उसके प्रति ममत्वसे युक्त होता है, वैसे जो पुरुष अपने लिये सदा भोजन पकाता है, वह ममतासे नष्ट होता है ॥ ९ ॥

अभक्ष्यभक्षणं चैव मद्यपानं च हन्ति तम् ।
स चान्नं हन्ति तच्चान्नं स हत्वा हन्यते बुधः ॥ १० ॥

अभक्ष्य भक्षण और मद्यपानके दुर्व्यसन उसको नष्ट किया करते हैं, वह अन्न भोजन करके उस अन्नकी हत्या करता है और वह उसकी हत्या करके स्वयं उसके द्वारा मारा जाता है ॥ १० ॥

अत्ता ह्यन्नमिदं विद्वान्पुनर्जनयतीश्वरः ।
स चान्नाज्जायते तस्मिन्सूक्ष्मो नाम व्यतिक्रमः ॥ ११ ॥

जो विद्वान् इस अन्नको खाता है, वह ईश्वर–सर्व समर्थ होकर फिर अन्न आदिको उत्पन्न करता है । उस अन्नसे उस विद्वान्में कोई सूक्ष्म भी दोष उत्पन्न नहीं होता ॥ ११ ॥

मनसा गम्यते यच्च यच्च वाचा निरुद्यते ।
श्रोत्रेण श्रूयते यच्च चक्षुषा यच्च दृश्यते ॥ १२ ॥

मन आदि छः इन्द्रियोंका निग्रह करनेपर, जो मनसे जाना जाता है, जो वाणीसे कहा जाता है, जो कानसे सुना जाता है, जो नेत्रसे देखा जाता है ॥ १२ ॥

स्पर्शेन स्पृश्यते यच्च घ्राणेन घ्रायते च यत् ।
मनःषष्ठानि संयम्य हवींष्येतानि सर्वशः ॥ १३ ॥

जो स्पर्शसे स्पृष्ट होता और जो नासिकासे सूंघा जाता है; इन मन आदि छहों हविष्योंका संयमपूर्वक अपनेमें होम करना चाहिये ॥ १३ ॥

गुणवत्पावको मह्यं दीप्यते हव्यवाहनः ।
योगयज्ञः प्रवृत्तो मे ज्ञानब्रह्ममनोद्भवः ।
प्राणस्तोत्रोऽपानशस्त्रः सर्वत्यागसुदक्षिणः ॥ १४ ॥

गुणविशिष्ट पावक कारण ब्रह्म हव्यवाहन अग्नि मेरे भीतर प्रकाशित हो रहे हैं । मैंने योग-रूपी यज्ञके व्रतका आरम्भ किया है; इस यज्ञकी उत्पत्ति ज्ञानमय परब्रह्म परमात्माको प्रकाशित करती है । इसमें प्राण स्तोत्र, अपान शस्त्र और सर्वस्वत्याग ही उत्तम दक्षिणा है ॥ १४ ॥

कर्मानुमन्ता ब्रह्मा मे कर्ताध्वर्युः कृतस्तुतिः ।
कृतप्रशास्ता तच्छास्त्रमपवर्गोऽस्य दक्षिणा ॥ १५ ॥

योगियोंका कर्ता (अहङ्कार), अनुमन्ता (मन) और ब्रह्मा (बुद्धि) ये तीनों ब्रह्मरूप होकर क्रमसे मुझमें होता, अध्वर्यु और उद्गाता हुआ करते हैं; उत्तम कर्म ही उसका शस्त्र और कैवल्य उस यज्ञकी दक्षिणा हुआ करती है ॥ १५ ॥

ऋचश्चाप्यत्र शंसन्ति नारायणविदो जनाः ।
नारायणाय देवाय यदबध्नन्पशून्पुरा ॥ १६ ॥

नारायणको जाननेवाले पुरुष इस ही यज्ञमें ऋक् पाठ करते हैं और नारायण देवकी प्राप्तिके लिये उन्होंने इन्द्रियरूपी पशुओंको अपने बंधनमें रखा था ॥ १६ ॥

तत्र सामानि गायन्ति तत्र चाहुर्निदर्शनम् ।
देवं नारायणं भीरु सर्वात्मानं निबोध मे ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि पंचविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥ ७०१ ॥

हे भीरु ! इस यज्ञमें योगी लोग जिसके उद्देश्यसे सामगान करते हैं और जिसमें दृष्टान्त-स्वरूपसे जिसका कीर्तन करते हैं, उस सर्वात्मा नारायणदेवको तुम जान लो ॥ १७ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें पच्चीसवां अध्याय समाप्त ॥ २५ ॥ ७०२ ॥

: २६ :

ब्राह्मण उवाच—

एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता यथा नियुक्तोऽस्मि तथा चरामि
हृद्येष तिष्ठन्पुरुषः शास्ति शास्ता तेनैव युक्तः प्रवणादिवोदकम् ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोला– हे भामिनि ! वह नारायणदेव ही जगत्‌का एक मात्र शास्ता है, उसके अतिरिक्त दूसरा और कोई भी शास्ता नहीं है । मैं उस नारायणके द्वारा जिस प्रकार उक्त तथा नियुक्त होता हूं, वैसा ही चलता रहता हूं । यह पुरुष हृदयमें रहता हुआ शास्ता होकर सब शासन करता है, जैसे जल उंचे स्थानसे नीचेकी ओर बहता है ॥ १ ॥

एको गुरुर्नास्ति ततो द्वितीयो यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तेनानुशिष्टा गुरुणा सदैव पराभूता दानवाः सर्व एव ॥ २ ॥

जो जीवोंके हृदयके बीच वास करता है, वह नारायणदेव परमात्मा ही एकमात्र गुरु है, उसके अतिरिक्त दूसरा गुरु और कोई भी नहीं है; मैं उसका ही विषय तुमसे कहता हूं, उसी गुरुके आदेशसे सदैव सब दानव पराभूत हुए हैं ॥ २ ॥

एको बन्धुर्नास्ति ततो द्वितीयो यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तेनानुशिष्टा बान्धवा बन्धुमन्तः सप्तर्षयः सप्त दिवि प्रभान्ति ॥ ३ ॥

जो प्राणियोंके हृदयकमलमें निवास करता है, वह नारायणदेव परमात्मा ही एकमात्र बन्धु है, जिसके अतिरिक्त दूसरा बन्धु और कोई भी नहीं है, मैं उसहीका विषय तुमसे कहता हूं। उसीके आदेशसे बान्धव बन्धुवन्त होते हैं और सप्तर्षि आकाशमण्डलमें प्रकाशित हुआ करते हैं ॥ ३ ॥

एकः श्रोता नास्ति ततो द्वितीयो यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तस्मिन्गुरौ गुरुवासं निरुष्य शक्रो गतः सर्वलोकामरत्वम् ॥ ४ ॥

जो सब भूतोंके हृदयकमलमें निवास करता है, वह नारायणदेव परमात्मा ही एकमात्र श्रोता है, उसके अतिरिक्त दूसरा श्रोता और कोई भी नहीं है। मैं उसका ही विषय तुम्हारे समीप कहता हूं। इन्द्रने उसीको गुरु मानकर उसीके निकट सदा बास करके, सब लोगोंका साम्राज्य और अमरत्व लाभ किया है ॥ ४ ॥

एको द्वेष्टा नास्ति ततो द्वितीयो यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तेनानुशिष्टा गुरुणा सदैव लोकद्विष्टाः पन्नगाः सर्व एव ॥ ५ ॥

जो सब प्राणियोंके अन्तरमें निवास करता है, वह नारायणदेव परमात्मा ही एकमात्र द्वेष्टा है, उसके अतिरिक्त दूसरा और कोई भी द्वेष्टा नहीं है, मैं उसहीका विषय तुमसे कहता हूं; उसी गुरुकी प्रेरणासे जगत्में दोषवान् पुरुष सर्पतुल्य कहके परिगणित हुआ करते हैं ॥ ५ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रजापतौ पन्नगानां देवर्षीणां च संविदम् ॥ ६ ॥

सर्पों और देवर्षियोंने प्रजापतिके निकट जो कहा था, पण्डित लोग इस स्थलमें उस ही संवादयुक्त यह पुराना इतिहास कहा करते हैं ॥ ६ ॥

देवर्षयश्च नागाश्च असुराश्च प्रजापतिम् ।
पर्यपृच्छन्नुपासीनाः श्रेयो नः प्रोच्यतामिति ॥ ७ ॥

देवता, ऋषि, नाग और असुरवृन्द प्रजापतिके निकट जाकर बैठके उनसे बोले– हे भगवन्! हम लोगोंका जिससे कल्याण हो, आप हमारे लिये वही विषय कहिये ॥ ७ ॥

तेषां प्रोवाच भगवाञ्श्रेयः समनुपृच्छताम् ।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ते श्रुत्वा प्राद्रवन्दिशः ॥ ८ ॥

कल्याणकी बात पूंछनेवाले उनसे भगवान् प्रजापति बोले– ओंकार स्वरूप एकाक्षर ब्रह्म ही एकमात्र कल्याणकारी है; वे लोग इतना बचन सुनके अनेक दिशाओंमें भाग गये ॥ ८ ॥

तेषां प्राद्रवमाणानामुपदेशार्थमात्मनः ।
सर्पाणां दशने भावः प्रवृत्तः पूर्वमेव तु ॥ ९ ॥

निज उपदेश ओंकारात्मक एकाक्षर ब्रह्मका यथार्थ अर्थ ग्रहण करनेमें असमर्थ होकर भागनेवाले उनके बीच पहले सर्पवृन्द ओंकार उच्चारणमें निज मुख उन्मीलन और निमीलन होनेसे अपने स्वभावज मुखोन्मीलनसाध्य दंशनको ही कल्याणकारी समझकर दंशन विषयमें ही प्रवृत्त हुए ॥ ९ ॥

असुराणां प्रवृत्तस्तु दम्भभावः स्वभावजः ।
दानं देवा व्यवसिता दममेव महर्षयः ॥ १० ॥

अनन्तर दानबदलने ओंकार उच्चारणमें ओष्ठचालन होनेसे दम्भको ही कल्याणकारी समझके दम्भभावका ही अवलंबन किया । देवताओंने ओंकारका अर्थ प्रार्थित वस्तुका स्वीकार जानके दानव्यवसाय और महर्षियोंने ओंकारके उच्चारणमें ओष्ठ प्रभृतिका उपसंहार देखकर सब प्रवृत्तियोंके उपसंहारके हेतु दमको कल्याणकारी जानके दमको ही अवलम्बन किया ॥ १० ॥

एकं शास्तारमासाद्य शब्देनैकेन संस्कृताः ।
नाना व्यवसिताः सर्वे सर्पदेवर्षिदानवाः ॥ ११ ॥

देव, ऋषि, दानव और सर्पवृन्दने एक मात्र उपदेशक गुरु पाके एक शब्दसे उपदिष्ट-संस्कारित होकर भी अनेक व्यवसायमें प्रवृत्त हुए ॥ ११ ॥

शृणोत्ययं प्रोच्यमानं गृह्णाति च यथातथम् ।
पृच्छतस्तावतो भूयो गुरुरन्योऽनुमन्यते ॥ १२ ॥

शिष्य गुरुके उपदेशको सुनता है, और उसको यथार्थ रूपसे ग्रहण करता है । इसलिये प्रश्न पूछनेवाले शिष्यको स्वयंके आत्मा सिवाय बढकर दूसरा कोई गुरु नहीं है ॥ १२ ॥

तस्य चानुमते कर्म ततः पश्चात्प्रवर्तते ।
गुरुर्बोद्धा च शत्रुश्च द्वेष्टा च हृदि संश्रितः ॥ १३ ॥
पापेन विचरँल्लोके पापचारी भवत्ययम् ।
शुभेन विचरँल्लोके शुभचारी भवत्युत ॥ १४ ॥

इसलिये पहले इसकी आज्ञानुसार वह कर्मका अनुमोदन करता है, फिर सब कर्म प्रवृत्त तथा सम्पादित हुआ करते । यह हृदयमें रहनेवाला परमात्मा ही गुरु, बोद्धा, श्रोता और द्वेष्टा है, इस लोकमें वह पाप करते हुए विचरनेसे पापाचारी, और शुभमार्गसे आचरण करनेपर शुभाचारी, कहा जाता है ॥ १३–१४ ॥

कामचारी तु कामेन य इन्द्रियसुखे रतः ।
व्रतचारी सदैवैष य इन्द्रियजये रतः ॥ १५ ॥

इन्द्रियसुखमें रत होकर कामपथसे विचरनेपर कामचारी और इन्द्रियोंको जीतनेमें रत होकर ब्रह्मपथसे विचरनेसे सदा ब्रह्मचारी हुआ करता है ॥ १५ ॥

अपेतव्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणि श्रितः ।
ब्रह्मभूतश्चरँल्लोके ब्रह्मचारी भवत्ययम् ॥ १६ ॥

जो इस लोकमें व्रतादि कर्मोंका परित्याग कर केवल ब्रह्ममार्गका आश्रय करता है, वह ब्रह्मस्वरूप होकर जगत्में विचरता रहता है, वही ब्रह्मचारी है ॥ १६ ॥

ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्निर्ब्रह्मसंस्तरः ।
आपो ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहितः ॥ १७ ॥

उसके लिये ब्रह्म ही समिधा, ब्रह्म ही अग्नि, ब्रह्मही यज्ञ, ब्रह्म ही जल और ब्रह्म ही गुरु है, वह सदा ब्रह्ममें लीन रहता है ॥ १७ ॥

एतदेतादृशं सूक्ष्मं ब्रह्मचर्यं विदुर्बुधाः ।
विदित्वा चान्वपद्यन्त क्षेत्रज्ञेनानुदर्शिनः ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥ ७२० ॥

पण्डित लोग ऐसे कार्यको ही सूक्ष्म ब्रह्मचर्य कहते हैं और वे तत्त्वदर्शी गुरुके द्वारा इस ही प्रकार शिक्षित होकर ब्रह्मज्ञान लाभ करके ब्रह्मको पाते हैं ॥ १८ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें छब्बीसवां अध्याय समाप्त ॥ २६ ॥ ७२० ॥

: २७ :

ब्राह्मण उवाच—

संकल्पदंशमशकं शोकहर्षहिमातपम् ।
मोहान्धकारतिमिरं लोभव्यालसरीसृपम् ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोला— हे सुभगे ! सङ्कल्प जिस पथमें डांस और मच्छर हैं, शोक और हर्ष जिसमें सर्दी तथा गर्मी हैं, मोह जिसमें अन्धकार, लोभ और व्याधि जिसमें सर्प रूपमें विचरण करते हैं ॥ १ ॥

विषयैकात्ययाध्वानं कामक्रोधविरोधकम् ।
तदतीत्य महादुर्गं प्रविष्टोऽस्मि महद्वनम् ॥ २ ॥

विषय जिसमें एकमात्र मार्ग है, जो अकेले ही काटना पडता है, काम और क्रोध जिसमें प्रतिबन्धक शत्रु हैं, मैं उस महादुर्गम संसारमार्गको अतिक्रम करके ब्रह्मरूपी महावनमें प्रविष्ट हुआ हूं ॥ २ ॥

ब्राह्मण्युवाच—

क तद्वनं महाप्राज्ञ के वृक्षाः सरितश्च काः ।
गिरयः पर्वताश्चैव कियत्यध्वनि तद्वनम् ॥ ३ ॥

ब्राह्मणी बोली— हे महाप्राज्ञ ! वह वन कहां है और उस वनके कौनसे वृक्ष, नदी, गिरि और पर्वत हैं और वह कितनी दूरीपर है ? ॥ ३ ॥

ब्राह्मण उवाच—

न तदस्ति पृथग्भावे किंचिदन्यत्ततः समम् ।
न तदस्त्यपृथग्भावे किंचिद्दूरतरं ततः ॥ ४ ॥

ब्राह्मण बोला— उस वनमें भेद और अभेद नहीं है, वह इन दोनोंसे अतीत है । वहां समत्व और दूरत्वका अभाव है ॥ ४ ॥

तस्माद्ध्रस्वतरं नास्ति न ततोऽस्ति बृहत्तरम् ।
नास्ति तस्माद्दुःखतरं नास्त्यन्यत्तत्समं सुखम् ॥ ५ ॥

उससे अधिक छोटी, अधिक बडी वा अधिक दुःखपूर्ण दूसरी कोई वस्तु नहीं है और उसके समान दूसरा कोई सुख नहीं है ॥ ५ ॥

न तत्प्रविश्य शोचन्ति न प्रहृष्यन्ति च द्विजाः ।
न च बिभ्यति केषांचित्तेभ्यो बिभ्यति के च न ॥ ६ ॥

द्विजगण उस बनके बीच प्रविष्ट होनेपर शोकार्त अथवा हर्षित नहीं होते; वे स्वयं किन्हीं प्राणियोंसे नहीं डरते और दूसरे किसीको उनके समीप भय प्राप्त नहीं होता ॥ ६ ॥

तस्मिन्वने सप्त महाद्रुमाश्च फलानि सप्तातिथयश्च सप्त ।
सप्ताश्रमाः सप्त समाधयश्च दीक्षाश्च सप्तैतदरण्यरूपम् ॥ ७ ॥

उस बनके बीच महत् अहङ्कार और पञ्च तन्मात्र, ये सात महावृक्ष हैं, यागादि अपूर्व सात फल हैं, यज्ञकर्मके देवता सात अतिथि हैं, उस यागक्रियाका कर्ता सप्ताश्रम है, रागादि सात समाधि और धर्मान्तर परिग्रह लक्षणादि सप्त दीक्षाएं हैं, ये ही अरण्यरूपसे विद्यमान हैं ॥ ७ ॥

पञ्चवर्णानि दिव्यानि पुष्पाणि च फलानि च ।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद्वनम् ॥ ८ ॥

जीव और वृत्तिभेदसे अनेक प्रकार मलरूपी प्रीति प्रभृति वृक्ष, उस वनमें शब्दादि पञ्चरूपसे युक्त मनोहर पुष्प और शब्दादि अनुभवरूपी पांच प्रकारके फलोंको उत्पन्न करते हुए वह बन व्याप्त होकर स्थित है ॥ ८ ॥

+

सुवर्णानि द्विवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च ।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद्वनम् ॥ ९ ॥

नेत्र प्रभृति सब वृक्ष उस वनके बीच श्वेत, पीत, उत्तम वर्ण तथा सुखदुःखरूपी दोनों वर्णोंसे युक्त फूल और विधिपूर्वक फलोंको उत्पन्न करते हुए व्याप्त होकर स्थिति करते हैं ॥ ९ ॥

चतुर्वर्णानि दिव्यानि पुष्पाणि च फलानि च ।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद्वनम् ॥ १० ॥

यज्ञादि वृक्ष उस उस महा वनके बीच स्वर्गादि रूप सुखदुःखरूपी चारों दिव्य वर्णोंसे युक्त सब फलोंको उत्पन्न करते हुए वह बन व्याप्त होकर विद्यमान हैं ॥ १० ॥

शंकराणि त्रिवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च ।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद्वनम् ॥ ११ ॥

ध्यानादि वृक्ष उस वनके बीच स्वर्गादि रूप सुन्दर–सुखद त्रिवर्णयुक्त अनेक फूल तथा फलोंको उत्पन्न करते हुए उस बनके सब ओर व्याप्त हैं ॥ ११ ॥

सुरभीण्येकवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च ।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद्वनम् ॥ १२ ॥

उस वनके बीच सुगन्धयुक्त केवल एक रंगवाले पुष्प और फलोंको उत्पन्न करते हुए वृक्ष उस वनमें स्थित हैं ॥ १२ ॥

बहून्यव्यक्तवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च ।
विसृजन्तौ महावृक्षौ तद्वनं व्याप्य तिष्ठतः ॥ १३ ॥

बुद्धि और मनरूपी दो महावृक्ष अतीत, अनागत और बर्तमान स्वरूप अव्यक्त वर्ण, पुष्प तथा फलोंकी रचना करते हुए उस वनको व्याप्त करके स्थित हैं ॥ १३ ॥

एको ह्यग्निः सुमना ब्राह्मणोऽत्र पञ्चेन्द्रियाणि समिधश्चात्र सन्ति ।
तेभ्यो मोक्षाः सप्त भवन्ति दीक्षा गुणाः फलान्यतिथयः फलाशाः ॥ १४ ॥

उस बनमें एक मात्र परमात्मारूपी अग्नि है, उत्तम मनवाला ब्राह्मण है, मन और बुद्धिके सहित पञ्चज्ञानेन्द्रिय समिधाएं हैं; उससे जो मोक्ष प्राप्त होता है, वह सात प्रकारका है। इस यज्ञकी दीक्षाका फल मिलता है; गुणही वह फल है। देवतारूपी अतिथि ही उन फलोंके भोक्ता हैं ॥ १४ ॥

आतिथ्यं प्रतिगृह्णन्ति तत्र सप्त महर्षयः ।
अर्चितेषु प्रलीनेषु तेष्वन्यद्रोचते वनम् ॥ १५ ॥

इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवतारूपी महर्षिवृन्द उस वनमें आतिथ्य प्रतिग्रह किया करते हैं; वे आतिथ्यसे सत्कृत होतेही उनका लय होता है। उसके बाद वह अद्वैत ब्रह्मरूपवन प्रतिभासमान हुआ करता है ॥ १५ ॥

प्रतिज्ञावृक्षमफलं शान्तिच्छायासमन्वितम्।
ज्ञानाश्रयं तृप्तितोयमन्तःक्षेत्रज्ञभास्करम् ॥ १६ ॥

उसमें प्रतिज्ञारूपी निष्फल वृक्ष, शान्तिमयी छाया, ज्ञानरूपी आश्रय और तृप्तिरूपी जल है। अन्तःक्षेत्रज्ञरूपी—आत्मारूपी सूर्यका प्रकाश होता रहता है ॥ १६ ॥

येऽधिगच्छन्ति तत्सन्तस्तेषां नास्ति भयं पुनः।
ऊर्ध्वं चावाक्च तिर्यक्च तस्य नान्तोऽधिगम्यते ॥ १७ ॥

जो श्रेष्ठ सन्त लोग उसका आश्रय लेते हैं, उन्हें फिर कभी भय नहीं होता; क्योंकि वह ऊपर, नीचे और इधर—उधर सब ओर व्याप्त है। उसका कहीं भी अन्त नहीं है ॥ १७ ॥

सप्त स्त्रियस्तत्र वसन्ति सद्यो अवाङ्मुखा भानुमत्यो जनित्र्यः।
उर्ध्वं रसानां ददते प्रजाभ्यः सर्वान्यथा सर्वमनित्यतां च ॥ १८ ॥

वहां लज्जाके कारण अधोमुखी सात स्त्रियां निवास करती हैं; वे चिन्मय ज्योतिसे प्रकाशित होती हैं। वे सबकी जननी हैं और वे उस वनमें रहनेवाली प्रजाको सब प्रकारके रस देती हैं, जैसे अनित्यता सबको ॥ १८ ॥

तत्रैव प्रतितिष्ठन्ति पुनस्तत्रोदयन्ति च।
सप्त सप्तर्षयः सिद्धा वसिष्ठप्रमुखाः सह ॥ १९ ॥

सात सिद्ध सप्तर्षि वसिष्ठ प्रभृति ऋषि उसी वनमें वास करते और अत्यन्त तेजके सहित प्रकाशित होते हैं ॥ १९ ॥

यशो वर्चो भगश्चैव विजयः सिद्धितेजसी।
एवमेवानुवर्तन्ते सप्त ज्योतींषि भास्करम् ॥ २० ॥

वहां यश, वर्च, (प्रभा), भग, विजय, सिद्धि और तेज प्रभृति सात ज्योतियां क्षेत्रज्ञ—आत्मा-रूपी सूर्यका इस प्रकार अनुसरण करती हैं ॥ २० ॥

गिरयः पर्वताश्चैव सन्ति तत्र समासतः।
नद्यश्च सरितो वारि वहन्त्यो ब्रह्मसंभवम् ॥ २१ ॥

वहां उस ब्रह्मतत्त्वमें ही गिरि तथा समस्त पर्वत एकत्र स्थित हैं और नदियां तथा सरिताएं ब्रह्मसे उत्पन्न हुए जलसे युक्त होकर बहा करती हैं। ॥ २१ ॥

नदीनां संगमस्तत्र वैतानः समुपह्वरे।
स्वात्मतृप्ता यतो यान्ति साक्षाद्दान्ताः पितामहम् ॥ २२ ॥

वहांपर सब नदियोंका पवित्र सङ्गम होता है, उस अत्यन्त गूढ हृदयाकाशके बीच सन्तुष्ट-चित्त सिद्ध यतियोंको उदारचित्त पितामहका दर्शन मिला करता है ॥ २२ ॥

कृशाशाः सुव्रताशाश्च तपसा दग्धकिल्बिषाः ।
आत्मन्यात्मानमावेश्य ब्रह्माणं समुपासते ॥ २३ ॥

वहांपर जिनकी आशा क्षीण हो गयी है, जो उत्तम व्रतके पालनकी इच्छा करते हैं और तपस्याके सहारे जिनके सब पाप दग्ध हो गये हैं, वेही सिद्ध यतिवृन्द हृदयाकाशमें परमात्मा ब्रह्माको संस्थापित करके उसकी उपासना किया करते हैं ॥ २३ ॥

ऋचमप्यत्र शंसन्ति विद्यारण्यविदो जनाः ।
तदरण्यमभिप्रेत्य यथाधीरमजायत ॥ २४ ॥

विद्याके प्रभावसे ब्रह्मरूपी वनका स्वरूप समझनेवाले ब्रह्मज्ञ पुरुष धीरकी भांति उस वनको पाके ऋचाओंहीकी प्रशंसा करते हैं ॥ २४ ॥

एतदेतादृशं दिव्यमरण्यं ब्राह्मणा विदुः ।
विदित्वा चान्वतिष्ठन्त क्षेत्रज्ञेनानुदर्शितम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वाणि सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥ ७४५ ॥

ब्राह्मण लोग ऐसे दिव्य वनको पुण्यरूपसे बोध करते और क्षेत्रज्ञके द्वारा शिक्षित होकर उस स्थानमें निवास किया करते हैं ॥ २५ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें सत्ताईसवां अध्याय समाप्त ॥ २७ ॥ ७४५ ॥

: २८ :

ब्राह्मण उवाच—

गन्धान्न जिघ्रामि रसान्न वेद्मि रूपं न पश्यामि न च स्पृशामि ।
न चापि शब्दान्विविधाञ्शृणोमि न चापि संकल्पमुपैमि किंचित् ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोला— मैं न गन्धको सूंघता हूं, न रसोंको चखता हूं, न रूपको देखता हूं, किसी वस्तुका स्पर्श नहीं करता हूं, नाना प्रकारके शब्दोंको नहीं सुनता हूं और मनके बीच किसी प्रकार संकल्पभी नहीं करता हूं ॥ १ ॥

अर्थानिष्टान्कामयते स्वभावः सर्वान्द्वेष्यान्प्रद्विषते स्वभावः ।
कामद्वेषावुद्भवतः स्वभावात्प्राणापानौ जन्तुदेहान्निवेश्य ॥ २ ॥

स्वभाव ही इच्छित पदार्थोंकी कामना रखता है, स्वभावही द्वेष्य वस्तुओंके प्रति द्वेष करता है । जैसे प्राण और अपान वायु इच्छा अनिच्छाके वशमें न होकर स्वभावसेही जीवोंके शरीरोंमें प्रविष्ट होकर निज कार्य अन्नादि पाचन क्रिया संपादन करते हैं, वैसे ही स्वभावसेही राग और द्वेषकी उत्पत्ति होती है ॥ २ ॥

तेभ्यश्चान्यांस्तेष्वनित्यांश्च भावान्भूतात्मानं लक्षयेयं शरीरे ।
तस्मिंस्तिष्ठन्नास्मि शक्यः कथंचित्कामक्रोधाभ्यां जरया मृत्युना च ॥३॥
बाह्य घ्राण ग्रेयादि इन्द्रियों और विषयोंसे विभिन्न स्वप्नजनित वासनामय विषय तथा इन्द्रियां हैं, उनमें जो अनित्य भाव हैं, उनसे भी अतिरिक्त जो है उस भूतात्माको योगी लोग शरीरके बीच लक्ष्य किया करते हैं। उसही भूतात्मामें निवास करनेसे काम, क्रोध, जरा और मृत्यु किसी प्रकारभी मुझपर आक्रमण नहीं कर सकते, इसलिये मैं असङ्गस्वरूपसे निवास करता हूं॥३॥

अकामयानस्य च सर्वकामानविद्विषाणस्य च सर्वदोषान् ।
न मे स्वभावेषु भवन्ति लेपास्तोयस्य बिन्दोरिव पुष्करेषु ॥४॥
मैं सब प्रकारसे काम्य वस्तुओंमें कामना और दूषित वस्तुओंमें द्वेष नहीं करता; इसीसे पद्मपत्रमें निर्लिप्त जलकी बूंदके समान काम और द्वेष मुझमें स्वाभाविक लिप्त नहीं हो सकते ॥ १४ ॥

नित्यस्य चैतस्य भवन्ति नित्या निरीक्षमाणस्य बहून्स्वभावान् ।
न सज्जते कर्मसु भोगजालं दिवीव सूर्यस्य मयूखजालम् ॥५॥
बहुत प्रकारके स्वभाववाली इंद्रियोंको देखनेवाले असंग पुरुषकी सब कामनाएं नित्य हो जाती हैं, जैसे आकाशमण्डलमें सूर्यकी किरणोंका समूह सूर्यको लिप्त नहीं कर सकता, वैसे ही वे भोग समूह उस विद्वान्को कर्मोंमें लिप्त नहीं कर सकते ॥ ५ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अध्वर्युयतिसंवादं तं निबोध यशस्विनि ॥६॥
हे यशस्विनि ! परम पुरुष परमात्माके असङ्ग विषयमें पण्डित लोग अध्वर्यु और यतिके संवादयुक्त जिस प्राचीन इतिहासका उदाहरणस्वरूप वर्णन करते हैं, उसे तुम सावधान होकर सुनो ॥ ६ ॥

प्रोक्ष्यमाणं पशुं दृष्ट्वा यज्ञकर्मण्यथाब्रवीत् ।
यतिरध्वर्युमासीनो हिंसेयमिति कुत्सयन् ॥७॥
यज्ञस्थलमें बैठे हुए किसी यतीने अध्वर्युको पशुका प्रोक्षण करते देखकर उसकी निन्दा करते हुए बोला, कि " आप ऐसे हिंसाकार्यमें प्रवृत्त हुए हैं ? " ॥ ७ ॥

तमध्वर्युः प्रत्युवाच नायं छागो विनश्यति ।
श्रेयसा योक्ष्यते जन्तुर्यदि श्रुतिरियं तथा ॥८॥
ऐसा वचन सुनके अध्वर्युने उससे इस प्रकार उत्तर दिया ' वेदके अनुसार यज्ञकर्ममें जीव हिंसित होनेसे कल्याणयुक्त होते हैं; इसलिये बकरा विनष्ट न होगा ॥ ८ ॥

यो ह्यस्य पार्थिवो भागः पृथिवीं स गमिष्यति ।
यदस्य वारिजं किंचिदपस्तत्प्रतिपद्यते ॥ ९ ॥

यह बकरा यज्ञमें हिंसित होनेसे इसका जो पार्थिव भाग है, वह पृथ्वीमें मिल जायगा। इसका जो कुछ जलीय अंश है वह जलमें प्रविष्ट होगा ॥ ९ ॥

सूर्यं चक्षुर्दिशः श्रोत्रे प्राणोऽस्य दिवमेव च ।
आगमे वर्तमानस्य न मे दोषोऽस्ति कश्चन ॥ १० ॥

नेत्रके तैजस अंश सूर्यमें, कान दिशाओंमें और प्राणवायु आकाशमें प्रविष्ट होगा; इसलिये शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार वर्तनेवाले मुझे कुछ दोष नहीं है ' ॥ १० ॥

यतिरुवाच—

प्राणैर्वियोगे छागस्य यदि श्रेयः प्रपश्यसि ।
छागार्थे वर्तते यज्ञो भवतः किं प्रयोजनम् ॥ ११ ॥

यति बोला— यदि यज्ञकर्ममें तुम बकरेके प्राणवियोग होनेसे उसका मङ्गल देखते हो, तो बकरेके निमित्तही यह यज्ञ हो रहा है, उसमें तुम्हारा कौनसा प्रयोजन है ? ॥ ११ ॥

अनु त्वा मन्यतां माता पिता भ्राता सखापि च ।
मन्त्रयस्वैनमुन्नीय परवन्तं विशेषतः ॥ १२ ॥

श्रुतिका बचन है— इस विषयमें बकरेको स्वयंकी माता, पिता, भाई और सखाकी अनुमति मिलनी चाहिये। इसलिये आप इस विशेषरूपसे पराधीन बकरेको ले जाकर इसके माता पिता आदिसे अनुमति लेवे ॥ १२ ॥

य एवमनुमन्येरंस्तान्भवान्प्रष्टुमर्हति ।
तेषामनुमतं श्रुत्वा शक्या कर्तुं विचारणा ॥ १३ ॥

पहले तुम्हें इस पशुके पित्रादि संबंधियोंसे पूछकर संमति लेनी चाहिये— वे अनुमति दे दें, तो उनकी संमति सुनकर विचार कर सकेंगे ॥ १३ ॥

प्राणा अप्यस्य छागस्य प्रापितास्ते स्वयोनिषु ।
शरीरं केवलं शिष्टं निश्चेष्टमिति मे मतिः ॥ १४ ॥

आपने इस बकरेकी इन्द्रियोंको उनके कारणोंमें लीन किया है। मुझे ऐसा बोध होता है कि इस बकरेका केवल अचेतन शरीर मात्र अवशिष्ट रहा है ॥ १४ ॥

इन्धनस्य तु तुल्येन शरीरेण विचेतसा ।
हिंसा निर्वेष्टुकामानामिन्धनं पशुसंज्ञितम् ॥ १५ ॥

चेतनाविहीन शरीर काष्ठसदृश है; हिंसामय यज्ञके प्रायश्चित्तके अभिलाषी जो होते हैं, उनके लिये यज्ञीय काष्ठ पशु हुआ करते हैं ॥ १५ ॥

अहिंसा सर्वधर्माणामिति वृद्धानुशासनम् ।
यदहिंस्रं भवेत्कर्म तत्कार्यमिति विद्महे ॥ १६ ॥

वृद्धोंकी ऐसी आज्ञा है, कि सब धर्मोंमें अहिंसा ही प्रशंसनीय है; हम ऐसी विवेचना करते हैं, कि जो अहिंसायुक्त कर्म हो, वही कर्तव्ययुक्त है ॥ १६ ॥

अहिंसेति प्रतिज्ञेयं यदि वक्ष्याम्यतः परम् ।
शक्यं बहुविधं वक्तुं भवतः कार्यदूषणम् ॥ १७ ॥

इसके अनन्तर यदि कहना पडे, तो मैं कहूंगा कि 'मैं अहिंसा धर्मका पालन करूंगा,' क्योंकि अहिंसा ही हमारा प्रतिश्रुत धर्म है; ऐसी सबको प्रतिज्ञा करनी चाहिये। नहीं तो आप अनेक प्रकारके दूषित कर्म बोलनेमें उद्यत होंगे ॥ १७ ॥

अहिंसा सर्वभूतानां नित्यमस्मासु रोचते ।
प्रत्यक्षतः साधयामो न परोक्षमुपास्महे ॥ १८ ॥

सब भूतोंकी अहिंसा ही हमें सदा सुयोग्य लगती है हम लोग प्रत्यक्ष वस्तुको ही साधन किया करते हैं, अप्रत्यक्षकी उपासना नहीं करते ॥ १८ ॥

अध्वर्युरुवाच—

भूमेर्गन्धगुणान्भुङ्क्षे पिबस्यापोमयान्रसान् ।
ज्योतिषां पश्यसे रूपं स्पृशस्यनिलजान्गुणान् ॥ १९ ॥

अध्वर्यु बोला—हे द्विज ! आप जो भूमिके गन्धगुणोंका उपभोग करते, जल मय रसगुणोंको पीते, अग्नि तेजके रूप गुणको देखते, वायुके स्पर्शगुणको स्पर्श करते ॥ १९ ॥

शृणोष्याकाशजं शब्दं मनसा मन्यसे मतिम् ।
सर्वाण्येतानि भूतानि प्राणा इति च मन्यसे ॥ २० ॥

और आकाशके शब्दगुणको सुनते हैं, तथा मनके द्वारा मनन करते हैं, इन सब भूतोंको ही प्राण बोध करते हैं; तो आप किस प्रकार प्राणादानसे निवृत्त होंगे ? ॥ २० ॥

प्राणादाने च नित्योऽसि हिंसायां वर्तते भवान् ।
नास्ति चेष्टा विना हिंसां किं वा त्वं मन्यसे द्विज ॥ २१ ॥

आप सदा प्राणदानके कार्यमें लगे रहे हैं; आप तो हिंसामें ही नियुक्त हैं; क्योंकि विना हिंसा की चेष्टा नहीं हो सकती; इसलिये आप अहिंसा किस प्रकार समझते हैं ? ॥ २१ ॥

यतिरुवाच—

अक्षरं च क्षरं चैव द्वैधीभावोऽयमात्मनः ।
अक्षरं तत्र सद्भावः स्वभावः क्षर उच्यते ॥ २२ ॥

यति बोला— आत्माकी क्षर और अक्षर दो प्रकारकी अवस्था है, उसके बीच सद्भाव अक्षर और स्वभाव क्षर कहके वर्णित हुआ है ॥ २२ ॥

प्राणो जिह्वा मनः सत्त्वं स्वभावो रजसा सह ।
भावैरेतैर्विमुक्तस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः ॥ २३ ॥

मायाके सहित अवस्थित प्राण, जिह्वा, मन और सत्त्व, ये सद्भाव कहाते हैं; आत्मा इन सब भावोंसे विमुक्त होनेसे निर्द्वन्द्व और आशावर्जित है ॥ २३ ॥

समस्य सर्वभूतेषु निर्ममस्य जितात्मनः ।
समन्तात्परिमुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥ २४ ॥

जो पुरुष सर्वभूतोंमें समभाव, निर्मम, जितात्मा और सब भांतिसे मुक्त है, वह कहीं भी भयभीत नहीं होता ॥ २४ ॥

अध्वर्युरुवाच—

सद्भिरेवेह संवासः कार्यो मतिमतां वर ।
भवतो हि मतं श्रुत्वा प्रतिभाति मतिर्मम ॥ २५ ॥

अध्वर्यु बोला— हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ द्विजवर ! आपका मत सुनके मुझे ऐसा बोध होता है, कि इस लोकमें साधुओंके सङ्ग संवास करना ही उचित है ॥ २५ ॥

भगवन्भगवद्बुद्ध्या प्रतिबुद्धो ब्रवीम्यहम् ।
मतं मन्तुं क्रतुं कर्तुं नापराधोऽस्ति मे द्विज ॥ २६ ॥

हे भगवन् ! मैं आपकी बुद्धिसे ज्ञानयुक्त होकर कहता हूं, कि मैं मन्त्रकृत विचारोंका आदर करता हूं और यज्ञ किया करता हूं; इसलिये इसमें मेरा कुछ अपराध नहीं है ॥ २६ ॥

ब्राह्मण उवाच—

उपपत्त्या यतिस्तूष्णीं वर्तमानस्ततः परम् ।
अध्वर्युरपि निर्मोहः प्रचचार महामखे ॥ २७ ॥

ब्राह्मण बोला— तिसके अनन्तर यतिने उपपत्तिके अनुसार मौनावलम्बन किया और अध्वर्यु भी मोहविहीन होकर महायज्ञका प्रचार करने लगा ॥ २७ ॥

एवमेतादृशं मोक्षं सुसूक्ष्मं ब्राह्मणा विदुः ।
विदित्वा चानुतिष्ठन्ति क्षेत्रज्ञेनानुदर्शिना ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥ ७७३ ॥

ब्राह्मण लोग इसी प्रकार मोक्षका अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप जानके, अर्थदर्शी क्षेत्रज्ञके उपदेशके अनुसार उस मोक्षधर्मको जानकर उसका अनुष्ठान करते हैं ॥ २८ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें अट्ठाईसवां अध्याय समाप्त ॥ २८ ॥ ७७३ ॥

: २९ :

ब्राह्मण उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
कार्तवीर्यस्य संवादं समुद्रस्य च भामिनि ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोला— हे भामिनि ! इस विषयमें पण्डित लोग कार्तवीर्य अर्जुन और समुद्रके संवादयुक्त यह प्राचीन इतिहासका उदाहरण कहा करते हैं ॥ १ ॥

कार्तवीर्यार्जुनो नाम राजा बाहुसहस्रवान् ।
येन सागरपर्यन्ता धनुषा निर्जिता मही ॥ २ ॥

जिन्होंने शरासनके सहारे समुद्रके सहित वसुन्धराको ओरसे छोरतक जीता था, वह कार्तवीर्य अर्जुनके नामसे विख्यात एक राजा था; उसकी एक हजार भुजाएं थीं ॥ २ ॥

स कदाचित्समुद्रान्ते विचरन्बलदर्पितः ।
अवाकिरच्छरशतैः समुद्रमिति नः श्रुतम् ॥ ३ ॥

हमने सुना है, कि उसने किसी समय निज बल तेजसे दर्पित होकर समुद्रके तीर विचरते हुए सैकडों बाणोंकी बर्षासे समुद्रको समाच्छन्न किया ॥ ३ ॥

तं समुद्रो नमस्कृत्य कृताञ्जलिरुवाच ह ।
मा मुञ्च वीर नाराचान्ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ ४ ॥

तब समुद्र उन्हें नमस्कार करके हाथ जोडके बोला, हे वीर आप मुझपर बाण न चलाइये। कहिये, मुझे आपका कौनसा कार्य करना होगा ? ॥ ४ ॥

मदाश्रयाणि भूतानि त्वद्विसृष्टैर्महेषुभिः ।
वध्यन्ते राजशार्दूल तेभ्यो देह्यभयं विभो ॥ ५ ॥

हे राजेन्द्र ! मेरे आश्रित प्राणिवृन्द आपके द्वारा छोडे हुए महाशरोंसे मर रहे हैं। हे विभु ! आप उन्हें अभय प्रदान करिये ॥ ५ ॥

अर्जुन उवाच—

मत्समो यदि संग्रामे शरासनधरः क्वचित् ।
विद्यते तं ममाचक्ष्व यः समासीत मां मृधे ॥ ६ ॥

अर्जुन बोले— यदि युद्धमें मेरे समान शरासनधारी कोई वीर विद्यमान हो और वह मेरे सङ्ग युद्धमें खडा होनेमें समर्थ हो, तो मुझसे तुम उसका वृत्तान्त कहो ॥ ६ ॥

×

समुद्र उवाच—

महर्षिर्जमदग्निस्ते यदि राजन्परिश्रुतः ।
तस्य पुत्रस्तवातिथ्यं यथावत्कर्तुमर्हति ॥ ७ ॥

समुद्र बोला– हे महाराज ! यदि आप महर्षि जमदग्निको विशेष रीतिसे जानते हैं, तो उनके पुत्रके निकट जाइये; वह विधिपूर्वक आपका आतिथ्य करनेमें समर्थ होंगे ॥ ७ ॥

ततः स राजा प्रययौ क्रोधेन महता वृतः ।
स तमाश्रममागम्य राममेवान्वपद्यत ॥ ८ ॥

तिसके अनन्तर राजा कार्तवीर्यार्जुन अत्यन्त क्रुद्ध होकर उनके आश्रममें जाकर उस परशुरामके निकट उपस्थित हुआ ॥ ८ ॥

स रामप्रतिकूलानि चकार सह बन्धुभिः ।
आयासं जनयामास रामस्य च महात्मनः ॥ ९ ॥

राजाने अपने बान्धवोंके सहित महात्मा परशुरामके प्रतिकूल वर्तन करके उन्हें दुःखित किया ॥ ९ ॥

ततस्तेजः प्रजज्वाल रामस्यामिततेजसः ।
प्रदहद्रिपुसैन्यानि तदा कमललोचने ॥ १० ॥

हे कमललोचने ! उस समय शत्रुसेनाको जलाकर भस्म करनेवाला अमिततेजस्वी रामका तेज प्रज्वलित हुआ ॥ १० ॥

ततः परशुमादाय स तं बाहुसहस्रिणम् ।
चिच्छेद सहसा रामो बाहुशाखमिव द्रुमम् ॥ ११ ॥

अनन्तर रामने सहसा परशु लेकर बहुतसी शाखाओंसे युक्त वृक्षकी भांति सहस्रबाहु कार्तवीर्यार्जुनको सहसा काट डाला ॥ ११ ॥

तं हतं पतितं दृष्ट्वा समेताः सर्वबान्धवाः ।
असीनादाय शक्तीश्च भार्गवं पर्यवारयन् ॥ १२ ॥

उसके बान्धवगण उसे मरके गिरा हुआ देखकर, सब कोई इकट्ठे होकर, तलवार और शक्ति ग्रहण करके भृगुनन्दन रामपर सब ओरसे प्रहार करने लगे ॥ १२ ॥

रामोऽपि धनुरादाय रथमारुह्य सत्वरः ।
विसृजञ्शरवर्षाणि व्यधमत्पार्थिवं बलम् ॥ १३ ॥

इधर राम भी धनुष लेकर शीघ्रही रथपर चढके बाण बरसाते हुए राजाके समस्त बलका संहार करने लगे ॥ १३ ॥

ततस्तु क्षत्रियाः केचिज्जमदग्निं निहत्य च ।
विविशुर्गिरिदुर्गाणि मृगाः सिंहार्दिता इव ॥ १४ ॥

अनन्तर जमदग्निकी हत्या करके बहुतसे क्षत्रिय सिंहसे भयभीत हुए मृगोंकी भांति गिरिकन्दरोंमें प्रविष्ट हुए ॥ १४ ॥

तेषां स्वविहितं कर्म तद्भयान्नानुतिष्ठताम् ।
प्रजा वृषलतां प्राप्ता ब्राह्मणानामदर्शनात् ॥ १५ ॥

क्रमसे क्षत्रियोंने रामके भयसे निज विहित कर्मोंका अनुष्ठान करना भी छोड दिया; बहुत दिनोंतक ब्राह्मणोंसे वेद ज्ञानादिका दर्शन न होनेपर उनकी प्रजाएं अपने कर्म भूलकर शुद्रत्वको प्राप्त हुई ॥ १५ ॥

त एते द्रमिडाः काशाः पुण्ड्राश्च शबरैः सह ।
वृषलत्वं परिगता व्युत्थानात्क्षत्रधर्मतः ॥ १६ ॥

इसही प्रकार क्षत्रधर्मावलम्बी शबरके सहित द्रमिड, काश, पुण्ड्र और शबरोंके साथ रहकर भी निज क्षत्रिय धर्मका अनुष्ठान न करनेसे शूद्रत्वको प्राप्त हुए ॥ १६ ॥

ततस्तु हतवीरासु क्षत्रियासु पुनः पुनः ।
द्विजैरुत्पादितं क्षत्रं जामदग्न्यो न्यकृन्तत ॥ १७ ॥

अनन्तर क्षत्रिय वीरोंके मारे जानेपर ब्राह्मणोंके द्वारा उनकी स्त्रियोंसे नियोग विधिके अनुसार जो सब क्षत्रिय सन्तान उत्पन्न होने लगे, परंतु जमदग्निपुत्र रामने उनका भी बारबार वध किया ॥ १७ ॥

एकविंशतिमेधान्ते रामं वागशरीरिणी ।
दिव्या प्रोवाच मधुरा सर्वलोकपरिश्रुता ॥ १८ ॥

रामने इसी भांति इक्कीस बार क्षत्रियोंका संहार किया, तब अन्तमें अशरीरिणी दिव्य आकाशवाणीने मधुर स्वरमें सब लोगोंके सुनते हुए उनसे कहा ॥ १८ ॥

राम राम निवर्तस्व कं गुणं तात पश्यसि ।
क्षत्रबन्धूनिमान्प्राणैर्विप्रयोज्य पुनः पुनः ॥ १९ ॥

हे राम ! तुम बार बार इन क्षत्रियबन्धुओंको विनष्ट करके कौनसा लाभ देखते हो ? हे तात ! तुम इस निष्ठुर हत्याके कार्यसे निवृत्त हो जाओ " ॥ १९ ॥

तथैव तं महात्मानमृचीकप्रमुखास्तदा ।
पितामहा महाभाग निवर्तस्वेत्यथाब्रुवन् ॥ २० ॥

उस समय ऋचीक आदि पितामहोंने भी उस महात्मा रामको इस कार्यसे निवृत्त होनेके लिये समझाते हुए कहा– महाभाग ! यह काम छोड दो, क्षत्रियोंको न मारो ॥ २० ॥

पितुर्वधममृष्यंस्तु रामः प्रोवाच तानृषीन् ।
नार्हन्तीह भवन्तो मां निवारयितुमित्युत ॥ २१ ॥

परन्तु राम पितृवधसे शान्त न होकर उन ऋषियोंसे बोले– हे पितामहगण ! इस विषयमें मुझे निवारण करना आप लोगोंको उचित नहीं है ॥ २१ ॥

पितर ऊचुः—

नार्हसे क्षत्रबन्धूंस्त्वं निहन्तुं जयतां वर ।
न हि युक्तं त्वया हन्तुं ब्राह्मणेन सता नृपान् ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥ ७९५ ॥

पितृगण बोले– हे विजय पानेवालोंमें श्रेष्ठ ! क्षत्रिय बन्धुओंका मारना तुम्हारे योग्य नहीं है; विशेष करके ब्राह्मण होकर क्षत्रिय राजाओंको मारना तुम्हारे पक्षमें युक्तियुक्त नहीं होता है ॥ २२ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें उन्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ २९ ॥ ७९५ ॥

: ३० :

पितर ऊचुः—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
श्रुत्वा च तत्तथा कार्यं भवता द्विजसत्तम ॥ १ ॥

पितृगण बोले– हे द्विजसत्तम ! इस अहिंसाविषयमें पण्डित लोग जिस प्राचीन इतिहासके उदाहरणका बर्णन करते हैं, उसे सुनकर तुम्हें वैसाही आचरण करना योग्य है ॥ १ ॥

अलर्को नाम राजर्षिरभवत्सुमहातपाः ।
धर्मज्ञः सत्यसंधश्च महात्मा सुमहाव्रतः ॥ २ ॥

पहले समयमें महातपस्वी, धर्मज्ञ, सत्यबादी, महात्मा और दृढव्रती अलर्क नामसे प्रसिद्ध एक राजर्षि थे ॥ २ ॥

स सागरान्तां धनुषा विनिर्जित्य महीमिमाम् ।
कृत्वा सुदुष्करं कर्म मनः सूक्ष्मे समादधे ॥ ३ ॥

उन्होंने शरासनसे समुद्रपर्यंत इस वसुन्धराको जीतकर अत्यन्त दुष्कर पराक्रम किया । अनन्तर उन्होंने सूक्ष्म तत्त्वके विचारमें अपना मन लगाया ॥ ३ ॥

स्थितस्य वृक्षमूलेऽथ तस्य चिन्ता बभूव ह ।
उत्सृज्य सुमहद्राज्यं सूक्ष्मं प्रति महामते ॥ ४ ॥

हे महाप्राज्ञ ! वह एक बार निज उत्तम महत् राज्यका परित्याग करके एक वृक्षके मूलमें जा बैठकर सूक्ष्म तत्त्व पर ब्रह्मका विचार करने लगे ॥ ४ ॥

अलर्क उवाच—

मनसो मे बलं जातं मनो जित्वा ध्रुवो जयः ।
अन्यत्र बाणानस्यामि शत्रुभिः परिवारितः ॥ ५ ॥

अलर्क बोले— मुझे मनसेही बल प्राप्त हो गया है; इसलिये मनको जीतनेसे मुझे स्थिर जय प्राप्त होगी; इस समय मैं इन्द्रियरूपी शत्रुओंसे घिरा हुआ हूं; इस कारण बाहरके शत्रुओंपर हमला न करके अपने अंदरके शत्रुओंपरही बाण चलाऊंगा ॥ ५ ॥

यदिदं चापलान्मूर्तेः सर्वमेतच्चिकीर्षति ।
मनः प्रति सुतीक्ष्णाग्रानहं मोक्ष्यामि सायकान् ॥ ६ ॥

मनकी चंचलतासे ही ये सब कर्म मनुष्योंसे वह करानेकी इच्छा करता रहता है; इसलिये मनकी ओर ही मैं हठयोगरूपी इन तीक्ष्ण बाणोंको छोडूंगा ॥ ६ ॥

मन उवाच—

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ ७ ॥

मन बोला— हे अलर्क ! ये बाण मुझे कदापि छेदन न कर सकेंगे, ये तुम्हारेही मर्मस्थानोंको बेधेंगे, तब तुम मर्मस्थानोंके कटनेसे मर जावोगे ॥ ७ ॥

अन्यान्बाणान्समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।
तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

इसलिये तुम इसके अतिरिक्त जिन बाणोंसे मुझे मार न सकोगे, उन बाणोंका अनुसन्धान करो । अलर्क ऐसा सुनके सोचकर इस प्रकार बोले ॥ ८ ॥

अलर्क उवाच—

आघ्राय सुबहून्गन्धांस्तानेव प्रतिगृध्यति ।
तस्माद्घ्राणं प्रति शरान्प्रतिमोक्ष्याम्यहं शितान् ॥ ९ ॥

यह नासिका अनेक प्रकारके सुगन्धोंको सूंघती हुई भी फिर उन्हींकी ही अभिलाषा किया करती है; इसलिये उस नासिकाके विषयमें मैं इन तीक्ष्ण बाणोंको छोडूंगा ॥ ९ ॥

घ्राण उवाच—

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ १० ॥

नासिका बोली— हे अलर्क ! तुम मेरी ओर जिन बाणोंको छोडोगे, वे कदापि मुझे भेद न कर सकेंगे । बल्कि वे बाण तुम्हारे ही मर्मोंको छेदन करेंगे, तब तुम ही भिन्नमर्मा होकर मृत्युमुखमें जाओगे ॥ १० ॥

अन्यान्बाणान्समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।
तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥ ११ ॥

इसलिये इनके अतिरिक्त जिन बाणोंसे तुम मुझे नष्ट कर सकोगे, उनका अनुसन्धान करो। अलर्क नासिकाका ऐसा बचन सुनकर क्षणभर सोचके बोले ॥ ११ ॥

अलर्क उवाच—

इयं स्वादून्रसान्भुक्त्वा तानेव प्रतिगृध्यति ।
तस्माज्जिह्वां प्रति शरान्प्रतिमोक्ष्याम्यहं शितान् ॥ १२ ॥

यह जिह्वा सुस्वादु रसोंका भोजन करके उन रसोंकी ही फिर अभिलाषा किया करती है, इसलिये मैं जिह्वाके ऊपर ही अपने तीक्ष्ण बाणोंको छोडूंगा ॥ १२ ॥

जिह्वोवाच—

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ १३ ॥

जिह्वा बोली— हे अलर्क ! तुम मेरे ऊपर जिन बाणोंको चलानेकी इच्छा करते हो, वे बाण कदापि मुझे स्पर्श न कर सकेंगे; बरन तुम्हारे ही मर्मोंको भेदकर तुम्हें नष्ट करेंगे ॥१३॥

अन्यान्बाणान्समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।
तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

इसलिये इनके अतिरिक्त जिन बाणोंके सहारे तुम मुझे विनष्ट कर सकोगे, उनका ही अनुसन्धान करो। यह सुनकर अलर्क कुछ क्षणभर सोचते रहे और फिर बोले ॥ १४ ॥

अलर्क उवाच—

स्पृष्ट्वा त्वग्विविधान्स्पर्शांस्तानेव प्रतिगृध्यति ।
तस्मात्त्वचं पाटयिष्ये विविधैः कङ्कपत्रिभिः ॥ १५ ॥

अलर्क बोले— त्वचा विविध स्पर्शोंको स्पर्श करके उन्हीं स्पर्शोंकी ही आकांक्षा किया करती है; इसलिये मैं कङ्कपत्रयुक्त विविध बाणोंसे त्वचाको नष्ट करूंगा ॥ १५ ॥

त्वगुवाच—

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ १६ ॥

त्वचा बोली— हे अलर्क ! तुम मेरे ऊपर जिन बाणोंके चलानेकी इच्छा करते हो, वे कदापि मुझे भेद न कर सकेंगे, वे तुम्हारे ही मर्मोंको छेदन करेंगे और मर्म विदीर्ण होनेपर तुमही मर जावोगे ॥ १६ ॥

अन्यान्बाणान्समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।
तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥

इसलिये तुम इनके अतिरिक्त जिन बाणोंसे मुझे नष्ट कर सकोगे, उनकी खोज करो। अनन्तर अलर्क ऐसा वचन सुनकर क्षणभर चिन्ता करके इस प्रकार बोले ॥ १७ ॥

अलर्क उवाच—

श्रुत्वा वै विविधाञ्शब्दांस्तानेव प्रतिगृध्यति ।
तस्माच्छ्रोत्रं प्रति शरान्प्रतिमोक्ष्याम्यहं शितान् ॥ १८ ॥

अलर्क बोले— कान विविध शब्द सुनके उन्हीं शब्दोंकी ही आकांक्षा किया करता है, इसलिये मैं इन शाणित बाणोंको कानके ऊपर चलाऊंगा ॥ १८ ॥

श्रोत्र उवाच—

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति ततो हास्यसि जीवितम् ॥ १९ ॥

कान बोला— हे अलर्क ! तुम मेरे ऊपर जिन बाणोंको छोडनेकी इच्छा करते हो, वे शर कदापि मुझे भेदित न कर सकेंगे। बल्कि वे तुम्हारे ही मर्मोंका छेदन करेंगे, और तुम जीवनसे हाथ धो बैठोगे ॥ १९ ॥

अन्यान्बाणान्समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।
तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥

इसलिये इनके अतिरिक्त जिन बाणोंसे तुम मुझे विनष्ट करोगे, उनकी खोज करो। अलर्क इतना वचन सुनके क्षणभर विचार करके बोले ॥ २० ॥

अलर्क उवाच—

दृष्ट्वा वै विविधान्भावांस्तानेव प्रतिगृध्यति ।
तस्माच्चक्षुः प्रति शरान्प्रतिमोक्ष्याम्यहं शितान् ॥ २१ ॥

अलर्क बोले— नेत्र अनेक भांतिके रूपभावोंको देखकर उन रूपोंकी ही आकांक्षा किया करता है, इसलिये मैं इन शिकल किये हुए बाणोंसे नेत्रको नष्ट करूंगा ॥ २१ ॥

चक्षुरुवाच—

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ २२ ॥

नेत्रने कहा— हे अलर्क ! तुम इन बाणोंसे किसी प्रकार मुझे विनष्ट न कर सकोगे, बल्कि ये बाण तुम्हारे ही मर्मोंको छेदन कर डालेंगे; और मर्मोंका विदीर्ण होनेपर तुम मर जाओगे ॥ २२ ॥

अन्यान्बाणान्समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।
तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥ २३ ॥

इसलिये इनके अतिरिक्त जिन बाणोंके सहारे तुम मुझे विनष्ट कर सकोगे उन ही बाणोंकी खोज करो। अनन्तर अलर्क ऐसा वचन सुनकर क्षणभर विचार करके इस प्रकार बोले ॥ २३ ॥

अलर्क उवाच—

इयं निष्ठा बहुविधा प्रज्ञया त्वध्यवस्यति ।
तस्माद्बुद्धिं प्रति शरान्प्रतिमोक्ष्याम्यहं शितान् ॥ २४ ॥

अलर्क बोले— यह बुद्धि अपनी प्रज्ञाके द्वारा अनेक प्रकारकी निष्ठा किया करती है, इसलिये मैं शाणित बाणोंको बुद्धिके ऊपर छोडूंगा ॥ २४ ॥

बुद्धिरुवाच—

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ २५ ॥

बुद्धि बोली— हे अलर्क ! तुम इन बाणोंसे मुझे कदापि विनष्ट न कर सकोगे; बरन ये बाण तुम्हारे ही मर्मोंको छेदन कर डालेंगे और मर्म विदीर्ण होनेपर तुम ही मरोगे ॥ २५ ॥

पितर ऊचुः—

ततोऽलर्कस्तपो घोरमास्थायाथ सुदुष्करम् ।
नाध्यगच्छत्परं शक्त्या बाणमेतेषु सप्तसु ।
सुसमाहितचेतास्तु ततोऽचिन्तयत प्रभुः ॥ २६ ॥

पितर बोले— तिसके अनन्तर अलर्कने उस स्थानमें बैठकर घोर दुष्कर तपस्या की, परन्तु पूर्वोक्त सातों इन्द्रियोंके विषयमें बलपूर्वक उत्तम बाण न छोड सके। अनन्तर प्राज्ञबर प्रभु अलर्कने एकाग्र चित्तसे बिचार किया ॥ २६ ॥

स विचिन्त्य चिरं कालमलर्को द्विजसत्तम ।
नाध्यगच्छत्परं श्रेयो योगान्मतिमतां वरः ॥ २७ ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! बहुत समयतक निरन्तर सोचने पर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ राजाको योगसे बढकर दूसरा परम कल्याणकारी साधन मिला नहीं ॥ २७ ॥

स एकाग्रं मनः कृत्वा निश्चलो योगमास्थितः ।
इन्द्रियाणि जघानाशु बाणेनैकेन वीर्यवान् ।
योगेनात्मानमाविश्य संसिद्धिं परमां ययौ ॥ २८ ॥

वे मनको निश्चयभावसे एकाग्र करके स्थिर बैठ गये और ध्यानयोगका अवलम्बन करने लगे। इस ध्यानयोगरूप एक बाणसे शीघ्र ही उन सब इन्द्रियोंको उन बलशाली राजाने विनष्ट किया और योगबलसे परमात्मामें प्रविष्ट होकर परम सिद्धिको प्राप्त हो गये ॥ २८ ॥

विस्मितश्चापि राजर्षिरिमां गाथां जगाद ह ।
अहो कष्टं यदस्माभिः पूर्वं राज्यमनुष्ठितम् ।
इति पश्चान्मया ज्ञातं योगान्नास्ति परं सुखम् ॥ २९ ॥

अनन्तर राजर्षि अलर्कने इस सफलतासे बिस्मित होकर यह गाथा गाया, ओहो ! कैसे कष्टकी बात है ! क्योंकि पहले मैं उन बाह्यवस्तु राज्यादिकी उपासनामें नियुक्त था, अब मैंने निश्चय जाना, कि ध्यानयोगसे बढके दूसरा उत्तम सुखदायक और कुछ भी नहीं है ॥ २९ ॥

इति त्वमपि जानीहि राम मा क्षत्रियाञ्जहि ।
तपो घोरमुपातिष्ठ ततः श्रेयोऽभिपत्स्यसे ॥ ३० ॥

हे राम ! तुम इसे विशेष रीतिसे जानके क्षत्रियोंका वध न करो । घोर तपस्याचरण करो, उसीसे तुम्हें कल्याण लाभ होगा ॥ ३० ॥

ब्राह्मण उवाच—

इत्युक्तः स तपो घोरं जामदग्न्यः पितामहैः ।
आस्थितः सुमहाभागो ययौ सिद्धिं च दुर्गमाम् ॥ ३१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥ ८२६ ॥

ब्राह्मण बोले– महाभाग्यवानका जमदग्निपुत्र रामने अपने पितामहगणोंका ऐसा वचन सुनके अत्यन्त कठोर तपस्याका अनुष्ठान किया और दुर्गम सिद्धि प्राप्त की ॥ ३१ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें तीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३० ॥ ८२६ ॥

: ३१ :

ब्राह्मण उवाच—

त्रयो वै रिपवो लोके नव वै गुणतः स्मृताः ।
हर्षः स्तम्भोऽभिमानश्च त्रयस्ते सात्त्विका गुणाः ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोला– लोकके बीच सत्त्व, रज और तम ये तीन शत्रु हैं । येही वृत्तिभेदसे नव प्रकार हुआ करते हैं । हर्ष, स्तम्भ और अभिमान ये तीन सात्त्विक गुण हैं ॥ १ ॥

शोकः क्रोधोऽतिसंरम्भो राजसास्ते गुणाः स्मृताः ।
स्वप्नस्तन्द्री च मोहश्च त्रयस्ते तामसा गुणाः ॥ २ ॥

शोक, क्रोध तथा द्वेष ये तीन राजसगुण और स्वप्न, तन्द्रा तथा मोह ये तीन तामस-गुण हैं ॥ २ ॥

*

एतान्निकृत्य धृतिमान्बाणसंघैरतन्द्रितः ।
जेतुं परानुत्सहते प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥ ३ ॥

धृतिमान, सावधान, जितेन्द्रिय, प्रशान्तचित्त पुरुष इन सब गुणोंका शम–दमादि शर समूहसे छेदन करके शत्रुओंको जीतनेका उत्साह करते हैं ॥ ३ ॥

अत्र गाथाः कीर्तयन्ति पुराकल्पविदो जनाः ।
अम्बरीषेण या गीता राज्ञा राज्यं प्रशासता ॥ ४ ॥

पुराण जाननेवाले पण्डित लोग इस विषयमें एक गाथा कहा करते हैं; पहले समयमें प्रशान्तचित्त राजा अम्बरीषने राज्य शासन करते समय इस गाथाको गाया था ॥ ४ ॥

समुदीर्णेषु दोषेषु बध्यमानेषु साधुषु ।
जग्राह तरसा राज्यमम्बरीष इति श्रुतिः ॥ ५ ॥

शमगुण नष्ट होने लगे और रजोगुणके दोष पूरी रीतिसे उदित हो गये, तब राजा अम्बरीषने सहसा बलपूर्वक राज्य ग्रहण किया, ऐसा कहते हैं ॥ ५ ॥

स निगृह्य महादोषान्साधून्समभिपूज्य च ।
जगाम महतीं सिद्धिं गाथां चेमां जगाद ह ॥ ६ ॥

अनन्तर उन्होंने अपने दोषोंको अपने वशमें किया और उत्तम गुणोंकी सम्मानना की; इससे उन्हें बहुत बडी सिद्धि प्राप्त हुई और वे यह गाथा गाने लगे ॥ ६ ॥

भूयिष्ठं मे जिता दोषा निहताः सर्वशत्रवः ।
एको दोषोऽवशिष्टस्तु वध्यः स न हतो मया ॥ ७ ॥

मैंने बहुतसे दोषोंपर बिजय पाया और सब शत्रुओंका नाश किया है । परन्तु अवश्य बध्य एक दोष बाकी रह गया है, उसे मैं नष्ट नहीं कर सका ॥ ७ ॥

येन युक्तो जन्तुरयं वैतृष्ण्यं नाधिगच्छति ।
तृष्णार्त इव निम्नानि धावमानो न बुध्यते ॥ ८ ॥

इसी ही कारण इस प्राणीको वैराग्यका लाभ नहीं होता; मनुष्य तृष्णार्त होकर जगत्में मूर्खकी भांति नीच कर्मोंकी ओर दौडता है, सावधान नहीं होता ॥ ८ ॥

अकार्यमपि येनेह प्रयुक्तः सेवते नरः ।
तं लोभमसिभिस्तीक्ष्णैर्निकृन्तन्तं निकृन्तत ॥ ९ ॥

मनुष्य इस लोकमें इसहीके द्वारा प्रयुक्त होकर नहीं करने योग्य काम भी किया करता है, उसही लोभके दोषको ज्ञानरूपी तीक्ष्ण तलवारके सहारे नष्ट करना मनुष्यके लिये उचित है ॥ ९ ॥

लोभाद्धि जायते तृष्णा ततश्चिन्ता प्रसज्यते ।
स लिप्समानो लभते भूयिष्ठं राजसान्गुणान् ॥ १० ॥

लोभसे तृष्णा उत्पन्न होती है और उससे चिन्ता प्रवृत्त हुआ करती है; लोभी मनुष्य इच्छा युक्त होकर प्रचुर परिमाणसे राजस गुणोंको पाता है ॥ १० ॥

स तैर्गुणैः संहतदेहबन्धनः पुनः पुनर्जायति कर्म चेहते ।
जन्मक्षये भिन्नविकीर्णदेहः पुनर्मृत्युं गच्छति जन्मनि स्वे ॥ ११ ॥

उन गुणोंके सङ्ग देहबन्धनमें जकडकर वह बार बार जन्म ग्रहण करता है और कर्मकी आकांक्षा किया करता है । जीवन नष्ट होनेके समय भिन्न तथा विक्षिप्त देह होकर मृत्युको प्राप्त हुआ करता है । फिर अपने जन्म मृत्युके बंधनमें पडता है ॥ ११ ॥

तस्मादेनं सम्यगवेक्ष्य लोभं निगृह्य धृत्यात्मनि राज्यमिच्छेत् ।
एतद्राज्यं नान्यदस्तीति विद्याद्यस्त्वत्र राजा विजितो ममैकः ॥ १२ ॥

इसलिये पूरी रीतिसे पर्यालोचना करते हुए लोभको धैर्यपूर्वक देहके बीच दबाकर आत्म राज्यपर अधिकार पानेकी इच्छा करे । आत्मा ही राजा और इस लोकमें लोभका रोकना ही राज्य है, इससे बढके अन्य राज्य और कुछ भी नहीं है; इस ही भांति यथावत् जानना चाहिये ॥ १२ ॥

इति राज्ञाम्बरीषेण गाथा गीता यशस्विना ।
आधिराज्यं पुरस्कृत्य लोभमेकं निकृन्तता ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥ ८३९ ॥

मैंने यह एक ही राजा आत्मवश किया । एक मात्र शत्रु लोभका नाश करनेवाले यशस्वी राजा अम्बरीषने आधिराज्यके उपलक्ष्यमें यह गाथा गाई थी ॥ १३ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें इकतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३१ ॥ ८३९ ॥

: ३२ :

ब्राह्मण उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ब्राह्मणस्य च संवादं जनकस्य च भामिनि ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोला— हे भामिनी ! इस लोभनिग्रहविषयमें पण्डित लोग ब्राह्मण और राजा जनकके संवादयुक्त यह पुराना इतिहासका उदाहरण कहा करते हैं ॥ १ ॥

ब्राह्मणं जनको राजा सन्नं कस्मिंश्चिदागमे ।
विषये मे न वस्तव्यमिति शिष्ट्यर्थमब्रवीत् ॥ २ ॥

राजा जनक किसी अपराधी ब्राह्मणको अनुशासन करनेके लिये बोले, तुम मेरे राज्यसे बाहर चले जाइये ॥ २ ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचाथ ब्राह्मणो राजसत्तमम् ।
आचक्ष्व विषयं राजन्यावांस्तव वशे स्थितः ॥ ३ ॥

ब्राह्मण ऐसा वचन सुनके श्रेष्ठ राजाको बोला, हे महाराज ! आपके वशवर्ती जितना देश है उसकी सीमा आप मुझसे कहिये ॥ ३ ॥

सोऽन्यस्य विषये राज्ञो वस्तुमिच्छाम्यहं विभो ।
वचस्ते कर्तुमिच्छामि यथाशास्त्रं महीपते ॥ ४ ॥

हे विभु ! मैं आपकी आज्ञानुसार दूसरे राजाके राज्यमें वास करके, शास्त्रके अनुसार आपके वचनका प्रतिपालन करनेकी इच्छा करता हूं ॥ ४ ॥

इत्युक्तः स तदा राजा ब्राह्मणेन यशस्विना ।
मुहुरुष्णं च निःश्वस्य न स तं प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥

उस समय यशस्वी ब्राह्मणका ऐसा वचन सुनके राजा जनक बार बार गर्म श्वांस छोडते हुए, कुछ भी उत्तर उसे न दे सके ॥ ५ ॥

तमासीनं ध्यायमानं राजानममितौजसम् ।
कश्मलं सहसागच्छद्भानुमन्तमिव ग्रहः ॥ ६ ॥

अमित तेजस्वी राजा जनक बैठके विचार करते हुए, राहुग्रस्त सूर्यकी भांति सहसा मोहग्रस्त हुए ॥ ६ ॥

समाश्वास्य ततो राजा व्यपेते कश्मले तदा ।
ततो मुहूर्तादिव तं ब्राह्मणं वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

अनन्तर थोडे समयके बाद आश्वासित होकर, मुहूर्तभरके बीच मोहरहित होकर, थोडी देर चूप कर राजा उस ब्राह्मणसे कहने लगे ॥ ७ ॥

पितृपैतामहे राज्ये वश्ये जनपदे सति ।
विषयं नाधिगच्छामि विचिन्वन्पृथिवीमिमाम् ॥ ८ ॥

हे द्विजसत्तम ! पितृपितामहोंके समयसे उनके राज्य और समस्त जनपद पर मेरा अधिकार है, तोभी जब मैं विचारपूर्वक देखता हूं, सारी इस पृथ्वीमें खोजनेपर भी मुझे अपना देश नहीं दिखायी देता ॥ ८ ॥

नाध्यगच्छं यदा पृथ्व्यां मिथिला मार्गिता मया ।
नाध्यगच्छं यदा तस्यां स्वप्रजा मार्गिता मया ॥ ९ ॥

जब पृथ्वीपर मुझे अपने राज्यका पता नहीं मिला तब मैंने मिथिलामें खोजा; जब मिथिलामें भी नहीं पाया तब प्रजाके बीच अपने अधिकारका अन्वेषण किया ॥ ९ ॥

नाध्यगच्छं यदा तासु तदा मे कश्मलोऽभवत् ।
ततो मे कश्मलस्यान्ते मतिः पुनरुपस्थिता ॥ १० ॥

फिर जब प्रजाके बीच भी अपने अधिकारका पता नहीं लगा, तब मुझे मोह उपस्थित हुआ । अनन्तर मोह शान्त होनेसे फिर बुद्धिका उदय हो गया ॥ १० ॥

तया न विषयं मन्ये सर्वो वा विषयो मम ।
आत्मापि चायं न मम सर्वा वा पृथिवी मम ।
उष्यतां यावदुत्साहो भुज्यतां यावदिष्यते ॥ ११ ॥

इसी कारण मुझे ऐसा बोध हुआ, कि कोई भी विषय मेरा नहीं है अथवा सब ही विषय मेरे हैं; विचार करनेपर यह शरीर भी मेरा नहीं है और फिर यह सारी पृथ्वी मेरी है । इसलिये जहां आपकी इच्छा हो, वहां वास करो और जो अभिरुचि हो, वह भोग करो ॥ ११ ॥

पितृपैतामहे राज्ये वश्ये जनपदे सति ।
ब्रूहि कां बुद्धिमास्थाय ममत्वं वर्जितं त्वया ॥ १२ ॥

हे महाराज ! पितृपितामहोंके समयसे राज्य और जनपदके वशीभूत रहनेपर भी, आपने कौनसी बुद्धि अवलम्बन करके उसकी ममताका परित्याग किया ? कहिये ॥ १२ ॥

कां वा बुद्धिं विनिश्चित्य सर्वो वै विषयस्तव ।
नावैषि विषयं येन सर्वो वा विषयस्तव ॥ १३ ॥

और किस बुद्धिके निश्चयकें सहारे आप सर्वत्र अपनाही राज्य मानते हैं और किस तरह अपना राज्य नहीं समझते तथा किस तरह संपूर्ण पृथ्वीको अपना देश मानते हैं ? ॥ १३ ॥

जनक उवाच—

अन्तवन्त इहारम्भा विदिताः सर्वकर्मसु ।
नाध्यगच्छमहं यस्मान्ममेदमिति यद्भवेत् ॥ १४ ॥

जनक बोले— इस लोकमें कर्मोंके अनुसार प्राप्त सब अवस्थाएं आदिअन्तवाली हैं, यह सब कर्म ही मुझे विदित है । इस ही निमित्तमें मैं ऐसा नहीं समझता, कि ' यह वस्तु मेरी होगी ॥ १४ ॥

कस्येदमिति कस्य स्वमिति वेदवचस्तथा ।
नाध्यगच्छमहं बुद्ध्या ममेदमिति यद्भवेत् ॥ १५ ॥

यह विषय — वस्तु किसकी है ? यह धन किसका है ?— किसीका भी नहीं है; इस वेद-वाक्यके अनुसार जब मैं विचार करता हूं, तब कोई भी वस्तु मैं अपनी कह सकूं, ऐसी नहीं ज्ञात होती ॥ १५ ॥

एतां बुद्धिं विनिश्चित्य ममत्वं वर्जितं मया।
श्रृणु बुद्धिं तु यां ज्ञात्वा सर्वत्र विषयो मम ॥ १६ ॥

इस ही बुद्धिका अवलम्बन करके मैंने ममत्वका परित्याग किया है और जिस बुद्धिके सहारे मैं सब विषयोंको अपनाही कहा करता हूं, उसे सुनो ॥ १६ ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि गन्धान्घ्राणगतानपि।
तस्मान्मे निर्जिता भूमिर्वशे तिष्ठति नित्यदा ॥ १७ ॥

मैं अपने सुखके निमित्त नासिकामें गई हुई सुगन्धको भी नहीं सूंघना चाहता, इसहीसे मैंने पृथ्वीको जीत लिया है और वह सदा मेरे वशवर्ती होकर निवास करती है ॥ १७ ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि रसानास्येऽपि वर्ततः।
आपो मे निर्जितास्तस्माद्वशे तिष्ठन्ति नित्यदा ॥ १८ ॥

मैं मुखमें गये हुए रसोंको भी अपनी तृप्तिके लिये नहीं पीता, इस ही निमित्त जल मेरे द्वारा निर्जित होकर सदा मेरे वशमें निवास करता है ॥ १८ ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि रूपं ज्योतिश्च चक्षुषा।
तस्मान्मे निर्जितं ज्योतिर्वशे तिष्ठति नित्यदा ॥ १९ ॥

मैं अपने निमित्त नेत्रकी ज्योतिरूपको ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं करता, इसीसे ज्योति मेरे द्वारा निर्जित होकर सदा मेरे वशवर्ती हो रही है ॥ १९ ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि स्पर्शांस्त्वचि गताश्च ये।
तस्मान्मे निर्जितो वायुर्वशे तिष्ठति नित्यदा ॥ २० ॥

मैं अपने लिये त्वग्गत स्पर्श सुखको स्पर्श करनेकी इच्छा नहीं करता, इसीसे वायु मुझसे निर्जित होकर मेरे वशवर्ती होरहा है ॥ २० ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि शब्दाञ्श्रोत्रगतानपि।
तस्मान्मे निर्जिताः शब्दा वशे तिष्ठन्ति नित्यदा ॥ २१ ॥

मैं अपने सुखके निमित्त कानमें गये हुए शब्दोंको नहीं सुनना चाहता, इसलिये शब्द मेरे द्वारा निर्जित होकर निरन्तर मेरे वशवर्ती हो रहते हैं ॥ २१ ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि मनो नित्यं मनोन्तरे।
मनो मे निर्जितं तस्माद्वशे तिष्ठति नित्यदा ॥ २२ ॥

मैं अपने सुखके निमित्त अन्तरस्थित मनको मनन करनेकी इच्छा नहीं करता, इस हेतु मन मुझसे निर्जित होकर सदा मेरे वशवर्ती रहता है ॥ २२ ॥

देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च भूतेभ्योऽतिथिभिः सह ।
इत्यर्थं सर्व एवेमे समारम्भा भवन्ति वै ॥ २३ ॥

मेरे सब कार्यका आरम्भ देवताओं, पितरों, भूत–प्राणियों और अतिथियोंके लिये ही होता है ॥ २३ ॥

ततः प्रहस्य जनकं ब्राह्मणः पुनरब्रवीत् ।
त्वज्जिज्ञासार्थमद्येह विद्धि मां धर्ममागतम् ॥ २४ ॥

अनन्तर ब्राह्मण हंस करके जनकसे फिर बोले-- राजन् ! आज मैं तुम्हें जाननेकी इच्छासे तुम्हारी परीक्षा लेनेके लिये आया हूं, तुम मुझे प्रत्यक्ष धर्म कहके मालूम करो ॥ २४ ॥

त्वमस्य ब्रह्मनाभस्य बुद्ध्यारस्यानिवर्तिनः ।
सत्त्वनेमिनिरुद्धस्य चक्रस्यैकः प्रवर्तकः ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि द्वात्रिंशोऽध्याय ॥ ३२ ॥ ८६४ ॥

तुम ही इस सत्त्वरूपनेमिसे निरुद्ध चक्रस्वरूप अनिवर्ती बुद्धिनिष्ठ दुर्वार ब्रह्मलाभके एकमात्र प्रवर्तक हैं, अब मुझे यह निश्चय है ॥ २५ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें बत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३२ ॥ ८६४ ॥

: ३३ :

ब्राह्मण उवाच —

नाहं तथा भीरु चरामि लोके तथा त्वं मां तर्कयसे स्वबुद्ध्या ।
विप्रोऽस्मि मुक्तोऽस्मि वनेचरोऽस्मि गृहस्थधर्मा ब्रह्मचारी तथास्मि ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोला– हे भीरु ! तुम निज बुद्धिके अनुसार मुझे जैसा समझके ताडन करती हो, मैं जगत्के बीच उस प्रकार बिचरण नहीं करता । मैं ब्राह्मण, जीवन्मुक्त, वनचारी, ब्रह्मचारी गृहस्थी हूं ॥ १ ॥

नाहमस्मि यथा मां त्वं पश्यसे चक्षुषा शुभे ।
मया व्याप्तमिदं सर्वं यत्किंचिज्जगतीगतम् ॥ २ ॥

हे सुन्दरि ! तुम मुझे जैसा अपनी आंखोंसे देखती हो, मैं वैसा नहीं हूं । इस जगत्में जो कुछ देखा जाता है, वह सब मेरे द्वारा व्याप्त होरहा है ॥ २ ॥

ये केचिज्जन्तवो लोके जङ्गमाः स्थावराश्च ह ।
तेषां मामन्तकं विद्धि दारूणामिव पावकम् ॥ ३ ॥

इस जगत्के बीच स्थावर जङ्गम प्रभृति जितने जन्तु हैं, काष्ठको जलानेवाली अग्निकी भांति मुझे उन सबका विनाश करनेवाला अन्तक जानो ॥ ३ ॥

राज्यं पृथिव्यां सर्वस्यामथ वापि त्रिविष्टपे ।
तथा बुद्धिरियं वेत्ति बुद्धिरेव धनं मम ॥ ४ ॥

समस्त पृथ्वी और स्वर्गका जैसा राज्य है, वह इस बुद्धिके द्वारा विदित होता है; इसलिये बुद्धि ही मेरा राज्यधन है ॥ ४ ॥

एकः पन्था ब्राह्मणानां येन गच्छन्ति तद्विदः ।
गृहेषु वनवासेषु गुरुवासेषु भिक्षुषु ।
लिङ्गैर्बहुभिरव्यग्रैरेका बुद्धिरुपास्यते ॥ ५ ॥

ब्राह्मणोंके लिये ज्ञान ही एकमात्र पथ है। ब्रह्मवित् ब्राह्मण लोग उस पथसे ही गृह, वन-वास, गुरुवास और भिक्षुवासके लिये गमन किया करते हैं। वे लोग अचञ्चल अनेक प्रकारके चिन्ह धारण करते हुए एकमात्र बुद्धिकी उपासना किया करते हैं ॥ ५ ॥

नानालिङ्गाश्रमस्थानां येषां बुद्धिः शमात्मिका ।
ते भावमेकमायान्ति सरितः सागरं यथा ॥ ६ ॥

अनेक लिङ्ग तथा अनेक आश्रमवालोंकी बुद्धि शमगुणावलम्बिनी होनेसे एक ही समुद्रमें गमन करनेवाली नदियोंकी भांति वे लोग एकही भावको सत्स्वरूप ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

बुद्ध्यायं गम्यते मार्गः शरीरेण न गम्यते ।
आद्यन्तवन्ति कर्माणि शरीरं कर्मबन्धनम् ॥ ७ ॥

यह पथ बुद्धिके द्वारा प्राप्त होता है, शरीरके द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता; सब कर्म आदि और अन्त विशिष्ट हैं, शरीर कर्मके द्वारा बद्ध होता है ॥ ७ ॥

तस्मात्ते सुभगे नास्ति परलोककृतं भयम् ।
मद्भावभावनिरता ममैवात्मानमेष्यसि ॥ ८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकेपर्वणि त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥ ८७२ ॥

हे सुभगे ! तुम्हें परलोकके लिये भय नहीं है। तुम परमात्म भावमें रत होनेसे अन्तमें तुम मेरे ही स्वरूपको प्राप्त होगी ॥ ८ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें तैतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३३ ॥ ८७२ ॥

: ३४ :

ब्राह्मण्युवाच—

नेदमल्पात्मना शक्यं वेदितुं नाकृतात्मना ।
बहु चाल्पं च संक्षिप्तं विप्लुतं च मतं मम ॥ १ ॥

ब्राह्मणी बोली—इस विषयको अल्पात्मा तथा अकृतात्मा पुरुष जाननेमें समर्थ नहीं हो सकता; मेरी बुद्धि बहुत थोडी और अंतःकरण अशुद्ध है, आपने यह ज्ञान संक्षिप्त स्वरूपमें कहा है; इसलिये मुझे समझनेमें कठिन है ॥ १ ॥

उपायं तु मम ब्रूहि येनैषा लभ्यते मतिः ।
तन्मन्ये कारणतमं यत एषा प्रवर्तते ॥ २ ॥

जिसके सहारे यह बुद्धि मुझे प्राप्त होगी, आप मुझसे उसका उपाय कहिये । मेरा पूर्ण विश्वास है कि वह उपाय आपके कारणही मुझे प्राप्त होगा ॥ २ ॥

ब्राह्मण उवाच—

अरणीं ब्राह्मणीं विद्धि गुरुरस्योत्तरारणिः ।
तपःश्रुतेऽभिमथ्नीतो ज्ञानाग्निर्जायते ततः ॥ ३ ॥

ब्राह्मण बोले— ब्राह्मणी अर्थात् ब्रह्मनिष्ठा बुद्धिको नीचेकी अरणी और ब्रह्मज्ञान–गुरुको उपरकी अरणी जानो; दोनों अरणी मनन, निदिध्यासन और वेदान्त सुननेपर मथित होनेसे उनसे ज्ञानाग्नि उत्पन्न होती है ॥ ३ ॥

ब्राह्मण्युवाच—

यदिदं ब्रह्मणो लिङ्गं क्षेत्रज्ञमिति संज्ञितम् ।
ग्रहीतुं येन तच्छक्यं लक्षणं तस्य तत्क नु ॥ ४ ॥

ब्राह्मणी बोली— क्षेत्रज्ञ नामक यह प्रसिद्ध शरीरमें स्थित जीवात्मा जो ब्रह्मलिङ्गके स्वरूपमें बताया जाता है, वह जिसके द्वारा जाना जाता है, उसका लक्षण क्या है ? ॥ ४ ॥

ब्राह्मण उवाच—

अलिङ्गो निर्गुणश्चैव कारणं नास्य विद्यते ।
उपायमेव वक्ष्यामि येन गृह्येत वा न वा ॥ ५ ॥

ब्राह्मण बोला— ब्रह्म अलिङ्ग और निर्गुण है, इसलिये उसका कारण मालूम नहीं होता; तब जिसके द्वारा वह गृहीत हो, वा न हो, उसका उपाय कहता हूं ॥ ५ ॥

सम्यगप्युपदिष्टश्च भ्रमरैरिव लक्ष्यते ।
कर्मबुद्धिरबुद्धित्वाज्ज्ञानलिङ्गैरिवाश्रितम् ॥ ६ ॥

उस क्षेत्रज्ञको ग्रहण करनेके लिये यथार्थ उपाय कहा गया है; जैसे ऊपरमें उडनेवाले भौरोंके द्वारा गन्ध मालूम होते हैं, वैसे ही पूर्वोक्त श्रवण आदि उपायोंसे पूरी रीतिसे अपने आप जाना जाता है । जिसकी बुद्धि कर्मके द्वारा परिशोधित नहीं होती, वह पुरुष अबुद्धिसे असङ्ग ब्रह्मको भी बुद्धिके आश्रित ससङ्ग कहके बोध किया करता है ॥ ६ ॥

इदं कार्यमिदं नेति न मोक्षेषूपदिश्यते ।
पश्यतः शृण्वतो बुद्धिरात्मनो येषु जायते ॥ ७ ॥

मोक्षके साधनोंके विषयमें “ यह कर्तव्य है और यह अकर्तव्य है, ” ऐसा उपदेश नहीं कहा जाता, क्योंकि देखने तथा सुननेवालेकी बुद्धि आत्माके स्वरूपमें स्वयं ही निश्चित होती है, वही यथार्थ है ॥ ७ ॥

+

यावन्त इह शक्येरंस्तावन्तोंऽशान्प्रकल्पयेत् ।
व्यक्तानव्यक्तरूपांश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ८ ॥

इस संसारमें मोक्षका अंश अनेक अर्थयुक्त, समस्त पदरूपी, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणरूपी, अव्यक्त माया अविद्यारूपी और व्यक्त शब्दादिरूपसे सैंकडों सहस्रों प्रकारका है ॥ ८ ॥

सर्वान्नानात्वयुक्तांश्च सर्वान्प्रत्यक्षहेतुकान् ।
यतः परं न विद्येत ततोऽभ्यासे भविष्यति ॥ ९ ॥

इतना ही नहीं वरन जितने प्रकारके अंशोंकी कल्पना हो सके, उतने प्रकारके अंशोंकी कल्पना करे; परन्तु शम आदि पूरी रीतिसे अभ्यस्त हेनेपर जिसके अनन्तर और कुछ भी नहीं है, वह वस्तु प्राप्त होगी ॥ ९ ॥

वासुदेव उवाच—

ततस्तु तस्या ब्राह्मण्या मतिः क्षेत्रज्ञसंक्षये ।
क्षेत्रज्ञादेव परतः क्षेत्रज्ञोऽन्यः प्रवर्तते ॥ १० ॥

वासुदेव बोले— उसके अनन्तर क्षेत्रजीवके परमात्मामें लीन होनेपर उस ब्राह्मणीकी बुद्धि —जो क्षेत्रज्ञके संशयसे युक्त थी— क्षेत्रज्ञानके अनन्तर क्षेत्रज्ञस्वरूपमें प्रवृत्त हुई ॥ १० ॥

अर्जुन उवाच—

क्व नु सा ब्राह्मणी कृष्ण क्व चासौ ब्राह्मणर्षभः ।
याभ्यां सिद्धिरियं प्राप्ता तावुभौ वद मेऽच्युत ॥ ११ ॥

अर्जुन बोले— हे श्रीकृष्ण ! वह ब्राह्मणी कौन थी और वह ब्राह्मण श्रेष्ठ कौन था ? अच्युत ! जिन दोनोंने यह सिद्धि प्राप्त की है, उन दोनोंका परिचय मुझे बताइये ॥ ११ ॥

वासुदेव उवाच—

मनो मे ब्राह्मणं विद्धि बुद्धिं मे विद्धि ब्राह्मणीम् ।
क्षेत्रज्ञ इति यश्चोक्तः सोऽहमेव धनंजय ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥ ८८४ ॥

श्रीभगवान् वासुदेव बोले— हे धनञ्जय ! तुम मेरे मनको ब्राह्मण और मेरी बुद्धिको ब्राह्मणी जानो और जिसका क्षेत्रज्ञस्वरूपसे वर्णन हुआ है, वह मैंही हूं ॥ १२ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें चौतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३४ ॥ ८८४ ॥

: ३५ :

अर्जुन उवाच—

ब्रह्म यत्परमं वेद्यं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ।
भवतो हि प्रसादेन सूक्ष्मे मे रमते मतिः ॥ १ ॥

अर्जुन बोले– हे श्रीकृष्ण ! जाननेयोग्य परब्रह्म स्वरूप है, उसकी तुम मेरे समीप व्याख्या करो; तुम्हारे ही प्रसादसे मेरी बुद्धि सूक्ष्म विषयके श्रवणमें लग रही है ॥ १ ॥

वासुदेव उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं मोक्षसंयुक्तं शिष्यस्य गुरुणा सह ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले– इस विषयमें पण्डित लोग मोक्षविषयक गुरु-शिष्यके संवादयुक्त यह प्राचीन इतिहास कहा करते हैं ॥ २ ॥

कश्चिद्ब्राह्मणमासीनमाचार्यं संशितव्रतम् ।
शिष्यः पप्रच्छ मेधावी किंस्विच्छ्रेयः परंतप ॥ ३ ॥

हे परन्तप ! किसी बुद्धिमान् शिष्यने आसनपर बैठे हुए उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्रह्मनिष्ठ आचार्यसे पूछा, हे प्रभु ! इस जगत्के बीच कल्याणमय क्या है ? ॥ ३ ॥

भगवन्तं प्रपन्नोऽहं निःश्रेयसपरायणः ।
याचे त्वां शिरसा विप्र यद्ब्रूयां तद्विचक्ष्व मे ॥ ४ ॥

यह विषय आप मेरे समीप कहिये । मैं मोक्षपरायण होके आपका शरणागत हुआ हूं; मैं सिर झुकाके आपके निकट यही प्रार्थना करता हूं कि आप मेरे प्रश्नका यथावत् उत्तर दीजिये ॥ ४ ॥

तमेवंवादिनं पार्थ शिष्यं गुरुरुवाच ह ।
कथयस्व प्रवक्ष्यामि यत्र ते संशयो द्विज ॥ ५ ॥

हे पार्थ ! इस प्रकार कहनेवाले उससे गुरुने कहा, हे द्विज ! जिस विषयमें तुम्हें संशय उपस्थित हुआ है, वह सब विषय तुम मुझसे पूछो, मैं तुम्हें बताऊंगा ॥ ५ ॥

इत्युक्तः स कुरुश्रेष्ठ गुरुणा गुरुवत्सलः ।
प्राञ्जलिः परिपप्रच्छ यत्तच्छृणु महामते ॥ ६ ॥

हे महाबुद्धिमान् कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! गुरुवत्सल शिष्यने गुरुका ऐसा वचन सुनके हाथ जोडके गुरुसे जो पूछा था, उसे सुनो ॥ ६ ॥

शिष्य उवाच—

कुतश्चाहं कुतश्च त्वं तत्सत्यं ब्रूहि यत्परम् ।
कुतो जातानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ ७ ॥

शिष्य बोला– हे विप्र श्रेष्ठ ! मैं कहांसे उत्पन्न हुआ हूं ? आप किससे उत्पन्न हुए हैं ? जगत्के चराचर प्राणी किससे उत्पन्न हुए हैं ? जो परम सत्तत्व है, उसे आप कहिये ॥७॥

केन जीवन्ति भूतानि तेषामायुः किमात्मकम् ।
किं सत्यं किं तपो विप्र के गुणाः सद्भिरीरिताः ।
के पन्थानः शिवाः सन्ति किं सुखं किं च दुष्कृतम् ॥ ८ ॥

वे सब जीव किसीके द्वारा जीवित रहते हैं ? उनके परमायुकी क्या संख्या है ? सत्य क्या है ? तपस्या क्या है ? और सत्पुरुषोंके द्वारा कौनसे गुण वर्णित हुए हैं ? कौनसे पथ शुभकर है ? सुख क्या है ? पाप क्या है ? ॥ ८ ॥

एतान्मे भगवन्प्रश्नान्याथातथ्येन सत्तम ।
वक्तुमर्हसि विप्रर्षे यथावदिह तत्त्वतः ॥ ९ ॥

हे श्रेष्ठतम ब्राह्मण ! मेरे इन सब प्रश्नोंका तत्त्वतः यथार्थ रीतिसे उत्तर देनेमें आप समर्थ हैं ॥९॥

वासुदेव उवाच—

तस्मै संप्रतिपन्नाय यथावत्परिपृच्छते ।
शिष्याय गुणयुक्ताय शान्ताय गुरुवर्तिने ।
छायाभूताय दान्ताय यतये ब्रह्मचारिणे ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण बोले– हे पार्थ ! वह शिष्य सब प्रकारसे गुरुकी शरणमें आया था, यथोचित् रीतिसे प्रश्न करता था; गुणवान्, शान्त और छायाकी भांति सदैव गुरुके पास रहता था, जितेन्द्रिय संयमी और ब्रह्मचारी था ॥ १० ॥

तान्प्रश्नानब्रवीत्पार्थ मेधावी स धृतव्रतः ।
गुरुः कुरुकुलश्रेष्ठ सम्यक्सर्वानरिंदम ॥ ११ ॥

उस शिष्यके पूछनेपर मेधावी और व्रतधारी गुरुने शिष्यके सभी प्रश्नोंका यथार्थ रीतिसे उत्तर दिया ॥ ११ ॥

ब्रह्मप्रोक्तमिदं धर्ममृषिप्रवरसेवितम् ।
वेदविद्यासमावाप्यं तत्त्वभूतार्थभावनम् ॥ १२ ॥

तुमने वेदविद्याका अवलम्बन करके जो प्रश्न किये हैं, उनके विषयमें ब्रह्माने ऋषियोंके द्वारा सेवित अबाधितार्थके धर्मके विषयमें विचारयुक्त यह वचन कहा था ॥ १२ ॥

भूतभव्यभविष्यादिधर्मकामार्थनिश्चयम् ।
सिद्धसंघपरिज्ञातं पुराकल्पं सनातनम् ॥ १३ ॥

भूत, वर्तमान, भविष्यत् आदिके धर्म, अर्थ और कामके स्वरूपका निश्चय किया गया है; सिद्धोंके समुदायसे ज्ञात, पूर्वकालमें निर्णित, सनातन ॥ १३ ॥

प्रवक्ष्येऽहं महाप्राज्ञ पदमुत्तममद्य ते ।
बुद्ध्वा यदिह संसिद्धा भवन्तीह मनीषिणः ॥ १४ ॥

हे महाप्राज्ञ ! ऐसे उत्तम ज्ञानका, जिसको जानकर विद्वान् लोग सिद्ध होते हैं, अब आज मैं तुमसे वर्णन करता हूं ॥ १४ ॥

उपगम्यर्षयः पूर्वं जिज्ञासन्तः परस्परम् ।
बृहस्पतिभरद्वाजौ गौतमो भार्गवस्तथा ॥ १५ ॥

पहले मनीषी महर्षिगण इकट्ठे होकर निज निज बुद्धिके अनुसार जिज्ञासा करते थे; बृहस्पति, भरद्वाज, गौतम, भृगुनन्दन जमदग्नि ॥ १५ ॥

वसिष्ठः काश्यपश्चैव विश्वामित्रोऽत्रिरेव च ।
मार्गान्सर्वान्परिक्रम्य परिश्रान्ताः स्वकर्मभिः ॥ १६ ॥

वसिष्ठ, कश्यप, विश्वामित्र और अत्रि आदि महर्षियोंने निज निज कर्मोंके द्वारा सब मार्गोंमें परिभ्रमण करते हुए परिश्रान्त होकर ॥ १६ ॥

ऋषिमाङ्गिरसं वृद्धं पुरस्कृत्य तु मे द्विजाः ।
ददृशुर्ब्रह्मभवने ब्रह्माणं वीतकल्मषम् ॥ १७ ॥

वृद्ध अङ्गिरामुनिको अगाडी करके ब्रह्मभवनमें जाकर पापरहित निर्मल ब्रह्माका दर्शन किया ॥ १७ ॥

तं प्रणम्य महात्मानं सुखासीनं महर्षयः ।
पप्रच्छुर्विनयोपेता निःश्रेयसमिदं परम् ॥ १८ ॥

अनन्तर महर्षियोंने सुखसे बैठे हुए उन महात्मा ब्रह्माको प्रणाम करके विनीतभावसे उनसे परम मुक्तिका विषय इस प्रकार पूंछा ॥ १८ ॥

कथं कर्म क्रियात्साधु कथं मुच्येत किल्बिषात् ।
के नो मार्गाः शिवाश्च स्युः किं सत्यं किं च दुष्कृतम् ॥ १९ ॥

हे ब्रह्मन् ! किस प्रकार श्रेष्ठकर्म करना चाहिये ? किस प्रकार मनुष्य पापसे छूटेगा ? हम लोगोंके लिये कौनसे मार्ग मङ्गलजनक हैं ? सत्य क्या है और दुष्कृत क्या है ? ॥ १९ ॥

केनोभौ कर्मपन्थानौ महत्त्वं केन विन्दति ।
प्रलयं चापवर्गं च भूतानां प्रभवाप्ययौ ॥ २० ॥

कर्मोंके वे दोनों मार्ग किससे हैं ? किससे महत्त्व मिलता है ? प्रलय किसे कहते हैं ? मोक्ष क्या है ? और भूतोंकी उत्पत्ति तथा विनाश किसे कहते हैं ? ॥ २० ॥

इत्युक्तः स मुनिश्रेष्ठैर्यदाह प्रपितामहः ।
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि शृणु शिष्य यथागमम् ॥ २१ ॥

हे शिष्य ! मुनिश्रेष्ठ ऋषियोंसे इस प्रकार पूछे जानेपर प्रपितामह ब्रह्माने उनसे जो कहा था, मैं तुमसे वही विषय शास्त्रानुसार कहता हूं, सुनो ॥ २१ ॥

ब्रह्मोवाच—

सत्याद्भूतानि जातानि स्थावराणि चराणि च ।
तपसा तानि जीवन्ति इति तद्विक्त सुव्रताः ॥ २२ ॥

ब्रह्मा बोले— हे सुव्रत द्विजगण ! तुम लोग यह निश्चय जानो, कि सत्य अर्थात् त्रिकालावस्थायी ब्रह्मसे अव्यक्त प्रभृति सब भूत, विषयादि स्थावर और जरायुजादि चरसमूह उत्पन्न होकर तपरूपी कर्मके द्वारा जीवित रहते हैं ॥ २२ ॥

स्वां योनिं पुनरागम्य वर्तन्ते स्वेन कर्मणा ।
सत्यं हि गुणसंयुक्तं नियतं पञ्चलक्षणम् ॥ २३ ॥

परन्तु जब वे लोग निज योनिभूत ब्रह्म पथको फिर आगमन करते हैं, तब ध्यानसे च्युत होकर केवल निज कर्ममार्गमें ही स्थित रहते हैं। व्यावहारिक गुणयुक्त सत्य ही पांच लक्षणोंवाला निश्चित किया गया है ॥ २३ ॥

ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं सत्यं चैव प्रजापतिः ।
सत्याद्भूतानि जातानि भूतं सत्यमयं महत् ॥ २४ ॥

अकेला ब्रह्म ईश्वर सत्य है । तप अर्थात् धर्म सत्य है, प्रजापति जीव भी सत्य है; सत्यसे ही सर्वभूत उत्पन्न हुए हैं और सत्यमय जगत् महान् है ॥ २४ ॥

तस्मात्सत्याश्रया विप्रा नित्यं योगपरायणाः ।
अतीतक्रोधसंतापा नियता धर्मसेतवः ॥ २५ ॥

इसही निमित्त सत्याश्रित, क्रोध और सन्ताप विहीन, नियतेन्द्रिय तथा सदा योगपरायण विप्रगण धर्मसेतु कहाते हैं ॥ २५ ॥

अन्योन्यनियतान्वैद्यान्धर्मसेतुप्रवर्तकान् ।
तानहं संप्रवक्ष्यामि शाश्वतान्लोकभावनान् ॥ २६ ॥

जो लोग परस्परके भयसे धर्मको अतिक्रम नहीं करते, उन विद्वान् धर्मसेतुप्रवर्तक और शाश्वत लोकचिन्तक ब्राह्मणोंका विषय मैं तुमसे कहता हूं ॥ २६ ॥

चातुर्विद्यं तथा वर्णांश्चतुरश्चाश्रमान्पृथक् ।
धर्ममेकं चतुष्पादं नित्यमाहुर्मनीषिणः ॥ २७ ॥

मनीषीवृन्द चतुष्पाद एकमात्र जिस धर्मको नित्य कहा करते हैं, वही धर्म; धर्मार्थ काम और मोक्षप्रद चारों विद्या, ब्राह्मणादि चारों वर्ण तथा ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमोंको पृथक् रीतिसे कहता हूं ॥ २७ ॥

पन्थानं वः प्रवक्ष्यामि शिवं क्षेमकरं द्विजाः ।
नियतं ब्रह्मभावाय यातं पूर्वं मनीषिभिः ॥ २८ ॥

हे द्विजगण! पहले मनीषिवृन्द ब्रह्मप्राप्तिके निमित्त सदा इस लोकमें जिस पथसे गमन करते थे, जो ब्रह्मभावकी प्राप्तिका सुनिश्चित साधन है, उस मङ्गलजनक पथका सब भांति तुम्हारे समीप वर्णन कहता हूं, तुम लोग सुनो ॥ २८ ॥

गदतस्तं ममाद्येह पन्थानं दुर्विदं परम् ।
निबोधत महाभागा निखिलेन परं पदम् ॥ २९ ॥

हे महाभाग! जो संपूर्णतया परमपद स्वरूप है, उस अत्यंत दुर्विज्ञेय मार्गको यहां अब मुझसे सुनो ॥ २९ ॥

ब्रह्मचारिकमेवाहुराश्रमं प्रथमं पदम् ।
गार्हस्थ्यं तु द्वितीयं स्याद्वानप्रस्थमतः परम् ।
ततः परं तु विज्ञेयमध्यात्मं परमं पदम् ॥ ३० ॥

पण्डित लोग आश्रमोंमें ब्रह्मचर्यको प्रथम आश्रम, गार्हस्थ्यको दूसरा और वानप्रस्थ तीसरा आश्रम है; अनन्तर संन्यास आश्रम है, ऐसेकहा करते हैं। इसमें आत्म ज्ञानकी विशेषता है, इसलिये इसे परमपद स्वरूप मानना चाहिये ॥ ३० ॥

ज्योतिराकाशमादित्यो वायुरिन्द्रः प्रजापतिः ।
नोपैति यावदध्यात्मं तावदेतान्न पश्यति ।
तस्योपायं प्रवक्ष्यामि पुरस्तात्तं निबोधत ॥ ३१ ॥

जबतक आध्यात्मिक ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक अग्नि, आकाश, आदित्य, वायु, इंद्र और प्रजापति प्रभृतिके यथार्थ तत्त्वको नहीं जानता। इसलिये प्रथम उसआत्म ज्ञानका उपाय कहता हूं, आप सब सुनिये ॥ ३१ ॥

फलमूलानिलभुजां मुनीनां वसतां वने ।
वानप्रस्थं द्विजातीनां त्रयाणामुपदिश्यते ॥ ३२ ॥

वायु–फल–मूलके आहारपर रहकर वनवासी मुनियोंकी भांति रहनेसे वानप्रस्थ धर्मका पालन होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीनों द्विजातियोंके लियेही वानप्रस्थ आश्रम विहित है ॥ ३२ ॥

सर्वेषामेव वर्णानां गार्हस्थ्यं तद्विधीयते।
श्रद्धालक्षणमित्येवं धर्मं धीराः प्रचक्षते ॥ ३३ ॥

सभी वर्णोंके लिये गार्हस्थ आश्रमका विधान है। पण्डित लोग श्रद्धा अर्थात् आस्तिक्य बुद्धिको ही धर्मका मुख्य लक्षण कहा करते हैं ॥ ३३ ॥

इत्येते देवयाना वः पन्थानः परिकीर्तिताः।
सद्भिरध्यासिता धीरैः कर्मभिर्धर्मसेतवः ॥ ३४ ॥

इसप्रकार तुम लोगोंके लिये देवयानमार्गप्राप्तिका पथ वर्णित हुआ है। धैर्यवान् साधु लोग निज कर्मोंके सहारे धर्मके सेतुस्वरूप पथसे गमन किया करते हैं ॥ ३४ ॥

एतेषां पृथगध्यास्ते यो धर्मं संशितव्रतः।
कालात्पश्यति भूतानां सदैव प्रभवाप्ययौ ॥ ३५ ॥

जो उत्तम व्रतका अनुसरण करनेवाला मनुष्य इन सबके बीच एक मात्र धर्मकोही पृथक् रूपसे दृढरूपसे अवलम्बन करता है, वह कालक्रमसे सर्वदा प्राणियोंकी उत्पत्ति और विनाशका प्रत्यक्ष दर्शन करता है ॥ ३५ ॥

अतस्तत्त्वानि वक्ष्यामि याथातथ्येन हेतुना।
विषयस्थानि सर्वाणि वर्तमानानि भागशः ॥ ३६ ॥

इसके अनन्तर मैं यथार्थ युक्तिके अनुसार पदार्थोंमें विभागक्रमसे रहनेवाले संपूर्ण तत्त्वोंको यथावत् कहता हूं, सुनो ॥ ३६ ॥

महानात्मा तथाऽव्यक्तमहंकारस्तथैव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च महाभूतानि पञ्च च ॥ ३७ ॥

महान् आत्मा, अव्यक्त प्रकृति, अहंकार, श्रोत्रादि दसों इन्द्रिय, मन बिषयादि पञ्चमहाभूत ॥ ३७ ॥

विशेषाः पञ्चभूतानामित्येषा वैदिकी श्रुतिः।
चतुर्विंशतिरेषा वस्तत्त्वानां संप्रकीर्तिता ॥ ३८ ॥

और उनके शब्दादि विशेष गुण, ये चोबीस तत्त्व बैदिकी श्रुति है; इस ही प्रकार इन तत्त्वोंकी पचीस संख्या वर्णित हुई है ॥ ३८ ॥

तत्त्वानामथ यो वेद सर्वेषां प्रभवाप्ययौ।
स धीरः सर्वभूतेषु न मोहमधिगच्छति ॥ ३९ ॥

जो मनुष्य इन पचीस तत्त्वोंकी उत्पत्ति और विनाशको विशेष रीतिसे जानता है, वह सब प्राणियोंमें धीर है और उसे मोह नहीं प्राप्त होता ॥ ३९ ॥

तत्त्वानि यो वेदयते यथातथं गुणांश्च सर्वानखिलाश्च देवताः ।
विधूतपाप्मा प्रविमुच्य बन्धनं स सर्वलोकानमलान्समश्नुते ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि पंचत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥ ९२४ ॥

और जो मनुष्य संपूर्ण तत्त्वों, सत्त्वादि गुणों तथा सब देवताओंको विशेष रीतिसे जानता है, वह निष्पाप होकर बंधनोंसे छूटकर, निर्मल लोकोंका सुख प्राप्त करता है ॥ ४० ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें पैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३५ ॥ ॥ ९६४ ॥

: ३६ :

ब्रह्मोवाच—

तदव्यक्तमनुद्रिक्तं सर्वव्यापि ध्रुवं स्थिरम् ।
नवद्वारं पुरं विद्यात्त्रिगुणं पञ्चधातुकम् ॥ १ ॥

ब्रह्मा बोले– उन तत्त्वोंके बीच जो त्रिगुणात्मक सर्वकार्यव्यापी अविनाशी और स्थिर है, उसे ही जानना चाहिये, कि वही साम्यावस्थामें स्थित अव्यक्त प्रभृति स्पष्ट होकर नवद्वार-युक्त पञ्चधातुमय पुररूपसे शरीरके रूपमें परिणत होता है ॥ १ ॥

एकादशपरिक्षेपं मनो व्याकरणात्मकम् ।
बुद्धिस्वामिकमित्येतत्परमेकादशं भवेत् ॥ २ ॥

इस पुरमें जीवात्मा बिषयभोग–वासनासे जिनके द्वारा प्रेरित होता है, ऐसी मनसहित ग्यारह इंद्रियां हैं। और मनसे सङ्कल्पसम्मत सब विषय प्रकट होते हैं, उन ग्यारह इन्द्रियोंसे युक्त इस नगरीकी स्वामिनी बुद्धि है, ग्यारहवां मन दस इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

त्रीणि स्रोतांसि यान्यस्मिन्नाप्यायन्ते पुनः पुनः ।
प्रणाडयस्तिस्र एवैताः प्रवर्तन्ते गुणात्मिकाः ॥ ३ ॥

धर्मप्राबल्य हिंसारहित शुक्ल, हिंसा प्राबल्य कृष्ण तथा हिंसायुक्त प्रवृत्तिधर्म, प्राबल्य शुक्ल कृष्ण ये तीनों उस पुरस्थित नदीके स्रोत हैं; ये स्रोत त्रिगुणात्मक संस्काररूप तीन नाडियोंके द्वारा बार बार भरे जाते तथा सब नाडियोंसे बार बार प्रवाहित हुआ करते हैं ॥ ३ ॥

तमो रजस्तथा सत्त्वं गुणानेतान्प्रचक्षते ।
अन्योन्यमिथुनाः सर्वे तथान्योन्यानुजीविनः ॥ ४ ॥

सत्त्व, रज, और तम इन तीनोंको गुण कहा करते हैं । ये तीनों गुण परस्पर एक दूसरेके मिथुनभावसे रहनेवाले, एक दूसरेके आश्रित ॥ ४ ॥

×

अन्योन्यापाश्रयाश्चैव तथान्योन्यानुवर्तिनः ।
अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च त्रिगुणाः पञ्च धातवः ॥ ५ ॥

एक दूसरेकी मददसे रहनेवाले, एक दूसरेका अनुसरण करनेवाले और परस्पर मिल-जुलकर रहनेवाले हैं । पांचो महाभूत त्रिगुणात्मक हैं ॥ ५ ॥

तमसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः ।
रजसश्चापि सत्त्वं स्यात्सत्त्वस्य मिथुनं तमः ॥ ६ ॥

तमोगुणका अभिभावक सत्त्व गुण है और सत्त्वगुणका अभिभावक रजोगुण है। इसीप्रकार रजोगुणका अभिभावक सत्त्व गुण है और सत्त्वगुणका अभिभावक तमोगुण है ॥ ६ ॥

नियम्यते तमो यत्र रजस्तत्र प्रवर्तते ।
निगृह्यते रजो यत्र सत्त्वं तत्र प्रवर्तते ॥ ७ ॥

जहां तमोगुण वशमें लाया जाता है, उस स्थानमें रजोगुण प्रवर्तित हुआ करता है और जहां रजोगुण नियंत्रित किया जाता है, उस स्थलमें सत्त्वगुण प्रवर्तित हुआ करता है ॥७॥

नैशात्मकं तमो विद्यात्त्रिगुणं मोहसंज्ञितम् ।
अधर्मलक्षणं चैव नियतं पापकर्मसु ॥ ८ ॥

तमको अन्धकाररूप, त्रिगुणात्मक मोह नामक जानना चाहिये । वह अधर्मका आचरण करानेवाला और पापकर्ममें विरत लोगोंमें निश्चयपूर्वक रहता है ॥ ८ ॥

प्रवृत्त्यात्मकमेवाहू रजः पर्यायकारकम् ।
प्रवृत्तं सर्वभूतेषु दृश्यतोत्पत्तिलक्षणम् ॥ ९ ॥

रजोगुणको प्रवृत्तिरूप और सृष्टिकी उत्पत्तिका कारण कहा है । सर्वभूतोंमें इसकी प्रवृत्ति देखी जाती है । यह दृश्य जगत् उसीका स्वरूप है, उत्पत्ति उसका लक्षण है ॥ ९ ॥

प्रकाशं सर्वभूतेषु लाघवं श्रद्दधानता ।
सात्त्विकं रूपमेवं तु लाघवं साधुसंमितम् ॥ १० ॥

सर्व भूतोंमें प्रकाश, नम्रता और श्रद्धा प्रभृति सौष्ठव सात्त्विक गुणका रूप है । नम्रताकी साधुपुरुषोंने प्रशंसा की है ॥ १० ॥

एतेषां गुणतत्त्वं हि वक्ष्यते हेत्वहेतुभिः ।
समासव्यासयुक्तानि तत्त्वतस्तानि वित्त मे ॥ ११ ॥

सत्त्वादि गुणोंके समास और व्यासयुक्त कार्यस्वरूप उन तत्त्व हेतुके द्वारा यथार्थ रीतिसे वर्णित हुए हैं; तुम लोग उसे सुनो ॥ ११ ॥

संमोहोऽज्ञानमत्यागः कर्मणामविनिर्णयः ।
स्वप्नः स्तम्भो भयं लोभः शोकः सुकृतदूषणम् ॥ १२ ॥

सम्मोह, अज्ञान, त्याग नहीं करना, कर्मोंका निर्णय न कर सकना, निद्रा, स्तम्भ, भय, लोभ, शोक, सुकृतोंमें दोष देखना ॥ १२ ॥

अस्मृतिश्चाविपाकश्च नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
निर्विशेषत्वमन्धत्वं जघन्यगुणवृत्तिता ॥ १३ ॥

विस्मरण, परिणामका विचार नहीं करना, नास्तिक्य, दुश्चारित्र्य, निर्विशेषत्व, अन्धत्व, जघन्य अर्थात् हिंसा आदिमें प्रवृत्ति ॥ १३ ॥

अकृते कृतमानित्वमज्ञाने ज्ञानमानिता ।
अमैत्री विकृतो भावो अश्रद्धा मूढभावना ॥ १४ ॥

अकार्यको कार्य, अज्ञानमें ज्ञानशालिता, शत्रुत्व, विकृत भाव रखना, अश्रद्धा, मूर्खताकी भावना करना ॥ १४ ॥

अनार्जवमसंज्ञत्वं कर्म पापमचेतना ।
गुरुत्वं सन्नभावत्वमसितत्वमवाग्गतिः ॥ १५ ॥

कुटिलता, निर्बुद्धता, पापकारित्व, अचेतनत्व, गुरुत्व अर्थात् आलससे जडता, सन्नभावत्व अर्थात् देवादिमें भक्तिहीनता, अजितेन्द्रियत्व और नीच कर्मोंमें अनुरागिता ॥ १५ ॥

सर्व एते गुणा विप्रास्तामसाः संप्रकीर्तिताः ।
ये चान्ये नियता भावा लोकेऽस्मिन्मोहसंज्ञिताः ॥ १६ ॥

ये सब दुर्गुण तामसके विद्वानोंने वर्णित किये हैं । इस लोकमें मोहसंज्ञित दूसरे जो सब भाव विदित हैं ॥ १६ ॥

तत्र तत्र नियम्यन्ते सर्वे ते तामसा गुणाः ।
परिवादकथा नित्यं देवब्राह्मणवैदिकाः ॥ १७ ॥

तामस गुण उन्हीं भावोंमें नियमके अनुसार उपस्थित हुआ करते हैं । सदा देवता, ब्राह्मण और वेदकी निन्दा ॥ १७ ॥

अत्यागश्चाभिमानश्च मोहो मन्युस्तथाक्षमा ।
मत्सरश्चैव भूतेषु तामसं वृत्तमिष्यते ॥ १८ ॥

अत्याग, अभिमान, मोह, क्रोध, असहनशीलता और सब भूतोंके प्रति मत्सर करना, ये सब तामस वृत्तिके आचरण हैं ॥ १८ ॥

वृथारम्भाश्च ये केचिद्वृथादानानि यानि च ।
वृथाभक्षणमित्येतत्तामसं वृत्तमिष्यते ॥ १९ ॥

निरर्थक कार्योंका आरम्भ, योग्य विचार न करके व्यर्थ दान देना और व्यर्थ भोजन करना— ये भी तामसिक कार्य हैं ॥ १९ ॥

अतिवादोऽतितिक्षा च मात्सर्यमतिमानिता ।
अश्रद्दधानता चैव तामसं वृत्तमिष्यते ॥ २० ॥

अतिवाद, अतितिक्षा, मात्सर्य, अभिमानिता और श्रद्धाहीनता, ये सब तामस वृत्ति कहके वर्णित हुए हैं ॥ २० ॥

एवंविधास्तु ये केचिल्लोकेऽस्मिन्पापकर्मिणः ।
मनुष्या भिन्नमर्यादाः सर्वे ते तामसाः जनाः ॥ २१ ॥

इस लोकमें इस ही प्रकार जो सब पापकर्मवाले मर्यादारहित मनुष्य विद्यमान हैं, वे सब तामस वृत्तिके लोग कहके वर्णित हुए हैं ॥ २१ ॥

तेषां योनिं प्रवक्ष्यामि नियतां पापकर्मणाम् ।
अवाङ्निरयभावाय तिर्यङ्निरयगामिनः ॥ २२ ॥

ऐसे पापकर्मवाले तामस मनुष्योंकी दूसरे जन्ममें जो योनि निश्चित की हुई है, उसको प्रकृष्ट रूपसे कहूंगा; वे लोग अधःपतनके निमित्त तिर्यक्योनिमें गमन किया करते हैं ॥ २२ ॥

स्थावराणि च भूतानि पशवो वाहनानि च ।
क्रव्यादा दन्दशूकाश्च कृमिकीटविहंगमाः ॥ २३ ॥

स्थावर जीव, पशु, वाहन, राक्षस, सर्प, कीडे–मकोडे, पक्षी ॥ २३ ॥

अण्डजा जन्तवो ये च सर्वे चापि चतुष्पदाः ।
उन्मत्ता बधिरा मूका ये चान्ये पापरोगिणः ॥ २४ ॥

अण्डज प्राणी, चतुष्पाद जन्तु, पागल, बहरे, गूंगे, तथा अन्य पापरोगी ॥ २४ ॥

मग्नास्तमसि दुर्वृत्ताः स्वकर्मकृतलक्षणाः ।
अवाक्स्रोतस इत्येते मग्नास्तमसि तामसाः ॥ २५ ॥

ये सब तमोगुणमें डूबे रहते हैं। अपने किये हुए कर्मोंके अनुसार लक्षणसम्पन्न, ये दुराचारी जीव है और उनकी चित्तवृत्तियां अधोगामी रहती हैं। ये सब तामस गुणोंमें रत समस्त प्राणी तामसी हैं ॥ २५ ॥

तेषामुत्कर्षमुद्रेकं वक्ष्याम्यहमतः परम् ।
यथा ते सुकृताल्लोँकाल्लँभन्ते पुण्यकर्मिणः ॥ २६ ॥

इसके अनन्तर उन लोगोंके उत्कर्ष, समृद्धि तथा वे लोग पुण्यकर्मा होकर जिस प्रकार सुकृत लोकोंका लाभ कर सकते हैं, वह कहता हूं ॥ २६ ॥

अन्यथा प्रतिपन्नास्तु विवृद्धा ये च कर्मसु ।
स्वकर्मनिरतानां च ब्राह्मणानां शुभैषिणाम् ॥ २७ ॥

जो दुःखद योनियोंको प्राप्त प्राणी हैं, वे पूर्वकृत पुण्यकर्मोंमें जब उन्नत होते हैं, तब वे निज कर्ममें रत, शुभाकांक्षी ब्राह्मणोंकी ॥ २७ ॥

संस्कारेणोर्ध्वमायान्ति यतमानाः सलोकताम् ।
स्वर्गं गच्छन्ति देवानामित्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥ २८ ॥

अपने शुभ कर्मोंके संस्कारोंसे, समानताको प्राप्त होते हैं– अर्थात् उनके कुलमें जन्म लेते हैं और यत्नपूर्वक ऊपर उठते हैं। फिर देवताओंके स्वर्गलोकमें चले जाते हैं– इस प्रकार वैदिक श्रुति हैं ॥ २८ ॥

अन्यथा प्रतिपन्नास्तु विवृद्धाः स्वेषु कर्मसु ।
पुनरावृत्तिधर्माणस्ते भवन्तीह मानुषाः ॥ २९ ॥

तिर्यक् स्थावर आदि योनिसम्भूत तामसी पुरुष निज कर्मोंसे विवृद्ध होकर पुनरावृत्ति शील धर्मका आचरण करते हुए इस लोकमें मनुष्य योनिको प्राप्त हुआ करते हैं ॥ २९ ॥

पापयोनिं समापन्नाश्चण्डाला मूकचूचुकाः ।
वर्णान्पर्यायशश्चापि प्राप्नुवन्त्युत्तरोत्तरम् ॥ ३० ॥

चाण्डाल, गूंगे और वर्णोंचारमें अटककर बोलनेवाले मनुष्य पापयोनिको प्राप्त होकर, पर्याय-क्रमसे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट वर्णोंको प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥

शूद्रयोनिमतिक्रम्य ये चान्ये तामसा गुणाः ।
स्रोतोमध्ये समागम्य वर्तन्ते तामसे गुणे ॥ ३१ ॥

अन्यान्य शूद्रयोनिको अतिक्रम करके भी तमोगुणोंसे युक्त होते हैं और उसके प्रवाहमें आगमन करते हुए तामस गुणमें ही वर्तमान रहते हैं ॥ ३१ ॥

अभिष्वङ्गस्तु कामेषु महामोह इति स्मृतः ।
ऋषयो मुनयो देवा मुह्यन्त्यत्र सुखेप्सवः ॥ ३२ ॥

कामभोगोंमें आसक्ति महामोह नामसे विख्यात हुई है; इस मोहमें पडकर भोगोंके सुखके अभिलाषी ऋषि, मुनि और देवगण इस महामोहसे मोहित हुआ करते हैं ॥ ३२ ॥

तमोमोहो महामोहस्तामिस्रः क्रोधसंज्ञितः ।
मरणं त्वन्धतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते ॥ ३३ ॥

तम, मोह, महामोह, क्रोधनामका तामिस्र और मरण रूप–अन्धतामिस्र–ये सब तमरूपसे वर्णित हुए हैं । क्रोधको ही तामिस्र कहते हैं ॥ ३३ ॥

भावतो गुणतश्चैव योनितश्चैव तत्त्वतः ।
सर्वमेतत्तमो विप्राः कीर्तितं वो यथाविधि ॥ ३४ ॥

हे विप्रगण ! वर्ण, गुण, योनि और तत्त्वके अनुसार सब प्रकारके तमका मैंने तुम्हारे निकट विधिपूर्वक वर्णन किया ॥ ३४ ॥

को न्वेतद्‍बुध्यते साधु को न्वेतत्साधु पश्यति ।
अतत्त्वे तत्त्वदर्शी यस्तमसस्तत्त्वलक्षणम् ॥ ३५ ॥

परन्तु कौन पुरुष इसे उत्तम रीतिसे समझेगा, तथा कौन पुरुष ही इसे उत्तम रीतिसे देखेगा ? जो पुरुष अतत्त्वमें तत्त्वदर्शी होता है, उसमेंही तमोगुणके प्रकृत लक्षण मालूम हुआ करते हैं ॥ ३५ ॥

तमोगुणाबो बहुधाः प्रकीर्तिता यथावदुक्तं च तमः परावरम् ।
नरो हि यो वेद गुणानिमान्सदा स तामसैः सर्वगुणैः प्रमुच्यते ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि षट्‌त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥ ९६० ॥

अनेक प्रकारके तमोगुण-- स्वरूप और कार्यके साथ– वर्णित हुए और उससे प्राप्त होनेवाली ऊंची–नीची योनियां भी बतला दी गयीं । जो मनुष्य इन गुणोंको यथार्थ रीतिसे जान सकता है, वह समस्त तामस गुणोंसे सदा मुक्त होता है ॥ ३६ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें छत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३६ ॥ ९६० ॥

३७

ब्रह्मोवाच—

रजोऽहं वः प्रवक्ष्यामि याथातथ्येन सत्तमाः ।
निबोधत महाभागा गुणवृत्तं च सर्वशः ॥ १ ॥

ब्रह्मा बोले– हे महाभाग्यवान् द्विजसत्तमगण ! मैं तुम लोगोंसे रजोगुणके स्वरूप और उसकी वृत्ति यथार्थ रूपसे कहता हूं, सुनो ॥ १ ॥

संघातो रूपमायासः सुखदुःखे हिमातपौ ।
ऐश्वर्यं विग्रहः संधिर्हेतुवादोऽरतिः क्षमा ॥ २ ॥

संघर्ष, रूप, आयास, सुख-दुःख, सर्दी, गर्मी, ऐश्वर्य, विग्रह, सन्धि, हेतुवाद, अप्रसन्नता, क्षमा ॥ २ ॥

बलं शौर्यं मदो रोषो व्यायामकलहावपि ।
ईर्ष्येप्सा पैशुनं युद्धं ममत्वं परिपालनम् ॥ ३ ॥

बल, शौर्य, मद, रोष, व्यायाम, कलह, ईर्षा, इच्छा, क्रूरता, युद्ध करना, ममता, कुटुंबका पालन ॥ ३ ॥

वधबन्धपरिक्लेशाः क्रयो विक्रय एव च
निकृन्त छिन्धि भिन्धीति परमर्मावकर्तनम् ॥ ४ ॥

वध, वन्धन, क्लेश, क्रय, विक्रय, छेदन, भेदन और विदारण करना, दूसरोंके मर्मको छेदन करना ॥ ४ ॥

उग्रं दारुणमाक्रोशः परवित्तानुशासनम् ।
लोकचिन्ता विचिन्ता च मत्सरः परिभाषणम् ॥ ५ ॥

उग्रता, निष्ठुरता, आक्रोश, दूसरोंके धनका अपहरण, लोकचिन्ता, विचार करना, मत्सरता, तिरस्कारपूर्वक बोलना ॥ ५ ॥

मृषावादो मृषादानं विकल्पः परिभाषणम् ।
निन्दा स्तुतिः प्रशंसा च प्रतापः परितर्पणम् ॥ ६ ॥

असत्य भाषण, मिथ्यादान, बिकल्प, अपभाषण, निन्दा, स्तुति, प्रशंसा, प्रताप, परितर्पण ॥ ६ ॥

परिचर्या च शुश्रूषा सेवा तृष्णा व्यपाश्रयः ।
व्यूहोऽनयः प्रमादश्च परितापः परिग्रहः ॥ ७ ॥

परिचर्या, शुश्रूषा, सेवा, तृष्णा, दूसरोंके आश्रित रहना, व्यवहार कुशलता, अनीति, प्रमाद, परिताप, परिग्रह- ये सभी रजोगुणके कार्य हैं ॥ ७ ॥

संस्कारा ये च लोकेऽस्मिन्प्रवर्तन्ते पृथक्पृथक् ।
नृषु नारीषु भूतेषु द्रव्येषु शरणेषु च ॥ ८ ॥

इस लोकके बीच नर नारी, भूत द्रव्य और सब आश्रमोंमें जो पृथक् सब संस्कार होते हैं, वे रजोगुणके फल हैं ॥ ८ ॥

संतापोऽप्रत्ययश्चैव व्रतानि नियमाश्च ये ।
प्रदानमाशीर्युक्तं च सततं मे भवत्विति ॥ ९ ॥

सन्ताप, अविश्वास, व्रत, नियम, आशीर्वाद युक्त प्रदान सदा मेरे कारणही होते हैं ॥ ९ ॥

स्वधाकारो नमस्कारः स्वाहाकारो वषट्क्रिया ।
याजनाध्यापने चोभे तथैवाहुः परिग्रहम् ॥ १० ॥

स्वधाकार, नमस्कार, स्वाहाकार, वषट्कार, याजन, अध्यापन, तथा परिग्रह– ये भी राजस माने गये हैं ॥ १० ॥

इदं मे स्यादिदं मे स्यात्स्नेहो गुणसमुद्भवः ।
अभिद्रोहस्तथा माया निकृतिर्मान एव च ॥ ११ ॥

मुझे यह वस्तु मिले, वह मिले, यह जो आसक्ति होती है उसका कारण रजोगुण है । द्रोह, माया, धूर्तता, मान ॥ ११ ॥

स्तैन्यं हिंसा परीवादः परितापः प्रजागरः ।
स्तम्भो दम्भोऽथ रागश्च भक्तिः प्रीतिः प्रमोदनम् ॥ १२ ॥

चोरी, हिंसा, अपवाद, परिताप, जागरण, दम्भ, स्तम्भ, राग, भक्ति, प्रीति, प्रमोद ॥ १२ ॥

द्यूतं च जनवादश्च संबन्धाः स्त्रीकृताश्च ये ।
नृत्तवादित्रगीतानि प्रसङ्गा ये च केचन ।
सर्व एते गुणा विप्रा राजसाः संप्रकीर्तिताः ॥ १३ ॥

द्यूत, दूसरोंके साथ विवाद, स्त्रियोंके लिये सम्बन्ध रखना, नृत्य, बाजा और गानेमें आसक्त रहना– ये सब रजोगुण कहके वर्णित हुए हैं ॥ १३ ॥

भूतभव्यभविष्याणां भावानां भुवि भावनाः ।
त्रिवर्गनिरता नित्यं धर्मोऽर्थः काम इत्यपि ॥ १४ ॥

जो मनुष्य इस पृथ्वीपर भूत, वर्तमान और भविष्यत् विषयोंकी चिन्ता करते हैं; धर्म, अर्थ और काम इन त्रिवर्गोंमें सदा तत्पर रहते है ॥ १४ ॥

कामवृत्ताः प्रमोदन्ते सर्वकामसमृद्धिभिः ।
अर्वाक्स्रोतस इत्येते तैजसा रजसावृताः ॥ १५ ॥

ये लोग कामवृत्तिका अवलम्बन करके सब प्रकारके भोगोंकी समृद्धिसे प्रमुदित होते हैं, वे मनुष्य रजोगुणसे आवृत्त हैं, उन्हें अर्वाक् स्रोता कहते हैं ॥ १५ ॥

अस्मिँल्लोके प्रमोदन्ते जायमानाः पुनः पुनः ।
प्रेत्यभाविकमीहन्त इह लौकिकमेव च ।
ददति प्रतिगृह्णन्ति जपन्त्यथ च जुह्वति ॥ १६ ॥

इसके अतिरिक्त वे लोग इस लोकमें बार बार जन्म लेकर ऐहिक और जन्मान्तरीय कुशलकी आकांक्षा करते हुए अत्यन्त आनन्दित होते हैं और सकाम भावसे हर्षपूर्वक दान, परिग्रह, जप–ध्यान तथा यज्ञ किया करते हैं ॥ १६ ॥

रजोगुणा वो बहुधानुकीर्तिता यथावदुक्तं गुणवृत्तमेव च ।
नरो हि यो वेद गुणानिमान्सदा स राजसैः सर्वगुणैर्विमुच्यते ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥ ९७७ ॥

हे द्विजगण ! मैंने अनेक प्रकारसे रजोगुण तथा रजोगुणकी वृत्ति तुम्हारे निकट वर्णित की है; परन्तु जो मनुष्य इन गुणोंको यथार्थ रीतिसे जान सकता है, वह सब प्रकार सदा इन रजोगुणोंके बन्धनसे मुक्त होता है ॥ १७ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें सैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३७ ॥ ९७७ ॥

: ३८ :

ब्रह्मोवाच—

अतः परं प्रवक्ष्यामि तृतीयं गुणमुत्तमम् ।
सर्वभूतहितं लोके सतां धर्ममनिन्दितम् ॥ १ ॥

ब्रह्मा बोले– हे द्विजगण ! इसके अनन्तर इस लोकमें सब भूतोंके लिये हितकर और साधुओंके लिये अनिन्दित धर्मस्वरूप उत्तम तृतीय सत्त्वगुण तुम लोगोंसे कहता हूं, सुनो ॥१॥

आनन्दः प्रीतिरुद्रेकः प्राकाश्यं सुखमेव च ।
अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः श्रद्दधानता ॥ २ ॥

आनन्द, प्रीति, उन्नति, प्रकाश, सुख, अकृपणता, निर्भयता सन्तोष, श्रद्धा ॥ २ ॥

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
अक्रोधश्चानसूया च शौचं दाक्ष्यं पराक्रमः ॥ ३ ॥

क्षमा, धृति, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, अक्रोध, अनसूया, पवित्रता, दाक्षिण्य और पराक्रम– ये सब सत्त्वगुण हैं ॥ ३ ॥

मुधा ज्ञानं मुधा वृत्तं मुधा सेवा मुधा श्रमः ।
एवं यो युक्तधर्मः स्यात्सोऽमुत्रानन्त्यमश्नुते ॥ ४ ॥

जो पुरुष शास्त्रीय ज्ञान, व्यवहार, सेवा और श्रम, इन सबको व्यर्थ समझके योगीधर्मका अवलम्बन करता है, वह परलोकमें परम पदको प्राप्त हुआ करता है ॥ ४ ॥

×

निर्ममो निरहंकारो निराशीः सर्वतः समः ।
अकामहत इत्येष सतां धर्मः सनातनः ॥ ५ ॥

निर्मम, निरहङ्कार, निराकांक्षा, सर्वत्र समता तथा निष्काम, येही साधुओंके सनातन धर्म हैं ॥ ५ ॥

विश्रम्भो ह्रीस्तितिक्षा च त्यागः शौचमतन्द्रिता ।
आनृशंस्यमसंमोहो दया भूतेष्वपैशुनम् ॥ ६ ॥

विश्वास, लज्जा, तितिक्षा, त्याग, पवित्रता, सावधानता, कोमलता, मोहका अभाव, सब भूतोंपर दया, सचाई ॥ ६ ॥

हर्षस्तुष्टिर्विस्मयश्च विनयः साधुवृत्तता ।
शान्तिकर्म विशुद्धिश्च शुभा बुद्धिर्विमोचनम् ॥ ७ ॥

हर्ष, संतोष, अहंकार–हीनता, विनय, सद् बर्ताव, शान्ति कर्ममें शुद्धभाव, शुभबुद्धि, अनासक्ति ॥ ७ ॥

उपेक्षा ब्रह्मचर्यं च परित्यागश्च सर्वशः ।
निर्ममत्वमनाशीस्त्वमपरिक्रीतधर्मता ॥ ८ ॥

उपेक्षा, ब्रह्मचर्य, सर्वस्वपरित्याग, निर्ममता, फलकी इच्छा नहीं करना और धर्मका पालन सतत करना, ये सब सत्त्वगुणकी वृत्ति हैं ॥ ८ ॥

मुधा दानं मुधा यज्ञो मुधाधीतं मुधा व्रतम् ।
मुधा प्रतिग्रहश्चैव मुधा धर्मो मुधा तपः ॥ ९ ॥

जो सकाम दान, यज्ञ, अध्ययन, व्रत, परिग्रह, धर्म और तपस्याको ॥ ९ ॥

एवंवृत्तास्तु ये केचिल्लोकेऽस्मिन्सत्त्वसंश्रयाः ।
ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्थास्ते धीराः साधुदर्शिनः ॥ १० ॥

मिथ्या मानकर इस लोकमें उपर्युक्त गुणोंका पालन करते हुए सत्यका आश्रय लेते हैं, और वेदकी उत्पत्तिके स्थानभूत परब्रह्म परमात्मामें श्रद्धा रखते हैं, वे ही ब्राह्मण धीर और साधुदर्शी होते हैं ॥ १० ॥

हित्वा सर्वाणि पापानि निःशोका ह्यजरामराः ।
दिवं प्राप्य तु ते धीराः कुर्वते वै ततस्ततः ॥ ११ ॥

साधुदर्शी मनुष्य राजस और तामस पापकर्मोंको परित्याग करके निःशोक अजर, अमर होकर, स्वर्गलोकमें जाकर अनेक प्रकारके वहांके भोग भोगते हैं ॥ ११ ॥

ईशित्वं च वशित्वं च लघुत्वं मनसश्च ते ।
विकुर्वते महात्मानो देवास्त्रिदिवगा इव ॥ १२ ॥

वे महात्मा स्वर्गलोकमें रहनेवाले देवताओंकी भांति ईशित्व, वशित्व और लघिमा आदि सिद्धियोंको प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥

ऊर्ध्वस्रोतस इत्येते देवा वैकारिकाः स्मृताः ।
विकुर्वते प्रकृत्या वै दिवं प्राप्तास्ततस्ततः ।
यद्यदिच्छन्ति तत्सर्वं भजन्ते विभजन्ति च ॥ १३ ॥

वे ऊर्ध्व स्रोता वैकारिक देवगण नामसे विख्यात हुए हैं; वे स्वर्गमें जाकर प्रकृति अर्थात् भोगज संस्कारके द्वारा पुनर्वार भोग करनेके निमित्त चित्तको विकृत करते हुए, जो जो इच्छा करते हैं, सङ्कल्पमात्रसे ही उन वस्तुओंको पाते तथा दूसरोंको दान किया करते हैं ॥ १३ ॥

इत्येतत्सात्त्विकं वृत्तं कथितं वो द्विजर्षभाः ।
एतद्विज्ञाय विधिवल्लभते यद्यदिच्छति ॥ १४ ॥

हे श्रेष्ठ द्विजेन्द्रगण! तुम लोगोंसे मैंने यह सात्त्विक गुणके कार्योंका वर्णन किया है। जो मनुष्य इसे विशेष रीतिसे जानता है वह जिस जिस वस्तुकी इच्छा करता है, उसीको पा सकता है ॥ १४ ॥

प्रकीर्तिताः सत्त्वगुणा विशेषतो यथावदुक्तं गुणवृत्तमेव च ।
नरस्तु यो वेद गुणानिमान्सदा गुणान्स भुङ्क्ते न गुणैः स भुज्यते ॥१५॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥ ९९२ ॥

मैंने सात्त्विक गुण तथा विशेष करके सत्त्वगुणकी वृत्ति तुम लोगोंसे कही है । जो मनुष्य इन गुणों तथा गुणकी वृत्तियोंको जान सकता है, वह सर्वदा सत्त्वगुणोंका भोग करता हुआ उसमें लिप्त नहीं हुआ करता है ॥ १५ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें अडतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३८ ॥ ९९२ ॥

: ३९ :

ब्रह्मोवाच—

नैव शक्या गुणा वक्तुं पृथक्त्वेनेह सर्वशः ।
अविच्छिन्नानि दृश्यन्ते रजः सत्त्वं तमस्तथा ॥ १ ॥

ब्रह्मा बोले— सब गुणोंको पृथक् करके, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता; कारण यह है कि सत्त्व, रज और तम, ये तीनों गुण अपरिच्छन्न रूपसे लोगोंके दृष्टिगोचर हुआ करते हैं ॥ १ ॥

अन्योन्यमनुषज्जन्ते अन्योन्यं चानुजीविनः ।
अन्योन्यापाश्रयाः सर्वे तथान्योन्यानुवर्तिनः ॥ २ ॥

ये सभी परस्परमें एक दूसरेके आश्रय तथा आनुजीव्य अवलम्बन करते हुए, परस्परके अनुवर्ती होकर परस्परके अनुरागभाजन होते हैं ॥ २ ॥

यावत्सत्त्वं तमस्तावद्वर्तते नात्र संशयः ।
यावत्तमश्च सत्त्वं च रजस्तावदिहोच्यते ॥ ३ ॥

इसमें संदेह नहीं कि इस लोकमें जिस स्थानमें सत्त्वगुण विद्यमान रहता है, उस स्थानमें तमोगुण प्रवृत्त होता है और जितना तमोगुण और सत्त्वगुण प्रकाशित होता है, उतना ही रजोगुण प्रकाशित हुआ करता है, ऐसा कहते हैं ॥ ३ ॥

संहत्य कुर्वते यात्रां सहिताः संघचारिणः ।
संघातवृत्तयो ह्येते वर्तन्ते हेत्वहेतुभिः ॥ ४ ॥

ये गुण किस कारणसे अथवा बिना कारणके भी सदा साथ रहते हैं; साथही फिरते हैं, समुदाय बनाकर यात्रा करते हैं और शरीरमें वास करते हैं ॥ ४ ॥

उद्रेकव्यतिरेकाणां तेषामन्योन्यवर्तिनाम् ।
वर्तते तद्यथान्यूनं व्यतिरिक्तं च सर्वशः ॥ ५ ॥

ऐसा होनेपर भी उन्नति और अवनतिके स्वभाववाले और परस्पर अनुसरण करनेवाले गुणोंमेंसे किसीकी अन्यूनता और अधिकता देखी जाती है। वह किस प्रकार ? यह बताते हैं ॥५॥

व्यतिरिक्तं तमो यत्र तिर्यग्भावगतं भवेत् ।
अल्पं तत्र रजो ज्ञेयं सत्त्वं चाल्पतरं ततः ॥ ६ ॥

तिर्यक् योनिमें जिस स्थलमें तमोगुणकी अधिकता होती है, उस स्थानमें अल्प रजोगुण और किञ्चित् सत्त्वगुण समझना चाहिये ॥ ६ ॥

उद्रिक्तं च रजो यत्र मध्यस्रोतोगतं भवेत् ।
अल्पं तत्र तमो ज्ञेयं सत्त्वं चाल्पतरं ततः ॥ ७ ॥

मनुष्य योनिमें मध्यस्रोता अर्थात् जिस स्थानमें रजोगुण अधिक होता है, उस स्थलमें अल्प तमोगुण तथा अत्यंत अल्पही सत्त्वगुण बोध करना चाहिये ॥ ७ ॥

उद्रिक्तं च यदा सत्त्वमूर्ध्वस्रोतोगतं भवेत् ।
अल्पं तत्र रजो ज्ञेयं तमश्चाल्पतरं ततः ॥ ८ ॥

इसी प्रकार उर्ध्वस्रोता अर्थात् देवयोनिमें जिस स्थलमें सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, उस स्थलमें रजोगुण अल्प और तमोगुण अत्यन्तही अल्प समझना चाहिये ॥ ८ ॥

सत्त्वं वैकारिकं योनिरिन्द्रियाणां प्रकाशिका ।
न हि सत्त्वात्परो भावः कश्चिदन्यो विधीयते ॥ ९ ॥

सत्त्वगुण इन्द्रियोंकी अहङ्कारसम्बन्धिनी उत्पत्तिका कारण है– उसे वैकारिक मानते हैं । सत्त्वही इन्द्रियोंके द्वारा शब्दादि प्रकाशित करता है; इसलिये सत्त्वगुणसे श्रेष्ठ दूसरा भाव और कुछ भी नहीं है ॥ ९ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणसंयुक्ता यान्त्यधस्तामसा जनाः ॥ १० ॥

सत्त्वगुणावलम्बी मनुष्य ऊर्ध्वगामी– स्वर्गादि उच्चलोकोंमें जाते हैं; रजोगुणावलम्बी मनुष्य मध्यगामी– मनुष्य लोकमें रहते हैं और निकृष्ट तमोगुणावलम्बी पुरुष अधोगामी– नीच योनि अर्थात् नरकमें पडते हैं ॥ १० ॥

तमः शूद्रे रजः क्षत्रे ब्राह्मणे सत्त्वमुत्तमम् ।
इत्येवं त्रिषु वर्णेषु विवर्तन्ते गुणास्त्रयः ॥ ११ ॥

तमोगुण शूद्रमें, रजोगुण क्षत्रियमें और उत्तम सत्त्वगुण ब्राह्मणोंमें विद्यमान रहता है; इस ही प्रकार सत्त्वादि तीनों गुण इन तीनों वर्णोंमें मुख्यतया रहते हैं ॥ ११ ॥

दूरादपि हि दृश्यन्ते सहिताः संघचारिणः ।
तमः सत्त्वं रजश्चैव पृथक्त्वं नानुशुश्रुम ॥ १२ ॥

ये दूरसे मिले हुए तथा संघचारीरूपमें दीख पडते हैं । तम, सत्त्व और रज ये तीनों गुण पृथक् पृथक् हों, ऐसा हमने कभी नहीं सुना ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा चादित्यमुद्यन्तं कुचोराणां भयं भवेत् ।
अध्वगाः परितप्येरंस्तृष्णार्ता दुःखभागिनः ॥ १३ ॥

सूर्यके उदय होनेपर कुकर्मी मनुष्यगण डरते हैं और तृष्णासे दुःखभागी पथिक सन्तापित होते हैं ॥ १३ ॥

आदित्यः सत्त्वमुद्दिष्टं कुचोरास्तु यथा तमः ।
परितापोऽध्वगानां च राजसो गुण उच्यते ॥ १४ ॥

सूर्यकी भांति स्वप्रकाश सत्त्वगुण, कुकर्मचारियोंका भयस्वरूप तमोगुण और पथिकोंका परिताप रजोगुण कहके वर्णित हुआ है ॥ १४ ॥

प्राकाश्यं सत्त्वमादित्ये संतापो राजसो गुणः ।
उपप्लवस्तु विज्ञेयस्तामसस्तस्य पर्वसु ॥ १५ ॥

आदित्यका प्रकाश सत्त्वगुण, उसका ताप रजोगुण और अमावस्याके दिन जो ग्रहण लगता है, वह तमोगुण कार्य है ॥ १५ ॥

एवं ज्योतिःषु सर्वेषु विवर्तन्ते गुणास्त्रयः ।
पर्यायेण च वर्तन्ते तत्र तत्र तथा तथा ॥ १६ ॥

इस ही प्रकार समस्त ज्योतिवाले पदार्थोंमें सत्त्वादि तीनों गुण पर्यायक्रमसे वहां वहां उस उस प्रकारसे प्रवृत्त और निवृत्त हुआ करते हैं ॥ १६ ॥

स्थावरेषु च भूतेषु तिर्यग्भावगतं तमः ।
राजसास्तु विवर्तन्ते स्नेहभावस्तु सात्त्विकः ॥ १७ ॥

परन्तु स्थावर पदार्थोंमें तम तिर्यक् भाव अर्थात् अधिकताको प्राप्त होता है, रमणीयत्वादि रूप रजोगुणसे विवर्तित होता है और सत्त्वगुण स्नेहभाव अर्थात् प्रकाशरूपसे स्थित हुआ करता है ॥ १७ ॥

अहस्त्रिधा तु विज्ञेयं त्रिधा रात्रिर्विधीयते ।
मासार्धमासवर्षाणि ऋतवः सन्धयस्तथा ॥ १८ ॥

गुणोंके भेदसे दिन भी तीन प्रकारका समझना चाहिये; रात भी तीन प्रकारकी होती है और महीना, पक्ष, वर्ष, ऋतु और संध्याके भी तीन भेद होते हैं ॥ १८ ॥

त्रिधा दानानि दीयन्ते त्रिधा यज्ञः प्रवर्तते ।
त्रिधा लोकास्त्रिधा वेदास्त्रिधा विद्यास्त्रिधा गतिः ॥ १९ ॥

तीन प्रकारसे दान दिये जाते हैं; तीन प्रकारका यज्ञ होता है । लोक, देवता, विद्या और गति तीन प्रकारकी होती है ॥ १९ ॥

भूतं भव्यं भविष्यच्च धर्मोऽर्थः काम इत्यपि ।
प्राणापानावुदानश्चाप्येत एव त्रयो गुणाः ॥ २० ॥

भूत, वर्तमान, भविष्य, धर्म, अर्थ, काम और प्राण, अपान और उदान वायु, इन सबको ही त्रिगुणात्मक जानो ॥ २० ॥

यत्किंचिदिह वै लोके सर्वमेष्वेव तत्त्रिषु ।
त्रयो गुणाः प्रवर्तन्ते अव्यक्ता नित्यमेव तु ।
सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणसर्गः सनातनः ॥ २१ ॥

इस लोकमें जो कुछ वस्तु विद्यमान है, वह सब त्रिगुणात्मक है । ये तीनों गुण अव्यक्त रूपसे सदा प्रवर्तित होते हैं; सत्त्व, रज और तम, इन गुणोंकी सृष्टि सनातन है ॥ २१ ॥

तमोऽव्यक्तं शिवं नित्यमजं योनिः सनातनः ।
प्रकृतिर्विकारः प्रलयः प्रधानं प्रभवाप्ययौ ॥ २२ ॥

प्रकृतिको तम, अव्यक्त, शिव, नित्य, अज, योनि, सनातन, प्रकृति, विकार, प्रलय, प्रधान, प्रभव अर्थात् उत्पत्ति, विनाश ॥ २२ ॥

अनुद्रिक्तमनूनं च ह्यकम्पमचलं ध्रुवम् ।
सदसच्चैव तत्सर्वमव्यक्तं त्रिगुणं स्मृतम् ।
ज्ञेयानि नामधेयानि नरैरध्यात्मचिन्तकैः ॥ २३ ॥

अनुद्रिक्त, अन्यून, अकम्प, अचल, ध्रुव, सत्, असत्, अव्यक्त और त्रिगुणात्मक कहते हैं। अध्यात्मचिन्तक मनुष्यको इन नामोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ २३ ॥

अव्यक्तनामानि गुणांश्च तत्त्वतो यो वेद सर्वाणि गतीश्च केवलाः ।
विमुक्तदेहः प्रविभागतत्त्ववित्स मुच्यते सर्वगुणैर्निरामयः ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥ १०१६ ॥

जो मनुष्य प्रकृतिके इन नामों, सत्त्वादि गुणों और गतियोंको यथार्थ रीतिसे जान सकता है, वह गुण विभागके तत्त्वका ज्ञाता पुरुष मुक्त और निरामय होकर सब प्रकारके गुणोंके बन्धनसे मुक्त होता है ॥ २४ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें उनतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३९ ॥ १०१६ ॥

: ४० :

ब्रह्मोवाच—

अव्यक्तात्पूर्वमुत्पन्नो महानात्मा महामतिः ।
आदिर्गुणानां सर्वेषां प्रथमः सर्ग उच्यते ॥ १ ॥

ब्रह्मा बोले— पहले अव्यक्त प्रकृतिसे महान् आत्मस्वरूप महाबुद्धितत्त्व उत्पन्न होता है, वह सब गुणोंका आदि तत्त्व तथा प्रथम सर्ग कहके वर्णित हुआ है ॥ १ ॥

महानात्मा मतिर्विष्णुर्विश्वः शंभुश्च वीर्यवान् ।
बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च तथा ख्यातिर्धृतिः स्मृतिः ॥ २ ॥

महान् आत्मा, मति, विष्णु, विश्व, शम्भु, वीर्यवान्, बुद्धि, प्रज्ञा, उपलब्धि, ख्याति, धृति और स्मृति ॥ २ ॥

पर्यायवाचकैः शब्दैर्महानात्मा विभाव्यते ।
तं जानन्ब्राह्मणो विद्वान्न प्रमोहं निगच्छति ॥ ३ ॥

इन सब पर्यायवाचक शब्दोंसे महान् आत्मा जाना जाता है। विद्वान् ब्राह्मण उस महान्के तत्त्वको जाननेसे मोहको नहीं प्राप्त होता ॥ ३ ॥

सर्वतःपाणिपादश्च सर्वतोक्षिशिरोमुखः ।
सर्वतःश्रुतिमाँल्लोके सर्वं व्याप्य स तिष्ठति ॥ ४ ॥

वह परमात्मा सब ओर हाथ-पैरवाला- सर्वग्राही, सर्वत्रगामी; सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला- सर्वदर्शी, सर्वशिरा, सर्वानन; और सब ओर कानवाला- सर्व श्रोता है; वही समस्त जगत्में सबको व्याप्त करके निवास कर रहा है ॥ ४ ॥

महाप्रभार्चिः पुरुषः सर्वस्य हृदि निश्रितः ।
अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानो ज्योतिरव्ययः ॥ ५ ॥

वह महाप्रभा-ज्योतिवाला परम पुरुष परमात्मा सबके ही हृदयमें विराजमान है । वही अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, ईशान, अव्यय और ज्योति स्वरूप है ॥ ५ ॥

तत्र बुद्धिमतां लोकाः संन्यासनिरताश्च ये ।
ध्यानिनो नित्ययोगाश्च सत्यसंधा जितेन्द्रियाः ॥ ६ ॥

इस जगत्में जो सब बुद्धिमान् विरक्तिमें रत, ध्यानपरायण, सदा योगाचारी, सत्य प्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय ॥ ६ ॥

ज्ञानवन्तश्च ये केचिदलुब्धा जितमन्यवः ।
प्रसन्नमनसो धीरा निर्ममा निरहंकृताः ।
विमुक्ताः सर्व एवैते महत्त्वमुपयान्ति वै ॥ ७ ॥

ज्ञानवान्, लोभहीन, जितक्रोध, प्रसन्नचित्त, धीर, निर्मल और निरहङ्कारी मनुष्य उसमें रत रहते हैं, वे सब मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

आत्मनो महतो वेद यः पुण्यां गतिमुत्तमाम् ।
स धीरः सर्वलोकेषु न मोहमधिगच्छति ।
विष्णुरेवादिसर्गेषु स्वयंभूर्भवति प्रभुः ॥ ८ ॥

जो उस महान् परमात्माकी महिमाको जानता है, उसे पुण्यकारक उत्तम गति मिलती है । वही आत्मज्ञानी धीर मनुष्य सब लोकोंके बीच मोहको नहीं प्राप्त होता; आदिसर्गमें प्रभु स्वयंभू विष्णु स्वयंही प्रकट होते हैं ॥ ८ ॥

एवं हि यो वेद गुहाशयं प्रभुं नरः पुराणं पुरुषं विश्वरूपम् ।
हिरण्मयं बुद्धिमतां परां गतिं स बुद्धिमान्बुद्धिमतीत्य तिष्ठति ॥ ९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥ १०२५ ॥

जो पुरुष गुहाशय, विश्वरूप, हिरण्मय, बुद्धिमानोंकी परम गति, पुराण परम पुरुष प्रभुको इस प्रकार जानता है, वही बुद्धिमान् मनुष्य बुद्धिको अतिक्रम करके निवास करता है ॥ ९ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें चालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४० ॥ १०२५ ॥

: ४१ :

ब्रह्मोवाच—

य उत्पन्नो महान्पूर्वमहंकारः स उच्यते ।
अहमित्येव संभूतो द्वितीयः सर्ग उच्यते ॥ १ ॥

ब्रह्मा बोले– पहले, जो महान् तत्त्व उत्पन्न हुआ, वह "अहं" ऐसा अभिमान करते हुए अहंकार तथा द्वितीय सर्ग कहके वर्णित हुआ ॥ १ ॥

अहंकारश्च भूतादिर्वैकारिक इति स्मृतः ।
तेजसश्चेतना धातुः प्रजासर्गः प्रजापतिः ॥ २ ॥

यह अहङ्कार सब भूत आदि विकारोंका कारण है, इसलिये वैकारिक माना गया है । विकृत महत्से उत्पन्न तेज, विकार, चेतना, पुरुष और प्रजापतिरूपसे उत्पन्न हुआ है ॥ २ ॥

देवानां प्रभवो देवो मनसश्च त्रिलोककृत् ।
अहमित्येव तत्सर्वमभिमन्ता स उच्यते ॥ ३ ॥

यह इन्द्रियरूप देवोंका और मनका उत्पत्तिस्थान तथा स्वयं देवस्वरूप है, इसलिये इसे त्रिलोकीका कर्त्ता समझा जाता है । यह सब जगत् अहंकारस्वरूप है, इस कारण यह अभिमन्ता माना जाता है ॥ ३ ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यानां मुनीनां भावितात्मनाम् ।
स्वाध्यायक्रतुसिद्धानामेष लोकः सनातनः ॥ ४ ॥

अध्यात्मज्ञानसे परितृप्त, परमात्मचिन्तक और स्वाध्यायक्रतुके द्वारा सिद्ध मुनियोंका यही सनातन लोक है ॥ ४ ॥

अहंकारेणाहरतो गुणानिमान्भूतादिरेवं सृजते स भूतकृत् ।
वैकारिकः सर्वमिदं विचेष्टते स्वतेजसा रञ्जयते जगत्तथा ॥ ५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥ १०३० ॥

अहंकारसे शब्दादि गुणभोक्ता पुरुषका आदिभूत विकृत महत्से उत्पन्न है । वह भूतकर्ता अहंकार विषयादि भूतोंकी सृष्टि करते हुए निज तेजके द्वारा समस्त जगत्को रञ्जित करके विशेष रीतिसे चेष्टा करता है ॥ ५ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें एकतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४१ ॥ १०३० ॥

×

४२

ब्रह्मोवाच—

अहंकारात्प्रसूतानि महाभूतानि पञ्च वै ।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ १ ॥

ब्रह्मा बोले— पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और पांचवां तेज— ये पांचों महाभूत अहंकारसे उत्पन्न हुए हैं ॥ १ ॥

तेषु भूतानि मुह्यन्ते महाभूतेषु पञ्चसु ।
शब्दस्पर्शनरूपेषु रसगन्धक्रियासु च ॥ २ ॥

मनुष्य आदि सब प्राणि इन्हीं पञ्च महाभूतोंमें अर्थात् इनके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध विषयोंमें मोहित होते हैं ॥ २ ॥

महाभूतविनाशान्ते प्रलये प्रत्युपस्थिते ।
सर्वप्राणभृतां धीरा महदुत्पद्यते भयम् ॥ ३ ॥

हे धीरगण ! महाभूतोंके विनाश तथा प्रलयका समय उपस्थित होनेपर सब प्राणियोंको अत्यन्त भय उत्पन्न होता है ॥ ३ ॥

यद्यस्माज्जायते भूतं तत्र तत्प्रविलीयते ।
लीयन्ते प्रतिलोमानि जायन्ते चोत्तरोत्तरम् ॥ ४ ॥

जो भूत जिससे उत्पन्न होता है, वह उसहीमें लीन होता है; तथा वे भूत सब अनुलोम क्रमसे उत्तरोत्तर उत्पन्न होते और प्रतिलोम क्रमसे लीन हुआ करते हैं ॥ ४ ॥

ततः प्रलीने सर्वस्मिन्भूते स्थावरजङ्गमे ।
स्मृतिमन्तस्तदा धीरा न लीयन्ते कदाचन ॥ ५ ॥

तिसके अनन्तर स्थावर जङ्गमात्मक सब भूतोंके प्रलीन होनेपर भी उस समय धीरवर स्मृतिवान् मनुष्य कदापि लीन नहीं होते ॥ ५ ॥

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
क्रियाकारणयुक्ताः स्युरनित्या मोहसंज्ञिताः ॥ ६ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पांचवां गन्ध और इनको ग्रहण करनेकी क्रियाएं— ये कारण युक्त हैं; इसलिये इनका लय नहीं होता। जो अनित्य हैं उनको मोह करके कहा जाता है ॥ ६ ॥

लोभप्रजनसंयुक्ता निर्विशेषा ह्यकिंचनाः ।
मांसशोणितसंघाता अन्योन्यस्योपजीविनः ॥ ७ ॥

लोभजनक कर्मसे युक्त और उन कर्मोंसे प्राप्त सब फल वास्तवमें कुछ भी नहीं है। शरीरके बाह्य अंग रक्त मांससे संयुक्त एक दूसरेके सहारे रखनेवाले हैं ॥ ७ ॥

बहिरात्मान इत्येते दीनाः कृपणवृत्तयः ।
प्राणापानावुदानश्च समानो व्यान एव च ॥ ८ ॥

इसलिये ये बाह्य अंग दीन और क्षुद्र वृत्तिवाले समझे जाते हैं । प्राण, अपान, उदान, समान, और व्यान ॥ ८ ॥

अन्तरात्मेति चाप्येते नियताः पञ्च वायवः ।
वाङ्मनोबुद्धिरित्येभिः सार्धमष्टात्मकं जगत् ॥ ९ ॥

ये पांच वायु नियतरूपसे शरीरमें वास करते हैं । वाणी, मन और बुद्धिके साथ ये आठ होते हैं । ये आठ जगत्के उपादान कारण हैं ॥ ९ ॥

त्वग्घ्राणश्रोत्रचक्षूंषि रसनं वाक्य संयता ।
विशुद्धं च मनो यस्य बुद्धिश्चाव्यभिचारिणी ॥ १० ॥

जिसकी त्वचा, नासिका, कान, नेत्र, जिह्वा, और वचन संयत तथा मन विशुद्ध तथा बुद्धि अव्यभिचारिणी होती है ॥ १० ॥

अष्टौ यस्याग्नयो ह्येते न दहन्ते मनः सदा ।
स तद्ब्रह्म शुभं याति तस्माद्भूयो न विद्यते ॥ ११ ॥

तथा ये आठों अग्निस्वरूप होकर जिसके चित्तको सदा नहीं जलाते, वह विद्वान् मनुष्य शुभ ब्रह्मको प्राप्त हुआ करता है, जिससे बढकर दूसरा कोई नहीं है ॥ ११ ॥

एकादश च यान्याहुरिन्द्रियाणि विशेषतः ।
अहंकारप्रसूतानि तानि वक्ष्याम्यहं द्विजाः ॥ १२ ॥

हे द्विजगण ! जो अहंकारसे उत्पन्न हुई, जिन्हें पण्डित लोग एकादश इन्द्रियां कहा करते हैं; मैं तुम लोगोंके समीप उन एकादश इन्द्रियोंका विवरण विशेष रीतिसे कहता हूं, सुनो ॥ १२ ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पादौ पायुरुपस्थं च हस्तौ वाग्दशमी भवेत् ॥ १३ ॥

कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, पांचवी नासिका, और चरण, हाथ, गुदा, उपस्थ तथा वाक्— ये दस इंद्रियां हैं ॥ १३ ॥

इन्द्रियग्राम इत्येष मन एकादशं भवेत् ।
एतं ग्रामं जयेत्पूर्वं ततो ब्रह्म प्रकाशते ॥ १४ ॥

और मन, ग्यारहवां है; पहले इन इन्द्रियग्रामोंको वशीभूत करनेसे पूर्ण ब्रह्म प्रकाशित होता है ॥ १४ ॥

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चाहुः पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ।
श्रोत्रादीन्यपि पञ्चाहुर्बुद्धियुक्तानि तत्त्वतः ॥ १५ ॥

इन इन्द्रियोंमें पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं और पांच कर्मेंद्रिय । पण्डित लोग तत्त्वतः बुद्धियुक्त श्रोत्रादि पांचोंको ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं ॥ १५ ॥

अविशेषाणि चान्यानि कर्मयुक्तानि तानि तु ।
उभयत्र मनो ज्ञेयं बुद्धिर्द्वादशमी भवेत् ॥ १६ ॥

और उनसे भिन्न शेष जो पांच इन्द्रियां हैं, उनको कर्मेन्द्रिय कहा करते हैं; परन्तु दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंमें अनुगत मनको एकादश और बुद्धिको द्वादश जानो ॥ १६ ॥

इत्युक्तानीन्द्रियाणीमान्येकादश मया क्रमात् ।
मन्यन्ते कृतमित्येव विदित्वैतानि पण्डिताः ॥ १७ ॥

यथाक्रमसे ये ग्यारह इन्द्रियां वर्णित हुई हैं; पण्डित लोग इन ग्यारह इन्द्रियोंके तत्त्वको विशेष रीतिसे जानकर कृतकृत्य हुआ करते हैं ॥ १७ ॥

त्रीणि स्थानानि भूतानां चतुर्थं नोपपद्यते ।
स्थलमापस्तथाकाशं जन्म चापि चतुर्विधम् ॥ १८ ॥

प्राणियोंके जल, स्थल और आकाश, ये तीन ही रहनेके स्थान हैं, इनके अतिरिक्त चौथे स्थानकी उपलब्धि नहीं होती । देहधारियोंका चार प्रकारका जन्म होता है ॥ १८ ॥

अण्डजोद्भिज्जसंस्वेदजरायुजमथापि च ।
चतुर्धा जन्म इत्येतद्भूतग्रामस्य लक्ष्यते ॥ १९ ॥

सब भूत– प्राणियोंके अण्डज, उद्भिज्ज, स्वेदज और जरायुज, यह चार प्रकारके ही जन्म दीखते हैं ॥ १९ ॥

अचराण्यपि भूतानि खेचराणि तथैव च ।
अण्डजानि विजानीयात्सर्वांश्चैव सरीसृपान् ॥ २० ॥

अन्य अचर भूतों, आकाशमें संचार करनेवाले खेचरों तथा पेटसे चलनेवाले सर्प आदिको अण्डज जानो ॥ २० ॥

संस्वेदाः कृमयः प्रोक्ता जन्तवश्च तथाविधाः ।
जन्म द्वितीयमित्येतज्जघन्यतरमुच्यते ॥ २१ ॥

इस ही प्रकार पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले कृमिप्रभृति जघन्य जन्तुसमूह स्वेदज वा जघन्य कहके वर्णित हुए हैं; यह द्वितीय जन्म पहलेकी अपेक्षा निम्न स्तरका माना जाता है ॥ २१ ॥

भित्त्वा तु पृथिवीं यानि जायन्ते कालपर्ययात् ।
उद्भिज्जानीति तान्याहुर्भूतानि द्विजसत्तमाः ॥ २२ ॥

समयपर्यायसे जो भूत पृथ्वीको भेदकर उत्पन्न होते हैं, द्विजगण उन्हें उद्भिज्ज कहा करते हैं ॥ २२ ॥

द्विपादबहुपादानि तिर्यग्गतिमतीनि च ।
जरायुजानि भूतानि वित्त तान्यपि सत्तमाः ॥ २३ ॥

हे सत्तमगण! द्विपाद, बहुपाद, टेढे-मेढे चलनेवाले तथा विकृतरूपवाले प्राणी जरायुज हैं ॥ २३ ॥

द्विविधापीह विज्ञेया ब्रह्मयोनिः सनातना ।
तपः कर्म च यत्पुण्यमित्येष विदुषां नयः ॥ २४ ॥

सनातन ब्राह्मणत्वका हेतु दो प्रकारका जानो; तपस्या और पुण्यकर्मका अनुष्ठान पण्डितोंकी ऐसी नीति है ॥ २४ ॥

द्विविधं कर्म विज्ञेयमिज्या दानं च यन्मखे ।
जातस्याध्ययनं पुण्यमिति वृद्धानुशासनम् ॥ २५ ॥

कर्म अनेक प्रकारके हैं, उनके बीच पूजा, दान और यज्ञको मुख्य जानो। हे द्विजगण! वृद्धोंकी ऐसी आज्ञा है, कि द्विजोंके लिये वेदाध्ययन ही पुण्य कर्म है ॥ २५ ॥

एतद्यो वेद विधिवत्स मुक्तः स्याद्द्विजर्षभाः ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्य इति चैव निबोधत ॥ २६ ॥

द्विजश्रेष्ठ! जो पुरुष इसे विधिपूर्वक जानता है, वही मुक्त हुआ करता है और यह भी जान रखो, कि वही पुरुष सब पापोंसे छूटता है ॥ २६ ॥

आकाशं प्रथमं भूतं श्रोत्रमध्यात्ममुच्यते ।
अधिभूतं तथा शब्दो दिशस्तत्राधिदैवतम् ॥ २७ ॥

आकाश प्रथम भूत है; उसमें श्रोत्र अध्यात्म (इन्द्रिय), शब्द अधिभूत (विषय) और दिशाएं अधिदैवत (अधिष्ठातृ देवता) कहके वर्णित हुई हैं ॥ २७ ॥

द्वितीयं मारुतो भूतं त्वगध्यात्मं च विश्रुतम् ।
स्प्रष्टव्यमधिभूतं च विद्युत्तत्राधिदैवतम् ॥ २८ ॥

वायु द्वितीय भूत है; उसमें त्वचा अध्यात्म, स्पर्श अधिभूत और बिजली अधिदैवत कहके विख्यात हुई है ॥ २८ ॥

तृतीयं ज्योतिरित्याहुश्चक्षुरध्यात्ममुच्यते ।
अधिभूतं ततो रूपं सूर्यस्तत्राधिदैवतम् ॥ २९ ॥

तेज तृतीय भूत है; उसमें नेत्र अध्यात्म, रूप अधिभूत और सूर्य अधिदैवत कहा गया है ॥ २९ ॥

चतुर्थमापो विज्ञेयं जिह्वा चाध्यात्ममिष्यते ।
अधिभूतं रसश्चात्र सोमस्तत्राधिदैवतम् ॥ ३० ॥

जल चतुर्थ भूत समझा जाता है; उसमें जिह्वा अध्यात्म, रस अधिभूत और चन्द्रमा अधिदैवत कहके गिना गया है ॥ ३० ॥

पृथिवी पञ्चमं भूतं घ्राणश्चाध्यात्ममिष्यते ।
अधिभूतं तथा गन्धो वायुस्तत्राधिदैवतम् ॥ ३१ ॥

पृथ्वी पञ्चम भूत है; उसमें नासिका अध्यात्म, गन्ध अधिभूत और वायु अधिदैवत कहके वर्णित हुआ है ॥ ३१ ॥

एष पञ्चसु भूतेषु चतुष्टयविधिः स्मृतः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि सर्वं त्रिविधमिन्द्रियम् ॥ ३२ ॥

इसके अनन्तर इन पञ्च भूतोंके अन्तर्गत चार विधि विहित हुई है। उस विधि और त्रिविध कर्मेन्द्रियोंके विषयोंका वर्णन करता हूं, सुनो ॥ ३२ ॥

पादावध्यात्ममित्याहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ।
अधिभूतं तु गन्तव्यं विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ॥ ३३ ॥

तत्त्वदर्शी ब्राह्मण लोग दोनों पैरोंको अध्यात्म, उनके गन्तव्य स्थानको अधिभूत और विष्णुको अधिदैवत कहा करते हैं ॥ ३३ ॥

अवाग्गतिरपानश्च पायुरध्यात्ममिष्यते ।
अधिभूतं विसर्गश्च मित्रस्तत्राधिदैवतम् ॥ ३४ ॥

निम्न गतिवाला अपान और गुदा अध्यात्म, मलत्याग अधिभूत और मित्र अधिदेवता कहके वर्णित हुए हैं ॥ ३४ ॥

प्रजनः सर्वभूतानामुपस्थोऽध्यात्ममुच्यते ।
अधिभूतं तथा शुक्रं दैवतं च प्रजापतिः ॥ ३५ ॥

सब प्राणियोंके प्रजनक उपस्थ अध्यात्म, शुक्र अधिभूत और प्रजापति अधिदैवत रूपसे वर्णित हुए हैं ॥ ३५ ॥

हस्तावध्यात्ममित्याहुरध्यात्मविदुषो जनाः ।
अधिभूतं तु कर्माणि शक्रस्तत्राधिदैवतम् ॥ ३६ ॥

अध्यात्मज्ञानी लोग दोनों हाथोंको अध्यात्म, उसके कर्मको अधिभूत और इन्द्रको अधिदैवत कहा करते हैं ॥ ३६ ॥

वैश्वदेवी मनःपूर्वा वागध्यात्ममिहोच्यते ।
वक्तव्यमधिभूतं च वह्निस्तत्राधिदैवतम् ॥ ३७ ॥

विश्वकी देवी मनके पहली वाणी यहां अध्यात्म, उसमें वक्तव्य अधिभूत और अग्नि अधिदेवता कही गयी है ॥ ३७ ॥

अध्यात्मं मन इत्याहुः पञ्चभूतानुचारकम् ।
अधिभूतं च मन्तव्यं च चन्द्रमाश्चाधिदैवतम् ॥ ३८ ॥

पण्डित लोग पंचभूतोंके संचालक मनको अध्यात्म, उसके सङ्कल्प-विचारको अधिभूत और चन्द्रमाको अधिदेवता कहा करते हैं ॥ ३८ ॥

अध्यात्मं बुद्धिरित्याहुः षडिन्द्रियविचारिणी ।
अधिभूतं तु विज्ञेयं ब्रह्मा तत्राधिदैवतम् ॥ ३९ ॥

पण्डित लोग पांच इन्द्रियों और छठे मनको जाननेवाली बुद्धिको अध्यात्म, उसके मन्तव्यको अधिभूत और ब्रह्माको अधिदेवता कहते हैं ॥ ३९ ॥

यथावदध्यात्मविधिरेष वः कीर्तितो मया ।
ज्ञानमस्य हि धर्मज्ञाः प्राप्तं बुद्धिमतामिह ॥ ४० ॥

यह मैंने अध्यात्म विधिका तुम लोगोंके समीप यथार्थ रीतिसे वर्णन किया है। हे धर्मज्ञगण! इस लोकमें बुद्धिवान् पुरुष ही इस अध्यात्म विधिको जानते हैं ॥ ४० ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च महाभूतानि पञ्च च ।
सर्वाण्येतानि संधाय मनसा संप्रधारयेत् ॥ ४१ ॥

इसीलिये इन्द्रियों, उनके विषयों और पञ्च महाभूतों- इन सबकी एकताका विचार करते हुए उसे मन मात्रमें अच्छी तरह धारण करना चाहिये ॥ ४१ ॥

क्षीणे मनसि सर्वस्मिन्न जन्मसुखमिष्यते ।
ज्ञानसंपन्नसत्त्वानां तत्सुखं विदुषां मतम् ॥ ४२ ॥

मनके सब प्रकारसे क्षीण होनेपर जो पुरुष निर्विकल्प सुख अनुभव करता है, उसे पुत्र, कलत्र, परिष्वङ्गजनित संसारसुख अभिलाषित नहीं होता; परन्तु जिन विद्वान् मनुष्योंकी बुद्धि आत्मानुभवसंयुक्त है, उनके लिये वही सुखरूपसे सम्मत होता है ॥ ४२ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि सूक्ष्मभावकरीं शिवाम् ।
निवृत्तिं सर्वभूतेषु मृदुना दारुणेन वा ॥ ४३ ॥

इसके अनन्तर मनकी सूक्ष्मभावना जागृतकारी कल्याणमयी निवृत्तिके विषयमें लोगोंसे कहता हूं । जो सब प्राणियोंमें मृदु तथा कठिन भावसे निवास करती है ॥ ४३ ॥

गुणागुणमनासङ्गमेकचर्यमनन्तरम् ।
एतद्ब्राह्मणतो वृत्तमाहुरेकपदं सुखम् ॥ ४४ ॥

जहां गुण होते हुए भी नहींके समान हैं, जो अभिमान रहित और एकान्तवाससे युक्त तथा भेदभावसे रहित है, वही ब्रह्ममय बर्ताव कहा गया है, वही समस्त सुखोंका एकमात्र मूल है ॥ ४४ ॥

विद्वान्कूर्म इवाङ्गानि कामान्संहृत्य सर्वशः ।
विरजाः सर्वतो मुक्तो यो नरः स सुखी सदा ॥ ४५ ॥

निज अङ्गोंको समेटनेवाले कछुवेकी भांति जो विद्वान् मनुष्य सब कामनाओंको पूरी रीतिसे संकुचित करता हुआ रजोगुण विहीन होता है, वह सब भांतिसे मुक्त होकर सदा सुखी हो जाता है ॥ ४५ ॥

कामानात्मनि संयम्य क्षीणतृष्णः समाहितः ।
सर्वभूतसुहृन्मैत्रो ब्रह्मभूयं स गच्छति ॥ ४६ ॥

जो एकाग्र चित्तवाला पुरुष मनुष्यदेहके बीच सब कामनाओंको संयत करता हुआ संसार-वासना-तृष्णा नष्ट करता है, वह सब प्राणियोंका सुहृत् तथा मित्र होकर ब्रह्मत्व लाभ करता है ॥ ४६ ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन सर्वेषां विषयैषिणाम् ।
मुनेर्जनपदत्यागादध्यात्माग्निः समिध्यते ॥ ४७ ॥

विषयाभिलाषी सब इन्द्रियोंका निरोध और जनपद त्याग निबन्धनसे मुनिका अध्यात्म ज्ञानरूपी तेज प्रकाशित होता है ॥ ४७ ॥

यथाग्निरिन्धनैरिद्धो महाज्योतिः प्रकाशते ।
तथेन्द्रियनिरोधेन महानात्मा प्रकाशते ॥ ४८ ॥

जैसे अग्नि काष्ठके द्वारा प्रज्वलित होकर महाज्योतिस्वरूपसे प्रकाशित होती है, वैसे ही इन्द्रियनिरोधसे परमात्माके प्रकाशका अधिक अनुभव आता है ॥ ४८ ॥

यदा पश्यति भूतानि प्रसन्नात्मात्मनो हृदि ।
स्वयंयोनिस्तदा सूक्ष्मात्सूक्ष्ममाप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ४९ ॥

जब अत्यन्त प्रसन्नचित्तसे पुरुष सब भूतोंको निज हृदयमें स्थित अवलोकन करता है, तब वह स्वयं योनिस्वरूप होकर अत्यन्त सूक्ष्म सर्वोत्तम परमात्माको प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

अग्नी रूपं पयः स्रोतो वायुः स्पर्शनमेव च ।
मही पङ्कधरं घोरमाकाशं श्रवणं तथा ॥ ५० ॥

जिसका अग्नि रूप है, रुधिर प्रवाह, पवन-वायु स्पर्श, पृथ्वी जिसमें हाडमांसादि कठोर रूपमें प्रकट है, आकाश कान है ॥ ॥ ५० ॥

रागशोकसमाविष्टं पञ्चस्रोतःसमावृतम् ।
पञ्चभूतसमायुक्तं नवद्वारं द्विदैवतम् ॥ ५१ ॥

जो रोगशोक समाविष्ट, इन्द्रियगोलक रूप पांच प्रवाहोंसे आवृत्त, पञ्चभूतसमायुक्त, नवद्वार-विशिष्ट, जीव और ईश्वर रूप दो देवताओंसे युक्त ॥ ५१ ॥

रजस्वलमथादृश्यं त्रिगुणं च त्रिधातुकम् ।
संसर्गाभिरतं मूढं शरीरमिति धारणा ॥ ५२ ॥

रजोगुणविशिष्ट, अदृश्य, त्रिगुण और त्रिधातुमय, जो संसर्गमें रत और अचेतन है, वह शरीर कहके निश्चित है ॥ ५२ ॥

दुश्चरं जीवलोकेऽस्मिन्सत्त्वं प्रति समाश्रितम् ।
एतदेव हि लोकेऽस्मिन्कालचक्रं प्रवर्तते ॥ ५४ ॥

सब लोकमें विचरण करना जिसका दुःखद है, जो सत्त्वबुद्धिके आश्रित है, वही इस लोकमें कालचक्र है ॥ ५३ ॥

एतन्महार्णवं घोरमगाधं मोहसंज्ञितम् ।
विसृजेत्संक्षिपेच्चैव बोधयेत्सामरं जगत् ॥ ५४ ॥

यह मोह नामक अगाध और भयङ्कर महा समुद्र है। यह अमर लोकके सहित सब जगत्का सर्जन, संक्षेप और विस्तार करता है और सबको प्रबोधित करता है ॥ ५४ ॥

कामक्रोधौ भयं मोहमभिद्रोहमथानृतम् ।
इन्द्रियाणां निरोधेन स तांस्त्यजति दुस्त्यजान् ॥ ५५ ॥

काम, क्रोध, भय, लोभ, द्रोह और अनृत इन सब दुस्त्यज विद्यमान अवगुणोंको वह इन्द्रियनिरोधके द्वारा त्याग देता है ॥ ५५ ॥

यस्यैते निर्जिता लोके त्रिगुणाः पञ्च धातवः ।
व्योम्नि तस्य परं स्थानमनन्तमथ लक्ष्यते ॥ ५६ ॥

इस लोकमें जिसने त्रिगुण और पंचधातुयुक्त स्थूल शरीरको योगबलसे जीत लिया है, उसे अपने हृदयाकाशमें अनन्त परम पद ब्रह्मस्थान प्राप्त हुआ करता है ॥ ५६ ॥

कामकूलामपारान्तां मनःस्रोतोभयावहाम् ।
नदीं दुर्गह्रदां तीर्णः कामक्रोधावुभौ जयेत् ॥ ५७ ॥

जो कामरूपी तट, अपार अन्त और मनरूपी स्रोतसे भयङ्कर है और दुर्गम कुण्ड है, वैसी देहरूपी नदीसे पार होकर काम तथा क्रोध, इन दोनोंको जीत लेता है ॥ ५७ ॥

स सर्वदोषनिर्मुक्तस्ततः पश्यति यत्परम् ।
मनो मनसि संधाय पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ ५८ ॥

वह सब दोषोंसे मुक्त होकर परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार करता है। वह हृदयकमलमें मनको सन्धान करके अपने देहके बीच ध्यानसे उस परमात्माका दर्शन करता है ॥५८॥

सर्ववित्सर्वभूतेषु वीक्षत्यात्मानमात्मनि ।
एकधा बहुधा चैव विकुर्वाणस्ततस्ततः ॥ ५९ ॥

वह सब भूतोंमें सर्वज्ञ होता है और उसे स्वयंमें परमात्म-तत्त्वका लाभ होता है। एकही परमात्मा सब जगह अनेकों रूपोंमें प्राप्त होता है ॥ ५९ ॥

ध्रुवं पश्यति रूपाणि दीपाद्दीपशतं यथा ।
स वै विष्णुश्च मित्रश्च वरुणोऽग्निः प्रजापतिः ॥ ६० ॥

जैसे एक दीपकसे सैकडों दीपक प्रवर्तित होते हैं, वैसेही योगी पुरुष संकल्प मात्र निज शरीरसे सैकडों शरीर उत्पन्न कर सकते हैं; वास्तवमें वही परमात्मा विष्णु, वरुण, अग्नि, प्रजापति ॥ ६० ॥

स हि धाता विधाता च स प्रभुः सर्वतोमुखः ।
हृदयं सर्वभूतानां महानात्मा प्रकाशते ॥ ६१ ॥

धाता, विधाता, प्रभु, सर्वव्यापी, सर्व भूतोंका हृदय और परमात्मारूपसे प्रकाशित हुआ करता है ॥ ६१ ॥

तं विप्रसंघाश्च सुरासुराश्च यक्षाः पिशाचाः पितरो वयांसि ।
रक्षोगणा भूतगणाश्च सर्वे महर्षयश्चैव सदा स्तुवन्ति ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥ १०९२ ॥

विप्रगण, देवता, असुर, यक्ष, पिशाच, पितर, पक्षी, राक्षस, भूत और सब महर्षिगण सदा उस परमात्माका स्तव किया करते हैं ॥ ६२ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें बयालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४२ ॥ १०९२ ॥

: ४३ :

ब्रह्मोवाच –

मनुष्याणां तु राजन्यः क्षत्रियो मध्यमो गुणः ।
कुञ्जरो वाहनानां च सिंहश्चारण्यवासिनाम् ॥ १ ॥

ब्रह्मा बोले– रजोगुणप्रधान राजन्य क्षत्रिय मनुष्योंके राजा हैं, हाथी वाहनोंमें, सिंह वनवासियोंमें ॥ १ ॥

अविः पशूनां सर्वेषामाखुश्च बिलवासिनाम् ।
गवां गोवृषभश्चैव स्त्रीणां पुरुष एव च ॥ २ ॥

मेष सब पशुओंमें, मूषक बिलवासियोंमें, बैल गौओंमें और पुरुष स्त्रियोंमें मुख्य है ॥ २ ॥

न्यग्रोधो जम्बुवृक्षश्च पिप्पलः शाल्मलिस्तथा ।
शिंशपा मेषशृङ्गश्च तथा कीचकवेणवः ।
एते द्रुमाणां राजानो लोकेऽस्मिन्नात्र संशयः ॥ ३ ॥

बट, जामुन, पीपल, सेमल, शीशम, मेषशृङ्गी और पोले बांस—ये इस लोकमें वृक्षोंके राजा हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ३ ॥

हिमवान्पारियात्रश्च सह्यो विन्ध्यस्त्रिकूटवान् ।
श्वेतो नीलश्च भासश्च काष्ठवांश्चैव पर्वतः ॥ ४ ॥

हिमवान्, पारियात्र, सह्य, विन्ध्य, त्रिकूटवान्, श्वेत, नील, भास, कोष्ठवान् पर्वत ॥ ४ ॥

शुभस्कन्धो महेन्द्रश्च माल्यवान्पर्वतस्तथा ।
एते पर्वतराजानो गणानां मरुतस्तथा ॥ ५ ॥

शुभ स्कन्ध, महेन्द्र और माल्यवान् पर्वत ये सब पर्वतोंके राजा हैं। गणोंके मरुद्गण ॥५॥

सूर्यो ग्रहाणामधिपो नक्षत्राणां च चन्द्रमाः ।
यमः पितृणामधिपः सरितामथ सागरः ॥ ६ ॥

सूर्य ग्रहोंके, चन्द्रमा नक्षत्रोंके, यम पितरोंके और समुद्र नदियोंके स्वामी हैं ॥ ६ ॥

अम्भसां वरुणो राजा सत्त्वानां मित्र उच्यते ।
अर्कोऽधिपतिरुष्णानां ज्योतिषामिन्दुरुच्यते ॥ ७ ॥

वरुण जलके, मित्र सत्त्वोंके राजा कहे जाते हैं। उष्ण वस्तुओंके सूर्य और चन्द्रमा ताराओंके अधिपति कहे गये हैं ॥ ७ ॥

अग्निर्भूतपतिर्नित्यं ब्राह्मणानां बृहस्पतिः ।
ओषधीनां पतिः सोमो विष्णुर्बलवतां वरः ॥ ८ ॥

अग्नि सब भूतोंके सदा अधिपति हैं और बृहस्पति ब्राह्मणोंके स्वामी हैं। सोम औषधियोंके स्वामी और विष्णु बलवानोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ ८ ॥

त्वष्टाऽधिराजो रूपाणां पशूनामीश्वरः शिवः ।
दक्षिणानां तथा यज्ञो वेदानामृषयस्तथा ॥ ९ ॥

विश्वकर्मा रूपसमूहके अधिपति और शिव पशुओंके ईश्वर हैं। यज्ञ दक्षिणाओंके और ऋषि वेदोंके स्वामी हैं ॥ ९ ॥

दिशामुदीची विप्राणां सोमो राजा प्रतापवान् ।
कुबेरः सर्वयक्षाणां देवतानां पुरंदरः ।
एष भूतादिकः सर्गः प्रजानां च प्रजापतिः ॥ १० ॥

दिशाओंकी उत्तरदिशा स्वामिनी है और प्रतापी चन्द्रमा ब्राह्मणोंके राजा हैं। कुबेर सब यक्षोंके, इन्द्र देवताओंके और प्रजापति प्रजाओंके स्वामी हैं। यह भूतोंके आदिकोंका सर्ग है ॥१०॥

सर्वेषामेव भूतानामहं ब्रह्ममयो महान् ।
भूतं परतरं मत्तो विष्णोर्वापि न विद्यते ॥ ११ ॥

मैं ही सब भूतोंका महान् अधिपति और ब्रह्ममय हूं; मुझसे अथवा विष्णुसे परे अन्य प्राणी और कुछ भी नहीं है ॥ ११ ॥

राजाधिराजः सर्वासां विष्णुर्ब्रह्ममयो महान् ।
ईश्वरं तं विजानीमः स विभुः स प्रजापतिः ॥ १२ ॥

ब्रह्ममय महा विष्णु ही सब भूतोंके राजाधिराज हैं और हम उन्हींको ईश्वर समझते हैं। वे परमात्मा और प्रजापति हैं ॥ १२ ॥

नरकिंनरयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
देवदानवनागानां सर्वेषामीश्वरो हि सः ॥ १३ ॥

वेही हरि मनुष्य, किन्नर, यक्ष, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, देव, दानब और नागोंके—सबके ईश्वर हैं ॥ १३ ॥

भगदेवानुयातानां सर्वासां वामलोचना ।
माहेश्वरी महादेवी प्रोच्यते पार्वतीति या ॥ १४ ॥

कामुक पुरुष जिनके पीछे फिरते हैं, उन सबमें सुंदर आंखोंवाली स्त्री श्रेष्ठ है; जो माहेश्वरी, महादेवी और पार्वती नामसे वर्णित हुई हैं ॥ १४ ॥

उमां देवीं विजानीत नारीणामुत्तमां शुभाम् ।
रतीनां वसुमत्यस्तु स्त्रीणामप्सरसस्तथा ॥ १५ ॥

स्त्रियोंके बीच कल्याणमयी उमादेवी श्रेष्ठ हैं; ऐसा जानो। रमण करने योग्य स्त्रियोंमें सुवर्णालंकार विभूषित अप्सराओंको श्रेष्ठ जानो ॥ १५ ॥

धर्मकामाश्च राजानो ब्राह्मणा धर्मलक्षणाः ।
तस्माद्राजा द्विजातीनां प्रयतेतेह रक्षणे ॥ १६ ॥

हे द्विजेन्द्रगण ! राजा धर्मके पालनके अभिलाषी और ब्राह्मण धर्मके लक्षणोंसे युक्त होते हैं। इसलिये यहां राजा ब्राह्मणोंकी रक्षामें सदा यत्नवान् होवे ॥ १६ ॥

राज्ञां हि विषये येषामवसीदन्ति साधवः ।
हीनास्ते स्वगुणैः सर्वैः प्रेत्याचाङ्मार्गगामिनः ॥ १७ ॥

जिन राजाओंके राज्यमें साधुपुरुषोंको कष्ट होते हैं, वे राजा लोग निज सब गुणोंसे रहित होकर मरनेके बाद नीच गतिको प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥

राज्ञां तु विषये येषां साधवः परिरक्षिताः ।
तेऽस्मिँल्लोके प्रमोदन्ते प्रेत्य चानन्त्यमेव च ।
प्राप्नुवन्ति महात्मान इति वित्त द्विजर्षभाः ॥ १८ ॥

और हे द्विजश्रेष्ठ ! जिन राजाओंके राज्यमें साधु लोग सब भांतिसे रक्षित होते हैं, वे महात्मा राजा इस लोकमें अत्यन्त आनन्द अनुभव करके, परलोकमें अक्षय सुख भोग किया करते हैं, ऐसा जानो ॥ १८ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि नियतं धर्मलक्षणम् ।
अहिंसालक्षणो धर्मो हिंसा चाधर्मलक्षणा ॥ १९ ॥

इसके अनन्तर मैं तुम लोगोंसे नियत धर्मादिका लक्षण कहता हूं, सुनो । धर्मका लक्षण अहिंसा और अधर्मका लक्षण हिंसा है ॥ १९ ॥

प्रकाशलक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः ।
शब्दलक्षणमाकाशं वायुस्तु स्पर्शलक्षणः ॥ २० ॥

देवताओंका लक्षण प्रकाश और मनुष्योंका लक्षण यज्ञ आदि कर्म है; आकाशका लक्षण शब्द और वायुका लक्षण स्पर्श है ॥ २० ॥

ज्योतिषां लक्षणं रूपमापश्च रसलक्षणाः ।
धरणी सर्वभूतानां पृथिवी गन्धलक्षणा ॥ २१ ॥

तेजका लक्षण रूप और जलका लक्षण रस है; सब भूतोंको धारण करनेवाली पृथिवीका लक्षण गन्ध है ॥ २१ ॥

स्वरव्यञ्जनसंस्कारा भारती सत्यलक्षणा ।
मनसो लक्षणं चिन्ता तथोक्ता बुद्धिरन्वयात् ॥ २२ ॥

स्वर और व्यञ्जनसंस्कारवती सरस्वती—वाणीका लक्षण सत्य तथा मनका लक्षण संशयात्मिका चिन्ता है और बुद्धिही उसके साथ रहती है ॥ २२ ॥

मनसा चिन्तयानोऽर्थान्बुद्ध्या चैव व्यवस्यति ।
बुद्धिर्हि व्यवसायेन लक्ष्यते नात्र संशयः ॥ २३ ॥

इस जगत्में मनके जो सब विषय चिन्तित होते हैं और बुद्धि उनका निश्चय किया करती है; इस ही निमित्त बुद्धि निश्चयके द्वारा मालूम होती है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ २३ ॥

लक्षणं महतो ध्यानमव्यक्तं साधुलक्षणम् ।
प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ॥ २४ ॥

मनका लक्षण ध्यान है, साधुका लक्षण बाहरसे व्यक्त नहीं होता, वह स्वयं प्रकाश है; योगका लक्षण प्रवृत्ति और संन्यासका लक्षण ज्ञान है ॥ २४ ॥

तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ।
संन्यासी ज्ञानसंयुक्तः प्राप्नोति परमां गतिम्
अतीतोऽद्वंद्वमभ्येति तमोमृत्युजरातिगम् ॥ २५ ॥

इसही निमित्त बुद्धिमान् मनुष्य ज्ञानका आश्रय करके यहां संन्यास अवलम्बन करें । संन्यासी पुरुष ज्ञानयुक्त होनेसे द्वंद्वातीत होकर अज्ञान, मृत्यु और जराको अतिक्रम करते हुए परम गतिको प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

धर्मलक्षणसंयुक्तमुक्तं वो विधिवन्मया ।
गुणानां ग्रहणं सम्यग्वक्ष्याम्यहमतः परम् ॥ २६ ॥

हे द्विजेन्द्रगण ! मैंने तुम लोगोंसे विधिपूर्वक धर्म तथा लक्षणादिका वर्णन किया । अब किस गुणको किस इन्द्रियसे ग्रहण किया जाता है, इसका पूरी रीतिसे वर्णन करता हूं, सुनो ॥२६॥

पार्थिवो यस्तु गन्धो वै घ्राणेनेह स गृह्यते ।
घ्राणस्थश्च तथा वायुर्गन्धज्ञाने विधीयते ॥ २७ ॥

नासिका पृथिवीका जो गन्ध नामक गुण है, उसको ग्रहण करती है; नासिकामें स्थित वायु उस गन्धग्रहणकी अनुकूलता करती है ॥ २७ ॥

अपां धातुरसो नित्यं जिह्वया स तु गृह्यते ।
जिह्वास्थश्च तथा सोमो रसज्ञाने विधीयते ॥ २८ ॥

जिह्वा जलके स्वाभाविक गुण रसको ग्रहण करती है, और जिह्वामें स्थित चन्द्रमा उस रस ग्रहणकी अनुकूलता करता है ॥ २८ ॥

ज्योतिषश्च गुणो रूपं चक्षुषा तच्च गृह्यते ।
चक्षुःस्थश्च तथादित्यो रूपज्ञाने विधीयते ॥ २९ ॥

नेत्र तेजके गुण रूपको ग्रहण करता है, और नेत्रस्थित सूर्य उस रूपको ग्रहण करनेमें सहायक होता है ॥ २९ ॥

वायव्यस्तु तथा स्पर्शस्त्वचा प्रज्ञायते च सः ।
त्वक्स्थश्चैव तथा वायुः स्पर्शज्ञाने विधीयते ॥ ३० ॥

वायुका गुण स्पर्श है, उसका त्वचाके द्वारा ज्ञान होता है; उस त्वचामें स्थित वायु ही उस स्पर्शज्ञानका साधक होता है ॥ ३० ॥

आकाशस्य गुणो घोषः श्रोत्रेण स तु गृह्यते ।
श्रोत्रस्थाश्च दिशः सर्वाः शब्दज्ञाने प्रकीर्तिताः ॥ ३१ ॥

कान आकाशके गुण घोषको ग्रहण करता है, कानमें स्थित सब दिशाएं उस घोषज्ञानकी अनुकूलता किया करती हैं, ऐसा बनाया गया है ॥ ३१ ॥

मनसस्तु गुणश्चिन्ता प्रज्ञया स तु गृह्यते ।
हृदिस्थचेतनाधातुर्मनोज्ञाने विधीयते ॥ ३२ ॥

प्रज्ञा–बुद्धि मनके गुण चिन्तनको ग्रहण करती है; हृदयमें स्थित सारभूतचेतना चिन्ता ग्रहणकी अनुकूलता किया करती है ॥ ३२ ॥

बुद्धिरध्यवसायेन ध्यानेन च महांस्तथा ।
निश्चित्य ग्रहणं नित्यमव्यक्तं नात्र संशयः ॥ ३३ ॥

निश्चयके द्वारा बुद्धिका और ध्यानसे महत्तत्वका ग्रहण होता है । इनके ग्रहणसे इनकी सत्ताका निश्चय होता है, परंतु वस्तुतः तो अतीन्द्रिय होनेके कारण ये बुद्धि आदि सदा अव्यक्तही हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥ ३३ ॥

अलिङ्गग्रहणो नित्यः क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः ।
तस्मादलिङ्गः क्षेत्रज्ञः केवलं ज्ञानलक्षणः ॥ ३४ ॥

इस ही निमित्त नित्य निर्गुणात्मक क्षेत्रज्ञ आत्मा किसी प्रकार लिङ्गसे गृहीत न होनेसे वह अलिङ्ग वा केवल उपलब्धिस्वरूप है । केवल ज्ञानही उसका लक्षण माना गया है ॥ ३४ ॥

अव्यक्तं क्षेत्रमुद्दिष्टं गुणानां प्रभवाप्ययम् ।
सदा पश्याम्यहं लीनं विजानामि शृणोमि च ॥ ३५ ॥

क्षेत्रलिङ्गस्थ अर्थात् स्थूल वा सूक्ष्म शरीरमें अवस्थित सत्वादि गुणोंकी उत्पत्ति और विनाशकी हेतुभूत अव्यक्त प्रकृतिको क्षेत्र कहते हैं । मैं सदा उसमें विलीन होकर उसे देखता, जानता और सुनता हूं ॥ ३५ ॥

पुरुषस्तद्विजानीते तस्मात्क्षेत्रज्ञ उच्यते ।
गुणवृत्तं तथा कृत्स्नं क्षेत्रज्ञः परिपश्यति ॥ ३६ ॥

पुरुष–आत्मा उस अव्यक्तके सहित क्षेत्रको जानता है, इसीसे पण्डित लोग उसे क्षेत्रज्ञ कहा करते हैं । वह क्षेत्रज्ञ गुणोंके कार्यको और उनकी समस्त क्रियाको भी जानता है ॥ ३६ ॥

आदिमध्यावसानान्तं सृज्यमानमचेतनम् ।
न गुणा विदुरात्मानं सृज्यमानं पुनः पुनः ॥ ३७ ॥

क्षेत्रज्ञ उत्पत्ति, स्थिति और ध्वंसविशिष्ट, सृज्यमान अचेतन गुणवृत्त अर्थात् प्रकाश, प्रवृत्ति तथा होमादि दर्शन करता है । सब गुण कूटस्थ परमात्माके द्वारा बार बार उत्पन्न होके उसे नहीं जान सकते ॥ ३७ ॥

न सत्यं वेद वै कश्चित्क्षेत्रज्ञस्त्वेव विन्दति ।
गुणानां गुणभूतानां यत्परं परतो महत् ॥ ३८ ॥

गुण वा गुणभूत अर्थात् भोज्य वस्तुओंसे श्रेष्ठ उस परम महान् कूटस्थ क्षेत्रज्ञ–आत्माको कोई नहीं जान सकता; परन्तु वह सबको जानता है ॥ ३८ ॥

तस्माद्गुणांश्च तत्त्वं च परित्यज्येह तत्त्ववित् ।
क्षीणदोषो गुणान्हित्वा क्षेत्रज्ञं प्रविशत्यथ ॥ ३९ ॥

इसलिये जिसके दोषोंका क्षय हो गया है वह गुणातीत तत्त्वज्ञ मनुष्य इस लोकमें गुण और तत्त्वको परित्यागके क्षेत्रज्ञके शुद्ध स्वरूप परमात्मामें प्रवेश करता है ॥ ३९ ॥

निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ।
अचलश्चानिकेतश्च क्षेत्रज्ञः स परो विभुः ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥ ११३२ ॥

क्योंकि वह क्षेत्रज्ञ ही निर्द्वन्द्व, श्रेष्ठ, नमस्कार और स्वाहाकार–विहीन, अचल और अनिकेत है । वही महान् विभु है ॥ ४० ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें तैतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४३ ॥ ॥ ११३२ ॥

: ४४ :

ब्रह्मोवाच—

यदादिमध्यपर्यन्तं ग्रहणोपायमेव च ।
नामलक्षणसंयुक्तं सर्वं वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

ब्रह्मा बोले– हे द्विजेन्द्रगण ! अब मैं संपूर्ण पदार्थोंके नाम–लक्षणों सहित आदि, मध्य और अंतका तथा उनके ग्रहणके उपायका पूर्ण रीतिसे वर्णन करता हूं ॥ १ ॥

अहः पूर्वं ततो रात्रिर्मासाः शुक्लादयः स्मृताः ।
श्रविष्ठादीनि ऋक्षाणि ऋतवः शिशिरादयः ॥ २ ॥

पहले दिन, तिसके अनंतर रात्रि; शुक्लपक्ष महिनेका, श्रविष्ठ नक्षत्रोंका और शिशिर ऋतुओंका आदि है ॥ २ ॥

भूमिरादिस्तु गन्धानां रसानामाप एव च ।
रूपाणां ज्योतिरादिस्तु स्पर्शादिर्वायुरुच्यते ।
शब्दस्यादिस्तथाकाशमेष भूतकृतो गुणः ॥ ३ ॥

गंधोंका आदि भूमि है, रसोंका आदि जल, रूपोंका आदि ज्योति, स्पर्शसमूहका आदि वायु और शब्दका आदि आकाश है; ये गन्ध आदि पञ्च भूतोंसे उत्पन्न गुण हैं ॥ ३ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि भूतानामादिमुत्तमम् ।
आदित्यो ज्योतिषामादिरग्निर्भूतादिरिष्यते ॥ ४ ॥

इसके अनन्तर मैं तुम लोगोंसे भूतोंके उत्तम आदिका वर्णन करता हूं, सुनो। ग्रहोंका आदि आदित्य और जरायुजादि भूतगणोंका आदि जठराग्नि कही जाती है ॥ ४ ॥

सावित्री सर्वविद्यानां देवतानां प्रजापतिः
ओंकारः सर्ववेदानां वचसां प्राण एव च ।
यद्यस्मिन्नियतं लोके सर्वं सावित्रमुच्यते ॥ ५ ॥

सर्वविद्याका आदि सावित्री, देवताओंका आदि प्रजापति, सब वेदोंका आदि ओंकार, बाणीका आदि प्राण है। इस लोकमें जो ब्राह्मणादि वर्णोंकी उपासनाके निमित्त नियत उच्चारण है; वही सावित्री गायत्री कहके वर्णित हुआ है ॥ ५ ॥

गायत्री छन्दसामादिः पशूनामज उच्यते ।
गावश्चतुष्पदामादिर्मनुष्याणां द्विजातयः ॥ ६ ॥

सब छन्दोंका आदि गायत्री और पशुओंका आदि अज है। चतुष्पाद जन्तुओंका गौएं और मनुष्योंका आदि द्विजातिगण–ब्राह्मण हैं ॥ ६ ॥

श्येनः पतत्त्रिणामादिर्यज्ञानां हुतमुत्तमम् ।
परिसर्पिणां तु सर्वेषां ज्येष्ठः सर्पो द्विजोत्तमाः ॥ ७ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! पक्षियोंका आदि बाज, यज्ञोंका आदि उत्तम आहुति और सब सरीसृपोंमें सर्प श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

कृतमादिर्युगानां च सर्वेषां नात्र संशयः ।
हिरण्यं सर्वरत्नानामोषधीनां यवास्तथा ॥ ८ ॥

सब युगोंका आदि सत्ययुग है, इसमें संशय नहीं है। सब रत्नोंमें सुवर्ण और ओषधियों–अन्नोंमें जौ श्रेष्ठ है ॥ ८ ॥

सर्वेषां भक्ष्यभोज्यानामन्नं परममुच्यते ।
द्रवाणां चैव सर्वेषां पेयानामाप उत्तमाः ॥ ९ ॥

समस्त भक्ष्य तथा भोज्य पदार्थोंके बीच अन्न उत्तम कहा गया है। बहनेवाले और सब पीनेयोग्य वस्तुओंके बीच जल उत्तम है ॥ ९ ॥

स्थावराणां च भूतानां सर्वेषामविशेषतः ।
ब्रह्मक्षेत्रं सदा पुण्यं प्लक्षः प्रथमजः स्मृतः ॥ १० ॥

सब स्थावर भूतोंके बीच सामान्यतः ब्रह्मक्षेत्र अश्वत्थ वृक्ष सदा पवित्र और प्रथम–श्रेष्ठ गिना गया है ॥ १० ॥

×

अहं प्रजापतीनां च सर्वेषां नात्र संशयः ।
मम विष्णुरचिन्त्यात्मा स्वयंभूरिति स स्मृतः ॥ ११ ॥

मैं सब प्रजापतियोंके बीच अग्रज हूं; इसमें संदेह नहीं है । अचिन्त्यात्मा विष्णु मेरे अग्रज हैं; उन्हींको स्वयंभू कहते हैं ॥ ११ ॥

पर्वतानां महामेरुः सर्वेषामग्रजः स्मृतः ।
दिशां च प्रदिशां चोर्ध्वा दिग्जाता प्रथमं तथा ॥ १२ ॥

सब पर्वतोंका अग्रज महामेरु माना गया है; सब दिशा और विदिशाओंमें पूर्व दिशा उत्तम और आदि है ॥ १२ ॥

तथा त्रिपथगा गङ्गा नदीनामग्रजा स्मृता ।
तथा सरोदपानानां सर्वेषां सागरोऽग्रजः ॥ १३ ॥

सब नदियोंके बीच त्रिपथगामिनी गङ्गा अग्रजा है; सब तालाओं तथा सरोवरोंका अग्रज समुद्र है ॥ १३ ॥

देवदानवभूतानां पिशाचोरगरक्षसाम् ।
नरकिंनरयक्षाणां सर्वेषामीश्वरः प्रभुः ॥ १४ ॥

देव, दानव, भूत, पिशाच, उरग, राक्षस, नर, किन्नर और सब यक्षोंका प्रभु ईश्वर है ॥ १४ ॥

आदिर्विश्वस्य जगतो विष्णुर्ब्रह्ममयो महान् ।
भूतं परतरं तस्मात्त्रैलोक्ये नेह विद्यते ॥ १५ ॥

ब्रह्ममय महाविष्णु संपूर्ण जगत्के आदि हैं; क्योंकि तीनों लोकोंके बीच उनसे श्रेष्ठ प्राणी और कुछ भी विद्यमान नहीं है ॥ १५ ॥

आश्रमाणां च गार्हस्थ्यं सर्वेषां नात्र संशयः ।
लोकानामादिरव्यक्तं सर्वस्यान्तस्तदेव च ॥ १६ ॥

सब आश्रमोंके बीच निःसन्देह गार्हस्थ्याश्रमही उत्तम है; अव्यक्त प्रकृति ही सब लोकोंकी आदि और अन्त है ॥ १६ ॥

अहान्यस्तमयान्तानि उदयान्ता च शर्वरी ।
सुखस्यान्तः सदा दुःखं दुःखस्यान्तः सदा सुखम् ॥ १७ ॥

दिनका अन्त सूर्यास्त है और रात्रिका अन्त सूर्योदय है; सुखका अन्त सदा दुःख और दुःखका अन्त सदा सुख है ॥ १७ ॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ॥ १८ ॥

सब वस्तुओंका अन्त विनाश है; उन्नतिके अन्तमें अवनति, संयोगके अन्तमें वियोग और जीवनके अन्तमें मरण है ॥ १८ ॥

सर्वं कृतं विनाशान्तं जातस्य मरणं ध्रुवम् ।
अशाश्वतं हि लोकेऽस्मिन्सर्वं स्थावरजङ्गमम् ॥ १९ ॥

सब निमित्त वस्तु विनाशान्त और उत्पन्न हुई वस्तु अन्तमें निश्चितही नाशवान् हैं; जो जन्म ले चुका है उसकी मृत्यु निश्चय ही है; क्योंकि इस जगत्में स्थावर और जङ्गम कोई भी सदा रहनेवाला नहीं है ॥ १९ ॥

इष्टं दत्तं तपोऽधीतं व्रतानि नियमाश्च ये ।
सर्वमेतद्विनाशान्तं ज्ञानस्यान्तो न विद्यते ॥ २० ॥

यज्ञ, दान, तपस्या, अध्ययन, व्रत और नियम, ये सभी अन्तमें विनाशी हैं; परन्तु ज्ञान अनन्त है, उसका अन्त नहीं है ॥ २० ॥

तस्माज्ज्ञानेन शुद्धेन प्रसन्नात्मा समाहितः ।
निर्ममो निरहंकारो मुच्यते सर्वपाप्मभिः ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥ ११५२ ॥

इस ही लिये जितेन्द्रिय, प्रशान्तचित्त, निर्मम, निरहंकारी मनुष्य केवल ज्ञानके द्वारा सब पापोंसे मुक्त हुआ करता है ॥ २१ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें चौवालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४४ ॥ ११५२ ॥

: ४५ :

ब्रह्मोवाच—

बुद्धिसारं मनस्तम्भमिन्द्रियग्रामबन्धनम् ।
महाभूतारविष्कम्भं निमेषपरिवेष्टनम् ॥ १ ॥

ब्रह्मा बोले– हे द्विजगण ! जिसकी बुद्धि सारस्वरूप, मन स्तम्भस्वरूप, इन्द्रिय समुदाय रज्जुरूपी बन्धन और जिसका पञ्चभूत आधार है, निमेष जिसका वलय स्वरूप है ॥ १ ॥

जराशोकसमाविष्टं व्याधिव्यसनसंचरम् ।
देशकालविचारीदं श्रमव्यायामनिस्वनम् ॥ २ ॥

जो बुढापा और शोकसे घिरा हुआ है, रोग और व्यसनोंकी उत्पत्तिका स्थानभूत, जो देश और कालके सहित विचरणकारी, श्रम और व्यायाम जिसका शब्द है ॥ २ ॥

अहोरात्रपरिक्षेपं शीतोष्णपरिमण्डलम् ।
सुखदुःखान्तसंक्लेशं क्षुत्पिपासावकीलनम् ॥ ३ ॥

अहोरात्र जिसके परिचालक, सर्दी और गर्मी जिसके घेरा है, सुख और दुःख जिसकी संधियां हैं, भूख और प्यास इसके कीलक हैं ॥ ३ ॥

छायातपविलेखं च निमेषोन्मेषविह्वलम् ।
घोरमोहजनाकीर्णं वर्तमानमचेतनम् ॥ ४ ॥

छाया और धूप जिसकी रेखा हैं; जो आंखोंके खोलने और मीचनेसे व्याकुल होता है, भयङ्कर मोहरूपी जलसे व्याप्त, सदा गमनशील और अचेतन जडस्वरूप है ॥ ४ ॥

मासार्धमासगणितं विषमं लोकसंचरम् ।
तमोनिचयपङ्कं च रजोवेगप्रवर्तकम् ॥ ५ ॥

मास और पक्ष आदिके द्वारा सीमित, अनेक अवस्थामें रहनेवाला, ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोकोंमें विचरनेवाला, तमोगुणके द्वारा यथाकर्मके निरोधरूप मलिनतासे युक्त, रजोगुणके द्वारा विहित तथा निषिद्ध कर्मोंमें प्रवृत्त ॥ ५ ॥

सत्त्वालंकारदीप्तं च गुणसंघातमण्डलम् ।
स्वरविग्रहनाभीकं शोकसंघातवर्तनम् ॥ ६ ॥

सत्ता और धनके अहंकारसे प्रदीप्त, तीनों गुणोंमें अवस्थित, चिन्तायुक्त मन इसकी नाभि है, शोक और दुःखसे जीवित ॥ ६ ॥

क्रियाकारणसंयुक्तं रागविस्तारमायतम् ।
लोभेप्सापरिसंख्यातं विविक्तज्ञानसंभवम् ॥ ७ ॥

क्रिया और कारणसे युक्त, आसक्ति जिसका दीर्घविस्तार, लोभ और तृष्णा जिसके अध और ऊर्ध्व हैं, जो गूढज्ञान–मायासे उत्पन्न ॥ ७ ॥

भयमोहपरीवारं भूतसंमोहकारकम् ।
आनन्दप्रीतिधारं च कामक्रोधपरिग्रहम् ॥ ८ ॥

भय और मोहसे परिवृत, सब भूतों-प्राणियोंको मोहमें डालनेवाला, बाह्य सुख, आनन्द और प्रीतिके सहित विचरणशील, काम और क्रोधका संग्रह करनेवाला है ॥ ८ ॥

महदादिविशेषान्तमसक्तप्रभवाव्ययम् ।
मनोजवनमश्रान्तं कालचक्रं प्रवर्तते ॥ ९ ॥

महत्तत्त्वादि विशेष जिसका अन्त है, वह अनिरुद्ध भावसे संचरणशील, संसारकारण अव्यय-स्वरूप, मनकी भांति वेगशाली और अत्यन्त मनोहर कालचक्र प्रवर्तित होता है ॥ ९ ॥

एतद्द्वंद्वसमायुक्तं कालचक्रमचेतनम् ।
विसृजेत्संक्षिपेच्चापि बोधयेत्सामरं जगत् ॥ १० ॥

मान–अपमान, राग–द्वेषादि द्वन्द्वोंसे युक्त यह अचेतन देहरूपी कालचक्र देवताओं सहित जगत्‌को उत्पन्न, संहार और प्रबोधित किया करता है ॥ १० ॥

कालचक्रप्रवृत्तिं च निवृत्तिं चैव तत्त्वतः ।
यस्तु वेद नरो नित्यं न स भूतेषु मुह्यति ॥ ११ ॥

जो मनुष्य इस कालचक्रकी प्रवृत्ति और निवृत्तिको सदा विशेष रूपसे जानता है, वह कभी प्राणियोंके बीच मोहित नहीं होता ॥ ११ ॥

विमुक्तः सर्वसंक्लेशैः सर्वद्वंद्वातिगो मुनिः ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ १२ ॥

बल्कि वह योगी सब द्वन्द्वोंसे रहित, सर्वक्लेश और सब पापोंसे मुक्त होकर परम गतिको पाता है ॥ १२ ॥

गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
चत्वार आश्रमाः प्रोक्ताः सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः ॥ १३ ॥

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक--संन्यास ये चार आश्रम शास्त्रोंमें बताये गये हैं । गृहस्थ आश्रम ही इन सबका मूल है ॥ १३ ॥

यः कश्चिदिह लोके च ह्यागमः संप्रकीर्तितः ।
तस्यान्तगमनं श्रेयः कीर्तिरेषा सनातनी ॥ १४ ॥

इस लोकमें जो कोई विधिनिषेधक शास्त्र कहा गया है, उसका अनुगमन करना कल्याणकारी है; इस कीर्तिको ही सनातनी जानो । अर्थात् इसीसे सनातन यशकी प्राप्ति होती है ॥ १४ ॥

संस्कारैः संस्कृतः पूर्वं यथावच्चरितव्रतः ।
जातौ गुणविशिष्टायां समावर्तेत वेदवित् ॥ १५ ॥

गुणविशिष्ट जातिमें उत्पन्न वेदवित् मनुष्य पहले स्वधर्मके संस्कारके द्वारा संस्कृत होकर व्रतोंका पूरी रीतिसे अनुष्ठान करके ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करें; फिर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके उत्तम गुण युक्त कुलमें विवाह करें ॥ १५ ॥

स्वदारनिरतो दान्तः शिष्टाचारो जितेन्द्रियः ।
पञ्चभिश्च महायज्ञैः श्रद्दधानो यजेत ह ॥ १६ ॥

अनन्तर इस लोकमें सदा निज स्त्रीमें रत रहके, योग्य दान देकर, सत्पुरुषोंके आचारका पालन करना, जितेन्द्रिय तथा श्रद्धावान् होकर पञ्चमहा यज्ञोंके द्वारा देवताओंकी अर्चना करें ॥ १६ ॥

देवतातिथिशिष्टाशी निरतो वेदकर्मसु ।
इज्याप्रदानयुक्तश्च यथाशक्ति यथाविधि ॥ १७ ॥

देवताओं और अतिथियोंको भोजन करानेके बाद अवशिष्ट अन्नका स्वयं भोजन करें, वेदोक्त कर्मोंमें रत रहें और शक्तिके अनुसार यथाविधि यज्ञ तथा दानकर्ममें नियुक्त होवें ॥१७॥

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो मुनिः ।
न च वागङ्गचपल इति शिष्टस्य गोचरः ॥ १८ ॥

मननशील मनुष्य हाथ, पांव, नेत्र, वाणी तथा शरीरकी चपलताका त्याग करें, अनुचित व्यवहार न करें; येही सुशील पुरुषोंके लक्षण हैं ॥ १८ ॥

नित्ययज्ञोपवीती स्याच्छुक्लवासाः शुचिव्रतः ।
नियतो दमदानाभ्यां सदा शिष्टैश्च संविशेत् ॥ १९ ॥

इसके अतिरिक्त सदा यज्ञोपवीत धारण करें तथा सफेद–स्वच्छ वस्त्र पहने, पवित्र व्रतका अनुष्ठान करे और इंद्रियोंको वशमें रखे तथा दानमें रत होकर सदा शिष्ट पुरुषोंके सहित संवास करे ॥ १९ ॥

जितशिश्नोदरो मैत्रः शिष्टाचारसमाहितः ।
वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् ॥ २० ॥

मनुष्य शिष्टाचारयुक्त होकर उदर तथा शिश्नको संयत करते हुए सबके साथ मित्रता रखें; जलयुक्त कमण्डलु तथा बांसकी लाठी धारण करें ॥ २० ॥

अधीत्याध्यापनं कुर्यात्तथा यजनयाजने ।
दानं प्रतिग्रहं चैव षड्गुणां वृत्तिमाचरेत् ॥ २१ ॥

अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह इन छः प्रकारके गुणोंकी वृत्तिका आचरण करे ॥ २१ ॥

त्रीणि कर्माणि यानीह ब्राह्मणानां तु जीविका ।
याजनाध्यापने चोभे शुद्धाच्चापि प्रतिग्रहः ॥ २२ ॥

याजन (यज्ञ कराना), अध्यापन और शुद्ध आचरणवाले सज्जनोंसे दान लेना, इन तीन कर्मोंको ब्राह्मणोंकी जीविकाके साधन जानो ॥ २२ ॥

अवशेषाणि चान्यानि त्रीणि कर्माणि यानि तु ।
दानमध्ययनं यज्ञो धर्मयुक्तानि तानि तु ॥ २३ ॥

शेष जो तीन कर्म हैं– दान, अध्ययन और यज्ञ– ये धर्मके प्रसारके लिये हैं ॥ २३ ॥

तेष्वप्रमादं कुर्वीत त्रिषु कर्मसु धर्मवित् ।
दान्तो मैत्रः क्षमायुक्तः सर्वभूतसमो मुनिः ॥ २४ ॥

धर्मज्ञ ब्राह्मणको इन धर्मयुक्त कर्मोंके पालनमें प्रमाद करना नहीं चाहिये । इंद्रियसंयमी, मित्रतासे युक्त, क्षमावान्, सर्वभूतोंमें समदर्शी और मननशील ॥ २४ ॥

सर्वमेतद्यथाशक्ति विप्रो निर्वर्तयञ्शुचिः ।
एवं युक्तो जयेत्स्वर्गं गृहस्थः संशितव्रतः ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥ ११७८ ॥

पवित्र चित्तवाला संशितव्रती गृहस्थ ब्राह्मण अपनी शक्तिके अनुसार इन सब कार्योंको नियमपूर्वक पूर्ण करते हुए उसमें नियुक्त रहनेसे स्वर्ग लोकको जीतनेमें समर्थ होता है ॥ २५ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें पैतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४५ ॥ ११७८ ॥

: ४६ :

ब्रह्मोवाच—

एवमेतेन मार्गेण पूर्वोक्तेन यथाविधि ।
अधीतवान्यथाशक्ति तथैव ब्रह्मचर्यवान् ॥ १ ॥

ब्रह्मा बोले— पहले कहे हुए इस ही मार्गके अनुसार गृहस्थको आचरण करना चाहिये और यथाशक्ति अध्ययन करते हुए ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करना चाहिये ॥ १ ॥

स्वधर्मनिरतो विद्वान्सर्वेन्द्रिययतो मुनिः ।
गुरोः प्रियहिते युक्तः सत्यधर्मपरः शुचिः ॥ २ ॥

स्वधर्ममें रत रहे और पंडित बने; सब इन्द्रियोंको अपने वशमें रखे; गुरुका प्रिय तथा हित करे, सत्यधर्मपरायण तथा पवित्रचित्त रहे ॥ २ ॥

गुरुणा समनुज्ञातो भुञ्जीतान्नमकुत्सयन् ।
हविष्यभैक्ष्यभुक्चापि स्थानासनविहारवान् ॥ ३ ॥

मननशील मनुष्य गुरुके द्वारा पूरी रीतिसे अनुज्ञात होकर निन्दा न करके अन्न भोजन करे; भिक्षाके अन्नको हविष्य समझकर ग्रहण करे । एक स्थान और एक आसन उचित माने । निश्चित समयपर भ्रमण करे ॥ ३ ॥

द्विकालमग्निं जुह्वानः शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
धारयीत सदा दण्डं बैल्वं पालाशमेव वा ॥ ४ ॥

पवित्र तथा समाहित होकर दोनों समय अग्निमें आहुति डाले । सदा बेल वा पलासका दण्ड धारण करे ॥ ४ ॥

क्षौमं कार्पासिकं वापि मृगाजिनमथापि वा
सर्वं काषायरक्तं स्याद्वासो वापि द्विजस्य ह ॥ ५ ॥

रेशमी वा सूती वस्त्र अथवा मृगजिन पहरे। ब्राह्मणके सब वस्त्र गेरुए या लाल रङ्गके होने चाहिये ॥ ५ ॥

मेखला च भवेन्मौञ्जी जटी नित्योदकस्तथा।
यज्ञोपवीती स्वाध्यायी अलुप्तनियतव्रतः ॥ ६ ॥

ब्रह्मचारी मूञ्जकी करधनी और जटा धारण करें, सदा प्रतिदिन स्नान करे; यज्ञोपवित धारण करे; वेदका स्वाध्यायी, अलुब्ध तथा नियमपूर्वक व्रतका पालन करें ॥ ६ ॥

पूताभिश्च तथैवाद्भिः सदा दैवततर्पणम्।
भावेन नियतः कुर्वन्ब्रह्मचारी प्रशस्यते ॥ ७ ॥

पवित्र जलके द्वारा सदा देवताओंका तर्पण करे; क्योंकि ब्रह्मचारी संयत होकर विशुद्धभावसे इस प्रकार आचरण करनेसे प्रशंसित हुआ करता है ॥ ७ ॥

एवं युक्तो जयेत्स्वर्गमूर्ध्वरेताः समाहितः।
न संसरति जातीषु परमं स्थानमाश्रितः ॥ ८ ॥

इस ही प्रकार उत्तम गुणोंसे युक्त होनेसे ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी समाहित होकर श्रेष्ठ लोकोंपर विजय करनेमें समर्थ होता है और वह परम पदको पाकर फिर इस जगत्‌में जन्म नहीं लेता ॥ ८ ॥

संस्कृतः सर्वसंस्कारैस्तथैव ब्रह्मचर्यवान्।
ग्रामान्निष्क्रम्य चारण्यं मुनिः प्रव्रजितो वसेत् ॥ ९ ॥

ब्रह्मचर्यविशिष्ट मननशील मनुष्य सब संस्कारोंसे संस्कृत तथा निज ग्रामसे बाहिर होकर वानप्रस्थका अवलम्बन करते हुए घरकी ममता त्यागकर वनके बीच वास करे ॥ ९ ॥

चर्मवल्कलसंवीतः स्वयं प्रातरुपस्पृशेत्।
अरण्यगोचरो नित्यं न ग्रामं प्रविशेत्पुनः ॥ १० ॥

चर्म और बल्कल वस्त्रधारी होकर, स्वयं सबेरे स्नान करे और सदा वनवासी होकर ग्राममें फिर कभी प्रवेश करनेसे निवृत्त होवे ॥ १० ॥

अर्चयन्नतिथीन्काले दद्याच्चापि प्रतिश्रयम्।
फलपत्रावरैर्मूलैः श्यामाकेन च वर्तयन् ॥ ११ ॥

फल, पत्ता, क्षुद्र मूल और सावांके द्वारा जीविका निर्वाह करते हुए, यथासमयमें उपस्थित अतिथियोंका सत्कार करके उन्हें आश्रय प्रदान करे ॥ ११ ॥

प्रवृत्तमुदकं वायुं सर्वं वानेयमा तृणात् ।
प्राश्नीयादानुपूर्व्येण यथादीक्षमतन्द्रितः ॥ १२ ॥

व्रत दीक्षाके अनुसार दत्तचित्त होकर बहते हुए जल, वायु और वनके फलमूल तृणादिका क्रमसे भोजन करे ॥ १२ ॥

आमूलफलभिक्षाभिरर्चेदतिथिमागतम् ।
यद्भक्षः स्यात्ततो दद्याद्भिक्षां नित्यमतन्द्रितः ॥ १३ ॥

बनवासी मुनि सदा आलस्यरहित होकर फलमूलकी भिक्षाके सहारे समागत अतिथिका सत्कार करे और जो कुछ भोजन अपने पास होवे, उसमेंसे कुछ अंश अतिथिको भिक्षा प्रदान करे ॥ १३ ॥

देवतातिथिपूर्वं च सदा भुञ्जीत वाग्यतः ।
अस्कन्दितमनाश्चैव लघ्वाशी देवताश्रयः ॥ १४ ॥

सदा पहले देवता और अतिथिको भोजन देकर, फिर स्वयं मौन होकर अन्न ग्रहण करें । उत्पत्तित मनके विना, हलका भोजन करे, देवताओंका आश्रय तथा आशीर्वाद ले ॥ १४ ॥

दान्तो मैत्रः क्षमायुक्तः केशश्मश्रु च धारयन् ।
जुह्वन्स्वाध्यायशीलश्च सत्यधर्मपरायणः ॥ १५ ॥

वानप्रस्थ मनुष्य जितेन्द्रिय, मित्रता करनेवाला, क्षमाशील, केशश्मश्रुधारी, होमहवनकारी, स्वाध्यायशील और सत्यधर्मपरायण रहता है ॥ १५ ॥

त्यक्तदेहः सदा दक्षो वननित्यः समाहितः ।
एवं युक्तो जयेत्स्वर्गं वानप्रस्थो जितेन्द्रियः ॥ १६ ॥

देहकी आसक्ति छोडनेवाला, सदा धर्मके पालनमें कुशल और सदा वनमें रहकर एकाग्र चित्त करे । इस प्रकार उत्तम व्रतोंका पालन करनेवाला जितेन्द्रिय वानप्रस्थी स्वर्गको जीतता है ॥ १६ ॥

गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ वा पुनः ।
य इच्छेन्मोक्षमास्थातुमुत्तमां वृत्तिमाश्रयेत् ॥ १७ ॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ पुरुषोंके बीच जो कोई मोक्ष पानेकी इच्छा करता है, वह उत्तम वृत्तिका अवलम्बन करे ॥ १७ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा नैष्कर्म्यमाचरेत् ।
सर्वभूतहितो मैत्रः सर्वेन्द्रिययतो मुनिः ॥ १८ ॥

सब भूतोंको अभयदान देकर कर्मत्याग करे; सब प्राणियोंके हितमें सुख माने; मित्रता रखे; सब इन्द्रियोंका दमन करके मुनिवृत्तिका पालन करे ॥ १८ ॥

×

अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया ।
जोषयेत सदा भोज्यं ग्रासमागतमस्पृहः ॥ १९ ॥

याचना किये बिना, संकल्पके बिना तथा दैववशात् जो अन्न मिले, उस भिक्षासे निर्वाह करे। सदा जो अन्न अपने आप प्राप्त होवे, उसे ग्रहण करे और उसके लिये भी इच्छा नहीं रखनी चाहिये ॥ १९ ॥

यात्रामात्रं च भुञ्जीत केवलं प्राणयात्रिकम् ।
धर्मलब्धं तथाश्नीयान्न काममनुवर्तयेत् ॥ २० ॥

केवल प्राणयात्रा निभानेके लिये ही जितना अन्न आवश्यक है, उतनाही लेवे । धर्मसे प्राप्त हुए अन्नका आहार करे, कदापि कामके अनुवर्त्ती न होवे ॥ २० ॥

ग्रासादाच्छादनाच्चान्यन्न गृह्णीयात्कथंचन ।
यावदाहारयेत्तावत्प्रतिगृह्णीत नान्यथा ॥ २१ ॥

और भोजनके लिये अन्न और शरीर ढकनेके लिये वस्त्रके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुको कदापि ग्रहण न करे। भिक्षा भी, जितनी निर्वाहके लिये जरूरी है, उतनी ही ग्रहण करे, और दूसरा कुछ भी नहीं लेवे ॥ २१ ॥

परेभ्यो न प्रतिग्राह्यं न च देयं कदाचन ।
दैन्यभावाच्च भूतानां संविभज्य सदा बुधः ॥ २२ ॥

विद्वान् पुरुष दूसरोंके लिये प्रतिग्रह न करे, तथा सब भूतोंके लिये दयाभावसे बिभाग करके कुछ भी दान नहीं करे ॥ २२ ॥

नाददीत परस्वानि न गृह्णीयादयाचितम् ।
न किंचिद्विषयं भुक्त्वा स्पृहयेत्तस्य वै पुनः ॥ २३ ॥

दूसरोंके अधिकारका अपहरण न करे और याचनाके बिना कोई वस्तुका नहीं स्वीकार करे। कार्यवान् मनुष्य किसी विषयको एक बार भोग करके फिर उसमें स्पृहा न करे; ॥ २३ ॥

मृदमापस्तथाऽश्मानं पत्रपुष्पफलानि च ।
असंवृतानि गृह्णीयात्प्रवृत्तानीह कार्यवान् ॥ २४ ॥

उपस्थित मृत्तिका, जल, अन्न, पत्र पुष्प और फल, यह सब किसीके अधिकारमें न हो तो ग्रहण करे, और यहां आवश्यकताके अनुसार क्रियावान् पुरुष काममें लावे ॥ २४ ॥

न शिल्पजीविकां जीवेद्द्विरन्नं नोत कामयेत् ।
न द्वेष्टा नोपदेष्टा च भवेच्च निरुपस्कृतः ।
श्रद्धापूतानि भुञ्जीत निमित्तानि विवर्जयेत् ॥ २५ ॥

शिल्पवृत्तिके द्वारा जीविकाका निर्वाह न करे, दो बार अन्नकी कामना न करे, किसीका द्वेष्टा वा उपदेशक न होवे; केवल अलङ्कारादिसे रहित होकर निवास करे। श्रद्धासे पवित्र अन्नका भोजन करे और मनमें कोई निमित्त न रखे ॥ २५ ॥

सुधावृत्तिरसक्तश्च सर्वभूतैरसंविदम् ।
कृत्वा वह्निं चरेद्भैक्ष्यं विधूमे भुक्तवज्जने ॥ २६ ॥

अमृतमय वर्तन सबके साथ रखकर अनासक्त रहे और किसीभी प्राणियोंके साथ जान-पहचान न बढावे । प्रातःकालका अग्निहोत्रीय अग्नि प्रज्वलित करके होमकार्यको पूरा करके धूमरहित तथा जनपदोंके भोजनकार्य सिद्ध होनेपर ॥ २६ ॥

वृत्ते शरावसंपाते भैक्ष्यं लिप्सेत मोक्षवित् ।
लाभे न च प्रहृष्येत नालाभे विमना भवेत् ॥ २७ ॥

तथा बर्तन धो-मांजकर रख दिये गये हों, उस समय मोक्षवित् मनुष्य भिक्षाप्राप्तिके लिये इच्छा करे और भिक्षालाभसे हृष्ट तथा भिक्षाके अलाभसे असन्तुष्ट न होवे ॥ २७ ॥

मात्राशी कालमाकांक्षंश्चरेद्भैक्ष्यं समाहितः ।
लाभं साधारणं नेच्छेन्न भुञ्जीताभिपूजितः ।
अभिपूजितलाभाद्धि विजुगुप्सेत भिक्षुकः ॥ २८ ॥

जीवनयात्रा निभानेकी इच्छा करनेवाले भिक्षुक एकाग्रचित होकर उचित समय तक उसके मिलनेकी राह देखते हुए भिक्षा मांगनेमें प्रवृत्त होवें; परंतु साधारण वस्तु ग्रहण करनेकी इच्छा न करें और किसी पुरुषके द्वारा सम्मानित होकर भोजन न करें; क्योंकि भिक्षुक समादर सहित भिक्षा पानेसे निन्दाभाजन हुआ करते हैं, भिक्षुक-संन्यासीको सम्मानके लाभसे तिरस्कार करना चाहिये ॥ २८ ॥

शुक्तान्यम्लानि तिक्तानि कषायकटुकानि च ।
नास्वादयीत भुञ्जानो रसांश्च मधुरांस्तथा ।
यात्रामात्रं च भुञ्जीत केवलं प्राणयात्रिकम् ॥ २९ ॥

भिक्षुक शुक्त, आम्ल, तीखा, कडुआ और कसैला अन्नका भोजन न करे । मधुर रसयुक्त भोज्य वस्तुओंका स्वाद न लेवे; केवल जीवननिर्वाहके लिये-प्राणधारणके निमित्त भोजन करे ॥ २९ ॥

असंरोधेन भूतानां वृत्तिं लिप्सेत मोक्षवित् ।
न चान्यमनुभिक्षेत भिक्षमाणः कथंचन ॥ ३० ॥

मोक्षवित् पुरुष दूसरे प्राणियोंको जीविकामें बाधा पहुंचाये विना भिक्षा-वृत्तिलाभकी इच्छा करे और भिक्षामें प्रवृत्त होकर दूसरेके अन्नकी कदापि अभिलाष न करे ॥ ३० ॥

न संनिकाशयेद्धर्मं विविक्ते विरजाश्चरेत् ।
शून्यागारमरण्यं वा वृक्षमूलं नदीं तथा ।
प्रतिश्रयार्थं सेवेत पार्वतीं वा पुनर्गुहाम् ॥ ३१ ॥

भिक्षुक किसी प्रकार अपने धर्मका प्रदर्शन न करे, रजोगुणसे रहित होकर मुक्तिमार्गमें विचरे; रातको सोनेके निमित्त सूना स्थान, अरण्य, वृक्षमूल, नदीके किनारे और पर्वतकी गुफाका आश्रय लेना चाहिये ॥ ३१ ॥

ग्रामैकरात्रिको ग्रीष्मे वर्षास्वेकत्र वा वसेत् ।
अध्वा सूर्येण निर्दिष्टः कीटवच्च चरेन्महीम् ॥ ३२ ॥

ग्रीष्मकालमें ग्राममें एक रात्रि वास करे, वर्षाकाल उपस्थित होनेपर किसी एक ही स्थानपर वास करे; सूर्यके उदित होनेसे मार्ग प्रकाशित होनेपर कीडेकी भांति पृथ्वीपर विचरण करे ॥ ३२ ॥

दयार्थं चैव भूतानां समीक्ष्य पृथिवीं चरेत् ।
संचयांश्च न कुर्वीत स्नेहवासं च वर्जयेत् ॥ ३३ ॥

प्राणियोंके विषयमें दया प्रकाशित करके तथा समस्त पर्यवेक्षण करते हुए पृथ्वीपर पर्यटन करे, किसी वस्तुको सञ्चय न करे और आसक्तिपूर्वक कहीं निवास न करे ॥ ३३ ॥

पूतेन चाम्भसा नित्यं कार्यं कुर्वीत मोक्षवित् ।
उपस्पृशेदुद्धृताभिरद्भिश्च पुरुषः सदा ॥ ३४ ॥

मोक्षवित् पुरुष सदा पवित्र जलसे कार्य करे और सदा तुरंत निकाले हुए जलसे स्नान करे ॥ ३४ ॥

अहिंसा ब्रह्मचर्यं च सत्यमार्जवमेव च ।
अक्रोधश्चानसूया च दमो नित्यमपैशुनम् ॥ ३५ ॥

अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, सरलता, अक्रोध, अनसूया, इंद्रिय दमन और चुगली न खाना— ॥ ३५ ॥

अष्टास्वेतेषु युक्तः स्याद्व्रतेषु नियतेन्द्रियः ।
अपापमशठं वृत्तमजिह्मं नित्यमाचरेत् ॥ ३६ ॥

इन आठ प्रकारके व्रतोंमें नियुक्त रहके सदा इंद्रियोंका निग्रह करे। पाप, शठता और कुटिलता रहित होकर सदा व्रताचरण करे ॥ ३६ ॥

आशीर्युक्तानि कर्माणि हिंसायुक्तानि यानि च ।
लोकसंग्रहधर्मं च नैव कुर्यान्न कारयेत् ॥ ३७ ॥

आशिर्वादयुक्त तथा हिंसायुक्त जितने कर्म हैं उनका तथा लौकिक कर्मोंका अनुष्ठान स्वयं न करे, न दूसरेके द्वारा करावे ॥ ३७ ॥

सर्वभावानतिक्रम्य लघुमात्रः परिव्रजेत् ।
समः सर्वेषु भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च ॥ ३८ ॥

सब प्रकारके भावोंको अतिक्रम करके, दण्ड कमण्डल प्रभृति भिक्षुकोंकी उपासना सामग्रियोंको अल्प परिमाणसे ग्रहण करके परिभ्रमण और समस्त चराचर प्राणियोंके विषयमें समदर्शी होवे ॥ ३८ ॥

परं नोद्वेजयेत्कंचिन्न च कस्यचिदुद्विजेत् ।
विश्वास्यः सर्वभूतानामग्र्यो मोक्षविदुच्यते ॥ ३९ ॥

दूसरेको उद्वेगयुक्त नहीं करे और स्वयं भी किसीसे उद्विग्न न हो, जो सब प्राणियोंका विश्वासपात्र होता है, वही सबसे श्रेष्ठ और उत्तम मोक्षवित् कहके वर्णित हुआ करता है ॥ ३९ ॥

अनागतं च न ध्यायेन्नातीतमनुचिन्तयेत् ।
वर्तमानमुपेक्षेत कालाकाङ्क्षी समाहितः ॥ ४० ॥

वैसे मोक्षवित् मनुष्य कालकी प्रतीक्षा करता हुआ और समाहित होकर, अनागत तथा अतीत विषयोंका अनुध्यान न करें और वर्त्तमान विषयमें उपेक्षा करें ॥ ४० ॥

न चक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेत्कचित् ।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा किंचिद्दुष्टं समाचरेत् ॥ ४१ ॥

नेत्र, मन और बचनके द्वारा किसी प्रकार दोष न करें और प्रत्यक्ष वा परोक्ष किसी दुष्ट विषयका आचरण न करें ॥ ४१ ॥

इन्द्रियाण्युपसंहृत्य कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
क्षीणेन्द्रियमनोबुद्धिर्निरीक्षेत निरिन्द्रियः ॥ ४२ ॥

भिक्षुक मनुष्य अपने अंगोंकी सब ओरसे संकोच करनेवाले कूर्मकी भांति इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे संकुचित करते हुए, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धिको दुर्बल करके उदासीन हो जाय, और इन्द्रिय रहित जैसे हो जाय ॥ ४२ ॥

निर्द्वंद्वो निर्नमस्कारो निःस्वाहाकार एव च ।
निर्ममो निरहंकारो निर्योगक्षेम एव च ॥ ४३ ॥

निर्द्वन्द्व, निर्नमस्कार, निःस्वाहाकार, निर्मम, निरहङ्कार और निर्योगक्षेम हो जाय ॥ ४३ ॥

निराशीः सर्वभूतेषु निरासङ्गो निराश्रयः ।
सर्वज्ञः सर्वतो मुक्तो मुच्यते नात्र संशयः ॥ ४४ ॥

निष्काम, सब प्राणियोंमें निरासक्त, निराश्रय, सर्वज्ञ पुरुष सब ओरसे मुक्त हो जाता है; वह निश्चय ही मुक्त होता है, इसमें संदेह नहीं है ॥ ४४ ॥

अपाणिपादपृष्ठं तमशिरस्कमनूदरम् ।
प्रहीणगुणकर्माणं केवलं विमलं स्थिरम् ॥ ४५ ॥

जो मनुष्य हाथ, पांव, पीठ, सिर और उदर आदिसे रहित गुण तथा कर्मोंसे बिहीन, केवल निर्मल, स्थिर, ॥ ४५ ॥

अगन्धरसमस्पर्शमरूपाशब्दमेव च ।
अत्वगस्थ्यथ वामज्जममांसमपि चैव ह ॥ ४६ ॥

गन्ध-रस-स्पर्श-रूप और शब्दसे रहित, त्वचा, अस्थि, मज्जा और मांसके शरीरसे रहित ॥४६॥

निश्चिन्तमव्ययं नित्यं हृदिस्थमपि नित्यदा ।
सर्वभूतस्थमात्मानं ये पश्यन्ति न ते मृताः ॥ ४७ ॥

निश्चित, अबिनाशी, नित्य, सदा हृदयमें वास करनेवाला और सब प्राणियोंमें स्थित आत्माको जानते हैं– उसका दर्शन करते हैं, वे कभी मरते नहीं ॥ ४७ ॥

न तत्र क्रमते बुद्धिर्नेन्द्रियाणि न देवताः ।
वेदा यज्ञाश्च लोकाश्च न तपो न पराक्रमः ।
यत्र ज्ञानवतां प्राप्तिरलिङ्गग्रहणा स्मृता ॥ ४८ ॥

उस आत्मातक बुद्धि, इन्द्रिय, देवता, वेद, यज्ञ, लोक, तपस्या, व्रत तथा पराक्रम भी प्रवेश नहीं कर सकते; क्योंकि केवल ज्ञानबान् महात्माओंकी ही वहां गति है; वह आत्मा बाह्यचिह्नसे रहित मानी गयी है ॥ ४८ ॥

तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञो धर्मव्रतमनुव्रतः ।
गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत् ॥ ४९ ॥

इसलिये बाह्यचिह्नोंसे रहित धर्मको जानकर धर्मज्ञ मनुष्य धर्म–व्रतोंका आचरण करे । गूढ़-धर्माश्रित विद्वान् मनुष्य बिज्ञातचरित बिषयका आचरण करे ॥ ४९ ॥

अमूढो मूढरूपेण चरेद्धर्ममदूषयन् ।
यथैनमवमन्येरन्परे सततमेव हि ॥ ५० ॥

और मूढ न होकर भी मूढके समान रहे और अपने व्यवहारसे धर्मको दूषित न करे । समाजके दूसरे लोग जिस कामके लिये सदा अनादर करें ॥ ५० ॥

तथावृत्तश्चरेद्धर्मं सतां वर्त्माविदूषयन् ।
यो ह्येवं वृत्तसंपन्नः स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ५१ ॥

वैसा ही काम धर्म समझकर करे; सज्जनोंके आचरणकी निन्दा न करें । जो ऐसी वृत्तिसे युक्त होता है, वही उत्तम मुनि कहके वर्णित हुआ करता है ॥ ५१ ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च महाभूतानि पञ्च च ।
मनोबुद्धिरथात्मानमव्यक्तं पुरुषं तथा ॥ ५२ ॥

जो मनुष्य इन्द्रिय, उनके विषय, पञ्चमहाभूत, मन, बुद्धि, आत्मा, अव्यक्त-प्रकृति और पुरुष ॥ ५२ ॥

सर्वमेतत्प्रसंख्याय सम्यक्संत्यज्य निर्मलः ।
ततः स्वर्गमवाप्नोति विमुक्तः सर्वबन्धनैः ॥ ५३ ॥

इन सबका प्रकृष्टरूपसे विचार करके सब तत्त्वोंका यथायोग्य त्याग करके निर्मल होकर वह सब बन्धनोंसे मुक्त होकर स्वर्गका लाभ प्राप्त करता है ॥ ५३ ॥

एतदेवान्तवेलायां परिसंख्याय तत्त्ववित् ।
ध्यायेदेकान्तमास्थाय मुच्यतेऽथ निराश्रयः ॥ ५४ ॥

जो तत्त्ववित् पुरुष अन्तकालमें इन तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करके एकान्त स्थानमें बैठ करके ध्यान करता है, वह निराश्रय होकर मुक्त होता है ॥ ५४ ॥

निर्मुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो वायुराकाशगो यथा ।
क्षीणकोशो निरातङ्कः प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥ १२३३ ॥

वह आकाशगामी वायुकी भांति सब आसक्तियोंसे निर्मुक्त होकर, पञ्चकोशोंसे रहित और निर्भय होकर परब्रह्मको प्राप्त हुआ करता है ॥ ५५ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें छियालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४६ ॥ १२३३ ॥

: ४७ :

ब्रह्मोवाच—

संन्यासं तप इत्याहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः ।
ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ज्ञानं ब्रह्म परं विदुः ॥ १ ॥

ब्रह्मा बोले– निश्चित दर्शन करनेवाले और ब्रह्म–परमात्मामें स्थित वृद्ध ब्राह्मण संन्यासको तपस्या कहा करते हैं और ज्ञानको परब्रह्म बोध करते हैं ॥ १ ॥

अविदूरात्परं ब्रह्म वेदविद्याव्यपाश्रयम् ।
निर्द्वंद्वं निर्गुणं नित्यमचिन्त्यं गुह्यमुत्तमम् ॥ २ ॥

वेदविद्याका आधार ब्रह्म अत्यन्त दूर है; वह निर्द्वन्द्व, निर्गुण, नित्य, अचिन्त्य, गूढ और अत्यंत श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

ज्ञानेन तपसा चैव धीराः पश्यन्ति तत्पदम् ।
निर्णिक्ततमसः पूता व्युत्क्रान्तरजसोऽमलाः ॥ ३ ॥

धीर पुरुष ज्ञान और तपस्यासे उस स्थानका दर्शन किया करते हैं । जिनका अज्ञान-अंधःकार नष्ट हुआ है, जो पवित्र हैं, जो रजोगुणसे रहित हैं, जिनका हृदय निर्मल है ॥ ३ ॥

तपसा क्षेममध्वानं गच्छन्ति परमैषिणः ।
संन्यासनिरता नित्यं ये ब्रह्मविदुषो जनाः ॥ ४ ॥

जो सदा संन्यासमें रत, ब्रह्मवित् पुरुष हैं, वे परमेश्वर प्राप्तिकी इच्छा करनेवाले लोग तपस्याके सहारे उस मङ्गलमय पथमें गमन किया करते हैं ॥ ४ ॥

तपः प्रदीप इत्याहुराचारो धर्मसाधकः ।
ज्ञानं त्वेव परं विद्म संन्यासस्तप उत्तमम् ॥ ५ ॥

पण्डित लोग तपस्याको दीपक और आचारको धर्मका साधक कहा करते हैं; परंतु संन्यासको उत्तम तपस्या और ज्ञानको ही सबसे उत्कृष्ट परब्रह्मरूप जानना चाहिये ॥ ५ ॥

यस्तु वेद निराबाधं ज्ञानं तत्त्वविनिश्चयात् ।
सर्वभूतस्थमात्मानं स सर्वगतिरिष्यते ॥ ६ ॥

जो पुरुष सब तत्त्वोंका पूर्ण निश्चय करते हुए बाधारहित, ज्ञानस्वरूप और सर्वभूतस्थ परमात्माको जान सकता है, वह सर्वत्रगामी हुआ करता है ॥ ६ ॥

यो विद्वान्सहवासं च विवासं चैव पश्यति ।
तथैवैकत्वनानात्वे स दुःखात्परिमुच्यते ॥ ७ ॥

जो विद्वान् मनुष्य सहवासको वियोगके रूपमें देखता है, और अनेकत्वमें एकत्व अवलोकन करता है, वह दुःखोंसे मुक्तिलाभ करनेमें समर्थ होता है ॥ ७ ॥

यो न कामयते किंचिन्न किंचिदवमन्यते ।
इहलोकस्थ एवैष ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ८ ॥

जो मनुष्य इस लोकमें विद्यमान रहके भी किसी विषयकी कामना अथवा किसीकी अवहेलना नहीं करता, वह ब्रह्मत्व लाभ करता है ॥ ८ ॥

प्रधानगुणतत्त्वज्ञः सर्वभूतविधानवित् ।
निर्ममो निरहंकारो मुच्यते नात्र संशयः ॥ ९ ॥

जो मनुष्य सब भूतोंमें प्रमुख-प्रकृतिको और उसके गुण, तत्त्वको अच्छी तरहसे जानके अहङ्कार वा ममताविहीन होता है, वह निश्चय ही मुक्त हुआ करता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ९ ॥

निर्द्वंद्वो निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ।
निर्गुणं नित्यमद्वंद्वं प्रशमेनैव गच्छति ॥ १० ॥

जो निर्द्वन्द्व, नमस्कारकी इच्छा न करनेवाला और श्राद्ध न करनेवाला पुरुष है, वह समाधान–शान्ति गुणके द्वारा ही निर्गुण, द्वन्द्वातीत नित्य तत्त्वको प्राप्त होता है ॥ १० ॥

हित्वा गुणमयं सर्वं कर्म जन्तुः शुभाशुभम् ।
उभे सत्यानृते हित्वा मुच्यते नात्र संशयः ॥ ११ ॥

शुभ और अशुभ सब त्रिगुणात्मक कर्मोंका और सत्य, मिथ्या– इन दोनोंका परित्याग करनेसे वह मुक्त होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ११ ॥

अव्यक्तबीजप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान् ।
महाहंकारविटप इन्द्रियान्तरकोटरः ॥ १२ ॥

अव्यक्त–अज्ञान जिसका बीज, बुद्धि महास्कन्ध, अहङ्कार शाखा, इन्द्रियाँ जिसके अंकुर वा कोटर हैं ॥ १२ ॥

महाभूतविशाखश्च विशेषप्रतिशाखवान् ।
सदापर्णः सदापुष्पः शुभाशुभफलोदयः ।
आजीवः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः ॥ १३ ॥

पंच महाभूत जिसका विस्तार विशेष और इस वृक्षकी शोभा हैं । सदा पत्ते, पुष्प और शुभाशुभ सुख–दुःखरूपी फलोदययुक्त यह सनातन, ब्रह्मरूपी बीजसे उत्पन्न देहरूपी वृक्ष सब भूतोंके जीवनका आधार है ॥ १३ ॥

एतच्छित्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना ।
हित्वा चामरतां प्राप्य जह्याद्धि मृत्युजन्मनी ।
निर्ममो निरहंकारो मुच्यते नात्र संशयः ॥ १४ ॥

ज्ञानवान् मनुष्य ज्ञानरूपी श्रेष्ठ तलवारके द्वारा ऐसे वृक्षको छेदन तथा विदारण कर, अमरता प्राप्त करके जन्म–मृत्युके बंधनोंको तोड डालता है । फिर निर्मम और निरहङ्कारी होकर निश्चय ही मुक्त हुआ करता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १४ ॥

द्वावेतौ पक्षिणौ नित्यौ सखायौ चाप्यचेतनौ ।
एताभ्यां तु परो यस्य चेतनावानिति स्मृतः ॥ १५ ॥

इस वृक्षपर रहनेवाले दो पक्षी हैं; ये दोनों पक्षी नित्य, सखा वा अचेतन हैं, इनसे जो श्रेष्ठ है, वह चेतनावान् कहके वर्णित होता है ॥ १५ ॥

×

अचेतनः सत्त्वसंघातयुक्तः सत्त्वात्परं चेतयतेऽन्तरात्मा ।
स क्षेत्रज्ञः सत्त्वसंघातबुद्धिर्गुणातिगो मुच्यते मृत्युपाशात् ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥ १२४९ ॥

स्थैर्यसे युक्त जो मूल प्रकृति–सत्त्व है, वह अचेतन है; उससे भिन्न जो जीवात्मा है, उसे अन्तर्यामी परमात्मा ज्ञानवान् करता है। वही क्षेत्रज्ञ जब सब तत्त्वोंको जान सकता है, तब गुणातीत होकर मृत्युके पाशोंसे मुक्त होता है ॥ १६ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें सैंतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४७ ॥ १२४९ ॥

: ४८ :

ब्रह्मोवाच—

केचिद्ब्रह्ममयं वृक्षं केचिद्ब्रह्ममयं महत् ।
केचित्पुरुषमव्यक्तं केचित्परमनामयम् ।
मन्यन्ते सर्वमप्येतदव्यक्तप्रभवाव्ययम् ॥ १ ॥

ब्रह्मा बोले– कितने ही मनुष्य इस वृक्षको ब्रह्ममय कहके निर्देश करते हैं और कोई महान् ब्रह्ममय मानते हैं। कोई इसे अव्यक्त पुरुष और कोई परम अनामय मानते हैं। कोई इस संपूर्णको अव्यक्त, उत्पत्तिशील और अव्यय मानते हैं ॥ १ ॥

उच्छ्वासमात्रमपि चेद्योऽन्तकाले समो भवेत् ।
आत्मानमुपसंगम्य सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ २ ॥

जो पुरुष मृत्युकालमें निश्वास पतनकाल मात्र समभावसे स्थित होता है, वह हृदयके बीच परमात्माका दर्शन करके मुक्ति लाभ किया करता है ॥ २ ॥

निमेषमात्रमपि चेत्संयम्यात्मानमात्मनि ।
गच्छत्यात्मप्रसादेन विदुषां प्राप्तिमव्ययाम् ॥ ३ ॥

यदि केवल निमेष कालमात्र भी अपने मनको आत्मामें एकचित्त कर सके, तो उसे स्वयंकी प्रसन्नतासे विद्वानोंकी अक्षय परम गति प्राप्त हुआ करती है ॥ ३ ॥

प्राणायामैरथ प्राणान्संयम्य स पुनः पुनः ।
दशद्वादशभिर्वापि चतुर्विंशात्परं ततः ॥ ४ ॥

यदि कोई दस वा बारह बार प्राणायाम करते हुए प्राणोंको बार बार संयत करनेमें समर्थ हो, तो वह चौबीस तत्त्वोंसे परे अव्यक्तातीत पचीसवें तत्त्व परमात्माको प्राप्त हुआ करता है ॥४॥

एवं पूर्वं प्रसन्नात्मा लभते यद्यदिच्छति ।
अव्यक्तात्सत्त्वमुद्रिक्तममृतत्वाय कल्पते ॥ ५ ॥

इस ही प्रकार जो पहले अपनेको शुद्ध-प्रसन्न करता है, वह जो जो चाहता है उसे ही प्राप्त करता है; अव्यक्तसे श्रेष्ठ जो सत्वरूप आत्मा है, वह अमर मानते हैं ॥ ५ ॥

सत्त्वात्परतरं नान्यत्प्रशंसन्तीह तद्विदः ।
अनुमानाद्विजानीमः पुरुषं सत्त्वसंश्रयम् ।
न शक्यमन्यथा गन्तुं पुरुषं तमथो द्विजाः ॥ ६ ॥

हे द्विजसत्तमगण ! मोक्षवित् पण्डित लोग सत्त्वके अतिरिक्त अन्य किसीको भी अत्यन्त उत्कृष्ट कहके प्रशंसा नहीं करते; हम भी अनुमानसे जानते हैं कि अन्तर्यामी परमात्मा सत्त्व-स्वरूप आत्मामें स्थित है; इस तत्त्वको जाने बिना उस परम पुरुषको प्राप्त करना अशक्य है ॥ ६ ॥

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
ज्ञानं त्यागोऽथ संन्यासः सात्त्विकं वृत्तमिष्यते ॥ ७ ॥

क्षमा, धृति, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, ज्ञान, त्याग और संन्यास, इन सबको सात्त्विक वृत्ति जानो ॥ ७ ॥

एतेनैवानुमानेन मन्यन्तेऽथ मनीषिणः ।
सत्त्वं च पुरुषश्चैकस्तत्र नास्ति विचारणा ॥ ८ ॥

मनीषि विद्वान् इस ही प्रकार अनुमानके द्वारा सत्त्व तथा पुरुषमें अभेद बोध करते हैं, उसमें और बिचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ८ ॥

आहुरेके च विद्वांसो ये ज्ञाने सुप्रतिष्ठिताः ।
क्षेत्रज्ञसत्त्वयोरैक्यमित्येतन्नोपपद्यते ॥ ९ ॥

ज्ञानिमें सुप्रतिष्ठित कोई पण्डित ऐसा कहा करते हैं, कि सत्त्व और क्षेत्रज्ञ पुरुषका ऐक्य युक्तिसिद्ध नहीं हो सकता ॥ ९ ॥

पृथग्भूतस्ततो नित्यमित्येतदविचारितम् ।
पृथग्भावश्च विज्ञेयः सहजश्चापि तत्त्वतः ॥ १० ॥

पण्डित लोग कहते हैं कि क्षेत्रसे सत्त्व पृथक् है, कारण कि यह सत्त्व नित्य अविचारसिद्ध है। सत्त्व और क्षेत्रज्ञ एक ही होते हुए भी तत्त्वतः पृथक् ही हैं, ऐसा मानना चाहिये ॥ १० ॥

तथैवैकत्वनानात्वमिष्यते विदुषां नयः ।
मशकोदुम्बरे त्वैक्यं पृथक्त्वमपि दृश्यते ॥ ११ ॥

इस विषयमें दूसरे पण्डित लोग ऐसा मानते हैं, कि जैसे मशक और उदुम्बरका ऐक्य तथा पार्थक्य दीखता है, वैसे ही सत्व तथा पुरुषका एकत्व और अनेकत्व जानना चाहिये ॥ ११ ॥

मत्स्यो यथान्यः स्यादप्सु संप्रयोगस्तथानयोः ।
संबन्धस्तोयबिन्दूनां पर्णे कोकनदस्य च ॥ १२ ॥

और जिस प्रकार मछली तथा जल भिन्न है, तो भी मछली और जल इन दोनोंका ऐक्य दीखता है, तथा जैसे कमलका पत्ता और जलकी बूंदोंका सम्बन्ध है, सत्त्व और पुरुषका वैसा ही पार्थक्य तथा सम्बन्ध जानो ॥ १२ ॥

गुरुरुवाच—

इत्युक्तवन्तं ते विप्रास्तदा लोकपितामहम् ।
पुनः संशयमापन्नाः पप्रच्छुर्द्विजसत्तमाः ॥ १३ ॥

गुरु बोला– जब लोकपितामह ब्रह्माने उन मुनिसत्तम विप्रोंसे ऐसा कहा, तब वे लोग फिर संशययुक्त होकर उनसे पूछने लगे ॥ १३ ॥

ऋषय ऊचुः—

किंस्विदेवेह धर्माणामनुष्ठेयतमं स्मृतम् ।
व्याहतामिव पश्यामो धर्मस्य विविधां गतिम् ॥ १४ ॥

ऋषिगण बोले– हे ब्रह्मन् ! इस जगत्में सब धर्मोंके बीच कौनसा धर्म सर्वोत्तम एकान्त अनुष्ठेय माना गया है ? क्योंकि हम लोग धर्मकी विविधगतिको एक दूसरेसे आहत हुएसे देखते हैं ॥ १४ ॥

ऊर्ध्वं देहाद्वदन्त्येके नैतदस्तीति चापरे ।
केचित्संशयितं सर्वं निःसंशयमथापरे ॥ १५ ॥

कोई कोई कहते हैं, कि देहनाश होनेपर धर्मका फल मिलता है; दूसरे ऐसा कुछ नहीं है, ऐसे कहते हैं। कोई कोई सबको संशययुक्त और दूसरे संशयरहित कहते हैं ॥ १५ ॥

अनित्यं नित्यमित्येके नास्त्यस्तीत्यपि चापरे ।
एकरूपं द्विधेत्येके व्यामिश्रमिति चापरे ।
एकमेके पृथक्चान्ये बहुत्वमिति चापरे ॥ १६ ॥

कोई धर्मको अनित्य कहते हैं और कोई उसे नित्य मानते हैं। कोई धर्मका अस्तित्व मानते नहीं, तो कोई वह अशक्य है ऐसा कहते हैं । कोई एक ही धर्म दो प्रकारका है, कहते हैं और कोई वह मिश्रित है, ऐसा कहते हैं । दूसरे कहते हैं कि जीव और ईश्वर एकरूप और पृथक् हैं और अन्य लोग सब भिन्न और बहुत प्रकारके मानते हैं ॥ १६ ॥

मन्यन्ते ब्राह्मणा एवं प्राज्ञास्तत्त्वार्थदर्शिनः ।
जटाजिनधराश्चान्ये मुण्डाः केचिदसंवृताः ॥ १७ ॥

कितने ही लोग जटाजिनधारी होकर ब्रह्मकी उपासना करनेमें प्रवृत्त होते हैं, कोई कोई सिर मुण्डित करते हैं तथा कोई दिगम्बर होते हैं ॥ १७ ॥

अस्नानं केचिदिच्छन्ति स्नानमित्यपि चापरे।
आहारं केचिदिच्छन्ति केचिच्चानशने रताः ॥ १८ ॥

कोई स्नान करना नहीं चाहते और दूसरे कोई स्नान करके ही उपासनामें प्रवृत्त हुआ करते हैं। कोई कोई भोजन करनेमें प्रवृत्त होते और कोई कोई निराहारी रहनेमें ही आनन्द मानते हैं ॥ १८ ॥

कर्म केचित्प्रशंसन्ति प्रशान्तिमपि चापरे।
देशकालावुभौ केचिन्नैतदस्तीति चापरे।
केचिन्मोक्षं प्रशंसन्ति केचिद्भोगान्पृथग्विधान् ॥ १९ ॥

कोई कोई कर्म करनेकी प्रशंसा किया करते हैं, और दूसरे परमशान्तिकी प्रशंसा करते हैं। कोई देश तथा कालकी सत्ता मानते हैं; दूसरे कोई इनकी सत्ता नहीं है, ऐसा कहते हैं। कोई मोक्षकी, तो कोई पृथग्विध भोगोंकी प्रशंसा करते हैं ॥ १९ ॥

धनानि केचिदिच्छन्ति निर्धनत्वं तथापरे।
उपास्यसाधनं त्वेके नैतदस्तीति चापरे ॥ २० ॥

कोई बहुतसे धनकी इच्छा करते हैं और दूसरे लोग निर्धनत्वकी अभिलाषा करते हैं। कोई अपने उपास्य देवताकी प्राप्तिके लिये साधना करते हैं और दूसरे यह नहीं है, ऐसा कहते हैं ॥ २० ॥

अहिंसानिरताश्चान्ये केचिद्धिंसापरायणाः।
पुण्येन यशसेत्येके नैतदस्तीति चापरे ॥ २१ ॥

कोई कोई अहिंसामें रत, कोई हिंसापरायण होते हैं; दूसरे कोई पुण्य और यशसे युक्त हैं, तो अन्य कोई यह सब कुछ है, ऐसा कहते हैं ॥ २१ ॥

सद्भावनिरताश्चान्ये केचित्संशयिते स्थिताः।
दुःखादन्ये सुखादन्ये ध्यानमित्यपरे स्थिताः ॥ २२ ॥

कोई कोई सद्भावमें रत, कोई संशयमें स्थित होते हैं; कोई दुःख सहन करके और कोई सुख पूर्वक ध्यान किया करते हैं ॥ २२ ॥

यज्ञमित्यपरे धीराः प्रदानमिति चापरे।
सर्वमेके प्रशंसन्ति न सर्वमिति चापरे ॥ २३ ॥

कोई कोई धीर यज्ञकी और कोई दान की प्रशंसा करते हैं। कोई सबकी प्रशंसा करते हैं और कोई कोई सबकी प्रशंसा नहीं किया करते हैं ॥ २३ ॥

तपस्त्वन्ये प्रशंसन्ति स्वाध्यायमपरे जनाः ।
ज्ञानं संन्यासमित्येके स्वभावं भूतचिन्तकाः ॥ २४ ॥

कोई तपस्या और कोई स्वाध्यायकी प्रशंसा किया करते हैं; कोई ज्ञान, कोई संन्यास और वस्तु तत्त्व–विचारक कोई कोई पण्डित स्वभावकी प्रशंसा करते हैं ॥ २४ ॥

एवं व्युत्थापिते धर्मे बहुधा विप्रधावति ।
निश्चयं नाधिगच्छामः संमूढाः सुरसत्तम ॥ २५ ॥

हे सुरसत्तम ! इस ही प्रकार धर्मको अनेक प्रकारसे परस्पर विरुद्ध प्रबोधित होनेपर, हम लोग मोहित होकर उसका निश्चय नहीं कर सकते हैं ॥ २५ ॥

इदं श्रेय इदं श्रेय इत्येवं प्रस्थितो जनः ।
यो हि यस्मिन्रतो धर्मे स तं पूजयते सदा ॥ २६ ॥

यह कल्याणकारी है, यही श्रेयस् है, ऐसा ही बोध सुनकर लोग विचलित होते हैं; जिसकी जिस धर्ममें प्रवृत्ति होती है, वह सदा उसकी ही पूजा किया करता है ॥ २६ ॥

तत्र नो विहता प्रज्ञा मनश्च बहुलीकृतम् ।
एतदाख्यातुमिच्छामः श्रेयः किमिति सत्तम ॥ २७ ॥

इसहीसे हम लोगोंकी बुद्धि विचलित तथा मन अनेक विषयोंमें पडकर चंचल हुआ है । हे सत्तम ! इसलिये कल्याण क्या है ? उसे आप हम लोगोंसे कहिये, हम लोग सुननेकी इच्छा करते हैं ॥ २७ ॥

अतः परं च यद्गुह्यं तद्भवान्वक्तुमर्हति ।
सत्त्वक्षेत्रज्ञयोश्चैव संबन्धः केन हेतुना ॥ २८ ॥

इसके अनन्तर जो परमगुह्य है, उसे और सत्व तथा क्षेत्रज्ञका किस कारणसे सम्बन्ध होता है, वह आपको कहना होगा ॥ २८ ॥

एवमुक्तः स तैर्विप्रैर्भगवाँल्लोकभावनः ।
तेभ्यः शशंस धर्मात्मा याथातथ्येन बुद्धिमान् ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥ १२७८ ॥

धर्मात्मा बुद्धिमान् लोकभावन ब्रह्मा ब्राह्मणोंका ऐसा वचन सुनके उन लोगोंसे यथार्थ रीतिसे कहने लगे ॥ २९ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें अडतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४८ ॥ १२७८ ॥

: ४९ :

ब्रह्मोवाच—

हन्त वः संप्रवक्ष्यामि यन्मां पृच्छथ सत्तमाः ।
समस्तमिह तच्छ्रुत्वा सम्यगेवावधार्यताम्　　॥ १ ॥

ब्रह्मा बोले– हे श्रेष्ठ ऋषियो ! तुम लोगोंने मुझसे जो विषय पूछा है, वही विषय मैं तुम लोगोंसे कहता हूं, सावधान होके सुनो । तुम लोग मेरे समीप उन विषयोंको संपूर्णतया सुनकर पूरी रीतिसे धारण करो ॥ १ ॥

अहिंसा सर्वभूतानामेतत्कृत्यतमं मतम् ।
एतत्पदमनुद्विग्नं वरिष्ठं धर्मलक्षणम्　　॥ २ ॥

सब प्राणियोंकी अहिंसा ही श्रेष्ठतम कर्म है, यह उद्वेगरहित तथा धर्मका वरिष्ठ लक्षण है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ २ ॥

ज्ञानं निःश्रेय इत्याहुर्वृद्धा निश्चयदर्शिनः ।
तस्माज्ज्ञानेन शुद्धेन मुच्यते सर्वपातकैः　　॥ ३ ॥

निश्चयदर्शी वृद्धगण ज्ञानको परम कल्याणका साधन कहते हैं, इसही निमित्त मनुष्य केवल शुद्ध ज्ञानके द्वारा सब पापोंसे मुक्त हो सकता है ॥ ३ ॥

हिंसापराश्च ये लोके ये च नास्तिकवृत्तयः ।
लोभमोहसमायुक्तास्ते वै निरयगामिनः　　॥ ४ ॥

और इस लोकमें जो लोग हिंसापरायण, नास्तिक धर्मावलम्बी तथा लोभ और मोहके वशवर्त्ती हैं; वे नरकगामी हुआ करते हैं ॥ ४ ॥

आशीर्युक्तानि कर्माणि कुर्वते ये त्वतन्द्रिताः ।
तेऽस्मिँल्लोके प्रमोदन्ते जायमानाः पुनः पुनः　　॥ ५ ॥

परन्तु जो सब मनुष्य सावधान होकर आशीर्युक्त समस्त कर्म करते हैं; वे इस लोकमें वारम्वार जन्म ग्रहण करते हुए प्रमुदित हुआ करते हैं ॥ ५ ॥

कुर्वते ये तु कर्माणि श्रद्दधाना विपश्चितः ।
अनाशीर्योगसंयुक्तास्ते धीराः साधुदर्शिनः　　॥ ६ ॥

जो विद्वान् समत्वयोगमें स्थित हो श्रद्धापूर्वक धर्म कर्म करते हैं, और अनासक्त रहते हैं, वे धीर और उत्तम मार्गदर्शक होते हैं ॥ ६ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि सत्त्वक्षेत्रज्ञयोर्यथा।
संयोगो विप्रयोगश्च तन्निबोधत सत्तमाः ॥ ७ ॥

हे सत्तमगण ! सत्त्व और क्षेत्रज्ञका जिस प्रकार संयोग तथा वियोग होता है, इसके अनन्तर मैं तुम लोगोंसे वह विषय कहता हूं, तुम लोग सावधान होकर सुनो ॥ ७ ॥

विषयो विषयित्वं च संबान्धोऽयमिहोच्यते।
विषयी पुरुषो नित्यं सत्त्वं च विषयः स्मृतः ॥ ८ ॥

इस स्थलमें बिषय और विषयीभाव सम्बन्ध यहां कहा गया है; उनके बीच पुरुषको सदा विषयी और सत्वको विषय माना जाता है ॥ ८ ॥

व्याख्यातं पूर्वकल्पेन मशकोदुम्बरं यथा।
भुज्यमानं न जानीते नित्यं सत्त्वमचेतनम् ॥
यस्त्वेव तु विजानीते यो भुङ्क्ते यश्च भुज्यते ॥ ९ ॥

जैसे पहले मशक तथा उदुम्बरका भोज्य भोक्तृभाव सम्बन्ध कहा गया है, वैसे ही इस स्थलमें भी सत्व और पुरुषका भोग्यभोक्तृभाव सम्बन्ध वर्णित होता है। भुज्यमान अचेतन सत्त्व नित्यस्वरूप क्षेत्रज्ञको– भोक्ता पुरुषको नहीं जान सकता; परन्तु भोक्ता पुरुष– क्षेत्रज्ञ मशककी भांति भुज्यमान सत्त्व तथा अपनेको जान सकता है, कि भोक्ता आत्मा है और भुज्यमान सत्त्व है ॥ ९ ॥

अनित्यं द्वंद्वसंयुक्तं सत्त्वमाहुर्गुणात्मकम्।
निर्द्वंद्वो निष्कलो नित्यः क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः ॥ १० ॥

सत्त्वको सुख दुःखादि द्वन्द्व समायुक्त गुणात्मक अनित्य कहते हैं और क्षेत्रज्ञको निर्द्वन्द्व, निष्कल, नित्य और निर्गुणात्मक कहा करते हैं ॥ १० ॥

समः संज्ञागतस्त्वेवं यदा सर्वत्र दृश्यते।
उपभुङ्क्ते सदा सत्त्वमापः पुष्करपर्णवत् ॥ ११ ॥

सर्वत्र विद्यमान असङ्ग अधिष्ठानभूत वह परम पुरुष अध्यस्तभूत सत्वके समसंज्ञत्वको प्राप्त होकर, सलिल उपभोगी कमलके पत्रकी भांति निर्लिप्त वह सदा सत्त्वका उपभोग किया करता है ॥ ११ ॥

सर्वैरपि गुणैर्विद्वान्व्यतिषक्तो न लिप्यते।
जलबिन्दुर्यथा लोलः पद्मिनीपत्रसंस्थितः ॥
एवमेवाप्यसंसक्तः पुरुषः स्यान्न संशयः ॥ १२ ॥

विद्वान पुरुष सब भांतिसे सब गुणोंसे संबंध रखते हुए भी पद्मिनीपत्र संस्थित चञ्चल जलबिन्दुकी भांति उसमें लिप्त नहीं होते; इसलिये क्षेत्रज्ञ पुरुषके असङ्ग होनेमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १२ ॥

द्रव्यमात्रमभूत्सत्त्वं पुरुषस्येति निश्चयः

यथा द्रव्यं च कर्ता च संयोगोऽप्यनयोस्तथा ॥ १३ ॥

ऐसा निश्चय है, कि सत्त्व पुरुषका द्रव्यमात्र है। सत्त्व और पुरुष, दोनों मिलकर द्रव्यमात्र हुआ करते हैं; कर्त्ता और द्रव्यका जैसा संबंध है, सत्त्व तथा पुरुषका वैसाही संबंध जानो ॥ १३ ॥

यथा प्रदीपमादाय कश्चित्तमसि गच्छति ॥

तथा सत्त्वप्रदीपेन गच्छन्ति परमैषिणः ॥ १४ ॥

जैसे कोई मनुष्य दीपक लेकर अन्धकारमें गमन करता है, वैसेही परमपदके अभिलाषी मनुष्य सत्त्वरूपी प्रदीपके द्वारा प्रकाश करते हुए साधन मार्गपर गमन करते हैं ॥ १४ ॥

यावद्द्रव्यगुणस्तावत्प्रदीपः संप्रकाशते ।

क्षीणद्रव्यगुणं ज्योतिरन्तर्धानाय गच्छति ॥ १५ ॥

जबतक तेल और बत्ती विद्यमान रहती है तबतक दीपक प्रकाश फैलाता है, परन्तु तेल और बत्तीके क्षीण होनेपर ज्योति भी अदृश्य हो जाती है ॥ १५ ॥

व्यक्तः सत्वगुणस्त्वेवं पुरुषोऽव्यक्त इष्यते ।

एतद्विप्रा विजानीत हन्त भूयो ब्रवीमि वः ॥ १६ ॥

इस प्रकार सत्त्वगुण व्यक्त है परन्तु पुरुष अव्यक्त भावसे निवास करता है, ऐसा माना गया है, यह समझो। हे विप्रगण! यह विषय तुम लोगोंसे विशेष रीतिसे कहता हूं और भी तुम लोगोंसे अन्य प्रकार कहता हूं, सुनो ॥ १६ ॥

सहस्रेणापि दुर्मेधा न वृद्धिमधिगच्छति ।

चतुर्थेनाप्यथांशेन बुद्धिमान्सुखमेधते ॥ १७ ॥

जिसकी बुद्धि अच्छी नहीं ऐसा मनुष्य सहस्रवार उपदिष्ट होनेपर भी नहीं समझ सकता; परन्तु बुद्धिमान् मनुष्य चौथे अंशके उपदिष्ट होनेसे ही उस विषयको हृदयङ्गम करके सुख अनुभव किया करता है ॥ १७ ॥

एवं धर्मस्य विज्ञेयं संसाधनमुपायतः ।

उपायज्ञो हि मेधावी सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ १८ ॥

इसही प्रकार उपायके द्वारा धर्मके साधनका ज्ञान विशेष रीतिसे मालूम करे, क्योंकि उपायको जाननेवाला मेधावी मनुष्यही अत्यन्त सुखका भोग किया करता है ॥ १८ ॥

यथाध्वानमपाथेयः प्रपन्नो मानवः क्वचित् ।

क्लेशेन याति महता विनश्यत्यन्तरापि वा ॥ १९ ॥

जैसे कोई पाथेय विहीन मनुष्य यात्रा करनेके लिये चलता है, तो उसे मार्गमें महत्कष्ट उठाना पडता है, अथवा बीचमें विनिष्ट भी होता है ॥ १९ ॥

+

तथा कर्मसु विज्ञेयं फलं भवति वा न वा ।
पुरुषस्यात्मनिःश्रेयः शुभाशुभनिदर्शनम् ॥ २० ॥

उसही प्रकार जानना चाहिये, कि ज्ञानके साधनभूत कर्मसे फल उत्पन्न होते तथा विनष्ट होते हैं। परन्तु पुरुषका चित्त स्थिर कल्याण विषयमें शुभाशुभ दृष्टान्त है, अर्थात् पुरुषका बहुतसा पुण्य सञ्चय होनेपर सम्पूर्ण योग लाभ होता हैं और अल्प पुण्य सञ्चय होनेसे मृत्युलाभ हुआ करता है ॥ २० ॥

यथा च दीर्घमध्वानं पद्भ्यामेव प्रपद्यते ।
अदृष्टपूर्वं सहसा तत्त्वदर्शनवर्जितः ॥ २१ ॥

जैसे पहले न देखे हुए दूरके पथपर मनुष्य सहसा पैदल ही गमन करता है, वैसेही स्थिति तत्त्वदर्शन हीन अज्ञानी मनुष्यकी होती है ॥ २१ ॥

तमेव च यथाध्वानं रथेनेहाशुगामिना ।
यायाश्वप्रयुक्तेन तथा बुद्धिमतां गतिः ॥ २२ ॥

तत्वदर्शी पुरुष घोडे जुते हुए शीघ्रगामी रथके द्वारा उसी पथमें गमन करके अपने स्थानपर पहुंचता है, इसलिये बुद्धिमानोंकी ऐसीही गति जाननी चाहिये ॥ २२ ॥

उच्चं पर्वतमारुह्य नान्ववेक्षेत भूगतम् ।
रथेन रथिनं पश्येत्क्लिश्यमानमचेतनम् ॥ २३ ॥

मनुष्य ऊंचे पर्वतके ऊपर चढके भूतकालको—पृथ्वीकी ओर न देखे, क्यों कि रथसे जानेवाले अज्ञानी मनुष्यको कष्ट पाते हुए देखेगा ॥ २३ ॥

यावद्रथपथस्तावद्रथेन स तु गच्छति ।
क्षीणे रथपथे प्राज्ञो रथमुत्सृज्य गच्छति ॥ २४ ॥

प्राज्ञ मनुष्य जहांतक रथ जानेका मार्ग है वहांतक रथसे जाता है और रथका मार्ग समाप्त होनेपर उसे छोडकर पैदल जाता है ॥ २४ ॥

एवं गच्छति मेधावी तत्त्वयोगविधानवित् ।
समाज्ञाय महाबुद्धिरुत्तरादुत्तरोत्तरम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार तत्व और योग विधानज्ञ महाबुद्धिमान् मेधावी मनुष्य धीरे धीरे उत्तरोत्तर पूर्ण रीतिसे मालूम करके आगे गमन करता है ॥ २५ ॥

यथा महार्णवं घोरमप्लवः संप्रगाहते ।
बाहुभ्यामेव संमोहाद्वधं चर्च्छत्यसंशयम् ॥ २६ ॥

नौकारहित पुरुष मोहके वशमें होकर घोर महासमुद्र पार होनेके निमित्त दोनों बाहुओंसे तैरते हुए थककर निश्चय ही मृत्युकी इच्छा करता है; इसमें संशय नहीं है ॥ २६ ॥

नावा चापि यथा प्राज्ञो विभागज्ञस्तरित्रया ।
अक्लान्तः सलिलं गाहेत्क्षिप्रं संतरति ध्रुवम् ॥ २७ ॥

परन्तु जल विभागको जाननेवाला प्राज्ञ पुरुष डांडवाली नौकाके सहारे जलमें गमन करते हुए अश्रान्तभावसे शीघ्रही समुद्रको निश्चितरूपसे पार करता है ॥ २७ ॥

तीर्णो गच्छेत्परं पारं नावमुत्सृज्य निर्ममः ।
व्याख्यातं पूर्वकल्पेन यथा रथिपदातिनौ ॥ २८ ॥

वह समुद्रसे पार होकर नौकाकी ममता छोडकर उसको परित्यागके किनारे गमन करता है। यह बात पहले रथपर चलनेवाले और पदातिका दृष्टान्त देकर कही है ॥ २८ ॥

स्नेहात्संमोहमापन्नो नावि दाशो यथा तथा ।
ममत्वेनाभिभूतः स तत्रैव परिवर्तते ॥ २९ ॥

जैसे नाववाला कैवर्त्त स्नेहके वशमें मूढ होकर नौकामें ही परिभ्रमण करता है, वैसे ही स्नेहवश मोहको प्राप्त हुआ मनुष्य ममतासे मूढ होकर वहीं परिभ्रमण किया करता है ॥२९॥

नावं न शक्यमारुह्य स्थले विपरिवर्तितुम् ।
तथैव रथमारुह्य नाप्सु चर्या विधीयते ॥ ३० ॥

जैसे मनुष्य नौकामें चढके स्थलपर भ्रमण नहीं कर सकता; वैसे ही रथपर चढके जलमें विचरनेमें समर्थ नहीं होता ॥ ३० ॥

एवं कर्म कृतं चित्रं विषयस्थं पृथक्पृथक् ।
यथा कर्म कृतं लोके तथा तदुपपद्यते ॥ ३१ ॥

इसही प्रकार कर्मकृत फलको अनेक रूप तथा आश्रमस्थ फलको पृथक् पृथक् जानो; इस-लोकमें जिस प्रकार कर्म अनुष्ठित होता है, उस ही प्रकार फल प्राप्त हुआ करता है ॥३१॥

यन्नैव गन्धिनो रस्यं न रूपस्पर्शशब्दवत् ।
मन्यन्ते मुनयो बुद्ध्या तत्प्रधानं प्रचक्षते ॥ ३२ ॥

जो गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्दसे युक्त नहीं है, और मुनिगण बुद्धिसे जिसका मनन करते हैं, विद्वान् मुनिगण उसे प्रधान कहा करते हैं ॥ ३२ ॥

तत्र प्रधानमव्यक्तमव्यक्तस्य गुणो महान् ।
महतः प्रधानभूतस्य गुणोऽहंकार एव च ॥ ३३ ॥

वही प्रधान अव्यक्त है, उस अव्यक्त प्रधानका गुण महत्तत्व है; उस प्रकृतिसे निर्मित महत्तत्वका गुण अहंकार है ॥ ३३ ॥

अहंकारप्रधानस्य महाभूतकृतो गुणः ।
पृथक्त्वेन हि भूतानां विषया वै गुणाः स्मृताः ॥ ३४ ॥

अहङ्कार प्रधानके गुणसे आकाश आदि पञ्च महाभूत उत्पन्न हुए हैं; शब्दादि प्रत्येक विषय पञ्च महाभूतोंसे गुण कहके वर्णित हुए हैं ॥ ३४ ॥

बीजधर्मं यथाऽव्यक्तं तथैव प्रसवात्मकम् ।
बीजधर्मा महानात्मा प्रसवश्चेति नः श्रुतम् ॥ ३५ ॥

उस अव्यक्तको बीजधर्मा अर्थात् सृष्टिका कारण तथा प्रसवात्मक अर्थात् कार्यरूपी जानो । इसी प्रकार महत्तत्वके कारण और कार्य दोनों स्वरूप सुने हैं ॥ ३५ ॥

बीजधर्मा त्वहंकारः प्रसवश्च पुनः पुनः ।
बीजप्रसवधर्माणि महाभूतानि पञ्च वै ॥ ३६ ॥

अहङ्कार बीजधर्मा– कारण रूप तथा प्रसवधर्मा– कार्य रूपमें बार बार परिणत होता है । पञ्च महाभूत भी बीजधर्मा और प्रसवधर्मा हैं ॥ ३६ ॥

बीजधर्मिण इत्याहुः प्रसवं च न कुर्वते ।
विशेषाः पञ्चभूतानां तेषां वित्तं विशेषणम् ॥ ३७ ॥

पञ्चमहाभूत बीजधर्मा कहे गये हैं; वे प्रसवधर्मा नहीं हैं । उनके विशेष कार्य शब्दादि हैं; उन विषयोंका प्रवर्तक चित्त है ॥ ३७ ॥

तत्रैकगुणमाकाशं द्विगुणो वायुरुच्यते ।
त्रिगुणं ज्योतिरित्याहुरापश्चापि चतुर्गुणाः ॥ ३८ ॥

उन पंच महाभूतोंके बीच आकाशमें एक गुण, वायुमें दो गुण, ज्योतिमें तीन गुण, और जलमें चार गुण कहे गये हैं ॥ ३८ ॥

पृथ्वी पञ्चगुणा ज्ञेया त्रसस्थावरसंकुला ।
सर्वभूतकरी देवी शुभाशुभनिदर्शना ॥ ३९ ॥

और सर्वभूतकारी, शुभाशुभ निदर्शनी और चराचरोंसे परिपूरित पृथिवी पञ्चगुणयुक्त कहके वर्णित हुई है ॥ ३९ ॥

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
एते पञ्च गुणा भूमेर्विज्ञेया द्विजसत्तमाः ॥ ४० ॥

हे द्विजश्रेष्ठ! शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पांचवां गन्ध– इन पांचोंको पृथ्वीके गुण जानने चाहिये ॥ ४० ॥

पार्थिवश्च सदा गन्धो गन्धश्च बहुधा स्मृतः ।
तस्य गन्धस्य वक्ष्यामि विस्तरेण बहून्गुणान् ॥ ४१ ॥

गन्ध उसका वास– पार्थिव गुण है, वह गन्ध अनेक प्रकारसे वर्णित हुआ है; उस गन्धके सब गुणोंको विस्तारपूर्वक तुम लोगोंसे कहता हूं ॥ ४१ ॥

इष्टश्चानिष्टगन्धश्च मधुरोऽम्लः कटुस्तथा ।
निर्हारी संहतः स्निग्धो रूक्षो विशद एव च ।
एवं दशविधो ज्ञेयः पार्थिवो गन्ध इत्युत ॥ ४२ ॥

इष्ट, अनिष्ट, मधुर, अम्ल, कटु, निर्हारी, संहत, स्निग्ध, रूक्ष और विशद, ये दस प्रकार पार्थिव गन्धके जानो ॥ ४२ ॥

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसश्चापां गुणाः स्मृताः ।
रसज्ञानं तु वक्ष्यामि रसस्तु बहुधा स्मृतः ॥ ४३ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप और रस, ये सब जलके गुण कहे गये हैं; परन्तु रस अनेक प्रकारका कहा गया है; मैं रसज्ञान विस्तारपूर्वक कहता हूं ॥ ४३ ॥

मधुरोऽम्लः कटुस्तिक्तः कषायो लवणस्तथा ।
एवं षड्विधविस्तारो रसो वारिमयः स्मृतः ॥ ४४ ॥

मीठा, खट्टा, कडवा, तीखा, कसैला और खारा-ये छः प्रकार रसके विस्तार हैं, ये जलमय कहके वर्णित हुए हैं ॥ ४४ ॥

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं त्रिगुणं ज्योतिरुच्यते ।
ज्योतिषश्च गुणो रूपं रूपं च बहुधा स्मृतम् ॥ ४५ ॥

शब्द, स्पर्श और रूप, ये तीनों ज्योतिके गुण कहे गये हैं । तेजका मुख्य गुण रूप है; रूप अनेक प्रकारका है ॥ ४५ ॥

शुक्लं कृष्णं तथा रक्तं नीलं पीतारुणं तथा ।
ह्रस्वं दीर्घं तथा स्थूलं चतुरस्राणु वृत्तकम् ॥ ४६ ॥

शुक्ल, कृष्ण, लाल, नीला, पीला, अरुण, ह्रस्व, दीर्घ, कृश, स्थूल, चौकोना और गोलाकार ॥ ४६ ॥

एवं द्वादशविस्तारं तेजसो रूपमुच्यते ।
विज्ञेयं ब्राह्मणैर्नित्यं धर्मज्ञैः सत्यवादिभिः ॥ ४७ ॥

–ये बारह प्रकारके तेजके रूप वर्णित हुए हैं; और ये सत्यवादी धर्मज्ञ ब्राह्मणोंके सदा जानने योग्य हैं ॥ ४७ ॥

शब्दस्पर्शौ च विज्ञेयौ द्विगुणो वायुरुच्यते ।
वायोश्चापि गुणः स्पर्शः स्पर्शश्च बहुधा स्मृतः ॥ ४८ ॥

इसही प्रकार शब्द और स्पर्श ये वायुमें दो गुण कहे गये हैं। इसमें स्पर्श वायुका प्रमुख गुण है। स्पर्शके कई भेद वर्णित हुए हैं ॥ ४८ ॥

उष्णः शीतः सुखो दुःखः स्निग्धो विशद एव च ।
कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णः पिच्छिलो दारुणो मृदुः ॥ ४९ ॥

उष्ण, शीतल, सुखद, दुःखद, स्निग्ध, विशद, कठिन, चिकना, श्लक्ष्ण, पिच्छल, दारुण, और मृदु ॥ ४९ ॥

एवं द्वादशविस्तारो वायव्यो गुण उच्यते ।
विधिवद्ब्राह्मणैः सिद्धैर्धर्मज्ञैस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ ५० ॥

इन बारह प्रकारोंसे वायुके गुण स्पर्शका विस्तार कहा है। इन्हें तत्त्वदर्शी धर्मज्ञ सिद्ध ब्राह्मणोंके द्वारा विधिपूर्वक बतलाया गया है ॥ ५० ॥

तत्रैकगुणमाकाशं शब्द इत्येव च स्मृतः ।
तस्य शब्दस्य वक्ष्यामि विस्तरेण बहून्गुणान् ॥ ५१ ॥

उन भूतोंके बीच आकाशका भी एक ही गुण शब्द वर्णित हुआ है; उस शब्दके अनेक गुण हैं, उनका विस्तारपूर्वक बर्णन करता हूं ॥ ५१ ॥

षड्जर्षभौ च गान्धारो मध्यमः पञ्चमस्तथा ।
अतःपरं तु विज्ञेयो निषादो धैवतस्तथा ॥ ५२ ॥

षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, निषाद, धैवत ॥ ५२ ॥

इष्टोऽनिष्टश्च शब्दस्तु संहतः प्रविभागवान् ।
एवं बहुविधो ज्ञेयः शब्द आकाशसंभवः ॥ ५३ ॥

इष्ट, अनिष्ट, और संहत– इस प्रकार विभागवाले अनेक प्रकारके शब्द आकाशसे उत्पन्न हुए हैं ॥ ५३ ॥

आकाशमुत्तमं भूतमहंकारस्ततः परम् ।
अहंकारात्परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा ततः परः ॥ ५४ ॥

सब भूतोंके बीच आकाश उत्तम है; आकाशसे उत्तम अहङ्कार; अहङ्कारसे श्रेष्ठ बुद्धि; उस बुद्धिसे श्रेष्ठ आत्मा ॥ ५४ ॥

तस्मात्तु परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
परावरज्ञो भूतानां यं प्राप्यानन्त्यमश्नुते ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि एकोनपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ४९ ॥ १३३३ ॥

आत्मासे श्रेष्ठ अव्यक्त प्रकृति और प्रकृतिसे श्रेष्ठ पुरुष है, जो मनुष्य सब भूतोंकी श्रेष्ठता और न्यूनताका ज्ञाता है, वह अविनाशी परमात्माको प्राप्त करता है ॥ ५५ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें उनचासवां अध्याय समाप्त ॥ ४९ ॥ ॥ १३३३ ॥

: ५० :

ब्रह्मोवाच—

भूतानामथ पञ्चानां यथैषामीश्वरं मनः ।
नियमे च विसर्गे च भूतात्मा मन एव च ॥ १ ॥

ब्रह्मा बोले– जिस प्रकार पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति, स्थिति और नियमन के विषयमें प्रश्न होता है; उसी प्रकार स्थिति और विनाशमें मन भूतोंका आत्मा है ॥ १ ॥

अधिष्ठाता मनो नित्यं भूतानां महतां तथा ।
बुद्धिरैश्वर्यमाचष्टे क्षेत्रज्ञः सर्व उच्यते ॥ २ ॥

मन पञ्चमहाभूत तथा महत्का नित्य अधिष्ठाता है; बुद्धि जिसके ऐश्वर्यको करती है उसको सब क्षेत्रज्ञ कहते हैं ॥ २ ॥

इन्द्रियाणि मनो युङ्क्ते सदश्वानिव सारथिः ।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिं क्षेत्रज्ञो युञ्जते सदा ॥ ३ ॥

जैसे सारथि उत्तम घोडोंको नियुक्त करता है, वैसे ही मन इन्द्रियोंको नियुक्त किया करता है । इन्द्रिय, मन और बुद्धिको सर्वदा क्षेत्रज्ञ संयुक्त करता है ॥ ३ ॥

महाभूतसमायुक्तं बुद्धिसंयमनं रथम् ।
तमारुह्य स भूतात्मा समन्तात्परिधावति ॥ ४ ॥

वह भूतात्मा महाभूत रूपी घोडे तथा बुद्धिरूपी सारथिसे नियंत्रित देहरूपी रथमें चढके सर्वत्र भ्रमण करता है ॥ ४ ॥

इन्द्रियग्रामसंयुक्तो मनःसारथिरेव च ।
बुद्धिसंयमनो नित्यं महान्ब्रह्ममयो रथः ॥ ५ ॥

जिसमें वशीभूत इन्द्रियग्राम अश्वरूपसे नियुक्त, मन सारथि और बुद्धि प्रतोदस्वरूप हैं, वह ब्रह्ममय रथ सदा रहनेवाला और महान् है ॥ ५ ॥

एवं यो वेत्ति विद्वान्वै सदा ब्रह्ममयं रथम्।
स धीरः सर्वलोकेषु न मोहमधिगच्छति ॥ ६ ॥

जो ध्यानशील विद्वान् मनुष्य इस ब्रह्ममय रथको सदा विशेष रीतिसे जानता है, वह सब लोकोंके बीच धीर है और कदापि मोहित नहीं होता ॥ ६ ॥

अव्यक्तादि विशेषान्तं त्रसस्थावरसंकुलम्।
चन्द्रसूर्यप्रभालोकं ग्रहनक्षत्रमण्डितम् ॥ ७ ॥

आदिभूत अव्यक्त और शेषस्वरूप विशेषयुक्त स्थावर तथा जङ्गममय, चन्द्रमा और सूर्यकी प्रभासे प्रकाशित, ग्रह तथा नक्षत्रमण्डलसे सुशोभित ॥ ७ ॥

नदीपर्वतजालैश्च सर्वतः परिभूषितम्।
विविधाभिस्तथाद्भिश्च सततं समलंकृतम् ॥ ८ ॥

नदी और पर्वतोंके समूहसे सब ओरसे परिभूषित, विविध रूपके जलके द्वारा सदा समलंकृत ॥ ८ ॥

आजीवः सर्वभूतानां सर्वप्राणभृतां गतिः।
एतद्ब्रह्मवनं नित्यं यस्मिंश्चरति क्षेत्रवित् ॥ ९ ॥

सर्वभूतोंके आजीवभूत तथा सब प्राणियोंकी गतिस्वरूप परब्रह्म इस जगत्‌रूपी ब्रह्मवनमें सदा विराजित है; उसमें ही क्षेत्रज्ञ विचरण किया करता है ॥ ९ ॥

लोकेऽस्मिन्यानि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
तान्येवाग्रे प्रलीयन्ते पश्चाद्‌भूतकृता गुणाः।
गुणेभ्यः पञ्चभूतानि एष भूतसमुच्छ्रयः ॥ १० ॥

इस लोकमें जो सब स्थावर और जङ्गम प्रभृति भूत हैं, पहले वेही सब प्रकृतिमें लीन होते हैं, फिर पञ्चमहाभूतोंके कार्य विलीन होते हैं; तिसके अनन्तर कार्यरूप गुणोंके बाद पांच भूत लीन हुआ करते हैं; इस प्रकार यह भूतसमुदाय प्रकृतिमें लीन होता है ॥ १० ॥

देवा मनुष्या गन्धर्वाः पिशाचासुरराक्षसाः।
सर्वे स्वभावतः सृष्टा न क्रियाभ्यो न कारणात् ॥ ११ ॥

देवता, मनुष्य, गन्धर्व, पिशाच, असुर और राक्षस, ये सब स्वभावसे उत्पन्न होते हैं; किसी क्रिया वा कारणसे उत्पन्न नहीं होते ॥ ११ ॥

एते विश्वकृतो विप्रा जायन्ते ह पुनः पुनः।
तेभ्यः प्रसूतास्तेष्वेव महाभूतेषु पञ्चसु।
प्रलीयन्ते यथाकालमूर्मयः सागरे यथा ॥ १२ ॥

जैसे समुद्रमें तरङ्ग उठके यथा समयमें उसहीमें लीन होती है, वैसे ही ये विश्वकृत मरीच्यादि प्रजापतिगण बारंबार पञ्च महाभूतोंसे उत्पन्न होकर, फिर समयानुसार उन्हींमें लीन हुआ करते हैं ॥ १२ ॥

विश्वसृग्भ्यस्तु भूतेभ्यो महाभूतानि गच्छति ।
भूतेभ्यश्चापि पञ्चभ्यो मुक्तो गच्छेत्प्रजापतिम् ॥ १३ ॥

परन्तु विश्व स्रष्टा भूतोंके लय होनेपर पञ्च महाभूत विद्यमान रहते हैं, जो इन पञ्चमहाभूतोंसे मुक्त होता है, वह प्रजापतिको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है ॥ १३ ॥

प्रजापतिरिदं सर्वं मनसैवासृजत्प्रभुः ।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ १४ ॥

प्रभु प्रजापतिने अपने मनकी इच्छा मात्रसे ही इस समस्त जगत्‌की सृष्टि की है, तथा ऋषियोंने तपस्याके द्वारा वेदोंका लाभ किया है ॥ १४ ॥

तपसश्चानुपूर्व्येण फलमूलाशिनस्तथा ।
त्रैलोक्यं तपसा सिद्धाः पश्यन्तीह समाहिताः ॥ १५ ॥

फल–मूलका भोजन करनेवाले सिद्ध मुनिगण यहां साधनके अनुसार तपस्यासे चित्त एकाग्र करके तीनों लोकोंका क्रमशः दर्शन करते हैं ॥ १५ ॥

औषधान्यगदादीनि नानाविद्याश्च सर्वशः ।
तपसैव प्रसिध्यन्ति तपोमूलं हि साधनम् ॥ १६ ॥

आरोग्यक औषधियां तथा अनेक विद्याएं तपस्याके ही द्वारा सिद्ध होती हैं, क्योंकि तपस्या ही सब साधनोंका मूल है ॥ १६ ॥

यद्दुरापं दुराम्नायं दुराधर्षं दुरन्वयम् ।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ १७ ॥

जो दुष्प्राप्य इन्द्रपदादि, दुराम्नाय वेदादि, दुराधर्ष व्याघ्र आदि और प्रलयादि दुरन्वय हैं, वे सब तपस्यासे सिद्ध हुआ करते हैं; इसलिये तपस्या दुरतिक्रमणीय है ॥ १७ ॥

सुरापो ब्रह्महा स्तेयी भ्रूणहा गुरुतल्पगः ।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्बिषात्ततः ॥ १८ ॥

सुरा पीनेवाला, ब्रह्महत्यारा, चोर, भ्रूणहत्यारा तथा गुरु पत्नीकी शय्यापर सोनेवाला है, वो भी अत्यन्त कठीन तपस्याके द्वारा उन सब पापोंसे मुक्त हुआ करता है ॥ १८ ॥

मनुष्याः पितरो देवाः पशवो मृगपक्षिणः ।
यानि चान्यानि भूतानि त्रसानि स्थावराणि च ॥ १९ ॥

मनुष्य, पितर, देवता, पशु, मृग–पक्षी और अन्य स्थावर–जंङ्गम सब भूत ॥ १९ ॥

तपःपरायणा नित्यं सिध्यन्ते तपसा सदा ।
तथैव तपसा देवा महाभागा दिवं गताः ॥ २० ॥

नित्य तपस्यापरायण होनेसे उस तपोबलसे ही सदा सिद्ध होते हैं । महामायाविशिष्ट देवताओंने उस तपोबलसे ही स्वर्गमें गमन किया है ॥ २० ॥

×

आशीर्युक्तानि कर्माणि कुर्वते ये त्वतन्द्रिताः ।
अहंकारसमायुक्तास्ते सकाशे प्रजापतेः ॥ २१ ॥

जो लोग अतन्द्रित होकर आशीर्युक्त कर्म करते हैं, वे अहङ्कार समायुक्त होकर प्रजापतिके निकट निवास करते हैं ॥ २१ ॥

ध्यानयोगेन शुद्धेन निर्ममा निरहंकृताः ।
प्राप्नुवन्ति महात्मानो महान्तं लोकमुत्तमम् ॥ २२ ॥

जो सब महात्मा केवल विशुद्ध ध्यानयोग करते हैं, वे ममतारहित तथा निरहङ्कारी होकर महान् उत्तम लोकको पाते हैं ॥ २२ ॥

ध्यानयोगदुपागम्य प्रसन्नमतयः सदा ।
सुखोपचयमव्यक्तं प्रविशन्त्यात्मवत्तया ॥ २३ ॥

सदा प्रसन्नचित्त उत्तम आत्मवित् पुरुष ध्यानयोगका आश्रय लेकर, सुखकी राशिभूत अव्यक्त परमात्मामें प्रविष्ट हुआ करते हैं ॥ २३ ॥

ध्यानयोगादुपागम्य निर्ममा निरहंकृताः ।
अव्यक्तं प्रविशन्तीह महान्तं लोकमुत्तमम् ॥ २४ ॥

ध्यानयोगमें असफल होनेपर इस लोकमें जो मनुष्य ममतारहित और निरहङ्कारी रहते हैं, वे भी अव्यक्त उत्तम महत् लोकमें प्रवेश करते हैं ॥ २४ ॥

अव्यक्तादेव संभूतः समयज्ञो गतः पुनः ।
तमोरजोभ्यां निर्मुक्तः सत्त्वमास्थाय केवलम् ॥ २५ ॥

प्राणि अव्यक्त प्रकृतिसे उत्पन्न होके फिर प्रकृति संज्ञा लाभ करता है । वह केवल सतोगुणका अवलम्बन करते हुए रज और तमोगुणसे निर्मुक्त होता है ॥ २५ ॥

विमुक्तः सर्वपापेभ्यः सर्वं त्यजाति निष्कलः ।
क्षेत्रज्ञ इति तं विद्याद्यस्तं वेद स वेदवित् ॥ २६ ॥

सब पापोंसे रहित होकर जो समस्त जगत्को उत्पन्न करता है, उसे ही निष्कल क्षेत्रज्ञ ईश्वर जानो । उसे जो मनुष्य जानता है, वही वेद जाननेमें समर्थ होता है ॥ २६ ॥

चित्तं चित्तादुपागम्य मुनिरासीत संयतः ।
यच्चित्तस्तन्मना भूत्वा गुह्यमेतत्सनातनम् ॥ २७ ॥

चिन्तनशील मनसे संपूर्ण ज्ञानको लाभ करते हुए सदा मन और इन्द्रियोंको वशीभूत करते रहें, और जो जिसमें एक चित्त होता है, वह उसही स्वरूपका हो जाता है, यह सनातन गुह्य है ॥ २७ ॥

अव्यक्तादि विशेषान्तमविद्यालक्षणं स्मृतम् ।
निबोधत यथा हीदं गुणैर्लक्षणमित्युत ॥ २८ ॥

अव्यक्तादिसे लेकर विशेषान्त अविद्याके लक्षण कहके वर्णित हुए हैं; तुम लोग गुणोंके द्वारा इन लक्षणोंको विशेष रीतिसे मालूम करो ॥ २८ ॥

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥ २९ ॥

"मम" ये दो अक्षरोंका पद मृत्यु और "न मम" इन तीन अक्षरोंका पद शाश्वत ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाला है ॥ २९ ॥

कर्म केचित्प्रशंसन्ति मन्दबुद्धितरा नराः ।
ये तु बुद्धा महात्मानो न प्रशंसन्ति कर्म ते ॥ ३० ॥

अत्यंत मन्दबुद्धिवाले कोई कोई मनुष्य काम्य कर्मकी प्रशंसा करते हैं, जो महात्मा ज्ञानवृद्ध हैं, वे उस कर्मकी प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ ३० ॥

कर्मणा जायते जन्तुर्मूर्तिमान्षोडशात्मकः ।
पुरुषं सृजतेऽविद्या अग्राह्यममृताशिनम् ॥ ३१ ॥

पञ्चमहाभूत और एकादश विकार, यह षोडशात्मक विकारोंसे निर्मित जीव कर्मके द्वारा मूर्तिमान् होकर जन्म ग्रहण किया करता है । अविद्या उसे ग्रास करती है, उसे देवता भी अग्राह्य मानती हैं ॥ ३१ ॥

तस्मात्कर्मसु निःस्नेहा ये केचित्पारदर्शिनः ।
विद्यामयोऽयं पुरुषो न तु कर्ममयः स्मृतः ॥ ३२ ॥

इस ही निमित्त जो कोई पारदर्शी पुरुष होते हैं वे कर्मोंमें प्रीति नहीं रखते; यह पुरुष विद्यामय है, कर्ममय नहीं है ॥ ३२ ॥

अपूर्वममृतं नित्यं य एनमविचारिणम् ।
य एनं विन्दतेऽऽत्मानमग्राह्यममृताशिनम् ।
अग्राह्योऽमृतो भवति य एभिः कारणैर्ध्रुवः ॥ ३३ ॥

जो मनुष्य आत्माको अपूर्व, अमर, नित्य, अचल, अग्राह्य और अमृताशी मानता है, वह इन गुणोंका चिन्तन करनेसे स्वयं भी अग्राह्य और अमृत हो जाता है ॥ ३३ ॥

अपोह्य सर्वसंकल्पान्संयम्यात्मानमात्मनि ।
स तद्ब्रह्म शुभं वेत्ति यस्माद्भूयो न विद्यते ॥ ३४ ॥

जो पुरुष चित्तके मैत्रादि सब संकल्पोंको दृढ करते हुए, हृदयपुण्डरीकमें चित्तको निरोध कर देता है, वही उस सर्वाधिक शुभङ्कर ब्रह्मको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है; इससे बडा कोई नहीं है ॥ ३४ ॥

प्रसादेनैव सत्त्वस्य प्रसादं समवाप्नुयात् ।
लक्षणं हि प्रसादस्य यथा स्यात्स्वप्नदर्शनम् ॥ ३५ ॥

चित्त प्रसन्न रहनेसे मनुष्य शान्तिका लाभ कर सकता है; जिस प्रकार स्वप्नसे जगे हुए मनुष्यका स्वप्न समाप्त होता है, उसी प्रकार चित्तप्रसादका लक्षण जानो ॥ ३५ ॥

गतिरेषा तु मुक्तानां ये ज्ञानपरिनिष्ठिताः ।
प्रवृत्तयश्च याः सर्वाः पश्यन्ति परिणामजाः ॥ ३६ ॥

ज्ञानसिद्ध मुक्त पुरुषोंकी इस ही प्रकार श्रेष्ठ गति जाननी चाहिये; योगिगण सब प्रवृत्तियों-का दर्शन परिणामजरूपमें किया करते हैं ॥ ३६ ॥

एषा गतिरसक्तानामेष धर्मः सनातनः ।
एषा ज्ञानवतां प्राप्तिरेतद्वृत्तमनिन्दितम् ॥ ३७ ॥

संसारसे विरत प्राणियोंकी यही गति है और यही सनातन धर्म है; यही ज्ञानवान् पुरुषोंकी प्राप्ति तथा यही अनिन्दित वृत्ति--सदाचार है ॥ ३७ ॥

समेन सर्वभूतेषु निस्पृहेण निराशिषा ।
शक्या गतिरियं गन्तुं सर्वत्र समदर्शिना ॥ ३८ ॥

सर्वभूतोंमें सम, निस्पृह, निराशिष और सर्वत्र समदर्शी ज्ञानी मनुष्य निज शक्तिके अनुसार इस गतिको प्राप्त कर सकता है ॥ ३८ ॥

एतद्वः सर्वमाख्यातं मया विप्रर्षिसत्तमाः ।
एवमाचरत क्षिप्रं ततः सिद्धिमवाप्स्यथ ॥ ३९ ॥

ब्रह्मर्षियो ! मैंने यह सब विषय विस्तारपूर्वक तुम लोगोंको कहा है । इसी प्रकार योग्य आचरण करो, इस कारण शीघ्रही तुमको परम सिद्धि मिलेगी ॥ ३९ ॥

गुरुरुवाच—

इत्युक्तास्ते तु मुनयो ब्रह्मणा गुरुणा तथा ।
कृतवन्तो महात्मानस्ततो लोकानवाप्नुवन् ॥ ४० ॥

गुरु बोला— उन महात्मा मुनियोंने गुरु ब्रह्माका ऐसा वचन सुनके इस ही प्रकार आचरण करके उत्तम लोकोंको पाया था ॥ ४० ॥

त्वमप्येतन्महाभाग यथोक्तं ब्रह्मणो वचः ।
सम्यगाचर शुद्धात्मंस्ततः सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ ४१ ॥

हे महाभाग ! इसलिये तुम भी ब्रह्माजीके कहे हुए उपदेश वचनका यथार्थ रीतिसे पालन करो । हे शुद्धात्मन् ! तुमभी इसका पूरी रीतिसे आचरण करनेसे सिद्धिलाभ कर सकोगे ॥ ४१ ॥

वासुदेव उवाच—

इत्युक्तः स तदा शिष्यो गुरुणा धर्ममुत्तमम् ।
चकार सर्वं कौन्तेय ततो मोक्षमवाप्तवान् ॥ ४२ ॥

श्रीकृष्ण बोले– हे कुन्तीनन्दन ! उस समय जब गुरुने शिष्यसे उस ही प्रकार उत्तम धर्म कहा, तब शिष्यने उन सब उत्तम धर्मोंका पूरी रीतिसे आचरण करके संसारके बंधनसे मुक्ति लाभ किया ॥ ४२ ॥

कृतकृत्यश्च स तदा शिष्यः कुरुकुलोद्वह ।
तत्पदं समनुप्राप्तो यत्र गत्वा न शोचति ॥ ४३ ॥

हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! जिस स्थानमें जानेसे मनुष्य शोक नहीं करता, शिष्य अनन्तर उसही पदको पाकर कृतकृत्य हुआ ॥ ४३ ॥

अर्जुन उवाच—

को न्वसौ ब्राह्मणः कृष्ण कश्च शिष्यो जनार्दन ।
श्रोतव्यं चेन्मयैतद्वै तत्त्वमाचक्ष्व मे विभो ॥ ४४ ॥

अर्जुन बोले– हे श्रीकृष्ण ! जनार्दन ! आपने जिस ब्राह्मण और शिष्यकी कथा कही है, वह ब्राह्मण तथा शिष्य कौन है ? हे विभु ! यदि यह विषय मेरे सुनने योग्य हो, तो आप कृपा करके इसे मेरे समीप विस्तारपूर्वक कहिये ॥ ४४ ॥

वासुदेव उवाच—

अहं गुरुर्महाबाहो मनः शिष्यं च विद्धि मे ।
त्वत्प्रीत्या गुह्यमेतच्च कथितं ते धनंजय ॥ ४५ ॥

श्रीकृष्ण बोले– हे महाबाहो ! मुझे ही गुरु और मेरे मनको शिष्य जानो; हे धनञ्जय ! तुम्हारे ऊपर मेरी प्रीति रहनेसे मैंने तुमसे यह गुप्त विषय कहा है ॥ ४५ ॥

मयि चेदस्ति ते प्रीतिर्नित्यं कुरुकुलोद्वह ।
अध्यात्ममेतच्छ्रुत्वा त्वं सम्यगाचर सुव्रत ॥ ४६ ॥

हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! सुव्रत ! यदि मुझपर तुम्हारी प्रीति हो, तो तुम इस अध्यात्म–विषयको मेरे समीप सुनके इसका पूरी रीतिसे नित्य आचरण करो ॥ ४६ ॥

ततस्त्वं सम्यगाचीर्णे धर्मेऽस्मिन्कुरुनन्दन ।
सर्वपापविशुद्धात्मा मोक्षं प्राप्स्यसि केवलम् ॥ ४७ ॥

हे कुरुनन्दन ! तुम इस धर्मका पूरी रीतिसे आचरण करनेपर सब पापोंसे मुक्त, शुद्धात्मा होकर कैवल्यमोक्षका लाभ करोगे ॥ ४७ ॥

पूर्वमप्येतदेवोक्तं युद्धकाल उपस्थिते ।
मया तव महाबाहो तस्मादत्र मनः कुरु ॥ ४८ ॥

हे महाबाहो ! पहले भी युद्धका समय उपस्थित होने पर इस ही विषयको मैंने तुमसे कहा था, इस निमित्त इस विषयमें तुम मनका संयोग करो ॥ ४८ ॥

मया तु भरतश्रेष्ठ चिरदृष्टः पिता विभो ।
तमहं द्रष्टुमिच्छामि संमते तव फल्गुन ॥ ४९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मैंने बहुत समयसे पिताका दर्शन नहीं किया, अब उन्हें देखनेकी अभिलाषा होती है । हे अर्जुन ! इसलिये तुम्हें इस विषयमें सम्मति देनी योग्य है ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्तवचनं कृष्णं प्रत्युवाच धनंजयः ।
गच्छावो नगरं कृष्ण गजसाह्वयमद्य वै ॥ ५० ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– जब श्रीकृष्णने अर्जुनसे इतनी कथा कही, तब धनञ्जयने कहा, हे श्रीकृष्ण ! आओ, हम लोग अब इस नगरसे हस्तिनापुरको चलें ॥ ५० ॥

समेत्य तत्र राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
समनुज्ञाप्य दुर्धर्ष स्वां पुरीं यातुमर्हसि ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि पञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५० ॥ १३८४ ॥

फिर आप वहां धर्मात्मा दुर्धर्ष राजा युधिष्ठिरसे मिलकर उनकी आज्ञा लेकर आप निज पुरीमें गमन करियेगा ॥ ५१ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें पचासवां अध्याय समाप्त ॥ ५० ॥ १३८४ ॥

॥ गुरुशिष्यसंवादः समाप्तः ॥

: ५१ :

वैशम्पायन उवाच—

ततोऽभ्यचोदयत्कृष्णो युज्यतामिति दारुकम् ।
मुहूर्तादिव चाचष्ट युक्तमित्येव दारुकः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– राजन् ! तिसके अनन्तर श्रीकृष्णने दारुकको रथमें अश्व जोतकर रथ तैयार करनेकी आज्ञा दी; दारुक मुहूर्तभरके बीच रथमें घोडोंको जोतकर श्रीकृष्णसे बोला ' रथ तैयार है ' ॥ १ ॥

तथैव चानुयात्राणि चोदयामास पाण्डवः ।
सज्जयध्वं प्रयास्यामो नगरं गजसाह्वयम् ॥ २ ॥

इधर पाण्डुपुत्र अर्जुन अनुगामी सैनिक पुरुषोंसे बोले, हम लोग हस्तिनापुरमें जायंगे, तुम सब लोग समुज्जित होके रहो ॥ २ ॥

इत्युक्ताः सैनिकास्ते तु सज्जीभूता विशां पते ।
आचख्युः सज्जमित्येव पार्थायामिततेजसे ॥ ३ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! सैनिक पुरुष आज्ञानुसार सुसज्जित होकर अमित तेजस्वी पृथापुत्र अर्जुनसे बोले, कि हम लोग सज्जित हुए हैं ॥ ३ ॥

ततस्तौ रथमास्थाय प्रयातौ कृष्णपाण्डवौ ।
विकुर्वाणौ कथाश्चित्राः प्रीयमाणौ विशां पते ॥ ४ ॥

हे पृथ्वीपति ! तिसके अनन्तर श्रीकृष्ण और अर्जुन प्रसन्नचित्तसे रथपर चढके आपसमें अनेक प्रकारकी वार्ता करते हुए नगरकी ओर चले ॥ ४ ॥

रथस्थं तु महातेजा वासुदेवं धनंजयः ।
पुनरेवाब्रवीद्वाक्यमिदं भरतसत्तम ॥ ५ ॥

हे भरतसत्तम ! महातेजस्वी धनञ्जय उस रथमें स्थित वसुदेवपुत्र श्रीकृष्णसे फिर इस प्रकार कहने लगे ॥ ५ ॥

त्वत्प्रसादाज्जयः प्राप्तो राज्ञा वृष्णिकुलोद्वह ।
निहताः शत्रवश्चापि प्राप्तं राज्यमकण्टकम् ॥ ६ ॥

हे वृष्णिकुल श्रेष्ठ ! आपकी कृपासे राजा युधिष्ठिरको विजय प्राप्त हुई; उनके सब शत्रु मारे गये और अकण्टक राज्यका लाभ हुआ ॥ ६ ॥

नाथवन्तश्च भवता पाण्डवा मधुसूदन ।
भवन्तं प्लवमासाद्य तीर्णाः स्म कुरुसागरम् ॥ ७ ॥

हे मधुसूदन ! आप पाण्डवोंके नाथ हैं, पाण्डव लोग नौका स्वरूप आपको पाके कुरुसेनारूपी सागरसे पार हुए हैं ॥ ७ ॥

विश्वकर्मन्नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन्विश्वसंभव ।
यथाहं त्वा विजानामि यथा चाहं भवन्मनाः ॥ ८ ॥

हे विश्वकर्मन् ! हे विश्वात्मन् ! हे विश्वसम्भव ! आपको नमस्कार है; मैं आपको उस प्रकार जानता हूं, जिस तरह आप मुझे मानते हैं ॥ ८ ॥

त्वत्तेजःसंभवो नित्यं हुताशो मधुसूदन ।
रतिः क्रीडामयी तुभ्यं माया ते रोदसी विभो ॥ ९ ॥

हे मधुसूदन ! अग्नि नित्य आपके तेजसे उत्पन्न होती है। हे विभु ! रति आपकी क्रीडामयी लीला है और द्युलोक तथा भूलोक आपकी माया है ॥ ९ ॥

त्वयि सर्वमिदं विश्वं यदिदं स्थाणुजङ्गमम् ।
त्वं हि सर्वं विकुरुषे भूतग्रामं सनातनम् ॥ १० ॥

स्थावरजङ्गमके सहित यह समस्त जगत् आपमें ही प्रतिष्ठित है, आप ही सब सनातन भूतोंकी सृष्टि करते हैं ॥ १० ॥

पृथिवीं चान्तरिक्षं च तथा स्थावरजङ्गमम् ।
हसितं तेऽमला ज्योत्स्ना ऋतवश्चेन्द्रियान्वयाः ॥ ११ ॥

हे मधुसूदन ! पृथ्वी, आकाश और स्थावरजंगमकी सृष्टि आपने की है; निर्मल ज्योत्स्ना आपका हास्य और ऋतु इन्द्रियां हैं ॥ ११ ॥

प्राणो वायुः सततगः क्रोधो मृत्युः सनातनः ।
प्रसादे चापि पद्मा श्रीर्नित्यं त्वयि महामते ॥ १२ ॥

हे मतिमन् ! सदा गमनशील वायु आपका प्राण है, क्रोध सनातन मृत्यु है, लक्ष्मी आपके प्रसादमें हैं, आपके हृदयमें श्री नित्य विद्यमान रहती है ॥ १२ ॥

रतिस्तुष्टिर्धृतिः क्षान्तिस्त्वयि चेदं चराचरम् ।
त्वमेवेह युगान्तेषु निधनं प्रोच्यसेऽनघ ॥ १३ ॥

हे अनघ ! आपमें रति, तुष्टि, धृति, क्षान्ति और यह समस्त चराचर जगत् है, आपही युगान्तमें प्रलय कहे जाते हैं ॥ १३ ॥

सुदीर्घेणापि कालेन न ते शक्या गुणा मया ।
आत्मा च परमो वक्तुं नमस्ते नलिनेक्षण ॥ १४ ॥

हे कमल नेत्र ! मैं अनन्त कालतक भी आपके गुणोंको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं हूं; आप ही आत्मा और आप ही परमात्मा हैं, इसलिये आपको नमस्कार है ॥ १४ ॥

विदितो मेऽसि दुर्धर्ष नारदाद्देवलात्तथा ।
कृष्णद्वैपायनाच्चैव तथा कुरुपितामहात् ॥ १५ ॥

हे दुर्धर्ष ! मैंने देवर्षि नारद, देवल, श्रीकृष्णद्वैपायन और कुरुपितामह भीष्मके निकट आपके विषयमें सब कुछ जाना है ॥ १५ ॥

त्वयि सर्वं समासक्तं त्वमेवैको जनेश्वरः ।
यच्चानुग्रहसंयुक्तमेतदुक्तं त्वयानघ ॥ १६ ॥

आपमें सब जगत् मिला हुआ है, आप ही एकमात्र जनेश्वर हैं। अनघ! आपने कृपा करके जो सब विषय मुझसे कहा है ॥ १६ ॥

एतत्सर्वमहं सम्यगाचरिष्ये जनार्दन ।
इदं चाद्भुतमत्यर्थं कृतमस्मत्प्रियेप्सया ॥ १७ ॥

जनार्दन ! मैं उसका पूरी रीतिसे आचरण करूंगा; आपने हमारे हितके लिये यह अत्यन्त अद्भुत कर्म किया है ॥ १७ ॥

यत्पापो निहतः संख्ये कौरव्यो धृतराष्ट्रजः ।
त्वया दग्धं हि तत्सैन्यं मया विजितमाहवे ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्रपुत्र पापात्मा दुर्योधन जो युद्धमें मारा गया, आपनेही उसकी सेना जलाई है; तभी मैंने युद्धमें उसपर विजय पाई है ॥ १८ ॥

भवता तत्कृतं कर्म येनावाप्तो जयो मया ।
दुर्योधनस्य संग्रामे तव बुद्धिपराक्रमैः ॥ १९ ॥

वह आपकी बुद्धि तथा पराक्रम सहित उपायोंसे ही दुर्योधनके युद्धमें मुझे जय प्राप्त हुई है, ये सब कार्य तुम्हारे ही द्वारा पूरे हुए हैं ॥ १९ ॥

कर्णस्य च वधोपायो यथावत्संप्रदर्शितः ।
सैन्धवस्य च पापस्य भूरिश्रवस एव च ॥ २० ॥

कर्ण, पापात्मा सिन्धुराज जयद्रथ और भूरिश्रवाके वधका उपाय तुम्हारे ही द्वारा मुझे यथावत् प्रदर्शित हुआ ॥ २० ॥

अहं च प्रीयमाणेन त्वया देवकिनन्दन ।
यदुक्तस्तत्करिष्यामि न हि मेऽत्र विचारणा ॥ २१ ॥

हे देवकीनन्दन ! आपने प्रेमपूर्वक प्रसन्नचित्त होकर मुझसे जो कहा है, मैं वही करूंगा; इसमें मुझे कुछ भी बिचार नहीं है ॥ २१ ॥

राजानं च समासाद्य धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
चोदयिष्यामि धर्मज्ञ गमनार्थं तवानघ ॥ २२ ॥

हे धर्मज्ञ ! अनघ ! मैं धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरके निकट जाकर तुम्हारे गमन करनेके निमित्त उनसे निवेदन करूंगा ॥ २२ ॥

रुचितं हि ममैतत्ते द्वारकागमनं प्रभो ।
अचिराच्चैव द्रष्टा त्वं मातुलं मधुसूदन ।
बलदेवं च दुर्धर्षं तथान्यान्वृष्णिपुंगवान् ॥ २३ ॥

हे प्रभु ! आपके द्वारकागमनके विषयमें मुझे भी अभिलाषा होती है, मैं भी सम्मत हूं । हे मधुसूदन ! आप शीघ्र ही उन मेरे मातुल वसुदेव, दुर्धर्ष वीर बलदेव तथा अन्यान्य वृष्णि पुङ्गवोंका दर्शन करेंगे ॥ २३ ॥

×

एवं संभाषमाणौ तौ प्राप्तौ वारणसाह्वयम् ।
तथा विविशतुश्चोभौ संप्रहृष्टनराकुलम् ॥ २४ ॥

अनन्तर वे श्रीकृष्ण-अर्जुन, दोनों इसी प्रकार वार्तालाप करते हुए हस्तिनापुरमें पहुंचकर, प्रहृष्ट जनसमूहसे परिपूरित उस पुरीके बीच प्रविष्ट हुए ॥ २४ ॥

तौ गत्वा धृतराष्ट्रस्य गृहं शक्रगृहोपमम् ।
ददृशाते महाराज धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥ २५ ॥

हे महाराज ! श्रीकृष्ण और अर्जुनने इन्द्रभवनसदृश धृतराष्ट्रके गृहमें जाकर प्रजानाथ धृतराष्ट्रका दर्शन किया ॥ २५ ॥

विदुरं च महाबुद्धिं राजानं च युधिष्ठिरम् ।
भीमसेनं च दुर्धर्षं माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
धृतराष्ट्रमुपासीनं युयुत्सुं चापराजितम् ॥ २६ ॥

फिर महाबुद्धिमान् विदुर, राजा युधिष्ठिर, दुर्धर्ष भीमसेन, माद्रीपुत्र नकुल-सहदेव और धृतराष्ट्रके समीप बैठे हुए अपराजित युयुत्सुको वे मिले ॥ २६ ॥

गान्धारीं च महाप्राज्ञां पृथां कृष्णां च भामिनीम् ।
सुभद्राद्याश्च ताः सर्वा भरतानां स्त्रियस्तथा ।
ददृशाते स्थिताः सर्वा गान्धारीं परिवार्य वै ॥ २७ ॥

महाबुद्धिमती गान्धारी, कुन्ती, भामिनी द्रौपदी, सुभद्रा प्रभृति भरतकुलकी सब स्त्रियोंको देखा । वे सब स्त्रियां गान्धारीको घिर कर बैठी थीं ॥ २७ ॥

ततः समेत्य राजानं धृतराष्ट्रमरिंदमौ ।
निवेद्य नामधेये स्वे तस्य पादावगृह्णताम् ॥ २८ ॥

तिसके अनन्तर अरिदमन वासुदेव और अर्जुन- दोनोंने उन राजा धृतराष्ट्रके निकट अपना अपना नाम सुनाकर उनके दोनों चरणोंका स्पर्श किया ॥ २८ ॥

गान्धार्याश्च पृथायाश्च धर्मराज्ञस्तथैव च ।
भीमस्य च महात्मानौ तथा पादावगृह्णताम् ॥ २९ ॥

अनन्तर उन महात्माओंने गान्धारी, कुन्ती, धर्मराज युधिष्ठिर और भीमके दोनों चरणोंका स्पर्श किया ॥ २९ ॥

क्षत्तारं चापि संपूज्य पृष्ट्वा कुशलमव्ययम् ।
तैः सार्धं नृपतिं वृद्धं ततस्तं पर्युपासताम् ॥ ३० ॥

फिर विदुरका आदर करते हुए उनका कुशल पूछके, उन सबके सहित वे दोनों बूढे राजा धृतराष्ट्रके पास जा बैठे ॥ ३० ॥

ततो निशि महाराज धृतराष्ट्रः कुरूद्वहान् ।
जनार्दनं च मेधावी व्यसर्जयत वै गृहान् ॥ ३१ ॥

अनन्तर रात्रिका समय हो जानेपर मेधावी महाराज धृतराष्ट्रने युधिष्ठिर प्रभृति श्रेष्ठ कुरुवीरों और जनार्दन श्रीकृष्णको अपने घरमें जानेके लिये विदा किया ॥ ३१ ॥

तेऽनुज्ञाता नृपतिना ययुः स्वं स्वं निवेशनम् ।
धनंजयगृहानेव ययौ कृष्णस्तु वीर्यवान् ॥ ३२ ॥

वे सब लोग राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञा पाकर निज निज गृहमें गये, परन्तु वीर्यवान् श्रीकृष्णने धनञ्जयके ही गृहमें गमन किया ॥ ३२ ॥

तत्रार्चितो यथान्यायं सर्वकामैरुपस्थितः ।
कृष्णः सुष्वाप मेधावी धनंजयसहायवान् ॥ ३३ ॥

वहां उनकी विधिपूर्वक पूजा हो गई; सब प्रकारके अभीष्ट पदार्थ उनकी सेवामें उपस्थित किये गये। भोजनके अनन्तर अर्जुनके सहायवान् मेधावी श्रीकृष्णने वहां शयन किया ॥ ३३ ॥

प्रभातायां तु शर्वर्यां कृतपूर्वाह्णिकक्रियौ ।
धर्मराजस्य भवनं जग्मतुः परमार्चितौ ।
यत्रास्ते स सहामात्यो धर्मराजो महामनाः ॥ ३४ ॥

रात्रिके अनन्तर प्रभात होनेपर श्रीकृष्ण और अर्जुन प्रातःकृत्य सन्ध्या–वन्दनादि करके दोनों परमपूजित मित्र जिस स्थानमें महाबली धर्मराज मन्त्रियोंके सहित निवास करते थे, उस गृहमें उपस्थित हुए ॥ ३४ ॥

ततस्तौ तत्प्रविश्याथ ददृशाते महाबलौ ।
धर्मराजानमासीनं देवराजमिवाश्विनौ ॥ ३५ ॥

महाबली श्रीकृष्ण और अर्जुन धर्मराजके गृहमें प्रवेश करके देवराज इन्द्रका दर्शन करनेवाले अश्विनीकुमारोंकी भांति बैठे हुए उनका दर्शन करने लगे ॥ ३५ ॥

तौ समासाद्य राजानं वार्ष्णेयकुरुपुंगवौ ।
निषीदतुरनुज्ञातौ प्रीयमाणेन तेन वै ॥ ३६ ॥

वृष्णि और कुरुपुङ्गव श्रीकृष्ण और अर्जुन राजा युधिष्ठिरके पास पहुंचे तो राजा बहुत प्रसन्नचित्त हो गये; फिर उनके द्वारा अनुज्ञात होकर आसनपर बैठे ॥ ३६ ॥

ततः स राजा मेधावी विवक्षू प्रेक्ष्य तावुभौ ।
प्रोवाच वदतां श्रेष्ठो वचनं राजसत्तमः ॥ ३७ ॥

तिसके अनन्तर वाग्मिवर मेधावी राजा युधिष्ठिर भाषणोन्मुख श्रीकृष्ण और अर्जुनको देखकर उनसे कहने लगे ॥ ३७ ॥

विवक्षू हि युवां मन्ये वीरौ यदुकुरूद्वहौ ।
नूनं कर्तास्मि सर्वं वां न चिरान्मा विचार्यताम् ॥ ३८ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे यदु और कुरुकुलके वीरवर ! मुझे मालूम होता है, कि तुम लोग मुझसे कुछ कहोगे, इसलिये वक्तव्य विषयमें विचार न करके शीघ्र कहो । तुम लोग जैसा कहोगे, मैं वही करूंगा ॥ ३८ ॥

इत्युक्ते फल्गुनस्तत्र धर्मराजानमब्रवीत् ।
विनीतवदुपागम्य वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ ३९ ॥

वाक्यविशारद अर्जुन धर्मराजका ऐसा वचन सुनकर, उनके निकट जाके विनीतभावसे कहने लगे ॥ ३९ ॥

अयं चिरोषितो राजन्वासुदेवः प्रतापवान् ।
भवन्तं समनुज्ञाप्य पितरं द्रष्टुमिच्छति ॥ ४० ॥

महाराज ! प्रतापवान् वसुदेवपुत्र श्रीकृष्णचन्द्रको द्वारकासे आकर यहां रहते बहुत समय बीत गया; अब आपकी अनुमति होनेपर ये पिता–माताके दर्शनके निमित्त द्वारकापुरीमें जानेकी इच्छा करते हैं ॥ ४० ॥

स गच्छेदभ्यनुज्ञातो भवता यदि मन्यसे ।
आनर्तनगरीं वीरस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४१ ॥

यदि आप समस्त होकर इन्हें आज्ञा दें, तो ये वीरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण आनर्तनगरीकी ओर गमन करेंगे; इसलिये आपको अनुमति देनी उचित है ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिर उवाच–

पुण्डरीकाक्ष भद्रं ते गच्छ त्वं मधुसूदन ।
पुरीं द्वारवतीमद्य द्रष्टुं शूरसुतं प्रभुम् ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पुण्डरीकाक्ष मधुसूदन ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम आज शूरसुत श्रेष्ठ वसुदेवका दर्शन करनेके लिये द्वारका नगरीको जाओ ॥ ४२ ॥

रोचते मे महाबाहो गमनं तव केशव ।
मातुलश्चिरदृष्टो मे त्वया देवी च देवकी ॥ ४३ ॥

हे महाबाहु केशव ! तुमने मेरे मामा वसुदेव और मामी देवकी देवीका बहुत समयसे दर्शन नहीं किया, इसीसे तुम्हारे गमन विषयमें मुझे अभिलाषा होती है ॥ ४३ ॥

मातुलं वसुदेवं त्वं बलदेवं च माधव ।
पूजयेथा महाप्राज्ञ मद्वाक्येन यथार्हतः ॥ ४४ ॥

हे माधव ! महाप्राज्ञ ! तुम मेरे मामा वसुदेव और भाई बलदेवके निकट जाकर मिलकर मेरी ओरसे उनकी यथायोग्य पूजा करना ॥ ४४ ॥

स्मरेथाश्चापि मां नित्यं भीमं च बलिनां वरम् ।
फल्गुनं नकुलं चैव सहदेवं च माधव ॥ ४५ ॥

हे माधव ! तुम सदा मुझे और बलिश्रेष्ठ भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवको स्मरण करना ॥ ४५ ॥

आनर्तानवलोक्य त्वं पितरं च महाभुज ।
वृष्णींश्च पुनरागच्छेर्हयमेधे ममानघ ॥ ४६ ॥

हे महाभुज ! अनघ ! तुम आनर्तनगरवासी प्रजागण, अपने माता-पिता और वृष्णिवंशियोंको मिलकर मेरे अश्वमेध यज्ञमें फिर आना ॥ ४६ ॥

स गच्छ रत्नान्यादाय विविधानि वसूनि च ।
यच्चाप्यन्यन्मनोज्ञं ते तदप्यादत्स्व सात्वत ॥ ४७ ॥

हे सात्वत ! विविध रत्न, धन तथा दूसरी जिन वस्तुओंके लिये तुम्हारी इच्छा हो, तुम उन्हें ग्रहण करके गमन करो ॥ ४७ ॥

इयं हि वसुधा सर्वा प्रसादात्तव माधव ।
अस्मानुपगता वीर निहताश्चापि शत्रवः ॥ ४८ ॥

हे माधव ! तुम्हारी कृपासे ही यह सब समुद्रके सहित पृथ्वी हमारे हस्तगत हुई है और हमारे सब शत्रु भी मारे गये हैं ॥ ४८ ॥

एवं ब्रुवति कौरव्ये धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
वासुदेवो वरः पुंसामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४९ ॥

कुरुपति धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर पुरुषश्रेष्ठ श्रीकृष्णचन्द्र उनसे इस प्रकार कहने लगे ॥ ४९ ॥

तवैव रत्नानि धनं च केवलं धरा च कृत्स्ना तु महाभुजाद्य वै ।
यदस्ति चान्यद्‌द्रविणं गृहेषु मे त्वमेव तस्येश्वर नित्यमीश्वरः ॥ ५० ॥

हे महाभुज ! ये रत्न, धन और सब पृथिवी अब केवल तुम्हारी ही है । हे जनेश्वर ! मेरे गृहमें जो सब अन्यान्य धन है, तुम ही उस समस्त धनके सदा स्वामी हो । ॥ ५० ॥

तथेत्यथोक्तः प्रतिपूजितस्तदा गदाग्रजो धर्मसुतेन वीर्यवान् ।
पितृष्वसामभ्यवदद्यथाविधि संपूजितश्चाप्यगमत्प्रदक्षिणम् ॥ ५१ ॥

उनके ऐसा कहनेपर धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने ऐसा ही होगा कहकर उनको प्रतिपूजित किया । फिर वीर्यवान् श्रीकृष्ण चन्द्रने अपनी बुवा कुन्तीकी विधिपूर्वक प्रदक्षिणा करते हुए, उससे कहके भली भांति सम्मानित होकर गमन किया ॥ ५१ ॥

तथा स सम्यक्प्रतिनन्दितस्तदा तथैव सर्वैर्विदुरादिभिस्ततः ।
विनिर्ययौ नागपुराद्गदाग्रजो रथेन दिव्येन चतुर्युजा हरिः ॥ ५२ ॥

अनन्तर गदाग्रज श्रीकृष्ण कुन्ती और विदुर प्रभृति मनुष्योंसे यथावत् प्रतिनन्दित होकर, अपने चार घोडोंके दिव्य रथमें चढके हस्तिनापुरसे बाहिर हुए ॥ ५२ ॥

रथं सुभद्रामधिरोप्य भामिनीं युधिष्ठिरस्यानुमते जनार्दनः ।
पितृष्वसायाश्च तथा महाभुजो विनिर्ययौ पौरजनाभिसंवृतः ॥ ५३ ॥

महाभुज जनार्दन राजा युधिष्ठिर तथा बुआ कुन्तीकी अनुमतिके अनुसार निज भगिनी सुभद्राको रथपर चढाके पुरवासियोंके बीच घिरकर हस्तिनापुरसे बाहिर हुए ॥ ५३ ॥

तमन्वगाद्वानरवर्यकेतनः ससात्यकिर्माद्रवतीसुतावपि ।
अगाधबुद्धिर्विदुरश्च माधवं स्वयं च भीमो गजराजविक्रमः ॥ ५४ ॥

कपिध्वज अर्जुन, सात्यकि, माद्रवतीपुत्र नकुल–सहदेव, अगाधबुद्धि विदुर और गजराजके समान विक्रमी स्वयं भीमसेन भी उन माधवके पीछे पहुंचानेके लिये गये ॥ ५४ ॥

निवर्तयित्वा कुरुराष्ट्रवर्धनांस्ततः स सर्वान्विदुरं च वीर्यवान् ।
जनार्दनो दारुकमाह सत्वरः प्रचदयाश्वानिति सात्यकिस्तदा ॥ ५५ ॥

अनन्तर वीर्यवान् जनार्दनने कुरुराष्ट्रवर्धन भीमादि सब पाण्डवों तथा विदुरको लौटाकर दारुक और सात्यकिको शीघ्र घोडोंको चलानेके लिये आज्ञा दी ॥ ५५ ॥

ततो ययौ शत्रुगणप्रमर्दनः शिनिप्रवीरानुगतो जनार्दनः ।
यथा निहत्यारिगणाञ्शतक्रतुर्दिवं तथानर्तपुरीं प्रतापवान् ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥ १४४० ॥

अनन्तर जैसे प्रतापी इन्द्र शत्रुओंके दलोंको मारके स्वर्गमें गमन करते हैं, वैसे ही शत्रुदल-प्रमर्दन प्रतापवान् जनार्दनने शिनिवीर सात्यकिके सङ्ग आनर्तपुरी द्वारकाकी ओर गमन किया ॥ ५६ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें इक्यानववां अध्याय समाप्त ॥ ५१ ॥ १४४० ॥

: ५२ :

वैशम्पायन उवाच—

तथा प्रयान्तं वार्ष्णेयं द्वारकां भरतर्षभाः ।
परिष्वज्य न्यवर्तन्त सानुयात्राः परंतपाः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– इस प्रकार द्वारकाकी ओर गमन करते हुए वृष्णिकुलनन्दन श्रीकृष्णको आलिंगन करके परन्तप भरतश्रेष्ठ पाण्डव अपने सेवकों सहित उनके समीपसे निवृत्त हुए ॥ १ ॥

पुनः पुनश्च वार्ष्णेयं पर्यष्वजत फल्गुनः ।
आ चक्षुर्विषयाच्चैनं ददर्श च पुनः पुनः ॥ २ ॥

अर्जुनने वृष्णिवंशीय श्रीकृष्णको बार बार आलिंगन किया और जबतक वह नेत्रोंसे दीख पडते थे, तबतक उन्हें बार बार देखते रहे ॥ २ ॥

कृच्छ्रेणैव च तां पार्थो गोविन्दे विनिवेशिताम् ।
संजहार तदा दृष्टिं कृष्णश्चाप्यपराजितः ॥ ३ ॥

अनन्तर अर्जुनने गोविंदमें निवेशित निज दृष्टिको अत्यन्त कष्टसे पीछे लौटाया और अपराजित श्रीकृष्णकी भी यही स्थिति थी ॥ ३ ॥

तस्य प्रयाणे यान्यासन्निमित्तानि महात्मनः ।
बहून्यद्भुतरूपाणि तानि मे गदतः शृणु ॥ ४ ॥

महात्मा श्रीकृष्णके चलनेके समयमें जो सब अद्भुत शकुन प्रकट हुए थे, वह सब विषय मैं कहता हूं, तुम सुनो ॥ ४ ॥

वायुर्वेगेन महता रथस्य पुरतो ववौ ।
कुर्वन्निःशर्करं मार्गं विरजस्कमकण्टकम् ॥ ५ ॥

उनके रथके अगाडी वायु बड महावेग पूर्वक प्रवाहित होने लगी धूलि और कांटोंसे और सारे मार्गको कङ्कड रहित कर देती थी ॥ ५ ॥

ववर्ष वासवश्चापि तोयं शुचि सुगन्धि च ।
दिव्यानि चैव पुष्पाणि पुरतः शार्ङ्गधन्वनः ॥ ६ ॥

इन्द्र शार्ङ्गधन्वा श्रीकृष्णके रथके अगाडी पवित्र और सुगंधित उत्तम शीतल जल तथा दिव्य फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥ ६ ॥

स प्रयातो महाबाहुः समेषु मरुधन्वसु ।
ददर्शाथ मुनिश्रेष्ठमुत्तङ्कममितौजसम् ॥ ७ ॥

अनन्तर महाबाहु श्रीकृष्णने समतल मरुभूमिमें गमन करते हुए अमिततेजस्वी मुनिश्रेष्ठ उत्तङ्कका दर्शन किया ॥ ७ ॥

स तं संपूज्य तेजस्वी मुनिं पृथुललोचनः ।
पूजितस्तेन च तदा पर्यपृच्छदनामयम् ॥ ८ ॥

विशालनेत्रवाले तेजस्वी श्रीकृष्णने मुनिकी पूजा करके स्वयं भी उनसे पूजित हुए । फिर उन्होंने मुनिको कुशल प्रश्न किया ॥ ८ ॥

स पृष्टः कुशलं तेन संपूज्य मधुसूदनम् ।
उत्तङ्को ब्राह्मणश्रेष्ठस्ततः पप्रच्छ माधवम् ॥ ९ ॥

ब्राह्मणश्रेष्ठ उत्तङ्क श्रीकृष्णके द्वारा कुशल पूछे जानेपर, उन्होंने भी मधुसूदन माधवकी पूजा करते हुए पूछा ॥ ९ ॥

कच्चिच्छौरे त्वया गत्वा कुरुपाण्डवसद्म तत् ।
कृतं सौभ्रात्रमचलं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १० ॥

हे शौरि ! आपने कौरवोंपाण्डवोंके गृहमें जाकर उनमें अचल बंधुभाव निर्माण किया है न ? वह सब मेरे निकट वर्णन करो ॥ १० ॥

अभिसंधाय तान्वीरानुपावृत्तोऽसि केशव ।
संबन्धिनः सुदयितान्सततं वृष्णिपुंगव ॥ ११ ॥

हे वृष्णिपुंगव केशव ! आप अपने सदा प्रियसम्बन्धी उन वीरोंको एकत्रित करके आये हैं न ? ॥ ११ ॥

कच्चित्पाण्डुसुताः पञ्च धृतराष्ट्रस्य चात्मजाः ।
लोकेषु विहरिष्यन्ति त्वया सह परंतप ॥ १२ ॥

हे परन्तप ! पाण्डुके पांचों पुत्र और धृतराष्ट्रके सब पुत्र जगत्में आपके सहित विहार करते हैं न ? ॥ १२ ॥

स्वराष्ट्रेषु च राजानः कच्चित्प्राप्स्यन्ति वै सुखम् ।
कौरवेषु प्रशान्तेषु त्वया नाथेन माधव ॥ १३ ॥

हे माधव ! आपके प्रभु होकर कौरव कुलकी सान्त्वना करनेसे सब राजा निज राज्योंके बीच सुख भोग करेंगे न ? ॥ १३ ॥

या मे संभावना तात त्वयि नित्यमवर्तत ।
अपि सा सफला कृष्ण कृता ते भरतान्प्रति ॥ १४ ॥

हे तात ! मेरी जो सम्भावना तुममें नित्य निवास करती है कि तुम्हारे प्रयत्नसे कौरव-पाण्डवोंमें मेल होगा, तुमने भरतकुलके विषयमें उसे सफल तो किया है न ? ॥ १४ ॥

वासुदेव उवाच—

कृतो यत्नो मया ब्रह्मन्सौभ्रात्रे कौरवान्प्रति ।
न चाशक्यन्त य संधातुं तेऽधर्मरुचयो मया ॥ १५ ॥

वासुदेव बोले— ब्रह्मन् ! मैंने कौरवोंके पास जाकर उनमें भ्रातृभाव निर्माण करनेके लिये विशेष यत्न किया था, परंतु अधर्ममें रुचि करनेवाले वे मुझसे किसी तरह संधिके लिये तैयार नहीं किये जा सके ॥ १५ ॥

ततस्ते निधनं प्राप्ताः सर्वे ससुतबान्धवाः ।
न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं शक्यं बुद्ध्या बलेन वा ।
महर्षे विदितं नूनं सर्वमेतत्तवानघ ॥ १६ ॥

जब वे लोग शान्ति अवलम्बन करनेमें समर्थ न हुए, तब वे सब पुत्र तथा बान्धवोंके सहित मृत्युको प्राप्त हुए। कोई पुरुष बल वा बुद्धिसे दैवको अतिक्रम करनेमें समर्थ नहीं होता। हे पापरहित महर्षि ! आपको ये सब सत्य बातें मालूम ही होंगी ॥ १६ ॥

तेऽत्यक्रामन्मतिं मह्यं भीष्मस्य विदुरस्य च ।
ततो यमक्षयं जग्मुः समासाद्येतरेतरम् ॥ १७ ॥

उन कौरवोंने जो भीष्म, बिदुर तथा मेरे मतको अतिक्रम किया था, उसहीसे वे सब परस्पर लडके यमलोकमें गये हैं ॥ १७ ॥

पञ्च वै पाण्डवाः शिष्टा हतमित्रा हतात्मजाः ।
धार्तराष्ट्राश्च निहताः सर्वे ससुतबान्धवाः ॥ १८ ॥

मित्रों और पुत्रोंके मारे जानेपर केवल पांच पाण्डव अवशिष्ट रहे हैं और धृतराष्ट्रके सब पुत्र अपने पुत्रों तथा बान्धवोंके सहित मारे गये हैं ॥ १८ ॥

इत्युक्तवचने कृष्णे भृशं क्रोधसमन्वितः ।
उत्तङ्कः प्रत्युवाचैनं रोषादुत्फाल्य लोचने ॥ १९ ॥

श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर उत्तङ्क मुनि अत्यन्त क्रुद्ध होकर, क्रोधसे नेत्र विस्फारित करके उनसे कहने लगे ॥ १९ ॥

यस्माच्छक्तेन ते कृष्ण न त्राताः कुरुपाण्डवाः ।
संबन्धिनः प्रियास्तस्माच्छप्स्येऽहं त्वामसंशयम् ॥ २० ॥

हे श्रीकृष्ण ! जब तुमने परित्राण करनेमें समर्थ होके भी उन प्रिय सम्बन्धी कुरुपाण्डवोंका परित्राण नहीं किया, उसही निमित्त मैं तुम्हें निश्चयही शाप दूंगा ॥ २० ॥

न च ते प्रसभं यस्मात्ते निगृह्य निवर्तिताः ।
तस्मान्मन्युपरीतस्त्वां शप्स्यामि मधुसूदन ॥ २१ ॥

हे मधुसूदन ! क्योंकि तुम उसही समय उन लोगोंको निग्रह करके रोक सकते थे, परंतु उन्हें निवारित नहीं किया, इसही निमित्त मैं क्रोधयुक्त होकर तुम्हें शाप दूंगा ॥ २१ ॥

त्वया हि शक्तेन सता मिथ्याचारेण माधव ।
उपचीर्णाः कुरुश्रेष्ठा यस्त्वेतान्समुपेक्षथाः ॥ २२ ॥

हे माधव ! तुमने समर्थ होके भी मिथ्या आचरण किया है, इसीसे सब ओरसे आकर इकट्ठे हुए उन कुरुश्रेष्ठोंकी तुमने उपेक्षा कर दी ॥ २२ ॥

+

वासुदेव उवाच--

श्रृणु मे विस्तरेणेदं यद्वक्ष्ये भृगुनन्दन ।
गृहाणानुनयं चापि तपस्वी ह्यसि भार्गव ॥ २३ ॥

श्रीकृष्ण बोले- भृगुनन्दन ! मैं विस्तारपूर्वक जो कहता हूं, उसे सुनो । भार्गव ! तुम तपस्वी हो, इसलिये मैं जो तुमसे विनय करता हूं, उसे ग्रहण करो ॥ २३ ॥

श्रुत्वा त्वमेतदध्यात्मं मुञ्चेथाः शापमद्य वै ।
न च मां तपसाल्पेन शक्तोऽभिभवितुं पुमान् ॥ २४ ॥

मैं जो अध्यात्म विषय कहता हूं उसे सुननेके बाद भी तुम्हारी इच्छा होगी तो आज मुझे शाप दीजिये । कोई भी पुरुष अल्प तपस्यासे मेरा तिरस्कार करनेमें समर्थ नहीं होता॥२४॥

न च ते तपसो नाशमिच्छामि जपतां वर ।
तपस्ते सुमहद्दीप्तं गुरवश्चापि तोषिताः ॥ २५ ॥

हे तपस्वीश्रेष्ठ ! तुम्हारी तपस्या नष्ट करनेकी मैं इच्छा नहीं करता, क्योंकि तुमने अत्यन्त कष्टसे उस उत्तम महद्दीप्त तपस्याका उपार्जन तथा गुरुजनोंको संतुष्ट किया है ॥ २५ ॥

कौमारं ब्रह्मचर्यं ते जानामि द्विजसत्तम ।
दुःखार्जितस्य तपसस्तस्मान्नेच्छामि ते व्ययम् ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि द्विपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५२ ॥ १४६६ ॥

हे द्विजसत्तम ! तुमने कौमारावस्थासे ही ब्रह्मचर्यका पालन किया है, ये मुझे ज्ञात है । तुमने अधिक कष्ट करके जो तपस्या उपार्जन की है, उसे मैं नष्ट करनेकी इच्छा नहीं करता ॥ २६ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें बावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५२ ॥ १४६६ ॥

: ५३ :

उत्तङ्क उवाच--

ब्रूहि केशव तत्त्वेन त्वमध्यात्ममनिन्दितम् ।
श्रुत्वा श्रेयोऽभिधास्यामि शापं वा ते जनार्दन ॥ १ ॥

उत्तङ्क बोले- हे केशव ! जनार्दन ! आप मुझसे अनिन्दित अध्यात्म विषय यथार्थ रीतिसे कहिये, मैं उस अध्यात्म विषयको सुनकर, मैं आपके कल्याणके लिए आशीर्वाद दूंगा वा शाप प्रदान करूंगा ॥ १ ॥

वासुदेव उवाच –

तमो रजश्च सत्त्वं च विद्धि भावान्मदाश्रयान् ।
तथा रुद्रान्वसूंश्चापि विद्धि मत्प्रभवान्द्विज ॥ २ ॥

श्रीकृष्ण बोले– हे द्विज ! तम, रज और सत्त्व इन सब गुणोंको मेरे आश्रित जानो; और रुद्रों तथा वसुगणोंको मुझसे उत्पन्न हुआ समझो ॥ २ ॥

मयि सर्वाणि भूतानि सर्वभूतेषु चाप्यहम् ।
स्थित इत्यभिजानीहि मा तेऽभूदत्र संशयः ॥ ३ ॥

मुझमें सब भूत विद्यमान रहते हैं और सब भूतोंमें मैं विद्यमान हूं यह निश्चय जानो। इसमें आपको संशय नहीं होना चाहिये ॥ ३ ॥

तथा दैत्यगणान्सर्वान्यक्षराक्षसपन्नगान् ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव विद्धि मत्प्रभवान्द्विज ॥ ४ ॥

हे द्विज ! सब दैत्यगण, यक्ष, राक्षस, पन्नग, गंधर्व और अप्सराओंको मुझसे ही उत्पन्न हुआ समझो ॥ ४ ॥

सदसच्चैव यत्प्राहुरव्यक्तं व्यक्तमेव च ।
अक्षरं च क्षरं चैव सर्वमेतन्मदात्मकम् ॥ ५ ॥

पण्डित लोग जिसे सत्, असत्, अव्यक्त, व्यक्त, अक्षर और क्षर कहा करते हैं, उन सदा सबको मेरा ही स्वरूप जानो ॥ ५ ॥

ये चाश्रमेषु वै धर्माश्चतुर्षु विहिता मुने ।
दैवानि चैव कर्माणि विद्धि सर्वं मदात्मकम् ॥ ६ ॥

हे मुनि ! चारों आश्रमोंमें जो चार प्रकारके धर्म और दैवी कर्म बिहित हैं, उन सबको भी सदा मेरा स्वरूप जानो ॥ ६ ॥

असच्च सदसच्चैव यद्विश्वं सदसतः परम् ।
ततः परं नास्ति चैव देवदेवात्सनातनात् ॥ ७ ॥

असत्, 'शशविषाणादि' सदसत् 'घटपटादि' और सदसत्पर अव्यक्तत्रयरूपसे मैंही विश्वमें देवाधिदेव सनातन हूं, इसलिये मुझसे जगत् भिन्न नहीं है ॥ ७ ॥

ओंकारप्रभवान्वेदान्विद्धि मां त्वं भृगूद्वह ।
यूपं सोमं तथैवेह त्रिदशाप्यायनं मखे ॥ ८ ॥

हे भृगुश्रेष्ठ ! मुझेही ओंकारसे उत्पन्न सब वेद समझो; यूप, सोम और यज्ञमें त्रिदशाप्यायन (देवताओंको तृप्त करनेकी सामग्री) मुझेही जानो ॥ ८ ॥

होतारमपि हव्यं च विद्धि मां भृगुनन्दन ।
अध्वर्युः कल्पकश्चापि हविः परमसंस्कृतम् ॥ ९ ॥

हे भृगुनन्दन ! मुझेही होता, हव्य, अध्वर्यु, कल्पक और परम संस्कृत हवि जानो ॥ ९ ॥

उद्गाता चापि मां स्तौति गीतघोषैर्महाध्वरे ।
प्रायश्चित्तेषु मां ब्रह्मञ्शान्तिमङ्गलवाचकाः ।
स्तुवन्ति विश्वकर्माणं सततं द्विजसत्तमाः ॥ १० ॥

महायज्ञोंमें उद्गाता गीतघोष– सामगान के द्वारा मेराही स्तव किया करते हैं और प्रायश्चित्त कर्ममें शान्ति तथा मङ्गलवाचक पाठ ब्राह्मणगण सदा मुझे विश्वकर्मा कहके मेरीही स्तुति किया करते हैं ॥ १० ॥

विद्धि मह्यं सुतं धर्ममग्रजं द्विजसत्तम ।
मानसं दयितं विप्र सर्वभूतदयात्मकम् ॥ ११ ॥

हे द्विजसत्तम ! सब भूतोंपर दया करना रूप– धर्मको मेरा परमप्रिय ज्येष्ठ पुत्र है और मेरे मनसे वह प्रादुर्भूत जानो ॥ ११ ॥

तत्राहं वर्तमानैश्च निवृत्तैश्चैव मानवैः ।
बह्वीः संसरमाणो वै योनीर्हि द्विजसत्तम ॥ १२ ॥

हे द्विजसत्तम ! जो सब मनुष्य इस धर्ममें प्रवृत्त और पापकर्मोंसे निवृत्त रहते हैं, मैं ऐसे लोगोंके साथ सदा निवास करता हूं ॥ १२ ॥

धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च ।
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव ॥ १३ ॥

हे भार्गव ! मैं धर्मसंस्थापन तथा धर्मरक्षाके हेतु अनेक योनियोंमें भ्रमण करते हुए निवास किया करता हूं; और तीनों लोकोंके बीच वही रूप तथा वही वेष धारण करता हूं ॥ १३ ॥

अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रोऽथ प्रभवाप्ययः ।
भूतग्रामस्य सर्वस्य स्रष्टा संहार एव च ॥ १४ ॥

मैंही विष्णु, मैंही ब्रह्मा, तथा मैंही इन्द्र हूं । सब भूतोंकी उत्पत्ति और लयकर्ता शम्भु हूं । मैंही सब भूतोंकी सृष्टि तथा संहारकर्ता हूं ॥ १४ ॥

अधर्मे वर्तमानानां सर्वेषामहमच्युत ।
धर्मस्य सेतुं बध्नामि चलिते चलिते युगे ।
तास्ता योनीः प्रविश्याहं प्रजानां हितकाम्यया ॥ १५ ॥

और अधर्ममें विद्यमान मनुष्योंके बीच मैंही अच्युत हूं । मैं प्रजासमूहकी हितकामनासे युग युगमें भिन्न भिन्न योनिमें प्रविष्ट होकर धर्मकी मर्यादाकी स्थापना किया करता हूं ॥ १५ ॥

यदा त्वहं देवयोनौ वर्तामि भृगुनन्दन ।
तदाहं देववत्सर्वमाचरामि न संशयः ॥ १६ ॥

हे भृगुनन्दन ! जब मैं देवयोनिमें अवतारित होता हूं, तब देवताओंके समान सब आचरण करता हूं, इसमें संशय नहीं है ॥ १६ ॥

यदा गन्धर्वयोनौ तु वर्तामि भृगुनन्दन ।
तदा गन्धर्ववच्चेष्टाः सर्वाश्चेष्टामि भार्गव ॥ १७ ॥

जब गन्धर्वयोनियोंमें मैं प्रविष्ट होता हूं, उस समय गन्धर्वोंके सदृश मेरे सारे आचार विचार होते हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥ १७ ॥

नागयोनौ यदा चैव तदा वर्तामि नागवत् ।
यक्षराक्षसयोनीश्च यथावद्विचराम्यहम् ॥ १८ ॥

जिस समय नागयोनिमें प्रविष्ट होता हूं, उस समय नागसदृश और यक्ष राक्षस प्रभृति जब जिस योनिमें प्रवृत्त होता हूं, तब उस ही प्रकार आचरण किया करता हूं ॥ १८ ॥

मानुष्ये वर्तमाने तु कृपणं याचिता मया ।
न च ते जातसंमोहा वचो गृह्णन्ति मे हितम् ॥ १९ ॥

अब मैंने मनुष्ययोनिमें उत्पन्न होकर उन कौरवोंके समीप दीनभावसे संधिके लिये बहुत ही प्रार्थना की थी, परंतु उन्होंने मोहग्रस्त होनेके कारण मेरी हितकर बात मान्य नहीं की ॥१९॥

भयं च महदुद्दिश्य त्रासिताः कुरवो मया ।
क्रुद्धेव भूत्वा च पुनर्यथावदनुदर्शिताः ॥ २० ॥

क्रुद्ध होकर कौरवोंको महत् भय दिखाके त्रासित किया तथा यथायोग्य शिक्षा प्रदान करके युद्धका भावी परिणाम भी दिखाया ॥ २० ॥

तेऽधर्मेणेह संयुक्ताः परीताः कालधर्मणा ।
धर्मेण निहता युद्धे गताः स्वर्गं न संशयः ॥ २१ ॥

बल्कि उन लोगोंने कालधर्मसे घिरके तथा अधर्मसंयुक्त होकर, फिर क्षत्रिय धर्मके द्वारा युद्धमें मारे जाकर उन्होंने सुरपुरमें गमन किया है, इसमें संशय नहीं है ॥ २१ ॥

लोकेषु पाण्डवाश्चैव गताः ख्यातिं द्विजोत्तम ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि त्रिपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५३ ॥ १४८८ ॥

हे द्विजोत्तम ! पाण्डवोंको जगत्के बीच अपने धर्माचरणके कारण बडाई प्राप्त हुई है । आपने मुझसे जो पूछा था, मैंने वह विषय पूरी रीतिसे तुम्हारे समीप वर्णन किया ॥२२॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें तिरपनवां अध्याय समाप्त ॥ ५३ ॥ १४८८ ॥

: ५४ :

उत्तङ्क उवाच—

अभिजानामि जगतः कर्तारं त्वां जनार्दन ।
नूनं भवत्प्रसादोऽयमिति मे नास्ति संशयः ॥ १ ॥

उत्तङ्क बोले— हे जनार्दन ! मैं आपको संपूर्ण जगत्‌के कर्ता कहके जान सका हूं; निश्चय ही यह आपकी कृपा है, इसमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १ ॥

चित्तं च सुप्रसन्नं मे त्वद्भावगतमच्युत ।
विनिवृत्तश्च मे कोप इति विद्धि परंतप ॥ २ ॥

हे अच्युत ! मेरा चित्त अत्यंत प्रसन्न और आपमें भक्तिभावसे आसक्त होगया है; इसलिये क्रोधसे निवृत्त हुआ समझिये ॥ २ ॥

यदि त्वनुग्रहं कंचित्त्वत्तोऽर्होऽहं जनार्दन ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं तन्निदर्शय ॥ ३ ॥

हे जनार्दन ! यदि आपकी किञ्चित् कृपा प्राप्त करनेका अधिकारी होऊं, तो मैं आपका ईश्वररूप देखनेकी इच्छा करता हूं, आप अनुग्रह करके वह रूप मुझे दिखाइये ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततः स तस्मै प्रीतात्मा दर्शयामास तद्वपुः ।
शाश्वतं वैष्णवं धीमान्ददृशे यद्धनंजयः ॥ ४ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— युद्धके आरंभमें धनञ्जयने जिस शाश्वत वैष्णव रूपका दर्शन किया था, परम बुद्धिमान श्रीकृष्णने परम प्रसन्न होकर उत्तंकको वही मूर्ति दिखाई ॥ ४ ॥

स ददर्श महात्मानं विश्वरूपं महाभुजम् ।
विस्मयं च ययौ विप्रस्तद्दृष्ट्वा रूपमैश्वरम् ॥ ५ ॥

उत्तङ्कमुनिने महात्मा, महाभुज विश्वरूपका दर्शन किया। अनन्तर विप्रवर उत्तङ्क उस अद्भुत परम रूप परमेश्वरका दर्शन करके अत्यन्त विस्मित हो गये ॥ ५ ॥

उत्तङ्क उवाच—

विश्वकर्मन्नमस्तेऽस्तु यस्य ते रूपमीदृशम् ।
पद्भ्यां ते पृथिवी व्याप्ता शिरसा चावृतं नभः ॥ ६ ॥

उत्तंक बोले— हे विश्वकर्मन् ! आपका ऐसा अद्भुत रूप है, उन आपको नमस्कार है । आपके दोनों चरणोंसे पृथ्वी और सिरसे आकाश व्याप्त है ॥ ६ ॥

द्यावापृथिव्योर्यन्मध्यं जठरेण तदावृतम् ।
भुजाभ्यामावृताश्चाशास्त्वमिदं सर्वमच्युत ॥ ७ ॥

जठरके द्वारा द्युलोक तथा भूलोकका मध्यभाग व्याप्त है और दोनों भुजाओंसे सब दिशाएं आवृत हो रही हैं । हे अच्युत ! आप ही इस विश्वरूपमें निवास करते हैं ॥ ७ ॥

संहरस्व पुनर्देव रूपमक्षय्यमुत्तमम् ।
पुनस्त्वां स्वेन रूपेण द्रष्टुमिच्छामि शाश्वतम् ॥ ८ ॥

हे देवदेव ! अब आपका यह समस्त अक्षय उत्तम रूप फिर समेट लीजिये। मैं फिर आपको उस ही सनातन श्रीकृष्णरूपसे देखनेकी इच्छा करता हूं ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तमुवाच प्रसन्नात्मा गोविन्दो जनमेजय ।
वरं वृणीष्वेति तदा तमुत्तङ्कोऽब्रवीदिदम् ॥ १० ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— हे जनमेजय ! गोविन्द श्रीकृष्ण प्रसन्न होकर उत्तंकसे बोले, तुम मुझसे वर मांगो। तब उत्तंकने उनसे यह वचन कहा ॥ ९ ॥

पर्याप्त एष एवाद्य वरस्त्वत्तो महाद्युते ।
यत्ते रूपमिदं कृष्ण पश्यामि प्रभवाप्ययम् ॥ १० ॥

हे महातेजस्वी श्रीकृष्ण ! आज मैंने आपके इस धातृ—रूपका जिस प्रकार दर्शन किया, वही मुझे आज आपकी ओरसे यथेष्ट वर प्राप्त हुआ है ॥ १० ॥

तमब्रवीत्पुनः कृष्णो मा त्वमत्र विचारय।
अवश्यमेतत्कर्तव्यममोघं दर्शनं मम ॥ ११ ॥

श्रीकृष्ण फिर उत्तंकसे बोले— इसमें तुम और विचार मत करो। तुम अवश्य मुझसे वर मांगो; क्योंकि मेरा दर्शन अमोघ है ॥ ११ ॥

उत्तङ्क उवाच—

अवश्यकरणीयं वै यद्येतन्मन्यसे विभो।
तोयमिच्छामि यत्रेष्टं मरुष्वेतद्धि दुर्लभम् ॥ १२ ॥

उत्तंक बोले— हे विभु ! यदि आप वर मांगना मेरे लिये अवश्य करणीय बोध करते हैं, तो मैं यहां मुझे यथेष्ट जल प्राप्त हो, यही चाहता हूं; इस मरुभूमिके बीच जल दुर्लभ है ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततः संहृत्य तत्तेजः प्रोवाचोत्तङ्कमीश्वरः ।
एष्टव्ये सति चिन्त्योऽहमित्युक्त्वा द्वारकां ययौ ॥ १३ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— अनन्तर ईश्वरने उस तेज युक्त स्वरूपको समेट कर उत्तंकसे कहा, कि " तुम्हें जब जलकी अभिलाषा होवे, तब मुझे स्मरण करना " ऐसा कहके श्रीकृष्ण द्वारका चले गये ॥ १३ ॥

ततः कदाचिद्भगवानुत्तङ्कस्तोयकाङ्क्षया ।
तृषितः परिचक्राम मरौ सस्मार चाच्युतम् ॥ १४ ॥

अनन्तर किसी समय भगवान् उत्तंकको प्यास लगी; जलकी अभिलाषा करके मरुभूमिमें घूमते हुए उन्होंने अच्युत श्रीकृष्णको स्मरण किया ॥ १४ ॥

ततो दिग्वाससं धीमान्मातङ्गं मलपङ्किनम् ।
अपश्यत मरौ तस्मिञ्श्वयूथपरिवारितम् ॥ १५ ॥

अनन्तर धीमान् उत्तंकने उस मरुभूमिमें दिगम्बर, शरीरमें मैल और कींचड युक्त, कुत्तोंके झुंडसे घिरा हुआ एक मातङ्ग चाण्डालको देखा ॥ १५ ॥

भीषणं बद्धनिस्त्रिंशं बाणकार्मुकधारिणम् ।
तस्याधः स्रोतसोऽपश्यद्वारि भूरि द्विजोत्तमः ॥ १६ ॥

वह दीखनेमें भीषण था, उसने कमरमें तलवार बांधी थी और हाथोंमें धनुष–बाण धारण किये थे; और उसके नीचे पांवके समीप बहुतसा निर्मल जलका स्रोत द्विजश्रेष्ठने अवलोकन किया ॥ १६ ॥

स्मरन्नेव च तं प्राह मातङ्गः प्रहसन्निव ।
एह्युत्तङ्क प्रतीच्छस्व मत्तो वारि भृगूद्वह ।
कृपा हि मे सुमहती त्वां दृष्ट्वा तृट्समाहतम् ॥ १७ ॥

मातङ्गने उनको पहचानकर हंसकर कहा– हे भृगूद्वह उत्तंक ! तुम मेरे समीप आके जल ग्रहण करो, तुम्हें तृष्णातुर देखके मुझे अत्यन्त दया हुई है ॥ १७ ॥

इत्युक्तस्तेन स मुनिस्तत्तोयं नाभ्यनन्दत ।
चिक्षेप च स तं धीमान्वाग्भिरुग्राभिरच्युतम् ॥ १८ ॥

उस मुनिवर उत्तंकने मातङ्ग चाण्डालका ऐसा बचन सुनके उसके जलका अभिनन्दन नहीं किया; उसे लेनेसे इन्कार किया । बरन उस समय बुद्धिवान् उत्तंक उग्र बचनोंसे श्रीकृष्णकी भी निन्दा करने लगे ॥ १८ ॥

पुनः पुनश्च मातङ्गः पिबस्वेति तमब्रवीत् ।
न चापिबत्स सक्रोधः क्षुभितेनान्तरात्मना ॥ १९ ॥

मातङ्ग भी बार बार उत्तंकको जल पीनेके लिये कहने लगा । उत्तंकने अन्तरात्मा क्षुधित होनेपर भी क्रोधित होकर उस जलको न पीया ॥ १९ ॥

स तथा निश्चयात्तेन प्रत्याख्यातो महात्मना ।
श्वभिः सह महाराज तत्रैवान्तरधीयत ॥ २० ॥

जब महात्मा उत्तंकने निश्चय करते हुए उस चाण्डालको प्रत्युत्तर किया; महाराज ! तब वह चाण्डाल वहांपर ही कुत्तोंके सहित अन्तर्धान हुआ ॥ २० ॥

उत्तङ्कस्तं तथा दृष्ट्वा ततो व्रीडितमानसः ।
मेने प्रलब्धमात्मानं कृष्णेनामित्रघातिना ॥ २१ ॥

उस समय उत्तंकने उसे अन्तर्हित होते देखकर लज्जितचित्त होकर अपनेको शत्रुघाती श्रीकृष्णके द्वारा ठगाया समझा ॥ २१ ॥

अथ तेनैव मार्गेण शङ्खचक्रगदाधरः ।
आजगाम महाबाहुरुत्तङ्कश्चैनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

अनन्तर शंख, चक्र और गदाधारी श्रीकृष्ण उस ही मार्गसे उत्तंकके निकट उपस्थित हुए और महाबाहु उत्तंक उनसे कहने लगे ॥ २२ ॥

न युक्तं तादृशं दातुं त्वया पुरुषसत्तम ।
सलिलं विप्रमुख्येभ्यो मातङ्गस्रोतसा विभो ॥ २३ ॥

हे पुरुषसत्तम ! विभो ! आपको उस प्रकार चाण्डालके स्रोतसे श्रेष्ठ ब्राह्मणको अपवित्र जल प्रदान करनेके लिये आना उचित नहीं हुआ ॥ २३ ॥

इत्युक्तवचनं धीमान्महाबुद्धिर्जनार्दनः ।
उत्तङ्कं श्लक्ष्णया वाचा सान्त्वयन्निदमब्रवीत् ॥ २४ ॥

उत्तंकका ऐसा बचन सुनके धीमान् महाबुद्धिमान् जनार्दन श्रीकृष्ण मधुर वचनसे उन्हें सान्त्वना देते हुए कहने लगे ॥ २४ ॥

यादृशेनेह रूपेण योग्यं दातुं धृतेन वै ।
तादृशं खलु मे दत्तं त्वं तु तन्नावबुध्यसे ॥ २५ ॥

इस स्थानमें जैसा रूप धारण करके जिस प्रकार आपको जल दान करना उचित था, उसही प्रकार दिया जाता था; परंतु तुम उसे समझ न सके ॥ २५ ॥

मया त्वदर्थमुक्तो हि वज्रपाणिः पुरंदरः ।
उत्तङ्कायामृतं देहि तोयरूपमिति प्रभुः ॥ २६ ॥

मैंने तुम्हारे निमित्त वज्रपाणि पुरन्दर इन्द्रसे कहा था कि उत्तंकको तोयरूपी अमृत दान करो ॥ २६ ॥

स मामुवाच देवेन्द्रो न मर्त्योऽमर्त्यतां व्रजेत् ।
अन्यमस्मै वरं देहीत्यसकृद्भृगुनन्दन ॥ २७ ॥

हे भृगुनन्दन ! मेरा ऐसा वचन सुनके देवेन्द्रने बार बार मुझसे कहा, कि मनुष्यको अमर्त्यता नहीं प्राप्त होगी, इसलिये आप उन्हें अन्य वर प्रदान करो ॥ २७ ॥

अमृतं देयमित्येव मयोक्तः स शचीपतिः ।
स मां प्रसाद्य देवेन्द्रः पुनरेवेदमब्रवीत् ॥ २८ ॥

परन्तु मैंने शचीपति इन्द्रसे कहा, कि उत्तंकको अमृत वर ही देना होगा; तब देवराज इन्द्र मुझे प्रसन्न करके फिर बोले ॥ २८ ॥

×

यदि देयमवश्यं वै मातङ्गोऽहं महाद्युते।
भूत्वामृतं प्रदास्यामि भार्गवाय महात्मने ॥ २९ ॥

हे महामति ! यदि भृगुनंदन महात्मा उत्तंकको अमृत अवश्य देना योग्य है, तो मैं मातङ्ग—चाण्डालका रूप लेकर उनको अमृत दान करूंगा ॥ २९ ॥

यद्येवं प्रतिगृह्णाति भार्गवोऽमृतमद्य वै।
प्रदातुमेष गच्छामि भार्गवायामृतं प्रभो।
प्रत्याख्यातस्त्वहं तेन न दद्यामिति भार्गव ॥ ३० ॥

हे प्रभु ! आज यदि भृगुनन्दन उत्तंक इस ही प्रकार अमृत लेना स्वीकार करेंगे, तो मैं उन्हें अमृत देनेके लिये जाता हूं; परन्तु यदि मैं उनसे विरुद्ध बोला जाऊं तो कदापि उन्हें अमृत दान न करूंगा। हे भार्गव ! ऐसा इन्द्रने मुझे कहा ॥ ३० ॥

स तथा समयं कृत्वा तेन रूपेण वासवः।
उपस्थितस्त्वया चापि प्रत्याख्यातोऽमृतं ददत्।
चण्डालरूपी भगवान्सुमहांस्ते व्यतिक्रमः ॥ ३१ ॥

इन्द्र मेरे निकट इसी तरहकी शर्त करके तुम्हें अमृत देनेके लिये चाण्डालरूपी होकर तुम्हारे निकट उपस्थित हुए थे। तुम जान न सके, इसीसे उनका तुमने तिरस्कार किया है। उन चाण्डालरूपी भगवान् इन्द्रको तुमने ठुकराया है, यह तुम्हारा महान् अपराध है ॥ ३१ ॥

यत्तु शक्यं मया कर्तुं भूय एव तवेप्सितम्।
तोयेप्सां तव दुर्धर्ष करिष्ये सफलामहम् ॥ ३२ ॥

परन्तु मैं फिर तुम्हारे अभिलषित विषयको सिद्ध करनेके लिये जो कुछ कर सकता हूं, करूंगा। हे दुर्धर्ष ! मैं तुम्हारी वह जललालसा सफल करूंगा ॥ ३२ ॥

येष्वहःसु तव ब्रह्मन्सलिलेच्छा भविष्यति।
तदा मरौ भविष्यन्ति जलपूर्णाः पयोधराः ॥ ३३ ॥

जिन दिनों तुम्हें जलकी इच्छा होगी उन्हीं ही दिनों, हे ब्रह्मन् ! मरुभूमिमें बादल जलसे पूरित होकर प्रगट होंगे ॥ ३३ ॥

रसवच्च प्रदास्यन्ति ते तोयं भृगुनन्दन।
उत्तङ्कमेघा इत्युक्ताः ख्यातिं यास्यन्ति चापि ते ॥ ३४ ॥

भृगुनन्दन ! वे तुम्हें सुस्वादु जल प्रदान करेंगे और उत्तंक-मेघ नामसे विख्यात होंगे ॥ ३४ ॥

इत्युक्तः प्रीतिमान्विप्रः कृष्णेन स बभूव ह ।
अद्याप्युत्तङ्कमेघाश्च मरौ वर्षन्ति भारत ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि चतुःपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५४ ॥ १५२३ ॥

हे भारत ! उस विप्रने श्रीकृष्णका ऐसा वचन सुनके अत्यन्त प्रीति लाभ की । इस ही लिये आजतक उत्तंक-मेघ उस महाशुष्क मरुभूमिमें वर्षा किया करते हैं ॥ ३५ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें चौवनवां अध्याय समाप्त ॥ ५४ ॥ १५२३ ॥

: ५५ :

जनमेजय उवाच—

उत्तङ्कः केन तपसा संयुक्तः सुमहातपाः ।
यः शापं दातुकामोऽभूद्विष्णवे प्रभविष्णवे ॥ १ ॥

राजा जनमेजय बोले— अति महान् तपस्वी उत्तंकने ऐसी कौनसी तपस्या की थी, कि जिससे वे जगत्प्रभु विष्णुको भी शाप देनेके लिये उद्यत हुए ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच—

उत्तङ्को महता युक्तस्तपसा जनमेजय ।
गुरुभक्तः स तेजस्वी नान्यं कंचिदपूजयत् ॥ २ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— हे जनमेजय ! उत्तंक महातपोनिष्ठ, तेजस्वी और गुरुभक्त थे, वह केवल गुरुकी पूजा करते थे और किसीकी भी अर्चना नहीं करते थे ॥ २ ॥

सर्वेषामृषिपुत्राणामेष चासीन्मनोरथः ।
औत्तङ्कीं गुरुवृत्तिं वै प्राप्नुयामिति भारत ॥ ३ ॥

हे भारत ! सब ऋषिपुत्रगण उत्तंककी गुरुभक्ति देखकर ऐसी इच्छा करते थे, कि हमें भी उत्तंकके समान गुरुभक्ति प्राप्त हो ॥ ३ ॥

गौतमस्य तु शिष्याणां बहूनां जनमेजय ।
उत्तङ्केऽभ्यधिका प्रीतिः स्नेहश्चैवाभवत्तदा ॥ ४ ॥

हे जनमेजय ! गौतमके बहुत शिष्य थे, उनके बीच उत्तंकमें उनकी अधिक प्रीति तथा स्नेह उत्पन्न हुआ ॥ ४ ॥

स तस्य दमशौचाभ्यां विक्रान्तेन च कर्मणा ।
सम्यक्चैवोपचारेण गौतमः प्रीतिमानभूत् ॥ ५ ॥

गौतम उत्तंकके दम, पवित्रता, विक्रम और समधिक सेवासे परम प्रसन्न हुए थे ॥ ५ ॥

अथ शिष्यसहस्राणि समनुज्ञाय गौतमः ।
उत्तङ्कं परया प्रीत्या नाभ्यनुज्ञातुमैच्छत ॥ ६ ॥

एक समय गौतमऋषिने अपने सहस्रों शिष्योंको घर जानेके लिये आज्ञा दी; परन्तु परम प्रीतिके वशमें होकर उत्तंकको आज्ञा देनेकी इच्छा नहीं की ॥ ६ ॥

तं क्रमेण जरा तात प्रतिपेदे महामुनिम् ।
न चान्वबुध्यत तदा स मुनिर्गुरुवत्सलः ॥ ७ ॥

हे तात ! क्रमसे उस उत्तंक महामुनिको वृद्धावस्था प्राप्त हुई; परन्तु उस समय वह गुरुवत्सल उत्तंक मुनि उसे न जान सके ॥ ७ ॥

ततः कदाचिद्राजेन्द्र काष्ठान्यानयितुं ययौ ।
उत्तङ्कः काष्ठभारं च महान्तं समुपानयत् ॥ ८ ॥

हे राजेन्द्र ! अनन्तर वह किसी एक दिन काष्ठ लानेके लिये बनमें गये और बहुतसा काष्ठ उठाकर लाये ॥ ८ ॥

स तु भाराभिभूतात्मा काष्ठभारमरिंदम ।
निष्पिपेष क्षितौ राजन्परिश्रान्तो बुभुक्षितः ॥ ९ ॥

हे शत्रुदमन ! उन्होंने काष्ठभारसे अभिभूत, परिश्रान्त और भूखे होनेसे काष्ठका बोझा पृथ्वीपर फेंका ॥ ९ ॥

तस्य काष्ठे विलग्नाभूज्जटा रूप्यसमप्रभा ।
ततः काष्ठैः सह तदा पपात धरणीतले ॥ १० ॥

उस समय उनकी रौप्यसदृश प्रभाशालिनी जटा काष्ठमें फंस गई थी, इससे वह काष्ठके सहित जमीनपर गिर पडे ॥ १० ॥

ततः स भारनिष्पिष्टः क्षुधाविष्टश्च भार्गवः ।
दृष्ट्वा तां वयसोऽवस्थां रुरोदार्तस्वरं तदा ॥ ११ ॥

हे भारत ! जब क्षुधासे व्याकुल उत्तंक काष्ठभारसे पीडित होके पृथ्वीपर गिरे, उस समय अपनी शरीरकी इतनी वृद्ध अवस्था देखकर वे आर्तस्वरसे रोदन करने लगे ॥ ११ ॥

ततो गुरुसुता तस्य पद्मपत्रनिभेक्षणा ।
जग्राहाश्रूणि सुश्रोणी करेण पृथुलोचना ।
पितुर्नियोगाद्धर्मज्ञा शिरसावनता तदा ॥ १२ ॥

तब कमलपत्रसम बिशाल आंखोंवाली, सुंदर कटिवाली धर्मज्ञ गुरुपुत्रीने पिताकी आज्ञानुसार सिर नीचा करके वह अश्रुजल अपने हाथोंमें ग्रहण किया ॥ १२ ॥

तस्या निपेततुर्दग्धौ करौ तैरश्रुबिन्दुभिः ।
न हि तानश्रुपातान्वै शक्ता धारयितुं मही ॥ १३ ॥

वह अश्रुजल उसके दोनों हाथोंको जलाते हुए पृथ्वीपर गिरा; पृथ्वी भी गिरते हुए उस अश्रुधाराको धारण न कर सकी ॥ १३ ॥

गौतमस्त्वब्रवीद्विप्रमुत्तङ्कं प्रीतमानसः ।
कस्मात्तात तवाद्येह शोकोत्तरमिदं मनः ।
स स्वैरं ब्रूहि विप्रर्षे श्रोतुमिच्छामि ते वचः ॥ १४ ॥

उस समय गौतमने प्रसन्नचित्तसे उत्तङ्क विप्रसे कहा, हे तात ! आज तुम्हारा मन शोकातुर क्यों हुआ है ? हे विप्रर्षि ! तुम धीरे धीरे मेरे समीप निःसंकोच होकर यथार्थ रीतिसे कहो, मैं इस विषयको सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ १४ ॥

उत्तङ्क उवाच—

भवद्गतेन मनसा भवत्प्रियचिकीर्षया ।
भवद्भक्तिगतेनेह भवद्भावानुगेन च ॥ १५ ॥

उत्तङ्क बोले– मेरा मन आपमें लगा रहनेसे, आपकेही प्रियकर्ममें दत्तचित्त होनेसे, मैं आपकी सेवाभक्तिमें संलग्न रहा, मेरा भाव आपहीमें रहा है ॥ १५ ॥

जरेयं नावबुद्धा मे नाभिज्ञातं सुखं च मे ।
शतवर्षोषितं हि त्वं न मामभ्यनुजानथाः ॥ १६ ॥

आपकी भक्तिमें रहकर मुझे आये हुए बुढापाका पता नहीं लगा और मैंने सुखको भी नहीं जाना ! मैं जो इस स्थानमें सौ बर्षसे बास करता हूं, तो भी आपने मुझे घर जानेकी अनुमति नहीं दी ॥ १६ ॥

भवता ह्यभ्यनुज्ञाताः शिष्याः प्रत्यवरा मया ।
उपपन्ना द्विजश्रेष्ठ शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १७ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! सैकडों तथा हजारों शिष्य मेरे बाद आपके पास आकर अध्ययन पूरा करके आपकी आज्ञा लेकर चले गये ॥ १७ ॥

गौतम उवाच—

त्वत्प्रीतियुक्तेन मया गुरुशुश्रूषया तव ।
व्यतिक्रामन्महाकालो नावबुद्धो द्विजर्षभ ॥ १८ ॥

गौतम बोले– हे द्विजर्षभ ! तुम्हारी गुरुसेवासे तुमपर मेरा अधिक प्रेम हो गया; इसलिये मैं यह न जान सका, कि इतना अधिक समय किस प्रकार व्यतीत हुआ है ॥ १८ ॥

किं त्वद्य यदि ते श्रद्धा गमनं प्रति भार्गव ।
अनुज्ञां गृह्य मत्तस्त्वं गृहान्गच्छस्व मा चिरम् ॥ १९ ॥

हे भार्गव ! यदि आज तुम्हें गृहपर जानेकी अभिलाषा हो, तो मैं तुम्हें आज्ञा देता हूं, तुम शीघ्र निज गृहपर जाओ ॥ १९ ॥

उत्तङ्क उवाच—

गुर्वर्थं कं प्रयच्छामि ब्रूहि त्वं द्विजसत्तम ।
तमुपाकृत्य गच्छेयमनुज्ञातस्त्वया विभो ॥ २० ॥

उत्तङ्क बोले– हे द्विजसत्तम ! कहिये, मैं आपको क्या गुरु दक्षिणा दूं ? हे विभु ! उसे आपको अर्पण करके आपकी आज्ञा लेकर घरको जाऊंगा ॥ २० ॥

गौतम उवाच—

दक्षिणा परितोषो वै गुरुणां सद्भिरुच्यते ।
तव ह्याचरतो ब्रह्मंस्तुष्टोऽहं वै न संशयः ॥ २१ ॥

गौतम बोले– हे ब्रह्मन् ! ऐसा पण्डित लोग कहा करते हैं कि गुरुजनोंका संतोष ही दक्षिणा है; इसलिये मैं तुम्हारे सेवा-सदाचारसे ही परितुष्ट हुआ हूं। इसमें संशय नहीं है ॥ २१ ॥

इत्थं च परितुष्टं मां विजानीहि भृगूद्वह ।
युवा षोडशवर्षो हि यदद्य भविता भवान् ॥ २२ ॥

हे भृगूद्वह ! इस तरह तुम मुझे परितुष्ट जानो। यदि आज तुम षोडशवर्षीय युवा होते ॥२२॥

ददामि पत्नीं कन्यां च स्वां ते दुहितरं द्विज ।
एतामृते हि नान्या वै त्वत्तेजोऽर्हति सेवितुम् ॥ २३ ॥

तो मैं अपनी कुमारी कन्या तुम्हें पत्नीरूपसे अर्पण करता; इस कन्याके अतिरिक्त दूसरी कोई भी तुम्हारे तेजको धारण करनेमें समर्थ न होगी ॥ २३ ॥

ततस्तां प्रतिजग्राह युवा भूत्वा यशस्विनीम् ।
गुरुणा चाभ्यनुज्ञातो गुरुपत्नीमथाब्रवीत् ॥ २४ ॥

अनन्तर उत्तङ्क मुनिने युवा होकर उस यशस्विनी गुरुकी कन्याका पाणिग्रहण किया। फिर गुरुकी आज्ञानुसार वे गुरुपत्नीसे बोले ॥ २४ ॥

किं भवत्यै प्रयच्छामि गुर्वर्थं विनियुङ्क्ष्व माम् ।
प्रियं हि तव काङ्क्षामि प्राणैरपि धनैरपि ॥ २५ ॥

तुम्हें मैं क्या गुरुदक्षिणा दूं ? उसके लिये मुझे आज्ञा करो; मैं प्राण और धनसे तुम्हारे प्रियकी आकांक्षा करता हूं ॥ २५ ॥

यद्दुर्लभं हि लोकेऽस्मिन्रत्नमत्यद्भुतं भवेत् ।
तदानयेयं तपसा न हि मेऽत्रास्ति संशयः ॥ २६ ॥

इस लोकमें जो रत्न अत्यन्त दुर्लभ और अद्भुत है, मैं तपोबलसे निःसंदेह उसे लाऊंगा ॥ २६ ॥

अहल्योवाच—

परितुष्टास्मि ते पुत्र नित्यं भगवता सह ।
पर्याप्तये तद्भद्रं ते गच्छ तात यथेच्छकम् ॥ २७ ॥

अहल्या बोली— हे पुत्र ! मैं तुम्हारे ऊपर भगवान्के साथही सदा परितुष्ट रही हूं, यह भक्ति ही यथेष्ट हुई है । हे तात ! तुम्हारा मङ्गल हो, तुम इच्छानुसार गमन करो ॥२७॥

वैशम्पायन उवाच—

उत्तङ्कस्तु महाराज पुनरेवाब्रवीद्वचः ।
आज्ञापयस्व मां मातः कर्तव्यं प्रियं तव ॥ २८ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— महाराज ! उत्तंकने गुरुपत्नीकी बात सुन कर फिर कहा— हे माता ! मुझे आज्ञा कीजिये—मुझे आपका कौनसा प्रिय कार्य करना होगा ? ॥ २८ ॥

अहल्योवाच—

सौदासपत्न्या विदिते दिव्ये वै मणिकुण्डले ।
ते समानय भद्रं ते गुर्वर्थः सुकृतो भवेत् ॥ २९ ॥

अहल्या बोली— सौदास राजाकी भार्या जो दो दिव्य मणिमय कुण्डल पहरती हैं, तुम वेही कुण्डल ले आओ; तुम्हारा मङ्गल हो और ऐसा करनेसे गुरुदक्षिणा सिद्ध होगी ॥ २९ ॥

स तथेति प्रतिश्रुत्य जगाम जनमेजय ।
गुरुपत्नीप्रियार्थं वै ते समानयितुं तदा ॥ ३० ॥

हे जनमेजय ! उत्तंक मुनि "वही करूंगा" ऐसी प्रतिज्ञा करके, गुरुपत्नीका प्रिय करनेके निमित्त कुण्डलोंको लानेके लिये चले ॥ ३० ॥

स जगाम ततः शीघ्रमुत्तङ्को ब्राह्मणर्षभः ।
सौदासं पुरुषादं वै भिक्षितुं मणिकुण्डले ॥ ३१ ॥

अनन्तर ब्राह्मणश्रेष्ठ उत्तंक शीघ्र ही मनुष्यभक्षक राजा सौदाससे मणिमय कुण्डलोंकी भिक्षा मांगनेके लिये निकले ॥ ३१ ॥

गौतमस्त्वब्रवीत्पत्नीमुत्तङ्को नाद्य दृश्यते ।
इति पृष्टा तमाचष्ट कुण्डलार्थं गतं तु वै ॥ ३२ ॥

गौतमने निज पत्नी अहल्यासे पूछा, कि आज उत्तंक क्यों नहीं दिखाई देता ? अहल्याने गौतमका वचन सुनके कहा, कि उत्तंक कुण्डल लानेके निमित्त गये हैं ॥ ३२ ॥

ततः प्रोवाच पत्नीं स न ते सम्यगिदं कृतम्।
शप्तः स पार्थिवो नूनं ब्राह्मणं तं वधिष्यति ॥ ३३ ॥

तिसके अनन्तर गौतमने पत्नीसे कहा, कि तुमने यह अच्छा कार्य नहीं किया; क्यों कि वह राजा सौदास शापित हुआ है, अतः वह निश्चय ही ब्राह्मणका वध करेगा ॥ ३३ ॥

अहल्योवाच—

अजानन्त्या नियुक्तः स भगवन्ब्राह्मणोऽद्य मे।
भवत्प्रसादान्न भयं किंचित्तस्य भविष्यति ॥ ३४ ॥

अहल्या बोली– हे भगवन् ! मैंने विना जाने उस ब्राह्मणको आज ऐसा काम कहा है; परन्तु आपके प्रसादसे उत्तंकको कुछ भी भय उपस्थित न होगा ॥ ३४ ॥

इत्युक्तः प्राह तां पत्नीमेवमस्त्विति गौतमः।
उत्तङ्कोऽपि वने शून्ये राजानं तं ददर्श ह ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५५ ॥ १५५८ ॥

गौतम अहल्याका ऐसा बचन सुनके उससे बोले, तुमने जो कहा, वही होवे। इधर उत्तंकने भी निर्जन वनके बीच राजाको देखा ॥ ३५ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें पचपनवां अध्याय समाप्त ॥ ५५ ॥ १५५८ ॥

: ५६ :

वैशम्पायन उवाच—

स तं दृष्ट्वा तथाभूतं राजानं घोरदर्शनम्।
दीर्घश्मश्रुधरं नृणां शोणितेन समुक्षितम्। ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– उत्तंक मुनि बहुत बडी मूंछ और दाढीवाले, मनुष्योंके रक्तसे रंगे हुए, अत्यंत भयंकर दीखनेवाले राजा सौदासको देखकर ॥ १ ॥

चकार न व्यथां विप्रो राजा त्वेनमथाब्रवीत्।
प्रत्युत्थाय महातेजा भयकर्ता यमोपमः ॥ २ ॥

व्यथित न हुए; परन्तु महातेजस्वी, यमसदृश भयप्रद राजा सौदास उन्हें देखतेही उठकर खडे होगये और उस ब्राह्मणको बोले–॥ २ ॥

दिष्ट्या त्वमसि कल्याण षष्ठे काले ममान्तिकम्।
भक्षं मृगयमाणस्य संप्राप्तो द्विजसत्तम ॥ ३ ॥

हे द्विजसत्तम ! मैं भक्ष्य खोज रहा था; तुम प्रारब्धसे ही दिनके छठे भागमें मेरे निकट आके उपस्थित हुए हो ॥ ३ ॥

उत्तंक उवाच—

राजन्गुर्वर्थिनं विद्धि चरन्तं मामिहागतम् ।
न च गुर्वर्थमुद्युक्तं हिंस्यमाहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

उत्तंक बोले— हे राजन् ! मैं गुरुदक्षिणाके निमित्त धन मांगनेके लिये इस स्थानमें घूमता आया हूं, मुझे गुरुके लिये अर्थप्रार्थी जानो। मनीषिवृन्द गुरुदक्षिणाके निमित्त उद्युक्त मनुष्यको अवध्य कहा करते हैं ॥ ४ ॥

राजोवाच—

षष्ठे काले ममाहारो विहितो द्विजसत्तम ।
न च शक्यः समुत्स्रष्टुं क्षुधितेन मयाद्य वै ॥ ५ ॥

राजा बोला— हे द्विजसत्तम ! दिनके छठे भागमें मेरे लिये आहारका समय नियुक्त किया गया है; मैं अत्यन्त ही भूखा हूं, इसलिये आज तुम मेरे हाथोंसे छूट नहीं सकते ॥ ५ ॥

उत्तङ्क उवाच—

एवमस्तु महाराज समयः क्रियतां तु मे ।
गुर्वर्थमभिनिर्वर्त्य पुनरेष्यामि ते वशम् ॥ ६ ॥

उत्तंक बोले— हे महाराज ! आप जो अभिलाषा करते हैं, वही होगा; परन्तु आप मेरे साथ एक शर्त करिये। मैं गुरुदक्षिणाका कार्य पूरा करके फिर तुम्हारे अधिकारमें आऊंगा ॥६॥

संश्रुतश्च मया योऽर्थो गुरवे राजसत्तम ।
त्वदधीनः स राजेन्द्र तं त्वा भिक्षे नरेश्वर ॥ ७ ॥

हे राजसत्तम ! मैंने जो वस्तु गुरुको दान करनेके निमित्त प्रतिज्ञा की है, वह तुम्हारे ही आधीन है; नरेश्वर ! इसलिये मैं उसकी तुम्हारे निकट भिक्षा मांगता हूं ॥ ७ ॥

ददासि विप्रमुख्येभ्यस्त्वं हि रत्नानि सर्वशः ।
दाता त्वं च नरव्याघ्र पात्रभूतः क्षिताविह ।
पात्रं प्रतिग्रहे चापि विद्धि मां नृपसत्तम ॥ ८ ॥

हे नरव्याघ्र ! आप ब्राह्मणश्रेष्ठोंको सर्वतोपरि रत्नोंका दान करते हैं। इस पृथ्वीके बीच आप दाताके रूपमें प्रसिद्ध हैं और मैं दान लेनेके पात्र हूं। हे नृपसत्तम ! मुझे प्रतिग्रहका योग्य समझो ॥ ८ ॥

उपाकृत्य गुरोरर्थं त्वदायत्तमरिंदम ।
समयेनेह राजेन्द्र पुनरेष्यामि ते वशम् ॥ ९ ॥

हे शत्रुदमन राजेन्द्र ! आपके निकटसे वह अर्थ गुरुके निमित्त ले जाकर उन्हें अर्पण करके, मैं प्रतिज्ञाके अनुसार फिर आपके वशमें होऊंगा ॥ ९ ॥

+

सत्यं ते प्रतिजानामि नात्र मिथ्यास्ति किंचन ।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ॥ १० ॥

हे राजन् ! मैं आपसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूं, इसमें कुछ भी असत्य नहीं है; क्यों कि मैंने इच्छापूर्वक पहले कभी मिथ्या वचन नहीं कहा है; फिर दूसरे अवसरोंपर कैसे बोलूंगा ? ॥ १० ॥

सौदास उवाच—

यदि मत्तस्त्वदायत्तो गुर्वर्थः कृत एव सः ।
यदि चास्मि प्रतिग्राह्यः सांप्रतं तद्ब्रवीहि मे ॥ ११ ॥

सौदास बोले— यदि तुम्हारी गुरुदक्षिणा मेरे अधीन है, तो उसे मिली हुई ऐसी मानो । आप मेरी कोई वस्तु लेनेके योग्य मानते हैं तो मुझे कहिये, मैं क्या दूं ? ॥ ११ ॥

उत्तङ्क उवाच—

प्रतिग्राह्यो मतो मे त्वं सदैव पुरुषर्षभ ।
सोऽहं त्वामनुसंप्राप्तो भिक्षितुं मणिकुण्डले ॥ १२ ॥

उत्तंक बोले— हे पुरुषर्षभ ! आप मुझे सदा ही पतिग्राह्य कहके अभिमत हुए हैं; इसही निमित्त मैं आपके निकट मणिकुण्डल मांगनेके लिये आया हूं ॥ १२ ॥

सौदास उवाच—

पत्न्यास्ते मम विप्रर्षे रुचिरे मणिकुण्डले ।
वरयार्थं त्वमन्यं वै तं ते दास्यामि सुव्रत ॥ १३ ॥

सौदास बोले— हे विप्र ! वे सुंदर मणिमय कुण्डल मेरी स्त्रीके हैं, मुझे उसे दान करनेका अधिकार नहीं है; सुव्रत ! इसलिये और कुछ वस्तु मांगिये, मैं उसे ही दान करूंगा ॥ १३ ॥

उत्तङ्क उवाच—

अलं ते व्यपदेशेन प्रमाणं यदि ते वयम् ।
प्रयच्छ कुण्डले मे त्वं सत्यवाग्भव पार्थिव ॥ १४ ॥

उत्तंक बोले— हे पार्थिव ! यदि मुझपर आपका विश्वास हुआ हो, तो आप अब व्यर्थ छल न करके मुझे वे दोनों मणिमय कुण्डल प्रदान करके सत्यवादी होइये ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्तस्त्वब्रवीद्राजा तमुत्तङ्कं पुनर्वचः ।
गच्छ मद्वचनाद्देवीं ब्रूहि देहीति सत्तम ॥ १५ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— राजा उत्तंकका ऐसा वचन सुनके फिर उनसे बोला— हे सत्तम ! मेरे वचनके अनुसार मेरी पत्नीके निकट जाकर कहो, कि आप मुझे कुण्डल प्रदान करिये ॥ १५ ॥

सैवमुक्ता त्वया नूनं मद्वाक्येन शुचिस्मिता ।
प्रदास्यति द्विजश्रेष्ठ कुण्डले ते न संशयः ॥ १६ ॥

हे द्विजवर ! मेरे वचनके अनुसार वह मेरी शुचिस्मिता भार्या तुम्हारा ऐसा वचन सुनके निश्चय ही तुम्हें कुण्डल प्रदान करेगी । इसमें संशय नहीं है ॥ १६ ॥

उत्तङ्क उवाच—

क्व पत्नी भवतः शक्या मया द्रष्टुं नरेश्वर ।
स्वयं वापि भवान्पत्नीं किमर्थं नोपसर्पति ॥ १७ ॥

उत्तंक बोले— हे नरेश्वर ! मैं आपकी पत्नीको कहां देखूंगा ? आप स्वयं अपनी भार्याके निकट किस लिये नहीं जाते हैं ? ॥ १७ ॥

सौदास उवाच—

द्रक्ष्यते तां भवानद्य कस्मिंश्चिद्वननिर्झरे ।
षष्ठे काले न हि मया सा शक्या द्रष्टुमद्य वै ॥ १८ ॥

सौदास बोले— आज बनमें किसी झरनेके समीप उसे आप देखोगे । मैं आज दिनके छठे भागमें उसे न देख सकूंगा ॥ १८ ॥

उत्तङ्कस्तु तथोक्तः स जगाम भरतर्षभ ।
मदयन्तीं च दृष्ट्वा सोऽज्ञापयत्स्वं प्रयोजनम् ॥ १९ ॥

भरतर्षभ ! उत्तंकने राजाका ऐसा बचन सुनके वहांसे जाकर बनके बीच सौदासकी भार्या मदयन्तीको देखा और उसे सौदासके वचनके अनुसार अपना प्रयोजन सुनाया ॥ १९ ॥

सौदासवचनं श्रुत्वा ततः सा पृथुलोचना ।
प्रत्युवाच महाबुद्धिमुत्तङ्कं जनमेजय ॥ २० ॥

जनमेजय ! राजा सौदासका संदेश सुनकर बिशाललोचना रानीने महाबुद्धिमान् उत्तंकको इस प्रकार कहा ॥ २० ॥

एवमेतन्महाब्रह्मन्नानृतं वदसेऽनघ ।
अभिज्ञानं तु किंचित्त्वं समानेतुमिहार्हसि ॥ २१ ॥

हे ब्रह्मन् ! अनघ ! आपने जो कहा, वह सत्य है । आप असत्य नहीं बोलते हैं, परन्तु इस बिषयमें आपको कोई प्रमाण लाना उचित है ॥ २१ ॥

इमे हि दिव्ये मणिकुण्डले मे देवाश्च यक्षाश्च महोरगाश्च ।
तैस्तैरुपायैः परिहर्तुकामाश्छिद्रेषु नित्यं परितर्कयन्ति ॥ २२ ॥

देवता, यक्ष और सर्पगण अनेक प्रकारके उपायोंके सहारे मेरे इन दिव्य मणिमय कुण्डलोंको हरनेकी अभिलाषासे सदा छिद्र अन्वेषण करते हैं ॥ २२ ॥

निक्षिप्तमेतद्भुवि पन्नगास्तु रत्नं समासाद्य परामृषेयुः ।
यक्षास्तथोच्छिष्टधृतं सुराश्च निद्रावशं त्वा परिधर्षयेयुः ॥ २३ ॥

यदि ये रत्न पृथ्वीपर रख दिये जाय तो सर्पगण इसे हडप लेंगे; अपवित्र अवस्थामें धारण करनेसे यक्षगण उडा ले जायंगे और निद्रावस्थामें इन्हें धारण करनेसे देववृन्द बलपूर्वक हरण किया करते हैं ॥ २३ ॥

छिद्रेष्वेतेषु हि सदा ह्यधृष्येषु द्विजर्षभ ।
देवराक्षसनागानामप्रमत्तेन धार्यते ॥ २४ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! इन सब छिद्रोंके उपस्थित होनेपर इन कुण्डलोंके खो जानेका सदा भय रहता है । देवता, राक्षस और सर्पोंकी ओरसे जो सावधान रहता है, वही इन्हें धारण कर सकता है ॥ २४ ॥

स्यन्देते हि दिवा रुक्मं रात्रौ च द्विजसत्तम ।
नक्तं नक्षत्रताराणां प्रभामाक्षिप्य वर्तते ॥ २५ ॥

हे द्विजवर ! मेरे इन दिव्य कुण्डलोंसे रात दिन सुवर्ण झरता है और रात्रिसमयमें ये नक्षत्रों तथा तारोंकी प्रभा आकर्षित करके निवास करते हैं ॥ २५ ॥

एते ह्यामुच्य भगवन्क्षुत्पिपासाभयं कुतः ।
विषाग्निश्वापदेभ्यश्च भयं जातु न विद्यते ॥ २६ ॥

हे भगवन् ! इन कुण्डलोंको धारण करनेसे मनुष्य भूखप्याससे पीडित नहीं होता । इतना ही नहीं; वरन विष, अग्नि तथा अन्यान्य भयजनक जन्तुओंसे भी उसे कभी भय नहीं होता ॥ २६ ॥

ह्रस्वेन चैते आमुक्ते भवतो ह्रस्वके तदा ।
अनुरूपेण चामुक्ते तत्प्रमाणे हि जायतः ॥ २७ ॥

थोडी अवस्थावाला मनुष्य इन्हें धारण करे, तो उनकी प्रकृत अवस्था ही रहती है और बडी अवस्थावाले मनुष्यके पहननेपर उसीके अनुरूप बडे होजाते हैं ॥ २७ ॥

एवंविधे ममैते वै कुण्डले परमार्चिते ।
त्रिषु लोकेषु विख्याते तदभिज्ञानमानय ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि षट्पञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५६ ॥ १५८६ ॥

ऐसे गुणोंसे युक्त होनेके कारण मेरे इन परम पूजित मणिमय कुण्डलोंके गुण तीनों लोकोंके बीच विख्यात है, इसलिये आप उसका अभिज्ञान ले आइये ॥ २८ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें छप्पनवां अध्याय समाप्त ॥ ५६ ॥ १५८६ ॥

: ५७ :

वैशम्पायन उवाच—

स मित्रसहमासाद्य त्वभिज्ञानमयाचत ।
तस्मै ददावभिज्ञानं स चेक्ष्वाकुवरस्तदा ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— उत्तंक मुनिने मित्रतापूर्वक सौदासके निकट जाकर अभिज्ञानके निमित्त प्रार्थना की; तब उस इक्ष्वाकुश्रेष्ठ सौदासने उन्हें यह वाक्यरूपी अभिज्ञान प्रदान किया ॥ १ ॥

सौदास उवाच—

न चैवैषा गतिः क्षेम्या न चान्या विद्यते गतिः ।
एतन्मे मतमाज्ञाय प्रयच्छ मणिकुण्डले ॥ २ ॥

सौदास बोले— हमारे लिये यह राक्षसयोनिरूपी गति मङ्गलकारी नहीं है, तथा इस कुण्डलदानकी अपेक्षा मुक्तिरूपी गति और कुछ भी नहीं है, इसलिये तुम मेरा ऐसा मत जानके इन्हें मणिमय कुण्डल प्रदान करो ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्तस्तामुत्तङ्कस्तु भर्तुर्वाक्यमथाब्रवीत् ।
श्रुत्वा च सा ततः प्रादात्तस्मै ते मणिकुण्डले ॥ ३ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— उत्तंकने सौदासका ऐसा वचन सुनके सौदासपत्नीको उसके स्वामीका वचन सुनाया; उसने स्वामीका वचन सुनके उत्तंकको वे मणिमय कुण्डल प्रदान किये ॥ ३ ॥

अवाप्य कुण्डले ते तु राजानं पुनरब्रवीत् ।
किमेतद्गुह्यवचनं श्रोतुमिच्छामि पार्थिव ॥ ४ ॥

उत्तंक वे मणिमय कुण्डल पाके फिर राजासे बोले, हे महाराज ! आपके इस गुप्त वाक्यका क्या अर्थ है ? मैं उसे सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ ४ ॥

सौदास उवाच—

प्रजा निसर्गाद्विप्रान्वै क्षत्रियाः पूजयन्ति ह ।
विप्रेभ्यश्चापि बहवो दोषाः प्रादुर्भवन्ति नः ॥ ५ ॥

सौदास बोले— क्षत्रिय लोग सृष्टिके प्रारम्भकालसे ब्राह्मणकी पूजा किया करते हैं, तो भी ब्राह्मणोंकी ओरसे क्षत्रियादिके लिये बहुतसे दोष प्रकट होते हैं ॥ ५ ॥

सोऽहं द्विजेभ्यः प्रणतो विप्राद्दोषमवाप्तवान् ।
गतिमन्यां न पश्यामि मदयन्तीसहायवान् ।
स्वर्गद्वारस्य गमने स्थाने चेह द्विजोत्तम ॥ ६ ॥

मैं ब्राह्मणोंको प्रणाम करता था, परंतु एक ब्राह्मणके शापसे मुझे यह दोष– दुर्गति प्राप्त हुई है । मैं अपनी भार्या मदयन्तीके सहित यहां रहता हूं; इसके अतिरिक्त और गति मुझे कुछ नहीं दिखाई देती है । द्विजोत्तम ! इस लोकमें सुखभोग तथा स्वर्गद्वारमें गमन करनेका भी दूसरा उपाय नहीं दिखाई देता है ॥ ६ ॥

न हि राज्ञा विशेषेण विरुद्धेन द्विजातिभिः ।
शक्यं नृ लोके संस्थातुं प्रेत्य वा सुखमेधितुम् ॥ ७ ॥

राजा चाहे कितनाही ऐश्वर्यशाली क्यों न हो, विशेषरूपसे द्विजातियोंके सङ्ग विरोध करनेसे वह इस लोकमें निवास तथा परलोकमें सुख भोग करनेमें समर्थ नहीं होता ॥ ७ ॥

तदिष्टे ते मयैवैते दत्ते स्वे मणिकुण्डले ।
यः कृतस्तेऽद्य समयः सफलं तं कुरुष्व मे ॥ ८ ॥

इस ही कारण मैंने तुम्हारे अभिलषित अपने मणिमय कुण्डल तुम्हें प्रदान किये हैं; परन्तु आज आपने मेरे समीप जो प्रतिज्ञा की है, उसे सफल करना ॥ ८ ॥

उत्तंक उवाच—

राजंस्तथेह कर्तास्मि पुनरेष्यामि ते वशम् ।
प्रश्नं तु कंचित्प्रष्टुं त्वां व्यवसिष्ये परंतप ॥ ९ ॥

उत्तंक बोले– हे महाराज ! मैं फिर आपके निकट आके अपने अङ्गिकार किये हुए बचनको सफल करूंगा । हे परन्तप ! परन्तु मैं आपसे कुछ प्रश्न पूंछके यहांसे निवृत्त होता हूं ॥ ९ ॥

सौदास उवाच—

ब्रूहि विप्र यथाकामं प्रतिवक्तास्मि ते वचः ।
छेत्तास्मि संशयं तेऽद्य न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ १० ॥

सौदास बोले– हे विप्र ! आपकी जो इच्छा हो, मुझसे वही विषय पूछिये, मैं आपके प्रश्नका उत्तर दूंगा और बिना विचारे आज आपका सब सन्देह दूर करूंगा ॥ १० ॥

उत्तंक उवाच—

प्राहुर्वाक्संगतं मित्रं धर्मनैपुणदर्शिनः ।
मित्रेषु यश्च विषमः स्तेन इत्येव तं विदुः ॥ ११ ॥

उत्तंक बोले– धर्म जाननेवाले पण्डितगण सुयोग्य बोलनेवाले मनुष्यको मित्र कहा करते हैं, और जो मित्रोंके साथ विषमचित्तवाला होता है, उसे तस्कर समझते हैं ॥ ११ ॥

स भवान्मित्रतामद्य संप्राप्तो मम पार्थिव ।
स मे बुद्धिं प्रयच्छस्व समां बुद्धिमतां वर ॥ १२ ॥

हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ पार्थिव ! आज आप मेरे मित्र हुए हैं, इसलिये आप मुझे सरल सलाह दीजिये ॥ १२ ॥

अवाप्तार्थोऽहमद्येह भवांश्च पुरुषादकः ।
भवत्सकाशमागन्तुं क्षमं मम न वेति वा ॥ १३ ॥

आज मैंने यहां आपके निकट धन पाया है, आप नरभक्षी राक्षस हैं; इसलिये मुझे बतलाइये, कि फिर आपके समीप मुझे आना योग्य है, वा नहीं ? ॥ १३ ॥

सौदास उवाच—

क्षमं चेदिह वक्तव्यं मया द्विजवरोत्तम ।
मत्समीपं द्विजश्रेष्ठ नागन्तव्यं कथंचन ॥ १४ ॥

सौदास बोले— हे द्विजवर ! इस स्थलमें जो करना योग्य है, वह मैं आपसे कहता हूं; आप मेरे निकट कदापि न आना ॥ १४ ॥

एवं तव प्रपश्यामि श्रेयो भृगुकुलोद्वह ।
आगच्छतो हि ते विप्र भवेन्मृत्युरसंशयम् ॥ १५ ॥

हे भृगुकुलोद्वह ! मेरे निकट न आनाही तुम्हारे लिये कल्याणकारी है, यह मैं देखता हूं । यदि आप आयेंगे, तो निश्चयही आपकी मृत्यु होगी ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्तः स तदा राज्ञा क्षमं बुद्धिमता हितम् ।
समनुज्ञाप्य राजानमहल्यां प्रति जग्मिवान् ॥ १६ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— जब बुद्धिमान् राजा सौदासने उत्तंकसे ऐसा योग्य तथा हितकर वचन कहा, तब उनकी आज्ञा लेकर उत्तंक मुनि अहल्याके निकट जानेके लिये निकले ॥ १६ ॥

गृहीत्वा कुण्डले दिव्ये गुरुपत्न्याः प्रियंकरः ।
जवेन महता प्रायाद्गौतमस्याश्रमं प्रति ॥ १७ ॥

गुरुपत्नीका प्रिय करनेवाले उत्तंक दोनों दिव्य मणिमय कुण्डल लेकर महावेगपूर्वक गौतमके आश्रमकी ओर गये ॥ १७ ॥

यथा तयो रक्षणं च मदयन्त्याभिभाषितम् ।
तथा ते कुंडले बद्ध्वा तथा कृष्णाजिनेऽनयत् ॥ १८ ॥

मदयन्तीने उन कुण्डलोंकी रक्षाका जिस प्रकार उपाय कहा था, उसही भांति उन्हें कृष्णाजिनमें बांधकर वे ले जा रहे थे ॥ १८ ॥

स कस्मिंश्चित्क्षुधाविष्टः फलभारसमन्वितम् ।
बिल्वं ददर्श कस्मिंश्चिदारुरोह क्षुधान्वितः ॥ १९ ॥

मणिकुण्डल ले जाते समय रास्तेमें उन्हें अत्यन्त भूख लगी; इतनेमें फलोंके भारसे युक्त एक बेलका वृक्ष देखकर क्षुधान्वित हुए वे उस वृक्ष पर चढ ॥ १९ ॥

शाखास्वासज्य तस्यैव कृष्णाजिनमरिंदम ।
यस्मिंस्ते कुण्डले बद्धे तदा द्विजवरेण वै ॥ २० ॥

हे शत्रुदमन ! उन्होंने उस काले मृगाजिनको उस वृक्षकी एक शाखामें बांध दिया; जिसमें उन विप्रश्रेष्ठने वे दोनों कुंडल बांध रखे थे ॥ २० ॥

विशीर्णबन्धने तस्मिन्गते कृष्णाजिने महीम् ।
अपश्यद्भुजगः कश्चित्ते तत्र मणिकुण्डले ॥ २१ ॥

कृष्णाजिनका बन्धन छूट जानेसे कुण्डलोंके सहित वह काले हरिणका चर्म सहसा पृथ्वीपर गिरा; जब बन्धन छूटनेसे वह कृष्णाजिन भूमिपर गिरा, तब वहां किसी सर्पने उन मणिमय कुण्डलोंको देखा ॥ २१ ॥

ऐरावतकुलोत्पन्नः शीघ्रो भूत्वा तदा स वै ।
विदश्यास्येन वल्मीकं विवेशाथ स कुण्डले ॥ २२ ॥

अनन्तर ऐरावतवंशमें उत्पन्न हुआ वह सर्प शीघ्रताके सहित मुखमें कुण्डलोंको धारण करके एक बिलमें घुस गया ॥ २२ ॥

ह्रियमाणे तु दृष्ट्वा स कुण्डले भुजगेन ह ।
पपात वृक्षात्सोद्वेगो दुःखात्परमकोपनः ॥ २३ ॥

उत्तंक मुनि सर्पके द्वारा कुण्डलोंका अपहरण होते देखकर अत्यंत दुःखित हुए और अत्यंत कोपित होकर उद्वेगपूर्वक वृक्षसे कूद पडे ॥ २३ ॥

स दण्डकाष्ठमादाय वल्मीकमखनत्तदा ।
क्रोधामर्षाभितप्ताङ्गस्ततो वै द्विजपुंगवः ॥ २४ ॥

अनन्तर वे ब्राह्मणश्रेष्ठ उत्तङ्क क्रोध तथा अमर्षपूर्वक अत्यंत संतापित होकर दण्डकाष्ठ लेकर उस बिलको खोदते रहे ॥ २४ ॥

तस्य वेगमसह्यं तमसहन्ती वसुंधरा ।
दण्डकाष्ठाभिनुन्नाङ्गी चचाल भृशमातुरा ॥ २५ ॥

काष्ठके प्रहारसे विछिन्न कलेवरयुक्त वसुंधरा धरणीतलविदारी उत्तङ्कके असह्य वेगको न सह सकनेसे अत्यंत व्याकुल होकर हिलने लगी ॥ २५ ॥

ततः खनत एवाथ विप्रर्षेर्धरणीतलम्।
नागलोकस्य पन्थानं कर्तुकामस्य निश्चयात् ॥ २६ ॥

नागलोकमें जानेका मार्ग बनानेके लिये उत्तंक निश्चय करके पृथ्वी खोदते ही रहे थे ॥ २६ ॥

रथेन हरियुक्तेन तं देशमुपजग्मिवान्।
वज्रपाणिर्महातेजा ददर्श च द्विजोत्तमम् ॥ २७ ॥

इतनेमें महातेजस्वी वज्रपाणि इन्द्रने घोडोंसे युक्त रथपर चढके उस स्थानमें आके उत्तंकको देखा ॥ २७ ॥

स तु तं ब्राह्मणो भूत्वा तस्य दुःखेन दुःखितः।
उत्तङ्कमब्रवीत्तात नैतच्छक्यं त्वयेति वै ॥ २८ ॥

इंद्र ब्राह्मणका वेष धारण करके उत्तंकके दुःखमें दुःखी होकर उनसे बोले, कि यह तुम्हारे लिये साध्य नहीं है ॥ २८ ॥

इतो हि नागलोको वै योजनानि सहस्रशः।
न दण्डकाष्ठसाध्यं च मन्ये कार्यमिदं तव ॥ २९ ॥

नागलोक यहांसे हजारों योजन दूर है, इसलिये मुझे बोध होता है, कि आप इसे काष्ठसे साध्य नहीं कर सकेंगे ॥ २९ ॥

उत्तङ्क उवाच—

नागलोके यदि ब्रह्मन्न शक्ये कुण्डले मया।
प्राप्तुं प्राणान्विमोक्ष्यामि पश्यतस्ते द्विजोत्तम ॥ ३० ॥

उत्तंक बोले– हे ब्रह्मन्! यदि मैं नागलोकसे कुण्डलोंको पानेमें असमर्थ होऊं, तो आपके सम्मुखमें ही प्राणोंका परित्याग करूंगा ॥ ३० ॥

यदा स नाशकत्तस्य निश्चयं कर्तुमन्यथा।
वज्रपाणिस्तदा दण्डं वज्रास्त्रेण युयोज ह ॥ ३१ ॥

वज्रधारी इन्द्र जब उत्तंकको अपने निश्चयसे निवृत्त करनेमें असमर्थ हुए, तब उन्होंने उस काष्ठको निज वज्रके साथ युक्त कर दिया ॥ ३१ ॥

ततो वज्रप्रहारैस्तैर्दार्यमाणा वसुंधरा।
नागलोकस्य पन्थानमकरोज्जनमेजय ॥ ३२ ॥

जनमेजय! अनन्तर इन्द्रके वज्रके प्रहारसे विदीर्ण होकर पृथ्वीने नागलोकका पथ प्रकट किया ॥ ३२ ॥

स तेन मार्गेण तदा नागलोकं विवेश ह।
ददर्श नागलोकं च योजनानि सहस्रशः ॥ ३३ ॥

उन्होंने उस ही मार्गसे नागलोकमें प्रवेश करके सहस्रयोजनव्यापी नागलोक अवलोकन किया ॥ ३३ ॥

×

प्राकारनिचयैर्दिव्यैर्मणिमुक्ताभ्यलंकृतैः ।
उपपन्नं महाभाग शातकुम्भमयैस्तथा ॥ ३४ ॥

हे महाभाग ! वह नागलोक दिव्य मणि तथा मोतियोंसे अलंकृत और सुवर्णमय दीवारोंसे घिरा हुआ था ॥ ३४ ॥

वापीः स्फटिकसोपाना नदीश्च विमलोदकाः ।
ददर्श वृक्षांश्च बहून्नानाद्विजगणायुतान् ॥ ३५ ॥

वहां स्फटिकके द्वारा बनी हुई सीढियोंसे युक्त बावडियोंको, विमलजलयुक्त अनेक नदियोंको तथा अनेक भांतिके पक्षियोंके द्वारा परिपूरित वृक्षोंको देखा ॥ ३५ ॥

तस्य लोकस्य च द्वारं ददर्श स भृगूद्वहः ।
पञ्चयोजनविस्तारमायतं शतयोजनम् ॥ ३६ ॥

भृगुनन्दन उत्तंकने पांच योजन चौडा और सौ योजन लम्बा नागलोकका द्वार देखा ॥ ३६॥

नागलोकमुत्तङ्कस्तु प्रेक्ष्य दीनोऽभवत्तदा ।
निराशश्चाभवत्तात कुण्डलाहरणे पुनः ॥ ३७ ॥

उत्तंक मुनि उस विशाल नागलोकको देखकर दीनभावयुक्त हो गये। अब फिर कुण्डल पानेसे निराश हुए ॥ ३७ ॥

तत्र प्रोवाच तुरगस्तं कृष्णश्वेतवालधिः ।
ताम्रास्यनेत्रः कौरव्य प्रज्वलन्निव तेजसा ॥ ३८ ॥

कुरुनन्दन ! उस द्वारके स्थानमें तांबेके समान मुख, लाल नेत्र, सफेद और काले वर्णके बालवाले पूंछसे युक्त और निज तेजसे प्रज्वलित एक घोडा उत्तंकसे बोला ॥ ३८ ॥

धमस्वापानमेतन्मे ततस्त्वं विप्र लप्स्यसे ।
ऐरावतसुतेनेह तवानीते हि कुण्डले ॥ ३९ ॥

हे विप्र ! तुम इस मेरे अपानमार्गमें फूंक मारो। ऐसा कहनेसे तुम कुण्डलोंको पाओगे। ऐरावतके पुत्रने तुम्हारे कुंडल इस स्थानमें लाये हैं ॥ ३९ ॥

मा जुगुप्सां कृथाः पुत्र त्वमत्रार्थे कथंचन ।
त्वयैतद्धि समाचीर्णं गौतमस्याश्रमे तदा ॥ ४० ॥

हे पुत्र ! तुम इस अपानविषयमें कदापि निन्दा न करना; क्यों कि तुम पहले गौतमके आश्रममें ऐसा आचरण करते थे ॥ ४० ॥

उत्तङ्क उवाच—

कथं भवन्तं जानीयामुपाध्यायाश्रमं प्रति ।
यन्मया चीर्णपूर्वं च श्रोतुमिच्छामि तद्वयहम् ॥ ४१ ॥

उत्तंक बोले— गुरुदेवके आश्रमपर मैंने कभी आपको देखा है, यह मैं कैसे जान सकता हूं ? मैं पहले गुरुदेवके आश्रममें जैसा आचरण करता था, वह क्या है ? उसे सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ ४१ ॥

अश्व उवाच—

गुरोर्गुरुं मां जानीहि ज्वलितं जातवेदसम् ।
त्वया ह्यहं सदा वत्स गुरोरर्थेऽभिपूजितः ॥ ४२ ॥

अश्व बोला— हे वत्स ! मैं तुम्हारे गुरु गौतमका गुरु हूं, तुम मुझे ज्वलन्त जातवेदस् (अग्नि) जानो; तुम गुरुके प्रयोजनके निमित्त सदा मेरी पूजा करते थे ॥ ४२ ॥

सततं पूजितो विप्र शुचिना भृगुनन्दन ।
तस्माच्छ्रेयो विधास्यामि तवैवं कुरु मा चिरम् ॥ ४३ ॥

हे विप्र ! भृगुनन्दन ! सदा पवित्र और शुद्ध रहकर तुमने मेरी पूजा की है; इस ही निमित्त मैं तुम्हारे कल्याणका उपाय करूंगा । मैंने जैसा कहा, तुम शीघ्र वैसा ही करो, बिलम्ब मत करो ॥ ४३ ॥

इत्युक्तः स तथाकार्षीदुत्तङ्कश्चित्रभानुना ।
घृतार्चिः प्रीतिमांश्चापि प्रजज्वाल दिधक्षया ॥ ४४ ॥

उत्तंकने चित्रभानुका ऐसा बचन सुनके वैसा ही किया । अनंतर घृतार्चि अग्निदेव उत्तंकसे प्रसन्न होकर नागलोक जलानेकी इच्छासे प्रज्वलित हुए ॥ ४४ ॥

ततोऽस्य रोमकूपेभ्यो ध्मायमानस्य भारत ।
घनः प्रादुरभूद्धूमो नागलोकभयावहः ॥ ४५ ॥

तब वहांपर उस अश्वरूपधारी अग्निके रोमरोमसे नागलोकको भयभीत करनेवाला निबिड धूआं प्रकट हुआ ॥ ४५ ॥

तेन धूमेन सहसा वर्धमानेन भारत ।
नागलोके महाराज न प्रज्ञायत किंचन ॥ ४६ ॥

हे भारत ! उस धूआंके सहसा अत्यन्त बर्धित होनेपर नागलोकमें कुछ भी सूझ नहीं पडा ॥ ४६ ॥

हाहाकृतमभूत्सर्वमैरावतनिवेशनम् ।
वासुकिप्रमुखानां च नागानां जनमेजय ॥ ४७ ॥

जनमेजय ! अनन्तर ऐरावतनागके सारे गृहमें और वासुकि प्रभृति नागोंका हाहाकार शब्द होने लगा ॥ ४७ ॥

न प्रकाशन्त वेश्मानि धूमरुद्धानि भारत ।
नीहारसंवृतानीव वनानि गिरयस्तथा ॥ ४८ ॥

हे भारत ! उस समय नीहारावृत वन तथा पर्वतकी भांति धूएंसे परिपूरित होकर सब गृह अप्रकाशित हुए ॥ ४८ ॥

ते धूमरक्तनयना वह्नितेजोभितापिताः ।
आजग्मुर्निश्चयं ज्ञातुं भार्गवस्यातितेजसः ॥ ४९ ॥

धूएंसे नेत्र लाल तथा अग्निके तेजसे तापित होकर, सब नागोंने अमित तेजस्वी भृगुनन्दन उत्तंकका निश्चय जाननेके लिये आगमन किया ॥ ४९ ॥

श्रुत्वा च निश्चयं तस्य महर्षेस्तिग्मतेजसः ।
संभ्रान्तमनसः सर्वे पूजां चक्रुर्यथाविधि ॥ ५० ॥

उन सबने अत्यंत तेजस्वी महर्षिका निश्चय सुनके भयजनित चञ्चलतायुक्त मनसे उनकी विधिवत् पूजा की ॥ ५० ॥

सर्वे प्राञ्जलयो नागा वृद्धबालपुरोगमाः ।
शिरोभिः प्रणिपत्योचुः प्रसीद भगवन्निति ॥ ५१ ॥

नागगण हाथ जोडके बालकों तथा बूढोंको आगे करके सिर झुका प्रणाम करके बोले, हे भगवन् ! आप हम लोगोंपर प्रसन्न होइये ॥ ५१ ॥

प्रसाद्य ब्राह्मणं ते तु पाद्यमर्घ्यं निवेद्य च ।
प्रायच्छन्कुण्डले दिव्ये पन्नगाः परमार्चिते ॥ ५२ ॥

नागोंने ब्राह्मणको प्रसन्न करते हुए पाद्य और अर्घ्य देकर, वे दोनों परम पूजित दिव्य मणिमय कुण्डल उन्हें प्रदान किये ॥ ५२ ॥

ततः संपूजितो नागैस्तत्रोत्तङ्कः प्रतापवान् ।
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा जगाम गुरुसद्म तत् ॥ ५३ ॥

अनन्तर प्रतापवान् उत्तंकने नागोंके द्वारा वहांपर पूजित होकर अग्निकी प्रदक्षिणा करके गुरुके गृहपर गमन किया ॥ ५३ ॥

स गत्वा त्वरितो राजन्गौतमस्य निवेशनम् ।
प्रायच्छत्कुण्डले दिव्ये गुरुपत्न्यै तदानघ ॥ ५४ ॥

हे अनघ महाराज ! उन्होंने शीघ्र ही गुरु गौतमके गृहपर जाकर गुरुपत्नी अहल्याको वे दोनों दिव्य कुण्डल प्रदान किये ॥ ५४ ॥

एवं महात्मना तेन त्रीँल्लोकाञ्जनमेजय ।
परिक्रम्याहृते दिव्ये ततस्ते मणिकुण्डले ॥ ५५ ॥

हे जनमेजय ! वह महात्मा उत्तङ्क इस ही प्रकार त्रिलोकोंमें परिभ्रमण करके उन दिव्य मणिमय कुण्डलोंको ले आये थे ॥ ५५ ॥

एवंप्रभावः स मुनिरुत्तङ्को भरतर्षभ ।
परेण तपसा युक्तो यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि सप्तपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५७ ॥ १६४२ ॥

हे भरतर्षभ ! तुमने जिनका विषय मुझसे पूछा था, उन परम तपस्वी मुनिवर उत्तंकका ऐसा ही प्रभाव मालूम करो ॥ ५६ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें सत्तावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५७ ॥ १६४२ ॥

: ५८ :

जनमेजय उवाच—

उत्तङ्काय वरं दत्त्वा गोविन्दो द्विजसत्तम ।
अत ऊर्ध्वं महाबाहुः किं चकार महायशाः ॥ १ ॥

जनमेजय बोले— हे द्विजसत्तम ! महायशस्वी महाबाहु गोविन्दने उत्तंकको वर देकर उसके अनन्तर क्या किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच—

दत्त्वा वरमुत्तङ्काय प्रायात्सात्यकिना सह ।
द्वारकामेव गोविन्दः शीघ्रवेगैर्महाहयैः ॥ २ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— गोविन्दने उत्तंकको वर देकर सात्यकिके सहित अत्यंत वेगवान् शीघ्रगामी घोडोंसे युक्त रथपर चढके फिर द्वारकाकी ओर प्रयाण किया ॥ २ ॥

सरांसि च नदीश्चैव वनानि विविधानि च ।
अतिक्रम्य ससादाथ रम्यां द्वारवतीं पुरीम् ॥ ३ ॥

मार्गमें अनेक विध सरोवरों और नदियोंको अतिक्रम करते हुए वे रमणीय द्वारका नगरीमें पहुंचे ॥ ३ ॥

वर्तमाने महाराज महे रैवतकस्य च ।
उपायात्पुण्डरीकाक्षो युयुधानानुगस्तदा ॥ ४ ॥

हे महाराज ! उस समय रैवतक पर्वतपर एक उत्सव मनाया जाता था; पुण्डरीकाक्ष श्रीकृष्ण युयुधानके सहित वहां जा पहुंचे ॥ ४ ॥

अलंकृतस्तु स गिरिर्नानारूपविचित्रितैः ।
बभौ रुक्ममयैः कोशैः सर्वतः पुरुषर्षभ ॥ ५ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! वह गिरिवर रैवतक अनेक विचित्र वर्णोंमें अलंकृत तथा सुवर्णमय कोषोंसे पूरित चारों ओरसे शोभित हो रहा था ॥ ५ ॥

काञ्चनस्रग्भिरग्र्याभिः सुमनोभिस्तथैव च ।
वासोभिश्च महाशैलः कल्पवृक्षैश्च सर्वशः ॥ ६ ॥

उत्तम सुवर्णमय मालाओं, मनोहर पुष्पों, वस्त्रों और कल्पवृक्षोंसे वह महान् शैल सब ओरसे घिरकर शोभायमान दीखता था ॥ ६ ॥

दीपवृक्षैश्च सौवर्णैरभीक्ष्णमुपशोभितः ।
गुहानिर्झरदेशेषु दिवाभूतो बभूव ह ॥ ७ ॥

तथा अनेक प्रकारके सुवर्णमय दीपवृक्षसे सुशोभित होनेसे उसकी गुफाओं तथा निर्झरोंके स्थान दिनकी भांति प्रकाशित होने लगे ॥ ७ ॥

पताकाभिर्विचित्राभिः सघण्टाभिः समन्ततः ।
पुंभिः स्त्रीभिश्च संघुष्टः प्रगीत इव चाभवत्
अतीव प्रेक्षणीयोऽभून्मेरुर्मुनिगणैरिव ॥ ८ ॥

चारों ओर घण्टायुक्त विचित्र पताकाएं घण्टानादसे फहरा रही थीं और स्त्रीपुरुषोंके समूहसे परिपूरित होकर वह पर्वत मानो उत्तम गीतमय प्रतीत हुआ । मुनिगणोंसे मेरुकी जैसी शोभा होती है, उसी प्रकार वह पर्वत अत्यंत प्रेक्षणीय हो गया था ॥ ८ ॥

मत्तानां हृष्टरूपाणां स्त्रीणां पुंसां च भारत ।
गायतां पर्वतेन्द्रस्य दिवस्पृगिव निःस्वनः ॥ ९ ॥

प्रमत्त तथा हर्षित होकर गानेवाले स्त्री-पुरुषोंकी मधुर आवाज मानो स्वर्गलोक स्पर्शी हो रही थी ॥ ९ ॥

प्रमत्तमत्तसंमत्तक्ष्वेडितोत्कृष्टसंकुला ।
तथा किलकिलाशब्दैर्भूरऽभूत्सुमनोहरा ॥ १० ॥

प्रमत्त, मत्त और सम्मत्त होकर गूंजनेवाले लोगोंके उत्कट कोलाहलकी आवाजसे तथा किलकिल शब्दसे वह स्थान परिपूरित हो गया; उस समय वह पर्वत इन शब्दोंसे गूंजता हुआ, अत्यंत मनोहर हो गया ॥ १० ॥

विपणापणवान्रम्यो भक्ष्यभोज्यविहारवान् ।
वस्त्रमाल्योत्करयुतो वीणावेणुमृदङ्गवान् ॥ ११ ॥

तथा वहां दूकानें, बाजार लगी थीं; भक्ष्यभोज्य और बिहारकी वस्तुओंसे युक्त होनेसे वह महोत्सव अत्यन्त मनोहर हुआ । वहांपर ढेरके ढेर वस्त्र और मालाएं थीं; बीणा, वेणु और मृदङ्ग बजते थे ॥ ११ ॥

सुरामैरेयमिश्रेण भक्ष्यभोज्येन चैव ह ।
दीनान्धकृपणादिभ्यो दीयमानेन चानिशम् ।
बभौ परमकल्याणो महस्तस्य महागिरेः ॥ १२ ॥

सुरा, मैरेय और अनेक प्रकारके भक्ष्य भोज्य पदार्थ उपस्थित रहने तथा दीन, अन्धे और कृपण पुरुषोंको लगातार दान करनेसे, उस रैवतक महागिरिका महोत्सव अत्यन्त आनन्द-जनक हुआ था ॥ १२ ॥

पुण्यावसथवान्वीर पुण्यकृद्भिर्निषेवितः ।
विहारो वृष्णिवीराणां महे रैवतकस्य ह ।
स नगो वेश्मसंकीर्णो देवलोक इवाबभौ ॥ १३ ॥

रैवतकके उत्सवमें पुण्य कर्मोंके लिये गृह और आश्रम बने थे, और पुण्यात्मा लोग उनमें रहते थे । रैवतक पर्वतके महोत्सवमें वृष्णीवंशीय वीरोंका विहार स्थल बना था । उस समय गृहसमूहोंसे परिव्याप्त होकर वह गिरिवर देवलोककी भांति शोभित हुआ था ॥ १३ ॥

तदा च कृष्णसांनिध्यमासाद्य भरतर्षभ ।
शक्रसद्मप्रतीकाशो बभूव स हि शैलराट् ॥ १४ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! उस समय श्रीकृष्णका सान्निध्य पाकर वह पर्वतराज इन्द्रभवनके समान प्रकाशित होता था ॥ १४ ॥

ततः संपूज्यमानः स विवेश भवनं शुभम् ।
गोविन्दः सात्यकिश्चैव जगाम भवनं स्वकम् ॥ १५ ॥

अनन्तर सबसे सम्मानित होकर श्रीकृष्णने अपने शुभ भवनमें प्रवेश किया और सात्यकि भी अपने घरमें गये ॥ १५ ॥

विवेश च स हृष्टात्मा चिरकालप्रवासकः ।
कृत्वा नसुकरं कर्म दानवेष्विव वासवः ॥ १६ ॥

जैसे इंद्र दानवोंपर महान् विक्रम करके आये हों, उसी प्रकार अत्यंत कठीन कर्म करके बहुत समयतक प्रवासमें रहनेसे प्रहृष्टचित्तसे श्रीकृष्णने निज भवनमें प्रवेश किया ॥ १६ ॥

उपयातं तु वार्ष्णेयं भोजवृष्ण्यन्धकास्तदा ।
अभ्यगच्छन्महात्मानं देवा इव शतक्रतुम् ॥ १७ ॥

दानवोंके दलको दमन करके इन्द्रके अमरावती नगरीमें आनेपर देववृंद जिस प्रकार उनके निकट स्वागतके लिये गमन करते हैं, उसही प्रकार वृष्णिकुलनंदन महात्मा श्रीकृष्णका भोज, वृष्णि तथा अन्धकवंशीय यादवोंने अपने निकट आते हुए उनका स्वागत किया ॥ १७ ॥

स तानभ्यर्च्य मेधावी पृष्ट्वा च कुशलं तदा ।
अभ्यवादयत प्रीतः पितरं मातरं तथा ॥ १८ ॥

मेधावी श्रीकृष्णने उन लोगोंकी सम्मानता करते हुए कुशलादि पूछकर, प्रसन्नचित्तसे पिता तथा माताको प्रणाम किया ॥ १८ ॥

ताभ्यां च संपरिष्वक्तः सान्त्वितश्च महाभुजः ।
उपोपविष्टस्तैः सर्वैर्वृष्णिभिः परिवारितः ॥ १९ ॥

महाभुज श्रीकृष्ण अपने पितामाताके द्वारा आलिंगित तथा सान्त्वित होकर समीपमें बैठे हुए उन वृष्णिवंशियोंके द्वारा परिवेष्टित हुए ॥ १९ ॥

स विश्रान्तो महातेजाः कृतपादावसेचनः ।
कथयामास तं कृष्णः पृष्टः पित्रा महाहवम् ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अष्टपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५८ ॥ १६६२ ॥

जब महातेजस्वी श्रीकृष्ण हाथ पांव धोकर विश्रान्त भावसे बैठे, तब पिताके द्वारा युद्धका वृत्तांत पूछनेपर उन्होंने उस युद्धका वृत्तांत कह सुनाया ॥ २० ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें अट्ठावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५८ ॥ १६६२ ॥

: ५९ :

वसुदेव उवाच—

श्रुतवानस्मि वार्ष्णेय संग्रामं परमाद्भुतम् ।
नराणां वदतां पुत्र कथोद्घातेषु नित्यशः ॥ १ ॥

वसुदेव बोले— हे वृष्णिकुलनन्दन श्रीकृष्ण ! मैं नित्य कथाप्रसङ्गमें लोगोंसे सुनता हूं कि महाभारत युद्ध परम अद्भुत हुआ था; इसीसे पूछता हूं कि उनमें कैसा युद्ध हुआ ? ॥ १ ॥

त्वं तु प्रत्यक्षदर्शी च कार्यज्ञश्च महाभुज ।
तस्मात्प्रब्रूहि संग्रामं याथातथ्येन मेऽनघ ॥ २ ॥

महाभुज ! परन्तु तुमने उसे प्रत्यक्ष देखा तथा तुम्हें उसका कार्य मालूम है । हे अनघ ! इसलिये उस संग्रामका यथार्थ रीतिसे मेरे समीप बर्णन करो ॥ २ ॥

यथा तदभवद्युद्धं पाण्डवानां महात्मनाम् ।
भीष्मकर्णकृपद्रोणशल्यादिभिरनुत्तमम् ॥ ३ ॥

भीष्म, कर्ण, कृप, द्रोण और शल्य आदि—इनके सङ्ग महात्मा पाण्डवोंका जो उत्तम युद्ध हुआ था, वह कैसे हुआ ? ॥ ३ ॥

अन्येषां क्षत्रियाणां च कृतास्त्राणामनेकशः ।
नानावेषाकृतिमतां नानादेशनिवासिनाम् ॥ ४ ॥

तथा अनेक वेश वा रूपविशिष्ट अनेक देशवासी अन्यान्य कृतास्त्र क्षत्रियोंका जिस प्रकार युद्ध हुआ था, उसे भी कहो ॥ ४ ॥

इत्युक्तः पुण्डरीकाक्षः पित्रा मातुस्तदन्तिके ।
शशंस कुरुवीराणां संग्रामे निधनं यथा ॥ ५ ॥

पुण्डरीकाक्ष श्रीकृष्ण माताके समीप पिताका ऐसा वचन सुनके युद्धमें जिस प्रकार कौरव वीरोंकी मृत्यु हुई थी, उसे यथावत् कहने लगे ॥ ५ ॥

वासुदेव उवाच—

अत्यद्भुतानि कर्माणि क्षत्रियाणां महात्मनाम् ।
बहुलत्वान्न संख्यातुं शक्यान्यब्दशतैरपि ॥ ६ ॥

श्रीकृष्ण बोले— महात्मा क्षत्रियोंके वे सब अत्यन्त अद्‌भुत कर्म हैं, वे अधिक होनेसे सौ वर्षोंमें भी उनका वर्णन नहीं कहा जा सकता ॥ ६ ॥

प्राधान्यतस्तु गदतः समासेनैव मे शृणु ।
कर्माणि पृथिवीशानां यथावदमरद्युते ॥ ७ ॥

हे तात ! तब संक्षेपमें मुख्य मुख्य घटनाओंको सुना रहा हूं; अब उन राजाओंके कार्यका यथावत् वर्णन करता हूं, सुनिये ॥ ७ ॥

भीष्मः सेनापतिरभूदेकादशचमूपतिः ।
कौरव्यः कौरवेयाणां देवानामिव वासवः ॥ ८ ॥

कुरुवंशावतंस कौरवोंके सेनापति भीष्म सुरसेनापति इन्द्रकी भांति उत्तम कौरव वीरोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाके अधिपति हुए थे ॥ ८ ॥

शिखण्डी पाण्डुपुत्राणां नेता सप्तचमूपतिः ।
बभूव रक्षितो धीमान्धीमता सव्यसाचिना ॥ ९ ॥

पाण्डवपक्षके सेनापति धीमान् शिखण्डी सात अक्षौहिणी सेनाओंके अधिपति हुए, धीमान् सव्यसाची अर्जुन उनकी रक्षा करते थे ॥ ९ ॥

तेषां तदभवद्युद्धं दशाहानि महात्मनाम् ।
कुरूणां पाण्डवानां च सुमहद्रोमहर्षणम् ॥ १० ॥

उन महात्मा कौरवों और पाण्डवोंमें दस दिनतक महान् रोमहर्षजनक युद्ध होता रहा ॥ १० ॥

+

ततः शिखण्डी गाङ्गेयमयुध्यन्तं महाहवे ।
जघान बहुभिर्बाणैः सह गाण्डीवधन्वना ॥ ११ ॥

अनन्तर शिखण्डीने गाण्डीवधारी अर्जुनके सहित महासंग्राममें युद्ध न करनेवाले गङ्गानन्दन भीष्मको अनेक बाणोंसे मारा ॥ ११ ॥

अकरोत्स ततः कालं शरतल्पगतो मुनिः ।
अयनं दक्षिणं हित्वा संप्राप्ते चोत्तरायणे ॥ १२ ॥

उन मनस्वी भीष्मने दक्षिणायन भर शरशय्यापर रहके उत्तरायण उपस्थित होनेपर प्राण परित्याग किया ॥ १२ ॥

ततः सेनापतिरभूद्द्रोणोऽस्त्रविदुषां वरः ।
प्रवीरः कौरवेन्द्रस्य काव्यो दैत्यपतेरिव ॥ १३ ॥

अनन्तर दैत्यराज बलीके गुरु शुक्राचार्यकी भांति कुरुकुलके गुरु महास्त्रवित् वीरश्रेष्ठ द्रोणाचार्य कौरवोंके सेनापति हुए ॥ १३ ॥

अक्षौहिणीभिः शिष्टाभिर्नवभिर्द्विजसत्तमः ।
संवृतः समरश्लाघी गुप्तः कृपवृषादिभिः ॥ १४ ॥

वे युद्धमें प्रशंसित द्विजसत्तम द्रोण अवशिष्ट नौ अक्षौहिणी सेनासे घिरकर युद्ध करनेमें प्रवृत्त हुए; कृपाचार्य तथा कर्ण उनकी रक्षामें नियुक्त हुए थे ॥ १४ ॥

धृष्टद्युम्नस्त्वभून्नेता पाण्डवानां महास्त्रवित् ।
गुप्तो भीमेन तेजस्वी मित्रेण वरुणो यथा ॥ १५ ॥

मेधावी महास्त्रवित् धृष्टद्युम्न पाण्डवोंके सेनापति हुए, मित्रोंके द्वारा रक्षित वरुणकी भांति वह भीमसेनसे रक्षित हुए थे ॥ १५ ॥

पञ्चसेनापरिवृतो द्रोणप्रेप्सुर्महामनाः ।
पितुर्निकारान्संस्मृत्य रणे कर्माकरोन्महत् ॥ १६ ॥

उस महामना धृष्टद्युम्नने पिताका अपमान स्मरण करते हुए द्रोणको मारनेकी इच्छा करके पांच सेनासमूहोंसे घिरकर युद्धमें अत्यन्त दुष्कर कर्म किया था ॥ १६ ॥

तस्मिंस्ते पृथिवीपाला द्रोणपार्षतसंगरे ।
नानादिगागता वीराः प्रायशो निधनं गताः ॥ १७ ॥

अनेक दिशाओंसे आये हुए राजा लोग उस द्रोण और धृष्टद्युम्नके युद्धमें प्रायः सभी मृत्युको प्राप्त हुए ॥ १७ ॥

दिनानि पञ्च तद्युद्धमभूत्परमदारुणम् ।
ततो द्रोणः परिश्रान्तो धृष्टद्युम्नवशं गतः ॥ १८ ॥

पांच दिनतक वह अत्यंत दारुण संग्राम हुआ; उसके अनन्तर द्रोणाचार्य अत्यंत थक गये और धृष्टद्युम्नके वशवर्ती होकर मारे गये ॥ १८ ॥

ततः सेनापतिरभूत्कर्णो दौर्योधने बले ।
अक्षौहिणीभिः शिष्टाभिर्वृतः पञ्चभिराहवे ॥ १९ ॥

तब कर्ण दुर्योधनके सेनाके बीच अवशिष्ट पांच अक्षौहिणी सेनासे घिरकर युद्धमें सेनापतिके कार्यपर नियुक्त हुए ॥ १९ ॥

तिस्रस्तु पाण्डुपुत्राणां चम्वो बीभत्सुपालिताः ।
हतप्रवीरभूयिष्ठा बभूवुः समवस्थिताः ॥ २० ॥

पाण्डवोंकी ओर बहुतसे प्रमुख वीरोंके मरनेपर अवशिष्ट तीन अक्षौहिणी सेना अर्जुनके द्वारा रक्षित होकर युद्धमें स्थित हुई थी ॥ २० ॥

ततः पार्थं समासाद्य पतंग इव पावकम् ।
पञ्चत्वमगमत्सौतिर्द्वितीयेऽहनि दारुणे ॥ २१ ॥

अनन्तर दूसरे भयंकर दिनके युद्धमें सूतनन्दन कर्ण अग्निमें पडे हुए पतङ्गकी भांति पृथापुत्र अर्जुनसे भिडकर मारा गया ॥ २१ ॥

हते कर्णे तु कौरव्या निरुत्साहा हतौजसः ।
अक्षौहिणीभिस्तिसृभिर्मद्रेशं पर्यवारयन् ॥ २२ ॥

कर्णके मारे जानेपर कौरवोंने तेजरहित तथा निरुत्साह होकर, मद्रराज शल्यको तीन अक्षौहिणी सेनाका अधिपति किया ॥ २२ ॥

हतवाहनभूयिष्ठाः पाण्डवास्तु युधिष्ठिरम् ।
अक्षौहिण्या निरुत्साहाः शिष्टया पर्यवारयन् ॥ २३ ॥

पाण्डवोंने भी वाहन आदि नष्ट होनेपर निरुत्साही होकर शल्यके सङ्ग युद्ध करनेके लिये युधिष्ठिरको बची हुई एक अक्षौहिणी सेनाका सेनापति किया ॥ २३ ॥

अवधीन्मद्रराजानं कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
तस्मिंस्तथार्धदिवसे कर्म कृत्वा सुदुष्करम् ॥ २४ ॥

कुरुराज युधिष्ठिरने आधे दिनतक मद्रराज शल्यके सहित अत्यन्त दुष्कर संग्राम करके उन्हें मार डाला ॥ २४ ॥

हते शल्ये तु शकुनिं सहदेवो महामनाः ।
आहर्तारं कलेस्तस्य जघानामितविक्रमः ॥ २५ ॥

शल्यके मारे जानेपर महामना अमितविक्रम सहदेवने उस कलहके मूल शकुनिको मार डाला ॥ २५ ॥

निहते शकुनौ राजा धार्तराष्ट्रः सुदुर्मनाः ।
अपाक्रामद्गदापाणिर्हतभूयिष्ठसैनिकः ॥ २६ ॥

शकुनि और प्रायः सब सेनाके नष्ट होनेपर धृतराष्ट्रपुत्र राजा सुयोधन अत्यन्त दुःखित मन होकर गदा हाथमें लेकर युद्धभूमिसे भाग निकला ॥ २६ ॥

तमन्वधावत्संक्रुद्धो भीमसेनः प्रतापवान् ।
ह्रदे द्वैपायने चापि सलिलस्थं ददर्श तम् ॥ २७ ॥

इधर प्रतापवान् भीमसेनने अत्यंत क्रुद्ध होकर उनका अनुसन्धान करते हुए उन्हें द्वैपायन नामक सरोवरमें पानीके भीतर छिपे हुए अवलोकन किया ॥ २७ ॥

ततः शिष्टेन सैन्येन समन्तात्परिवार्य तम् ।
उपोपविविशुर्हृष्टा ह्रदस्थं पञ्च पाण्डवाः ॥ २८ ॥

अनन्तर पांचों पाण्डव प्रसन्नचित्तसे मारनेसे बची हुई सेनाके सहित तालावमें स्थित सुयोधनको घेरकर उनके पास जा पहुंचे ॥ २८ ॥

विगाह्य सलिलं त्वाशु वाग्बाणैर्भृशविक्षतः ।
उत्थाय स गदापाणिर्युद्धाय समुपस्थितः ॥ २९ ॥

उस समय जलके बीच सुयोधन भीमसेनके वाग्बाणोंसे अत्यन्त पीडित होकर हाथमें गदा लेकर जलसे निकलकर युद्ध करनेके लिये उपस्थित हुए ॥ २९ ॥

ततः स निहतो राजा धार्तराष्ट्रो महामृधे ।
भीमसेनेन विक्रम्य पश्यतां पृथिवीक्षिताम् ॥ ३० ॥

तब भीमसेन उस महायुद्धमें राजाओंके देखते देखते विक्रम प्रकाश करके धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको मारा ॥ ३० ॥

ततस्तत्पाण्डवं सैन्यं संसुप्तं शिबिरे निशि ।
निहतं द्रोणपुत्रेण पितुर्वधममृष्यता ॥ ३१ ॥

अनन्तर द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने पिताके वधको न सहनेके कारण अत्यन्त क्रुद्ध होकर रात्रिके समय शिविरमें निश्चिन्त सोई हुई पाण्डवोंकी समस्त सेनाका संहार किया ॥ ३१ ॥

हतपुत्रा हतबला हतमित्रा मया सह ।
युयुधानद्वितीयेन पञ्च शिष्टाः स्म पाण्डवाः ॥ ३२ ॥

उस समय पाण्डवोंके पुत्र, सैनिक तथा मित्र सब मारे गये; केवल मेरे और दूसरे सात्यकिके सहित पांच पाण्डव शेष रहे हैं ॥ ३२ ॥

सहैव कृपभोजाभ्यां द्रौणिर्युद्धादमुच्यत ।
युयुत्सुश्चापि कौरव्यो मुक्तः पाण्डवसंश्रयात् ॥ ३३ ॥

कृपाचार्य तथा कृतवर्माके सहित द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, युद्धसे जीवित बचे हैं; और कुरुवंशीय युयुत्सु पाण्डवोंके निकट रहनेसे बच गये हैं ॥ ३३ ॥

निहते कौरवेन्द्रे च सानुबन्धे सुयोधने ।
विदुरः संजयश्चैव धर्मराजमुपस्थितौ ॥ ३४ ॥

कौरवेन्द्र सुयोधन जब बन्धु-बान्धवोंके सहित मारे गये, तब विदुर और सञ्जय धर्मराज युधिष्ठिरके निकट आश्रयके लिये उपस्थित हुए ॥ ३४ ॥

एवं तदभवद्युद्धमहान्यष्टादश प्रभो ।
यत्र ते पृथिवीपाला निहताः स्वर्गमावसन् ॥ ३५ ॥

हे प्रभु ! इस ही प्रकार वह युद्ध अठारह दिन हुआ था, उसमें जो सब राजा मारे गये, वे स्वर्गलोकमें गये हैं ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

शृण्वतां तु महाराज कथां तां रोमहर्षणीम् ।
दुःखहर्षपरिक्लेशा वृष्णीनामभवंस्तदा ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥ १६९८ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— हे महाराज ! वृष्णिवंशीय पुरुष यह रोमहर्षण कथा सुनके दुःख तथा हर्षसे अत्यन्त व्याकुल हुए ॥ ३६ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें उनसठवां अध्याय समाप्त ॥ ५९ ॥ १६९८ ॥

ः ६० ः

वैशम्पायन उवाच—

कथयन्नेव तु तदा वासुदेवः प्रतापवान् ।
महाभारतयुद्धं तत्कथान्ते पितुरग्रतः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— महाबुद्धिमान् प्रतापवान् श्रीकृष्ण उस महाभारत युद्धका वृत्तान्त वर्णन पिताके सामने करते थे ॥ १ ॥

अभिमन्योर्वधं वीरः सोऽत्यक्रामत भारत ।
अप्रियं वसुदेवस्य मा भूदिति महामनाः ॥ २ ॥

तब, हे भारत ! वीर महामना श्रीकृष्ण अभिमन्युके वधका वृत्तान्त वसुदेवको अप्रिय होगा, ऐसा समझके उसे छोडकर कहने लगे ॥ २ ॥

मा दौहित्रवधं श्रुत्वा वसुदेवो महात्ययम् ।
दुःखशोकाभिसंतप्तो भवेदिति महामतिः ॥ ३ ॥

वसुदेव दौहित्रवधका वृत्तान्त सुननेसे दुःख तथा शोकसे अत्यन्त सन्तापित होंगे; ऐसा विचार करके उसे न कहा ॥ ३ ॥

सुभद्रा तु तमुत्क्रान्तमात्मजस्य वधं रणे ।
आचक्ष्व कृष्ण सौभद्रवधमित्यपतद्भुवि ॥ ४ ॥

परन्तु सुभद्राने अपने पुत्रके वधका वृत्तान्त इन्होंने नहीं कहा यह देखा तब श्रीकृष्णसे बोली, " हे श्रीकृष्ण ! मेरे पुत्र अभिमन्युके वधका वृत्तान्त भी कहो, " इतना कहके मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पडी ॥ ४ ॥

तामपश्यन्निपतितां वसुदेवः क्षितौ तदा ।
दृष्ट्वैव च पपातोर्व्यां सोऽपि दुःखेन मूर्छितः ॥ ५ ॥

उस समय सुभद्राको पृथ्वीमें गिरती देखकर वसुदेव भी दुःखसे मूर्च्छित होकर भूमिमें गिरे ॥ ५ ॥

ततः स दौहित्रवधाद्दुःखशोकसमन्वितः ।
वसुदेवो महाराज कृष्णं वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ६ ॥

महाराज ! अनन्तर वसुदेव दौहित्रवधजनित दुःख शोकसे पीडित होकर श्रीकृष्णसे ऐसे बोले ॥ ६ ॥

ननु त्वं पुण्डरीकाक्ष सत्यवाग्भुवि विश्रुतः ।
यद्दौहित्रवधं मेऽद्य न ख्यापयसि शत्रुहन् ॥ ७ ॥

हे पुण्डरीकाक्ष ! तुम जो सत्यवादी कहके पृथ्वीमें विख्यात हुए हो, उसमें मुझे विश्वास नहीं होता; क्योंकि शत्रुसूदन ! आज तुमने मेरे समीप दौहित्रवधवृत्तान्त प्रकाश न किया ॥ ७ ॥

तद्भागिनेयनिधनं तत्त्वेनाचक्ष्व मे विभो ।
सदृशाक्षस्तव कथं शत्रुभिर्निहतो रणे ॥ ८ ॥

हे विभो ! तुम अपने भानजेका वध–वृत्तान्त मुझसे यथार्थ रीतिसे कहो । हे वार्ष्णेय ! तुम्हारे नेत्रसदृश नयनसम्पन्न सुभद्रापुत्र अभिमन्यु युद्धमें शत्रुओंके द्वारा कैसे मारा गया ? ॥ ८ ॥

दुर्मरं बत वार्ष्णेय कालेऽप्राप्ते नृभिः सदा ।
यत्र मे हृदयं दुःखाच्छतधा न विदीर्यते ॥ ९ ॥

हे श्रीकृष्ण ! अकालमें मनुष्यको मरना सदा अत्यंत कठिन होता है, इतनेपर भी दुःखसे मेरा हृदय सौ टुकडे होकर विदीर्ण न हुआ ॥ ९ ॥

किमब्रवीत्त्वा संग्रामे सुभद्रां मातरं प्रति ।
मां चापि पुण्डरीकाक्ष चपलाक्षः प्रियो मम ॥ १० ॥

जब वह अभिमन्यु युद्धमें मारा गया, उस समय उसने तुमको और अपनी माता सुभद्राको क्या कहा था ? हे पुण्डरीकाक्ष ! वह चञ्चलनेत्रवाला सुभद्रापुत्र अभिमन्यु मेरा परम प्रिय था, उसने मेरे लिये क्या कहा था ? ॥ १० ॥

आहवं पृष्ठतः कृत्वा कच्चिन्न निहतः परैः ।
कच्चिन्मुखं न गोविन्द तेनाजौ विकृतं कृतम् ॥ ११ ॥

क्या युद्धमें पराङ्मुख होनेपर शत्रुओंने उसे मारा है ? हे गोविन्द ! युद्धमें उसने भयके कारण अपना मुख विकृत तो नहीं किया था ? ॥ ११ ॥

स हि कृष्ण महातेजाः श्लाघन्निव ममाग्रतः ।
बालभावेन विजयमात्मनोऽकथयत्प्रभुः ॥ १२ ॥

हे श्रीकृष्ण ! वह महातेजस्वी प्रभावी बालक मेरे निकट तो बालभावसे—विनय भावसे अपनी विजयकी कथाएं कहता था ॥ १२ ॥

कच्चिन्न विकृतो बालो द्रोणकर्णकृपादिभिः ।
धरण्यां निहतः शेते तन्ममाचक्ष्व केशव ॥ १३ ॥

हे केशव ! वह बालक द्रोण, कर्ण, कृप प्रभृति तथा क्षत्रियोंके द्वारा विकृत रीतिसे तो नहीं मारा गया ? वह शत्रुके द्वारा मारा जाकर जिस प्रकार पृथ्वीपर सोया था, वह मुझसे कहो ॥ १३ ॥

स हि द्रोणं च भीष्मं च कर्णं च रथिनां वरम् ।
स्पर्धते स्म रणे नित्यं दुहितुः पुत्रको मम ॥ १४ ॥

वह मेरे बेटीका प्रिय पुत्र अभिमन्यु युद्धमें द्रोण, भीष्म और रथियोंमें श्रेष्ठ कर्णकी सदा स्पर्धा करता था ॥ १४ ॥

एवंविधं बहु तदा विलपन्तं सुदुःखितम् ।
पितरं दुःखिततरो गोविन्दो वाक्यमब्रवीत् ॥ १५ ॥

जिस समय पिता वसुदेव अत्यंत दुःखके सहित इस प्रकार अनेक भांति विलाप करने लगे, तब श्रीकृष्ण स्वयं अत्यन्त दुःखित होकर उनसे बोले ॥ १५ ॥

न तेन विकृतं वक्त्रं कृतं संग्राममूर्धनि ।
न पृष्ठतः कृतश्चापि संग्रामस्तेन दुस्तरः ॥ १६ ॥

अभिमन्युने युद्धभूमिमें अपना मुख कभी भी विकृत नहीं किया, बल्कि युद्धसे पराङ्मुख न होकर दुस्तर संग्राम किया था ॥ १६ ॥

निहत्य पृथिवीपालान्सहस्रशतसंघशः ।
खेदितो द्रोणकर्णाभ्यां दौःशासनिवशं गतः ॥ १७ ॥

सैकडों सहस्रों राजाओंको मारकर द्रोणाचार्य और कर्णके साथ युद्ध करते श्रांत होकर दुःशासनपुत्रके वशवर्ती हुआ था ॥ १७ ॥

एको ह्येकेन सततं युध्यमानो यदि प्रभो ।
न स शक्येत संग्रामे निहन्तुमपि वज्रिणा ॥ १८ ॥

हे प्रभु ! यदि कौरवगण अकेले अकेले अभिमन्युके सङ्ग युद्ध करते, तो कोई भी उसे पराजित न कर सकता; कौरवोंकी बात तो दूर रहे, वज्रपाणि इंद्र भी युद्धमें अकेले उसका बध करनेमें समर्थ न होते ॥ १८ ॥

समाहूते तु संग्रामे पार्थे संशप्तकैस्तदा ।
पर्यवार्यत संक्रुद्धैः स द्रोणादिभिराहवे ॥ १९ ॥

उस समय जब अर्जुन संशप्तकोंके सङ्ग पृथक् होकर युद्ध करने लगे, तब द्रोण प्रभृति योद्धाओंने अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसे चारों ओरसे घेर लिया ॥ १९ ॥

ततः शत्रुक्षयं कृत्वा सुमहान्तं रणे पितुः ।
दौहित्रस्तव वार्ष्णेय दौःशासनिवशं गतः ॥ २० ॥

हे पिता ! इतनेपर भी आपका दौहित्र युद्धमें अत्यन्त महत् तथा समधिक शत्रुओंका संहार करके अन्तमें दुःशासनपुत्रके वशवर्ती हुआ ॥ २० ॥

नूनं च स गतः स्वर्गं जहि शोकं महामते ।
न हि व्यसनमासाद्य सीदन्ते सन्नराः क्वचित् ॥ २१ ॥

हे महाप्राज्ञ ! वह सुभद्रापुत्र निश्चय ही स्वर्गमें गया है, आप उसके लिये शोक न करिये; इस विषयमें आपके सदृश सज्जन पुरुषोंको संकटमें पडके खिन्न होना उचित नहीं है ॥ २१ ॥

द्रोणकर्णप्रभृतयो येन प्रतिसमासिताः ।
रणे महेन्द्रप्रतिमाः स कथं नाप्नुयाद्दिवम् ॥ २२ ॥

जब कि महेन्द्रसदृश बलशाली द्रोण–कर्ण प्रभृति वीरगणोंका जिसने युद्धमें दटकर सामना किया है, तब वह अभिमन्यु स्वर्गमें क्यों न जायगा ? ॥ २२ ॥

स शोकं जहि दुर्धर्ष मा च मन्युवशं गमः ।
शस्त्रपूतां हि स गतिं गतः परपुरंजयः ॥ २३ ॥

हे दुर्धर्ष ! इस कारण आप शोक परित्याग करिये, उद्वेगके वशमें न होइये; उस पराये देशको जीतनेवाले अभिमन्युको निश्चय ही शस्त्रपूत गति प्राप्त हुई है ॥ २३ ॥

तस्मिंस्तु निहते वीरे सुभद्रेयं स्वसा मम ।
दुःखार्तार्थो पृथां प्राप्य कुररीव ननाद ह ॥ २४ ॥

उस वीर अभिमन्युके मारे जानेपर मेरी यह सुभद्रा बहिन दुःखसे आर्त होकर पृथाके निकट जाकर कुररीकी भांति अत्यन्त रोदन करने लगी ॥ २४ ॥

द्रौपदीं च समासाद्य पर्यपृच्छत दुःखिता ।
आर्ये क दारकाः सर्वे द्रष्टुमिच्छामि तानहम् ॥ २५ ॥

और द्रौपदीके पास जाकर दुःखित चित्तसे पूछने लगी– हे आर्ये ! सब पुत्र कहां है ? मैं उन्हें एक बार देखना चाहती हूं ॥ २५ ॥

अस्यास्तु वचनं श्रुत्वा सर्वास्ताः कुरुयोषितः ।
भुजाभ्यां परिगृह्यैनां चुक्रुशुः परमार्तवत् ॥ २६ ॥

सुभद्राका ऐसा वचन सुनकर कुरुकुलकी सारी स्त्रियां दोनों भुजाओंसे इसे पकड करके अत्यन्त आर्त स्वरसे रोने लगीं ॥ २६ ॥

उत्तरां चाब्रवीद्भद्रा भद्रे भर्ता क ते गतः ।
क्षिप्रमागमनं मह्यं तस्मै त्वं वेदयस्व ह ॥ २७ ॥

सुभद्रा उत्तरासे बोली– भद्रे ! तुम्हारा स्वामी कहां गया है ? तुम शीघ्र मेरे आगमनकी उसे सूचना दो ॥ २७ ॥

ननु नाम स वैराटि श्रुत्वा मम गिरं पुरा ।
भवनान्निष्पतत्याशु कस्मान्नाभ्येति ते पतिः ॥ २८ ॥

हे विराटनन्दिनी ! जब मैं अभिमन्युको बुलाती थी, तब वह मेरी आवाज सुनते ही उसी समय घरसे बाहिर निकल पडता था; आज तुम्हारा पति क्यों नहीं आता है ? ॥ २८ ॥

अभिमन्यो कुशलिनो मातुलास्ते महारथाः ।
कुशलं चाब्रुवन्सर्वे त्वां युयुत्सुमिहागतम् ॥ २९ ॥

हे अभिमन्यु ! तुम्हारे महारथी मामा सब कुशल हैं । इस स्थानपर युद्धकी इच्छासे आये तुमसे उन्होंने तुम्हारा कुशल समाचार पूछा है ॥ २९ ॥

आचक्ष्व मेऽद्य संग्रामं यथापूर्वमरिंदम ।
कस्मादेव विलपतीं नाद्येह प्रतिभाषसे ॥ ३० ॥

हे अरिंदमन ! आज तुम पहलेकी तरह मुझसे पूरी रीतिसे संग्रामका वृत्तान्त कहो; इस समय मैं इस प्रकार विलाप करती हूं, तुम किस निमित्त आज यहां प्रत्युत्तर नहीं देते हो ? ॥ ३० ॥

एवमादि तु वार्ष्णेय्यास्तदस्याः परिदेवितम् ।
श्रुत्वा पृथा सुदुःखार्ता शनैर्वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ३१ ॥

वृष्णिवंशमें उत्पन्न हुई सुभद्राका ऐसा विलाप सुनकर अत्यन्त दुःखितचित्तसे कुंती धीरे धीरे उससे बोली ॥ ३१ ॥

+

सुभद्रे वासुदेवेन तथा सात्यकिना रणे ।
पित्रा च पालितो बालः स हतः कालधर्मणा ॥ ३२ ॥

हे सुभद्रे ! वह बालक अभिमन्यु युद्धमें श्रीकृष्ण, सात्यकि और निज पिता अर्जुनके द्वारा पालित होनेपर भी कालधर्मके अनुसार मारा गया है ॥ ३२ ॥

ईदृशो मर्त्यधर्मोऽयं मा शुचो यदुनन्दिनि ।
पुत्रो हि तव दुर्धर्षः संप्राप्तः परमां गतिम् ॥ ३३ ॥

हे यदुनंदिनी ! मनुष्योंका धर्म ही ऐसा है, इसलिये इस विषयमें शोक मत करो; तुम्हारे उस दुर्धर्ष पुत्रको निश्चय ही परम गति प्राप्त हुई है ॥ ३३ ॥

कुले महति जातासि क्षत्रियाणां महात्मनाम् ।
मा शुचश्चपलाक्षं त्वं पुण्डरीकनिभेक्षणे ॥ ३४ ॥

हे पद्म-पलाशनयनी ! तुम महात्मा क्षत्रियोंके महत्कुलमें जन्मी हो, इसलिये तुम्हें चञ्चल नेत्रवाले पुत्रके लिये शोक करना उचित नहीं है ॥ ३४ ॥

उत्तरां त्वमवेक्षस्व गर्भिणीं मा शुचः शुभे ।
पुत्रमेषा हि तस्याशु जनयिष्यति भामिनी ॥ ३५ ॥

हे शुभे ! तुम गर्भवती उत्तराको अवलोकन करो, शोक न करो। यह भामिनी उत्तरा शीघ्रही उस अभिमन्युके पुत्रको जन्म देगी ॥ ३५ ॥

एवमाश्वासयित्वैनां कुन्ती यदुकुलोद्वह ।
विहाय शोकं दुर्धर्ष श्राद्धमस्य ह्यकल्पयत् ॥ ३६ ॥

हे यदुकुलोद्वह ! कुंतीने इसही प्रकार सुभद्राको धीरज देकर परम शोकको परित्याग करके अभिमन्युके श्राद्धादिकी तैयारी करायी ॥ ३६ ॥

समनुज्ञाप्य धर्मज्ञा राजानं भीममेव च ।
यमौ यमोपमौ चैव ददौ दानान्यनेकशः ॥ ३७ ॥

धर्म जाननेवाली कुंतीने अभिमन्युके उद्देश्यसे अनेक प्रकारके दान करनेके निमित्त राजा युधिष्ठिर, भीम, यमसदृश नकुलसहदेवको आज्ञा करके बहुतसा धन दान दिया ॥ ३७ ॥

ततः प्रदाय बह्वीर्गा ब्राह्मणेभ्यो यदूद्वह ।
समहृष्यत वार्ष्णेयी वैराटीं चाब्रवीदिदम् ॥ ३८ ॥

अनंतर ब्राह्मणोंको बहुतसी गौएं प्रदान करके कुंती बिराटपुत्री उत्तराको बुलाकर बोली ॥ ३८ ॥

वैराटि नेह संतापस्त्वया कार्यो यशस्विनि ।
भर्तारं प्रति सुश्रोणि गर्भस्थं रक्ष मे शिशुम् ॥ ३९ ॥

हे यशस्विनि, बिराटनन्दिनी ! इस समय तुम्हें पतिके लिये संताप करना उचित नहीं है; तुम गर्भस्थ शिशुकी मेरे लिये रक्षा करो ॥ ३९ ॥

एवमुक्त्वा ततः कुन्ती विरराम महाद्युते ।
तामनुज्ञाप्य चैवेमां सुभद्रां समुपानयम् ॥ ४० ॥

हे महातेजस्वी ! कुंती उत्तराको ऐसाही कहके चुप हो गई । उन्हींकी आज्ञासे इधर मैं इस सुभद्राको ले आया हूं ॥ ४० ॥

एवं स निधनं प्राप्तो दौहित्रस्तव माधव ।
संतापं जहि दुर्धर्ष मा च शोके मनः कृथाः ॥ ४१ ॥

इति श्री महाभारते आश्वमेधिकेपर्वणि षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥ १७२९ ॥

हे दुर्धर्ष माधव ! आपके दौहित्रकी इसी प्रकार मृत्यु हुई है; इसलिये आप शोक परित्याग करिये, तथा चित्तको शोकाकुल न करिये ॥ ४१ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें साठवां अध्याय समाप्त ॥ ६० ॥ १७२९ ॥

: ६१ :

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा तु पुत्रस्य वचः शूरात्मजस्तदा ।
विहाय शोकं धर्मात्मा ददौ श्राद्धमनुत्तमम् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— उस समय धर्मात्मा शूरनन्दन वसुदेवने अपने पुत्र श्रीकृष्णका इस प्रकार वचन सुनके शोक परित्याग करके उत्तम श्राद्ध तथा दानादि कार्य किया ॥१॥

तथैव वासुदेवोऽपि स्वस्रीयस्य महात्मनः ।
दयितस्य पितुर्नित्यमकरोदौर्ध्वदेहिकम् ॥ २ ॥

इसी प्रकार श्रीकृष्णने भी पिताके परमप्रिय और अपने भानजा महात्मा अभिमन्युका और्ध्व-देहिक कार्य किया ॥ २ ॥

षष्टिं शतसहस्राणि ब्राह्मणानां महाभुजः ।
विधिवद्भोजयामास भोज्यं सर्वगुणान्वितम् ॥ ३ ॥

अनन्तर साठ सौ सहस्र ब्राह्मणोंको सर्वगुणयुक्त उत्तम अन्न विधिपूर्वक महाभुज श्रीकृष्णने भोजन कराया ॥ ३ ॥

आच्छाद्य च महाबाहुर्धनतृष्णामपानुदत् ।
ब्राह्मणानां तदा कृष्णस्तदभूद्रोमहर्षणम् ॥ ४ ॥

उस समय महाबाहु श्रीकृष्णने वस्त्र आदि और धन दानसे ब्राह्मणोंकी इस प्रकार धनतृष्णा दूर की थी, कि वह एक रोमाञ्चकारी घटना थी ॥ ४ ॥

सुवर्णं चैव गाश्चैव शयनाच्छादनं तथा ।
दीयमानं तदा विप्राः प्रभुतमिति चाब्रुवन् ॥ ५ ॥

उस समय सुवर्ण, गौ, शय्या और वस्त्रका दान मिलनेसे ब्राह्मण लोग बहुत प्रकारसे मिल गया ऐसा कहने लगे ॥ ५ ॥

वासुदेवोऽथ दाशार्हो बलदेवः ससात्यकिः ।
अभिमन्योस्तदा श्राद्धमकुर्वन्सत्यकस्तदा ।
अतीव दुःखसंतप्ता न शमं चोपलेभिरे ॥ ६ ॥

अनन्तर दाशार्ह वासुदेव, बलदेव, सत्यक और सात्यकिने भी उस समय अभिमन्युका श्राद्ध किया। वे सब दुःखसे अत्यन्त सन्तापित होकर उस समय शान्तिलाभ न कर सके ॥६॥

तथैव पाण्डवा वीरा नगरे नागसाह्वये ।
नोपगच्छन्ति वै शान्तिमभिमन्युविनाकृताः ॥ ७ ॥

उसही भांति महावीर पाण्डवगण भी अभिमन्युके विरहसे हस्तिनानगरमें शान्तिलाभ नहीं कर सके ॥ ७ ॥

सुबहूनि च राजेन्द्र दिवसानि विराटजा ।
नाभुङ्क्त पतिशोकार्ता तदभूत्करुणं महत् ।
कुक्षिस्थ एव तस्यास्तु स गर्भः संप्रलीयत ॥ ८ ॥

हे राजेन्द्र ! विराटपुत्री उत्तराने पतिके विरहजनित शोकसे अत्यन्त आर्त होकर बहुत दिनतक भोजन नहीं किया; उस समय उसकी दशा अत्यंत करुणाजनक थी । भोजनके अभावसे उसका गर्भस्थ बालक प्रलीन हो गया ॥ ८ ॥

आजगाम ततो व्यासो ज्ञात्वा दिव्येन चक्षुषा ।
आगम्य चाब्रवीद्धीमान्पृथां पृथुललोचनाम् ।
उत्तरां च महातेजाः शोकः संत्यज्यतामयम् ॥ ९ ॥

अनन्तर धीमान् महातेजस्वी व्यासदेव दिव्य दृष्टिके सहारे उसकी इस दशाको जानके वहां आये और विशाल लोचना कुन्ती और उत्तरासे बोले कि, तुम लोग यह शोक त्याग दो ॥ ९ ॥

जनिष्यति महातेजाः पुत्रस्तव यशस्विनि ।
प्रभावाद्वासुदेवस्य मम व्याहरणादपि ।
पाण्डवानामयं चान्ते पालयिष्यति मेदिनीम् ॥ १० ॥

हे यशस्विनि ! तुम्हारा पुत्र महातेजस्वी होगा । वह पुत्र श्रीकृष्णके प्रभावसे तथा मेरे आशीर्वादसे पाण्डवोंके अनन्तर संपूर्ण पृथ्वीका पालन करेगा ॥ १० ॥

धनंजयं च संप्रेक्ष्य धर्मराजस्य पश्यतः ।
व्यासो वाक्यमुवाचेदं हर्षयन्निव भारत ॥ ११ ॥

हे भारत ! व्यासदेव धर्मराजके देखते और अर्जुनकी ओर देखकर उन्हें हर्षित करते हुएसे इस प्रकार बोले ॥ ११ ॥

पौत्रस्तव महाबाहो जनिष्यति महामनाः ।
पृथ्वीं सागरपर्यन्तां पालयिष्यति चैव ह ॥ १२ ॥

हे महाबाहु ! तुम्हारे महामना भाग्यवान् पौत्र उत्पन्न होगा, वह पौत्र धर्मपूर्वक समुद्र पर्यन्त सारी पृथ्वीका पालन करेगा ॥ १२ ॥

तस्माच्छोकं कुरुश्रेष्ठ जहि त्वमरिकर्शन ।
विचार्यमत्र न हि ते सत्यमेतद्भविष्यति ॥ १३ ॥

हे अरिकर्षण कुरुपुङ्गव ! इसलिये तुम शोक परित्याग करो; मैंने जो कहा, इसमें तुम कुछ भी विचार मत करो, यह बचन सत्य होगा ॥ १३ ॥

यच्चापि वृष्णिवीरेण कृष्णेन कुरुनन्दन ।
पुरोक्तं तत्तथा भावि मा तेऽत्रास्तु विचारणा ॥ १४ ॥

हे कुरुनन्दन ! पहले वृष्णिप्रवर श्रीकृष्णने जो कुछ कहा है, वह वैसाही होगा; इसमें तुम्हें कोई अन्य विचार नहीं करना चाहिये ॥ १४ ॥

विबुधानां गतो लोकानक्षयानात्मनिर्जितान् ।
न स शोच्यस्त्वया तात न चान्यैः कुरुभिस्तथा ॥ १५ ॥

तात ! वीरश्रेष्ठ अभिमन्यु निज पराक्रमसे अर्जित देवताओंके अक्षय लोकोंमें गया है; इसलिये तुम्हें तथा दूसरे कुरुवंशियोंको उसके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥

एवं पितामहेनोक्तो धर्मात्मा स धनंजयः ।
त्यक्त्वा शोकं महाराज हृष्टरूपोऽभवत्तदा ॥ १६ ॥

हे महाराज ! धर्मात्मा धनञ्जय पितामह व्यासका ऐसा वचन सुनके शोक परित्याग कर हृष्टचित्त हुए ॥ १६ ॥

पितापि तव धर्मज्ञ गर्भे तस्मिन्महामते ।
अवर्धत यथाकालं शुक्लपक्षे यथा शशी ॥ १७ ॥

हे धर्मज्ञ ! महामते ! तुम्हारे पिता उस गर्भके बीच समयके अनुसार शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भांति बढने लगे ॥ १७ ॥

ततः संचोदयामास व्यासो धर्मात्मजं नृपम् ।
अश्वमेधं प्रति तदा ततः सोऽन्तर्हितोऽभवत् ॥ १८ ॥

अनन्तर व्यासदेव धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरको अश्वमेध यज्ञ करनेके लिये आज्ञा देकर अन्तर्धान हुए ॥ १८ ॥

धर्मराजोऽपि मेधावी श्रुत्वा व्यासस्य तद्वचः ।
वित्तोपनयने तात चकार गमने मतिम् ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥ १७५८ ॥

तात ! मेधावी धर्मराजने भी व्यासदेवका वचन सुनके धन लानेके निमित्त चलनेकी सम्मति की ॥ १९ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें इकसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६१ ॥ १७५८ ॥

: ६२ :

जनमेजय उवाच—

श्रुत्वैतद्वचनं ब्रह्मन्व्यासेनोक्तं महात्मना ।
अश्वमेधं प्रति तदा किं नृपः प्रचकार ह ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– हे ब्रह्मन् ! राजा युधिष्ठिरने महात्मा व्यासदेवका यह वचन सुनके फिर अश्वमेध यज्ञका किस प्रकार अनुष्ठान किया ? ॥ १ ॥

रत्नं च यन्मरुत्तेन निहितं पृथिवीतले ।
तदवाप कथं चेति तन्मे ब्रूहि द्विजोत्तम ॥ २ ॥

हे द्विजसत्तम ! मरुत्तने जो रत्न पृथ्वीतलपर सञ्चय कर रखा था, उन रत्नोंको उन्होंने किस प्रकार पाया ? वह विषय मुझसे कहिये ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच—

श्रुत्वा द्वैपायनवचो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातॄन्सर्वान्समानाय्य काले वचनमब्रवीत् ।
अर्जुनं भीमसेनं च माद्रीपुत्रौ यमावपि ॥ ३ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– धर्मराज युधिष्ठिर व्यासदेवका वचन सुनके अपने भाई अर्जुन, भीमसेन और माद्रीपुत्र यमज नकुल–सहदेवको बुलवाकर समयानुसार यह वचन बोले ॥ ३ ॥

श्रुतं वो वचनं वीराः सौहृदाद्यन्महात्मना ।
कुरूणां हितकामेन प्रोक्तं कृष्णेन धीमता ॥ ४ ॥

हे वीर भाईयो ! कुरुकुलहितैषी, धीमान् महात्मा श्रीकृष्णने सुहृदयतापूर्वक जो कहा था उसे तुम लोगोंने सुना है ॥ ४ ॥

तपोवृद्धेन महता सुहृदां भूतिमिच्छता ।
गुरुणा धर्मशीलेन व्यासेनाद्‌भुतकर्मणा ॥ ५ ॥

सुहृदोंके ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाले महान् तपोवृद्ध और धर्मशील अद्‌भुतकर्मा गुरु व्यासदेव, ॥५॥

भीष्मेण च महाप्राज्ञ गोविन्देन च धीमता ।
संस्मृत्य तदहं सम्यक्कर्तुमिच्छामि पाण्डवाः ॥ ६ ॥

भीष्म तथा बुद्धिमान् गोविन्दने समयपर जो सलाह दी है, हे महाप्राज्ञ पाण्डव ! उसे स्मरण करके मैं उनकी आज्ञाका पालन करना चाहता हूं ॥ ६ ॥

आयत्यां च तदात्वे च सर्वेषां तद्धि नो हितम् ।
अनुबन्धे च कल्याणं यद्वचो ब्रह्मवादिनः ॥ ७ ॥

उनका बचन वर्तमान तथा भविष्यमें भी हम सबके लिये हितजनक है; क्योंकि ब्रह्मवादी व्यासका वचन फलोत्पत्तिके विषयमें कल्याण करनेवाला है ॥ ७ ॥

इयं हि वसुधा सर्वा क्षीणरत्ना कुरूद्वहाः ।
तच्चाचष्ट बहु व्यासो मरुत्तस्य धनं नृपाः ॥ ८ ॥

हे कुरुद्वहगण ! इस समय यह सारी पृथ्वी रत्न और धनसे रहित हो गयी है; इसलिये ही व्यासने मरुत्तके बहुत धनकी कथा कहकर उसका पता बताया था ॥ ८ ॥

यद्येतद्वो बहुमतं मन्यध्वं वा क्षमं यदि ।
तदानयामहे सर्वे कथं वा भीम मन्यसे ॥ ९ ॥

इसलिये यदि आप लोग इस धनको पर्याप्त तथा लानेमें समर्थ समझते हो, तो उस धनको हम सब यहांपर ले आवें । हे भीम ! कहो, इस विषयमें तुम्हारा क्या मत है ? ॥ ९ ॥

इत्युक्तवाक्ये नृपतौ तदा कुरुकुलोद्वह ।
भीमसेनो नृपश्रेष्ठं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १० ॥

हे कुरुकुलोद्वह ! उस समय जब राजा युधिष्ठिरने ऐसा कहा तब भीमसेन हाथ जोडके राजेन्द्र युधिष्ठिरसे कहने लगे ॥ १० ॥

रोचते मे महाबाहो यदिदं भाषितं त्वया ।
व्यासाख्यातस्य वित्तस्य समुपानयनं प्रति ॥ ११ ॥

हे महाबाहो ! आपने व्यासदेवके उपदेशानुसार धन लानेके विषयमें जिस प्रकार कहा, वह मुझे अभिमत है ॥ ११ ॥

यदि तत्प्राप्नुयामेह धनमाविक्षितं प्रभो ।
कृतमेव महाराज भवेदिति मतिर्मम ॥ १२ ॥

हे प्रभु ! यदि हमें अविक्षितपुत्र मरुत्तका वह धन मिल जाय, तो मुझे बोध होता है, कि उससे ही हम लोगोंके सब कार्य पूरे होंगे ॥ १२ ॥

ते वयं प्रणिपातेन गिरीशस्य महात्मनः ।
तदानयाम भद्रं ते समभ्यर्च्य कपर्दिनम् ॥ १३ ॥

आपका कल्याण हो ! इसलिये हम जटाजूटधारी गिरीश महात्मा महादेवको प्रणाम कर उनकी विधिपूर्वक पूजा करके वह धन लाएंगे ॥ १३ ॥

तं विभुं देवदेवेशं तस्यैवानुचरांश्च तान् ।
प्रसाद्यार्थमवाप्स्यामो नूनं वाग्बुद्धिकर्मभिः ॥ १४ ॥

हम लोग वचन, कर्म और बुद्धिसे उन देवाधिदेव विभु भूतनाथ महादेव तथा उनके सेवकोंको प्रसन्न करके निश्चयही वह धन पा सकेंगे ॥ १४ ॥

रक्षन्ते ये च तद्द्रव्यं किंकरा रौद्रदर्शनाः ।
ते च वश्या भविष्यन्ति प्रसन्ने वृषभध्वजे ॥ १५ ॥

वृषभध्वज भगवान् शंकरके प्रसन्न होनेपर जो सब रौद्रदर्शन सेवक उस धनकी रक्षा करते हैं, वे भी हमारे वशीभूत होंगे ॥ १५ ॥

श्रुत्वैवं वदतस्तस्य वाक्यं भीमस्य भारत ।
प्रीतो धर्मात्मजो राजा बभूवातीव भारत ।
अर्जुनप्रमुखाश्चापि तथेत्येवाब्रुवन्मुदा ॥ १६ ॥

हे भारत ! जब भीमसेनने इतनी बात कही तब धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर उसे सुनके अत्यंत प्रसन्न हुए और अर्जुन प्रभृति भाइयोंने भी आनन्दसे कहा, ' ऐसा ही होगा ' ॥ १६ ॥

कृत्वा तु पाण्डवाः सर्वे रत्नाहरणनिश्चयम् ।
सेनामाज्ञापयामासुर्नक्षत्रेऽहनि च ध्रुवे ॥ १७ ॥

अनन्तर सब पाण्डवोंने रत्न लानेका निश्चय करके उत्तम ध्रुव–संज्ञक नक्षत्रयुक्त दिनमें सेनाको उस ओर चलनेके लिये आज्ञा दी ॥ १७ ॥

ततो ययुः पाण्डुसुता ब्राह्मणान्स्वस्ति वाच्य च ।
अर्चयित्वा सुरश्रेष्ठं पूर्वमेव महेश्वरम् ॥ १८ ॥

अनन्तर पाण्डुपुत्रोंने ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराके देवोंके देव महेश्वरकी पहले ही पूजा करते हुए ॥ १८ ॥

मोदकैः पायसेनाथ मांसापूपैस्तथैव च ।
आशास्य च महात्मानं प्रययुर्मुदिता भृशम् ॥ १९ ॥

मोदक, पायस और पिष्टकके सहारे उन महेश्वरको तृप्त करके महात्मा युधिष्ठिरका आशीर्वाद ले अत्यंत हर्षके सहित यात्रा प्रारंभ की ॥ १९ ॥

तेषां प्रयास्यतां तत्र मङ्गलानि शुभान्यथ ।
प्राहुः प्रहृष्टमनसो द्विजाग्र्या नागराश्च ते ॥ २० ॥

उनके यात्राके लिये चलनेके समय वहांपर नगरवासी लोग माङ्गलिक कार्य और श्रेष्ठ ब्राह्मणगण प्रसन्न चित्त होकर शुभ आशिर्वाद करने लगे ॥ २० ॥

ततः प्रदक्षिणीकृत्य शिरोभिः प्रणिपत्य च ।
ब्राह्मणानग्निसहितान्प्रययुः पाण्डुनन्दनाः ॥ २१ ॥

अनंतर पाण्डवोंने अग्निके सहित ब्राह्मणोंको प्रदक्षिणा तथा सिर झुकाके प्रणाम करके वहांसे प्रस्थान किया ॥ २१ ॥

समनुज्ञाप्य राजानं पुत्रशोकसमाहतम् ।
धृतराष्ट्रं सभार्यं वै पृथां पृथुललोचनाम् ॥ २२ ॥

पुत्रशोकसे व्याकुल राजा धृतराष्ट्र, गान्धारी और विशाललोचना कुन्तीकी अनुमति पाके वहांसे प्रस्थान किया ॥ २२ ॥

मूले निक्षिप्य कौरव्यं युयुत्सुं धृतराष्ट्रजम् ।
संपूज्यमानाः पौरैश्च ब्राह्मणैश्च मनीषिभिः ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥ १७८१ ॥

कुरुवंशीय धृतराष्ट्रपुत्र युयुत्सुको अपने कुलके मूलभूत धृतराष्ट्र, गान्धारी तथा कुन्तीके निकट सौंपकर पुरवासियों तथा मनीषि ब्राह्मणोंके द्वारा वे भली भांति सम्मानित हुए ॥ २३ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें बासठवां अध्याय समाप्त ॥ ६२ ॥ १७८१ ॥

: ६३ :

वैशम्पायन उवाच—

ततस्ते प्रययुर्हृष्टाः प्रहृष्टनरवाहनाः ।
रथघोषेण महता पूरयन्तो वसुंधराम् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— अनन्तर प्रसन्न मन मनुष्य और वाहनयुक्त पाण्डवगण स्वयं आनन्दित होकर रथके महान् शब्दके द्वारा पृथ्वीको परिपूरित करते हुए गमन करने लगे ॥ १ ॥

×

संस्तूयमानाः स्तुतिभिः सूतमागधबन्दिभिः ।
स्वेन सैन्येन संवीता यथादित्याः स्वरश्मिभिः ॥ २ ॥

उस समय सूत, मागध और बन्दिजन स्तुतिवाक्योंसे उनका स्तव करने लगे। वे लोग मानो निज किरणोंसे युक्त सूर्यकी भांति अपनी सेनाके बीच घिरकर चले ॥ २ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ।
बभौ युधिष्ठिरस्तत्र पौर्णमास्यामिवोडुराट् ॥ ३ ॥

उस समय सिरके ऊपर श्वेत वर्णका छाता लगानेसे राजा युधिष्ठिर पूर्णमासीमें उदय हुए चन्द्रमाकी भांति शोभित हुए ॥ ३ ॥

जयाशिषः प्रहृष्टानां नराणां पथि पाण्डवः ।
प्रत्यगृह्णाद्यथान्यायं यथावत्पुरुषर्षभः ॥ ४ ॥

पुरुषश्रेष्ठ पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने मार्गमें प्रहृष्ट पुरुषोंके जययुक्त आशीर्वादको बिधि तथा नीतिके अनुसार ग्रहण किया ॥ ४ ॥

तथैव सैनिका राजन्राजानमनुयान्ति ये ।
तेषां हलहलाशब्दो दिवं स्तब्ध्वा व्यतिष्ठत ॥ ५ ॥

हे राजन् ! राजाके अनुगामी सैनिक पुरुषोंका हलाहल शब्द गगनमण्डलको स्तब्ध करके गूंज उठता था ॥ ५ ॥

स सरांसि नदीश्चैव वनान्युपवनानि च ।
अत्यक्रामन्महाराजो गिरिं चैवन्वपद्यत ॥ ६ ॥

अनन्तर महाराजा युधिष्ठिर तालाब, नदी, बन और उपवनोंको अतिक्रम करके पर्वतके समीप उपस्थित हुए ॥ ६ ॥

तस्मिन्देशे च राजेन्द्र यत्र तद्द्रव्यमुत्तमम् ।
चक्रे निवेशनं राजा पाण्डवः सह सैनिकैः ।
शिवे देशे समे चैव तदा भरतसत्तम ॥ ७ ॥

हे राजेन्द्र ! जिस स्थानमें उस मरुत्त राजाका उत्तम धन रखा था, वहां पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरने सैनिक लोगोंके सहित एक समतल सुखकर स्थानमें पहुंचकर बासस्थान तैय्यार किया ॥ ७ ॥

अग्रतो ब्राह्मणान्कृत्वा तपोविद्यादमान्वितान् ।
पुरोहितं च कौरव्य वेदवेदाङ्गपारगम् ॥ ८ ॥

हे भरतसत्तम ! तपस्या, विद्या और दमगुणयुक्त ब्राह्मणों तथा वेदवेदाङ्ग जाननेवाले अग्निवेश्य धौम्य पुरोहितको अगाडी करके ॥ ८ ॥

प्राङ्निवेशात्तु राजानं ब्राह्मणाः सपुरोधसः ।
कृत्वा शान्तिं यथान्यायं सर्वतः पर्यवारयन् ॥ ९ ॥

बहुतसे राजा उस समतल शुभकर स्थानमें पुरोहित और ब्राह्मणोंके सहित यथोचित्त रीतिसे शान्ति करके उन्हें घेरके स्थित रहे ॥ ९ ॥

कृत्वा च मध्ये राजानममात्यांश्च यथाविधि ।
षट्पथं नवसंस्थानं निवेशं चक्रिरे द्विजाः ॥ १० ॥

अमात्योंके सहित राजा युधिष्ठिरको विधिपूर्वक मध्यवर्ती स्थानमें उन्होंने रखा था। ब्राह्मणोंने छः राजमार्ग और नौ खण्डवाली वह छावनी बनायी थी ॥ १० ॥

मत्तानां वारणेन्द्राणां निवेशं च यथाविधि ।
कारयित्वा स राजेन्द्रो ब्राह्मणानिदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

मतवारे हाथियोंके रहने योग्य एक स्थानका विधिवत् निर्माण कराया । अनन्तर राजेन्द्र युधिष्ठिर वासस्थान तैयार कराके ब्राह्मणोंसे इस प्रकार बोले ॥ ११ ॥

अस्मिन्कार्ये द्विजश्रेष्ठा नक्षत्रे दिवसे शुभे ।
यथा भवन्तो मन्यन्ते कर्तुमर्हथ तत्तथा ॥ १२ ॥

हे द्विजेन्द्रगण ! उत्तम नक्षत्रयुक्त शुभ दिनमें यह कार्य सम्पन्न करना होगा; इसमें आप लोगोंकी जैसी अभिलाषा हो, वैसाही करना चाहिये ॥ १२ ॥

न नः कालात्ययो वै स्यादिहैव परिलम्बताम् ।
इति निश्चित्य विप्रेन्द्राः क्रियतां यदनन्तरम् ॥ १३ ॥

परंतु जिसमें हम लोगोंके समयमें यहीं रहकर विलम्ब न हो, वैसाही निश्चय करके उसके अनंतर कर्तव्य कार्योंको सिद्ध करिये ॥ १३ ॥

श्रुत्वैतद्वचनं राज्ञो ब्राह्मणाः सपुरोधसः ।
इदमूचुर्वचो हृष्टा धर्मराजप्रियेप्सवः ॥ १४ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरके हितकी अभिलाषा करनेवाले पुरोहितके सहित ब्राह्मण लोग राजाका ऐसा वचन सुनके प्रसन्न चित्तसे बोले ॥ १४ ॥

अद्यैव नक्षत्रमहश्च पुण्यं यतामहे श्रेष्ठतमं क्रियासु ।
अम्भोभिरद्येह वसाम राजन्नुपोष्यतां चापि भवद्भिरद्य ॥ १५ ॥

हे महाराज ! आज ही उत्तम नक्षत्र तथा पुण्यदिन है, इसलिये आज ही हम लोग श्रेष्ठतम कार्य करनेका प्रयत्न करेंगे । हमलोग इस स्थानमें आज केवल जल पीके रहेंगे और आप लोग भी उपवास करिये ॥ १५ ॥

श्रुत्वा तु तेषां द्विजसत्तमानां कृतोपवासा रजनीं नरेन्द्राः ।
ऊषुः प्रतीताः कुशसंस्तरेषु यथाध्वरेषु ज्वलिता हव्यवाहाः ॥ १६ ॥

राजाओंने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका वचन सुनके उपवास करते हुए रात्रिके समय प्रसन्नचित्तसे कुश शय्यापर शयन किया। वे यज्ञस्थलमें प्रज्वलित अग्निकी भांति जान पडते थे ॥ १६ ॥

ततो निशा सा व्यगमन्महात्मनां संश्रृण्वतां विप्रसमीरिता गिरः ।
ततः प्रभाते विमले द्विजर्षभा वचोऽब्रुवन्धर्मसुतं नराधिपम् ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकेपर्वणि त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥ १७८९ ॥

तदनन्तर ब्राह्मणोंके धर्मयुक्त बचनको सुनते सुनते महात्मा पाण्डवोंकी वह रात बीत गई; अनन्तर निर्मल प्रभातका समय उपस्थित होनेपर ब्राह्मण लोग धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरसे कहने लगे ॥ १७ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें तिरसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६३ ॥ १७९८॥

: ६४ :

ब्राह्मणा ऊचुः

क्रियतामुपहारोऽद्य त्र्यम्बकस्य महात्मनः ।
कृत्वोपहारं नृपते ततः स्वार्थे यतामहे ॥ १ ॥

ब्राह्मणगण बोले– हे नरनाथ! पहले आप महात्मा त्र्यम्बककी पूजा करिये। उसके अनन्तर हम लोग तुम्हारे अर्थसिद्धिके विषयमें यत्नवान् होंगे ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच–

श्रुत्वा तु वचनं तेषां ब्राह्मणानां युधिष्ठिरः ।
गिरीशस्य यथान्यायमुपहारमुपाहरत् ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– राजा युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंका बचन सुनके भगवान् गिरीश महादेवको विधानपूर्वक नैवेद्य अर्पण किया ॥ २ ॥

आज्येन तर्पयित्वाग्निं विधिवत्संस्कृतेन ह ।
मन्त्रसिद्धं चरुं कृत्वा पुरोधाः प्रययौ तदा ॥ ३ ॥

तब उनके पुरोहितने विधिपूर्वक संस्कारयुक्त घृतसे अग्निकी पूजा करते हुए मन्त्रसिद्ध चरु तैयार किया और वह अर्पण करनेके लिये देवताके समीप गमन किया ॥ ३ ॥

स गृहीत्वा सुमनसो मन्त्रपूता जनाधिप ।
मोदकैः पायसेनाथ मांसैश्चोपाहरद्बलिम् ॥ ४ ॥

हे प्रजानाथ! उन्होंने मन्त्रपूरित पुष्प लेकर मोदक, पायस और मांस प्रभृति बलि मंगाकर महादेवकी पूजा की ॥ ४ ॥

सुमनोभिश्च चित्राभिर्लाजैरुच्चावचैरपि ।
सर्वं स्विष्टकृतं कृत्वा विधिवद्वेदपारगः ।
किंकराणां ततः पश्चाच्चकार बलिमुत्तमम् ॥ ५ ॥

अनेक प्रकारके फूल, विविध लाजके सहित सब उत्तम वस्तुओं द्वारा वेदोंके पारंगत विद्वान् पुरोहितने विधिपूर्वक देवताको अत्यंत प्रिय सर्व कर्म किये; फिर भगवान् शंकरके किंकरोंको उत्तम बलि अर्पण किया ॥ ५ ॥

यक्षेन्द्राय कुबेराय मणिभद्राय चैव ह ।
तथान्येषां च यक्षाणां भूताधिपतयश्च ये ॥ ६ ॥

अनन्तर यक्षेन्द्र कुबेर, मणिभद्र, अन्य यक्ष और भूतोंके अधिपतियोंकी ॥ ६ ॥

कृसरेण समांसेन निवापैस्तिलसंयुतैः ।
शुशुभे स्थानमत्यर्थं देवदेवस्य पार्थिव ॥ ७ ॥

कृसर (खिचडी), मांस तथा तिलयुक्त जलकी अञ्जलियां अर्पण करके उनकी पूजा की। हे पार्थिव ! देवाधिदेव महादेवका वह स्थान अत्यन्त शोभित हुआ ॥ ७ ॥

कृत्वा तु पूजां रुद्रस्य गणानां चैव सर्वशः ।
ययौ व्यासं पुरस्कृत्य नृपो रत्ननिधिं प्रति ॥ ८ ॥

अनन्तर राजा युधिष्ठिर भगवान् रुद्र और उनके गणकी सब प्रकारसे पूजा करके व्यासदेवको अगाडी करके रत्न तथा सुवर्णकी निधिके निकट गये ॥ ८ ॥

पूजयित्वा धनाध्यक्षं प्रणिपत्याभिवाद्य च ।
सुमनोभिर्विचित्राभिरपूपैः कृसरेण च ॥ ९ ॥

वहांपर वीर्यवान् युधिष्ठिरने अनेक विचित्र पुष्प, मालपुआ और कृसरके द्वारा धनाध्यक्ष कुबेरकी पूजा करके उन्हें प्रणाम और अभिवादन किया ॥ ९ ॥

शङ्खादींश्च निधीन्सर्वान्निधिपालांश्च सर्वशः ।
अर्चयित्वा द्विजाग्र्यान्स स्वस्ति वाच्य च वीर्यवान् ॥ १० ॥

शङ्खादि निधि तथा सब निधिपालोंका पूजन करके श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी पूजा की; फिर उनसे स्वस्तिवाचन कराया ॥ १० ॥

तेषां पुण्याहघोषेण तेजसा समवस्थितः ।
प्रीतिमान्स कुरुश्रेष्ठः खानयामास तं निधिम् ॥ ११ ॥

कुरुपति युधिष्ठिर ब्राह्मणोंके पुण्याह घोषसे तेजस्वी होकर वे प्रसन्नचित्तसे उस निधिको खुदवाने लगे ॥ ११ ॥

ततः पात्र्यः सकरकाः साश्मन्तकमनोरमाः ।
भृङ्गाराणि कटाहानि कलशान्वर्धमानकान् ॥ १२ ॥

अनन्तर उस खजानेसे करकाके सहित अनेक प्रकारके आश्मन्तक मनोरम पात्र, भृङ्गार, कटाह, कलश, सराव ॥ १२ ॥

बहूनि च विचित्राणि भाजनानि सहस्रशः ।
उद्धारयामास तदा धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १३ ॥

तथा सैकडों सहस्रों विचित्र पात्रोंको उस समय धर्मराज युधिष्ठिरने भूमि खोदकर बाहिर निकाला ॥ १३ ॥

तेषां लक्षणमप्यासीन्महान्करपुटस्तथा ।
त्रिलक्षं भाजनं राजंस्तुलार्धमभवन्नृप ॥ १४ ॥

हे राजन् ! उनको रखनेके लिये वहां बहुतसी बडी बडी संदूकें लायी थीं । संदूकमें बंद किये हुए त्रिलक्ष पात्रोंका वजन आधा आधा भार होता था ॥ १४ ॥

वाहनं पाण्डुपुत्रस्य तत्रासीत्तु विशां पते ।
षष्टिरुष्ट्रसहस्राणि शतानि द्विगुणा हयाः ॥ १५ ॥

प्रजापते ! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके वहांपर भार ढोनेवाले वाहन साठ हजार ऊंट, एक करोड बीस लाख घोडे ॥ १५ ॥

वारणाश्च महाराज सहस्रशतसंमिताः ।
शकटानि रथाश्चैव तावदेव करेणवः ।
खराणां पुरुषाणां च परिसंख्या न विद्यते ॥ १६ ॥

एक लाख हाथी, एक लाख शकट, एक लाख रथ, और उतनीहि हाथिनियां थीं । असंख्य गधे तथा मनुष्य विद्यमान थे ॥ १६ ॥

एतद्वित्तं तदभवद्यदुद्दध्रे युधिष्ठिरः ।
षोडशाष्टौ चतुर्विंशत्सहस्रं भारलक्षणम् ॥ १७ ॥

राजा युधिष्ठिरने वहां सोलह करोड आठ लाख और चोवीस हजार भार सुवर्ण उस खानिसे खुदवाया था ॥ १७ ॥

एतेष्वाधाय तद्द्रव्यं पुनरभ्यर्च्य पाण्डवः ।
महादेवं प्रति ययौ पुरं नागाह्वयं प्रति ॥ १८ ॥

उन वस्तुओंको सब वाहनोंके ऊपर सामर्थ्यके अनुसार बांधकर फिर पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर महादेवकी पूजा करके हस्तिनापुरकी ओर चले ॥ १८ ॥

द्वैपायनाभ्यनुज्ञातः पुरस्कृत्य पुरोहितम् ।
गोयुते गोयुते चैव न्यवसत्पुरुषर्षभः ॥ १९ ॥

अनन्तर वेदव्यासकी आज्ञा लेकर पुरोहितको आगे करके प्रतिदिन दो कोसकी दूरीपर निवास करने लगे ॥ १९ ॥

सा पुराभिमुखी राजञ्जगाम महती चमूः ।
कृच्छ्राद्द्रविणभारार्ता हर्षयन्ती कुरूद्वहान् ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥ १८१८ ॥

हे राजन् ! वह नगरकी ओर चलनेवाली विशाल सेना द्रविणभारसे थककर भी अत्यन्त कष्टसे बोझा ढोती हुई कुरुकुल श्रेष्ठ वीरोंको हर्षित करने लगी ॥ २० ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें चौसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६४ ॥ १८१८ ॥

: ६५ :

वैशम्पायन उवाच—

एतस्मिन्नेव काले तु वासुदेवोऽपि वीर्यवान् ।
उपायाद्वृष्णिभिः सार्धं पुरं वारणसाह्वयम् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— इतनेही समयके बीच पुरुषश्रेष्ठ वीर्यवान् श्रीकृष्ण भी वृष्णिवंशियोंको साथ लेकर हस्तिनापुर आ गये ॥ १ ॥

समयं वाजिमेधस्य विदित्वा पुरुषर्षभः ।
यथोक्तो धर्मपुत्रेण व्रजन्स स्वपुरीं प्रति ॥ २ ॥

उनके निजपुरी द्वारका नगरीकी ओर चलनेके समय धर्मराजने जो बात कही थी, उस अश्वमेधयज्ञके समयको स्मरण करके पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण पहलेही उपस्थित हो गये ॥ २ ॥

रौक्मिणेयेन सहितो युयुधानेन चैव ह ।
चारुदेष्णेन साम्बेन गदेन कृतवर्मणा ॥ ३ ॥

उनके साथ रुक्मिणीपुत्र प्रद्युम्न, युयुधान, चारुदेष्ण, साम्ब, गद, कृतवर्मा ॥ ३ ॥

सारणेन च वीरेण निशठेनोल्मुकेन च ।
बलदेवं पुरस्कृत्य सुभद्रासहितस्तदा ॥ ४ ॥

सारण वीर निशठ और उलमुक, इन सबके सहित सुभद्राको संग लेकर बलदेवको अगाडी करके हस्तिनापुरमें आके उपस्थित हुए थे ॥ ४ ॥

द्रौपदीमुत्तरां चैव पृथां चाप्यवलोककः ।
समाश्वासयितुं चापि क्षत्रिया निहतेश्वराः ॥ ५ ॥

अनन्तर श्रीकृष्णने द्रौपदी, उत्तरा और कुंतीको मिलकर अन्यान्य जिन क्षत्रिया स्त्रियोंके पति मारे गये थे उनको धीरज देते हुए आते थे ॥ ५ ॥

तानागतान्समीक्ष्यैव धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
प्रत्यगृह्णाद्यथान्यायं विदुरश्च महामनाः ॥ ६ ॥

राजा धृतराष्ट्र और महात्मा विदुरने उन वृष्णिवंशियोंको समागत देखकर सम्मानके साहित विधिवत् सत्कार किया ॥ ६ ॥

तत्रैव न्यवसत्कृष्णः स्वर्चितः पुरुषर्षभः ।
विदुरेण महातेजास्तथैव च युयुत्सुना ॥ ७ ॥

पुरुषश्रेष्ठ महातेजस्वी श्रीकृष्ण, विदुर और युयुत्सुके द्वारा उत्तम रीतिसे सम्मानित और पूजित होकर वृष्णिवंशियोंके सहित उसही स्थानमें रहने लगे ॥ ७ ॥

वसत्सु वृष्णिवीरेषु तत्राथ जनमेजय ।
जज्ञे तव पिता राजन्परिक्षित्परवीरहा ॥ ८ ॥

हे जनमेजय ! अनन्तर वृष्णिवंशीवीरोंके वहां रहते हुए ही तुम्हारे पिता परवीरहन्ता परीक्षितका जन्म हुआ ॥ ८ ॥

स तु राजा महाराज ब्रह्मास्त्रेणाभिपीडितः ।
शवो बभूव निश्चेष्टो हर्षशोकविवर्धनः ॥ ९ ॥

महाराज ! परंतु वे राजा परीक्षित गर्भके बीच ब्रह्मास्त्रके द्वारा पीडित होनेसे मृतक समान निश्चेष्ट उत्पन्न हुए; इस कारण वे लोगोंका हर्ष और शोक बढानेवाले हो गये ॥ ९ ॥

हृष्टानां सिंहनादेन जनानां तत्र निस्वनः ।
आविश्य प्रदिशः सर्वाः पुनरेव व्युपारमत् ॥ १० ॥

उस समय पुत्रजन्मका समाचार सुनकर हर्षयुक्त पुरुषोंके सिंहनादके सहित तुमुल शब्द प्रकट होके सब दिशाओंमें प्रवेश करते हुए फिर शान्त हुआ ॥ १० ॥

ततः सोऽतित्वरः कृष्णो विवेशान्तःपुरं तदा ।
युयुधानद्वितीयो वै व्यथितेन्द्रियमानसः ॥ ११ ॥

अनन्तर श्रीकृष्णने व्यथितेन्द्रिय तथा दुःखितचित्त होकर सात्यकिके सङ्ग अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ ११ ॥

ततस्त्वरितमायान्तीं ददर्श स्वां पितृष्वसाम् ।
क्रोशन्तीमभिधावेति वासुदेवं पुनः पुनः ॥ १२ ॥

श्रीकृष्णने निज बुआ कुन्तीको ऊंचे स्वरसे रोदन करती तथा 'श्रीकृष्ण शीघ्र दौडो' ऐसा वचन कहती हुई शीघ्रतापूर्वक आती देखा ॥ १२ ॥

पृष्ठतो द्रौपदीं चैव सुभद्रां च यशस्विनीम् ।
सविक्रोशं सकरुणं बान्धवानां स्त्रियो नृप ॥ १३ ॥

राजन् ! उसके पीछे द्रौपदी, यशस्विनी सुभद्रा तथा अन्यान्य बान्धवोंकी स्त्रियां भी करुणा स्वरसे रोती हुई चली आती थीं ॥ १३ ॥

ततः कृष्णं समासाद्य कुन्ती राजसुता तदा ।
प्रोवाच राजशार्दूल बाष्पगद्गदया गिरा ॥ १४ ॥

हे राजशार्दूल ! उस समय राजपुत्री कुन्ती श्रीकृष्णके निकट पहुंचकर आंसू बहाती हुई गद्गद वचनसे बोली ॥ १४ ॥

वासुदेव महाबाहो सुप्रजा देवकी त्वया ।
त्वं नो गतिः प्रतिष्ठा च त्वदायत्तमिदं कुलम् ॥ १५ ॥

हे महाबाहु श्रीकृष्ण ! तुम्हारे ही द्वारा देवकी सुप्रजा हुई है, तुम ही हम लोगोंकी एक मात्र गति तथा प्रतिष्ठा हो, यह कुरुकुल तुम्हारेही आधीन हुआ है ॥ १५ ॥

यदुप्रवीर योऽयं ते स्वस्रीयस्यात्मजः प्रभो ।
अश्वत्थाम्ना हतो जातस्तमुज्जीवय केशव ॥ १६ ॥

हे यदुप्रवीर ! इसलिये जो तुम्हारे भानजे अभिमन्युका बालक अश्वत्थामाके अस्त्रसे मरा हुआ ही उत्पन्न हुआ है, केशव ! तुम उसे जीवित करो ॥ १६ ॥

त्वया ह्येतत्प्रतिज्ञातमैषीके यदुनन्दन ।
अहं संजीवयिष्यामि मृतं जातमिति प्रभो ॥ १७ ॥

हे यदुनन्दन ! प्रभो ! अश्वत्थामाके ऐषिकास्त्र चलानेके समयमें तुमने ऐसी प्रतिज्ञा की थी, कि उत्तराके मृत पुत्र होनेपर भी मैं उसे जीवित करूंगा ॥ १७ ॥

सोऽयं जातो मृतस्तात पश्यैनं पुरुषर्षभ ।
उत्तरां च सुभद्रां च द्रौपदीं मां च माधव ॥ १८ ॥

हे तात ! देखो, इस समय यह मरा हुआ पुत्र जन्मा है ! हे यदुबीर ! इसलिये तुम इस बालक पर कृपादृष्टि डालकर उसे जीवित करके उत्तरा, सुभद्रा और द्रौपदी सहित मेरी भी रक्षा करो ॥ १८ ॥

+

धर्मपुत्रं च भीमं च फल्गुनं नकुलं तथा ।
सहदेवं च दुर्धर्ष सर्वांस्त्रातुमर्हसि ॥ १९ ॥

दुर्धर्षवीर ! धर्मपुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवकी रक्षा करो । तुम हम सबोंका उद्धार करें ॥ १९ ॥

अस्मिन्प्राणाः समायत्ताः पाण्डवानां ममैव च ।
पाण्डोश्च पिण्डो दाशार्ह तथैव श्वशुरस्य मे ॥ २० ॥

मेरे और पाण्डवोंके प्राण इस बालकके स्वाधीन हैं । श्रीकृष्ण ! विशेष करके यह बालक मेरे पति पाण्डु तथा श्वशुरके पिण्डका अधिकारी हुआ है ॥ २० ॥

अभिमन्योश्च भद्रं ते प्रियस्य सदृशस्य च ।
प्रियमुत्पादयाद्य त्वं प्रेतस्यापि जनार्दन ॥ २१ ॥

हे जनार्दन ! तुम्हारा कल्याण हो ! तुम्हारे प्रिय और तुम्हारे सदृश सुन्दर मृत अभिमन्युका प्रिय करो; आज तुम इस बालकको जिलाकर उसका प्रिय कार्य करो ॥ २१ ॥

उत्तरा हि प्रियोक्तं वै कथयत्यरिसूदन ।
अभिमन्योर्वचः कृष्ण प्रियत्वात्ते न संशयः ॥ २२ ॥

हे शत्रुसूदन ! पहले अभिमन्युने प्रणयवशसे उत्तरासे जो कहा था और जो वह अत्यंत प्रिय होनेके कारण कहती है, उसके उस वचनमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ २२ ॥

अब्रवीत्किल दाशार्ह वैराटीमार्जुनिः पुरा ।
मातुलस्य कुलं भद्रे तव पुत्रो गमिष्यति ॥ २३ ॥

हे दाशार्ह ! पहले अर्जुनपुत्र अभिमन्युने विराटपुत्री उत्तरासे कहा था, हे भद्रे ! तुम्हारा पुत्र मेरे मातुलकुलमें जायगा ॥ २३ ॥

गत्वा वृष्ण्यन्धककुलं धनुर्वेदं ग्रहीष्यति ।
अस्त्राणि च विचित्राणि नीतिशास्त्रं च केवलम् ॥ २४ ॥

उस वृष्णि तथा अन्धककुलमें ही जाकर धनुर्वेद, विचित्र अस्त्र तथा विशुद्ध नितिशास्त्र ग्रहण करेगा ॥ २४ ॥

इत्येतत्प्रणयात्तात सौभद्रः परवीरहा ।
कथयामास दुर्धर्षस्तथा चैतन्न संशयः ॥ २५ ॥

हे तात ! परवीर संहारक दुर्धर्ष सुभद्रापुत्रने जो प्रणयनिबन्धनसे इस ही प्रकार कहा था, निश्चयही वैसा हुआ ॥ २५ ॥

तास्त्वां वयं प्रणम्येह याचामो मधुसूदन ।
कुलस्यास्य हितार्थं त्वं कुरु कल्याणमुत्तमम् ॥ २६ ॥

हे मधुसूदन ! हम लोग सिर नीचा करके तुम्हारे समीप प्रार्थना करती हैं, कि इस कुरुकुलके हितके विषयमें जिस प्रकार उत्तम कल्याण हो, तुम वैसा ही करो ॥ २६ ॥

एवमुक्त्वा तु वार्ष्णेयं पृथा पृथुललोचना ।
उच्छ्रित्य बाहू दुःखार्ता ताश्चान्याः प्रापतन्भुवि ॥ २७ ॥

पृथुलोचना पृथा अन्यान्य कुरुस्त्रियोंके सहित वृष्णिवंशीय श्रीकृष्णसे ऐसा ही कहके अत्यन्त दुःखित चित्तसे दोनों भुजा उठाके पृथ्वीपर गिर पडीं ॥ २७ ॥

अब्रुवंश्च महाराज सर्वाः सास्राविलेक्षणाः ।
स्वस्रीयो वासुदेवस्य मृतो जात इति प्रभो ॥ २८ ॥

महाराज ! इधर आखोंमें आंसू भरे हुए उनकी सब स्त्रियां कहने लगी, कि श्रीकृष्णके भानजेका पुत्र मरा हुआ जन्मा है ॥ २८ ॥

एवमुक्ते ततः कुन्तीं प्रत्यगृह्णाज्जनार्दनः ।
भूमौ निपतितां चैनां सान्त्वयामास भारत ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥ ॥ १८४७ ॥

हे भारत ! सबके इसही प्रकार कहते रहनेपर जनार्दन पृथ्वीपर गिरी हुई कुंतीको उठाकर धीरज देने लगे ॥ २९ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें पैसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६५ ॥ ॥ १८४७ ॥

: ६६ :

वैशम्पायन उवाच—

उत्थितायां पृथायां तु सुभद्रा भ्रातरं तदा ।
दृष्ट्वा चुक्रोश दुःखार्ता वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— उस समय कुंतीके उठनेपर सुभद्रा अपने भाई श्रीकृष्णको देखकर दुःखसे अत्यंत आर्त होकर रोती हुई यह वचन बोली ॥ १ ॥

पुण्डरीकाक्ष पश्यस्व पौत्रं पार्थस्य धीमतः ।
परिक्षीणेषु कुरुषु परिक्षीणं गतायुषम् ॥ २ ॥

हे पुण्डरीकाक्ष ! देखो, कुरुकुलके नष्ट होनेसे ही यह बुद्धिमान् अर्जुनका पौत्र परिक्षीण तथा गतायु होके उत्पन्न हुआ है ॥ २ ॥

इषीका द्रोणपुत्रेण भीमसेनार्थमुद्यता ।
सोत्तरायां निपतिता विजये मयि चैव ह ॥ ३ ॥

द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने जो भीमसेनके वधके लिये ऐषिकास्त्र चलाया था, वह अस्त्र उत्तरा, तुम्हारे मित्र अर्जुन और मेरे पर गिरा है ॥ ३ ॥

सेयं ज्वलन्ती हृदये मयि तिष्ठति केशव ।
यन्न पश्यामि दुर्धर्ष मम पुत्रसुतं विभो ॥ ४ ॥

हे केशव ! दुर्धर्ष ! विभो ! इस समय उस पुत्रसहित अभिमन्युको न देखनेपर वह बाण मेरे हृदयमें ज्वलित होते हुए कसक रहा है ॥ ४ ॥

किं नु वक्ष्यति धर्मात्मा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनार्जुनौ चापि माद्रवत्याः सुतौ च तौ ॥ ५ ॥

धर्मात्मा धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन और माद्रीपुत्र नकुल–सहदेव ये लोग ॥ ५ ॥

श्रुत्वाभिमन्योस्तनयं जातं च मृतमेव च ।
मुषिता इव वार्ष्णेय द्रोणपुत्रेण पाण्डवाः ॥ ६ ॥

अभिमन्युके पुत्रको मरा ही उत्पन्न हुआ सुनके क्या कहेंगे ? हे श्रीकृष्ण ! इससे मानो पाण्डव लोग द्रोणपुत्रके द्वारा अपहृत हुए ॥ ६ ॥

अभिमन्युः प्रियः कृष्ण पितृणां नात्र संशयः ।
ते श्रुत्वा किं नु वक्ष्यन्ति द्रोणपुत्रास्त्रनिर्जिताः ॥ ७ ॥

हे वार्ष्णेय ! अभिमन्यु सब भाईयोंको अत्यंत प्रिय था, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है; उसके पुत्रकी यह दशा सुनकर द्रोणपुत्रके अस्त्रसे पराजित हुए वे क्या कहेंगे ? ॥ ७ ॥

भवितातः परं दुःखं किं नु मन्ये जनार्दन ।
अभिमन्योः सुतात्कृष्ण मृताज्जातादरिंदम ॥ ८ ॥

हे जनार्दन ! अभिमन्युके मृत पुत्र उत्पन्न होनेसे इससे अधिक दुःखका विषय और क्या तुम मानते हो ? ॥ ८ ॥

साहं प्रसादये कृष्ण त्वामद्य शिरसा नता ।
पृथेयं द्रौपदी चैव ताः पश्य पुरुषोत्तम ॥ ९ ॥

हे पुरुषोत्तम ! आज मैं सिर झुकाके तुम्हें प्रसन्न करती हूं; तुम इस कुंती तथा द्रौपदीकी ओर देखो ॥ ९ ॥

यदा द्रोणसुतो गर्भान्पाण्डूनां हन्ति माधव ।
तदा किल त्वया द्रौणिः क्रुद्धेनोक्तोऽरिमर्दन ॥ १० ॥

हे माधव ! जिस समय द्रोणपुत्र पाण्डवोंकी वधुओंके गर्भकी हत्या कर रहा था, उस समय तुमने क्रुद्ध होके उससे कहा था ॥ १० ॥

अकामं त्वा करिष्यामि ब्रह्मबन्धो नराधम ।
अहं संजीवयिष्यामि किरीटिननयात्मजम् ॥ ११ ॥

हे नराधम ब्रह्मबन्धु ! मैं अर्जुनके पौत्रको जीवित करके तेरी कामना विफल करूंगा ॥ ११ ॥

इत्येतद्वचनं श्रुत्वा जानमाना बलं तव ।
प्रसादये त्वा दुर्धर्ष जीवतामभिमन्युजः ॥ १२ ॥

दुर्धर्ष ! मैं तुम्हारा यह वाक्य सुनकर तुम्हारा बल मालूम करके तुम्हें प्रसन्न करती हूं, तुम अभिमन्युके पुत्रको जीवित करो ॥ १२ ॥

यद्येवं त्वं प्रतिश्रुत्य न करोषि वचः शुभम् ।
सफलं वृष्णिशार्दूल मृतां मामुपधारय ॥ १३ ॥

हे वृष्णिशार्दूल ! यदि तुम ऐसी प्रतिज्ञा करके इस समय उस मंगलमय वचनको पूर्णतः सफल न करोगे, तो जान रखो, कि मैं तुम्हारे सम्मुखमें निश्चय ही प्राण परित्याग करूंगी ॥ १३ ॥

अभिमन्योः सुतो वीर न संजीवति यद्ययम् ।
जीवति त्वयि दुर्धर्ष किं करिष्याम्यहं त्वया ॥ १४ ॥

हे वीर ! यदि यह अभिमन्युका पुत्र जीवित न होगा, तो तुम्हारे जीवित रहते मैं तुम्हें लेके क्या करूंगी ? ॥ १४ ॥

संजीवयैनं दुर्धर्ष मृतं त्वमभिमन्युजम् ।
सदृशाक्षसुतं वीर सस्यं वर्षन्निवाम्बुदः ॥ १५ ॥

हे दुर्धर्ष ! इसलिये जैसे बादल जलकी वर्षा करके फल और धान्यको जीवित करते हैं, वैसे ही तुम अपने ही समान आंखोंवाले अभिमन्युके इस मरे हुए पुत्रको जीवित करो ॥ १५ ॥

त्वं हि केशव धर्मात्मा सत्यवान्सत्यविक्रमः ।
स तां वाचमृतां कर्तुमर्हसि त्वमरिंदम ॥ १६ ॥

हे शत्रुदमन केशव ! तुम धर्मात्मा, सत्यवादी और सत्यपराक्रमी हो; इसलिये तुम ही अपने कहे हुए वचनको सत्य करनेमें समर्थ हो ॥ १६ ॥

इच्छन्नपि हि लोकांस्त्रीञ्जीवयेथा मृतानिमान् ।
किं पुनर्दयितं जातं स्वस्रीयस्यात्मजं मृतम् ॥ १७ ॥

इस मृत उत्पन्न हुए अपने परमप्रिय भानजेके पुत्रको जीवित करना, तुम्हारे पक्षमें कुछ बडी बात नहीं है; क्योंकि तुम इच्छा करनेसे त्रिलोकवासी समस्त मृत लोगोंको जीवित कर सकते हो ॥ १७ ॥

प्रभावज्ञास्मि ते कृष्ण तस्मादेतद्ब्रवीमि ते ।
कुरुष्व पाण्डुपुत्राणामिमं परमनुग्रहम् ॥ १८ ॥

हे श्रीकृष्ण ! मैं तुम्हारा प्रभाव जानती हूं; इसही लिये तुम्हारे समीप यह प्रार्थना करती हूं । तुम पाण्डुपुत्रोंके विषयमें यह परम अनुग्रह प्रकाशित करो ॥ १८ ॥

स्वसेति वा महाबाहो हतपुत्रेति वा पुनः ।
प्रपन्ना मामियं वेति दयां कर्तुमिहार्हसि ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥ १८६६ ॥

हे महाबाहो ! बहिन जानके तथा हतपुत्रा अथवा शरणमें आई हुई समझके मेरे विषयमें तुम्हें दया करनी उचित है ॥ १९ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें छाछठवां अध्याय समाप्त ॥ ६६ ॥ १८६६ ॥

: ६७ :

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तस्तु राजेन्द्र केशिहा दुःखमूर्छितः ।
तथेति व्याजहारोच्चैर्ह्लादयन्निव तं जनम् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— हे राजेन्द्र ! जब सुभद्राने ऐसा कहा, तब केशिनिषूदन श्रीकृष्णने दुःखसे व्यथित होकर ऊंचे स्वरसे ' ऐसा ही होगा ' इतना वचन कहके वहां पर सब लोगोंको हर्षित किया ॥ १ ॥

वाक्येन तेन हि तदा तं जनं पुरुषर्षभः ।
ह्लादयामास स विभुर्घर्मार्तं सलिलैरिव ॥ २ ॥

जैसे सूर्यकी धूपसे आर्त हुआ पुरुष जलसेचनसे सुखी होता है, वैसे ही उस समय पुरुषश्रेष्ठ श्रीकृष्णके उस वचनसे सब कोई अत्यन्त सन्तुष्ट हुए ॥ २ ॥

ततः स प्राविशत्तूर्णं जन्मवेश्म पितुस्तव ।
अर्चितं पुरुषव्याघ्र सितैर्माल्यैर्यथाविधि ॥ ३ ॥

पुरुषव्याघ्र ! अनन्तर उन्होंने शीघ्र ही तुम्हारे पिताके जन्मगृहमें प्रवेश करके देखा, कि वह गृह सफेद फूलोंकी मालाओंसे विधिपूर्वक सज्जित किया गया है ॥ ३ ॥

अपां कुम्भैः सुपूर्णैश्च विन्यस्तैः सर्वतोदिशम् ।
घृतेन तिन्दुकालातैः सर्षपैश्च महाभुज ॥ ४ ॥

महाबाहो ! वह चारों ओरसे जलभरे कलशोंसे युक्त है, घृत, तिन्दुक, काष्ठ, वृक्षोंके पल्लव, सरसों ॥ ४ ॥

शस्त्रैश्च विमलैर्न्यस्तैः पावकैश्च समन्ततः ।
वृद्धाभिश्चाभिरामाभिः परिचारार्थमच्युत ॥ ५ ॥

विमल शस्त्र रखे थे और अग्नि यथायोग्य स्थानपर प्रज्वलित हो स्थित हैं; वहांपर सेवाके लिये बूढी रमणीय परिचारिकाओंने उस गृहको घेर दिया था ॥ ५ ॥

दक्षैश्च परितो वीर भिषग्भिः कुशलैस्तथा ।
ददर्श च स तेजस्वी रक्षोघ्नान्यपि सर्वशः ।
द्रव्याणि स्थापितानि स्म विधिवत्कुशलैर्जनैः ॥ ६ ॥

चिकित्साके लिये उत्तम निपुण कुशल वैद्य चारों ओर विद्यमान हैं और कुशल पुरुषोंके द्वारा राक्षसोंका निवारण करनेवाली अनेक प्रकारकी वस्तुएं विधिपूर्वक स्थापित हो रही हैं, यह सब तेजस्वी श्रीकृष्णने देखा ॥ ६ ॥

तथायुक्तं च तद्दृष्ट्वा जन्मवेश्म पितुस्तव ।
हृष्टोऽभवद्धृषीकेशः साधु साध्विति चाब्रवीत् ॥ ७ ॥

हृषीकेश तुम्हारे पिताके जन्मगृहको इस प्रकार आवश्यक वस्तुओंसे युक्त देखकर अत्यन्त हर्षित होके ' धन्य धन्य ' कहने लगे ॥ ७ ॥

तथा ब्रुवति वार्ष्णेये प्रहृष्टवदने तदा ।
द्रौपदी त्वरिता गत्वा वैराटीं वाक्यमब्रवीत् ॥ ८ ॥

वृष्णिनन्दन श्रीकृष्णके प्रसन्नवदन होकर ऐसा कहनेपर उसी समय द्रौपदी शीघ्रताके सहित विराटनन्दिनी उत्तराके पास जाकर उससे बोली ॥ ८ ॥

अयमायाति ते भद्रे श्वशुरो मधुसूदनः ।
पुराणर्षिरचिन्त्यात्मा समीपमपराजितः ॥ ९ ॥

' हे भद्रे ! ये तुम्हारे श्वशुर, पुराण ऋषि, अचिन्त्यात्मा, अपराजित मधुसूदन श्रीकृष्ण तुम्हारे निकट आ रहे हैं ॥ ९ ॥

सापि बाष्पकलां वाचं निगृह्याश्रूणि चैव ह ।
सुसंवीताभवद्देवी देववत्कृष्णमीक्षती ॥ १० ॥

उत्तराने देवी द्रौपदीका बचन सुनके आसूंओंको रोककर रुदन बंद करके देवताकी भांति श्रीकृष्णको देखके अपने शरीरको वस्त्रसे ढक दिया ॥ १० ॥

सा तथा दूयमानेन हृदयेन तपस्विनी ।
दृष्ट्वा गोविन्दमायान्तं कृपणं पर्यदेवयत् ॥ ११ ॥

अनन्तर वह तपस्विनी विराटपुत्री आये हुए गोविन्दको देखकर शोकपूरित हृदय होकर करुणायुक्त बचनसे इस प्रकार विलाप करने लगी ॥ ११ ॥

पुण्डरीकाक्ष पश्यस्व बालाविह विनाकृतौ ।
अभिमन्युं च मां चैव हतौ तुल्यं जनार्दन ॥ १२ ॥

हे पुण्डरीकाक्ष ! जनार्दन ! देखिये, यहां मैं और मेरे पति दोनों बालकविहीन हो गये; अभिमन्युको तथा मुझे भी मरी हुईके समान जानो ॥ १२ ॥

वार्ष्णेय मधुहन्वीर शिरसा त्वां प्रसादये ।
द्रोणपुत्रास्त्रनिर्दग्धं जीवयैनं ममात्मजम् ॥ १३ ॥

हे मधुसूदन ! मैं सिर नीचा करके आपके निकट यह प्रार्थना करती हूं, कि आप द्रोणपुत्रके अस्त्रसे दग्ध हुए मेरे इस पुत्रको जीवित करिये ॥ १३ ॥

यदि स्म धर्मराज्ञा वा भीमसेनेन वा पुनः ।
त्वया वा पुण्डरीकाक्ष वाक्यमुक्तमिदं भवेत् ॥ १४ ॥

हे पुण्डरीकाक्ष ! यदि धर्मराज अथवा भीमसेन अथवा आप ऐसा कहते ॥ १४ ॥

अजानतीमिषीकेयं जनित्रीं हन्त्विति प्रभो ।
अहमेव विनष्टा स्यां नेदमेवंगतं भवेत् ॥ १५ ॥

कि यह एषिकास्त्र इस अज्ञानवती गर्भिणीका वध करे, तो उस समय मेरा विनाश होनेसेही भला होता, क्योंकि तब ऐसी अनर्थ कारक घटना न होती ॥ १५ ॥

गर्भस्थस्यास्य बालस्य ब्रह्मास्त्रेण निपातनम् ।
कृत्वा नृशंसं दुर्बुद्धिर्द्रौणिः किं फलमश्नुते ॥ १६ ॥

दुर्बुद्धि द्रोणपुत्रने ब्रह्मास्त्रसे इस गर्भके बालकको मार डालनेका क्रूर कर्म करके कौनसा फल पाया ? ॥ १६ ॥

सा त्वा प्रसाद्य शिरसा याचे शत्रुनिबर्हण ।
प्राणांस्त्यक्ष्यामि गोविन्द नायं संजीवते यदि ॥ १७ ॥

हे गोविन्द ! शत्रुओंका संहार करनेवाले तुम्हें मैं सिर झुकाके प्रसन्न करती हुई प्रार्थना करती हूं, कि आप इस बालकको जीवित करिये । यदि यह बालक जीवित न होगा, तो मैं आपके सामने ही प्राण परित्याग करूंगी ॥ १७ ॥

अस्मिन्हि बहवः साधो ये ममासन्मनोरथाः ।
ते द्रोणपुत्रेण हताः किं नु जीवामि केशव ॥ १८ ॥

हे साधो ! केशव ! इस बालकके विषयमें मेरे मनमें जो मनोरथ उत्पन्न हुए थे, द्रोणपुत्रने उन्हें नष्ट किया है, तब किस लिये प्राण धारण करूंगी ? ॥ १८ ॥

आसीन्मम मतिः कृष्ण पूर्णोत्सङ्गा जनार्दन।
अभिवादयिष्ये दिष्ट्येति तदिदं वितथीकृतम् ॥ १९ ॥

हे श्रीकृष्ण! पहले मेरी यह इच्छा थी, कि मैं आपको मेरे पुत्रको गोदमें लेकर प्रणाम करूंगी, परन्तु वह अब विफल हुई है ॥ १९ ॥

चपलाक्षस्य दायादे मृतेऽस्मिन्पुरुषर्षभ।
विफला मे कृताः कृष्ण हृदि सर्वे मनोरथाः ॥ २० ॥

हे पुरुषर्षभ! चञ्चललोचन पतिके इस पुत्रकी मृत्यु होनेसे मेरे हृदयके वे सब मनोरथ निष्फल हुए हैं ॥ २० ॥

चपलाक्षः किलातीव प्रियस्ते मधुसूदन।
सुतं पश्यस्व तस्येमं ब्रह्मास्त्रेण निपातितम् ॥ २१ ॥

हे मधुसूदन! वे चपलाक्ष अभिमन्यु आपके परम प्रिय थे। देखिये, उनका यह पुत्र ब्रह्मास्त्रसे मरा हुआ है ॥ २१ ॥

कृतघ्नोऽयं नृशंसोऽयं यथास्य जनकस्तथा।
यः पाण्डवीं श्रियं त्यक्त्वा गतोऽद्य यमसादनम् ॥ २२ ॥

इसका पिता जैसा कृतघ्न और नृशंस था, यह बालक भी वैसा ही हुआ, क्योंकि आज यह बालक पाण्डवोंकी राज लक्ष्मीको परित्याग करके यमके स्थानमें गया है ॥ २२ ॥

मया चैतत्प्रतिज्ञातं रणमूर्धनि केशव।
अभिमन्यौ हते वीर त्वामेष्याम्यचिरादिति ॥ २३ ॥

हे केशव! पहले युद्धके शुरू होते ही मैंने उनके समीप ऐसी प्रतिज्ञा की थी, हे वीर अभिमन्यु! यदि तुम युद्धभूमिमें मारे जाओगे, तो उसी समय मैं तुम्हारे निकट गमन करूंगी ॥ २३ ॥

तच्च नाकरवं कृष्ण नृशंसा जीवितप्रिया।
इदानीमागतां तत्र किं नु वक्ष्यति फाल्गुनिः ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥ १८९० ॥

हे श्रीकृष्ण! मैंने नृशंसताके वशमें होकर जीनेकी आशासे उस प्रतिज्ञाका पालन नहीं किया; इस समय मेरे वहां जानेपर वे अर्जुनकुमार मुझे क्या कहेंगे? ॥ २४ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें सरसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६७ ॥ १८९० ॥

×

: ६८ :

वैशम्पायन उवाच—

सैवं विलप्य करुणं सोन्मादेव तपस्विनी ।
उत्तरा न्यपतद्भूमौ कृपणा पुत्रगृद्धिनी ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– वह पुत्राभिलाषिणी तपस्विनी उत्तरा कातर होके पागलिनीकी भांति करुणा वाक्यसे इस ही प्रकार बिलाप करके पृथ्वीपर गिरी ॥ १ ॥

तां तु दृष्ट्वा निपतितां हतबन्धुपरिच्छदाम् ।
चुक्रोश कुन्ती दुःखार्ता सर्वाश्च भरतस्त्रियः ॥ २ ॥

पुत्र–बन्धु रूपी परिवार जिसका नष्ट हुआ है, उस उत्तराको पृथ्वीपर गिरती हुई देख दुःखसे आर्त कुन्ती और अन्यान्य भरतकुलकी स्त्रियां ऊंचे स्वरसे रोने लगीं ॥ २ ॥

मुहूर्तमिव तद्राजन्पाण्डवानां निवेशनम् ।
अप्रेक्षणीयमभवदार्तस्वरनिनादितम् ॥ ३ ॥

हे राजेन्द्र ! उस समय पाण्डवोंका वह गृह मुहूर्तभर तक आर्तस्वरसे निनादित होकर, अदर्शनीय हुआ ॥ ३ ॥

सा मुहूर्तं च राजेन्द्र पुत्रशोकाभिपीडिता ।
कश्मलाभिहता वीर वैराटी त्वभवत्तदा ॥ ४ ॥

हे राजन् ! उस समय पुत्रशोकसे सन्तापित विराटपुत्री उत्तरा दो घडीतक मूर्च्छित पडी रही ॥ ४ ॥

प्रतिलभ्य तु सा संज्ञामुत्तरा भरतर्षभ ।
अङ्कमारोप्य तं पुत्रमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

अनन्तर थोडी देर बाद वह उत्तरा सावधान होकर, उस मरे हुए पुत्रको गोदीमें लेकर उससे कहने लगी ॥ ५ ॥

धर्मज्ञस्य सुतः संस्त्वमधर्ममवबुध्यसे ।
यस्त्वं वृष्णिप्रवीरस्य कुरुषे नाभिवादनम् ॥ ६ ॥

तुम धर्मज्ञके पुत्र होकर वृष्णिप्रवीर श्रीकृष्णको प्रणाम न करनेसे तुम्हें जो अधर्म होता है, उसे क्या तुम नहीं जानते हो ? ॥ ६ ॥

पुत्र गत्वा मम वचो ब्रूयास्त्वं पितरं तव ।
दुर्मरं प्राणिनां वीर काले प्राप्ते कथंचन ॥ ७ ॥

हे पुत्र ! तुम अपने पिताके निकट जाकर मेरा यह वचन उनसे कहना, कि हे वीर ! प्राणियोंके मृत्युकाल उपस्थित न होनेपर उनके लिये मरना कठिन है ॥ ७ ॥

याहं त्वया विहीनाद्य पत्या पुत्रेण चैव ह ।
मर्तव्ये सति जीवामि हतस्वस्तिरकिंचना ॥ ८ ॥

आपके सदृश पति और पुत्रका विरह होनेसे मेरा मरनाही कल्याणकारी है; इतनेपर भी जो अबतक मैं जीवित हूं, उससे मेरा सब मङ्गल नष्ट हो गया है, मैं अकिंचन हो गयी हूं ॥८॥

अथ वा धर्मराज्ञाहमनुज्ञाता महाभुज ।
भक्षयिष्ये विषं तीक्ष्णं प्रवेक्ष्ये वा हुताशनम् ॥ ९ ॥

हे महाभुज ! अब मैं धर्मराजकी अनुमति लेकर तीव्र विषभक्षण अथवा अग्निमें प्रवेश करूंगी ॥ ९ ॥

अथ वा दुर्मरं तात यदिदं मे सहस्रधा ।
पतिपुत्रविहीनाया हृदयं न विदीर्यते ॥ १० ॥

तात ! मनुष्यके लिये मरना कठिन है, ऐसा मुझे बोध होता है, क्योंकि मैं पति और पुत्रसे हीन हुई हूं, तोभी मेरा यह हृदय सहस्र टूकडे होके न फट गया ॥ १० ॥

उत्तिष्ठ पुत्र पश्येमां दुःखितां प्रपितामहीम् ।
आर्तामुपप्लुतां दीनां निमग्नां शोकसागरे ॥ ११ ॥

हे पुत्र ! तुम उठकर दुःखित, शोकसे आर्त, विपद्ग्रस्त दीन तथा शोकके समुद्रमें डूबी हुई इस अपनी प्रपितामही कुन्तीको देखो ॥ ११ ॥

आर्यां च पश्य पाञ्चालीं सात्वतीं च तपस्विनीम् ।
मां च पश्य सुदुःखार्तां व्याधविद्धां मृगीमिव ॥ १२ ॥

आर्या द्रौपदी, अपनी दादी तपस्विनी सुभद्राकी ओर देखो और व्याधके द्वारा विद्ध हुई हरिनीकी भांति अत्यन्त दुःखसे आर्त हुई मुझे अवलोकन करो ॥ १२ ॥

उत्तिष्ठ पश्य वदनं लोकनाथस्य धीमतः ।
पुण्डरीकपलाशाक्षं पुरेव चपलेक्षणम् ॥ १३ ॥

हे पुत्र ! तुम उठके बुद्धिमान् लोकनाथ श्रीकृष्णके पद्मपलाशसदृश नेत्रसम्पन्न वदनमण्डलको देखो; जैसे पहले मैं चञ्चल नेत्रोंवाले तेरे पिताका मुख निहारती थी ॥ १३ ॥

एवं विप्रलपन्तीं तु दृष्ट्वा निपतितां पुनः ।
उत्तरां ताः स्त्रियः सर्वाः पुनरुत्थापयन्त्युत ॥ १४ ॥

इसही प्रकार विलाप करती हुई उत्तराको फिर पृथ्वीपर गिरती हुई देख सब स्त्रियोंने अत्यन्त दुःखित होकर फिर उसे उठाया ॥ १४ ॥

उत्थाय तु पुनर्धैर्यात्तदा मत्स्यपतेः सुता ।
प्राञ्जलिः पुण्डरीकाक्षं भूमावेवाभ्यवादयत् ॥ १५ ॥

तब मत्स्यराजपुत्रीने फिर उठकर धीरज अवलम्बन कर हाथ जोडके पुण्डरीकाक्ष श्रीकृष्णको प्रणाम किया ॥ १५ ॥

श्रुत्वा स तस्या विपुलं विलापं पुरुषर्षभः ।
उपस्पृश्य ततः कृष्णो ब्रह्मास्त्रं संजहार तत् ॥ १६ ॥

अनन्तर पुरुषश्रेष्ठ श्रीकृष्णने उत्तराका बहुतसा बिलापवचन सुनके आचमन करके अश्वत्थामाके चलाये हुए ब्रह्मास्त्रको शान्त कर दिया ॥ १६ ॥

प्रतिजज्ञे च दाशार्हस्तस्य जीवितमच्युतः ।
अब्रवीच्च विशुद्धात्मा सर्वं विश्रावयञ्जगत् ॥ १७ ॥

विशुद्धात्मा अच्युत दाशार्ह श्रीकृष्ण बालकके जीवनदानकी प्रतिज्ञा करके अखिल भूमण्डलको सुनाते हुए इसप्रकार बोले ॥ १७ ॥

न ब्रवीम्युत्तरे मिथ्या सत्यमेतद्भविष्यति ।
एष संजीवयाम्येनं पश्यतां सर्वदेहिनाम् ॥ १८ ॥

हे उत्तरा! मैं मिथ्या नहीं कहता। मैंने जो कहा है, वह सत्य होगा। देखो, सब देहधारियोंके देखते-देखते ही मैं इस बालकको जिलाता हूं ॥ १८ ॥

नोक्तपूर्वं मया मिथ्या स्वैरेष्वपि कदाचन ।
न च युद्धे परावृत्तस्तथा संजीवतामयम् ॥ १९ ॥

जब कि पहले मैंने किसी प्रकार स्वच्छन्द वृत्तिमें तनिक भी मिथ्या नहीं कहा है तथा युद्धमें पराङ्मुख नहीं हुआ हूं, तब उस पुण्यबलसेही यह बालक जीवित होवे ॥ १९ ॥

यथा मे दयितो धर्मो ब्राह्मणाश्च विशेषतः ।
अभिमन्योः सुतो जातो मृतो जीवत्वयं तथा ॥ २० ॥

जिस प्रकार धर्म और ब्राह्मणगण मुझे विशेष प्रिय हैं, अभिमन्युका पुत्र भी वैसाही प्रिय है; इसलिये यह मरके जन्मा हुआ पुत्र जीवित हो ॥ २० ॥

यथाहं नाभिजानामि विजयेन कदाचन ।
विरोधं तेन सत्येन मृतो जीवत्वयं शिशुः ॥ २१ ॥

जो मैंने विजय अर्जुनके सङ्ग कभी विरोध न किया हो, तो उसही सत्यके अनुसार यह मरा हुआ पुत्र जीवित होवे ॥ २१ ॥

यथा सत्यं च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ ।
तथा मृतः शिशुरयं जीवतामभिमन्युजः ॥ २२ ॥

यदि सत्य और धर्म मुझमें सदा प्रतिष्ठित हो तो अभिमन्युका यह मृत पुत्र जीवित हो जाय ॥ २२ ॥

यथा कंसश्च केशी च धर्मेण निहतौ मया ।
तेन सत्येन बालोऽयं पुनरुज्जीवताभिह ॥ २३ ॥

जो कंस और केशी धर्मपूर्वक मेरे हाथसे मारे गये हों, तो उसही सत्यधर्मके अनुसार यह मरा हुआ बालक जीवित होवे ॥ २३ ॥

इत्युक्तो वासुदेवेन स बालो भरतर्षभ ।
शनैः शनैर्महाराज प्रास्पन्दत सचेतनः ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥ १९१४ ॥

हे भारतश्रेष्ठ ! जब श्रीकृष्णने इतना वचन कहा, तब वह बालक धीरे धीरे सचेत होकर अङ्ग प्रत्यङ्ग सञ्चालन करने लगा ॥ २४ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें अरसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६८ ॥ १९१४ ॥

: ६९ :

वैशम्पायन उवाच—

ब्रह्मास्त्रं तु यदा राजन्कृष्णेन प्रतिसंहृतम् ।
तदा तद्वेश्म ते पित्रा तेजसाभिविदीपितम् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— जब श्रीकृष्णने उस ब्रह्मास्त्रको शान्त किया, तब तुम्हारे पिताके तेजप्रभावसे वह गृह प्रदीप्त हुआ ॥ १ ॥

ततो रक्षांसि सर्वाणि नेशुस्त्यक्त्वा गृहं तु तत् ।
अन्तरिक्षे च वागासीत्साधु केशव साध्विति ॥ २ ॥

अनन्तर सब राक्षसगण उस गृहको छोडके भाग गये; इधर आकाशवाणी हुई— केशव ! तुम्हें धन्यवाद ! तुमने योग्य किया ॥ २ ॥

तदस्त्रं ज्वलितं चापि पितामहमगात्तदा ।
ततः प्राणान्पुनर्लेभे पिता तव जनेश्वर ।
व्यचेष्टत च बालोऽसौ यथोत्साहं यथाबलम् ॥ ३ ॥

हे प्रजानाथ ! उस समय वह प्रज्वलित अस्त्र पितामहके निकट चला गया । इस तरह तुम्हारे पिता फिर जीवित हुए । अनन्तर वह बालक अपने उत्साह और बलके अनुसार निज अङ्गोंको हिलाने लगा ॥ ३ ॥

बभूवुर्मुदिता राजंस्ततस्ता भरतस्त्रियः ।
ब्राह्मणान्वाचयामासुर्गोविन्दस्य च शासनात् ॥ ४ ॥

तब भरतकुलकी वे स्त्रियां हर्षित हो गयीं । उन्होंने हर्षित होकर श्रीकृष्णकी आज्ञानुसार ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया ॥ ४ ॥

ततस्ता मुदिताः सर्वाः प्रशशंसुर्जनार्दनम् ।
स्त्रियो भरतसिंहानां नावं लब्ध्वेव पारगाः ॥ ५ ॥

फिर वे आनन्दित होकर जनार्दनकी प्रशंसा करने लगीं ! जैसे नदीके पार जानेवाले लोग नौका पाके आनन्दित होते हैं, वैसेही भरतवंशी वीरोंकी वे स्त्रियां– ॥ ५ ॥

कुन्ती द्रुपदपुत्री च सुभद्रा चोत्तरा तथा ।
स्त्रियश्चान्या नृसिंहानां बभूवुर्हृष्टमानसाः ॥ ६ ॥

कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा, उत्तरा और नरवीरोंकी स्त्रियां उस बालकको जीवित देखकर मनसे अत्यंत हर्षित हुईं ॥ ६ ॥

तत्र मल्ला नटा झल्ला ग्रन्थिकाः सौखशायिकाः ।
सूतमागधसंघाश्चाप्यस्तुवन्वै जनार्दनम् ।
कुरुवंशस्तवाख्याभिराशीर्भिर्भरतर्षभ ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहांपर मल्ल, नट, झल्ल, ज्योतिषी, सुख समाचार पूछनेवाले सेवक, सूत और मागधगण कुरुवंशके स्तवसूचक आशीर्वचनके द्वारा जनार्दनकी स्तुति करने लगे ॥ ७ ॥

उत्थाय तु यथाकालमुत्तरा यदुनन्दनम् ।
अभ्यवादयत प्रीता सह पुत्रेण भारत ।
ततस्तस्यै ददौ प्रीतो बहुरत्नं विशेषतः ॥ ८ ॥

हे भारत ! उत्तराने समयके अनुसार उठके प्रसन्नचित्त होकर पुत्रको गोदमें लिये हुए यदुनन्दन श्रीकृष्णको प्रणाम किया । श्रीकृष्णने भी अत्यंत प्रसन्न होकर उसे बहुतसे रत्न उपहारमें प्रदान किये ॥ ८ ॥

तथान्ये वृष्णिशार्दूला नाम चास्याकरोत्प्रभुः ।
पितुस्तव महाराज सत्यसंधो जनार्दनः ॥ ९ ॥

अनन्तर अन्यान्य वृष्णिक्षत्रियोंने भी अनेक वस्तुएं भेंट कीं । फिर सत्यप्रतिज्ञ श्रीकृष्णने तुम्हारे पिताका नामकरण किया ॥ ९ ॥

परिक्षीणे कुले यस्माज्जातोऽयमभिमन्युजः ।
परिक्षिदिति नामास्य भवत्वित्यब्रवीत्तदा ॥ १० ॥

‘ अभिमन्युका पुत्र भरतकुल क्षीणप्राय होनेपर उत्पन्न हुआ, इसलिये इसका नाम परिक्षित होवे ’ ऐसा भगवानने कहा ॥ १० ॥

सोऽवर्धत यथाकालं पिता तव नराधिप ।
मनःप्रह्लादनश्चासीत्सर्वलोकस्य भारत ॥ ११ ॥

हे प्रजानाथ ! तुम्हारे पिता समयके अनुसार वर्धित होकर सब लोगोंके चित्तको आनन्दित करने लगे ॥ ११ ॥

मासजातस्तु ते वीर पिता भवति भारत ।
अथाजग्मुः सुबहुलं रत्नमादाय पाण्डवाः ॥ १२ ॥

हे वीर ! आपके पिताकी एक महीनेकी अवस्था होनेपर, पाण्डवलोग बहुतसा रत्न लेकर हस्तिनापुरमें उपस्थित हुए ॥ १२ ॥

तान्समीपगताञ्श्रुत्वा निर्ययुर्वृष्णिपुंगवाः ।
अलंचक्रुश्च माल्यौघैः पुरुषा नागसाह्वयम् ॥ १३ ॥

वृष्णिपुंगवगण उन लोगोंकी आगमन वार्ता सुनके उनका स्वागत करनेके लिये गृहसे बाहिर निकले । पुरवासी पुरुषोंने अनेक प्रकारके फूलोंकी मालाओंसे हस्तिनापुरको सजाया ॥ १३ ॥

पताकाभिर्विचित्राभिर्ध्वजैश्च विविधैरपि ।
वेश्मानि समलंचक्रुः पौराश्चापि जनाधिप ॥ १४ ॥

हे जनाधिप ! विचित्र पताका और अनेक भांति की ध्वजाओंसे नागरिकोंने अपने घरोंको अलंकृत किया था ॥ १४ ॥

देवतायतनानां च पूजा बहुविधास्तथा ।
संदिदेशाथ विदुरः पाण्डुपुत्रप्रियेप्सया ॥ १५ ॥

पाण्डवोंका प्रिय करनेकी अभिलाषासे विदुरने देवताओंके मन्दिरोंमें विविध प्रकारसे पूजा करनेकी आज्ञा दी ॥ १५ ॥

राजमार्गाश्च तत्रासन्सुमनोभिरलंकृताः ।
शुशुभे तत्पुरं चापि समुद्रौघनिभस्वनम् ॥ १६ ॥

राजमार्गोंको भी पुष्पमालाओंके द्वारा सुशोभित किया गया था । सुमुद्रकी जलराशिकी गर्जनाके भांति शब्दायमान होकर वह नगरी बहुत शोभित हो रही थी ॥ १६ ॥

नर्तकैश्चापि नृत्यद्भिर्गायनानां च निस्वनैः ।
आसीद्वैश्रवणस्येव निवासस्तत्पुरं तदा ॥ १७ ॥

उस समय नाचनेवाले नर्तकों और गीतगानेवालोंके सङ्गीतशब्दसे राजनगरी कुबेरकी अलकापुरीके समान प्रतीत होती थी ॥ १७ ॥

बन्दिभिश्च नरै राजन्स्त्रीसहायैः सहस्रशः ।
तत्र तत्र विविक्तेषु समन्तादुपशोभितम् ॥ १८ ॥

राजन् ! वहांपर चारों ओर निर्जन स्थानोंमें हजारों स्त्रियोंसहित बन्दिगण उपस्थित थे, इस कारण उस नगरीकी शोभा बहुतही बढ गयी थी ॥ १८ ॥

पताका धूयमानाश्च श्वसता मातरिश्वना ।
अदर्शयन्निव तदा कुरून्वै दक्षिणोत्तरान् ॥ १९ ॥

सब पताकाएं वायुके द्वारा सञ्चालित हो रही थीं; मानो उत्तर और दक्षिण कुरुगणको प्रदर्शित करने लगी हैं ॥ १९ ॥

अघोषयत्तदा चापि पुरुषो राजधूर्गतः ।
सर्वरात्रिविहारोऽद्य रत्नाभरणलक्षणः ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥ १९३४ ॥

और राज–काज देखनेवाले पुरुषगण उस समय इस प्रकार घोषणा करने लगे, कि ' आज रात्रिमें उत्सव किया जाय और सब लोग रत्नोंके अलंकार, उत्तम कपडे पहनकर इसमें शामिल हों ॥ २० ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें उनहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ६९ ॥ १९३४ ॥

: ७० :

वैशम्पायन उवाच—

तान्समीपगताञ्श्रुत्वा पाण्डवाञ्शत्रुकर्शनः ।
वासुदेवः सहामात्यः प्रत्युद्यातो दिदृक्षया ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– शत्रुसदन श्रीकृष्णचन्द्र पाण्डवोंकी आगमनवार्ता सुनके उन्हें देखनेकी इच्छासे अपने मंत्रियोंके सहित उनके समीप गये ॥ १ ॥

ते समेत्य यथान्यायं पाण्डवा वृष्णिभिः सह ।
विविशुः सहिता राजन्पुरं वारणसाह्वयम् ॥ २ ॥

हे राजन् ! पाण्डवोंने वृष्णिवंशियोंके सङ्ग यथान्याय और धर्मपूर्वक मिलकर सब एक साथ हो हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥ २ ॥

महतस्तस्य सैन्यस्य खुरनेमिस्वनेन च ।
द्यावापृथिव्यौ खं चैव शब्देनासीत्समावृतम् ॥ ३ ॥

उस समय उस महासेनाके वाहनोंके खुर तथा रथके पहियोंके शब्दसे स्वर्ग, पृथ्वी और आकाश परिपूरित हुआ ॥ ३ ॥

ते कोशमग्रतः कृत्वा विविशुः स्वपुरं तदा ।
पाण्डवाः प्रीतमनसः सामात्याः ससुहृद्गणाः ॥ ४ ॥

अनन्तर पाण्डव लोग रत्नकोष आगे करके प्रसन्नचित्तसे मन्त्रियों और सुहृदोंके सहित निज पुरमें प्रविष्ट हुए ॥ ४ ॥

ते समेत्य यथान्यायं धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
कीर्तयन्तः स्वनामानि तस्य पादौ ववन्दिरे ॥ ५ ॥

वे सब लोग मिलकर न्यायके अनुसार प्रजानाथ धृतराष्ट्रके समीप अपना अपना नाम कहकर उनके दोनों चरणोंकी बन्दना करने लगे ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्रादनु च ते गान्धारीं सुबलात्मजाम् ।
कुन्तीं च राजशार्दूल तदा भरतसत्तमाः ॥ ६ ॥

हे राजेन्द्र ! भरतसत्तम पाण्डवगण धृतराष्ट्रकी चरणवन्दना करके सुबलनन्दिनी गान्धारी, और कुन्तीसे मिले ॥ ६ ॥

विदुरं पूजयित्वा च वैश्यापुत्रं समेत्य च ।
पूज्यमानाः स्म ते वीरा व्यराजन्त विशां पते ॥ ७ ॥

प्रजापते ! फिर विदुरकी पूजा करके वैश्यापुत्र युयुत्सुसे मिलकर पुरवासियोंसे पूजित होकर पाण्डव वीर विशेष रूपसे प्रकाशित होने लगे ॥ ७ ॥

ततस्तत्परमाश्चर्यं विचित्रं महदद्भुतम् ।
शुश्रुवुस्ते तदा वीराः पितुस्ते जन्म भारत ॥ ८ ॥

भारत ! फिर उन वीर लोगोंने तुम्हारे पिताका वह परमाश्चर्य पूर्ण, विचित्र महान् अद्भुत जन्मवृत्तान्त सुना ॥ ८ ॥

तदुपश्रुत्य ते कर्म वासुदेवस्य धीमतः ।
पूजार्हं पूजयामासुः कृष्णं देवकिनन्दनम् ॥ ९ ॥

बुद्धिमान् श्रीकृष्णचन्द्रका वैसा विस्मयकर अलौकिक कर्म सुनके पाण्डवोंने उन पूजनीय देवकी-नन्दन श्रीकृष्ण देवकी पूजा की ॥ ९ ॥

ततः कतिपयाहस्य व्यासः सत्यवतीसुतः ।
आजगाम महातेजा नगरं नागसाह्वयम् ॥ १० ॥

अनन्तर कुछ दिनोंके बाद महातेजस्वी सत्यवतीपुत्र व्यासदेव हस्तिनापुरमें आये ॥ १० ॥

तस्य सर्वे यथान्यायं पूजां चक्रुः कुरूद्वहाः ।
सह वृष्ण्यन्धकव्याघ्रैरुपासांचक्रिरे तदा ॥ ११ ॥

कुरुकुलश्रेष्ठ सब पाण्डवोंने उनका यथोचित पूजन किया; फिर वृष्णि तथा अन्धकवंशीय पुरुषवीरोंके सहित उनकी उपासना करने लगे ॥ ११ ॥

तत्र नानाविधाकाराः कथाः समनुकीर्त्य वै ।
युधिष्ठिरो धर्मसुतो व्यासं वचनमब्रवीत् ॥ १२ ॥

तब वहां धर्मपुत्र युधिष्ठिर व्यासके समीप अनेक भांतिकी वार्ता करके उनसे बोले ॥१२॥

+

भवत्प्रसादाद्भगवन्यदिदं रत्नमाहृतम् ।
उपयोक्तुं तदिच्छामि वाजिमेधे महाक्रतौ ॥ १३ ॥

हे भगवन् ! आपकी कृपासे ये सब रत्न लाये गये हैं, मैं उन सब रत्नोंको अश्वमेध महा यज्ञमें उपयोग करनेकी इच्छा करता हूं ॥ १३ ॥

तदनुज्ञातुमिच्छामि भवता मुनिसत्तम ।
त्वदधीना वयं सर्वे कृष्णस्य च महात्मनः ॥ १४ ॥

हे मुनिसत्तम ! हम सब कोई आपके तथा महात्मा श्रीकृष्णके अधीन हैं, इसलिये यह प्रार्थना करता हूं, कि उस विषयमें आप मुझे अनुमति दीजिये ॥ १४ ॥

व्यास उवाच—

अनुजानामि राजंस्त्वां क्रियतां यदनन्तरम् ।
यजस्व वाजिमेधेन विधिवद्दक्षिणावता ॥ १५ ॥

श्रीवेदव्यास मुनि बोले— हे राजन् ! मैं तुम्हें अनुमति देता हूं, इसके अनन्तर यदि और कुछ कार्य हो, तो उसे तुम पूरा करके, विधिपूर्वक दक्षिणायुक्त अश्वमेध यज्ञ करो ॥ १५ ॥

अश्वमेधो हि राजेन्द्र पावनः सर्वपाप्मनाम् ।
तेनेष्ट्वा त्वं विपाप्मा वै भविता नात्र संशयः ॥ १६ ॥

हे राजेन्द्र ! अश्वमेधयज्ञ सब पापोंका नाश करके यज्ञ करनेवालेको पवित्र करता है, इसलिये तुम उस यज्ञको करनेसे निश्चय ही पापरहित होंगे; इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्तः स तु धर्मात्मा कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
अश्वमेधस्य कौरव्य चकाराहरणे मतिम् ॥ १७ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— कुरुपुत्र ! उस धर्मात्मा कुरुराज युधिष्ठिरने व्यासदेवका ऐसा बचन सुनकर अश्वमेध यज्ञ करनेके लिये सम्मति की ॥ १७ ॥

समनुज्ञाप्य तु स तं कृष्णद्वैपायनं नृपः ।
वासुदेवमथामन्त्र्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ॥ १८ ॥

वाग्मिवर राजा युधिष्ठिर कृष्णद्वैपायन व्यास मुनिसे सब वृत्तांत कहके उनकी आज्ञा ले, बसुदेवपुत्र श्रीकृष्णके निकट जाकर उनसे बोले ॥ १८ ॥

देवकी सुप्रजा देवी त्वया पुरुषसत्तम ।
यद्ब्रूयां त्वां महाबाहो तत्कृथास्त्वमिहाच्युत ॥ १९ ॥

हे पुरुषसत्तम ! तुम्हारे द्वारा देवकी देवी उत्तम प्रजावती हुई हैं । हे महाबाहो ! मैं तुमसे जो कहता हूं, तुम उसे सुनो और उसे तुम यहां सम्पन्न करो ॥ १९ ॥

त्वत्प्रभावार्जितान्भोगानश्नीम यदुनन्दन ।
पराक्रमेण बुद्धया च त्वयेयं निर्जिता मही ॥ २० ॥

हे यदुनन्दन ! हम लोग तुम्हारे प्रतापसे अर्जित भोग्य वस्तुओंको भोगते हैं । तुमने ही तुम्हारे पराक्रम और बुद्धिसे इस पृथ्वीको जीता है ॥ २० ॥

दीक्षयस्व त्वमात्मानं त्वं नः परमको गुरुः ।
त्वयीष्टवति धर्मज्ञ विपाप्मा स्यामहं विभो ।
त्वं हि यज्ञोऽक्षरः सर्वस्त्वं धर्मस्त्वं प्रजापतिः ॥ २१ ॥

तुमही हम लोगोंके परम गुरु हो, हे दाशार्ह ! इसलिये तुम्हें स्वयं यज्ञमें दीक्षित होना योग्य है, क्योंकि तुमही हमारे परम गुरु हैं । हे धर्मज्ञ प्रभो ! तुम्हारे यज्ञानुष्ठान पूर्ण कर लेनेपर मैं निष्पाप होऊंगा । मैंने यह निश्चय जाना है, कि तुमही यज्ञ, तुमही अक्षर, तुम ही सर्व स्वरूप, तुमही धर्म और तुमही प्रजापति हो ॥ २१ ॥

वासुदेव उवाच—

त्वमेवैतन्महाबाहो वक्तुमर्हस्यरिंदम ।
त्वं गतिः सर्वभूतानामिति मे निश्चिता मतिः ॥ २२ ॥

श्रीकृष्ण बोले— हे महाबाहो ! अरिंदमन ! आपही ऐसी बात कह सकते हैं; परन्तु मुझे ऐसा निश्चित विश्वास है, कि आप ही सब भूतोंकी गति हैं ॥ २२ ॥

त्वं चाद्य कुरुवीराणां धर्मेणाभिविराजसे ।
गुणभूताः स्म ते राजंस्त्वं नो राजन्मतो गुरुः ॥ २३ ॥

और आप ही कुरुवीर पुरुषोंमें धर्मरूपसे विराजते हैं । हे राजन् ! हम सब कोई आपके अनुयायी हुए हैं, हम आपको ही अपना राजा और गुरु मानते हैं ॥ २३ ॥

यजस्व मदनुज्ञातः प्राप्त एव क्रतुर्मया ।
युनक्तु नो भवान्कार्ये यत्र वाञ्छसि भारत
सत्यं ते प्रतिजानामि सर्वं कर्तास्मि तेऽनघ ॥ २४ ॥

भारत ! इस लिये आप मेरी अनुमतिसे स्वयं इस यज्ञमें दीक्षित होकर, जो जो काम हम-लोगोंसे कराना चाहते हो, उस कामपर लगनेकी आज्ञा करिये । हे अनघ ! मैं आपके समीप सत्य प्रतिज्ञा करता हूं, कि मैं आप जो कुछ कहेंगे वह सब करूंगा ॥ २४ ॥

भीमसेनार्जुनौ चैव तथा माद्रवतीसुतौ ।
इष्टवन्तो भविष्यन्ति त्वयीष्टवति भारत ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥ १९५९ ॥

भारत ! भीमसेन, अर्जुन और माद्रीपुत्र नकुल–सहदेव हम सब कोई आपके सब कार्य करेंगे । हे राजन् ! आपके द्वारा यज्ञ होनेसे सबकी अभिलाषा पूर्ण होगी ॥ २५ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें सत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७० ॥ १९५९ ॥

: ७१ :

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तस्तु कृष्णेन धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
व्यासमामन्त्र्य मेधावी ततो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले- धर्मपुत्र मेधावी युधिष्ठिरने श्रीकृष्णका ऐसा वचन सुनके व्यासदेवको आह्वान करके कहा ॥ १ ॥

यथा कालं भवान्वेत्ति हयमेधस्य तत्त्वतः ।
दीक्षयस्व तदा मां त्वं त्वय्यायत्तो हि मे क्रतुः ॥ २ ॥

जब आप अश्वमेध यज्ञके आरम्भ करनेका समय विशेष रीतिसे ठीक जान पडे, तभी उस ही समयमें मुझे दीक्षित करिये; क्योंकि यह मेरा यज्ञ आपहीके अधीन है ॥ २ ॥

व्यास उवाच—

अहं पैलोऽथ कौन्तेय याज्ञवल्क्यस्तथैव च ।
विधानं यद्यथाकालं तत्कर्तारो न संशयः ॥ ३ ॥

श्रीवेदव्यास मुनि बोले- हे कौन्तेय ! मैं, पैल और याज्ञवल्क्य, हम लोग जब यज्ञका समय आयेगा, तब तुम्हारे यज्ञका जो विधान है, उसे सम्पन्न करेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ ३ ॥

चैत्र्यां हि पौर्णमास्यां च तव दीक्षा भविष्यति ।
संभाराः संभ्रियन्तां ते यज्ञार्थं पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! चैत्री पूर्णिमाको तुम्हारी यज्ञकी दीक्षा होगी, इसलिये तुम यज्ञकी सामग्रियोंको इकट्ठी करो ॥ ४ ॥

अश्वविद्याविदश्चैव सूता विप्राश्च तद्विदः ।
मेध्यमश्वं परीक्षन्तां तव यज्ञार्थसिद्धये ॥ ५ ॥

अश्वविद्या जाननेवाले सूत और ब्राह्मण लोग तुम्हारी यज्ञसिद्धिके लिये मेध्य--पवित्र अश्वकी परीक्षा करें ॥ ५ ॥

तमुत्सृज्य यथाशास्त्रं पृथिवीं सागराम्बराम् ।
स पर्येतु यशो नाम्ना तव पार्थिव वर्धयन् ॥ ६ ॥

हे पार्थिव ! घोडेकी परीक्षा होनेपर शास्त्रविधिके अनुसार उसे छोडो; वह घोडा तुम्हारे प्रदीप्त यशस्वी नामको प्रवर्धित करता हुआ सागरपर्यंत सब पृथ्वीपर भ्रमण करे ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा पाण्डवः पृथिवीपतिः ।
चकार सर्वं राजेन्द्र यथोक्तं ब्रह्मवादिना ।
संभाराश्चैव राजेन्द्र सर्वे संकल्पिताभवन् ॥ ७ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— राजेन्द्र ! पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरने ब्रह्मवादी व्यासदेवका ऐसा वचन सुनके " वही करूंगा " इसही प्रकार स्वीकार करके श्रीव्यासदेव मुनिके वचनके अनुसार मनमें जिन सामानोंको इकट्ठा करनेका संकल्प किया था, वह सब कार्य सम्पन्न किया ॥ ७ ॥

स संभारान्समाहृत्य नृपो धर्मात्मजस्तदा ।
न्यवेदयदमेयात्मा कृष्णद्वैपायनाय वै ॥ ८ ॥

अनन्तर अमेयात्मा धर्मपुत्र नरनाथ युधिष्ठिरने उन सञ्चित सामग्रियोंको इकठ्ठी करके श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास मुनिसे सब वृत्तान्त कहा ॥ ८ ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा व्यासो धर्मात्मजं नृपम् ।
यथाकालं यथायोगं सज्जाः स्म तव दीक्षणे ॥ ९ ॥

तब महातेजस्वी व्यासदेव मुनि धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरसे बोले, योग्य समय और उत्तम योग आनेपर हम लोग तुम्हारी दीक्षानिमित्त सज्जित हुए हैं ॥ ९ ॥

स्फयश्च कूर्चश्च सौवर्णो यच्चान्यदपि कौरव ।
तत्र योग्यं भवेत्किंचित्तद्रौक्मं क्रियतामिति ॥ १० ॥

अब तुम सोनेके स्फय और कूर्च, और यज्ञकी अन्यान्य उपकरण–सामग्रियोंको सुवर्णमय आवश्यक सामान निर्माण कराओ ॥ १० ॥

अश्वश्चोत्सृज्यतामद्य पृथ्व्यामथ यथाक्रमम् ।
सुगुप्तश्च चरत्वेष यथाशास्त्रं युधिष्ठिर ॥ ११ ॥

हे युधिष्ठिर ! आजही पृथ्वीपर शास्त्रविधिनुरूप यथाक्रमसे घूमनेके लिये घोडा छोडो और जिसमें घोडा उत्तम रीतिसे रक्षित होकर सब ओर विचर सके, उसका उपाय करो ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अयमश्वो मया ब्रह्मन्नुत्सृष्टः पृथिवीमिमाम् ।
चरिष्यति यथाकामं तत्र वै संविधीयताम् ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे ब्रह्मन् ! यह घोडा तैयार है; उसे मुक्त छोडकर जिस भांति यह सारी पृथ्वीमें इच्छानुसार विचरण कर सके, आप उस उपायका विधान करिये ॥ १२ ॥

पृथिवीं पर्यटन्तं हि तुरगं कामचारिणम् ।
कः पालयेदिति मुने तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ १३ ॥

हे मुनि ! घोडाके स्वेच्छापूर्वक पृथ्वीपर विचरण करते रहनेपर कौन पुरुष उसकी रक्षा करेगा, वह भी आप निश्चय करके कहिये ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्तः स तु राजेन्द्र कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ।
भीमसेनादवरजः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ १४ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– हे राजेन्द्र ! श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासदेवने युधिष्ठिरका ऐसा वचन सुनके कहा, भीमसेनके भाई अर्जुन सब धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ १४ ॥

जिष्णुः सहिष्णुर्धृष्णुश्च स एनं पालयिष्यति ।
शक्तः स हि महीं जेतुं निवातकवचान्तकः ॥ १५ ॥

वे विजयकी इच्छा करनेवाले, सहनशील और धैर्यवान् हैं, इसलिये वेही इस अश्वकी रक्षा करेंगे । निवातकवचोंके नाशक धनञ्जय पृथ्वीको जीतनेमें समर्थ हैं ॥ १५ ॥

तस्मिन्ह्यस्त्राणि दिव्यानि दिव्यं संहननं तथा ।
दिव्यं धनुश्चेषुधी च स एनमनुयास्यति ॥ १६ ॥

उनके पास दिव्य अस्त्र, दिव्य कवच, दिव्य धनुष और दिव्य बाण विद्यमान हैं; इसलिये वे अर्जुन ही घोडेके अनुगामी होवें ॥ १६ ॥

स हि धर्मार्थकुशलः सर्वविद्याविशारदः ।
यथाशास्त्रं नृपश्रेष्ठ चारयिष्यति ते हयम् ॥ १७ ॥

हे राजेन्द्र ! वे धर्म–अर्थमें कुशल और सर्वविद्या–विशारद हैं; इसलिये वेही शास्त्रके अनुसार तुम्हारे घोडेको विचरण करानेमें समर्थ होंगे ॥ १७ ॥

राजपुत्रो महाबाहुः श्यामो राजीवलोचनः ।
अभिमन्योः पिता वीरः स एनमनुयास्यति ॥ १८ ॥

जो महाबाहु, श्यामवर्णवाले और कमलके समान नेत्रवाले हैं, वे अभिमन्युके वीर पिता राजपुत्र अर्जुन इस घोडेका रक्षण करेंगे ॥ १८ ॥

भीमसेनोऽपि तेजस्वी कौन्तेयोऽमितविक्रमः ।
समर्थो रक्षितुं राष्ट्रं नकुलश्च विशां पते ॥ १९ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! अमितपराक्रमी, तेजस्वी कुन्तीपुत्र भीमसेन और नकुल राज्यकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं ॥ १९ ॥

सहदेवस्तु कौरव्य समाधास्यति बुद्धिमान् ।
कुटुम्बतन्त्रं विधिवत्सर्वमेव महायशाः ॥ २० ॥

कुरुनन्दन ! महायशस्वी बुद्धिमान् सहदेव सब कुटुम्बपालन संबंधी कार्योंकी विधिपूर्वक देखभाल करेंगे ॥ २० ॥

तत्तु सर्वं यथान्यायमुक्तं कुरुकुलोद्वहः ।
चकार फल्गुनं चापि संदिदेश हयं प्रति ॥ २१ ॥

जब व्यासदेवने कुरुकुलश्रेष्ठ युधिष्ठिरसे इन सब कार्योंको विधिपूर्वक बतलाया, तब उन्होंने सब कार्य यथोचित रीतिसे पूर्ण किया; और अर्जुनको घोडेकी रक्षाके लिये नियुक्त किया ॥२१॥

युधिष्ठिर उवाच—

एह्यर्जुन त्वया वीर हयोऽयं परिपाल्यताम् ।
त्वमर्हो रक्षितुं ह्येनं नान्यः कश्चन मानवः ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे वीर अर्जुन ! आओ, तुम इस घोडेकी रक्षा करनेमें सब प्रकारसे यत्नवान् रहो । तुम्हारे अतिरिक्त कोई मनुष्य इसकी रक्षा करनेमें योग्य नहीं है ॥ २२ ॥

ये चापि त्वां महाबाहो प्रत्युदीयुर्नराधिपाः ।
तैर्विग्रहो यथा न स्यात्तथा कार्यं त्वयानघ ॥ २३ ॥

हे महाबाहो ! अनघ ! यदि कोई कोई राजा तुम्हारे विरुद्ध आचरण करनेमें प्रवृत्त हों, तो जिस भांति तुम्हारे सङ्ग उनका संग्राम न हो, वही उपाय तुम्हें करना चाहिये ॥२३॥

आख्यातव्यश्च भवता यज्ञोऽयं मम सर्वशः ।
पार्थिवेभ्यो महाबाहो समये गम्यतामिति ॥ २४ ॥

और उन सब राजाओंको मेरे इस यज्ञका वृत्तान्त कहके, यज्ञके समयमें उन्हें आनेके लिये निमंत्रण करना ॥ २४ ॥

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा भ्रातरं सव्यसाचिनम् ।
भीमं च नकुलं चैव पुरगुप्तौ समादधत् ॥ २५ ॥

धर्मात्मा युधिष्ठिरने भाई सव्यसाची अर्जुनसे ऐसा कहके, भीम और नकुलको नगरकी रक्षामें नियुक्त किया ॥ २५ ॥

कुटुम्बतन्त्रे च तथा सहदेवं युधां पतिम् ।
अनुमान्य महीपालं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरः ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥ १९८५ ॥

और महीपाल धृतराष्ट्रकी अनुमति लेकर योद्धाश्रेष्ठ सहदेवको कुटुम्ब पालन संबंधी कार्यमें नियुक्त किया ॥ २६ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें इकहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७१ ॥ १९८५ ॥

: ७२ :

वैशम्पायन उवाच—

दीक्षाकाले तु संप्राप्ते ततस्ते सुमहर्त्विजः ।
विधिवद्दीक्षयामासुरश्वमेधाय पार्थिवम् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– दीक्षाका समय उपस्थित होनेपर उन महा ऋत्विजोंने राजा युधिष्ठिरको विधिपूर्वक अश्वमेध यज्ञकी दीक्षा दी ॥ १ ॥

कृत्वा स पशुबन्धांश्च दीक्षितः पाण्डुनन्दनः ।
धर्मराजो महातेजाः सहर्त्विग्भिर्व्यरोचत ॥ २ ॥

पाण्डुपुत्र महातेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिर पशु बन्ध कर्म करके दीक्षा लेनेपर ऋत्विजोंके सहित समधिक शोभा पाने लगे ॥ २ ॥

हयश्च हयमेधार्थं स्वयं स ब्रह्मवादिना ।
उत्सृष्टः शास्त्रविधिना व्यासेनामिततेजसा ॥ ३ ॥

ब्रह्मवादी अमिततेजस्वी व्यासदेवने विधि और शास्त्रके अनुसार अश्वमेध यज्ञके लिये वह घोडा स्वयं छोडा ॥ ३ ॥

स राजा धर्मजो राजन्दीक्षितो विबभौ तदा ।
हेममाली रुक्मकण्ठः प्रदीप्त इव पावकः ॥ ४ ॥

राजन् ! धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर दीक्षित होकर गलेमें सुवर्णकी माला तथा सुवर्णकण्ठी पहरके उस समय प्रदीप्त अग्निकी भांति प्रकाशित होने लगे ॥ ४ ॥

कृष्णाजिनी दण्डपाणिः क्षौमवासाः स धर्मजः ।
विबभौ द्युतिमान्भूयः प्रजापतिरिवाध्वरे ॥ ५ ॥

हे पृथ्वीपति ! उस समय धर्मपुत्र युधिष्ठिर कृष्णाजिन और रेशमी वस्त्र परिधान कर, हाथमें दण्ड धारण करके, उस यज्ञमें प्रजापतिकी भांति अधिक कान्तिमान् होकर शोभने लगे ॥५॥

तथैवास्यर्त्विजः सर्वे तुल्यवेषा विशां पते ।
बभूवुरर्जुनश्चैव प्रदीप्त इव पावकः ॥ ६ ॥

उनके सब ऋत्विक्गण भी वैसा ही वेष धारण करके उस ही प्रकार शोभित हुए । अर्जुन भी प्रज्वलित अग्निकी भांति दीप्तिमान् हुए ॥ ६ ॥

श्वेताश्वः कृष्णसारं तं ससाराश्वं धनंजयः ।
विधिवत्पृथिवीपाल धर्मराजस्य शासनात् ॥ ७ ॥

पृथ्वीपते ! श्वेत घोडेवाले अर्जुनने उस श्यामवर्ण घोडेका धर्मराजकी आज्ञासे विधिपूर्वक अनुसरण किया ॥ ७ ॥

विक्षिपन्गाण्डिवं राजन्बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ।
तमश्वं पृथिवीपाल मुदा युक्तः ससार ह ॥ ८ ॥

हे महीपाल ! गोधाके चमडेके अंगुलीत्राणधारी अर्जुन धर्मराजकी आज्ञानुसार गाण्डीव धनुषकी टंकार करते हुए हर्षपूर्वक उस घोडेका अनुसरण करने लगे ॥ ८ ॥

आकुमारं तदा राजन्नागमत्तत्पुरं विभो ।
द्रष्टुकामं कुरुश्रेष्ठं प्रयास्यन्तं धनंजयम् ॥ ९ ॥

हे राजन् ! आबालवृद्ध पुरवासीवृन्द घोडेका अनुसरण करनेवाले कुरुकुलश्रेष्ठ धनञ्जयको देखनेके लिये वहां आये ॥ ९ ॥

तेषामन्योन्यसंमर्दादूष्मेव समजायत ।
दिदृक्षूणां हयं तं च तं चैव हयसारिणम् ॥ १० ॥

यज्ञके घोडे और उसको अनुसरण करनेवाले अर्जुनको देखनेके लिये उस समय इन लोगोंकी इतनी भीड होगयी कि परस्पर धक्कामुक्कीसे सब पसीनेसे भीग गये ॥ १० ॥

ततः शब्दो महाराज दशाशाः प्रतिपूरयन् ।
बभूव प्रेक्षतां नृणां कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ॥ ११ ॥

हे महाराज ! उसके अनन्तर उस समय घोडेके अनुगामी कुन्तीपुत्र अर्जुनके दर्शनकी इच्छा करनेवाले लोगोंके कोलाहल शब्दसे दसों दिशा तथा आकाशमण्डल परिपूर्ण हो गया ॥ ११ ॥

एष गच्छति कौन्तेयस्तुरगश्चैव दीप्तिमान् ।
यमन्वेति महाबाहुः संस्पृशन्धनुरुत्तमम् ॥ १२ ॥

वे लोग कहने लगे, कि यह दीप्तिमान् घोडा जा रहा है, इसके पीछे वे महाबाहु कुन्तीपुत्र धनञ्जय उत्तम धनुष धारण करके गमन करते हैं ॥ १२ ॥

एवं शुश्राव वदतां गिरो जिष्णुरुदारधीः ।
स्वस्ति तेऽस्तु व्रजारिष्टं पुनश्चैहीति भारत ॥ १३ ॥

उदारबुद्धि जिष्णु धनञ्जयने उन लोगोंका ऐसा ही वचन सुना । हे भारत ! हे अर्जुन ! तुम्हारा मङ्गल हो, तुम सुखपूर्वक गमन करो और फिर कुशलपूर्वक आना ॥ १३ ॥

अथापरे मनुष्येन्द्र पुरुषा वाक्यमब्रुवन् ।
नैनं पश्याम संमर्दे धनुरेतत्प्रदृश्यते ॥ १४ ॥

नरेन्द्र ! दूसरे लोग यह कहते थे– हम लोग इस भीडमें अर्जुनको नहीं देख सकते हैं; केवल उनका यह धनुष दिखायी देता है ॥ १४ ॥

+

एतद्धि भीमनिर्ह्रादं विश्रुतं गाण्डिवं धनुः ।
स्वस्ति गच्छत्वरिष्टं वै पन्थानमकुतोभयम् ।
निवृत्तमेनं द्रक्ष्यामः पुनरेवं च तेऽब्रुवन् ॥ १५ ॥

यही अत्यंत भयंकर टंकार करनेवाला गाण्डीव धनुष है । हे अर्जुन । तुम जाओ, तुम्हारा मङ्गल हो, तुम्हारे मार्गमेंसे अरिष्ट दूर हो, तुम्हारा मार्ग भयविहीन होवे । हम लोग ऐसी प्रार्थना करते हैं, कि तुम्हारे कुशलपूर्वक लौटनेपर फिर हम लोग इसी प्रकार तुम्हें देखें, इस प्रकार वे लोग बोलते थे ॥ १५ ॥

एवमाद्या मनुष्याणां स्त्रीणां च भरतर्षभ ।
शुश्राव मधुरा वाचः पुनः पुनरुदीरिताः ॥ १६ ॥

हे भरतर्षभ ! इस प्रकार महाबुद्धिमान् अर्जुन पुरुष और स्त्रियोंका ऐसा मधुर वचन बारं बार सुनके चलने लगे ॥ १६ ॥

याज्ञवल्क्यस्य शिष्यश्च कुशलो यज्ञकर्मणि ।
प्रायात्पार्थेन सहितः शान्त्यर्थं वेदपारगः ॥ १७ ॥

धर्मराजकी आज्ञानुसार विघ्नकी शान्ति करनेके निमित्त यज्ञकार्यमें प्रवीण और वेद पारंगत याज्ञवल्क्यमुनिके एक शिष्य धनञ्जयके सङ्ग गये ॥ १७ ॥

ब्राह्मणाश्च महीपाल बहवो वेदपारगाः ।
अनुजग्मुर्महात्मानं क्षत्रियाश्च विशोऽपि च ॥ १८ ॥

हे पृथ्वीपते ! और भी बहुतसे वेद पारंगत ब्राह्मणों और क्षत्रियोंने महात्मा अर्जुनका अनुसरण किया ॥ १८ ॥

पाण्डवैः पृथिवीमश्वो निर्जितामस्त्रतेजसा ।
चचार स महाराज यथादेशं स सत्तम ॥ १९ ॥

हे महाराज ! पाण्डवोंके अस्त्र-प्रभावसे जो सब पृथ्वीके देश जीते गये थे, वह घोडा उन्हीं देशोंमें क्रमशः बिचरने लगा ॥ १९ ॥

तत्र युद्धानि वृत्तानि यान्यासन्पाण्डवस्य ह ।
तानि वक्ष्यामि ते वीर विचित्राणि महान्ति च ॥ २० ॥

हे वीर ! वहांपर पांडुपुत्र अर्जुनको जिस प्रकार विचित्र महायुद्ध करने पडे, उनका वृत्तांत तुम्हें आज कहूंगा ॥ २० ॥

स हयः पृथिवीं राजन्प्रदक्षिणमरिंदम ।
ससारोत्तरतः पूर्वं तन्निबोध महीपते ॥ २१ ॥

हे राजन् ! वह घोडा पृथ्वीकी परिक्रमा करते हुए प्रथम उत्तर दिशाकी ओर गया, फिर पूर्व दिशामें आया था, उसे सुनो ॥ २१ ॥

अवमृद्नन्स राष्ट्राणि पार्थिवानां हयोत्तमः ।
शनैस्तदा परिययौ श्वेताश्वश्च महारथः ॥ २२ ॥

हे महाराज ! वह उत्तम घोडा राजाओंके राष्ट्रोंको विमर्दित करते हुए भ्रमण करता था । तब श्वेत घोडेपर चढे हुए महारथी अर्जुन धीरे धीरे उसके पीछे जा रहे थे ॥ २२ ॥

तत्र संकलना नास्ति राज्ञामयुतशस्तदा ।
येऽयुध्यन्त महाराज क्षत्रिया हतबान्धवाः ॥ २३ ॥

उस समय महाभारतके युद्धमें जिनके बान्धव मारे गये थे, ऐसे क्षत्रियोंने उनके सङ्ग युद्ध किया था, उन हजारों राजाओंकी गिनती नहीं हो सकती ॥ २३ ॥

किराता विकृता राजन्बहवोऽसिधनुर्धराः ।
म्लेच्छाश्चान्ये बहुविधाः पूर्वं विनिकृता रणे ॥ २४ ॥

हे महाराज ! पहलेके युद्धमें निर्जित तलवार और धनुर्धारी बहुतेरे विरूप किरात और अनेक भांतिके म्लेच्छ अर्जुनके संग युद्ध करनेके लिये आये ॥ २४ ॥

आर्याश्च पृथिवीपालाः प्रहृष्टनरवाहनाः ।
समीयुः पाण्डुपुत्रेण बहवो युद्धदुर्मदाः ॥ २५ ॥

हृष्टपुष्ट मनुष्यों और बाहनोंसे युक्त अनेक आर्य राजा लोग युद्धदुर्मद होकर पांडुपुत्रसे लडनेके लिये उनके समीप आये ॥ २५ ॥

एवं युद्धानि वृत्तानि तत्र तत्र महीपते ।
अर्जुनस्य महीपालैर्नानादेशनिवासिभिः ॥ २६ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! इस प्रकार वहां अनेक देशोंके निवासी राजाओंके संग अर्जुनको अनेक बार युद्ध करने पडे ॥ २६ ॥

यानि तूभयतो राजन्प्रतप्तानि महान्ति च ।
तानि युद्धानि वक्ष्यामि कौन्तेयस्य तवानघ ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥ २०१२ ॥

हे अनघ राजन् ! जिस प्रकार अर्जुनके महान् युद्ध हुए थे और उन युद्धोंमें दोनों ओरकी जो समस्त महासेना प्रतप्त हुई थी, वह सब मैं तुमसे विशेष रीतिसे कहता हूं ॥ २७ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें बहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७२ ॥ २०१२ ॥

: ७३ :

वैशम्पायन उवाच—

त्रिगर्तैरभवद्युद्धं कृतवैरैः किरीटिनः ।
महारथसमाज्ञातैर्हतानां पुत्रनप्तृभिः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— राजन् ! पहले महायुद्धमें पाण्डवोंने त्रिगर्तवासी जिन सब वीर लोगोंको मारा था, उनके महारथी पुत्रों और पौत्रोंने किरीटधारी अर्जुनके सङ्ग वैर बांध लिया था । त्रिगर्तमें अर्जुनका उन त्रिगार्तोंके साथ युद्ध हुआ ॥ १ ॥

ते समाज्ञाय संप्राप्तं यज्ञियं तुरगोत्तमम् ।
विषयान्ते ततो वीरा दंशिताः पर्यवारयन् ॥ २ ॥

उन महावीर त्रिगर्तोंने पाण्डवोंका यज्ञीय उत्तम घोडा राज्यकी सीमामें आया हुआ जानके कवच आदिसे सुसज्जित हो उस अश्वको चारों ओरसे घेर लिया ॥ २ ॥

रथिनो बद्धतूणीराः सदश्वैः समलंकृतैः ।
परिवार्य हयं राजन्ग्रहीतुं संप्रचक्रमुः ॥ ३ ॥

पीठपर तूणीर बांधकर अलंकारित उत्तम घोडोंसे जुते हुए रथपर आरूढ हो उस घोडेको घेरकर उसे पकडनेका वे वीर लोग प्रयत्न करने लगे ॥ ३ ॥

ततः किरीटी संचिन्त्य तेषां राज्ञां चिकीर्षितम् ।
वारयामास तान्वीरान्सान्त्वपूर्वमरिंदमः ॥ ४ ॥

तब शत्रुसूदन अर्जुन उन लोगोंकी चिकीर्षा जानके बिचार करके शान्तिपूर्वक उन्हें युद्धसे निवारण करने लगे ॥ ४ ॥

तमनादृत्य ते सर्वे शरैरभ्यहनंस्तदा ।
तमोरजोभ्यां संछन्नांस्तान्किरीटी न्यवारयत् ॥ ५ ॥

वे सब कोई अर्जुनके वचनका अनादर करके उन पर बाण चलाने लगे; तब किरीटधारी अर्जुनने तम तथा रजोगुणसे युक्त उन लोगोंको निवारण किया ॥ ५ ॥

अब्रवीच्च ततो जिष्णुः प्रहसन्निव भारत ।
निवर्तध्वमधर्मज्ञाः श्रेयो जीवितमेव वः ॥ ६ ॥

और भारत ! अनन्तर विजयी अर्जुन हंसके बोले— हे अधर्मी लोगों ! यदि तुम लोग निज जीवनकी कुशल चाहते हो, तो निवृत्त हो जाओ ॥ ६ ॥

स हि वीरः प्रयास्यन्वै धर्मराजेन वारितः ।
हतबान्धवा न ते पार्थ हन्तव्याः पार्थिवा इति ॥ ७ ॥

वीर अर्जुनने ऐसा इसलिये कहा, कि चलनेके समयमें धर्मराजने अर्जुनसे कहा था— 'हे पार्थ ! हतबान्धव राजाओंके विरुद्धाचारी होनेपर भी तुम उन्हें न मारना' ॥ ७ ॥

स तदा तद्वचः श्रुत्वा धर्मराजस्य धीमतः ।
तान्निवर्तध्वमित्याह न न्यवर्तन्त चापि ते ॥ ८ ॥

उन्होंने बुद्धिमान् धर्मराजके वही वचनको स्मरण करके उन लोगोंसे तुम लोग यहांसे लौट जाओ, ऐसे कहा परन्तु वे लोग निवृत्त न हुए ॥ ८ ॥

ततस्त्रिगर्तराजानं सूर्यवर्माणमाहवे ।
वितत्य शरजालेन प्रजहास धनंजयः ॥ ९ ॥

तब उस युद्धभूमिमें त्रिगर्तराज सूर्यवर्माके सारे शरीरको बाणजालसे आच्छादित करके अर्जुन हंसने लगे ॥ ९ ॥

ततस्ते रथघोषेण खुरनेमिस्वनेन च ।
पूरयन्तो दिशः सर्वा धनंजयमुपाद्रवन् ॥ १० ॥

तिसके अनन्तर वे लोग रथकी घरघराहटसे तथा घोडोंके खुरकी आवाजसे सब दिशाओंको परिपूरित करते हुए अर्जुनपर टूट पडे ॥ १० ॥

सूर्यवर्मा ततः पार्थे शराणां नतपर्वणाम् ।
शतान्यमुञ्चद्राजेन्द्र लघ्वस्त्रमभिदर्शयन् ॥ ११ ॥

राजेन्द्र ! अनन्तर सूर्यवर्माने अपनी फुर्ती प्रकाशित करके अर्जुनके ऊपर एक सौ नतपर्व बाण चलाये ॥ ११ ॥

तथैवान्ये महेष्वासा ये तस्यैवानुयायिनः ।
मुमुचुः शरवर्षाणि धनंजयवधैषिणः ॥ १२ ॥

और इसही प्रकार उसके अनुयायी अन्यान्य धनुर्धारी पुरुष अर्जुनके बधकी अभिलाषा करके बहुतसे बाण बरसाने लगे ॥ १२ ॥

स तान्ज्यापुङ्खनिर्मुक्तैर्बहुभिः सुबहूञ्शरान् ।
चिच्छेद पाण्डवो राजंस्ते भूमौ न्यपतंस्तदा ॥ १३ ॥

हे महाराज ! उस समय पाण्डुपुत्र अर्जुनने धनुषसे छूटे हुए अनेक बाणोंसे उनके चलाये हुए बाणोंको काटके, उन्हें पृथ्वीमें गिरा दिया ॥ १३ ॥

केतुवर्मा तु तेजस्वी तस्यैवावरजो युवा ।
युयुधे भ्रातुरर्थाय पाण्डवेन महात्मना ॥ १४ ॥

सूर्यवर्माके गिरनेपर उसका भाई युवा तेजस्वी केतुवर्मा अपने भाईका बदला लेनेके लिए महात्मा अर्जुनके सङ्ग युद्ध करनेमें प्रवृत्त हुआ ॥ १४ ॥

तमापतन्तं संप्रेक्ष्य केतुवर्माणमाहवे ।
अभ्यघ्नन्निशितैर्बाणैर्बीभत्सुः परवीरहा ॥ १५ ॥

परवीरघाती बीभत्सु अर्जुनने केतुवर्माको युद्ध करनेके लिये आया हुआ देखकर अपने शिकल किये हुए बाणोंसे युद्धभूमिमें उसे मार डाला ॥ १५ ॥

केतुवर्मण्यभिहते धृतवर्मा महारथः ।
रथेनाशु समावृत्य शरैर्जिष्णुमवाकिरत् ॥ १६ ॥

केतुवर्माके मारे जानेपर महारथी धृतवर्मा रथपर चढके शीघ्र वहां आया और उसने अर्जुनको बाणोंसे छिपा दिया ॥ १६ ॥

तस्य तां शीघ्रतामीक्ष्य तुतोषातीव वीर्यवान् ।
गुडाकेशो महातेजा बालस्य धृतवर्मणः ॥ १७ ॥

महातेजस्वी वीर्यवान् गुडाकेश अर्जुन उस बालक धृतवर्माका हस्तलाघव देखकर परम सन्तुष्ट हुए ॥ १७ ॥

न संदधानं ददृशे नाददानं च तं तदा ।
किरन्तमेव स शरान्ददृशे पाकशासनिः ॥ १८ ॥

अनन्तर जब धृतवर्मा बाण बरसाने लगा, उस समय इन्द्रपुत्र अर्जुन उसके बाणग्रहण और सन्धानको लक्ष्य करनेमें समर्थ न हुए । वह बाणोंकी वर्षा करता है, इतनाही वे देखते थे ॥ १८ ॥

स तु तं पूजयामास धृतवर्माणमाहवे ।
मनसा स मुहूर्तं वै रणे समभिहर्षयन् ॥ १९ ॥

बल्कि वे समरमें धृतवर्माकी मुहूर्तभर मनही मन प्रशंसा करने लगे; और युद्धमें उसको हर्षित करते रहे ॥ १९ ॥

तं पन्नगमिव क्रुद्धं कुरुवीरः स्मयन्निव ।
प्रीतिपूर्वं महाराज प्राणैर्न व्यपरोपयत् ॥ २० ॥

महाराज ! कुरुप्रवीर धनञ्जय सर्पकी भांति क्रुद्ध उस धृतवर्माके साथ प्रीतिपूर्वक मुसकराते हुए युद्ध करते थे; उन्होंने उसके प्राण नहीं लिये ॥ २० ॥

स तथा रक्ष्यमाणो वै पार्थेनामिततेजसा ।
धृतवर्मा शरं तीक्ष्णं मुमोच विजये तदा ॥ २१ ॥

उस समय धृतवर्माने अमित तेजस्वी अर्जुनसे इस प्रकार रक्षित होकर भी उनके ऊपर एक तीक्ष्ण बाण चलाया ॥ २१ ॥

स तेन विजयस्तूर्णमस्यन्विद्धः करे भृशम् ।
मुमोच गाण्डीवं दुःखात्तत्पपाताथ भूतले ॥ २२ ॥

धनञ्जयका हाथ धृतवर्माके बाणसे अत्यन्त विद्ध होनेके कारण वे दुःखित हो गये और उनके हाथसे गाण्डीव धनुष छुटकर पृथ्वीपर गिरा ॥ २२ ॥

धनुषः पततस्तस्य सव्यसाचिकराद्विभो ।
इन्द्रस्येवायुधस्यासीद्रूपं भरतसत्तम ॥ २३ ॥

हे विभु ! भरतश्रेष्ठ ! सव्यसाची अर्जुनके हाथसे गिरता हुआ गाण्डीव धनुषका रूप उस समय इन्द्रधनुषके सदृश प्रकट हुआ ॥ २३ ॥

तस्मिन्निपतिते दिव्ये महाधनुषि पार्थिव ।
जहास सस्वनं हासं धृतवर्मा महाहवे ॥ २४ ॥

महायुद्धमें उस दिव्य महा धनुषके गिरनेपर धृतवर्मा ऊंचे स्वरसे हंसने लगा ॥ २४ ॥

ततो रोषान्वितो जिष्णुः प्रमृज्य रुधिरं करात् ।
धनुरादत्त तद्दिव्यं शरवर्षं ववर्ष च ॥ २५ ॥

अनन्तर जिष्णु धनञ्जय क्रोधित हो, हाथसे रुधिर पोंछकर, उस दिव्य धनुषको ग्रहण करके बाण बरसाने लगे ॥ २५ ॥

ततो हलहलाशब्दो दिवस्पृगभवत्तदा ।
नानाविधानां भूतानां तत्कर्मातीव शंसताम् ॥ २६ ॥

तब धनञ्जयके वैसे अत्यंत अद्भुत कर्मकी प्रशंसा करनेवाले अनेक प्रकारके प्राणियोंका हलहला शब्द आकाश-मण्डलमें प्रकट हुआ ॥ २६ ॥

ततः संप्रेक्ष्य तं क्रुद्धं कालान्तकयमोपमम् ।
जिष्णुं त्रैगर्तका योधास्त्वरिताः पर्यवारयन् ॥ २७ ॥

तिसके अनन्तर त्रिगर्तवासी योद्धाओंने कालान्तक यमकी भांति क्रुद्ध उस जिष्णु धनञ्जयको देखकर तुरंतही चारों ओरसे घेर लिया ॥ २७ ॥

अभिसृत्य परीप्सार्थं ततस्ते धृतवर्मणः ।
परिवव्रुर्गुडाकेशं तत्राक्रुध्यद्धनंजयः ॥ २८ ॥

अन्तमें उन लोगोंने धृतवर्माकी रक्षाके निमित्त आक्रमण करके गुडाकेश अर्जुनको सब ओरसे घिर लिया, तब वे अत्यंत क्रुद्ध हो गये ॥ २८ ॥

ततो योधाञ्जघानाशु तेषां स दश चाष्ट च ।
महेन्द्रवज्रप्रतिमैरायसैर्निशितैः शरैः ॥ २९ ॥

फिर उन्होंने महन्द्रेके वज्रके सदृश तीक्ष्ण आयत बाणोंसे शीघ्र ही उनके अठारह योद्धाओंको मार डाला ॥ २९ ॥

तांस्तु प्रभग्नान्संप्रेक्ष्य त्वरमाणो धनंजयः ।
शरैराशीविषाकारैर्जघान स्वनवद्धसन् ॥ ३० ॥

धनंजय उस सारी सेनाको भागती हुई देखकर ऊंचे स्वरसे हंसते हुए शीघ्रतापूर्वक सर्प-सदृश बाणोंसे शत्रुओंका संहार करने लगे ॥ ३० ॥

ते भग्नमनसः सर्वे त्रैगर्तकमहारथाः ।
दिशो विदुद्रुवुः सर्वा धनंजयशरार्दिताः ॥ ३१ ॥

महाराज ! वे सब त्रिगर्तवासी महारथी अर्जुनके बाणोंसे पीडित और निरुत्साहित होकर चारों दिशाओंमें भागने लगे ॥ ३१ ॥

त ऊचुः पुरुषव्याघ्रं संशप्तकनिषूदनम् ।
तव स्म किंकराः सर्वे सर्वे च वशगास्तव ॥ ३२ ॥

अनन्तर वे लोग संशप्तकनिषूदन पुरुषश्रेष्ठ धनञ्जयके निकट आके उनसे बोले, हे कुन्तीपुत्र ! हम सब तुम्हारे सेवक हैं तथा सभी सदा आपके अधीन रहेंगे ॥ ३२ ॥

आज्ञापयस्व नः पार्थ प्रह्वान्प्रेष्यानवस्थितान् ।
करिष्यामः प्रियं सर्वं तव कौरवनन्दन ॥ ३३ ॥

हम सब सेवक नम्रतासे आपके सामने स्थित हैं, आप हम लोगोंको आज्ञा करिये । हे कौरवनन्दन ! हम लोग तुम्हारा समस्त प्रिय कार्य करेंगे ॥ ३३ ॥

एतदाज्ञाय वचनं सर्वांस्तानब्रवीत्तदा ।
जीवितं रक्षत नृपाः शासनं गृह्यतामिति ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥ २०४६ ॥

उनकी बातें सुनकर उस समय अर्जुनने उन त्रिगर्तवासियोंको इस प्रकार आज्ञा की, ' हे नृपगण ! तुम लोग अपने जीवनकी रक्षा करो; इसलिये तुम लोग मेरे शासनका स्वीकार करो ॥ ३४ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें तिहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७३ ॥ २०४६ ॥

: ७४ :

वैशम्पायन उवाच—

प्राग्ज्योतिषमथाभ्येत्य व्यचरत्स हयोत्तमः ।
भगदत्तात्मजस्तत्र निर्ययौ रणकर्कशः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— हे भरतश्रेष्ठ ! अनन्तर वह उत्तम घोडा प्राग्ज्योतिषपुरके पास जाकर विचरने लगा; तब भगदत्तका पुत्र वज्रदत्त जो युद्धमें कठोर था, वहां उपस्थित हुआ ॥ १ ॥

स हयं पाण्डुपुत्रस्य विषयान्तमुपागतम् ।
युयुधे भरतश्रेष्ठ वज्रदत्तो महीपतिः ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पृथ्वीपति वज्रदत्त पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरका घोडा अपने राज्यकी सीमामें आ गया है यह जानकर नगरसे बाहिर आकर युद्धके लिये तैयार हो गया ॥ २ ॥

सोऽभिनिर्याय नगराद्भगदत्तसुतो नृपः ।
अश्वमायान्तमुन्मथ्य नगराभिमुखो ययौ ॥ ३ ॥

अनन्तर वह भगदत्तका पुत्र राजा वज्रदत्त नगरसे निकलकर आते हुए घोडेको बलपूर्वक पकडकर, उसके साथ नगरकी ओर चला ॥ ३ ॥

तमालक्ष्य महाबाहुः कुरूणामृषभस्तदा ।
गाण्डीवं विक्षिपंस्तूर्णं सहसा समुपाद्रवत् ॥ ४ ॥

उस समय कुरुश्रेष्ठ महाबाहु अर्जुन उसे देखकर गाण्डीव धनुष चढाकर सहसा वेगपूर्वक उसकी ओर दौडे ॥ ४ ॥

ततो गाण्डीवनिर्मुक्तैरिषुभिर्मोहितो नृपः ।
हयमुत्सृज्य तं वीरस्ततः पार्थमुपाद्रवत् ॥ ५ ॥

तब वीर राजा वज्रदत्त धनञ्जयके गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंसे घायल तथा बिमोहित होकर उस घोडेको छोडके अर्जुनकी ओर दौडा ॥ ५ ॥

पुनः प्रविश्य नगरं दंशितः स नृपोत्तमः ।
आरुह्य नागप्रवरं निर्ययौ युद्धकाङ्क्षया ॥ ६ ॥

अनन्तर वह नृपश्रेष्ठ वज्रदत्त नगरमें जाके कवच आदिसे सुसज्जित हो श्रेष्ठ हाथीपर चढकर युद्ध करनेकी इच्छासे नगरसे बाहिर हुआ ॥ ६ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ।
दोधूयता चामरेण श्वेतेन च महारथः ॥ ७ ॥

उस समय उस महारथीके ऊपर श्वेत छत्र धरा था और अङ्गपर सफेद चंवर सञ्चालित होता था ॥ ७ ॥

ततः पार्थं समासाद्य पाण्डवानां महारथम् ।
आह्वयामास कौरव्यं बाल्यान्मोहाच्च संयुगे ॥ ८ ॥

अनन्तर वह पाण्डव महारथी पार्थके समीप पहुंचके बाल्यस्वभाव तथा मूर्खतासे रणभूमिमें युद्धके लिये उन्हें आह्वान करने लगा ॥ ८ ॥

×

स वारणं नगप्रख्यं प्रभिन्नकरटामुखम् ।
प्रेषयामास संक्रुद्धस्ततः श्वेतहयं प्रति ॥ ९ ॥

उस वज्रदत्तने अत्यन्त क्रुद्ध होकर श्वेताश्व अर्जुनके निकट अपने पर्वताकार शरीरवाले मदचूनेवाले मतवारे हाथीको बढाया ॥ ९ ॥

विक्षरन्तं यथा मेघं परवारणवारणम् ।
शास्त्रवत्कल्पितं संख्ये त्रिसाहं युद्धदुर्मदम् ॥ १० ॥

वह हाथी मेघके समान मद बहाता था; शत्रुओंके हाथियोंको रोकनेमें समर्थ था; शास्त्रीय पद्धातिसे लडनेके लिये तैय्यार किया गया था; युद्धमें अद्वितीय और दुर्धर्ष था ॥ १० ॥

प्रचोद्यमानः स गजस्तेन राज्ञा महाबलः ।
तदाङ्कुशेन विबभावुत्पतिष्यन्निवाम्बरम् ॥ ११ ॥

उस समय वह महाबली गजराज राजा वज्रदत्तके अंकुशकी ताडनासे आगे बढनेके लिये प्रेरित किया, तब मानो आकाशमार्गमें उडता हुआ मालूम हुआ ॥ ११ ॥

तमापतन्तं संप्रेक्ष्य क्रुद्धो राजन्धनंजयः ।
भूमिष्ठो वारणगतं योधयामास भारत ॥ १२ ॥

हे महाराज ! अर्जुन उस हाथीको आया हुआ देखके अत्यन्त क्रुद्ध हुए और पृथ्वीपर रहके हाथीपर चढे हुए उस वज्रदत्तके सङ्ग युद्ध करने लगे ॥ १२ ॥

वज्रदत्तस्तु संक्रुद्धो मुमोचाशु धनंजये ।
तोमरानग्निसंकाशाञ्शलभानिव वेगितान् ॥ १३ ॥

तब वज्रदत्तने अत्यन्त क्रुद्ध होकर शीघ्र ही वेगवान् शलभसमूहकी भांति अर्जुनके ऊपर अग्निसदृश तोमर चलाये ॥ १३ ॥

अर्जुनस्तानसंप्राप्तान्गाण्डीवप्रेषितैः शरैः ।
द्विधा त्रिधा च चिच्छेद ख एव खगमैस्तदा ॥ १४ ॥

उस समय अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे छोडे गये आकाशचारी बाणोंसे समीपमें आये हुए तोमरके आकाशमें ही दो–दो तीन–तीन टुकडे कर डाले ॥ १४ ॥

स तान्दृष्ट्वा तथा छिन्नांस्तोमरान्भगदत्तजः ।
इषूनसक्तांस्त्वरितः प्राहिणोत्पाण्डवं प्रति ॥ १५ ॥

भगदत्तके पुत्र वज्रदत्तने बाणोंको कटते हुए देखकर शीघ्रतापूर्वक असंख्य बाण अर्जुनकी ओर चलाये ॥ १५ ॥

ततोऽर्जुनस्तूर्णतरं रुक्मपुङ्खानजिह्मगान् ।
प्रेषयामास संक्रुद्धो भगदत्तात्मजं प्रति ॥ १६ ॥

अनन्तर अर्जुनने अत्यन्त क्रुद्ध होकर शीघ्र ही वज्रदत्तके ऊपर शीघ्रगामी रुक्मपुंखयुक्त सीधे जानेवाले बाण छोडे ॥ १६ ॥

स तैर्विद्धो महातेजा वज्रदत्तो महाहवे ।
भृशाहतः पपातोर्व्यां न त्वेनमजहात्स्मृतिः ॥ १७ ॥

वह महातेजस्वी वज्रदत्त अर्जुनके उन बाणोंसे उस महायुद्धमें अत्यन्त घायल तथा बिद्ध होकर पृथ्वीपर गिरा, परन्तु उसकी स्मृति लुप्त नहीं हुई ॥ १७ ॥

ततः स पुनरारुह्य वारणप्रवरं रणे ।
अव्यग्रः प्रेषयामास जयार्थी विजयं प्रति ॥ १८ ॥

तिसके अनन्तर उस जयकी इच्छा करनेवाले बज्रदत्तने फिर श्रेष्ठ हाथीपर आरूढ हो सावधानचित्तसे फिर युद्धभूमिमें अर्जुनकी ओर उस श्रेष्ठ हाथीको चलाया ॥ १८ ॥

तस्मै बाणांस्ततो जिष्णुर्निर्मुक्ताशीविषोपमान् ।
प्रेषयामास संक्रुद्धो ज्वलितानिव पावकान् ॥ १९ ॥

अनन्तर जिष्णु धनञ्जयने अत्यन्त क्रुद्ध होकर बहुतसे केंचुलसे निकले हुए सर्पोंके समान तथा प्रज्वलित अग्निसदृश बाण उस हाथीके ऊपर चलाये ॥ १९ ॥

स तैर्विद्धो महानागो विस्रवन्रुधिरं बभौ ।
हिमवानिव शैलेन्द्रो बहुप्रस्रवणस्तदा ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि चतुःसततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥ २०६६ ॥

उस समय वह श्रेष्ठ हाथी बाणोंसे बिद्ध होकर रुधिर झरता हुआ, जलकी धारा बहानेवाले हिमवान् श्रेष्ठ पर्वतकी भांति दीखने लगा ॥ २० ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें चौहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७४ ॥ २०६६ ॥

: ७५ :

वैशम्पायन उवाच—

एवं त्रिरात्रमभवत्तद्युद्धं भरतर्षभ ।
अर्जुनस्य नरेन्द्रेण वृत्रेणेव शतक्रतोः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— हे भरतर्षभ ! जिस प्रकार पहले वृत्रासुरके सङ्ग इन्द्रका संग्राम हुआ था, उसही भांति राजा वज्रदत्तके सङ्ग अर्जुनका यह तीन दिन–तीन रात्रितक युद्ध हुआ था ॥ १ ॥

ततश्चतुर्थे दिवसे वज्रदत्तो महाबलः ।
जहास सस्वनं हासं वाक्यं चेदमथाब्रवीत् ॥ २ ॥

अनन्तर चौथे दिन महाबली वज्रदत्तने ऊंचे स्वरसे हंसकर अर्जुनसे इस प्रकार कहा ॥ २ ॥

अर्जुनार्जुन तिष्ठस्व न मे जीवन्विमोक्ष्यसे ।
त्वां निहत्य करिष्यामि पितुस्तोयं यथाविधि ॥ ३ ॥

' अर्जुन ! अर्जुन ! ! तुम खडे रहो ! आज मैं तुम्हें जीवित नहीं छोडूंगा । पिताका विधिपूर्वक तर्पण तुम्हें मारकर करूंगा ॥ ३ ॥

त्वया वृद्धो मम पिता भगदत्तः पितुः सखा ।
हतो वृद्धोऽपचायित्वाच्छिशुं मामद्य योधय ॥ ४ ॥

तुमने अपने पितृसखा मेरे पिता वृद्ध भगदत्तको अधर्मसे मारा है; मैं शिशु हूं, आज मेरे सङ्ग युद्ध करो ॥ ४ ॥

इत्येवमुक्त्वा संक्रुद्धो वज्रदत्तो नराधिपः ।
प्रेषयामास कौरव्य वारणं पाण्डवं प्रति ॥ ५ ॥

हे कौरव ! अत्यंत क्रोधित नरनाथ वज्रदत्तने अर्जुनसे ऐसा कहके उनकी ओर हाथी चलाया ॥ ५ ॥

संप्रेष्यमाणो नागेन्द्रो वज्रदत्तेन धीमता ।
उत्पतिष्यन्निवाकाशमभिदुद्राव पाण्डवम् ॥ ६ ॥

वह गजराज धीमान् वज्रदत्तके चलानेपर मानो आकाशमार्गसे कूदता हुआ वेगपूर्वक अर्जुनके समीप उपस्थित हुआ ॥ ६ ॥

अग्रहस्तप्रमुक्तेन शीकरेण स फल्गुनम् ।
समुक्षत महाराज शैलं नील इवाम्बुदः ॥ ७ ॥

महाराज ! जैसे बादल जलकी बर्षासे नीलगिरीको सेचन करता है, वैसे ही उस गजराजने अपनी सूंडसे छोडे गये जल तुषारोंसे अर्जुनको भिगो दिया ॥ ७ ॥

स तेन प्रेषितो राज्ञा मेघवन्निनदन्मुहुः ।
मुखाडम्बरघोषेण समाद्रवत फल्गुनम् ॥ ८ ॥

वह नागेन्द्र राजा वज्रदत्तसे प्रेरित होकर बारंबार मेघके समान गर्जना करता हुआ, अपने मुखके चीत्कारपूर्ण घोषके साथ अर्जुनपर टूट पडा ॥ ८ ॥

स नृत्यन्निव नागेन्द्रो वज्रदत्तप्रचोदितः ।
आससाद द्रुतं राजन्कौरवाणां महारथम् ॥ ९ ॥

हे महाराज ! वज्रदत्तके चलानेपर वह नागेन्द्र मानो नृत्य करता हुआ वेगपूर्वक कौरवोंके महारथी अर्जुनके पास आया ॥ ९ ॥

तमापतन्तं संप्रेक्ष्य वज्रदत्तस्य वारणम् ।
गाण्डीवमाश्रित्य बली न व्यकम्पत शत्रुहा ॥ १० ॥

शत्रुसूदन बलवान् धनञ्जय वज्रदत्तके उस हाथीको आया हुआ देखकर गाण्डीव धनुषका सहारा लेकर विचलित नहीं हुए ॥ १० ॥

चुक्रोध बलवच्चापि पाण्डवस्तस्य भूपतेः ।
कार्यविघ्नमनुस्मृत्य पूर्ववैरं च भारत ॥ ११ ॥

भारत ! उन्होंने राजा वज्रदत्तसे जो कार्यमें विघ्न उत्पन्न हुआ था तथा भगदत्तके पहले वैरको स्मरण करके राजा वज्रदत्तपर अर्जुन बहुत क्रुद्ध हुए ॥ ११ ॥

ततस्तं वारणं क्रुद्धः शरजालेन पाण्डवः ।
निवारयामास तदा वेलेव मकरालयम् ॥ १२ ॥

अनन्तर जैसे तट समुद्रको रोकता है, वैसे ही उन्होंने क्रुद्ध होकर बाण समूहोंकी वर्षा द्वारा उस हाथीको निवारण किया ॥ १२ ॥

स नागप्रवरो वीर्यादर्जुनेन निवारितः ।
तस्थौ शरैर्वितुन्नाङ्गः श्वाविच्छललितो यथा ॥ १३ ॥

अर्जुनसे पराक्रमपूर्वक रोका गया वह गजराज सारे अंगोंमें धंसे हुए बाणोंके कारण काटवाली साहीके समान खडा हो गया ॥ १३ ॥

निवारितं गजं दृष्ट्वा भगदत्तात्मजो नृपः ।
उत्ससर्ज शितान्बाणानर्जुने क्रोधमूर्छितः ॥ १४ ॥

भगदत्तपुत्र राजा वज्रदत्त अपने हाथीको निवारित होते देखकर क्रोधसे मूर्च्छित होके अर्जुनकी ओर शिकल किये हुए बाण चलाने लगा ॥ १४ ॥

अर्जुनस्तु महाराज शरैः शरविघातिभिः ।
वारयामास तानस्तांस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १५ ॥

महाराज ! अर्जुनने बाण संहारक बाणोंके द्वारा उन बाणोंको निवारण किया । वह एक अद्भुत घटना हुई ॥ १५ ॥

ततः पुनरतिक्रुद्धो राजा प्राग्ज्योतिषाधिपः ।
प्रेषयामास नागेन्द्रं बलवच्छ्वसनोपमम् ॥ १६ ॥

अनन्तर प्राग्ज्योतिषाधिपति राजा वज्रदत्तने अत्यंत क्रोधित होकर फिर वायुके सदृश बलपूर्वक अपने हाथीको चलाया ॥ १६ ॥

तमापतन्तं संप्रेक्ष्य बलवान्पाकशासनिः ।
नाराचमग्निसंकाशं प्राहिणोद्वारणं प्रति ॥ १७ ॥

इन्द्रपुत्र बलवान् अर्जुनने उस नागेन्द्रको आक्रमण करनेके लिये आते हुए देखकर उसके ऊपर अग्निसदृश नाराच बाण चलाया ॥ १७ ॥

स तेन वारणो राजन्मर्मण्यभिहतो भृशम् ।
पपात सहसा भूमौ वज्ररुग्ण इवाचलः ॥ १८ ॥

हे राजन् ! बाणोंके द्वारा मर्मस्थलोंमें अत्यंत चोट लगनेसे वह हाथी वज्रसे टूटे हुए पर्वतकी भांति सहसा पृथ्वीपर गिर पडा ॥ १८ ॥

स पतञ्शुशुभे नागो धनंजयशराहतः ।
विशन्निव महाशैलो महीं वज्रप्रपीडितः ॥ १९ ॥

उस समय वह गजेन्द्र अर्जुनके बाणोंकी चोटसे घायल होकर वज्रसे प्रपीडित पृथ्वीमें प्रविष्ट पर्वतकी भांति शोभित हुआ ॥ १९ ॥

तस्मिन्निपतिते नागे वज्रदत्तस्य पाण्डवः ।
तं न भेतव्यमित्याह ततो भूमिगतं नृपम् ॥ २० ॥

जब बज्रदत्तका हाथी मरके गिर पडा, तब राजा भी स्वयं पृथ्वीपर पडा था; उस समय अर्जुन पृथ्वीपर स्थित राजासे बोले- ' तुम्हें भय नहीं है ॥ २० ॥

अब्रवीद्धि महातेजाः प्रस्थितं मां युधिष्ठिरः ।
राजानस्ते न हन्तव्या धनंजय कथंचन ॥ २१ ॥

मेरे चलनेके समयमें महातेजस्वी राजा युधिष्ठिरने मुझसे कहा था, कि "हे धनञ्जय ! राजा लोग यदि तुम्हारे प्रतिकूलचारी होवें, तो भी तुम युद्धमें उन्हें न मारना ॥ २१ ॥

सर्वमेतन्नरव्याघ्र भवत्वेतावता कृतम् ।
योधाश्चापि न हन्तव्या धनंजय रणे त्वया ॥ २२ ॥

बल्कि हे पुरुषसिंह अर्जुन ! इतना करनेसे सब कुछ हो जायगा । युद्धमें तुम्हें योद्धाओंको भी नहीं मारना चाहिये ॥ २२ ॥

वक्तव्याश्चापि राजानः सर्वैः सह सुहृज्जनैः ।
युधिष्ठिरस्याश्वमेधो भवद्भिरनुभूयताम् ॥ २३ ॥

उन सब राजाओंसे कहना, कि आप सब लोग सुहृदोंके सहित युधिष्ठिरके अश्वमेध यज्ञमें पधारें और यज्ञका आनन्द लें ॥ २३ ॥

इति भ्रातृवचः श्रुत्वा न हन्मि त्वां जनाधिप ।
उत्तिष्ठ न भयं तेऽस्ति स्वस्तिमान्गच्छ पार्थिव ॥ २४ ॥

हे नरनाथ ! मैं भाईकी आज्ञानुसार तुम्हें नहीं मारूंगा, जो किया है, वह यहांतक ही हुआ । राजन् ! उठो, तुम्हें भय नहीं है; तुम कुशलपूर्वक घरको गमन करो ॥ २४ ॥

आगच्छेथा महाराज परां चैत्रीमुपस्थिताम् ।
तदाश्वमेधो भविता धर्मराजस्य धीमतः ॥ २५ ॥

आगामी चैत्री पूर्णिमामें बुद्धिमान् धर्मराजका अश्वमेध यज्ञ होगा, उस समय तुम वहां आना ॥ २५ ॥

एवमुक्तः स राजा तु भगदत्तात्मजस्तदा ।
तथेत्येवाब्रवीद्वाक्यं पाण्डवेनाभिनिर्जितः ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥ २०९२ ॥

अनन्तर भगदत्तका पुत्र राजा वज्रदत्त अर्जुनके द्वारा निर्जित तथा उनका ऐसा वचन सुनके बोला— कि ' वही होगा । ' ॥ २६ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें पचहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७५ ॥ २०९२ ॥

: ७६ :

वैशम्पायन उवाच—

सैन्धवैरभवद्युद्धं ततस्तस्य किरीटिनः ।
हतशेषैर्महाराज हतानां च सुतैरपि ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— हे महाराज ! अनन्तर महाभारतके युद्धमें मरनेसे बचे हुए सिन्धुवंशीय वीरों और मारे गये राजाओंके पुत्रोंके सङ्ग किरीटि अर्जुनका युद्ध होने लगा ॥१॥

तेऽवतीर्णमुपश्रुत्य विषयं श्वेतवाहनम् ।
प्रत्युद्ययुरमृष्यन्तो राजानः पाण्डवर्षभम् ॥ २ ॥

सिन्धुराजगण श्वेताश्व अर्जुनको अपने राज्यमें आया हुआ सुनके अमर्षपूर्वक युद्ध करनेके लिये पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनके सामने आये ॥ २ ॥

अश्वं च तं परामृश्य विषयान्ते विषोपमाः ।
न भयं चक्रिरे पार्थाद्भीमसेनादनन्तरात् ॥ ३ ॥

उन विषसदृश भयंकर सिन्धुराजगणने निज राज्यके बीच आये हुए उस घोडेको पकड लिया; वे भीमसेनके छोटे भाई अर्जुनसे भयभीत न हुए ॥ ३ ॥

तेऽविदूराद्धनुष्पाणिं यज्ञियस्य हयस्य च ।
बीभत्सुं प्रत्यपद्यन्त पदातिनमवस्थितम् ॥ ४ ॥

यज्ञिय घोडेके पीछे थोडीही दूर, हाथमें धनुष ले स्थित अर्जुनके पास वे सब पहुंचे ॥ ४ ॥

ततस्ते तु महावीर्या राजानः पर्यवारयन् ।
जिगीषन्तो नरव्याघ्राः पूर्वं विनिकृता युधि ॥ ५ ॥

वे महापराक्रमी पुरुषसिंह राजा पहले युद्धमें पराजित हो गये थे; अब अर्जुनको जीतनेकी इच्छासे उन्होंने उनको घेर लिया ॥ ५ ॥

ते नामान्यथ गोत्राणि कर्माणि विविधानि च ।
कीर्तयन्तस्तदा पार्थं शरवर्षैरवाकिरन् ॥ ६ ॥

उन लोगोंने युद्धमें अपना अपना नाम, गोत्र और विविध कर्म कहके उस समय बाणोंकी वर्षासे अर्जुनको छिपा दिया ॥ ६ ॥

ते किरन्तः शरांस्तीक्ष्णान्वारणेन्द्रनिवारणान् ।
रणे जयमभीप्सन्तः कौन्तेयं पर्यवारयन् ॥ ७ ॥

उन राजाओंने युद्धमें जयकी अभिलाषा करके गजराजाओंको भी आगे बढनेसे रोकनेवाले तीक्ष्ण बाणोंको चलाते हुए कुन्तीपुत्र धनञ्जयको घेर लिया ॥ ७ ॥

तेऽसमीक्ष्यैव तं वीरमुग्रकर्माणमाहवे ।
सर्वे युयुधिरे वीरा रथस्थास्तं पदातिनम् ॥ ८ ॥

वे सब वीर लोग रथपर आरूढ हो पैदल स्थित युद्धमें उग्र कर्म करनेवाले वीर अर्जुनको देखकर उनसे युद्ध करने लगे ॥ ८ ॥

ते तमाजघ्निरे वीरं निवातकवचान्तकम् ।
संशप्तकनिहन्तारं हन्तारं सैन्धवस्य च ॥ ९ ॥

अनन्तर उन लोगोंने निवातकवचान्तक, संशप्तकोंके नाशक और जयद्रथका बध करनेवाले वीर अर्जुनपर प्रहार किया ॥ ९ ॥

ततो रथसहस्रेण हयानामयुतेन च ।
कोष्ठकीकृत्य कौन्तेयं संप्रहृष्टमयोधयन् ॥ १० ॥

वे लोग एक हजार रथ और दस हजार घोडोंके द्वारा प्रसन्नचित्त अर्जुनको कोष्ठबद्धसा करके युद्ध करने लगे ॥ १० ॥

संस्मरन्तो वधं वीराः सिन्धुराजस्य धीमतः ।
जयद्रथस्य कौरव्य समरे सव्यसाचिना ॥ ११ ॥

कुरुपुत्र ! कुरुक्षेत्रके युद्धमें सव्यसाची अर्जुनके हाथसे धीमान् सिन्धुराज जयद्रथके बधका उन वीरोंको स्मरण होता था ॥ ११ ॥

ततः पर्जन्यवत्सर्वे शरवृष्टिमवासृजन् ।
तैः कीर्णः शुशुभे पार्थो रविर्मेघान्तरे यथा ॥ १२ ॥

अनन्तर जब वे लोग अर्जुनपर पर्जन्यकी भांति बाणोंको बरसाने लगे, उस समय अर्जुन उनके बाणोंसे छिपकर इस प्रकार शोभित हुए जैसे बादलोंके बीच सूर्य शोभित होता है ॥ १२ ॥

स शरैः समवच्छन्नो ददृशे पाण्डवर्षभः ।
पञ्जरान्तरसंचारी शकुन्त इव भारत ॥ १३ ॥

हे भारत ! बाणोंसे छिपकर वे पाण्डवसिंह अर्जुन पींजडके अंदर उछलकर कूदनेवाले पक्षीकी भांति शोभायमान हुए ॥ १३ ॥

ततो हाहाकृतं सर्वं कौन्तेये शरपीडिते ।
त्रैलोक्यमभवद्राजन्रविश्चासीद्रजोरुणः ॥ १४ ॥

अनन्तर कुंतीपुत्र अर्जुनके बाणोंसे इस प्रकार अति पीडित होनेपर त्रिलोकवासी सब प्राणी हाहाकार करने लगे और सूर्य धूलीसे तेजरहित हो गया ॥ १४ ॥

ततो ववौ महाराज मारुतो रोमहर्षणः ।
राहुरग्रसदादित्यं युगपत्सोममेव च ॥ १५ ॥

हे महाराज ! उस समय रोएंको खडे करनेवाली वायु बहने लगी, राहुने एक ही समयमें चन्द्रमा और सूर्यको ग्रास किया ॥ १५ ॥

उल्काश्च जघ्निरे सूर्यं विकीर्यन्त्यः समन्ततः ।
वेपथुश्चाभवद्राजन्कैलासस्य महागिरेः ॥ १६ ॥

चारों ओर बिखरकर उल्काएं सूर्यसे टकराने लगीं; राजन् ! महापर्वत कैलास कांपने लगा ॥ १६ ॥

मुमुचुश्चास्रमत्युष्णं दुःखशोकसमन्विताः ।
सप्तर्षयो जातभयास्तथा देवर्षयोऽपि च ॥ १७ ॥

और सप्तर्षि तथा देवर्षि लोग भी भयभीत होकर दुःखित तथा शोकार्त होकर अत्यन्त गर्म श्वास छोडने लगे ॥ १७ ॥

शशश्चाशु विनिर्भिद्य मण्डलं शशिनोऽपतत् ।
विपरीतस्तदा राजंस्तस्मिन्नुत्पातलक्षणे ॥ १८ ॥

अनन्तर उल्काएं चन्द्रमामें स्थित शशको छेदकर चन्द्रमण्डलके चारों ओर गिरने लगीं; राजन् ! उस उत्पात लक्षणोंसे सब विपरीत प्रतीत होने लगा ॥ १८ ॥

रासभारुणसंकाशा धनुष्मन्तः सविद्युतः ।
आवृत्य गगनं मेघा मुमुचुर्मांसशोणितम् ॥ १९ ॥

गधेके समान रंग और लालवर्ण मिश्रित विशिष्ट सब बादल आकाशमंडलमें भ्रमण करते हुए मांस और रुधिरकी वर्षा करने लगे। उनमें इन्द्रधनुष और बिजलियां भी चमकती दीखती थीं ॥ १९ ॥

एवमासीत्तदा वीरे शरवर्षाभिसंवृते ।
लोकेऽस्मिन्भरतश्रेष्ठ तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २० ॥

हे भरतर्षभ ! जब वीरश्रेष्ठ धनञ्जय शत्रुओंकी बाणोंकी वर्षासे छिप गये, तब इस जगतमें अनेक भांतिके उत्पात होने लगे; वह अद्भुत घटना हुई ॥ २० ॥

तस्य तेनावकीर्णस्य शरजालेन सर्वशः ।
मोहात्पपात गाण्डीवमावापश्च करादपि ॥ २१ ॥

अर्जुनके सब ओरसे शरजालसे छिप जानेपर वे मोहवश हो गये और उनके हाथसे गाण्डीव और हाथके रोदेकी चोटको रोकनेवाली चर्मपट्टिका गिर पडी ॥ २१ ॥

तस्मिन्मोहमनुप्राप्ते शरजालं महत्तरम् ।
सैन्धवा मुमुचुस्तूर्णं गतसत्त्वे महारथे ॥ २२ ॥

महारथी अर्जुनके मूर्च्छित तथा चेतरहित होनेपर भी सिन्धुराजगण उनके ऊपर शीघ्र शरजाल छोडते ही रहे ॥ २२ ॥

ततो मोहसमापन्नं ज्ञात्वा पार्थं दिवौकसः ।
सर्वे वित्रस्तमनसस्तस्य शान्तिपराभवन् ॥ २३ ॥

तब द्युलोकवासी देवतावृन्द अर्जुनको मोहवश हुआ जानकर त्रासित चित्तसे उनके निमित्त शान्तिका उपाय करनेमें प्रवृत्त हुए ॥ २३ ॥

ततो देवर्षयः सर्वे तथा सप्तर्षयोऽपि च ।
ब्रह्मर्षयश्च विजयं जेपुः पार्थस्य धीमतः ॥ २४ ॥

और सब देवर्षि, ब्रह्मर्षि तथा सप्तर्षिवृन्द बुद्धिमान् अर्जुनके लिये विजयरूप जप करने लगे ॥ २४ ॥

ततः प्रदीपिते देवैः पार्थतेजसि पार्थिव ।
तस्थावचलवद्धीमान्संग्रामे परमास्त्रवित् ॥ २५ ॥

हे राजन् ! तिसके अनन्तर देवताओंके द्वारा किये प्रयत्नोंसे अर्जुनका तेज प्रदीप्त हो गया और वे परमास्त्रवेत्ता बुद्धिमान् अर्जुन युद्धभूमिमें पर्वतके समान अविचल स्थित हो गये ॥ २५ ॥

विचकर्ष धनुर्दिव्यं ततः कौरवनन्दनः ।
यन्त्रस्येवेह शब्दोऽभून्महांस्तस्य पुनः पुनः ॥ २६ ॥

फिर कौरवनन्दन अर्जुनने अपने दिव्य धनुषकी प्रत्यञ्चा खींची । उससे बार बार यंत्रके समान महान् शब्द होने लगा ॥ २६ ॥

ततः स शरवर्षाणि प्रत्यमित्रान्प्रति प्रभुः ।
ववर्ष धनुषा पार्थो वर्षाणीव सुरेश्वरः ॥ २७ ॥

अनन्तर जैसे देवताओंके राजा इन्द्र जल बरसते हैं, वैसेही सर्वशक्तिमान् अर्जुन दिव्य धनुष्यके द्वारा विरुद्धाचारी शत्रुओंके ऊपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २७ ॥

ततस्ते सैन्धवा योधाः सर्व एव सराजकाः ।
नादृश्यन्त शरैः कीर्णाः शलभैरिव पावकाः ॥ २८ ॥

जैसे अग्नि शलभसमूहसे परिपूरित होते हैं, वैसे ही राजाके सहित सिन्धुदेशीय योद्धा लोग अर्जुनके बाणोंसे छिपकर अदृश्य हुए ॥ २८ ॥

तस्य शब्देन वित्रेसुर्भयार्ताश्च विदुद्रुवुः ।
मुमुचुश्चाश्रु शोकार्ताः सुषुपुश्चापि सैन्धवाः ॥ २९ ॥

सैन्धवगण उनके शब्दसे त्रासित, भयार्त और शोकार्त होकर आखोंसे आंसू बहाते हुए इधर उधर भागने लगे तथा कितनेही निद्राधीन हो गये ॥ २९ ॥

तांस्तु सर्वान्नरश्रेष्ठः सर्वतो विचरन्बली ।
अलातचक्रवद्राजञ्शरजालैः समर्पयत् ॥ ३० ॥

हे महाराज ! बलवान् नरश्रेष्ठ अर्जुन अलात चक्रकी भांति भ्रमण करते हुए चारों ओरसे उन सब पर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ३० ॥

तदिन्द्रजालप्रतिमं बाणजालममित्रहा ।
व्यसृजद्दिक्षु सर्वासु महेन्द्र इव वज्रभृत् ॥ ३१ ॥

शत्रुसूदन धनंजयने वज्रधारी महेन्द्रकी भांति सब दिशाओंमें इन्द्रजालसदृश बाणोंका जाल फैला दिया ॥ ३१ ॥

मेघजालनिभं सैन्यं विदार्य स रविप्रभः ।
विबभौ कौरवश्रेष्ठः शरदीव दिवाकरः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥ २१२४ ॥

हे महाराज ! कौरवेन्द्र धनंजय बाणवृष्टिके द्वारा मेघजालसदृश सैन्धव–वीरोंकी सब सेना विदारित करते हुए शरत्कालके सूर्यसमान सुशोभित हुए ॥ ३२ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें छिहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७६ ॥ २१२४ ॥

: ७७ :

वैशम्पायन उवाच—

ततो गाण्डीवभृच्छूरो युद्धाय समवस्थितः ।
विबभौ युधि दुर्धर्षो हिमवानचलो यथा ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– तिसके अनन्तर गाण्डीवधारी दुर्धर्ष शूर अर्जुन युद्धके निमित्त रणभूमिमें उपस्थित होकर, हिमाचलकी भांति प्रकाशित हुए ॥ १ ॥

ततः सैन्धवयोधास्ते पुनरेव व्यवस्थिताः ।
विमुञ्चन्तः सुसंरब्धाः शरवर्षाणि भारत ॥ २ ॥

भारत ! तब सैन्धवी योद्धा फिर अधिक संगठित होकर युद्धमें फिर उपस्थित होकर अत्यंत क्रुद्ध हो बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २ ॥

तान्प्रसह्य महावीर्यः पुनरेव व्यवस्थितान् ।
ततः प्रोवाच कौन्तेयो मुमूर्षूञ्श्लक्ष्णया गिरा ॥ ३ ॥

महावीर कुन्तीपुत्र अर्जुन मरनेकी इच्छा करनेवाले सैन्धवोंके गणको फिर युद्धमें उपस्थित होते देखकर सहन करते हुए यह मधुर वचन बोले ॥ ३ ॥

युध्यध्वं परया शक्त्या यतध्वं च वधे मम ।
कुरुध्वं सर्वकार्याणि महद्वो भयमागतम् ॥ ४ ॥

कि तुम लोग समधिक शक्तिके अनुसार युद्ध करो और मुझे मारनेके लिये यत्न करो और सब कार्य उत्तम रीतिसे पूरे करो; तुम लोगोंको महान् भय उपस्थित हुआ है ॥ ४ ॥

एष योत्स्यामि वः सर्वान्निवार्य शरवागुराम् ।
तिष्ठध्वं युद्धमनसो दर्पं विनयितास्मि वः ॥ ५ ॥

मैं अकेलाही तुम्हारे शरजालका निवारण करके तुम सब लोगोंके साथ युद्ध करूंगा । तुम लोग मनमें युद्धका निश्चय करके थोडे समयतक स्थिर रहो, मैं शीघ्रही तुम लोगोंका घमंड तोड दूंगा ॥ ५ ॥

एतावदुक्त्वा कौरव्यो रुषा गाण्डीवभृत्तदा ।
ततोऽथ वचनं स्मृत्वा भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भारत ॥ ६ ॥

हे भारत ! गाण्डीवधारी कुरुपुत्र अर्जुन क्रोधमें भरकर बात कहके, उस समय अपने जेठे भाईने जो कहा था, उसे स्मरण करने लगे ॥ ६ ॥

न हन्तव्या रणे तात क्षत्रिया विजिगीषवः ।
जेतव्याश्चेति यत्प्रोक्तं धर्मराज्ञा महात्मना ।
चिन्तयामास च तदा फल्गुनः पुरुषर्षभः ॥ ७ ॥

महात्मा धर्मराजने कहा था कि तात ! समरमें विजयकी इच्छा करनेवाले क्षत्रियोंका वध नहीं करना, केवल जय करना । इस वचनको याद करके पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ऐसी चिन्ता करने लगे ॥ ७ ॥

इत्युक्तोऽहं नरेन्द्रेण न हन्तव्या नृपा इति ।
कथं तन्न मृषेह स्याद्धर्मराजवचः शुभम् ॥ ८ ॥

राजेन्द्र धर्मराजने कहा था कि राजाओंका वध न करना, धर्मराजका वह शुभवचन किस प्रकार यहां मिथ्या न होगा ? ॥ ८ ॥

न हन्येरंश्च राजानो राज्ञश्चाज्ञा कृता भवेत् ।
इति संचिन्त्य स तदा भ्रातुः प्रियहिते रतः ।
प्रोवाच वाक्यं धर्मज्ञः सैन्धवान्युद्धदुर्मदान् ॥ ९ ॥

यदि राजा लोग मारे न जायं तभी उनकी आज्ञा प्रतिपालित होगी; ऐसाही विचार करके उस समय धर्मज्ञ, भाइके प्रिय और हितकारी करनेमें रत अर्जुन उन युद्धदुर्मद सैन्धव वीरोंसे बोले ॥ ९ ॥

बालान्स्त्रियो वा युष्माकं न हनिष्ये व्यवस्थितान् ।
यश्च वक्ष्यति संग्रामे तवास्मीति पराजितः ॥ १० ॥

बालकों तथा स्त्रियोंको और तुमको मैं नहीं मारूंगा; जो कोई मेरे समीप अपनी पराजय स्वीकार कर रणभूमिमें मैं तुम्हारा हूं, तुमने मुझे जीता है ऐसा कहे ॥ १० ॥

एतच्छ्रुत्वा वचो मह्यं कुरुध्वं हितमात्मनः ।
अतोऽन्यथा कृच्छ्रगता भविष्यथ मयार्दिताः ॥ ११ ॥

तुम लोग मेरा यह वचन सुनके अपने हितका उपाय करो; यदि इसके बिपरीत कार्य करोगे, तो मेरे बाणोंसे पीडित होकर अत्यन्त क्लेश पाओगे ॥ ११ ॥

एवमुक्त्वा तु तान्वीरान्युयुधे कुरुपुंगवः ।
अत्वरावानसंरब्धः संरब्धैर्विजिगीषुभिः ॥ १२ ॥

कुरुपुङ्गव अर्जुन उन वीरोंसे इतना वचन कहके अत्यन्त क्रुद्ध विजयकी इच्छा करनेवाले सैन्धवोंके सङ्ग अत्यंत शान्त चित्तसे युद्ध करने लगे ॥ १२ ॥

ततः शतसहस्राणि शराणां नतपर्वणाम् ।
मुमुचुः सैन्धवा राजंस्तदा गाण्डीवधन्वनि ॥ १३ ॥

हे महाराज ! उस समय सैन्धवगण गांडीवधारी अर्जुनके ऊपर सैकडों तथा सहस्रों नतपर्व बाण चलाने लगे ॥ १३ ॥

स तानापततः क्रूरानाशीविषविषोपमान् ।
चिच्छेद निशितैर्बाणैरन्तरैव धनंजयः ॥ १४ ॥

अर्जुनने अपने चोखे बाणोंसे उनके समागत विषैले सर्पसदृश विषसे बुझे हुए बाणोंको आकाशमें ही काटके गिरा दिया ॥ १४ ॥

छित्त्वा तु तानाशुगमान्कङ्कपत्राञ्शिलाशितान् ।
एकैकमेष दशभिर्बिभेद समरे शरैः ॥ १५ ॥

फिर उन्होंने युद्धमें चोखे बाणोंसे सैन्धवोंके वेगवान् कङ्कपत्रयुक्त शिलापर घिसे हुए बाणोंको शीघ्र ही टुकडे करके, उन वीरोंमेंसे प्रत्येकको दस दस बाण मारकर घायल किया ॥१५॥

ततः प्रासांश्च शक्तीश्च पुनरेव धनंजये ।
जयद्रथं हतं स्मृत्वा चिक्षिपुः सैन्धवा नृपाः ॥ १६ ॥

अनन्तर सिन्धुराजगण जयद्रथके बधका वृत्तान्त स्मरण करके फिर अर्जुनके ऊपर प्रास और शक्ति चलाने लगे ॥ १६ ॥

तेषां किरीटी संकल्पं मोघं चक्रे महामनाः ।
सर्वांस्तानन्तरा छित्त्वा मुदा चुक्रोश पाण्डवः ॥ १७ ॥

महा मनस्वी किरीटधारी अर्जुनने सैन्धवोंके प्रास और शक्तियोंको बीचसे ही काटके उनके सङ्कल्पको व्यर्थ करके, आनन्दित होकर बडे जोरसे गर्जना की ॥ १७ ॥

तथैवापततां तेषां योधानां जयगृद्धिनाम् ।
शिरांसि पातयामास भल्लैः संनतपर्वभिः ॥ १८ ॥

और जयकी इच्छा करनेवाले आक्रमक सैन्धव बीरोंके सिर सन्नतपर्व भल्लास्त्रके द्वारा काटके गिराने लगे ॥ १८ ॥

तेषां प्रद्रवतां चैव पुनरेव च धावताम् ।
निवर्ततां च शब्दोऽभूत्पूर्णस्येव महोदधेः ॥ १९ ॥

उन लोगोंमेंसे कुछ भागते थे, फिर कुछ लोग वेगपूर्वक धावा करते थे और कुछ लोग युद्धसे निवृत्त होते थे; उन सबका परिपूर्ण समुद्रकी गर्जना की भांति तुमुल शब्द उत्पन्न हुआ ॥ १९ ॥

ते वध्यमानास्तु तदा पार्थेनामिततेजसा ।
यथाप्राणं यथोत्साहं योधयामासुरर्जुनम् ॥ २० ॥

उस समय वे लोग अमित तेजस्वी अर्जुनके द्वारा मारे जानेपर भी शक्ति और उत्साहपूर्वक उनके सङ्ग युद्ध करते रहे ॥ २० ॥

ततस्ते फल्गुनेनाजौ शरैः संनतपर्वभिः ।
कृता विसंज्ञा भूयिष्ठाः क्लान्तवाहनसैनिकाः ॥ २१ ॥

अनन्तर प्रायः वे सब लोग युद्धमें अर्जुनके झुकी हुई गांठवाले बाणोंकी चोटसे चेतरहित हो गये । उनके वाहन और सैनिक भी थक गये थे ॥ २१ ॥

तांस्तु सर्वान्परिग्लानान्विदित्वा धृतराष्ट्रजा ।
दुःशला बालमादाय नप्तारं प्रययौ तदा ।
सुरथस्य सुतं वीरं रथेनानागसं तदा ॥ २२ ॥

अनन्तर धृतराष्ट्रकी पुत्री दुःशला सिन्धुराजगणको पीडित होते जानकर अपने बेटे सुरथके निष्पाप वीर बालकको–अपने पौत्रको–साथ ले रथपर चढके युद्धभूमिमें आयी ॥ २२ ॥

शान्त्यर्थं सर्वयोधानामभ्यगच्छत पाण्डवम् ।
सा धनंजयमासाद्य मुमोचार्तस्वरं तदा ।
धनंजयोऽपि तां दृष्ट्वा धनुर्विससृजे प्रभुः ॥ २३ ॥

सब वीर योद्धा युद्धसे निवृत्त होकर शान्ति स्थापित करें, इसलिये वह अर्जुनके पास आयी थी; वह उन पाण्डुपुत्र अर्जुनके पास आकर आर्त स्वरसे रोने लगी; बलशाली धनंजयने भी उसे देखकर धनुष परित्याग किया ॥ २३ ॥

समुत्सृष्टधनुः पार्थो विधिवद्भगिनीं तदा ।
प्राह किं करवाणीति सा च तं वाक्यमब्रवीत् ॥ २४ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन धनुष परित्याग करके सम्मानपूर्वक भगिनी दुःशलासे बोले, कहो, मैं कौनसा कार्य करूं ? तब दुःशला उनसे बोली ॥ २४ ॥

एष ते भरतश्रेष्ठ स्वस्रीयस्यात्मजः शिशुः ।
अभिवादयते वीर तं पश्य पुरुषर्षभ ॥ २५ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे भानजे सुरथका बालक–पुत्र तुम्हें प्रणाम करता है । हे वीर ! तुम इसकी ओर कृपादृष्टि करो ॥ २५ ॥

इत्युक्तस्तस्य पितरं स पप्रच्छार्जुनस्तदा ।
क्वासाविति ततो राजन्दुःशला वाक्यमब्रवीत् ॥ २६ ॥

हे राजन् ! अर्जुनने दुःशलाका ऐसा वचन सुनके उस बालकके पिताके विषयमें पूछा, कि इसका पिता कहां है ? ऐसा पूछनेपर दुःशला उनसे कहने लगी ॥ २६ ॥

पितृशोकाभिसंतप्तो विषादार्तोऽस्य वै पिता ।
पञ्चत्वमगमद्वीर यथा तन्मे निबोध ह ॥ २७ ॥

इस बालकका वीर पिता पितृशोकसे सन्तापित तथा विषादसे आर्त होकर जिस प्रकार मृत्युको प्राप्त हुआ है, वह मेरे निकट सुनो ॥ २७ ॥

स पूर्वं पितरं श्रुत्वा हतं युद्धे त्वयानघ ।
त्वामागतं च संश्रुत्य युद्धाय हयसारिणम् ।
पितुश्च मृत्युदुःखार्तोऽजहात्प्राणान्धनंजय ॥ २८ ॥

हे अनघ ! उस सुरथने पहलेसे तुम्हारे हाथसे अपने पिताकी मृत्यु हुई है, यह सुना था; फिर घोडेका अनुसरण करते हुए युद्धके लिये तुम्हारा यहांपर आना सुनकर, पिताके मृत्यु-जनित दुःखसे अत्यन्त आर्त होकर अपने प्राणोंका परित्याग किया है ॥ २८ ॥

प्राप्तो बीभत्सुरित्येव नाम श्रुत्वैव तेऽनघ ।
विषादार्तः पपातोर्व्यां ममार च ममात्मजः ॥ २९ ॥

हे प्रभु ! मेरा सुरथ यह सुनके कि अर्जुन आये हैं, तथा तुम्हारा केवल नाम सुनकर शोकसे अत्यन्त आर्त होकर पृथ्वीपर गिरके मर गया ॥ २९ ॥

तं तु दृष्ट्वा निपतितं ततस्तस्यात्मजं विभो ।
गृहीत्वा समनुप्राप्ता त्वामद्य शरणैषिणी ॥ ३० ॥

हे विभो ! मैं पुत्रको वहांपर गिरा तथा मरा हुआ देखकर उसके पुत्रको साथ लेकर आज तुम्हारे शरणमें आई हूं ॥ ३० ॥

इत्युक्त्वार्तस्वरं सा तु मुमोच धृतराष्ट्रजा ।
दीना दीनं स्थितं पार्थमब्रवीच्चाप्यधोमुखम् ॥ ३१ ॥

वह धृतराष्ट्रकी पुत्री दुःशला ऐसा कहके, दीन होकर आर्त स्वरसे रोने लगी; आंसू बहाते हुए दीनभावसे स्थित सिर नीचा किये हुए अर्जुनसे फिर कहने लगी ॥ ३१ ॥

स्वसारं मामवेक्षस्व स्वस्रीयात्मजमेव च ।
कर्तुमर्हसि धर्मज्ञ दयां मयि कुरूद्वह ।
विस्मृत्य कुरुराजानं तं च मन्दं जयद्रथम् ॥ ३२ ॥

हे धर्मज्ञ ! कुरुकुलश्रेष्ठ ! मंदबुद्धि कुरुराज दुर्योधन और जयद्रथको भूलकर बहिन तथा भानजेके पुत्रको कृपापूर्वक देखकर तुम्हें मेरे ऊपर दया करनी योग्य है ॥ ३२ ॥

अभिमन्योर्यथा जातः परिक्षित्परवीरहा ।
तथायं सुरथाज्जातो मम पौत्रो महाभुज ॥ ३३ ॥

हे महाबाहो ! शत्रु वीरोंका संहार करनेवाले परीक्षित जिस प्रकार अभिमन्युसे उत्पन्न हुआ है, मेरा यह पौत्र भी उस ही भांति सुरथके द्वारा जन्मा है ॥ ३३ ॥

तमादाय नरव्याघ्र संप्राप्तास्मि तवान्तिकम् ।
शमार्थं सर्वयोधानां शृणु चेदं वचो मम ॥ ३४ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! मैं उस पौत्रको लेकर सब योद्धाओंको शान्त करनेके लिये तुम्हारे निकट आई हूं । तुम मेरी यह बात सुनो ॥ ३४ ॥

आगतोऽयं महाबाहो तस्य मन्दस्य पौत्रकः ।
प्रसादमस्य बालस्य तस्मात्त्वं कर्तुमर्हसि ॥ ३५ ॥

हे महाबाहो ! यह तुम्हारे समीप उस मंदबुद्धि जयद्रथका पौत्र आया है; इसलिये तुम्हें इस बालक पर अनुग्रह करना चाहिये ॥ ३५ ॥

एष प्रसाद्य शिरसा मया सार्धमरिंदम ।
याचते त्वां महाबाहो शमं गच्छ धनंजय ॥ ३६ ॥

हे अरिंदमन ! महाबाहु धनंजय ! यह बालक मेरे साथ शान्तिके लिये सिर नीचा करके तुम्हारे समीप प्रार्थना करता है; अब तुम शान्त हो जाओ ॥ ३६ ॥

बालस्य हतबन्धोश्च पार्थ किंचिदजानतः ।
प्रसादं कुरु धर्मज्ञ मा मन्युवशमन्वगाः ॥ ३७ ॥

हे पार्थ ! इस बान्धवरहित हुए अज्ञ बालकके ऊपर दया करो । धर्मज्ञ ! इस पर क्रुद्ध न होना ॥ ३७ ॥

तमनार्यं नृशंसं च विस्मृत्यास्य पितामहम् ।
आगस्कारिणमत्यर्थं प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ३८ ॥

इस बालकके उस अनार्य, अत्यन्त अपराधी और नृशंस पितामहको भूलकर तुम्हें इसके ऊपर प्रसन्न होना उचित है ॥ ३८ ॥

एवं ब्रुवत्यां करुणं दुःशलायां धनंजयः ।
संस्मृत्य देवीं गान्धारीं धृतराष्ट्रं च पार्थिवम् ।
प्रोवाच दुःखशोकार्तः क्षत्रधर्मं विगर्हयन् ॥ ३९ ॥

जब दुःशला करुणायुक्त ऐसा वचन बोली, तब धनञ्जय राजा धृतराष्ट्र और गान्धारीदेवीको स्मरण करके, दुःख तथा शोकसे अत्यंत आर्त होकर क्षत्रधर्मकी निन्दा करते हुए कहने लगे ॥ ३९ ॥

धिक्तं दुर्योधनं क्षुद्रं राज्यलुब्धं च मानिनम् ।
यत्कृते बान्धवाः सर्वे मया नीता यमक्षयम् ॥ ४० ॥

उस क्षुद्रचित्तवाले राज्यलोभी और मानी दुर्योधनको धिक्कार है; उसहीके कारण ये सब बान्धव मेरे द्वारा यमलोकमें गये हैं ॥ ४० ॥

+

इत्युक्त्वा बहु सान्त्वादि प्रसादमकरोज्जयः ।
परिष्वज्य च तां प्रीतो विससर्ज गृहान्प्रति ॥ ४१ ॥

अर्जुनने इसी भांति बहुतसे सान्त्वन-वाक्य कहके बालकपर कृपा प्रसाद प्रकाशित करके, प्रीतिपूर्वक दुःशलाको अभिनन्दित करके उसे गृहपर भेजा ॥ ४१ ॥

दुःशला चापि तान्योधान्निवार्य महतो रणात् ।
संपूज्य पार्थं प्रययौ गृहान्प्रति शुभानना ॥ ४२ ॥

अनन्तर शुभानना दुःशला भी उस महान् युद्धसे अपनी सेनाको युद्धसे लौटाकर अर्जुनको प्रणाम करके गृहपर गई ॥ ४२ ॥

ततः सैन्धवकान्योधान्विनिर्जित्य नरर्षभः ।
पुनरेवान्वधावत्स तं हयं कामचारिणम् ॥ ४३ ॥

नरश्रेष्ठ धनञ्जय इस प्रकार सैन्धव वीरोंको जीतकर कामचारी घोडेके पीछे वे स्वयं भी फिर दौडने लगे ॥ ४३ ॥

ससार यज्ञियं वीरो विधिवत्स विशां पते ।
तारामृगमिवाकाशे देवदेवः पिनाकधृक् ॥ ४४ ॥

जैसे पिनाकधारी महादेव आकाशमें हरिनके पीछे दौडे थे; उस ही भांति तेजस्वी वीर अर्जुन उस यज्ञीय अश्वका विधिपूर्वक अनुगमन करने लगे ॥ ४४ ॥

स च वाजी यथेष्टेन तांस्तान्देशान्यथासुखम् ।
विचचार यथाकामं कर्म पार्थस्य वर्धयन् ॥ ४५ ॥

वह यज्ञका घोडा पुरुषश्रेष्ठ अर्जुनके पराक्रमको वर्धित करता हुआ इच्छानुसार सुखसे सब देशोंमें विचरने लगा ॥ ४५ ॥

क्रमेण स हयस्त्वेवं विचरन्भरतर्षभ ।
मणिपूरपतेर्देशमुपायात्सहपाण्डवः ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥ २१७० ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! वह घोडा इस ही प्रकार क्रमशः पृथ्वीमें विचरता हुआ धीरे धीरे पार्थके सहित मणिपूरपतिके देशमें उपस्थित हुआ ॥ ४६ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें सतहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७७ ॥ २१७० ॥

: ७९ :

वैशम्पायन उवाच—

श्रुत्वा तु नृपतिर्वीरं पितरं बभ्रुवाहनः ।
निर्ययौ विनयेनार्यो ब्राह्मणार्घ्यपुरःसरः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– आर्य राजा बभ्रुवाहन वीर पिता अर्जुनकी आगमनवार्ता सुनके ब्राह्मणोंको आगे करके और अर्घ्य उपहार लेकर विनीत भावसे उनके दर्शनके लिये नगरसे बाहर निकला ॥ १ ॥

मणिपूरेश्वरं त्वेवमुपयातं धनंजयः ।
नाभ्यनन्दत मेधावी क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ॥ २ ॥

मणिपुरेश्वर बभ्रुवाहनके इस प्रकार समीप आनेपर बुद्धिमान् अर्जुनने क्षत्रिय धर्मको स्मरण करके उसे अभिनन्दित नहीं किया ॥ २ ॥

उवाच चैनं धर्मात्मा समन्युः फल्गुनस्तदा ।
प्रक्रियेयं न ते युक्ता बहिस्त्वं क्षत्रधर्मतः ॥ ३ ॥

बल्कि वे धर्मात्मा अर्जुन क्रोधपूर्वक उससे बोले, कि तुम्हारा यह बर्तन युक्तियुक्त नहीं है। तुम क्षत्रिय धर्मके बाहिर हो गये हो ॥ ३ ॥

संरक्ष्यमाणं तुरगं यौधिष्ठिरमुपागतम् ।
यज्ञियं विषयान्ते मां नायोत्सीः किं नु पुत्रक ॥ ४ ॥

पुत्र ! मैं राजा युधिष्ठिरके यज्ञीय घोडेकी रक्षा करते हुए तुम्हारे राज्यमें आया हूं; तुम किस निमित्त मेरे सङ्ग युद्ध नहीं करते हो ? ॥ ४ ॥

धिक्त्वामस्तु सुदुर्बुद्धिं क्षत्रधर्मविशारदम् ।
यो मां युद्धाय संप्राप्तं साम्नैवाथो त्वमग्रहीः ॥ ५ ॥

तुम दुर्बुद्धिको धिक्कार है, तू क्षत्रियधर्मसे च्युत हुआ है; क्योंकि मेरे युद्धके लिये उपस्थित होनेपर जब तू युद्ध न करके सामके द्वारा मेरा स्वागत करता है ॥ ५ ॥

न त्वया पुरुषार्थश्च कश्चिदस्तीह जीवता ।
यस्त्वं स्त्रीवद्युधा प्राप्तं साम्ना मां प्रत्यगृह्णथाः ॥ ६ ॥

इस जगत्में तुमने जीवित रहकर कोई पुरुषार्थ नहीं किया; मैं युद्धके लिये यहांपर आया हूं, तू स्त्रियोंकी भांति मुझे प्रतिग्रह करता है ॥ ६ ॥

यद्यहं न्यस्तशस्त्रस्त्वामागच्छेयं सुदुर्मते ।
प्रक्रियेयं ततो युक्ता भवेत्तव नराधम ॥ ७ ॥

हे दुर्बुद्धे ! नराधम ! यदि मैं शस्त्ररहित होकर तेरे पास आता, तो तेरा मुझे इस रीतिसे मिलना युक्तियुक्त होता ॥ ७ ॥

तमेवमुक्तं भर्त्रा तु विदित्वा पन्नगात्मजा ।
अमृष्यमाणा भित्त्वोर्वीमुलूपी तमुपागमत् ॥ ८ ॥

नागपुत्री उलूपी पतिके द्वारा पुत्र बभ्रुवाहनका ऐसा तिरस्कार होना जानके और उनके द्वारा किये गये पुत्रके तिरस्कारको सहन न कर वह पातालको भेदकर पुत्रके निकट आयी ॥ ८ ॥

सा ददर्श ततः पुत्रं विमृशन्तमधोमुखम् ।
संतर्ज्यमानमसकृद्भर्त्रा युद्धार्थिना विभो ॥ ९ ॥

हे प्रभु ! उलूपीने युद्धकी इच्छा करनेवाले पतिके द्वारा बारबार तिरस्कृत होकर किसी विचारमें पडकर सिर नीचा करके खडे हुए पुत्र बभ्रुवाहनको देखा ॥ ९ ॥

ततः सा चारुसर्वाङ्गी तमुपेत्योरगात्मजा ।
उलूपी प्राह वचनं क्षत्रधर्मविशारदा ॥ १० ॥

अनन्तर वह मनोहर अङ्गोंवाली क्षत्रिय धर्मको जाननेवाली नागपुत्री उलूपी पुत्रके समीप आके उससे धर्मयुक्त वचन बोली ॥ १० ॥

उलूपीं मां निबोध त्वं मातरं पन्नगात्मजाम् ।
कुरुष्व वचनं पुत्र धर्मस्ते भविता परः ॥ ११ ॥

मैं नागकन्या उलूपी हूं, तुम मुझे अपनी माता जानो । हे पुत्र ! मैं जो कहती हूं, वैसा करनेसे तुम्हें परम धर्मकी प्राप्ति होगी ॥ ११ ॥

युध्यस्वैनं कुरुश्रेष्ठं धनंजयमरिंदम ।
एवमेष हि ते प्रीतो भविष्यति न संशयः ॥ १२ ॥

हे अरिदमन ! तुम तुम्हारे कुरुश्रेष्ठ पिता धनंजयके सङ्ग युद्ध करो; ऐसा करनेसे ये तुम्हारे ऊपर प्रसन्न होंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १२ ॥

एवमुद्धर्षितो मात्रा स राजा बभ्रुवाहनः ।
मनश्चक्रे महातेजा युद्धाय भरतर्षभ ॥ १३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! माताके द्वारा इस प्रकार युद्धके लिये उत्तेजित किये जानेपर महातेजस्वी राजा बभ्रुवाहनने युद्ध करनेका मनसे निश्चय किया ॥ १३ ॥

संनह्य काञ्चनं वर्म शिरस्त्राणं च भानुमत् ।
तूणीरशतसंबाधमारुरोह महारथम् ॥ १४ ॥

अनन्तर वह सुवर्णसे बना हुआ कवच पहनकर और प्रभायुक्त शिरस्त्राण धारण करके सैंकडों तूणीरोंसे युक्त महारथपर आरूढ हुआ ॥ १४ ॥

सर्वोपकरणैर्युक्तं युक्तमश्वैर्मनोजवैः ।
सुचक्रोपस्करं धीमान्हेमभाण्डपरिष्कृतम् ॥ १५ ॥

वह रथ युद्धकी सब सामग्रियोंसे पूरित, मनके समान वेगगामी घोडोंसे युक्त, तथा चक्र और अन्य उपकरणोंसे भरा हुआ था; वह परम शोभायमान और सुवर्ण कलशसे भूषित था ॥ १५ ॥

परमार्चितमुच्छ्रित्य ध्वजं सिंहं हिरण्मयम् ।
प्रययौ पार्थमुद्दिश्य स राजा बभ्रुवाहनः ॥ १६ ॥

उस पर सिंहके चिन्हवाली ऊंची ध्वजा फहरा रही थी । उस परम पूजित, सोनेके बने हुए उत्तम रथपर आरूढ हो धीमान् राजा बभ्रुवाहन अर्जुनसे युद्ध करनेके लिये आगे बढा ॥ १६ ॥

ततोऽभ्येत्य हयं वीरो यज्ञियं पार्थरक्षितम् ।
ग्राहयामास पुरुषैर्हयशिक्षाविशारदैः ॥ १७ ॥

तिसके अनन्तर वीरश्रेष्ठ बभ्रुवाहनने कुंतीपुत्र अर्जुनसे रक्षित उस यज्ञीय घोडेके निकट जाकर अश्वविद्या विशारद पुरुषोंके सहारे उस घोडेको पकडवा लिया ॥ १७ ॥

गृहीतं वाजिनं दृष्ट्वा प्रीतात्मा स धनंजयः ।
पुत्रं रथस्थं भूमिष्ठः संन्यवारयदाहवे ॥ १८ ॥

अर्जुन घोडेको बभ्रुवाहनके द्वारा पकडा हुआ देखकर प्रसन्नचित्तसे पृथ्वीपर खडे होकर रथमें बैठे हुए पुत्रको युद्धमें रोकने लगे ॥ १८ ॥

ततः स राजा तं वीरं शरव्रातैः सहस्रशः ।
अर्दयामास निशितैराशीविषविषोपमैः ॥ १९ ॥

राजा बभ्रुवाहनने युद्धमें विषैले सर्पोंके समान जहरी और तेज किये हुए हजारों बाण-समूहोंसे वीर अर्जुनको पीडित किया ॥ १९ ॥

तयोः समभवद्युद्धं पितुः पुत्रस्य चातुलम् ।
देवासुररणप्रख्यमुभयोः प्रीयमाणयोः ॥ २० ॥

इस प्रकार देवासुर-संग्रामकी भांति उन प्रसन्न चित्तवाले पिता और पुत्र दोनोंका तुमुल संग्राम होने लगा । वह अद्वितीय था ॥ २० ॥

किरीटिनं तु विव्याध शरेण नतपर्वणा ।
जत्रुदेशे नरव्याघ्रः प्रहसन्बभ्रुवाहनः ॥ २१ ॥

अनन्तर पुरुषसिंह बभ्रुवाहनने हंसकर अर्जुनके जत्रुस्थानमें नतपर्व बाण मारा ॥ २१ ॥

सोऽभ्यगात्सह पुङ्खेन वल्मीकमिव पन्नगः ।
विनिर्भिद्य च कौन्तेयं महीतलमथाविशत् ॥ २२ ॥

वह बाण बिलमें घुसनेवाले सर्पकी भांति पंखके सहित कुंतीपुत्र अर्जुनके शरीरमें घुस गया और उसे भेदकर पृथ्वीमें समा गया ॥ २२ ॥

स गाढवेदनो धीमानालम्ब्य धनुरुत्तमम् ।
दिव्यं तेजः समाविश्य प्रमीत इव संबभौ ॥ २३ ॥

धृतिमान् धनञ्जय अत्यन्त पीडायुक्त होके अपने दिव्य धनुषका सहारा लेकर दिव्यतेजमें प्रविष्ट हो प्रमत्तकी भांति अचेत हुए ॥ २३ ॥

स संज्ञामुपलभ्याथ प्रशस्य पुरुषर्षभः ।
पुत्रं शक्रात्मजो वाक्यमिदमाह महीपते ॥ २४ ॥

अनन्तर महातेजस्वी इन्द्रपुत्र पुरुषश्रेष्ठ अर्जुनने सावधान होकर अपने पुत्रकी प्रशंसा करके इस प्रकार कहा ॥ २४ ॥

साधु साधु महाबाहो वत्स चित्राङ्गदात्मज ।
सदृशं कर्म ते दृष्ट्वा प्रीतिमानस्मि पुत्रक ॥ २५ ॥

हे तात ! चित्राङ्गदापुत्र महाबाहो बभ्रुवाहन ! तुम्हें धन्य हो । हे पुत्र ! मैं तुम्हारा ऐसा योग्य पराक्रम देखकर परम प्रसन्न हुआ हूं ॥ २५ ॥

विमुञ्चाम्येष बाणांस्ते पुत्र युद्धे स्थिरो भव ।
इत्येवमुक्त्वा नाराचैरभ्यवर्षदमित्रहा ॥ २६ ॥

हे पुत्र ! तुम क्षणभर युद्धमें सावधानतासे स्थिर रहो, मैं तुम्हारे ऊपर बाणोंको छोडता हूं। शत्रुसूदन अर्जुन इतनी बात कहके नाराच बाण बरसाने लगे ॥ २६ ॥

तान्स गाण्डीवनिर्मुक्तान्वज्राशनिसमप्रभान् ।
नाराचैरच्छिनद्राजा सर्वानेव त्रिधा त्रिधा ॥ २७ ॥

राजा बभ्रुवाहनने नाराचोंके सहारे गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए वज्र और विजलीके सदृश तेजस्वी उन समस्त बाणोंको तीन तीन टुकडे करके काटके गिरा दिया ॥ २७ ॥

तस्य पार्थः शरैर्दिव्यैर्ध्वजं हेमपरिष्कृतम् ।
सुवर्णतालप्रतिमं क्षुरेणापाहरद्रथात् ॥ २८ ॥

अर्जुनने अपने दिव्य क्षुरबाणोंसे बभ्रुवाहनके रथकी सुवर्णताल वृक्ष सदृश ऊंची सोनेसे बनी हुई ध्वजा काट दी ॥ २८ ॥

हयांश्चास्य महाकायान्महावेगपराक्रमान् ।
चकार राज्ञो निर्जीवान्प्रहसन्पाण्डवर्षभः ॥ २९ ॥

और पाण्डवश्रेष्ठने हंसके उस राजाके महाकाय महावेगशाली, पराक्रमी घोडोंको मारके प्राण रहित कर दिया ॥ २९ ॥

स रथादवतीर्याशु राजा परमकोपनः ।
पदातिः पितरं कोपाद्योधयामास पाण्डवम् ॥ ३० ॥

फिर रथसे उतरकर अत्यंत क्रोधी राजा बभ्रुवाहन क्रुद्ध होकर पैदल ही अपने पिता पाण्डुपुत्र अर्जुनके सङ्ग युद्ध करने लगा ॥ ३० ॥

संप्रीयमाणः पाण्डूनामृषभः पुत्रविक्रमात् ।
नात्यर्थं पीडयामास पुत्रं वज्रधरात्मजः ॥ ३१ ॥

इन्द्रपुत्र पाण्डुपुत्र प्रवर अर्जुनने अपने पुत्रके विक्रमसे परमप्रसन्न होकर उसे अत्यन्त पीडित नहीं किया ॥ ३१ ॥

स हन्यमानो विमुखं पितरं बभ्रुवाहनः ।
शरैराशीविषाकारैः पुनरेवार्दयद्बली ॥ ३२ ॥

अनन्तर बलवान् बभ्रुवाहन युद्धसे विमुख पिताको विषैले सर्पोंके समान विषमय बाणोंसे पुनः पीडित करने लगा ॥ ३२ ॥

ततः स बाल्यात्पितरं विव्याध हृदि पत्रिणा ।
निशितेन सुपुङ्खेन बलवद्बभ्रुवाहनः ॥ ३३ ॥

उसने बालस्वभावोचित अविवेक बुद्धिसे उत्तम पांखवाले एक तीक्ष्ण बाणसे पिताके हृदयमें गहरा आघात किया ॥ ३३ ॥

स बाणस्तेजसा दीप्तो ज्वलन्निव हुताशनः ।
विवेश पाण्डवं राजन्मर्म भित्त्वातिदुःखकृत् ॥ ३४ ॥

प्रज्वलित अग्निके समान तेजसे प्रदीप्त वह बाण पाण्डुपुत्र अर्जुनके मर्मस्थलको भेदकर प्रविष्ट होनेसे अत्यन्त दुःखदायक हुआ ॥ ३४ ॥

स तेनातिभृशं विद्धः पुत्रेण कुरुनन्दनः ।
महीं जगाम मोहार्तस्ततो राजन्धनंजयः ॥ ३५ ॥

हे महाराज ! पुत्रके चलाये हुए बाणसे अत्यन्त विद्ध होनेपर कुरुनन्दन अर्जुन अत्यन्त विमोहित होकर पृथ्वीमें गिर पडे ॥ ३५ ॥

तस्मिन्निपतिते वीरे कौरवाणां धुरंधरे ।
सोऽपि मोहं जगामाशु ततश्चित्राङ्गदासुतः ॥ ३६ ॥

कुरुकुलधुरन्धर वीर धनञ्जयके पृथ्वीमें गिरनेपर चित्राङ्गदापुत्र बभ्रुवाहन भी मोहको प्राप्त हुआ ॥ ३६ ॥

व्यायम्य संयुगे राजा दृष्ट्वा च पितरं हतम् ।
पूर्वमेव स बाणौघैर्गाढविद्धोऽर्जुनेन सः ॥ ३७ ॥

राजा बभ्रुवाहनने युद्धमें पिताको मारा हुआ देखकर शर संयम किया; वह भी अर्जुनके बाणजालोंसे पहलेसे ही अत्यन्त बिद्ध हुआ था ॥ ३७ ॥

भर्तारं निहतं दृष्ट्वा पुत्रं च पतितं भुवि ।
चित्राङ्गदा परित्रस्ता प्रविवेश रणाजिरम् ॥ ३८ ॥

मणिपूरपतिकी माता चित्राङ्गदा पति मारे गये और पुत्र भी चेतना रहित होकर पृथ्वीपर पडा है, यह देखकर अत्यन्त त्रासित होकर रणभूमिमें आई ॥ ३८ ॥

शोकसंतप्तहृदया रुदती सा ततः शुभा ।
मणिपूरपतेर्माता ददर्श निहतं पतिम् ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥ २२०९ ॥

तब पतिको मारे गये देख मणिपूर राजाकी शुभा माता शोकसे संतप्त हृदय हो रोदन करने लगी ॥ ३९ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें अठहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७८ ॥ २२०९ ॥

: ७९ :

वैशम्पायन उवाच—

ततो बहुविधं भीरुर्विलप्य कमलेक्षणा ।
मुमोह दुःखाद्दुर्धर्षा निपपात च भूतले ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– हे महाराज ! अनन्तर वह भीरु कमलनयनी चित्राङ्गदा दुःखसे सन्तापित होकर बहुत ही विलाप करती हुई बिमोहित होकर पृथ्वीमें गिरी ॥ १ ॥

प्रतिलभ्य च सा संज्ञां देवी दिव्यवपुर्धरा ।
उलूपीं पन्नगसुतां दृष्ट्वेदं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

क्षणभरके अनन्तर वह दिव्य मनोहराङ्गी चित्राङ्गदा देवी सावधान होकर नागपुत्री उलूपीको देखकर बोली ॥ २ ॥

उलूपि पश्य भर्तारं शयानं निहतं रणे ।
त्वत्कृते मम पुत्रेण बालेन समितिंजयम् ॥ ३ ॥

हे उलूपी ! यह देखो, तुम्हारे ही कारणसे मेरे बालक पुत्र बभ्रुवाहनके द्वारा युद्धमें विजय पानेवाले हम दोनोंके स्वामी युद्धमें मारे जाकर सोये हुए हैं ॥ ३ ॥

ननु त्वमार्ये धर्मज्ञा ननु चासि पतिव्रता ।
यत्त्वत्कृतेऽयं पतितः पतिस्ते निहतो रणे ॥ ४ ॥

हे आर्ये ! तुम धर्म जाननेवाली तथा पतिव्रता हो; तुम्हारे ही कारणसे ये तुम्हारे पति रणमें मरके पडे हुए हैं ॥ ४ ॥

किं तु सर्वापराधोऽयं यदि तेऽद्य धनंजयः ।
क्षमस्व याच्यमाना मे संजीवय धनंजयम् ॥ ५ ॥

यदि इन अर्जुनने तुम्हारे अनेक अपराध किये हों, तोभी इन्हें आज क्षमा करो । मैं तुम्हारे समीप प्रार्थना करती हूं, कि तुम धनंजयको जीवित करो ॥ ५ ॥

ननु त्वमार्ये धर्मज्ञा त्रैलोक्यविदिता शुभे ।
यद्घातयित्वा भर्तारं पुत्रेणेह न शोचसि ॥ ६ ॥

हे आर्ये ! शुभे ! तुम तीनों लोकके बीच धर्म जाननेवाली कहके विदित हो; तोभी पुत्रके हाथसे पतिको मरवाके शोक नहीं करती हो ? ॥ ६ ॥

नाहं शोचामि तनयं निहतं पन्नगात्मजे ।
पतिमेव तु शोचामि यस्यातिथ्यमिदं कृतम् ॥ ७ ॥

हे नागनन्दिनी ! मैं अपने पुत्रके मरनेसे शोक नहीं करती हूं; जिसके निमित्त यहां इस तरह आतिथ्य किया गया, उन पतिहीके लिये शोक करती हूं ॥ ७ ॥

इत्युक्त्वा सा तदा देवीमुलूपीं पन्नगात्मजाम् ।
भर्तारमभिगम्येदमित्युवाच यशस्विनी ॥ ८ ॥

यशस्विनी चित्राङ्गदा देवी नागपुत्री उलूपीदेवीसे ऐसा कहके उस समय स्वामीके निकट जाके उन्हें कहने लगी ॥ ८ ॥

उत्तिष्ठ कुरुमुख्यस्य प्रियकाम मम प्रिय ।
अयमश्वो महाबाहो मया ते परिमोक्षितः ॥ ९ ॥

हे प्यारे ! आप कुरुकुलके परमप्रिय है और मेरे प्राणाधार है, आप उठिये । हे महाबाहो ! मैंने आपके इस घोडेको मुक्त कर दिया है ॥ ९ ॥

ननु नाम त्वया वीर धर्मराजस्य यज्ञियः ।
अयमश्वोऽनुसर्तव्यः स शेषे किं महीतले ॥ १० ॥

हे वीर ! आपको धर्मराजके यज्ञीय घोडेका अनुसरण करना योग्य है; आप उस कार्यको न करके किस लिये पृथ्वीपर सोये हुए हैं ? ॥ १० ॥

×

त्वयि प्राणाः समायत्ताः कुरूणां कुरुनन्दन ।
स कस्मात्प्राणदोऽन्येषां प्राणान्संत्यक्तवानसि ॥ ११ ॥

हे कुरुनन्दन ! मेरे और कौरवोंके प्राण आपके ही वशमें हैं, इसलिये आपने दूसरोंके प्राणदाता होके, किस प्रकार अपने प्राणको परित्याग किया ? ॥ ११ ॥

उलूपि साधु संपश्य भर्तारं निहतं रणे ।
पुत्रं चैनं समुत्साह्य घातयित्वा न शोचसि ॥ १२ ॥

हे उलूपी ! तुम युद्धमें मारे जाकर पृथ्वीतलमें पडे हुए पतिको भली भांति देखो; तुमने इस पुत्रको इस प्रकार समुत्साहित कर स्वामीकी हत्या करायी है। तो भी इसलिये शोक नहीं करती हो ? ॥ १२ ॥

कामं स्वपितु बालोऽयं भूमौ प्रेतगतिं गतः ।
लोहिताक्षो गुडाकेशो विजयः साधु जीवतु ॥ १३ ॥

यह मेरा बालक मृत्युके वशमें होकर सदाके लिये पृथ्वीपर सोया रहे, परन्तु लोहितनयन गुडाकेश विजयी अर्जुन जीवित होवें । यही योग्य है ॥ १३ ॥

नापराधोऽस्ति सुभगे नराणां बहुभार्यता ।
नारीणां तु भवत्येतन्मा ते भूद्बुद्धिरीदृशी ॥ १४ ॥

हे सुभगे ! पुरुषोंका बहुभार्यता अपराध कहके परिगणित नहीं होता; स्त्रियां भी ऐसा करें, तो यह उनके लिये अवश्य दोष होता है । इसलिये तुम्हारी ऐसी क्रूर बुद्धि नहीं होनी चाहिये ॥ १४ ॥

सख्यं ह्येतत्कृतं धात्रा शाश्वतं चाव्ययं च ह ।
सख्यं समभिजानीहि सत्यं संगतमस्तु ते ॥ १५ ॥

विधाताने पति और पत्नीकी यह सख्यता सदा रहनेवाली और अटूट उत्पन्न की है, तुम इस मित्रताभावको निश्चय जानो और तुम्हारी वह इनके साथ की हुई सख्यता सत्य और सार्थक बनी रहेगी, ऐसा करो ॥ १५ ॥

पुत्रेण घातयित्वेमं पतिं यदि न मेऽद्य वै ।
जीवन्तं दर्शयस्यद्य परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ १६ ॥

तुमने पुत्रके द्वारा पतिका वध कराया है, परन्तु यदि आज तुम मुझे फिर पतिको जीवित न दिखाओगी, तो मैं जीवन परित्याग करूंगी ॥ १६ ॥

साहं दुःखान्विता भीरु पतिपुत्रविनाकृता ।
इहैव प्रायमासिष्ये प्रेक्षन्त्यास्ते न संशयः ॥ १७ ॥

हे भीरु ! मैं पति और पुत्रके विरहसे अत्यन्त दुःखी हुई हूं, इसलिये इस स्थानमेंही तुम्हारे सामने ही आमरण उपवास करूंगी, इसमें संशय नहीं है ॥ १७ ॥

इत्युक्त्वा पन्नगसुतां सपत्नीं चैत्रवाहिनी ।
ततः प्रायमुपासीना तूष्णीमासीज्जनाधिप ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥ ॥ २२२० ॥

हे प्रजानाथ ! नागनन्दिनीसे ऐसाही कहके उसकी सौत चित्रवाहनकुमारी चित्राङ्गदा आमरण उपवासका अवलम्बन करके मौनभावसे बैठ गई ॥ १८ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें उनासीवां अध्याय समाप्त ॥ ७९ ॥ ॥ २२२७ ॥

८०

वैशम्पायन उवाच—

तथा विलप्योपरता भर्तुः पादौ प्रगृह्य सा ।
उपविष्टाभवद्देवी सोच्छ्वासं पुत्रमीक्षती ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— अनन्तर पुत्रकी ओर देखनेवाली चित्राङ्गदा लम्बी सांस छोडती और बहुत विलाप करती हुई शोकसे विरत होकर पतिके दोनों पांव पकडके दीनभावसे बैठी ॥ १ ॥

ततः संज्ञां पुनर्लब्ध्वा स राजा बभ्रुवाहनः ।
मातरं तामथालोक्य रणभूमावथाब्रवीत् ॥ २ ॥

अनन्तर थोडी देरमें बभ्रुवाहनने फिर सावधान होके रणभूमिमें बैठी हुई अपनी माताको देखकर इस प्रकार कहा ॥ २ ॥

इतो दुःखतरं किं नु यन्मे माता सुखैधिता ।
भूमौ निपतितं वीरमनुशेते मृतं पतिम् ॥ ३ ॥

जब कि सदा सुख भोगने योग्य मेरी माता पृथ्वीमें गिरे हुए अपने महावीर पतिके साथ मरनेका निश्चय करके बैठी है; तब इससे बढके और कौनसा दुःख होगा ? ॥ ३ ॥

निहन्तारं रणेऽरीणां सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
मया विनिहतं संख्ये प्रेक्षते दुर्मरं बत ॥ ४ ॥

हाय ! युद्धमें शत्रुओंका संहार करनेवाले, सर्वशस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ और संग्राममें वध करनेके लिये अशक्य ऐसे मेरे पिताको आज यह मेरे हाथों मरकर पडा देखती है ॥ ४ ॥

अहोऽस्या हृदयं देव्या दृढं यन्न विदीर्यते ।
व्यूढोरस्कं महाबाहुं प्रेक्षन्त्या निहतं पतिम् ॥ ५ ॥

ओहो ! चौडी छाती और महाबाहु अपने पतिको युद्धमें मारा हुआ देखकर भी मेरी माताका दृढ हृदय अबतक विदीर्ण नहीं होता है ? ॥ ५ ॥

दुर्मरं पुरुषेणेह मन्ये ह्यध्वन्यनागते ।
यत्र नाहं न मे माता विप्रयुज्येत जीवितात् ॥ ६ ॥

जब मैं और मेरी माता, हम दोनों ही जीवित हैं, हमारे प्राण नहीं निकलते; तब मुझे बोध होता है, कि इस लोकमें मृत्युकालके बिना उपस्थित हुए किसी प्रकार मनुष्यकी मृत्यु नहीं होती ॥ ६ ॥

अहो धिक्कुरुवीरस्य ह्युरःस्थं काञ्चनं भुवि ।
व्यपविद्धं हतस्येह मया पुत्रेण पश्यत ॥ ७ ॥

हाय! मुझे धिक्कार है। देखो, मैं उनका पुत्र होकर मेरे द्वारा मारे गये कुरुवीर अर्जुनका सुवर्णमय कवच यहां भूमिपर फेंका पडा है ॥ ७ ॥

भो भो पश्यत मे वीरं पितरं ब्राह्मणा भुवि ।
शयानं वीरशयने मया पुत्रेण पातितम् ॥ ८ ॥

हे ब्राह्मगगण! देखिये, मेरे पिता महावीर धनञ्जय मुझ पुत्रके द्वारा मारे जाकर वीरशय्यापर सो रहे हैं ॥ ८ ॥

ब्राह्मणाः कुरुमुख्यस्य प्रयुक्ता हयसारिणः ।
कुर्वन्तु शान्तिकां त्वद्य रणे योऽयं मया हतः ॥ ९ ॥

कुरूश्रेष्ठ युधिष्ठिरके घोडेका अनुसरण करनेवाले जो सब ब्राह्मण शान्तिके लिये नियुक्त हुए हैं, वे आज इनके लिये– जो ये समरमें मुझसे मारे गये हैं– शान्तिकर्म करें ॥ ९ ॥

व्यादिशन्तु च किं विप्राः प्रायश्चित्तमिहाद्य मे ।
सुनृशंसस्य पापस्य पितृहन्तू रणाजिरे ॥ १० ॥

मैं अत्यंत दुष्ट महापापी और रणभूमिमें पितृहत्या करनेवाला हूं, इसलिये आज यहां मुझे इस विषयमें कैसा प्रायश्चित्त करना उचित है, उसके लिये ब्राह्मण लोग आज्ञा करें ॥ १० ॥

दुश्चरा द्वादश समा हत्वा पितरमद्य वै ।
ममेह सुनृशंसस्य संवीतस्यास्य चर्मणा ॥ ११ ॥

आज मैंने पितृहत्या की है, मेरे लिये बारह वर्षोंतक व्रतका पालन करते रहना अत्यंत कठीन है। इसलिये मुझ अत्यंत दुष्ट पितृहत्यारेके लिये इन्हींका चमडा पहरकर रहूं, यही यहां योग्य प्रायश्चित्त है ॥ ११ ॥

शिरःकपाले चास्यैव भुञ्जतः पितुरद्य मे ।
प्रायश्चित्तं हि नास्त्यन्यद्धत्वाद्य पितरं मम ॥ १२ ॥

और अपने पिताके मस्तक और कपालको धारण करके विचरण करूं; पिताका बध करके अब मेरे लिये दूसरा कुछ भी प्रायश्चित्त नहीं है ॥ १२ ॥

पश्य नागोत्तमसुते भर्तारं निहतं मया।
कृतं प्रियं मया तेऽद्य निहत्य समरेऽर्जुनम् ॥ १३ ॥

हे नागोत्तमपुत्री ! देखो, मैंने तुम्हारे पतिको मारा है; आज मैंने युद्धमें अर्जुनका बध करके तुम्हारा प्रियकार्य किया है ॥ १३ ॥

सोऽहमप्यद्य यास्यामि गतिं पितृनिषेविताम्।
न शक्नोम्यात्मनात्मानमहं धारयितुं शुभे ॥ १४ ॥

हे शुभे ! इसके अनन्तर मैं निज शरीरको धारण करनेमें समर्थ नहीं होता हूं; इसलिये आजही मैं भी जहां मेरे पिताजी गये हैं उस स्थानमें गमन करूंगा ॥ १४ ॥

सा त्वं मयि मृते मातस्तथा गाण्डीवधन्वनि।
भव प्रीतिमती देवि सत्येनात्मानमालभे ॥ १५ ॥

हे माता ! देवि ! मेरे तथा गाण्डीवधारी अर्जुनके मरनेसे तुम प्रसन्न होओ, मैं सत्यपूर्वक कहता हूं कि पिताजीके बिना मेरा जीवन अशक्य है ॥ १५ ॥

इत्युक्त्वा स तदा राजा दुःखशोकसमाहतः।
उपस्पृश्य महाराज दुःखाद्वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

महाराज ! दुःख और शोकसे पीडित राजा बभ्रुवाहन ऐसा ही कहके जलसे आचमन करके दुःखपूर्वक बोला ॥ १६ ॥

शृण्वन्तु सर्वभूतानि स्थावराणि चराणि च।
त्वं च मातर्यथा सत्यं ब्रवीमि भुजगोत्तमे ॥ १७ ॥

हे सर्वभूत चराचर ! तुम लोग मेरी प्रतिज्ञा सुनो। हे माता भुजगोत्तमे ! तुम भी सुन लो। मैं तुमसे सत्य कहता हूं ॥ १७ ॥

यदि नोत्तिष्ठति जयः पिता मे भरतर्षभः।
अस्मिन्नेव रणोद्देशे शोषयिष्ये कलेवरम् ॥ १८ ॥

यदि मेरे पिता भरतश्रेष्ठ विजय-अर्जुन जीवित होकर नहीं उठेंगे, तो मैं इस रणभूमिमें ही उपवाससे अपना शरीर सुखा दूंगा ॥ १८ ॥

न हि मे पितरं हत्वा निष्कृतिर्विद्यते क्वचित्।
नरकं प्रतिपत्स्यामि ध्रुवं गुरुवधार्दितः ॥ १९ ॥

पितृहत्या करनेसे मेरे लिये दूसरा कोई उद्धारका उपाय नहीं है; मैं गुरुवधके पापसे पीडित होकर निश्चय ही नरकमें पडूंगा ॥ १९ ॥

वीरं हि क्षत्रियं हत्वा गोशतेन प्रमुच्यते ।
पितरं तु निहत्यैवं दुस्तरा निष्कृतिर्मया ॥ २० ॥

वीर पुरुष क्षत्रिय वीरका वध करके सौ गौओंका दान करनेसे उस पापसे मुक्त होके निष्कृति लाभ कर सकता है, परन्तु मैंने पितृहत्या की है, इसलिये इस समय मेरी निष्कृति होनी दुर्लभ है ॥ २० ॥

एष ह्येको महातेजाः पाण्डुपुत्रो धनंजयः ।
पिता च मम धर्मात्मा तस्य मे निष्कृतिः कुतः ॥ २१ ॥

ये अद्वितीय, महातेजस्वी, धर्मात्मा पाण्डुपुत्र धनञ्जय मेरे पिता थे; इनका वध करनेसे मेरा उद्धार कैसे हो सकता है ? ॥ २१ ॥

इत्येवमुक्त्वा नृपते धनंजयसुतो नृपः ।
उपस्पृश्याभवत्तूष्णीं प्रायोपेतो महामतिः ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकेपर्वणि अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥ २२७९ ॥

हे नरनाथ ! धनञ्जयका महाबुद्धिमान् पुत्र बभ्रुवाहन ऐसाही कहके आचमन करके आमरण उपवासका व्रत लेकर मौनभावसे बैठ गया ॥ २२ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें अस्सीवां अध्याय समाप्त ॥ ८० ॥ २२४९ ॥

: ८१ :

वैशम्पायन उवाच—

प्रायोपविष्टे नृपतौ मणिपूरेश्वरे तदा ।
पितृशोकसमाविष्टे सह मात्रा परंतप ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले—हे शत्रुतापन महाराज ! उस समय पितृशोकसे व्याकुल मणिपूरेश्वर राजा बभ्रुवाहनके मातासहित आमरण अनशनव्रत अवलम्बन करके बैठनेपर ॥ १ ॥

उलूपी चिन्तयामास तदा संजीवनं मणिम् ।
स चोपातिष्ठत तदा पन्नगानां परायणम् ॥ २ ॥

उलूपीने सञ्जीवन मणिका ध्यान किया; ध्यान करते ही वह नागोंके जीवनका आधारभूत मणि उस ही समय वहां उपस्थित हुई ॥ २ ॥

तं गृहीत्वा तु कौरव्य नागराजपतेः सुता ।
मनःप्रह्लादनीं वाचं सैनिकानामथाब्रवीत् ॥ ३ ॥

हे कौरव्य ! नागराजपुत्री उलूपी उस मणिको लेकर सैनिक पुरुषोंके चित्तको आनन्दित करनेवाले वचन कहने लगी ॥ ३ ॥

उत्तिष्ठ मा शुचः पुत्र नैष जिष्णुस्त्वया हतः ।
अजेयः पुरुषैरेष देवैर्वापि सवासवैः ॥ ४ ॥

हे पुत्र ! उठो, अब शोक न करो । अर्जुन तुम्हारे द्वारा नहीं मारे गये हैं; ये इन्द्रके सहित देवताओं तथा सब पुरुषोंके लिये भी अजेय हैं ॥ ४ ॥

मया तु मोहिनी नाम मायैषा संप्रयोजिता ।
प्रियार्थं पुरुषेन्द्रस्य पितुस्तेऽद्य यशस्विनः ॥ ५ ॥

परन्तु मैंने आज पुरुषश्रेष्ठ तुम्हारे यशस्वी पिताकी प्रीतिके लिये यह मोहनी माया दिखाई है ॥ ५ ॥

जिज्ञासुर्ह्येष वै पुत्र बलस्य तव कौरवः ।
संग्रामे युध्यतो राजन्नागतः परवीरहा ॥ ६ ॥

पुत्र ! राजन् ! तुम्हें पुत्र समझके तुम्हारा बल-पराक्रम जाननेके लिये ये शत्रुवीर नाशन कुरुकुलश्रेष्ठ अर्जुन तुम्हारे सङ्ग युद्ध करनेके लिये आये थे ॥ ६ ॥

तस्मादसि मया पुत्र युद्धार्थं परिचोदितः ।
मा पापमात्मनः पुत्र शङ्केथास्त्वण्वपि प्रभो ॥ ७ ॥

हे पुत्र ! इस ही लिये मैंने तुम्हें युद्ध करनेके लिये प्रेरित करके भेजा था; इस निमित्त इस विषयमें तुम तनिक भी पापकी आशङ्का मत करो ॥ ७ ॥

ऋषिरेष महातेजाः पुरुषः शाश्वतोऽव्ययः ।
नैनं शक्तो हि संग्रामे जेतुं शक्रोऽपि पुत्रक ॥ ८ ॥

ये महातेजस्वी पुरातन ऋषि, शाश्वत तथा अव्यय हैं; हे पुत्र ! इसलिये इन्द्र भी इन्हें युद्धमें जीत नहीं सकते ॥ ८ ॥

अयं तु मे मणिर्दिव्यः समानीतो विशां पते ।
मृतान्मृतान्पन्नगेन्द्रान्यो जीवयति नित्यदा ॥ ९ ॥

हे प्रजानाथ ! जो सदा, बार बार युद्धमें मृत हुए नागराजोंको जीवित किया करती है, मैं उस दिव्य मणिको ले आयी हूं ॥ ९ ॥

एतमस्योरसि त्वं तु स्थापयस्व पितुः प्रभो ।
संजीवितं पुनः पुत्र ततो द्रष्टासि पाण्डवम् ॥ १० ॥

हे प्रभु ! तुम इस मणिको लेकर अपने पिताके वक्षस्थलपर रख दो; पुत्र ! फिर तुम पाण्डुपुत्र अर्जुनको जीवित हुआ देखोगे ॥ १० ॥

इत्युक्तः स्थापयामास तस्योरसि मणिं तदा ।
पार्थस्यामिततेजाः स पितुः स्नेहादपापकृत् ॥ ११ ॥

अनन्तर पापरहित अमित तेजस्वी बभ्रुवाहनने उलूपीका ऐसा वचन सुनके पितृस्नेहके वशमें होकर शीघ्रही अर्जुनके वक्षस्थलपर उस मणिको रखा ॥ ११ ॥

तस्मिन्न्यस्ते मणौ वीर जिष्णुरुज्जीवितः प्रभुः ।
सुप्तोत्थित इवोत्तस्थौ मृष्टलोहितलोचनः ॥ १२ ॥

हे वीर ! वह मणि अर्जुनके वक्षस्थलपर रखते ही वीरवर प्रभु अर्जुन जीवित होकर बहुत समयके सोये हुए पुरुषकी भांति लोहित नेत्र मार्जन करते हुए उठे ॥ १२ ॥

तमुत्थितं महात्मानं लब्धसंज्ञं मनस्विनम् ।
समीक्ष्य पितरं स्वस्थं ववन्दे बभ्रुवाहनः ॥ १३ ॥

तब बभ्रुवाहनने महात्मा मनस्वी अपने पिता अर्जुनको सावधान तथा स्वस्थ होकर उठते देखकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ १३ ॥

उत्थिते पुरुषव्याघ्रे पुनर्लक्ष्मीवति प्रभो ।
दिव्याः सुमनसः पुण्या ववृषे पाकशासनः ॥ १४ ॥

हे प्रभु ! लक्ष्मीवान् पुरुषश्रेष्ठ अर्जुनके फिर उठनेपर इन्द्र दिव्य तथा पुण्यगन्धयुक्त फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥ १४ ॥

अनाहता दुन्दुभयः प्रणेदुर्मेघनिस्वनाः ।
साधु साध्विति चाकाशे बभूव सुमहान्स्वनः ॥ १५ ॥

आकाशमें बादलकी भांति गम्भीर शब्द तथा ऊंचे स्वरसे दिव्य दुन्दुभियां बिना बजाये ही बजने लगीं तथा ऊंचे स्वरसे साधुवादकी ध्वनि प्रकट हुई ॥ १५ ॥

उत्थाय तु महाबाहुः पर्याश्वस्तो धनंजयः ।
बभ्रुवाहनमालिङ्ग्य समाजिघ्रत मूर्धनि ॥ १६ ॥

अनन्तर महाबाहु धनञ्जयने सब भांतिसे आश्वस्त होकर उठके बभ्रुवाहनको आलिङ्गन करके उसका मस्तक सूंघा ॥ १६ ॥

ददर्श चाविदूरेऽस्य मातरं शोककर्शिताम् ।
उलूप्या सह तिष्ठन्तीं ततोऽपृच्छद्धनंजयः ॥ १७ ॥

फिर कुछ दूरपर उलूपीके सङ्ग स्थित शोककर्षित बभ्रुवाहनकी माता चित्राङ्गदाको देखकर, उससे पूछने लगे ॥ १७ ॥

किमिदं लक्ष्यते सर्वं शोकविस्मयहर्षवत् ।
रणाजिरममित्रघ्न यदि जानासि शंस मे ॥ १८ ॥

हे शत्रुनाशन पुत्र ! इस रणभूमिमें सब लोगोंको शोकसे विस्मित तथा हर्षित देखता हूं, इसका क्या कारण है ? यदि तुम जानते हो, तो मुझसे कहो ॥ १८ ॥

जननी च किमर्थं ते रणभूमिमुपागता ।
नागेन्द्रदुहिता चेयमुलूपी किमिहागता ॥ १९ ॥

तुम्हारी माता चित्राङ्गदा और नागेन्द्रपुत्री उलूपी किस लिये यहां रणभूमिमें आई हैं ? ॥ १९ ॥

जानाम्यहमिदं युद्धं त्वया मद्वचनात्कृतम् ।
स्त्रीणामागमने हेतुमहमिच्छामि वेदितुम् ॥ २० ॥

मेरे कहनेके अनुसार तुमने यह युद्ध किया था, उसे मैं जानता हूं; परन्तु स्त्रियोंके यहां आनेका कारण जाननेकी इच्छा करता हूं ॥ २० ॥

तमुवाच ततः पृष्टो मणिपूरपतिस्तदा ।
प्रसाद्य शिरसा विद्वानुलूपी पृच्छ्यतामिति ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥ २२७० ॥

तब मणिपूरपति विद्वान् बभ्रुवाहन अर्जुनका ऐसा बचन सुन सिर झुकाकर उन्हें प्रसन्न करके बोला, आप इस उलूपीसे सब वृत्तान्त पूछिये ॥ २१ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें इक्यासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८१ ॥ २२७० ॥

: ८२ :

अर्जुन उवाच—

किमागमनकृत्यं ते कौरव्यकुलनन्दिनि ।
मणिपूरपतेर्मातुस्तथैव च रणाजिरे ॥ १ ॥

अर्जुन बोले— हे कौरवकुलनन्दिनि ! तुम और मणिपूरके राजा बभ्रुवाहनकी जननी चित्राङ्गदा किस लिये रणभूमिमें आई हो ? ॥ १ ॥

कच्चित्कुशलकामासि राज्ञोऽस्य भुजगात्मजे ।
मम वा चञ्चलापाङ्गे कच्चित्त्वं शुभमिच्छसि ॥ २ ॥

हे नागपुत्री ! चंचल कटाक्षवाली ! क्या तुम इस राजा बभ्रुवाहनकी कुशलकामना करती हो ? अथवा मेरे मङ्गलकी इच्छा करती हो ? ॥ २ ॥

+

कच्चित्ते पृथुलश्रोणि नाप्रियं शुभदर्शने ।
अकार्षमहमज्ञानादयं वा बभ्रुवाहनः ॥ ३ ॥

हे पृथुलश्रोणि शुभदर्शने ! मैंने अथवा बभ्रुवाहनने विना जाने तुम्हारे विषयमें कुछ अप्रिय आचरण तो नहीं किया है ? ॥ ३ ॥

कच्चिच्च राजपुत्री ते सपत्नी चैत्रवाहिनी ।
चित्राङ्गदा वरारोहा नापराध्यति किंचन ॥ ४ ॥

इस वरारोहा राजपुत्री तुम्हारी सौत चित्रावाहन कुमारी चित्रङ्गदाने तुम्हारा कोई अपराध तो नहीं किया ? ॥ ४ ॥

तमुवाचोरगपतेर्दुहिता प्रहसन्त्यथ ।
न मे त्वमपराद्धोऽसि न नृपो बभ्रुवाहनः ।
न जनित्री तथास्येयं मम या प्रेष्यवत्स्थिता ॥ ५ ॥

नागराजपुत्री उलूपी अर्जुनका वचन सुनकर हंसके उनसे बोली— आप, राजा बभ्रुवाहन अथवा बभ्रुवाहनकी जननी दासीकी भांति स्थित यह चित्राङ्गदा, आप लोगोंमेंसे किसीने भी मेरा कुछ अपराध नहीं किया है ॥ ५ ॥

श्रूयतां यद्यथा चेदं मया सर्वं विचेष्टितम् ।
न मे कोपस्त्वया कार्यः शिरसा त्वां प्रसादये ॥ ६ ॥

परन्तु मैंने जो यहां आकर कुछ जिस प्रकार किया है, मेरा वह समस्त कार्य सुनिये । हे विभु ! मैं सिर नीचा करके आपको प्रणाम करती हूं, और आपको प्रसन्न करना चाहती हूं; आप मुझपर क्रोध न करिये ॥ ६ ॥

त्वत्प्रीत्यर्थं हि कौरव्य कृतमेतन्मयानघ ।
यत्तच्छृणु महाबाहो निखिलेन धनंजय ॥ ७ ॥

हे कौरव्य ! अनघ ! मैंने जो कुछ किया है, वह मैंने आपकी प्रीतिके लिये ही किया है । हे महाबाहो ! धनंजय ! पहले जो घटना हुई थी, आप उसे पूरी रीतिसे सुनिये ॥ ७ ॥

महाभारतयुद्धे यत्त्वया शांतनवो नृपः ।
अधर्मेण हतः पार्थ तस्यैषा निष्कृतिः कृता ॥ ८ ॥

हे पार्थ ! आपने जो महाभारत युद्धमें अधर्माचरण करके शान्तनुपुत्र महाराज भीष्मको मारा है, आज उस पापका यह प्रायश्चित्त किया गया है ॥ ८ ॥

न हि भीष्मस्त्वया वीर युध्यमानो निपातितः ।
शिखण्डिना तु संसक्तस्तमाश्रित्य हतस्त्वया ॥ ९ ॥

हे वीरवर ! आपने सामने लडके भीष्मको नहीं मारा है; वे शिखण्डीके साथ फंसे हुए थे, उस स्थितिमें उसके पीछे रहकर आपने उनका बध किया था ॥ ९ ॥

तस्य शान्तिमकृत्वा तु त्यजेस्त्वं यदि जीवितम् ।
कर्मणा तेन पापेन पतेथा निरये ध्रुवम् ॥ १० ॥

यदि आप उसकी शान्ति न करके जीवनका परित्याग करते, तो निश्चय ही आपको उस कर्मरूपी पापसे नरकमें गिरना होता ॥ १० ॥

एषा तु विहिता शान्तिः पुत्राद्यां प्राप्तवानसि ।
वसुभिर्वसुधापाल गङ्गया च महामते ॥ ११ ॥

हे महाबुद्धिमान् पृथ्वीनाथ ! पूर्वकालमें गंगा और वसुगणने इसी रूपमें उस पापकी यही शान्ति निश्चित की थी; इस ही लिये पुत्रके हाथसे आपने पराजयके रूपमें प्राप्त किया है ॥ ११ ॥

पुरा हि श्रुतमेतद्धि वसुभिः कथितं मया ।
गङ्गायास्तीरमागम्य हते शांतनवे नृपे ॥ १२ ॥

हे राजन् ! पहले शान्तनुपुत्र महाराज भीष्मके मारे जानेपर वसुगणने गंगाके तटपर आके जिस समय आपको शाप दिया था, उस समय मैंने इस विषयको सुना था ॥ १२ ॥

आप्लुत्य देवा वसवः समेत्य च महानदीम् ।
इदमूचुर्वचो घोरं भागीरथ्या मते तदा ॥ १३ ॥

वसुदेवता महानदी भागीरथीके तटपर आके सब कोई एकत्रित होकर स्नान करके भागीरथीकी सम्मतिसे यह घोर वाक्य बोले ॥ १३ ॥

एष शांतनवो भीष्मो निहतः सव्यसाचिना ।
अयुध्यमानः संग्रामे संसक्तोऽन्येन भामिनि ॥ १४ ॥

हे भामिनि ! सव्यसाची अर्जुनने रणभूमिमें इनके साथ युद्ध न करते हुए जब शान्तनुपुत्र भीष्म दूसरेके सङ्ग उलझे हुए थे तब इनको मारा है ॥ १४ ॥

तदनेनाभिषङ्गेण वयमप्यर्जुनं शुभे ।
शापेन योजयामेति तथास्त्विति च साब्रवीत् ॥ १५ ॥

शुभे ! इस ही अपराधके लिये आज हम लोग धनञ्जयको शाप देना चाहते हैं । भागीरथी गङ्गा इतना वचन सुनके बोली— कि 'ऐसा ही होवे' ॥ १५ ॥

तदहं पितुरावेद्य भृशं प्रव्यथितेन्द्रिया ।
अभवं स च तच्छ्रुत्वा विषादमगमत्परम् ॥ १६ ॥

उनकी बातें सुनकर मेरी सारी इन्द्रियां अत्यंत व्यथित हो गयीं; मैंने यह वृत्तान्त अपने पिताको भी सुनाया । पिता भी सुनके परम शोकित हुए ॥ १६ ॥

पिता तु मे वसून्गत्वा त्वदर्थं समयाचत ।
पुनः पुनः प्रसाद्यैनांस्त एनमिदमब्रुवन् ॥ १७ ॥

अनन्तर पिताने वसुओंके निकट जाकर उन्हें प्रसन्न करके आपके निमित्त बार बार क्षमा-प्रार्थना की । तब वे लोग मेरे पितासे बोले ॥ १७ ॥

पुनस्तस्य महाभाग मणिपूरेश्वरो युवा ।
स एनं रणमध्यस्थं शरैः पातयिता भुवि ॥ १८ ॥

हे महाभाग ! उनका पुत्र मणिपुरका राजा युवा बभ्रुवाहन जब रणभूमिके बीच उन्हें बाणोंसे मारके पृथ्वीपर गिरावेगा ॥ १८ ॥

एवं कृते स नागेन्द्र मुक्तशापो भविष्यति ।
गच्छेति वसुभिश्चोक्तो मम चेदं शशंस सः ॥ १९ ॥

तब नागेन्द्र ! ऐसा करनेपर अर्जुन हमारे शापसे मुक्त होंगे । 'अब जाओ' ऐसा वसुओंके कहनेपर मेरे पिताने आकर मुझसे यह बात कही ॥ १९ ॥

तच्छ्रुत्वा त्वं मया तस्माच्छापादसि विमोक्षितः ।
न हि त्वां देवराजोऽपि समरेषु पराजयेत् ॥ २० ॥

यह सुनकर मैंने वह कार्य किया है और आपको उस शापसे मुक्त कराया है । देवराज इन्द्र भी युद्धमें आपको पराजित नहीं कर सकते ॥ २० ॥

आत्मा पुत्रः स्मृतस्तस्मात्तेनेहासि पराजितः ।
नात्र दोषो मम मतः कथं वा मन्यसे विभो ॥ २१ ॥

परन्तु आत्मा पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है, इस ही लिये उस पुत्रके द्वारा यहां आप पराजित हुए हैं । हे विभु ! इस विषयमें मेरा कुछ भी दोष नहीं हो सकता; परन्तु आप इस विषयको कैसा समझते हैं, उसे मैं नहीं कह सकती ॥ २१ ॥

इत्येवमुक्तो विजयः प्रसन्नात्माब्रवीदिदम् ।
सर्वं मे सुप्रियं देवि यदेतत्कृतवत्यसि ॥ २२ ॥

अर्जुन उलूपीका ऐसा वचन सुनके उससे प्रसन्नचित्तसे बोले- हे देवि ! तुमने जो कुछ किया, वह सब मुझे अत्यंत प्रिय बोध हुआ है ॥ २२ ॥

इत्युक्त्वाथाब्रवीत्पुत्रं मणिपूरेश्वरं जयः ।
चित्राङ्गदायाः शृण्वन्त्याः कौरव्यदुहितुस्तथा ॥ २३ ॥

धनञ्जय उलूपीसे ऐसा कहके चित्राङ्गदाके सुनते हुए मणिपूरनरेश अपने पुत्र बभ्रुवाहनसे बोले ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरस्याश्वमेधः परां चैत्रीं भविष्यति ।
तत्रागच्छेः सहामात्यो मातृभ्यां सहितो नृप ॥ २४ ॥

हे राजन् ! आगामी चैत्र मासकी पूर्णिमामें महाराज युधिष्ठिरका अश्वमेध यज्ञ होगा; तुम दोनों माता और मन्त्रियोंके सहित वहां आना ॥ २४ ॥

इत्येवमुक्तः पार्थेन स राजा बभ्रुवाहनः ।
उवाच पितरं धीमानिदमस्राविलेक्षणः ॥ २५ ॥

बुद्धिमान् राजा बभ्रुवाहनने कुन्तीपुत्र अर्जुनका ऐसा वचन सुनके आंखोंमें आंसू भरके पितासे कहा ॥ २५ ॥

उपयास्यामि धर्मज्ञ भवतः शासनादहम् ।
अश्वमेधे महायज्ञे द्विजातिपरिवेषकः ॥ २६ ॥

हे धर्मज्ञ ! आपकी आज्ञानुसार मैं अश्वमेध महायज्ञमें आकर, ब्राह्मणोंको भोजन परोसनेका काम करूंगा ॥ २६ ॥

मम त्वनुग्रहार्थाय प्रविशस्व पुरं स्वकम् ।
भार्याभ्यां सह शत्रुघ्न मा भूत्तेऽत्र विचारणा ॥ २७ ॥

हे शत्रुघ्न ! परन्तु आज आप मुझपर कृपा करके अपनी इन दोनों भार्याओंके सहित निज पुरीमें प्रवेश करिये, इसमें आप दूसरा कुछ भी विचार न करिये ॥ २७ ॥

उषित्वेह विशल्यस्त्वं सुखं स्वे भवेश्मनि प्रभो ।
पुनरश्वानुगमनं कर्तासि जयतां वर ॥ २८ ॥

हे प्रभु ! विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ ! निज भवनमें निःशंक हो सुखसे वास करके दूसरे दिन फिर घोडेका अनुगमन करना ॥ २८ ॥

इत्युक्तः स तु पुत्रेण तदा वानरकेतनः ।
स्मयन्प्रोवाच कौन्तेयस्तदा चित्राङ्गदासुतम् ॥ २९ ॥

कपिध्वज कुन्तीपुत्र धनञ्जय पुत्रका ऐसा वचन सुनके उस चित्राङ्गदानन्दन बभ्रुबाहनसे हंसकर बोले ॥ २९ ॥

विदितं ते महाबाहो यथा दीक्षां चराम्यहम् ।
न स तावत्प्रवेक्ष्यामि पुरं ते पृथुलोचन ॥ ३० ॥

हे महाबाहो ! मैंने तुम्हारा अभिप्राय मालूम किया; हे पृथुलोचन ! परन्तु मैं जिस प्रकार दीक्षित हुआ हूं, उस ही भांति परिभ्रमण करूंगा; जबतक यह दीक्षा पूर्ण नहीं होती तबतक मैं तुम्हारे नगरमें प्रवेश नहीं कर सकता ॥ ३० ॥

यथाकामं प्रयात्येष यज्ञियश्च तुरंगमः ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि न स्थानं विद्यते मम ॥ ३१ ॥

हे नरेन्द्र ! यह यज्ञीय घोडा अपनी इच्छानुसार विचरता है, इसकी गति रोकी नहीं जाती; इसलिये इस समय मेरे रहनेके लिये कोई स्थान नहीं है। तुम्हारा मंगल होवे, अब मैं जाता हूं ॥ ३१ ॥

स तत्र विधिवत्तेन पूजितः पाकशासनिः ।
भार्याभ्यामभ्यनुज्ञातः प्रायाद्भरतसत्तमः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥ २३०२ ॥

अनन्तर भरतसत्तम इन्द्रपुत्र धनञ्जयने वहांपर पुत्रके द्वारा विधिपूर्वक पूजित तथा दोनों भार्याओंसे अनुज्ञात होकर घोडेका अनुगमन किया ॥ ३२ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें बयासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८२ ॥ २३०२ ॥

: ८३ :

वैशम्पायन उवाच—

स तु वाजी समुद्रान्तां पर्येत्य पृथिवीमिमाम् ।
निवृत्तोऽभिमुखो राजन्येन नागाह्वयं पुरम् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– हे महाराज ! वह घोडा समुद्रपर्यंत सारी पृथ्वीपर भ्रमण करके हस्तिनापुरकी ओर मुंह करके लौटा ॥ १ ॥

अनुगच्छंश्च तेजस्वी निवृत्तोऽथ किरीटभृत् ।
यदृच्छया समापेदे पुरं राजगृहं तदा ॥ २ ॥

तेजस्वी किरीटधारी अर्जुन भी घोडेका अनुगमन करते हुए लौटकर दैववशात् क्रमसे मगध देशके राजगृहनगरके समीप आये ॥ २ ॥

तमभ्याशगतं राजा जरासंधात्मजात्मजः ।
क्षत्रधर्मे स्थितो वीरः समरायाजुहाव ह ॥ ३ ॥

क्षत्रधर्ममें स्थित महावीर जरासन्धपुत्रके पुत्र मेघसन्धिने अर्जुनको अपने नगरके समीप आया हुआ देखकर युद्धके लिये आह्वान किया ॥ ३ ॥

ततः पुरात्स निष्क्रम्य रथी धन्वी शरी तली ।
मेघसंधिः पदातिं तं धनंजयमुपाद्रवत् ॥ ४ ॥

अनन्तर धनुष, बाण और तलत्राणधारी मेघसन्धिने रथपर बैठकर निज नगरसे बाहर निकलकर पदाति अर्जुनपर धावा किया ॥ ४ ॥

आसाद्य च महातेजा मेघसंधिर्धनंजयम् ।
बालभावान्महाराज प्रोवाचेदं न कौशलात् ॥ ५ ॥

महातेजस्वी मेघसन्धि धनञ्जयके पास पहुंचकर बालस्वभावके वशमें होकर अकौशलपूर्वक अर्जुनसे बोला ॥ ५ ॥

किमयं चार्यते वाजी स्त्रीमध्य इव भारत ।
हयमेनं हरिष्यामि प्रयतस्व विमोक्षणे ॥ ६ ॥

हे भारत ! आप स्त्रियोंके बीच विचरनेवाले पुरुषकी भांति इस घोडेको जगत्के बीच क्यों घुमाते हैं ? मैं इस घोडेका अपहरण करता हूं; आप इसके छुडानेका यत्न करिये ॥ ६ ॥

अदत्तानुनयो युद्धे यदि त्वं पितृभिर्मम ।
करिष्यामि तवातिथ्यं प्रहर प्रहरामि वा ॥ ७ ॥

यद्यपि युद्धमें मेरे पिता–पितामहोंने आपका आदर–सत्कार नहीं किया है, तोभी मैं तुम्हारा समरमें आतिथ्य करूंगा; इसलिये आप मेरे ऊपर प्रहार करिये और फिर मैं भी तुम्हारे ऊपर प्रहार करूंगा ॥ ७ ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचैनं पाण्डवः प्रहसन्निव ।
विघ्नकर्ता मया वार्य इति मे व्रतमाहितम् ॥ ८ ॥

पाण्डुपुत्र अर्जुन मेघसन्धिका ऐसा वचन सुनके हंसकर उससे उत्तरमें बोले, विघ्न करनेवालेका निवारण करना ही मेरा व्रत है ॥ ८ ॥

भ्रात्रा ज्येष्ठेन नृपते तवापि विदितं ध्रुवम् ।
प्रहरस्व यथाशक्ति न मन्युर्विद्यते मम ॥ ९ ॥

हे राजन् ! मेरे ज्येष्ठ भाईने मेरे ऊपर यह भार अर्पण किया है; यह तुम निश्चय ही जानते हो । तुम अपनी सामर्थ्यके अनुसार मुझपर प्रहार करो, उससे मैं क्रुद्ध न हूंगा ॥ ९ ॥

इत्युक्तः प्राहरत्पूर्वं पाण्डवं मगधेश्वरः ।
किरञ्शरसहस्राणि वर्षाणीव सहस्रदृक् ॥ १० ॥

मगधेश्वरने अर्जुनका ऐसा वचन सुनके उनपर पहले प्रहार किया; जैसे सहस्र नेत्रवाले इन्द्र जलकी वर्षा करते हैं उसी भांति अर्जुनके ऊपर सहस्रों बाण वह बरसाने लगा ॥ १० ॥

ततो गाण्डीवभृच्छूरो गाण्डीवप्रेषितैः शरैः ।
चकार मोघांस्तान्बाणानयत्नाद् भरतर्षभ ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तब गाण्डीवधारी शूरवीर अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे छोडे हुए बाणोंसे मगधराजके चलाये हुए बाणोंको अयत्नपूर्वक निष्फल कर दिया ॥ ११ ॥

स मोघं तस्य बाणौघं कृत्वा वानरकेतनः ।
शरान्मुमोच ज्वलितान्दीप्तास्यानिव पन्नगान् ॥ १२ ॥

कपिध्वज कुन्तीपुत्र अर्जुन मगधराजके बाणोंको व्यर्थ करके प्रदीप्त मुखवाले सर्पकी भांति प्रज्वलित बाण चलाने लगे ॥ १२ ॥

ध्वजे पताकादण्डेषु रथयन्त्रे हयेषु च ।
अन्येषु च रथाङ्गेषु न शरीरे सारथौ ॥ १३ ॥

परन्तु अर्जुन मगधेश्वरके शरीर और सारथिके ऊपर बाण न चलाकर उसकी ध्वजा, पताका, दण्ड, रथ, यन्त्र, घोडों तथा अन्यान्य रथाङ्गोंके ऊपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १३ ॥

संरक्ष्यमाणः पार्थेन शरीरे फल्गुनस्य ह ।
मन्यमानः स्ववीर्यं तन्मागधः प्राहिणोच्छरान् ॥ १४ ॥

मगधेश्वरका शरीर अर्जुनके द्वारा जानबूझकर रक्षित होनेसे, वह निज वीर्यबलसे शरीरको रक्षित हुआ समझकर अर्जुनके ऊपर बाणोंको चलाता रहा ॥ १४ ॥

ततो गाण्डीवभृच्छूरो मागधेन समाहतः ।
बभौ वासन्तिक इव पलाशः पुष्पितो महान् ॥ १५ ॥

तब गाण्डीवधारी शूर अर्जुन मगधराजके द्वारा अत्यन्त घायल और रुधिरपूरित होकर वसन्तकालमें फूले हुए पलाशवृक्षकी भांति शोभित हुए ॥ १५ ॥

अवध्यमानः सोऽभ्यघ्नन्मागधः पाण्डवर्षभम् ।
तेन तस्थौ स कौरव्य लोकवीरस्य दर्शने ॥ १६ ॥

हे कुरुवंशावतंस ! अर्जुन उसे मारते नहीं थे, परंतु वह पाण्डवश्रेष्ठ पर बाणोंकी वर्षा करता था; इसीलिये जगप्रसिद्ध वीर अर्जुनकी दृष्टिमें वह ठहर सका ॥ १६ ॥

सव्यसाची तु संक्रुद्धो विकृष्य बलवद्धनुः ।
हयांश्चकार निर्देहान्सारथेश्च शिरोऽहरत् ॥ १७ ॥

तब क्रोधित होकर सव्यसाची अर्जुनने बलपूर्वक धनुष खींचकर मगधराजके घोडोंको प्राण-रहित करके उनके सारथिका सिर काट दिया ॥ १७ ॥

धनुश्चास्य महच्चित्रं क्षुरेण प्रचकर्त ह ।
हस्तावापं पताकां च ध्वजं चास्य न्यपातयत् ॥ १८ ॥

और क्षुरास्त्रसे उसके विचित्र विशाल धनुष, दस्ताने, पताका और ध्वजा काटके पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ १८ ॥

स राजा व्यथितो व्यश्वो विधनुर्हतसारथिः ।
गदामादाय कौन्तेयमभिदुद्राव वेगवान् ॥ १९ ॥

मगधराज घोडे, धनुष तथा सारथिसे रहित होकर बहुत दुःखित हुआ और गदा उठाकर वेगपूर्वक कुन्तीपुत्र अर्जुनकी ओर दौडा ॥ १९ ॥

तस्यापतत एवाशु गदां हेमपरिष्कृताम् ।
शरैश्चकर्त बहुधा बहुभिर्गृध्रवाजितैः ॥ २० ॥

अर्जुनने गिद्धपंखयुक्त अनेक बाणोंसे उस समागत मगधराजके सुवर्णभूषित गदाको काटकर कई टुकडे कर दिया ॥ २० ॥

सा गदा शकलीभूता विशीर्णमणिबन्धना ।
व्याली निर्मुच्यमानेव पपातास्य सहस्रधा ॥ २१ ॥

उस गदाकी मूंठ टूट गयी और उसके हजारों टुकडे होकर वह, हाथसे छूटी हुई सर्पिणीके समान पृथ्वीपर गिर पडी ॥ २१ ॥

विरथं तं विधन्वानं गदया परिवर्जितम् ।
नैच्छत्ताडयितुं धीमानर्जुनः समराग्रणीः ॥ २२ ॥

मगधराजके रथविहीन तथा धनुष और गदारहित होनेपर समराग्रणी बुद्धिमान् अर्जुनने उन्हें फिर पीडित करनेकी इच्छा नहीं की ॥ २२ ॥

तत एनं विमनसं क्षत्रधर्मे समास्थितम् ।
सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यमब्रवीत्कपिकेतनः ॥ २३ ॥

अनन्तर कपिध्वज अर्जुन उस विमनस्क क्षत्रधर्ममें स्थित मगधराजको धीरज देते हुए बोले ॥ २३ ॥

पर्याप्तः क्षत्रधर्मोऽयं दर्शितः पुत्र गम्यताम् ।
बह्वेतत्समरे कर्म तव बालस्य पार्थिव ॥ २४ ॥

हे पुत्र ! राजन् ! बालक होके युद्धमें तुम्हारे ऐसा महत् पराक्रम करनेसे क्षत्रियधर्म पर्याप्त-रूपसे दीख पडा, अब लौट जाओ ॥ २४ ॥

युधिष्ठिरस्य संदेशो न हन्तव्या नृपा इति ।
तेन जीवसि राजंस्त्वमपराद्धोऽपि मे रणे ॥ २५ ॥

हे राजन् ! युद्धमें राजाओंको नहीं मारना ऐसा धर्मराज युधिष्ठिरका आदेश है, इस ही निमित्त तुम युद्धमें मेरा अपराध करके भी जीवित हो ॥ २५ ॥

+

इति मत्वा स चात्मानं प्रत्यादिष्टं स्म मागधः ।
तथ्यमित्यवगम्यैनं प्राञ्जलिः प्रत्यपूजयत् ॥ २६ ॥

अर्जुनकी यह बात सुनकर उस समय मगधराजने अपनेको यथार्थमें ही निराकृत समझके हाथ जोडके अर्जुनके निकट जाकर उनका समादर किया ॥ २६ ॥

तमर्जुनः समाश्वास्य पुनरेवेदमब्रवीत् ।
आगन्तव्यं परां चैत्रीमश्वमेधे नृपस्य नः ॥ २७ ॥

अर्जुन मगधराजको धीरज देके फिर उससे बोले, आगामी चैत्र मासकी पूर्णिमाको हमारे राजा युधिष्ठिरका अश्वमेध यज्ञ होगा, उस समय तुम वहांपर जाना ॥ २७ ॥

इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा पूजयामास तं हयम् ।
फल्गुनं च युधां श्रेष्ठं विधिवत्सहदेवजः ॥ २८ ॥

सहदेवपुत्र मेघसन्धिने अर्जुनका ऐसा वचन सुनके बहुत अच्छा कहकर उसे स्वीकार कर योद्धाओंमें श्रेष्ठ वीर अर्जुन और घोडेकी विधिपूर्वक पूजा की ॥ २८ ॥

ततो यथेष्टमगमत्पुनरेव स केसरी ।
ततः समुद्रतीरेण वङ्गान्पुण्ड्रान्सकेरलान् ॥ २९ ॥

अनन्तर वह घोडा फिर अपनी इच्छानुसार समुद्रके तटसे जाते हुए क्रमसे बङ्ग, पुण्ड्र और कौशल प्रभृति देशोंमें गया ॥ २९ ॥

तत्र तत्र च भूरीणि म्लेच्छसैन्यान्यनेकशः ।
विजिग्ये धनुषा राजन्गाण्डीवेन धनंजयः ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥ २३३२ ॥

हे महाराज ! अर्जुनने गाण्डीव धनुषके सहारे इन सब देशोंमें राजाओंकी म्लेच्छ प्रभृति समस्त सेनाओंपर जय प्राप्त की ॥ ३० ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें तिरासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८३ ॥ २३३२ ॥

: ८४ :

वैशम्पायन उवाच—

मागधेनार्चितो राजन्पाण्डवः श्वेतवाहनः ।
दक्षिणां दिशमास्थाय चारयामास तं हयम् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— हे महाराज ! पाण्डुपुत्र श्वेतवाहन अर्जुन मगधराजके द्वारा पूजित होकर दक्षिण देशमें जाकर घोडेको घुमाने लगे ॥ १ ॥

ततः स पुनरावृत्य हयः कामचरो बली ।
आससाद पुरीं रम्यां चेदीनां शुक्तिसाह्वयाम् ॥ २ ॥

अनन्तर इच्छाके अनुसार विचरनेवाला वह बलवान् घोडा फिर लौटकर चेदियोंकी शुक्ति नामकी रमणीय नगरीमें पहुंचा ॥ २ ॥

शरभेणार्चितस्तत्र शिशुपालात्मजेन सः ।
युद्धपूर्वेण मानेन पूजया च महाबलः ॥ ३ ॥

वहांपर पहले शिशुपालके पुत्र शरभने युद्ध किया, फिर सन्मानपूर्वक सत्कार करके उस महाबलवान् घोडेका पूजन किया ॥ ३ ॥

तत्रार्चितो ययौ राजंस्तदा स तुरगोत्तमः ।
काशीनन्ध्रान्कोसलांश्च किरातानथ तङ्गणान् ॥ ४ ॥

फिर वह उत्तम घोडा वहां पूजित होकर काशी, अङ्ग, कोसल, किरात और तंगण देशोंमें गया ॥ ४ ॥

तत्र पूजां यथान्यायं प्रतिगृह्य स पाण्डवः ।
पुनरावृत्य कौन्तेयो दशार्णानगमत्तदा ॥ ५ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुनने वहांपर यथाक्रमसे पूजा ग्रहण करके फिर लौटकर दशार्ण देशमें गमन किया ॥ ५ ॥

तत्र चित्राङ्गदो नाम बलवान्वसुधाधिपः ।
तेन युद्धमभूत्तस्य विजयस्यातिभैरवम् ॥ ६ ॥

वहां बलवान् पृथ्वीपति चित्राङ्गद नामके राजाके सङ्ग अर्जुनका अत्यन्त भयङ्कर युद्ध हुआ ॥ ६ ॥

तं चापि वशमानीय किरीटी पुरुषर्षभः ।
निषादराज्ञो विषयमेकलव्यस्य जग्मिवान् ॥ ७ ॥

पुरुषश्रेष्ठ किरीटधारी अर्जुन चित्रांगदको भी वशमें करके निषादराज एकलव्यके राज्यमें गये ॥ ७ ॥

एकलव्यसुतश्चैनं युद्धेन जगृहे तदा ।
ततश्चक्रे निषादैः स संग्रामं रोमहर्षणम् ॥ ८ ॥

उस समय एकलव्यपुत्रने युद्ध करके घोडा ग्रहण किया, तब अर्जुनने निषादोंके संग रोएंको खडा करनेवाला संग्राम किया ॥ ८ ॥

ततस्तमपि कौन्तेयः समरेष्वपराजितः ।
जिगाय समरे वीरो यज्ञविघ्नार्थमुद्यतम् ॥ ९ ॥

अनन्तर युद्धमें अपराजित वीर कुन्तीपुत्रने यज्ञमें विघ्न करनेके लिये समागत एकलव्यपुत्रको भी पराजित किया ॥ ९ ॥

स तं जित्वा महाराज नैषादिं पाकशासनिः ।
अर्चितः प्रययौ भूयो दक्षिणं सलिलार्णवम् ॥ १० ॥

हे महाराज ! इन्द्रपुत्र अर्जुन निषादराजके पुत्रको जीतकर उसके द्वारा परमादरपूर्वक पूजित होके फिर दक्षिण समुद्रकी ओर गये ॥ १० ॥

तत्रापि द्रविडैरन्ध्रै रौद्रैर्माहिषकैरपि ।
तथा कोल्लगिरेयैश्च युद्धमासीत्किरीटिनः ॥ ११ ॥

वहां भी द्रविड, आन्ध्र, रौद्र, माहिषक और कोल्ल पर्वतके पास रहनेवाले लोगोंके संग किरीटधारी अर्जुनका युद्ध हुआ ॥ ११ ॥

तुरगस्य वशेनाथ सुराष्ट्रानभितो ययौ ।
गोकर्णमपि चासाद्य प्रभासमपि जग्मिवान् ॥ १२ ॥

घोडेके वशवर्ती होकर अर्जुनने सुराष्ट्रकी ओर गमन किया; फिर घोडा गोकर्णमें पहुंचके प्रभासमें गया ॥ १२ ॥

ततो द्वारवतीं रम्यां वृष्णिवीराभिरक्षिताम् ।
आससाद हयः श्रीमान्कुरुराजस्य यज्ञियः ॥ १३ ॥

वहांसे कुरुराज युधिष्ठिरका वह यज्ञिय उत्तम घोडा वृष्णिवीरोंसे रक्षित रमणीय द्वारकापुरीमें पहुंचा ॥ १३ ॥

तमुन्मथ्य हयश्रेष्ठं यादवानां कुमारकाः ।
प्रययुस्तांस्तदा राजन्नुग्रसेनो न्यवारयत् ॥ १४ ॥

राजन् ! कुरुराजके यज्ञीय श्रेष्ठ घोडेको द्वारवतीपुरीमें आया हुआ देखकर यादवकुमार उसे बलपूर्वक पडकर युद्धका प्रसंग निर्माण करने लगे; परन्तु महाराज उग्रसेनने उन्हें रोक दिया ॥ १४ ॥

ततः पुर्या विनिष्क्रम्य वृष्ण्यन्धकपतिस्तदा ।
सहितो वसुदेवेन मातुलेन किरीटिनः ॥ १५ ॥

फिर अर्जुनके मामा वसुदेवको संग लेकर वृष्णि और अन्धककुलके राजा उग्रसेन नगरसे बाहिर निकले ॥ १५ ॥

तौ समेत्य कुरुश्रेष्ठं विधिवत्प्रीतिपूर्वकम् ।
परया भरतश्रेष्ठं पूजया समवस्थितौ ।
ततस्ताभ्यामनुज्ञातो ययौ येन हयो गतः ॥ १६ ॥

और कुरुश्रेष्ठ अर्जुनके निकट जाकर प्रीतिके सहित विधिपूर्वक मिलकर, परम आदरसे उन भरतकुलके श्रेष्ठ वीरकी अभ्यर्थना करते हुए स्थित हुए; तब अर्जुन उन दोनोंकी आज्ञा लेकर घोडेके पीछे गमन करने लगे ॥ १६ ॥

ततः स पश्चिमं देशं समुद्रस्य तदा हयः ।
क्रमेण व्यचरत्स्फीतं ततः पञ्चनदं ययौ ॥ १७ ॥

अनन्तर वह घोडा समुद्रके पश्चिम देशोंमें विचरते हुए क्रमक्रमसे आगे बढकर समृद्ध पञ्चनद देशमें गया ॥ १७ ॥

तस्मादपि स कौरव्य गान्धारविषयं हयः ।
विचचार यथाकामं कौन्तेयानुगतस्तदा ॥ १८ ॥

हे कौरव्य ! वह घोडा उस देशसे भी इच्छानुसार गान्धार देशमें विचरने लगा; कुन्तीपुत्र अर्जुन उसके पीछे गये ॥ १८ ॥

तत्र गान्धारराजेन युद्धमासीन्महात्मनः ।
घोरं शकुनिपुत्रेण पूर्ववैरानुसारिणा ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥ २३५१ ॥

वहांपर पहिले वैरका अनुसरण करनेवाले गान्धारराज शकुनिके पुत्रके संग किरीटधारी अर्जुनका तुमुल संग्राम हुआ ॥ १९ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें चौरासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८४ ॥ २३५१ ॥

: ८५ :

वैशम्पायन उवाच—

शकुनेस्तु सुतो वीरो गान्धाराणां महारथः ।
प्रत्युद्ययौ गुडाकेशं सैन्येन महता वृतः ।
हस्त्यश्वरथपूर्णेन पताकाध्वजमालिना ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— गान्धारोंके महारथी, वीरश्रेष्ठ शकुनिपुत्र पताका, ध्वजा, माला, हाथी, घोडे और रथयुक्त महासेनाके बीच घिरकर युद्ध करनेके लिये गुडाकेश अर्जुनके निकट गया ॥ १ ॥

अमृष्यमाणास्ते योधा नृपतेः शकुनेर्वधम् ।
अभ्ययुः सहिताः पार्थं प्रगृहीतशरासनाः ॥ २ ॥

गान्धार देशके योद्धा राजा शकुनिके वधसे अत्यन्त क्रुद्ध हो गये थे; इसलिये उन्होंने हाथमें धनुष-बाण ग्रहण करके रणभूमिमें एक साथ अर्जुनपर आक्रमण किया ॥ २ ॥

तानुवाच स धर्मात्मा बीभत्सुरपराजितः ।
युधिष्ठिरस्य वचनं न च ते जगृहुर्हितम् ॥ ३ ॥

युद्धमें अपराजित धर्मात्मा अर्जुनने उन लोगोंको राजा युधिष्ठिरका वचन सुनाया; परंतु उन लोगोंने उस हितकर वचनको नहीं माना ॥ ३ ॥

वार्यमाणास्तु पार्थेन सान्त्वपूर्वममर्षिणः ।
परिवार्य हयं जग्मुस्ततश्चुक्रोध पाण्डवः ॥ ४ ॥

जब पाण्डुपुत्र अर्जुनके सान्त्वन भावसे निवारण करनेपर भी उन लोगोंने उस वचनको न सुनके क्रोधपूर्वक घोडा पकडनेके लिये गमन किया, तब अर्जुन क्रुद्ध हो गये ॥ ४ ॥

ततः शिरांसि दीप्ताग्रैस्तेषां चिच्छेद पाण्डवः ।
क्षुरैर्गाण्डीवनिर्मुक्तैर्नातियत्नादिवार्जुनः ॥ ५ ॥

वे सहजहीसे गाण्डीवसे छूटे हुए दीप्ताग्र क्षुरोंके सहारे उनके सिर काटने लगे ॥ ५ ॥

ते वध्यमानाः पार्थेन हयमुत्सृज्य संभ्रमात् ।
न्यवर्तन्त महाराज शरवर्षार्दिता भृशम् ॥ ६ ॥

हे महाराज ! योद्धा लोग अर्जुनके द्वारा घायल तथा बाणोंकी वर्षासे अत्यन्त पीडित होकर घोडेको छोडके सम्भ्रमके सहित निवृत्त हुए ॥ ६ ॥

वितुद्यमानस्तैश्चापि गान्धारैः पाण्डवर्षभः ।
आदिश्यादिश्य तेजस्वी शिरांस्येषां न्यपातयत् ॥ ७ ॥

अनन्तर तेजस्वी पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनने फिर गान्धार योद्धाओंके द्वारा एकबारही रोके जानेपर भी बार बार बाण चलाकर उन लोगोंके नाम ले-लेकर सिर काटकर गिराने लगे ॥ ७ ॥

वध्यमानेषु तेष्वाजौ गान्धारेषु समन्ततः ।
स राजा शकुनेः पुत्रः पाण्डवं प्रत्यवारयत् ॥ ८ ॥

जब अर्जुन युद्धमें गान्धार सेनाका चारों ओर सब भांतिसे संहार करने लगे, तब राजा शकुनिके पुत्रने युद्ध करते हुए पार्थको रोका ॥ ८ ॥

तं युध्यमानं राजानं क्षत्रधर्मे व्यवस्थितम् ।
पार्थोऽब्रवीन्न मे वध्या राजानो राजशासनात् ।
अलं युद्धेन ते वीर न तेऽस्त्वद्य पराजयः ॥ ९ ॥

क्षत्रियधर्ममें स्थित हो राजा शकुनिपुत्रके युद्ध करते रहनेपर अर्जुनने उससे कहा, राजा युधिष्ठिरकी आज्ञानुसार राजा लोग मेरे वध्य नहीं हैं; इसलिये वीर ! अब युद्धकी आवश्यकता नहीं है, और आज तुम्हारी भी पराजय न होवे ॥ ९ ॥

इत्युक्तस्तदनादृत्य वाक्यमज्ञानमोहितः ।
स शक्रसमकर्माणमवाकिरत सायकैः ॥ १० ॥

जब पार्थने शकुनिपुत्रसे ऐसा कहा, तब उसने अज्ञानसे मोहित होकर उस वचनका अनादर करते हुए इन्द्रके सदृश पराक्रमी अर्जुनको बाणोंसे छिपा दिया ॥ १० ॥

तस्य पार्थः शिरस्त्राणमर्धचन्द्रेण पत्रिणा ।
अपाहरदसंभ्रान्तो जयद्रथशिरो यथा ॥ ११ ॥

असंभ्रान्त पृथापुत्र अर्जुनने जिस प्रकार जयद्रथका सिर काटा था, उसी भांति कङ्कपत्र बिभूषित अर्धचन्द्र बाणसे शकुनिपुत्रका शिरस्त्राण काट गिराया ॥ ११ ॥

तद्दृष्ट्वा विस्मयं जग्मुर्गान्धाराः सर्व एव ते ।
इच्छता तेन न हतो राजेत्यपि च ते विदुः ॥ १२ ॥

सब गान्धार सेना अर्जुनके उस कार्यको देखकर परम विस्मित हुई; वे सब समझ गये कि अर्जुनने इच्छा रहनेपर भी शकुनिपुत्रका जानबूझकर बध नहीं किया है ॥ १२ ॥

गान्धारराजपुत्रस्तु पलायनकृतक्षणः ।
बभौ तैरेव सहितस्त्रस्तैः क्षुद्रमृगैरिव ॥ १३ ॥

अनन्तर गान्धारराजका पुत्र भागनेका अवसर देखकर, डरे हुए क्षुद्र मृगोंकी भांति उस डरी हुई सेनाके सहित भागा ॥ १३ ॥

तेषां तु तरसा पार्थस्तत्रैव परिधावताम् ।
विजहारोत्तमाङ्गानि भल्लैः संनतपर्वभिः ॥ १४ ॥

वहां योद्धाओंके भागनेपर पृथापुत्र अर्जुन सन्नतपर्वयुक्त भल्लास्त्रोंसे उनके सिर काटने लगे ॥ १४ ॥

उच्छ्रितांस्तु भुजान्केचिन्नाबुध्यन्त शरैर्हृतान् ।
शरैर्गाण्डीवनिर्मुक्तैः पृथुभिः पार्थचोदितैः ॥ १५ ॥

अर्जुनके चलाये और गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए असंख्य बाणोंसे कितनेही योद्धाओंकी ऊंची उठी हुई भुजाएं कट गयीं, परंतु उन्हें उसका पता भी नहीं लगा ॥ १५ ॥

संभ्रान्तनरनागाश्वमथ तद्विद्रुतं बलम् ।
हतविध्वस्तभूयिष्ठमावर्तत मुहुर्मुहुः ॥ १६ ॥

सेनाके मनुष्य, हाथी और घोडे भयभीत होकर भागने लगे; कोई दौडने, कोई गिरने लगे; बहुतसे सैनिक युद्धमें मारे गये या नष्ट हो गये और बार बार चक्कर काटने लगे ॥ १६ ॥

न ह्यदृश्यन्त वीरस्य केचिदग्रेऽग्र्यकर्मणः ।
रिपवः पात्यमाना वै ये सहेयुर्महाशरान् ॥ १७ ॥

प्रधानकर्मा वीरश्रेष्ठ पार्थके सामने कोई भी शत्रु नहीं दीख पडे, जो अर्जुनके महा भयंकर बाणोंका वेग सहन कर सके ॥ १७ ॥

ततो गान्धारराजस्य मन्त्रिवृद्धपुरःसरा ।
जननी निर्ययौ भीता पुरस्कृत्यार्घ्यमुत्तमम् ॥ १८ ॥

अनन्तर गान्धारराजकी जननी भयभीत होकर वृद्ध मन्त्रियोंको आगे करके हाथमें उत्तम अर्घ्य लेकर नगरसे बाहर निकलकर आयी ॥ १८ ॥

सा न्यवारयदव्यग्रा तं पुत्रं युद्धदुर्मदम् ।
प्रसादयामास च तं जिष्णुमक्लिष्टकारिणम् ॥ १९ ॥

उसने सावधानचित्तसे अपने युद्धदुर्मद पुत्रको युद्धसे निवारण किया और महान् कर्म करनेवाले विजयी धनञ्जयको प्रसन्न किया ॥ १९ ॥

तां पूजयित्वा कौन्तेयः प्रसादमकरोत्तदा ।
शकुनेश्चापि तनयं सान्त्वयन्निदमब्रवीत् ॥ २० ॥

तब अर्जुनने भी मामीका सम्मान करके उसे प्रसन्न किया; फिर शकुनिपुत्रको धीरज देते हुए इस प्रकार बोले ॥ २० ॥

न मे प्रियं महाबाहो यत्ते बुद्धिरियं कृता ।
प्रतियोद्धुममित्रघ्न भ्रातैव त्वं ममानघ ॥ २१ ॥

हे महाबाहो ! शत्रुसूदन ! तुमने इस समय जिस बुद्धिके वशवर्ती होकर मेरे विरुद्ध युद्ध करनेकी अभिलाषा की थी, उससे मैं सन्तुष्ट नहीं हुआ । हे पापरहित ! तुम तो मेरे भाई ही हो ॥ २१ ॥

गान्धारीं मातरं स्मृत्वा धृतराष्ट्रकृतेन च ।
तेन जीवसि राजंस्त्वं निहतास्त्वनुगास्तव ॥ २२ ॥

राजन् ! धृतराष्ट्रके कार्य और गान्धारी माताका स्मरण होनेसे ही तुम्हें जीवन लाभ हुआ है; केवल तुम्हारे अनुचर ही मारे गये हैं ॥ २२ ॥

मैवं भूः शाम्यतां वैरं मा ते भूद्बुद्धिरीदृशी ।
आगन्तव्यं परां चैत्रीमश्वमेधे नृपस्य नः ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥ २३७४ ॥

जो हो, तुम्हारे सहित तथा तुम्हारे संग मेरे वैरकी शमता रही; परन्तु फिर कभी तुम्हारी ऐसी बुद्धि न होवे; तुम अगामी चैत्री मासकी पूर्णिमामें हमारे राजा युधिष्ठिरके अश्वमेध यज्ञमें आगमन करना ॥ २३ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें पचासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८५ ॥ २३७४ ॥

: ८६ :

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्त्वानुययौ पार्थो हयं तं कामचारिणम् ।
न्यवर्तत ततो वाजी येन नागाह्वयं पुरम् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– अर्जुन गान्धारराजसे इतनी बात कहके कामविहारी घोडेके पीछे वहांसे चले; अब वह घोडा भी लौटकर हस्तिनापुरकी ओर चला ॥ १ ॥

तं निवृत्तं तु शुश्राव चारेणैव युधिष्ठिरः ।
श्रुत्वार्जुनं कुशलिनं स च हृष्टमनाभवत् ॥ २ ॥

राजा युधिष्ठिर दूतके मुखसे घोडेके सहित अर्जुनके कुशलपूर्वक लौटनेकी वार्ता सुनके मनमें अत्यन्त हर्षित हुए ॥ २ ॥

विजयस्य च तत्कर्म गान्धारविषये तदा ।
श्रुत्वान्येषु च देशेषु स सुप्रीतोऽभवन्नृपः ॥ ३ ॥

और गान्धारराज्यमें तथा अन्यान्य देशोंमें पराक्रमी अर्जुनकी जयका वैसा कर्म सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुए ॥ ३ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु द्वादशीं माघपाक्षिकीम् ।
इष्टं गृहीत्वा नक्षत्रं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ४ ॥

महातेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिरने इतने समयके बीच माघ महिनेकी शुक्लपक्षकी द्वादशी तिथि और इष्ट पुष्यनक्षत्र पाके ॥ ४ ॥

समानाय्य महातेजाः सर्वान्भ्रातॄन्महामनाः ।
भीमं च नकुलं चैव सहदेवं च कौरवः ॥ ५ ॥

भीमसेन, नकुल और सहदेव प्रभृति अपने सब महामनस्वी भाईयोंको बुलाया ॥ ५ ॥

प्रोवाचेदं वचः काले तदा धर्मभृतां वरः ।
आमन्त्र्य वदतां श्रेष्ठो भीमं भीमपराक्रमम् ॥ ६ ॥

उस समय वाग्मिवर धार्मिक श्रेष्ठ पृथ्वीनाथ युधिष्ठिर महान् पराक्रमी भीमसेनको सम्बोधन करके बोले ॥ ६ ॥

आयाति भीमसेनासौ सहाश्वेन तवानुजः ।
यथा मे पुरुषाः प्राहुर्ये धनंजयसारिणः ॥ ७ ॥

हे भीम ! तुम्हारे छोटे भाई धनञ्जय घोडेके सहित आ रहे हैं, यह बात मुझसे उनका समाचार लानेके लिये गये सेवकोंने आकर कही है ॥ ७ ॥

×

उपस्थितश्च कालोऽयमभितो वर्तते हयः ।
माघी च पौर्णमासीयं मासः शेषो वृकोदर ॥ ८ ॥

हे वृकोदर ! अभी यज्ञ आरम्भ करनेका समय उपस्थित हुआ है; घोडा भी अभिमुखी हुआ है; माघ मासकी पौर्णिमा आ रही है; बीचमें केवल एक मास शेष है ॥ ८ ॥

तत्प्रस्थापयन्तु विद्वांसो ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
वाजिमेधार्थसिद्ध्यर्थं देशं पश्यन्तु यज्ञियम् ॥ ९ ॥

इसलिये अश्वमेध यज्ञकी सिद्धिके लिये योग्य स्थान निरूपण करनेके लिये विद्वान् वेदपारंगत ब्राह्मणोंको भेजना चाहिये ॥ ९ ॥

इत्युक्तः स तु तच्चक्रे भीमो नृपतिशासनम् ।
हृष्टः श्रुत्वा नरपतेरायान्तं सव्यसाचिनम् ॥ १० ॥

भीमसेनने ऐसा बचन सुनके राजा युधिष्ठिरकी आज्ञानुसार कार्य किया और पुरुष–श्रेष्ठ अर्जुनके आनेकी बार्ता सुनके अत्यन्त आनन्दित हुए ॥ १० ॥

ततो ययौ भीमसेनः प्राज्ञैः स्थपतिभिः सह ।
ब्राह्मणानग्रतः कृत्वा कुशलान्यज्ञकर्मसु ॥ ११ ॥

अनन्तर वृकोदरने यज्ञकर्ममें कुशल ब्राह्मणोंको आगे करके बुद्धिमान् शिल्पकर्मके जानकार कारीगरोंके सहित गमन किया ॥ ११ ॥

तं सशालचयग्रामं संप्रतोलीविटङ्किनम् ।
मापयामास कौरव्यो यज्ञवाटं यथाविधि ॥ १२ ॥

उस कुरुवंशीय भीमसेनने स्थपतिगणोंके सहारे शालवृक्षोंसे भरे हुए रम्य ग्रामको पसंद करके मापा और वहां उत्तम मार्गोंसे परमशोभित प्रशस्त यज्ञभूमिका विधिपूर्वक निर्माण किया ॥ १२ ॥

सदः सपत्नीसदनं साग्नीध्रमपि चोत्तरम् ।
कारयामास विधिवन्मणिहेमविभूषितम् ॥ १३ ॥

उस भूमिमें स्त्रियोंके लिये भी श्रेष्ठ महल अग्निशालाओंके सहित बनवाये गये; वह यज्ञशाला मणि और सोनेसे सजायी जाकर, उसका निर्माण शास्त्रीयविधिके अनुसार कराया गया था ॥ १३ ॥

स्तम्भान्कनकचित्रांश्च तोरणानि बृहन्ति च ।
यज्ञायतनदेशेषु दत्त्वा शुद्धं च काञ्चनम् ॥ १४ ॥

वहां सुवर्णमय विचित्र स्तम्भ और बृहत् तोरण बने हुए थे; तथा यज्ञ मण्डपके स्थानोंमें शुद्ध सुवर्णका उपयोग किया था ॥ १४ ॥

अन्तःपुराणि राज्ञां च नानादेशनिवासिनाम् ।
कारयामास धर्मात्मा तत्र तत्र यथाविधि ॥ १५ ॥

उस स्थानमें विधानपूर्वक अन्तःपुरोंकी स्त्रियों और अनेक देशोंसे आये हुए राजाओंके लिये अनेक भवन बनवाये ॥ १५ ॥

ब्राह्मणानां च वेश्मानि नानादेशसमेयुषाम् ।
कारयामास भीमः स विविधानि ह्यनेकशः ॥ १६ ॥

तथा नाना स्थानोंसे आये हुए ब्राह्मणोंके निमित्त भी उन भीमसेनने विविध प्रकारके अनेक गृह बनवाये ॥ १६ ॥

तथा संप्रेषयामास दूतान्नृपतिशासनात् ।
भीमसेनो महाराज राज्ञामक्लिष्टकर्मणाम् ॥ १७ ॥

महराज ! अनन्तर भीमसेनने राजा युधिष्ठिरकी आज्ञानुसार अनायास महान् पराक्रम करनेवाले राजाओंके पास निमन्त्रणके लिये दूत भेजे ॥ १७ ॥

ते प्रियार्थं कुरुपतेराययुर्नृपसत्तमाः ।
रत्नान्यनेकान्यादाय स्त्रियोऽश्वानायुधानि च ॥ १८ ॥

वे श्रेष्ठ राजा लोग कुरुराज युधिष्ठिरका प्रिय करनेके लिये बहुतसे रत्न, स्त्रियां, अश्व और अनेक प्रकारके शस्त्र लेकर वहां आये ॥ १८ ॥

तेषां निविशतां तेषु शिबिरेषु सहस्रशः ।
नर्दतः सागरस्येव शब्दो दिवमिवास्पृशत् ॥ १९ ॥

हजारों महीपालोंके वहांके विभिन्न शिबिरोंमें प्रवेश करनेके समय जो कोलाहल सुनायी पडता था, वह समुद्रकी गर्जनाके समान आकाशमण्डलको स्पर्श करने लगा ॥ १९ ॥

तेषामभ्यागतानां स राजा राजीवलोचनः ।
व्यादिदेशान्नपानानि शय्याश्चाप्यतिमानुषाः ॥ २० ॥

राजीवलोचन धर्मराज राजा युधिष्ठिरने समागत अतिथि राजाओंका सत्कार करनेके लिये उत्तम अन्न–पान और उत्कृष्ट शय्या प्रदान करनेके लिये सेवकोंको आज्ञा की ॥ २० ॥

वाहनानां च विविधाः शालाः शालीक्षुगोरसैः ।
उपेताः पुरुषव्याघ्र व्यादिदेश स धर्मराट् ॥ २१ ॥

और उनके वाहनोंके लिये धर्मराज युधिष्ठिरने धान्य, ईख तथा गोरससे भरे घर दिये ॥ २१ ॥

तथा तस्मिन्महायज्ञे धर्मराजस्य धीमतः ।
समाजग्मुर्मुनिगणा बहवो ब्रह्मवादिनः ॥ २२ ॥

बुद्धिमान् धर्मराजके उस महायज्ञमें बहुतसे ब्रह्मवादी वेदवेत्ता मुनिगण भी आये ॥ २२ ॥

ये च द्विजातिप्रवरास्तत्रासन्पृथिवीपते ।
समाजग्मुः सशिष्यांस्तान्प्रतिजग्राह कौरवः ॥ २३ ॥

हे पृथ्वीपाल ! जो सब द्विजवर अपने शिष्योंके सहित वहां आये, कुरुपति युधिष्ठिरने उन सबको आदरपूर्वक अपनाया ॥ २३ ॥

सर्वांश्चताननुययौ यावदावसथादिति ।
स्वयमेव महातेजा दम्भं त्यक्त्वा युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर दम्भ त्यागके स्वयं उन सबका स्वागत करते और उनके लिये योग्य स्थानका प्रबन्ध होनेतक, उनके साथ रहते थे ॥ २४ ॥

ततः कृत्वा स्थपतयः शिल्पिनोऽन्ये च ये तदा ।
कृत्स्नं यज्ञविधिं राजन्धर्मराज्ञे न्यवेदयन् ॥ २५ ॥

राजन् ! अनन्तर स्थपति तथा अन्यान्य शिल्पीगणने यज्ञीय गृहादि तैयार करके धर्मराजके समीप आकर इसकी सूचना दी ॥ २५ ॥

तच्छ्रुत्वा धर्मराजः स कृतं सर्वमनिन्दितम् ।
हृष्टरूपोऽभवद्राजा सह भ्रातृभिरच्युतः ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥ ५४०० ॥

अच्युत धर्मराज युधिष्ठिर सब कार्योंको दोषरहित रीतिसे पूरा हुआ सुनके भाइयोंके साथ बहुत आनन्दित हुए ॥ २६ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें छियासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८६ ॥ २४०० ॥

: ८७ :

वैशम्पायन उवाच—

तस्मिन्यज्ञे प्रवृत्ते तु वाग्मिनो हेतुवादिनः ।
हेतुवादान्बहून्प्राहुः परस्परजिगीषवः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— उस यज्ञके आरम्भ होनेपर प्रवचनकुशल युक्तिवाद करनेवाले ब्राह्मणगण आपसमें जिगीषु होकर अनेक प्रकारकी तर्कयुक्त बातें करने लगे ॥ १ ॥

ददृशुस्तं नृपतयो यज्ञस्य विधिमुत्तमम् ।
देवेन्द्रस्येव विहितं भीमेन कुरुनन्दन ॥ २ ॥

हे कुरुनन्दन ! राजालोग देवेन्द्रकी यज्ञशालाकी भांति भीमसेनके द्वारा विहित उस उत्तम यज्ञकी निर्माणकला और मनोहर सजावट देखने लगे ॥ २ ॥

दद्दशुस्तोरणान्यत्र शातकुम्भमयानि ते ।
शय्यासनविहारांश्च सुबहून्रत्नभूषितान् ॥ ३ ॥

उन्होंने वहां इधर उधर सुवर्णमय तोरण तथा अनेक रत्नभूषित शय्या, आसन और विहार स्थान देखे ॥ ३ ॥

घटान्पात्रीः कटाहानि कलशान्वर्धमानकान् ।
न हि किंचिदसौवर्णमपश्यंस्तत्र पार्थिवाः ॥ ४ ॥

बहुतेरे जलपात्र, घडे, पात्र, कलश और शराव प्रभृति जितनी वस्तुएं थीं, उन सबको स्वर्णमयके अतिरिक्त अन्य धातुओंको उन राजाओंने नहीं देखा ॥ ४ ॥

यूपांश्च शास्त्रपठितान्दारवान्हेमभूषितान् ।
उपक्लृप्तान्यथाकालं विधिवद्भूरिवर्चसः ॥ ५ ॥

राजा लोगोंने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार बने हुए सुवर्णभूषित काष्ठमय मन्त्रसंस्कृत यूप देखें; वे सब यूथ यथासमय विधिपूर्वक बनाये हुए थे, और अत्यन्त तेजोमय थे ॥ ५ ॥

स्थलजा जलजा ये च पशवः केचन प्रभो ।
सर्वानेव समानीतांस्तानपश्यन्त ते नृपाः ॥ ६ ॥

तथा जगतमें जो कोई स्थलज और जलज पशु थे, उन सबको वहां राजाओंने लाये हुए देखा ॥ ६ ॥

गाश्चैव महिषीश्चैव तथा वृद्धाः स्त्रियोऽपि च ।
औदकानि च सत्त्वानि श्वापदानि वयांसि च ॥ ७ ॥

गायें, भैंसें, वृद्धा स्त्रियां, जल-जन्तु, श्वापद, पक्षी ॥ ७ ॥

जरायुजान्यण्डजानि स्वेदजान्युद्भिदानि च ।
पर्वतानूपवन्यानि भूतानि दद्दशुश्च ते ॥ ८ ॥

जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, पर्वतीय, अनूप और वन्य प्राणियोंको वे लोग वहांपर देखने लगे ॥ ८ ॥

एवं प्रमुदितं सर्वं पशुगोधनधान्यतः ।
यज्ञवाटं नृपा दृष्ट्वा परं विस्मयमागमन् ।
ब्राह्मणानां विशां चैव बहुमृष्टान्नमृद्धिमत् ॥ ९ ॥

इस प्रकार राजा लोग पशु, गोधन और धान्यके द्वारा सम्पन्न और रमणीय उस यज्ञशालाको देखकर परम विस्मित हुए। उस यज्ञमें ब्राह्मण तथा वैश्योंके लिये उत्तम रीतिसे बनी हुई स्वादिष्ट वस्तुओंका भण्डार भरा हुआ था ॥ ९ ॥

पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां तत्र भुञ्जताम् ।
दुन्दुभिर्मेघनिर्घोषो मुहुर्मुहुरताडयत ॥ १० ॥

प्रतिदिन एक लाख ब्राह्मण वहां भोजन करते थे; भोजनके बाद बादलके गर्जनासदृश शब्दायमान नगाडा बार बार बजाया जाता था ॥ १० ॥

विननादासकृत्सोऽथ दिवसे दिवसे तदा ।
एवं स ववृते यज्ञो धर्मराजस्य धीमतः ॥ ११ ॥

इस प्रकार वहां दिनमें कई बार डंके बजाये जाते थे; बुद्धिमान् धर्मराजका वह यज्ञ इसही भांति वर्धित होने लगा ॥ ११ ॥

अन्नस्य बहवो राजन्नुत्सर्गाः पर्वतोपमाः ।
दधिकुल्याश्च ददृशुः सर्पिषश्च ह्रदाञ्जनाः ॥ १२ ॥

हे महाराज ! उस समय पर्वतोंके सदृश अन्नके अनेक ढेर तथा दही, दूध और घृतके तालाबोंको देखकर सब कोई बिस्मित हुए ॥ १२ ॥

जम्बुद्वीपो हि सकलो नानाजनपदायुतः ।
राजन्नदृश्यतैकस्थो राज्ञस्तस्मिन्महाक्रतौ ॥ १३ ॥

हे राजन् ! महाराजके महायज्ञमें अनेक देशोंके लोग आये थे; समस्त जम्बूद्वीप ही वहां एक स्थानमें स्थित दिखाई देता था ॥ १३ ॥

तत्र जातिसहस्राणि पुरुषाणां ततस्ततः ।
गृहीत्वा धनमाजग्मुर्बहूनि भरतर्षभ ॥ १४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहांपर हजारों जातियोंके लोग अनेक भांतिके पात्रोंको ग्रहण करके उपस्थित हुए थे ॥ १४ ॥

राजानः स्रग्विणश्चापि सुमृष्टमणिकुण्डलाः ।
पर्यवेषन्द्विजाग्र्यांस्ताञ्शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १५ ॥

उत्तम रीतिसे परिष्कृत मणिमय कुण्डल और सोनेकी माला पहरे हुए सैकडों सहस्रों पुरुष द्विजातियोंको भोज्य वस्तु परोसते थे ॥ १५ ॥

विविधान्यन्नपानानि पुरुषा येऽनुयायिनः ।
तेषां नृपोपभोज्यानि ब्राह्मणेभ्यो ददुः स्म ते ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥ २४१६ ॥

राजाके सेवक पुरुष वहां राज-भोग्य विविध प्रकारके अन्न और जल ब्राह्मणोंको प्रदान करने लगे ॥ १६ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें सतासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८७ ॥ २४१६ ॥

: ८८ :

वैशम्पायन उवाच—

समागतान्वेदविदो राज्ञश्च पृथिवीश्वरान् ।
दृष्ट्वा युधिष्ठिरो राजा भीमसेनमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— राजा युधिष्ठिरने वेद जाननेवाले ब्राह्मणों और राजाओंको वहां आये हुए देखकर भीमसेनसे इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

उपयाता नरव्याघ्रा य इमे जगदीश्वराः ।
एतेषां क्रियतां पूजा पूजार्हा हि नरेश्वराः ॥ २ ॥

जो ये सब जगत्के अधिपति राजा लोग यहां आये हैं, सभी पूजनीय जनाधिपति हैं; इसलिये इनकी पूजा—सत्कार करो ॥ २ ॥

इत्युक्तः स तथा चक्रे नरेन्द्रेण यशस्विना ।
भीमसेनो महातेजा यमाभ्यां सह भारत ॥ ३ ॥

भारत ! महातेजस्वी भीमसेनने यशस्वी नरनाथ युधिष्ठिरका ऐसा बचन सुनके यमज नकुल और सहदेवके सहित उन राजाओंका यथोचित सत्कार किया ॥ ३ ॥

अथाभ्यगच्छद्गोविन्दो वृष्णिभिः सह धर्मजम् ।
बलदेवं पुरस्कृत्य सर्वप्राणभृतां वरः ॥ ४ ॥
युयुधानेन सहितः प्रद्युम्नेन गदेन च ।
निशठेनाथ साम्बेन तथैव कृतवर्मणा ॥ ५ ॥

अनन्तर सर्वप्राणियोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण बलदेवको आगे करके सात्यकि, प्रद्युम्न, गद, निशठ, साम्ब और कृतवर्मा प्रभृति वृष्णिवंशियोंके सहित धर्मपुत्र युधिष्ठिरके निकट आये ॥ ४–५ ॥

तेषामपि परां पूजां चक्रे भीमो महाभुजः ।
विविशुस्ते च वेश्मानि रत्नवन्ति नरर्षभाः ॥ ६ ॥

महाभुज भीमसेनने उन लोगोंकी भी यथाविधि पूजा की और वे सब नरश्रेष्ठ भीमसेनके द्वारा पूजित होकर अनेक रत्नोंसे परिपूर्ण गृहके बीच रहने लगे ॥ ६ ॥

युधिष्ठिरसमीपे तु कथान्ते मधुसूदनः ।
अर्जुनं कथयामास बहुसंग्रामकर्शितम् ॥ ७ ॥

अनन्तर मधुसूदन श्रीकृष्णने युधिष्ठिरके सङ्ग वार्तालाप करके उनके समीप बहुत युद्धोंमें शत्रुओंका सामना करनेके कारण अर्जुन कृश हुए हैं ऐसे कहा ॥ ७ ॥

स तं पप्रच्छ कौन्तेयः पुनः पुनररिंदमम् ।
धर्मराड् भ्रातरं जिष्णुं समाचष्ट जगत्पतिः ॥ ८ ॥

यह सुनकर कुन्तीपुत्र धर्मराज युधिष्ठिरने अरिंदमन बंधु अर्जुनके विषयमें बार बार उनसे पूछा; तब जगत्के ईश्वर श्रीकृष्णने धर्मराजसे कहा ॥ ८ ॥

आगमद्द्वारकावासी ममाप्तः पुरुषो नृप ।
योऽद्राक्षीत्पाण्डवश्रेष्ठं बहुसंग्रामकर्शितम् ॥ ९ ॥

हे राजन् ! मेरे पास द्वारकावासी एक विश्वसनीय पुरुष आया था; जिसने संग्रामकर्शित उस पाण्डवश्रेष्ठ धनञ्जयको देखा था ॥ ९ ॥

समीपे च महाबाहुमाचष्ट च मम प्रभो ।
कुरु कार्याणि कौन्तेय हयमेधार्थसिद्धये ॥ १० ॥

हे प्रभु ! महाबाहु अर्जुन अब समीप आये हैं, यह भी उसने कहा है । कुरुनन्दन ! अब आप अश्वमेध यज्ञकी सिद्धिके निमित्त सब कार्य करिये ॥ १० ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचैनं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
दिष्ट्या स कुशली जिष्णुरुपयाति च माधव ॥ ११ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर श्रीकृष्णका ऐसा बचन सुनके फिर उनसे बोले, हे माधव ! मेरे भाग्यसे ही वह धनञ्जय सकुशल लौट रहे हैं ॥ ११ ॥

तव यत्संदिदेशासौ पाण्डवानां बलाग्रणीः ।
तदाख्यातुमिहेच्छामि भवता यदुनन्दन ॥ १२ ॥

यदुनन्दन ! उस पाण्डव सेनाके अग्रणी धनञ्जयने इस यज्ञके विषयमें जो संदेश दिया हो, उसे तुम्हारेसे ही जाननेकी इच्छा करता हूं ॥ १२ ॥

इत्युक्ते राजशार्दूल वृष्ण्यन्धकपतिस्तदा ।
प्रोवाचेदं वचो वाग्मी धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥ १३ ॥

अनन्तर वाग्मिवर वृष्णि और अन्धकपति श्रीकृष्ण धर्मात्मा धर्मराज युधिष्ठिरका ऐसा वचन सुनके इस प्रकार उनसे बोले ॥ १३ ॥

इदमाह महाराज पार्थवाक्यं नरः स माम् ।
वाच्यो युधिष्ठिरः कृष्ण काले वाक्यमिदं मम ॥ १४ ॥

हे महाराज ! मेरे पास आये हुए मनुष्यने अर्जुनका इस प्रकार वचन कहा, कि श्रीकृष्ण ! तुम समयके अनुसार राजा युधिष्ठिरसे मेरा यह वचन कहना ॥ १४ ॥

आगमिष्यन्ति राजानः सर्वतः कौरवान्प्रति ।
तेषामेकैकशः पूजा कार्येत्येतत्क्षमं हि नः ॥ १५ ॥

इस कौरवोंके यज्ञमें चारों ओरसे राजा लोग आवेंगे; हम लोगोंको विशेष करके उनका एक एक करके पूर्ण सत्कार करना चाहिये, यही हमारे योग्य कर्तव्य है ॥ १५ ॥

इत्येतद्वचनाद्राजा विज्ञाप्यो मम मानद ।
न तदात्ययिकं हि स्याद्यदर्घ्यानयने भवेत् ॥ १६ ॥

हे मानद ! इसके अतिरिक्त राजाको मेरी ओरसे यह हितकारी वचन कहना, कि राजसूय यज्ञमें अर्घ्य देते समय जो दुर्घटना हो गयी थी, वैसे इस समय नहीं होनी चाहिये ॥ १६ ॥

कर्तुमर्हति तद्राजा भवांश्चाप्यनुमन्यताम् ।
राजद्वेषाद्विनश्येयुर्नेमा राजन्प्रजाः पुनः ॥ १७ ॥

राजा युधिष्ठिरको ऐसा ही करना चाहिये; तथा तुम भी उस विषयमें ऐसी ही अनुमति करियेगा । राजन् ! राजाओंके द्वेषके कारण फिर इन सारी प्रजाओंका नाश न होवे ॥ १७ ॥

इदमन्यच्च कौन्तेय वचः स पुरुषोऽब्रवीत् ।
धनंजयस्य नृपते तन्मे निगदतः शृणु ॥ १८ ॥

हे कौन्तेय ! नृपते ! उस मनुष्यने धनञ्जयकी कही हुई और एक बात जो मुझसे कही है, उसे मुझसे सुनो ॥ १८ ॥

उपयास्यति यज्ञं नो मणिपूरपतिर्नृपः ।
पुत्रो मम महातेजा दयितो बभ्रुवाहनः ॥ १९ ॥

उन्होंने कहा है, मेरा परमप्रिय पुत्र मणिपूरका राजा महातेजस्वी बभ्रुवाहन हमारे इस यज्ञमें आवेगा ॥ १९ ॥

तं भवान्मदपेक्षार्थं विधिवत्प्रतिपूजयेत् ।
स हि भक्तोऽनुरक्तश्च मम नित्यमिति प्रभो ॥ २० ॥

आप मेरे अनुरोधसे उसका विधिपूर्वक समादर करना । हे प्रभु ! उसकी सदा मेरे ऊपर अत्यन्त भक्ति और अनुरक्ति है ॥ २० ॥

इत्येतद्वचनं श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अभिनन्द्यास्य तद्वाक्यमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥ २४१६ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर इतनी बात सुनके उनके उस वचनका अभिनन्दन करते हुए इस प्रकार कहने लगे ॥ २१ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें अठासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८८ ॥ २४१६ ॥

: ८९ :

युधिष्ठिर उवाच—

श्रुतं प्रियमिदं कृष्ण यत्त्वमर्हसि भाषितुम् ।
तन्मेऽमृतरसप्रख्यं मनो ह्लादयते विभो ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे श्रीकृष्ण ! मैंने इस प्रिय वचनको सुना जिसे तुमही करनेके योग्य हैं। हे विभो ! तुम्हारे मुखसे निकली हुई अमृतरस सदृश पवित्र वाणी मेरे चित्तको अत्यन्त आनन्दित करती है ॥ १ ॥

बहूनि किल युद्धानि विजयस्य नराधिपैः ।
पुनरासन्हृषीकेश तत्र तत्रेति मे श्रुतम् ॥ २ ॥

हे हृषीकेश ! मैंने सुना है, कि अर्जुन जिन स्थानोंमें गये थे, उन स्थानोंमें वहांके राजाओंके सङ्ग उनको फिर बहुत युद्ध करने पडे ॥ २ ॥

मन्निमित्तं हि स सदा पार्थः सुखविवर्जितः ।
अतीव विजयो धीमानिति मे दूयते मनः ॥ ३ ॥

हे बुद्धिमान् जनार्दन ! पृथापुत्र अर्जुन मेरे लिये ही सदा सुखसे रहित रहते हैं, इसका कारण मैं नहीं जानता; इससे मेरा चित्त बहुतही दुःखित होता है ॥ ३ ॥

संचिन्तयामि वार्ष्णेय सदा कुन्तीसुतं रहः ।
किं नु तस्य शरीरेऽस्ति सर्वलक्षणपूजिते ।
अनिष्टं लक्षणं कृष्ण येन दुःखान्युपाश्नुते ॥ ४ ॥

हे जनार्दन मैं एकान्तमें धनञ्जयके विषयमें सदा विचार करते रहता हूं । हे श्रीकृष्ण ! धनञ्जयके सब शुभ लक्षणोंसे पूजित शरीरमें कौनसा अनिष्ट सूचक लक्षण है ? जिस लक्षणसे उन्हें दुःख भोगना पडता है ॥ ४ ॥

अतीव दुःखभागी स सततं कुन्तिनन्दनः ।
न च पश्यामि बीभत्सोर्निन्द्यं गात्रेषु किंचन ।
श्रोतव्यं चेन्मयैतद्वै तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ५ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन सदा अत्यन्त दुःख भोगते हैं; उनके अंगोमें मैं तो कुछ भी अनिष्ट चिन्ह नहीं देखता । यदि मेरे सुनने योग्य हो, तो मेरे समीप तुम्हें यह विषय कहना उचित है ॥ ५ ॥

इत्युक्तः स हृषीकेशो ध्यात्वा सुमहदन्तरम् ।
राजानं भोजराजन्यवर्धनो विष्णुरब्रवीत् ॥ ६ ॥

भोजराजन्यवर्धन हृषीकेश विष्णु युधिष्ठिरका ऐसा वचन सुनके बहुत देरतक उत्तम रीतिसे सोचके राजासे बोले ॥ ६ ॥

न ह्यस्य नृपते किंचिदनिष्टमुपलक्षये ।
ऋते पुरुषसिंहस्य पिण्डिकेऽस्यातिकायतः ॥ ७ ॥

हे राजन् ! पुरुषसिंह धनञ्जयकी पिण्डिका (अर्थात् दोनों जानुके नीचे पश्चाद्भागीय मांसल स्थल) के जो कुछ अधिक मोटी हैं– अतिरिक्त दूसरा कोई अशुभ लक्षण नहीं दिखाई देता है ॥ ७ ॥

ताभ्यां स पुरुषव्याघ्रो नित्यमध्वसु युज्यते ।
न ह्यन्यदनुपश्यामि येनासौ दुःखभाग्जयः ॥ ८ ॥

उन दोनों पिण्डिकाके अधिक रहनेसे ही पुरुषश्रेष्ठ धनंजय सदा मार्गमें भ्रमण किया करते हैं; इसके अतिरिक्त जिससे वह दुःखभागी हों; वैसा मैं कोई लक्षण नहीं देखता ॥ ८ ॥

इत्युक्तः स कुरुश्रेष्ठस्तथ्यं कृष्णेन धीमता ।
प्रोवाच वृष्णिशार्दूलमेवमेतादिति प्रभो ॥ ९ ॥

तब कुरुकुलश्रेष्ठ युधिष्ठिर बुद्धिमान् श्रीकृष्णका ऐसा बचन सुनके उन वृष्णि शार्दूलसे बोले, हे प्रभु ! तुमने जो कहा वही सत्य है ॥ ९ ॥

कृष्णा तु द्रौपदी कृष्णं तिर्यक्सासूयमैक्षत ।
प्रतिजग्राह तस्यास्तं प्रणयं चापि केशिहा ।
सख्युः सखा हृषीकेशः साक्षादिव धनंजयः ॥ १० ॥

अनन्तर कृष्णा द्रौपदीने तिरछी नजरसे असूयापूर्वक श्रीकृष्णकी ओर देखा; केशिहा हृषीकेशने द्रौपदीके उस उपालंभको ग्रहण किया; कारण उसकी दृष्टिमें अर्जुनके मित्र हृषीकेश साक्षात् अर्जुनके समान ही थे ॥ १० ॥

तत्र भीमादयस्ते तु कुरवो यादवास्तथा ।
रेमुः श्रुत्वा विचित्रार्था धनंजयकथा विभो ॥ ११ ॥

विभो ! वहांपर जो सब भीम प्रभृति कौरव तथा यादव लोग विद्यमान थे, वे अर्जुनकी उस विचित्र शुभ कथाको सुनके आनन्दित हो गये ॥ ११ ॥

तथा कथयतामेव तेषामर्जुनसंकथाः ।
उपायाद्वचनान्मर्त्यो विजयस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

वे लोग आपसमें अर्जुनके विषयमें कथा कर रहे थे, उसी समय महात्मा अर्जुनकी आज्ञासे एक दूत वहांपर उपस्थित हुआ ॥ १२ ॥

सोऽभिगम्य कुरुश्रेष्ठं नमस्कृत्य च बुद्धिमान् ।
उपायातं नरव्याघ्रमर्जुनं प्रत्यवेदयत् ॥ १३ ॥

उस बुद्धिमान् दूतने कुरुपति युधिष्ठिरके निकटमें जाकर उन्हें प्रणाम करके कहा– पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन पास आ गये हैं ॥ १३ ॥

तच्छ्रुत्वा नृपतिस्तस्य हर्षबाष्पाकुलेक्षणः ।
प्रियाख्याननिमित्तं वै ददौ बहु धनं तदा ॥ १४ ॥

राजा युधिष्ठिरने मनुष्यके उस शुभ वचनको सुनके हर्षसे आंसूभरे नयन होकर, वह प्रिय वृत्तान्त निवेदन करनेके निमित्त उसको बहुतसा धन दिया ॥ १४ ॥

ततो द्वितीये दिवसे महाञ्शब्दो व्यवर्धत ।
आयाति पुरुषव्याघ्रे पाण्डवानां धुरंधरे ॥ १५ ॥

अनन्तर दूसरे दिन पाण्डव--धुरन्धर पुरुषश्रेष्ठ धनञ्जयके आनेके समय महान् शब्द प्रकट होने लगा ॥ १५ ॥

ततो रेणुः समुद्भूतो विबभौ तस्य वाजिनः ।
अभितो वर्तमानस्य यथोच्चैःश्रवसस्तथा ॥ १६ ॥

अनन्तर उच्चैः-श्रवाकी भांति वेगवान् और पासही आये हुए उस घोडोंके पांवसे उडी हुई धूल शोभायमान हो रही थी ॥ १६ ॥

तत्र हर्षकला वाचो नराणां शुश्रुवेऽर्जुनः ।
दिष्ट्यासि पार्थ कुशली धन्यो राजा युधिष्ठिरः ॥ १७ ॥

वहां अर्जुन लोगोंका ऐसा हर्षयुक्त वचन सुनने लगे, कि- हे पार्थ ! तुम सौभाग्यसे ही कुशलपूर्वक लौटे हो; राजा युधिष्ठिर धन्य है ॥ १७ ॥

कोऽन्यो हि पृथिवीं कृत्स्नामवजित्य सपार्थिवाम् ।
चारयित्वा हयश्रेष्ठमुपायायादृतेऽर्जुनम् ॥ १८ ॥

अर्जुनके अतिरिक्त दूसरा कौन ऐसा वीर है, जो युद्धमें राजाओंको जीतकर समुद्रपर्यंत सारी पृथ्वीभरमें अपने श्रेष्ठ घोडेको घुमाकर उसके साथ फिर लौट आवे ॥ १८ ॥

ये व्यतीता महात्मानो राजानः सगरादयः ।
तेषामपीदृशं कर्म न किंचिदनुशुश्रुम ॥ १९ ॥

पूर्वकालमें सगर प्रभृति जो सब महात्मा राजा हो गये, उनका भी हम लोगोंने ऐसा अत्यन्त कठिन कर्म नहीं सुना था ॥ १९ ॥

नैतदन्ये करिष्यन्ति भविष्याः पृथिवीक्षितः ।
यत्त्वं कुरुकुलश्रेष्ठ दुष्करं कृतवानिह ॥ २० ॥

हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! तुमने जो यहां दुष्कर पराक्रम कर दिखाया है, हम लोगोंको बोध होता है, वैसा कर्म भविष्यमें दूसरे राजा लोग नहीं कर सकेंगे ॥ २० ॥

इत्येवं वदतां तेषां नृणां श्रुतिसुखा गिरः ।
शृण्वन्विवेश धर्मात्मा फल्गुनो यज्ञसंस्तरम् ॥ २१ ॥

धर्मात्मा अर्जुनने उन लोगोंकी ऐसी श्रवण सुखकर बातें सुनते हुए यज्ञमंडपमें प्रवेश किया ॥ २१ ॥

ततो राजा सहामात्यः कृष्णश्च यदुनन्दनः ।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य ते तं प्रत्युद्ययुस्तदा ॥ २२ ॥

तब मन्त्रियोंके सहित राजा युधिष्ठिर और यदुनन्दन श्रीकृष्ण धृतराष्ट्रको आगे करके उनका सत्कार करनेके लिये गये ॥ २२ ॥

सोऽभिवाद्य पितुः पादौ धर्मराजस्य धीमतः ।
भीमादींश्चापि संपूज्य पर्यष्वजत केशवम् ॥ २३ ॥

धनञ्जयने पिता धृतराष्ट्र और बुद्धिमान् धर्मराजके चरणोंमें प्रणाम करके, भीम प्रभृतिकी पूजा कर केशवको आलिङ्गन किया ॥ २३ ॥

तैः समेत्यार्चितस्तान्स प्रत्यर्च्य च यथाविधि ।
विशश्रामाथ धर्मात्मा तीरं लब्ध्वेव पारगः ॥ २४ ॥

उन सब लोगोंने मिलकर अर्जुनका स्वागत और सत्कार किया; अर्जुनने भी उनका यथाविधि आदरपूर्वक पूजन किया । फिर समुद्रके तटको प्राप्त करनेवाले पारगामी पुरुषकी भांति वे विश्राम करने लगे ॥ २४ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु स राजा बभ्रुवाहनः ।
मातृभ्यां सहितो धीमान्कुरूनभ्याजगाम ह ॥ २५ ॥

इस ही समय धीमान् राजा बभ्रुवाहन अपनी दोनों माताओंके सहित कुरुगणके निकट उपस्थित हुआ ॥ २५ ॥

स समेत्य कुरून्सर्वान्सर्वैस्तैरभिनन्दितः ।
प्रविवेश पितामह्याः कुन्त्या भवनमुत्तमम् ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥ २४६१ ॥

वहां पहुंचकर सभी कुरुओंको मिलकर उनको प्रणाम करके स्वयं भी उनके द्वारा आनन्दित हुआ । फिर उसने अपनी पितामही कुन्तीके उत्तम गृहमें प्रवेश किया ॥ २६ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें नवासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८९ ॥ २४६१ ॥

: ९० :

वैशम्पायन उवाच—

स प्रविश्य यथान्यायं पाण्डवानां निवेशनम् ।
पितामहीमभ्यवदत्साम्ना परमवल्गुना ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— महाबाहु बभ्रुवाहनने पाण्डवोंके उत्तम शोभायमान गृहमें यथोचित रीतिसे प्रवेश करके शान्तभावसे अत्यंत मधुर वचन बोलकर अपनी पितामहको प्रणाम किया ॥ १ ॥

तथा चित्राङ्गदा देवी कौरव्यस्यात्मजापि च ।
पृथां कृष्णां च सहिते विनयेनाभिजग्मतुः ।
सुभद्रां च यथान्यायं याश्चान्याः कुरुयोषितः ॥ २ ॥

अनन्तर चित्राङ्गदा देवी तथा कौरव्यनागपुत्री उलूपीने भी दोनोंने एक साथ ही विनयपूर्वक कुन्ती और कृष्णा द्रौपदीको प्रणाम किया। फिर सुभद्रा और अन्यान्य कुरुस्त्रियोंको न्यायके अनुसार प्रणाम किया ॥ २ ॥

ददौ कुन्ती ततस्ताभ्यां रत्नानि विविधानि च ।
द्रौपदी च सुभद्रा च याश्चाप्यन्या ददुः स्त्रियः ॥ ३ ॥

अनन्तर कुन्तीने उन दोनोंको विविध प्रकारके रत्न दिये। द्रौपदी, सुभद्रा तथा अन्यान्य कुरुस्त्रियोंने भी उन्हें विविध प्रकारकी भेंट दी ॥ ३ ॥

ऊषतुस्तत्र ते देव्यौ महार्हशयनासने ।
सुपूजिते स्वयं कुन्त्या पार्थस्य प्रियकाम्यया ॥ ४ ॥

अनन्तर वे दोनों देवियां महामूल्यवान् शय्या तथा आसनोंपर बैठीं। पार्थके हितकी कामनासे कुन्तीने स्वयं उनका उत्तम रीतिसे आदर किया ॥ ४ ॥

स च राजा महावीर्यः पूजितो बभ्रुवाहनः ।
धृतराष्ट्रं महीपालमुपतस्थे यथाविधि ॥ ५ ॥

इधर महावीर्यवान् राजा बभ्रुवाहनने कुरुवृद्धजनोंसे सम्मानित होकर पृथ्वीपति धृतराष्ट्रकी विधिपूर्वक पूजा की ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरं च राजानं भीमादींश्चापि पाण्डवान् ।
उपगम्य महातेजा विनयेनाभ्यवादयत् ॥ ६ ॥

फिर राजा युधिष्ठिर और भीमादि सभी पाण्डवोंके निकट जाके महातेजस्वी राजाने उन्हें विनयपूर्वक प्रणाम किया ॥ ६ ॥

स तैः प्रेम्णा परिष्वक्तः पूजितश्च यथाविधि ।
धनं चास्मै ददुर्भूरि प्रीयमाणा महारथाः ॥ ७ ॥

वह पाण्डवोंसे प्रेमके सहित आलिङ्गित तथा यथोचित सम्मानित हुआ; और महारथी पाण्डवोंने उसपर परम प्रसन्न होके उसे बहुत धन दिया ॥ ७ ॥

तथैव स महीपालः कृष्णं चक्रगदाधरम् ।
प्रद्युम्न इव गोविन्दं विनयेनोपतस्थिवान् ॥ ८ ॥

अनन्तर पृथ्वीपति बभ्रुवाहन प्रद्युम्नकी भांति चक्र तथा गदाधारी श्रीकृष्णकी सेवामें विनयपूर्वक उपस्थित हुआ ॥ ८ ॥

तस्मै कृष्णो ददौ राज्ञे महार्हमभिपूजितम्।
रथं हेमपरिष्कारं दिव्याश्वयुजमुत्तमम् ॥ ९ ॥

श्रीकृष्णने उस राजा बभ्रुवाहनको दिव्य घोडोंसे युक्त सुवर्णविभूषित, अत्यंत प्रशंसित, शोभायमान उत्तम और बहुमूल्य रथ प्रदान किया ॥ ९ ॥

धर्मराजश्च भीमश्च यमजौ फल्गुनस्तथा।
पृथक्पृथगतीवैनं मानार्हं समपूजयन् ॥ १० ॥

धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन, नकुल, सहदेव और अर्जुन इन्होंने भी पृथक् रीतिसे उसे सम्मानित करते हुए बहुतसा धन दिया ॥ १० ॥

ततस्तृतीये दिवसे सत्यवत्याः सुतो मुनिः।
युधिष्ठिरं समभ्येत्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ॥ ११ ॥

तिसके अनन्तर तीसरे दिन महामुनि वाग्मी सत्यवतीपुत्र व्यास युधिष्ठिरके पास आके उनसे बोले ॥ ११ ॥

अद्य प्रभृति कौन्तेय यजस्व समयो हि ते।
मुहूर्तो यज्ञियः प्राप्तश्चोदयन्ति च याजकाः ॥ १२ ॥

हे कौन्तेय! आजसे तुम यज्ञ आरम्भ करो; तुम्हारे यज्ञ करनेका शुभ मुहूर्त उपस्थित होनेसे यज्ञ करानेवाले पुरुष तुम्हें यज्ञ करनेके लिये बुला रहे हैं ॥ १२ ॥

अहीनो नाम राजेन्द्र क्रतुस्तेऽयं विकल्पवान्।
बहुत्वात्काञ्चनस्यास्य ख्यातो बहुसुवर्णकः ॥ १३ ॥

हे राजेन्द्र! तुम्हारा यह यज्ञ पूरी रीतिसे सिद्ध होगा, इसलिये अहीन करके कहा जायगा; बहुतसा सुवर्ण सञ्चित होनेसे तुम्हारा यह यज्ञ बहु सुवर्णक कहके विख्यात होगा ॥ १३ ॥

एवमेव महाराज दक्षिणां त्रिगुणां कुरु।
त्रित्वं व्रजतु ते राजन्ब्राह्मणा ह्यत्र कारणम् ॥ १४ ॥

हे महाराज! यज्ञके कारण ब्राह्मण ही हैं; इसलिये उन्हें तिगुनी दक्षिणा देना। ऐसा करनेसे तुम्हारा यह एक ही यज्ञ तीन यज्ञोंके समान होगा ॥ १४ ॥

त्रीनश्वमेधानत्र त्वं संप्राप्य बहुदक्षिणान्।
ज्ञातिवध्याकृतं पापं प्रहास्यसि नराधिप ॥ १५ ॥

नरनाथ! तुम इस एकही यज्ञसे बहुतसी दक्षिणावाले तीन अश्वमेध यज्ञोंका फल पाके स्वजन-बधजनित पापसे मुक्त होगे ॥ १५ ॥

पवित्रं परमं ह्येतत्पावनानां च पावनम्।
यदश्वमेधावभृथं प्राप्स्यसे कुरुनन्दन ॥ १६ ॥

हे कुरुनन्दन! तुम जो अश्वमेध यज्ञका अवभृथ स्नान लाभ करोगे, वह परम पवित्र शुद्ध और पावन है ॥ १६ ॥

इत्युक्तः स तु तेजस्वी व्यासेनामिततेजसा।
दीक्षां विवेश धर्मात्मा वाजिमेधाप्तये तदा।
नराधिपः प्रायजत वाजिमेधं महाक्रतुम् ॥ १७ ॥

अनन्तर तेजस्वी धर्मात्मा राजा धर्मराजने अमित तेजस्वी व्यासदेवका ऐसा वचन सुनके अश्वमेध यज्ञकी सिद्धिके निमित्त दीक्षा ग्रहण की; और उन नरेशने अश्वमेध महायज्ञका अनुष्ठान प्रारंभ किया ॥ १७ ॥

तत्र वेदविदो राजंश्चक्रुः कर्माणि याजकाः।
परिक्रमन्तः शास्त्रज्ञा विधिवत्साधुशिक्षिताः ॥ १८ ॥

हे राजन्! उस यज्ञमें वेद जाननेवाले सर्वज्ञ शास्त्रज्ञ याजकवृन्द परिक्रमा करते हुए उत्तम शिक्षा तथा विधिके अनुसार सब कार्य करने लगे ॥ १८ ॥

न तेषां स्खलितं तत्र नासीदपहुतं तथा।
क्रमयुक्तं च युक्तं च चक्रुस्तत्र द्विजर्षभाः ॥ १९ ॥

उन लोगोंके कार्य किसी अंशमें स्खलित तथा अधुरे नहीं हुए; वरन उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने रीति तथा योग्यताके अनुसार क्रमसे सर्व कार्य पूरे किये ॥ १९ ॥

कृत्वा प्रवर्ग्यं धर्मज्ञा यथावद्द्विजसत्तमाः।
चक्रुस्ते विधिवद्राजंस्तथैवाभिषवं द्विजाः ॥ २० ॥

हे राजन्! उन धर्मज्ञ ब्राह्मण श्रेष्ठोंने प्रवर्ग्य अर्थात् अश्वमेधविहित धर्माख्य समस्त कर्मको यथोचित्त रीतिसे करके विधिपूर्वक सोमवल्लीका रस निकाला ॥ २० ॥

अभिषूय ततो राजन्सोमं सोमपसत्तमाः।
सवनान्यानुपूर्व्येण चक्रुः शास्त्रानुसारिणः ॥ २१ ॥

महाराज! सोम पीनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मण लोगोंने शास्त्रके अनुसार उस सोमलतासे रस बाहिर करते हुए आनुपूर्विक सवन कर्म किये ॥ २१ ॥

न तत्र कृपणः कश्चिन्न दरिद्रो बभूव ह।
क्षुधितो दुःखितो वापि प्राकृतो वापि मानवः ॥ २२ ॥

उस यज्ञमें जितने मनुष्य विद्यमान थे, उनके बीच कोई भी कृपण, दरिद्र, भूखा, दुःखी वा प्राकृत नहीं रह गया था ॥ २२ ॥

भोजनं भोजनार्थिभ्यो दापयामास नित्यदा ।
भीमसेनो महातेजाः सततं राजशासनात् ॥ २३ ॥

महातेजस्वी भीमसेन राजाकी आज्ञानुसार सदा भोजनार्थी पुरुषोंको भोज्य वस्तु प्रदान करनेका कार्य करते रहे थे ॥ २३ ॥

संस्तरे कुशलाश्चापि सर्वकर्माणि याजकाः ।
दिवसे दिवसे चक्रुर्यथाशास्त्रार्थचक्षुषः ॥ २४ ॥

संस्तर अर्थात् इष्टका सञ्चलनाख्य स्थण्डिल-रचनामें निपुण याजकगण प्रतिदिन शास्त्र-दृष्टिके अनुसार सब कार्य सम्पन्न किया करते थे ॥ २४ ॥

नाषडङ्गविदत्रासीत्सदस्यस्तस्य धीमतः ।
नाव्रतो नानुपाध्यायो न च वादाक्षमो द्विजः ॥ २५ ॥

बुद्धिमान् धर्मराजके यज्ञमें छहों अङ्गोंमें अनभिज्ञ, व्रतविहीन, अध्यापन कार्यमें अकुशल और वादविवादमें अविद्वान् ऐसा कोई भी सदस्य नहीं था ॥ २५ ॥

ततो यूपोच्छ्रये प्राप्ते षड्बैल्वान्भरतर्षभ ।
खादिरान्बिल्वसमितांस्तावतः सर्ववर्णिनः ॥ २६ ॥

हे भरतर्षभ ! अनन्तर यूपकी स्थापनाका समय उपस्थित होनेपर छः बेलके, छः खदिरके, छः पलाशके भी ॥ २६ ॥

देवदारुमयौ द्वौ तु यूपौ कुरुपतेः क्रतौ ।
श्लेष्मातकमयं चैकं याजकाः समकारयन ॥ २७ ॥

दो देवदारूके और एक श्लेष्मातकका इस प्रकार याजकोंने कुरुराज युधिष्ठिरके यज्ञमें यूप खडे किये ॥ २७ ॥

शोभार्थं चापरान्यूपान्काञ्चनान्पुरुषर्षभ ।
स भीमः कारयामास धर्मराजस्य शासनात् ॥ २८ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! फिर भीमसेनने धर्मराजकी आज्ञानुसार यज्ञकी शोभाके लिये सुवर्णके बहुतसे यूप निर्माण कराये ॥ २८ ॥

ते व्यराजन्त राजर्षे वासोभिरुपशोभिताः ।
नरेन्द्राभिगता देवान्यथा सप्तर्षयो दिवि ॥ २९ ॥

हे राजर्षि ! सुरलोकमें सप्तर्षियोंसे घिरे हुए महेन्द्रके अनुगामी देवताओंकी भांति राजर्षि युधिष्ठिरके वे सुवर्णमय यूप विचित्र वस्त्रोंसे चित्रित होकर अत्यन्त शोभित हुए ॥ २९ ॥

+

इष्टकाः काञ्चनीश्चात्र चयनार्थं कृताभवन् ।
शुशुभे चयनं तत्र दक्षस्येव प्रजापतेः ॥ ३० ॥

उस यज्ञमें यज्ञकी वेदी सुवर्णमय इष्टिकाकी बनाई गई थी, इससे दक्षप्रजापतिकी यज्ञबेदीकी भांति वह बेदी वहां सुशोभित हुई ॥ ३० ॥

चतुश्चित्यः स तस्यासीदष्टादशकरात्मकः ।
स रुक्मपक्षो निचितस्त्रिगुणो गरुडाकृतिः ॥ ३१ ॥

उस यज्ञमें अग्नि रखनेके लिये चार स्थण्डिल बने थे; प्रत्येक अठारह हाथ परिमित थे; प्रत्येक वेदी सुवर्णमय पङ्खसे युक्त, गरुडके समान आकारवाली थी, और वह त्रिकोणाकार थी ॥ ३१ ॥

ततो नियुक्ताः पशवो यथाशास्त्रं मनीषिभिः ।
तं तं देवं समुद्दिश्य पक्षिणः पशवश्च ये ॥ ३२ ॥

अनन्तर मनीषियोंने शास्त्रके विधिके अनुसार पशुओंको नियुक्त किया; भिन्न भिन्न देवताओंके उद्देश्यसे पशु, पक्षी ॥ ३२ ॥

ऋषभाः शास्त्रपठितास्तथा जलचराश्च ये ।
सर्वांस्तानभ्ययुञ्जंस्ते तत्राग्निचयकर्मणि ॥ ३३ ॥

शास्त्रमें कहे हुए वृषभ तथा जलचर जन्तु-- इन सबका उस अग्निचयन कर्ममें उन याजकोंने अभियोग किया ॥ ३३ ॥

यूपेषु नियतं चासीत्पशूनां त्रिशतं तथा ।
अश्वरत्नोत्तरं राज्ञः कौन्तेयस्य महात्मनः ॥ ३४ ॥

महात्मा कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरके यज्ञमें तीन सौ पशु यूपमें बांधे हुए थे; उसमें मुख्य वह अश्वरत्न था ॥ ३४ ॥

स यज्ञः शुशुभे तस्य साक्षाद्देवर्षिसंकुलः ।
गन्धर्वगणसंकीर्णः शोभितोऽप्सरसां गणैः ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिरका वह यज्ञ साक्षात् देवताओं तथा ऋषियोंसे तथा गन्धर्वोंके और अप्सराओंके समुदायोंसे भरकर अत्यन्त शोभित होने लगा ॥ ३५ ॥

स किंपुरुषगीतैश्च किंनरैरुपशोभितः ।
सिद्धविप्रनिवासैश्च समन्तादभिसंवृतः ॥ ३६ ॥

किंपुरुषोंके गीतोंसे तथा किन्नरोंसे उपशोभित वह यज्ञ हुआ था; वह चारों ओरसे सिद्ध और ब्राह्मणोंके निवासस्थानोंसे घिरा हुआ था ॥ ३६ ॥

तस्मिन्सदसि नित्यास्तु व्यासशिष्या द्विजोत्तमाः ।
सर्वशास्त्रप्रणेतारः कुशला यज्ञकर्मसु ॥ ३७ ॥

उस सभामण्डपके बीच सर्वशास्त्रप्रणेता यज्ञसंस्कारमें निपुण द्विजश्रेष्ठ व्यासशिष्य सदा उपस्थित रहते थे ॥ ३७ ॥

नारदश्च बभूवात्र तुम्बुरुश्च महाद्युतिः ।
विश्वावसुश्चित्रसेनस्तथान्ये गीतकोविदाः ॥ ३८ ॥

नारद, महातेजस्वी तुम्बुरु, विश्वावसु, चित्रसेन तथा अन्य संगीतकला कोविद ॥ ३८ ॥

गन्धर्वा गीतकुशला नृत्तेषु च विशारदाः ।
रमयन्ति स्म तान्विप्रान्यज्ञकर्मान्तरेष्वथ ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥ २५०२ ॥

गीत जाननेवाले तथा नृत्यकला कुशल गन्धर्वगण अपनी कलाओंसे उन ब्राह्मणोंको आनन्दित करते थे ॥ ३९ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें नब्बेवां अध्याय समाप्त ॥ ९० ॥ २५०२ ॥

: ९१ :

वैशम्पायन उवाच—

शमयित्वा पशूनन्यान्विधिवद्द्विजसत्तमाः ।
तुरगं तं यथाशास्त्रमालभन्त द्विजातयः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने अन्यान्य पशुओंका विधानपूर्वक शमन करके, उस घोडेका भी शास्त्र विधिके अनुसार आलभन किया ॥ १ ॥

ततः संज्ञाप्य तुरगं विधिवद्याजकर्षभाः ।
उपसंवेशयन्राजंस्ततस्तां द्रुपदात्मजाम् ।
कलाभिस्तिसृभी राजन्यथाविधि मनस्विनीम् ॥ २ ॥

अनन्तर श्रेष्ठ याजकोंने यथारीति घोडेका श्रवण करके उसके पास मन्त्र, द्रव्य और श्रद्धायुक्त मनस्विनी द्रुपदपुत्री द्रौपदीको विधिपूर्वक बैठाया ॥ २ ॥

उद्धृत्य तु वपां तस्य यथाशास्त्रं द्विजर्षभाः ।
श्रपयामासुरव्यग्राः शास्त्रवद्भरतर्षभ ॥ ३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! तिसके अनन्तर ब्राह्मणश्रेष्ठोंने शास्त्रके अनुसार उस घोडेकी वपा निकाल कर सावधानाचित्तसे उसे अग्निमें संस्कार किया ॥ ३ ॥

तं वपाधूमगन्धं तु धर्मराजः सहानुजः ।
उपाजिघ्रद्यथान्यायं सर्वपापापहं तदा ॥ ४ ॥

उस समय धर्मराजने भाइयोंके सहित सर्वपापनाशक उस वपाके धूमयुक्त गन्धको शास्त्रके अनुसार सूंघा ॥ ४ ॥

शिष्टान्यङ्गानि यान्यासंस्तस्याश्वस्य नराधिप ।
तान्यग्नौ जुहुवुर्धीराः समस्ताः षोडशर्त्विजः ॥ ५ ॥

हे नरनाथ ! धीरवर सब सोलह ऋत्विजोंने उस घोडेके अवशिष्ट अङ्गोंको अग्निमें होम कर दिया ॥ ५ ॥

संस्थाप्यैवं तस्य राज्ञस्तं क्रतुं शक्रतेजसः ।
व्यासः सशिष्यो भगवान्वर्धयामास तं नृपम् ॥ ६ ॥

शिष्योंके सहित भगवान् व्यासदेवने इन्द्रसदृश तेजस्वी धर्मराजके उस यज्ञको इस भांति पूरा करके राजा युधिष्ठिरको शुभाशीर्वाद दिया ॥ ६ ॥

ततो युधिष्ठिरः प्रादात्सदस्येभ्यो यथाविधि ।
कोटीसहस्रं निष्काणां व्यासाय तु वसुंधराम् ॥ ७ ॥

अनन्तर राजा युधिष्ठिरने सदस्य ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक एक सहस्र करोड स्वर्णमुद्राएं दक्षिणामें देकर वेदव्यास मुनिको सम्पूर्ण वसुन्धरा प्रदान की ॥ ७ ॥

प्रतिगृह्य धरां राजन्व्यासः सत्यवतीसुतः ।
अब्रवीद्भरतश्रेष्ठं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥ ८ ॥

हे महाराज ! सत्यवतीपुत्र व्यासदेव पृथ्वीदानको ग्रहण करके भरतश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरसे बोले ॥ ८ ॥

पृथिवी भवतस्त्वेषा संन्यस्ता राजसत्तम ।
निष्क्रयो दीयतां मह्यं ब्राह्मणा हि धनार्थिनः ॥ ९ ॥

हे राजसत्तम ! तुम्हारी दी हुई यह पृथ्वी मैं तुम्हें ही अर्पित करता हूं; ब्राह्मण लोग धन पानेसे ही परम सन्तुष्ट होते हैं, इसलिये तुम मुझे इसका मूल्य दो ॥ ९ ॥

युधिष्ठिरस्तु तान्विप्रान्प्रत्युवाच महामनाः ।
भ्रातृभिः सहितो धीमान्मध्ये राज्ञां महात्मनाम् ॥ १० ॥

भाइयोंके सहित महामना बुद्धिमान् युधिष्ठिर महात्मा राजाओंके बीचमें उन ब्राह्मणोंसे बोले ॥ १० ॥

अश्वमेधे महायज्ञे पृथिवी दक्षिणा स्मृता ।
अर्जुनेन जिता सेयमृत्विग्भ्यः प्रापिता मया ॥ ११ ॥

अश्वमेधमें महायज्ञमें पृथ्वीकी दक्षिणा ही विहित है; इस ही लिये मैंने अर्जुनके द्वारा अर्जित यह वसुन्धरा ऋत्विजोंको प्रदान की है ॥ ११ ॥

वनं प्रवेक्ष्ये विप्रेन्द्रा विभजध्वं महीमिमाम् ।
चतुर्धा पृथिवीं कृत्वा चातुर्होत्रप्रमाणतः ॥ १२ ॥

हे विप्रगण ! मैं वनको जाऊंगा । चातुर्होत्र यज्ञके प्रमाणके अनुसार इस पृथ्वीको चार भागोंमें विभक्त करके इसे आपसमें बांट लीजिये ॥ १२ ॥

नाहमादातुमिच्छामि ब्रह्मस्वं मुनिसत्तमाः ।
इदं हि मे मतं नित्यं भ्रातॄणां च ममानघाः ॥ १३ ॥

यह ब्रह्मस्व हुई, मैं फिर इसे लेनेकी इच्छा नहीं करता । हे निष्पाप ! मैंने जो कहा मेरे भाइयोंका भी सदा ऐसा ही अभिप्राय है ॥ १३ ॥

इत्युक्तवति तस्मिंस्ते भ्रातरो द्रौपदी च सा ।
एवमेतदिति प्राहुस्तदभूद्रोमहर्षणम् ॥ १४ ॥

युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर उनके भाइयों और द्रौपदीने कहा, कि महाराजने जो कह दिया, हमारा भी वही अभिप्राय है । उस समय उन लोगोंका ऐसा बचन सुनकर सबके शरीरके रोएं खडे हो गये ॥ १४ ॥

ततोऽन्तरिक्षे वागासीत्साधु साध्विति भारत ।
तथैव द्विजसंघानां शंसतां विबभौ स्वनः ॥ १५ ॥

हे भारत ! तिसके अनन्तर आकाशसे साधुवाद प्रकट हुआ और सभाके बीच पाण्डवोंकी प्रशंसा करते हुए द्विजगणका भी शब्द सुनायी दिया ॥ १५ ॥

द्वैपायनस्तथोक्तस्तु पुनरेव युधिष्ठिरम् ।
उवाच मध्ये विप्राणामिदं संपूजयन्मुनिः ॥ १६ ॥

उनके ऐसा कहनेपर मुनिश्रेष्ठ वेदव्यास ब्राह्मणोंके बीचमें युधिष्ठिरकी प्रशंसा करते हुए फिर बोले ॥ १६ ॥

दत्तैषा भवता मह्यं तां ते प्रतिददाम्यहम् ।
हिरण्यं दीयतामेभ्यो द्विजातिभ्यो धरास्तु ते ॥ १७ ॥

तुमने मुझे यह पृथ्वी दे दी है, अब मैं इसे तुम्हें फिर वापस देता हूं; तुम इन ब्राह्मणोंको सुवर्ण दान करो; यह वसुन्धरा तुम्हारी ही रहे ॥ १७ ॥

ततोऽब्रवीद्वासुदेवो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
यथाह भगवान्व्यासस्तथा तत्कर्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

अनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा, भगवान् वेदव्यासने जैसा कहा है, आपको वैसा ही करना उचित है ॥ १८ ॥

इत्युक्तः स कुरुश्रेष्ठः प्रीतात्मा भ्रातृभिः सह ।
कोटिकोटिकृतां प्रादाद्दक्षिणां त्रिगुणां क्रतोः ॥ १९ ॥

कुरुराज युधिष्ठिर व्यासदेव और श्रीकृष्णचन्द्रका ऐसा वचन सुनके भाइयोंके सहित प्रसन्न हुए और उन्होंने यज्ञके लिये प्रत्येक ब्राह्मणको एक एक करोडकी तिगुणी दक्षिणा दी ॥१९॥

न करिष्यति तल्लोके कश्चिदन्यो नराधिपः ।
यत्कृतं कुरुसिंहेन मरुत्तस्यानुकुर्वता ॥ २० ॥

हे भरतसत्तम ! मरुत्त राजाके अनुकारी कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरने उस समय जो महान् त्याग किया था, इस लोकमें उनके अतिरिक्त कोई भी राजा वैसा कार्य करनेमें समर्थ न होगा ॥२०॥

प्रतिगृह्य तु तद्द्रव्यं कृष्णद्वैपायनः प्रभुः ।
ऋत्विग्भ्यः प्रददौ विद्वांश्चतुर्धा व्यभजंश्च ते ॥ २१ ॥

मुनिसत्तम विद्वान् प्रभु व्यासदेवने युधिष्ठिरके दिये हुए द्रव्यको प्रतिग्रह करके ऋत्विजोंको प्रदान किया, उन लोगोंने चार भाग करके उसे बांट लिया ॥ २१ ॥

पृथिव्या निष्क्रयं दत्त्वा तद्धिरण्यं युधिष्ठिरः ।
धूतपाप्मा जितस्वर्गो मुमुदे भ्रातृभिः सह ॥ २२ ॥

राजा युधिष्ठिर पृथ्वीके मूल्यस्वरूप उस सुवर्णको दान कर भाइयोंके सहित निष्पाप होकर स्वर्ग जय करते हुए अत्यन्त आनन्दित हुए ॥ २२ ॥

ऋत्विजस्तमपर्यन्तं सुवर्णनिचयं तदा ।
व्यभजन्त द्विजातिभ्यो यथोत्साहं यथाबलम् ॥ २३ ॥

उस समय ऋत्विजोंने अपरिसीम आनन्द और उत्साहके सहित ब्राह्मणोंको वह अनंत सुवर्ण बांट दिया ॥ २३ ॥

यज्ञवाटे च यत्किंचिद्धिरण्यमपि भूषणम् ।
तोरणानि च यूपांश्च घटाः पात्रीस्तथेष्टकाः ।
युधिष्ठिराभ्यनुज्ञाताः सर्वं तद्व्यभजन्द्विजाः ॥ २४ ॥

यज्ञशालामें भी जो सब सुवर्ण था सुवर्णमय विभूषण, तोरण, यूप, घट, बर्तन और ईंटें विद्यमान थीं, ब्राह्मणोंने धर्मराजकी आज्ञानुसार उन द्रव्योंको भी बिभाग करके ले लिया ॥ २४ ॥

अनन्तरं ब्राह्मणेभ्यः क्षत्रिया जहिरे वसु ।
तथा विट्शूद्रसंघाश्च तथान्ये म्लेच्छजातयः ।
कालेन महता जहुस्तत्सुवर्णं ततस्ततः ॥ २५ ॥

अनन्तर ब्राह्मणोंके लेने पर जो धन वहां रह गया था उसे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और म्लेच्छजातिके लोग ले गये । इधर पडा हुआ सुवर्ण वे बहुत कालतक ले गये ॥ २५ ॥

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे मुदिता जग्मुरालयान् ।
तर्पिता वसुना तेन धर्मराज्ञा महात्मना ॥ २६ ॥

तब वे सब ब्राह्मण लोग अधिक सन्तुष्ट होके अपने अपने गृहपर गये। महात्मा धर्मराजने धनके द्वारा उनको परितृप्त किया था ॥ २६ ॥

स्वमंशं भगवान्व्यासः कुन्त्यै पादाभिवादनात् ।
प्रददौ तस्य महतो हिरण्यस्य महाद्युतिः ॥ २७ ॥

इधर महातेजस्वी भगवान् व्यासदेवने महान् सुवर्ण राशिमेंसे जो अपना भाग प्राप्त किया था, उसे पादाभिवंदन करके कुन्तीको दे दिया ॥ २७ ॥

श्वशुरात्प्रीतिदायं तं प्राप्य सा प्रीतिमानसा ।
चकार पुण्यं लोके तु सुमहान्तं पृथा तदा ॥ २८ ॥

श्वशुर व्यासदेवके पाससे प्रीतिपूर्वक मिले धनको पाकर कुन्तीने प्रसन्नचित्तसे उस धनके सहारे संसारमें उत्तम महान् पुण्यकर्म किये ॥ २८ ॥

गत्वा त्ववभृथं राजा विपाप्मा भ्रातृभिः सह ।
सभाज्यमानः शुशुभे महेन्द्रो दैवतैरिव ॥ २९ ॥

यज्ञके बाद राजा युधिष्ठिर अवभृथ स्नान करके पापरहित हो अपने भाइयोंसे पूजित होकर, देवताओंसे परिषेवित महेन्द्रकी भांति शोभित हुए ॥ २९ ॥

पाण्डवाश्च महीपालैः समेतैः संवृतास्तदा ।
अशोभन्त महाराज ग्रहास्तारागणैरिव ॥ ३० ॥

हे महाराज ! पाण्डवलोग समस्त राजाओंसे घिरके तारासमूहसे घिरे हुए ग्रहोंकी भांति शोभित होने लगे ॥ ३० ॥

राजभ्योऽपि ततः प्रादाद्रत्नानि विविधानि च ।
गजानश्वानलंकारान्स्त्रियो वस्त्राणि काञ्चनम् ॥ ३१ ॥

अनन्तर युधिष्ठिरने राजाओंको भी विविध रत्न, हाथी, घोडे, आभूषण, स्त्रियां, वस्त्र तथा सुवर्ण प्रदान किया ॥ ३१ ॥

तद्धनौघमपर्यन्तं पार्थः पार्थिवमण्डले ।
विसृजञ्शुशुभे राजा यथा वैश्रवणस्तथा ॥ ३२ ॥

हे राजन् ! उस राजमण्डलोंके बीच अपरिमित धन बांटते समय कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर कुबेरकी भांति शोभित हुए ॥ ३२ ॥

आनाय्य च तथा वीरं राजानं बभ्रुवाहनम् ।
प्रदाय विपुलं वित्तं गृहान्प्रास्थापयत्तदा ॥ ३३ ॥

उसही समय वीर राजा बभ्रुवाहनको अपने समीप बुलाके उसे बहुतसा धन देके बिदा किया ॥ ३३ ॥

दुःशलायाश्च तं पौत्रं बालकं पार्थिवर्षभ ।
स्वराज्ये पितृभिर्गुप्ते प्रीत्या समभिषेचयत् ॥ ३४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! अपनी भगिनी दुःशलाके उस बालकपौत्रको प्रीतिपूर्वक उसके पिताके राज्यपर अभिषिक्त किया ॥ ३४ ॥

राज्ञश्चैवापि तान्सर्वान्सुविभक्तान्सुपूजितान् ।
प्रस्थापयामास वशी कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ ३५ ॥

अनन्तर जितेन्द्रिय कुरुराज युधिष्ठिरने भाईयोंके सहित सावधानचित्तसे उन समागत राजाओंको बहुत धन दिया और उनका समादर करके उनको निज निज स्थानपर जानेकी अनुमति दी ॥ ३५ ॥

एवं बभूव यज्ञः स धर्मराजस्य धीमतः ।
बह्वन्नधनरत्नौघः सुरामैरेयसागरः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरका बहुतसे अन्न, धन, रत्नोंके ढेर और मैरेय-सुराके सागरसे, युक्त वह यज्ञ पूर्ण हुआ ॥ ३६ ॥

सर्पिःपङ्का ह्रदा यत्र बहवश्चान्नपर्वताः ।
रसालाकर्दमाः कुल्या बभूवुर्भरतर्षभ ॥ ३७ ॥

घृतकी कीचडसे परिप्लुत तालाव, अन्नके पर्वत और रससे भरी नदियां उस यज्ञमें शोभित होती थी ॥ ३७ ॥

भक्ष्यषाण्डवरागाणां क्रियतां भुज्यतामिति ।
पशूनां वध्यतां चापि नान्तस्तत्र स्म दृश्यते ॥ ३८ ॥

कहांतक कहे, उस यज्ञमें इतने पाण्डवराज खाद्य अर्थात् पिप्पली सुंठी और शर्करायुक्त मुद्गकी खाद्य सामग्री तथा भोजनकी वस्तु बनी थीं और खाई जाती थीं, कितने पशु वहां बांधे हुए थे, कि उसकी कोई सीमा वहां नहीं दिखायी देती थी ॥ ३८ ॥

मत्तोन्मत्तप्रमुदितं प्रगीतयुवतीजनम् ।
मृदङ्गशङ्खशब्दैश्च मनोरममभूत्तदा ॥ ३९ ॥

उस समय यज्ञमें आये हुए लोग मत्त, उन्मत्त और आनन्दित हो गये थे; युवतियां प्रसन्नचित्तसे गीत गाकर घुमती थीं; और मृदङ्ग तथा शङ्खके शब्दसे परिपूरित होनेसे यज्ञशाला अत्यंत मनोहर हो गयी थी ॥ ३९ ॥

दीयतां भुज्यतां चेति दिवारात्रमवारितम् ।
तं महोत्सवसंकाशमतिहृष्टजनाकुलम् ।
कथयन्ति स्म पुरुषा नानादेशनिवासिनः ॥ ४० ॥

इच्छानुसार दिया जाय, इच्छानुसार भोजन कराया जाय– यह घोषणा दिनरात प्रचलित रहती थी । अत्यंत आनंदित मनुष्योंसे भरे हुए उस यज्ञके महोत्सवकी बात अनेक देशोंसे आये हुए लोक बहुत कालतक करते रहे ॥ ४० ॥

वर्षित्वा धनधाराभिः कामै रत्नैर्धनैस्तथा ।
विपाप्मा भरतश्रेष्ठः कृतार्थः प्राविशत्पुरम् ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥ २५७३ ॥

इधर भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिरने यज्ञमें धनधारा तथा सब प्रकारकी इच्छाओं रत्नों और रसोंकी वर्षा की; फिर पापरहित और कृतार्थ होकर नगरमें प्रवेश किया ॥ ४१ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें इक्यानबेवां अध्याय समाप्त ॥ ९१ ॥ २५७३ ॥

: ९२ :

जनमेजय उवाच—

पितामहस्य मे यज्ञे धर्मपुत्रस्य धीमतः ।
यदाश्चर्यमभूत्किंचित्तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ १ ॥

राजा जनमेजय बोले– मेरे पितामह बुद्धिमान् धर्मपुत्र युधिष्ठिर यज्ञमें कौनसी आश्चर्यकारक घटना हुई थी, उसे आप वर्णन करिये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच —

श्रूयतां राजशार्दूल महदाश्चर्यमुत्तमम् ।
अश्वमेधे महायज्ञे निवृत्ते यदभूद्विभो ॥ २ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– हे राजेन्द्र ! विभो ! अश्वमेध महायज्ञके निवृत्त होनेपर जो उत्तम महान् आश्चर्यजनक घटना हुई थी, उसे आप सुनिये ॥ २ ॥

तर्पितेषु द्विजाग्र्येषु ज्ञातिसंबन्धिबन्धुषु ।
दीनान्धकृपणे चापि तदा भरतसत्तम ॥ ३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! उस यज्ञमें श्रेष्ठ ब्राह्मणों, स्वजनों, बन्धुसम्बन्धी, दीन, अन्ध और दयापात्र लोगोंके तृप्त हो जानेपर ॥ ३ ॥

×

घुष्यमाणे महादाने दिक्षु सर्वासु भारत ।
पतत्सु पुष्पवर्षेषु धर्मराजस्य मूर्धनि ॥ ४ ॥

जब युधिष्ठिरके महादानको चारों ओर सर्वत्र प्रचार हो गया और धर्मराजके सिरपर पुष्पवृष्टि होने लगी ॥ ४ ॥

बिलान्निष्क्रम्य नकुलो रुक्मपार्श्वस्तदानघ ।
वज्राशनिसमं नादममुञ्चत विशां पते ॥ ५ ॥

तब वहां जिसके शरीरका एक भाग सोनेका था ऐसा एक नेवला बिलसे बाहर निकलकर आया । अनघ ! उसने आतेही वज्रसदृश भयंकर शब्द किया ॥ ५ ॥

सकृदुत्सृज्य तं नादं त्रासयानो मृगद्विजान् ।
मानुषं वचनं प्राह धृष्टो बिलशयो महान् ॥ ६ ॥

बिलमें रहनेवाले उस धृष्ट और महान् नेवलेने एक बार वैसा शब्द करके मृग तथा पक्षियोंको भयभीत करते हुए मनुष्य वाणीसे कहा ॥ ६ ॥

सक्तुप्रस्थेन वो नायं यज्ञस्तुल्यो नराधिपाः ।
उञ्छवृत्तेर्वदान्यस्य कुरुक्षेत्रनिवासिनः ॥ ७ ॥

हे नराधिपगण ! आपने जो यह यज्ञ किया है, वह कुरुक्षेत्र निवासी ज्ञानी उदार उञ्छवृत्ति ब्राह्मणके सत्तूप्रस्थ प्रदानके सदृश भी नहीं हुआ ॥ ७ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा नकुलस्य विशां पते ।
विस्मयं परमं जग्मुः सर्वे ते ब्राह्मणर्षभाः ॥ ८ ॥

हे नरनाथ ! सब श्रेष्ठ ब्राह्मण लोग उस नेवलका ऐसा वचन सुनके अत्यन्त बिस्मित हुए ॥ ८ ॥

ततः समेत्य नकुलं पर्यपृच्छन्त ते द्विजाः ।
कुतस्त्वं समनुप्राप्तो यज्ञं साधुसमागमम् ॥ ९ ॥

अनन्तर उन सब ब्राह्मणोंने मिलके उस नेवलसे पूछा; ' तुम कहांसे इस साधुसमागमयुक्त यज्ञमें आये ? ॥ ९ ॥

किं बलं परमं तुभ्यं किं श्रुतं किं परायणम् ।
कथं भवन्तं विद्याम यो नो यज्ञं विगर्हसे ॥ १० ॥

तुम्हारा बल, शास्त्रज्ञान और सहारा कैसा है ? हम लोग किस प्रकारसे तुम्हें जान सकेंगे ? हमारे इस यज्ञकी निन्दा करते हो, वह तुम कौन हो ? ॥ १० ॥

अविलुप्यागमं कृत्स्नं विधिज्ञैर्याजकैः कृतम् ।
यथागमं यथान्यायं कर्तव्यं च यथाकृतम् ॥ ११ ॥

हमने आगमको उलंघन न करके शास्त्र तथा न्यायके अनुसार विविध याजकोंके द्वारा कर्तव्य-कर्मका उत्तम रीतिसे पालन करके इस यज्ञको सम्पन्न किया है ॥ ११ ॥

पूजार्हाः पूजिताश्चात्र विधिवच्छास्त्रचक्षुषा ।
मन्त्रपूतं हुतश्चाग्निर्दत्तं देयममत्सरम् ॥ १२ ॥

इसमें पूजनीय पुरुषोंकी शास्त्रदृष्टिके अनुसार विधिपूर्वक पूजा की गयी है; पवित्र मन्त्रोंके द्वारा अग्निमें आहुति दी गयी है तथा विना मत्सरके इसमें देने योग्य सब वस्तु दान की गई हैं ॥ १२ ॥

तुष्टा द्विजर्षभाश्चात्र दानैर्बहुविधैरपि ।
क्षत्रियाश्च सुयुद्धेन श्राद्धैरपि पितामहाः ॥ १३ ॥

अनेक प्रकारके दानोंसे द्विजातिगण, उत्तम युद्धसे क्षत्रियगण, श्राद्धसे पितामहगण ॥ १३ ॥

पालनेन विशस्तुष्टाः कामैस्तुष्टा वरस्त्रियः ।
अनुक्रोशैस्तथा शूद्रा दानशेषैः पृथग्जनाः ॥ १४ ॥

पालन करनेसे वैश्य, कामनाओंकी पूर्ति उत्तम स्त्रियां, दयाके सहारे शूद्र और दानशेषके द्वारा पृथक् जनगण परितुष्ट हुए हैं ॥ १४ ॥

ज्ञातिसंबन्धिनस्तुष्टाः शौचेन च नृपस्य नः ।
देवा हविर्भिः पुण्यैश्च रक्षणैः शरणागताः ॥ १५ ॥

हमारे राजाकी पवित्रतासे स्वजन और सम्बन्धीगण, पुण्य हविसे देववृन्द और रक्षा करनेसे शरणागत लोग सन्तुष्ट हुए हैं ॥ १५ ॥

यदत्र तथ्यं तद्ब्रूहि सत्यसंध द्विजातिषु ।
यथाश्रुतं यथादृष्टं पृष्टो ब्राह्मणकाम्यया ॥ १६ ॥

सत्य बोलनेवाले ब्राह्मण लोग इच्छापूर्वक तुमसे यह पूंछते हैं, कि इस यज्ञमें तुमने द्विजातियोंका जो यथार्थ कार्य देखा वा सुना है, उसे तुम उनसे कहो ॥ १६ ॥

श्रद्धेयवाक्यः प्राज्ञस्त्वं दिव्यं रूपं बिभर्षि च ।
समागतश्च विप्रैस्त्वं तत्त्वतो वक्तुमर्हसि ॥ १७ ॥

तुम विश्वासके योग्य कहते हो, तुम प्राज्ञ हो, दिव्यस्वरूप धारण करके ब्राह्मणोंके सङ्ग तुम्हारा समागम हुआ है; इसलिये तुम्हें हमारे प्रश्नका उत्तर यथातथ्य देना योग्य है ॥ १७ ॥

इति पृष्टो द्विजैस्तैः स प्रहस्य नकुलोऽब्रवीत् ।
नैषानृता मया वाणी प्रोक्ता दर्पेण वा द्विजाः ॥ १८ ॥

नेवला उन द्विजोंके ऐसा पूछनेपर हंसके बोला– हे द्विजगण ! मैंने आपसे मिथ्या वा अभिमानयुक्त कोई वचन नहीं कहा ॥ १८ ॥

यन्मयोक्तमिदं किंचिद्युष्माभिश्चाप्युपश्रुतम् ।
सक्तुप्रस्थेन वो नायं यज्ञस्तुल्यो नराधिपाः ।
उञ्छवृत्तेर्वदान्यस्य कुरुक्षेत्रनिवासिनः ॥ १९ ॥

हे राजाओ ! मैंने जो कहा, कि "तुम्हारा यह यज्ञ उञ्छवृत्तिवाले कुरुक्षेत्र निवासी उदार ब्राह्मणके द्वारा किये गये सत्तूप्रस्थके तुल्य भी नहीं हुआ" उसे तुम लोगोंने भी सुना है ॥ १९ ॥

इत्यवश्यं मयैतद्वो वक्तव्यं द्विजपुंगवाः ।
श्रृणुताव्यग्रमनसः शंसतो मे द्विजर्षभाः ॥ २० ॥

हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! इसका कारण मैं आपको अवश्य बताता हूं; मैं जो कुछ कहता हूं, उसे आप सावधानीसे सुनिये ॥ २० ॥

अनुभूतं च दृष्टं च यन्मयाद्भुतमुत्तमम् ।
उञ्छवृत्तेर्यथावृत्तं कुरुक्षेत्रनिवासिनः ॥ २१ ॥

मैंने जिस प्रकार उस कुरुक्षेत्रनिवासी उञ्छवृत्ति उदार दानी ब्राह्मणका सत्तूप्रस्थ यज्ञ यथा-योग्य रीतिसे देखा तथा अनुभव किया है, वह अत्यन्त ही उत्तम और अद्भुत है ॥२१॥

स्वर्गं येन द्विजः प्राप्तः सभार्यः ससुतस्नुषः ।
यथा चार्धं शरीरस्य ममेदं काञ्चनीकृतम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥ २५६५ ॥

उस दानके सहारे उस ब्राह्मणोंने पत्नी, पुत्र और पुत्रवधूके सहित स्वर्गको प्राप्त किया है और वहां मेरा आधा शरीर सुवर्णमय हुआ है, वह मुझे अवश्य कहना योग्य है, सुनिये ॥२२॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें बानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९२ ॥ २५६५ ॥

: ९३ :

नकुल उवाच—

हन्त वो वर्तयिष्यामि दानस्य परमं फलम् ।
न्यायलब्धस्य सूक्ष्मस्य विप्रदत्तस्य यद्द्विजाः ॥ १ ॥

नेवला बोला– हे विप्रगण ! ब्राह्मणके दिये हुए न्यायसे प्राप्त उस थोडेसे अन्नके दानका जो उत्तम श्रेष्ठ फल दिखाई दिया, उसे मैं तुम लोगोंसे कहता हूं ॥ १ ॥

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे धर्मज्ञैर्बहुभिर्वृते ।
उञ्छवृत्तिर्द्विजः कश्चित्कापोतिरभवत्पुरा ॥ २ ॥

पहलेकी बात है, अनेक धर्मज्ञ महात्माओंसे परिवृत्त उस धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें कोई उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मण कबूतरके समान अन्नका दाना लाकर जीवन-निर्वाह करके निवास करता था ॥२॥

सभार्यः सह पुत्रेण सस्नुषस्तपसि स्थितः ।
वधूचतुर्थो वृद्धः स धर्मात्मा नियतेन्द्रियः ॥ ३ ॥

वह धर्मात्मा जितेन्द्रिय सदाचारयुक्त वृन्द द्विजवर अपनी चौथी भार्या, पुत्र और पुत्रवधूके सहित रहकर सदा तपस्यामें रत रहता था ॥ ३ ॥

षष्ठे काले तदा विप्रो भुङ्क्ते तैः सह सुव्रतः ।
षष्ठे काले कदाचिच्च तस्याहारो न विद्यते ।
भुङ्क्तेऽन्यस्मिन्कदाचित्स षष्ठे काले द्विजोत्तमः ॥ ४ ॥

और वह उत्तम व्रतवाले ब्राह्मण छठें कालमें अर्थात् तीन तीन दिनपरही उनके सङ्ग भोजन करता था। यदि किसी दिन उस समय उसके भोजनकी वस्तु सञ्चित न होनेपर, वह ब्राह्मणश्रेष्ठ दूसरा छठा काल आनेपर ही भोजन करता था ॥ ४ ॥

कपोतधर्मिणस्तस्य दुर्भिक्षे सति दारुणे ।
नाविद्यत तदा विप्राः संचयस्तान्निबोधत ।
क्षीणौषधिसमावायो द्रव्यहीनोऽभवत्तदा ॥ ५ ॥

हे विप्रगण ! एक समय वहां दारुण दुर्भिक्ष उपस्थित हुआ; उस समय उस कपोतव्रतधारी ब्राह्मणके पास अन्नका संचय कुछ भी नहीं था, खेतोंका अन्न भी सूख गया था; इसलिये वह द्रव्यहीन हुआ था ॥ ५ ॥

काले कालेऽस्य संप्राप्ते नैव विद्येत भोजनम् ।
क्षुधापरिगताः सर्वे प्रातिष्ठन्त तदा तु ते ॥ ६ ॥

बारं बार छठा काल आता, परंतु उन्हें भोजन नहीं मिलता था; तब वे सब भूखे ही रह जाते थे ॥ ६ ॥

उञ्छंस्तदा शुक्लपक्षे मध्यं तपति भास्करे ।
उष्णार्तश्च क्षुधार्तश्च स विप्रस्तपसि स्थितः ।
उञ्छमप्राप्तवानेव सार्धं परिजनेन ह ॥ ७ ॥

तब वह तपस्वी विप्र शुक्लपक्षमें प्रचण्ड सूर्यकी धूपसे युक्त मध्याह्न समयमें उञ्छवृत्तिके सहारे शस्यका दाना इकट्ठा करता हुआ तृष्णार्त तथा क्षुधार्त हुआ। वह उञ्छ अर्थात् शस्यका दाना न पानेसे परिजनोंके सहित भूखे ही रहा ॥ ७ ॥

स तथैव क्षुधाविष्टः स्पृष्ट्वा तोयं यथाविधि ।
क्षपयामास तं कालं कृच्छ्रप्राणो द्विजोत्तमः ॥ ८ ॥

उसी तरह भूखसे पीडित रहकर ही उसने विधिपूर्वक जलका आचमन किया और वह समय विताया । वह ब्राह्मणश्रेष्ठ अत्यंत कष्टसे प्राणोंकी रक्षा करता था ॥ ८ ॥

अथ षष्ठे गते काले यवप्रस्थमुपार्जयत् ।
यवप्रस्थं च ते सक्तूनकुर्वन्त तपस्विनः ॥ ९ ॥

अनन्तर एक दिन फिर छठा काल आनेतक उसने एक सेर जौ प्राप्त किया; उन तपस्वी ब्राह्मणोंने उस जौका सत्तू तैयार किया ॥ ९ ॥

कृतजप्याह्निकास्ते तु हुत्वा वह्निं यथाविधि ।
कुडवं कुडवं सर्वे व्यभजन्त तपस्विनः ॥ १० ॥

अनन्तर उन्होंने जप, सन्ध्या, सत्कर्मोंको तथा अग्निमें बिधिपूर्बक आहुति दी; फिर उन सब तपस्वी लोगोंने एक कुडब परिमाणसे सत्तू बांटकर भोजन करनेके लिये तैय्यार हुए ॥ १० ॥

अथागच्छद्द्विजः कश्चिदतिथिर्भुञ्जतां तदा ।
ते तं दृष्ट्वातिथिं तत्र प्रहृष्टमनसोऽभवन् ॥ ११ ॥

वे भोजनके लिये बैठ ही थे इतनेमें कोई ब्राह्मण अतिथि वहां आया; उस अतिथिको वहां आया देख वे प्रसन्नचित्त हुए ॥ ११ ॥

तेऽभिवाद्य सुखप्रश्नं पृष्ट्वा तमतिथिं तदा ।
विशुद्धमनसो दान्ताः श्रद्धादमसमन्विताः ॥ १२ ॥

उस अतिथिको प्रणाम करके उन्होंने उसका कुशल पूछा; ब्राह्मण परिवारके सब लोग पवित्र चित्तवाले, जितेन्द्रिय, श्रद्धा, दम और शम गुणसे युक्त ॥ १२ ॥

अनसूयवो गतक्रोधाः साधवो गतमत्सराः ।
त्यक्तमाना जितक्रोधा धर्मज्ञा द्विजसत्तमाः ॥ १३ ॥

वे असूयारहित, क्रोधहीन, मत्सररहित थे; अभिमान और क्रोधको उन धर्मज्ञ ब्राह्मण श्रेष्ठोंने सर्वथा त्याग दिया था ॥ १३ ॥

सब्रह्मचर्यं स्वं गोत्रं समाख्याय परस्परम् ।
कुटीं प्रवेशयामासुः क्षुधार्तमतिथिं तदा ॥ १४ ॥

वे लोग परस्परमें अपने ब्रह्मचर्य और गोत्रादिका परिचय देते हुए उस क्षुधार्त अतिथिको कुटीके बीच ले गये ॥ १४ ॥

इदमर्घ्यं च पाद्यं च बृसी चेयं तवानघ ।
शुचयः सक्तवश्चेमे नियमोपार्जिताः प्रभो ।
प्रतिगृह्णीष्व भद्रं ते मया दत्ता द्विजोत्तम ॥ १५ ॥

फिर उस ब्राह्मणने कहा– हे अनघ ! प्रभो ! तुम्हारे लिये ये अर्घ्य पाद्य, और आसन तैय्यार हैं; तथा नियमसे उपार्जित ये पवित्र सत्तू तुम्हारी सेवामें रखे हैं । हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! मैंने प्रसन्नचित्तसे इन्हें आपको दिया है; आप कृपा करके यह सब स्वीकार करिये ॥१५॥

इत्युक्तः प्रतिगृह्याथ सक्तूनां कुडवं द्विजः ।
भक्षयामास राजेन्द्र न च तुष्टिं जगाम सः ॥ १६ ॥

हे राजेन्द्र ! द्विजवर तपस्वी ब्राह्मणका ऐसा वचन सुनके अतिथिने कुडबपरिमित सत्तू प्रतिग्रहपूर्वक लेकर खा लिया, परंतु उतनेसे वह तुष्ट न हुआ ॥ १६ ॥

स उञ्छवृत्तिः तं प्रेक्ष्य क्षुधापरिगतं द्विजम् ।
आहारं चिन्तयामास कथं तुष्टो भवेदिति ॥ १७ ॥

वह उञ्छवृत्तिवाला द्विज ब्राह्मण अतिथिको अभी भी क्षुधार्त देखकर, उसकी तुष्टिके निमित्त फिर भोजनका चिन्तन करने लगा, कि यह कैसे संतुष्ट हो ? ॥ १७ ॥

तस्य भार्याब्रवीद्राजन्मद्भागो दीयतामिति ।
गच्छत्वेष यथाकामं संतुष्टो द्विजसत्तमः ॥ १८ ॥

हे राजन् ! तब उसकी भार्या उससे बोली– ' आप मेरा यह हिस्सा अतिथिको दे दीजिये, तो ये द्विजसत्तम इच्छानुसार परितुष्ट होके यहांसे जायेंगे ' ॥ १८ ॥

इति ब्रुवन्तीं तां साध्वीं धर्मात्मा द्विजर्षभः ।
क्षुधापरिगतां ज्ञात्वा सक्तूंस्तान्नाभ्यनन्दत ॥ १९ ॥

उस धर्मात्मा द्विजसत्तमने अपनी साध्वी भार्याकी इतनी बात सुनके उसे भूखी जानकर उसका सत्तू लेना नहीं चाहा ॥ १९ ॥

जानन्वृद्धां क्षुधार्तां च श्रान्तां ग्लानां तपस्विनीम् ।
त्वगस्थिभूतां वेपन्तीं ततो भार्यामुवाच ताम् ॥ २० ॥

उस समय उस विद्वान् विप्रवरने निज अनुमानके अनुसार जाना कि यह मेरी बूढी तपास्विनी स्त्री क्षुधासे पीडित, अत्यंत दुर्बल, परिश्रान्ता, चर्म और अस्थिभूता होकर यह कांप रही है । उसे देखकर ब्राह्मणने पत्नीसे कहा ॥ २० ॥

अपि कीटपतंगानां मृगाणां चैव शोभने ।
स्त्रियो रक्ष्याश्च पोष्याश्च नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ॥ २१ ॥

हे शोभने ! कीट, पतङ्ग और मृग जाति भी अपनी अपनी स्त्रियोंकी रक्षा तथा पोषण किया करते हैं; इसलिये तुम्हें ऐसा कहना उचित नहीं है ॥ २१ ॥

अनुकम्पितो नरो नार्या पुष्टो रक्षित एव च ।
प्रपतेद्यशसो दीप्तान्न च लोकानवाप्नुयात् ॥ २२ ॥

देखो, जो पुरुष स्त्रीके द्वारा अपना पोषण तथा रक्षण करता है, वह दयाका पात्र है । वह उज्जल यशसे भ्रष्ट होकर उसे श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति नहीं होती ॥ २२ ॥

इत्युक्ता सा ततः प्राह धर्मार्थौ नौ समौ द्विज ।
सक्तुप्रस्थचतुर्भागं गृहाणेमं प्रसीद मे ॥ २३ ॥

वह तपस्वीनी ब्राह्मणी पतिका ऐसा वचन सुनके बोली– हे द्विज ! हम दोनोंका धर्म और अर्थ समान ही है, इसलिये आप मुझपर प्रसन्न होके यह चौथा भाग सत्तूप्रस्थ प्रतिग्रह करिये ॥ २३ ॥

सत्यं रतिश्च धर्मश्च स्वर्गश्च गुणनिर्जितः ।
स्त्रीणां पतिसमाधीनं काङ्क्षितं च द्विजोत्तम ॥ २४ ॥

हे द्विजसत्तम ! सत्य, रति, धर्म और स्वर्ग ये सब गुणोंके सहारे निर्जित होते हैं, स्त्रियोंको पतिसाधन ही सदा अभिलषित है ॥ २४ ॥

ऋतुर्मातुः पितुर्बीजं दैवतं परमं पतिः ।
भर्तुः प्रसादात्स्त्रीणां वै रतिः पुत्रफलं तथा ॥ २५ ॥

माताका रज और पिताका बीर्य इस दोनोंके मिलनेसे वंश चलता है; और स्त्रीके लिये पति परम देवता है। पतिके प्रसन्न रहनेसे स्त्रियोंको रति तथा पुत्ररूपी फलकी प्राप्ति होती है ॥ २५ ॥

पालनाद्धि पतिस्त्वं मे भर्तासि भरणान्मम ।
पुत्रप्रदानाद्वरदस्तस्मात्सक्तून्गृहाण मे ॥ २६ ॥

आप पालन करनेसे मेरे पति और भरण–पोषण करनेसे मेरे भर्ता हैं । पुत्र प्रदान करनेसे बरद हुए हैं; इसलिये आप मेरा सत्तुग्रहण करिये ॥ २६ ॥

जरापरिगतो वृद्धः क्षुधार्तो दुर्बलो भृशम् ।
उपवासपरिश्रान्तो यदा त्वमपि कर्शितः ॥ २७ ॥

आप भी जरायुक्त, वृद्ध क्षुधार्त, अत्यन्त दुर्बल और उपवाससे परिश्रान्त होकर अत्यन्त कृश हुए हैं ॥ २७ ॥

इत्युक्तः स तया सक्तून्प्रगृह्येदं वचोऽब्रवीत् ।
द्विज सक्तूनिमान्भूयः प्रतिगृह्णीष्व सत्तम ॥ २८ ॥

तपस्वी ब्राह्मण भार्याका ऐसा वचन सुनके उसका सत्तू लेकर अतिथिसे बोला– ' हे द्विज-सत्तम ! आप फिर इस सत्तूको भी ग्रहण करिये ' ॥ २८ ॥

स तान्प्रगृह्य भुक्त्वा च न तुष्टिमगमद्द्विजः ।
तमुञ्छवृत्तिरालक्ष्य ततश्चिन्तापरोऽभवत् ॥ २९ ॥

अतिथि ब्राह्मण फिर उस सत्तू लेकर उसे खाके तृप्त नहीं हुआ । तब उञ्छवृत्तिवाला ब्राह्मण उसे देखके बहुत ही सोचने लगे ॥ २९ ॥

पुत्र उवाच—

सक्तूनिमान्प्रगृह्य त्वं देहि विप्राय सत्तम ।
इत्येवं सुकृतं मन्ये तस्मादेतत्करोम्यहम् ॥ ३० ॥

पुत्र बोला– हे सत्तम ! आप मेरे इस सत्तूको लेकर ब्राह्मणको दीजिये, यह मैं सुकृत समझता हूं, इसलिये ऐसा कर रहा हूं ॥ ३० ॥

भवान्हि परिपाल्यो मे सर्वयत्नैर्द्विजोत्तम ।
साधूनां काङ्क्षितं ह्येतत्पितुर्वृद्धस्य पोषणम् ॥ ३१ ॥

हे द्विजोत्तम ! विशेष करके सर्व प्रकारके यत्न करके आपका पालन करना ही मेरा अवश्य कर्तव्य कार्य है, क्योंकि वृद्ध पिताका पोषण करना ही साधुओंको अभिलषित है ॥ ३१ ॥

पुत्रार्थो विहितो ह्येष स्थाविर्ये परिपालनम् ।
श्रुतिरेषा हि विप्रर्षे त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ ३२ ॥

हे विप्रर्षि ! तीनों लोकोंके बीच यह सनातन श्रुति सदा विद्यमान है, कि वृद्धावस्थामें पिताका रक्षण करना ही पुत्रका परम प्रयोजन है ॥ ३२ ॥

प्राणधारणमात्रेण शक्यं कर्तुं तपस्त्वया ।
प्राणो हि परमो धर्मः स्थितो देहेषु देहिनाम् ॥ ३३ ॥

आप केवल प्राण धारण करके तपस्या कर सकते हैं, देहधारियोंके शरीरमें स्थित प्राण ही परम धर्म है ॥ ३३ ॥

पितोवाच—

अपि वर्षसहस्री त्वं बाल एव मतो मम ।
उत्पाद्य पुत्रं हि पिता कृतकृत्यो भवत्युत ॥ ३४ ॥

पिता बोला– हे पुत्र ! तुम सहस्र वर्षके हो जाओ, तोभी मैं तुम्हें बालक ही समझूंगा । पिता पुत्र उत्पन्न करके उस पुत्रसे कृतकृत्य हुआ करता है ॥ ३४ ॥

बालानां क्षुद्बलवती जानाम्येतदहं विभो ।
वृद्धोऽहं धारयिष्यामि त्वं बली भव पुत्रक ॥ ३५ ॥

हे पुत्र ! इसे मैं जानता हूं, कि बालकोंकी भूख अत्यन्त बलवती होती है; मैं बूढा हूं, इसलिये भूख सहन करके भी प्राण धारण कर सकूंगा । हे पुत्र ! तुम इस सत्तूका भोजन करके बलवान् बनो ॥ ३५ ॥

जीर्णेन वयसा पुत्र न मा क्षुद्बाधतेऽपि च ।
दीर्घकालं तपस्तप्तं न मे मरणतो भयम् ॥ ३६ ॥

हे पुत्र ! मेरी अवस्था जीर्ण होनेसे भूख मुझे बाधा नहीं दे सकेगी; मैंने बहुत समयतक तपस्या की है, इसलिये मुझे मरनेका डर नहीं है ॥ ३६ ॥

पुत्र उवाच—

अपत्यमस्मि ते पुत्रस्त्राणात्पुत्रो हि विश्रुतः ।
आत्मा पुत्रः स्मृतस्तस्मात्त्राह्यात्मानमिहात्मना ॥ ३७ ॥

पुत्र बोला— मैं आपका पुत्र हूं; पुत्र पिताका संरक्षण करता इस कारण ही वह पुत्र कहा जाता है, ऐसा विश्रुत है । जब कि आत्मा पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है, तब आपही इस लोकमें अपने पुत्रके द्वारा अपनी रक्षा कीजिये ॥ ३७ ॥

पितोवाच—

रूपेण सदृशस्त्वं मे शीलेन च दमेन च ।
परीक्षितश्च बहुधा सक्तूनादद्मि ते ततः ॥ ३८ ॥

पिता बोले— हे पुत्र ! तुम रूप, शील और दमगुणसे मेरे ही समान हो मैंने अनेक भांतिसे तुम्हारी परीक्षा की है । इसलिये तुम्हारा सत्तू ग्रहण करता हूं ॥ ३८ ॥

इत्युक्त्वादाय तान्सक्तून्प्रीतात्मा द्विजसत्तमः ।
प्रहसन्निव विप्राय स तस्मै प्रददौ तदा ॥ ३९ ॥

द्विजसत्तमने इतना कहके प्रसन्नचित्तसे वह सत्तू ले लिया और हंसकर उस ब्राह्मण अतिथिको दिया ॥ ३९ ॥

भुक्त्वा तानपि सक्तून्स नैव तुष्टो बभूव ह ।
उञ्छवृत्तिस्तु सव्रीडो बभूव द्विजसत्तमः ॥ ४० ॥

परन्तु अतिथि उस सत्तूका भोजन करनेपर भी तृप्त नहीं हुआ; यह देखकर वह उञ्छवृत्तिवाला द्विजसत्तम लज्जित हुआ ॥ ४० ॥

तं वै वधूः स्थिता साध्वी ब्राह्मणप्रियकाम्यया ।
सक्तूनादाय संहृष्टा गुरुं तं वाक्यमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

साध्वी सुशीला पुत्रवधू ब्राह्मणका प्रिय करनेकी इच्छासे अपना सत्तू लेकर प्रसन्नचित्तसे अपने उन गुरुसे बोली ॥ ४१ ॥

संतानात्तव संतानं मम विप्र भविष्यति ।
सक्तूनिमानतिथये गृहीत्वा त्वं प्रयच्छ मे ॥ ४२ ॥

हे विप्र ! आपकी सन्तानसे मेरे सन्तान होगी, इसलिये मेरा यह सत्तू लेकर अतिथिको दीजिये ॥ ४२ ॥

तव प्रसवनिर्वृत्त्या मम लोकाः किलाक्षयाः ।
पौत्रेण तानवाप्नोति यत्र गत्वा न शोचति ॥ ४३ ॥

आपकी कृपासे मुझे अक्षय लोक प्राप्त हो गये । मनुष्यगण जिन स्थानोंमें जाके शोकसे छूटते हैं, वे सब स्थान पौत्रके द्वारा प्राप्त हुआ करते हैं ॥ ४३ ॥

धर्माद्या हि यथा त्रेता वह्नित्रेता तथैव च ।
तथैव पुत्रपौत्राणां स्वर्गे त्रेता किलाक्षया ॥ ४४ ॥

जैसे धर्म, अर्थ और काम ये त्रिवर्ग तथा दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय, ये तीनों अग्नि अक्षय स्वर्गजनक हैं, पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र ये तीनों भी वैसे ही स्वर्ग प्राप्तिके साधन हैं ॥ ४४ ॥

पितॄंस्त्राणात्तारयति पुत्र इत्यनुशुश्रुम ।
पुत्रपौत्रैश्च नियतं साधुलोकानुपाश्नुते ॥ ४५ ॥

मैंने ऐसा सुना है, कि पुत्र पिताको संरक्षण देकर रक्षण करता है; मनुष्य सदा पुत्र और पौत्रोंके सहारे उत्तम लोकोंको भोग किया करता है ॥ ४५ ॥

श्वशुर उवाच —

वातातपविशीर्णाङ्गीं त्वां विवर्णां निरीक्ष्य वै ।
कर्शितां सुव्रताचारे क्षुधाविह्वलचेतसम् ॥ ४६ ॥

श्वशुर बोले– हे सुव्रतचारिणी ! मैं तुम्हारे अङ्गोंको हवा और धूपसे विशीर्ण, विबर्ण तथा दुर्बल और भूखके कारण अत्यन्त व्याकुलचित्त देखकर ॥ ४६ ॥

कथं सक्तून्ग्रहीष्यामि भूत्वा धर्मोपघातकः ।
कल्याणवृत्ते कल्याणि नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ॥ ४७ ॥

धर्मकी हानि करनेवाला होकर किस प्रकार तुम्हारा सत्तू ग्रहण करूं ? हे कल्याणमय आचरण करनेवाली कल्याणी ! तुम मुझसे ऐसा मत कहो ॥ ४७ ॥

षष्ठे काले व्रतवतीं शीलशौचसमन्विताम् ।
कृच्छ्रवृत्तिं निराहारां द्रक्ष्यामि त्वां कथं न्वहम् ॥ ४८ ॥

हे सुभगे ! तुम छठे कालमें भोजन करनेका व्रतवती, शील, शौचयुक्त तथा कृच्छ्रवृत्तिशालिनी (बडी कठिनाईसे जीविका चलानेवाली) हो, इसलिये आज सत्तू लेकर मैं तुम्हें किस प्रकार भूखी देख सकूंगा ? ॥ ४८ ॥

बाला क्षुधार्ता नारी च रक्ष्या त्वं सततं मया ।
उपवासपरिश्रान्ता त्वं हि बान्धवनन्दिनी ॥ ४९ ॥

तुम बालिका, भूखसे पीडित, नारी और उपवाससे अत्यन्त दुबली हो गयी हो; इसलिये मुझे तुम्हारी सदा रक्षा करनी चाहिये; तुम अपनी सेवाओंसे बान्धवजनोंको आनन्दित करती हो ॥ ४९ ॥

स्नुषोवाच—

गुरोर्मम गुरुस्त्वं वै यतो दैवतदैवतम् ।
देवातिदेवस्तस्मात्त्वं सक्तूनादत्स्व मे विभो ॥ ५० ॥

पुत्रवधू बोली— हे विभु ! आप मेरे गुरुके भी गुरु, देवताओंके भी देवता और परम देवता स्वरूप हैं; इसलिये आप मेरा सत्तू स्वीकार करिये ॥ ५० ॥

देहः प्राणश्च धर्मश्च शुश्रूषार्थमिदं गुरोः ।
तव विप्र प्रसादेन लोकान्प्राप्स्याम्यभीप्सितान् ॥ ५१ ॥

हे विप्र ! मेरा देह, प्राण तथा धर्म सब गुरुसेवाके ही लिये प्रस्तुत है, इसलिये मैं आपकी कृपासे इच्छित शुभप्रद लोकोंको प्राप्त करूंगी ॥ ५१ ॥

अवेक्ष्या इति कृत्वा त्वं दृढभक्त्येति वा द्विज ।
चिन्त्या ममेयमिति वा सक्तूनादातुमर्हसि ॥ ५२ ॥

आप मुझे अपनी दृढ भक्त, रक्षणीय और विचारणीय जानके आतिथिके लिये मेरा सत्तू ले सकते हैं ॥ ५२ ॥

श्वशुर उवाच—

अनेन नित्यं साध्वी त्वं शीलवृत्तेन शोभसे ।
या त्वं धर्मव्रतोपेता गुरुवृत्तिमवेक्षसे ॥ ५३ ॥

श्वशुर बोला— तुम सती स्त्री हो और ऐसे शील तथा सदाचारका पालन करनेसे अत्यन्तही शोभा पाती हो; तुम धर्म तथा व्रताचरणमें युक्त होकर सदा गुरुजनोंकी सेवामें दृष्टि रखनेवाली हो ॥ ५३ ॥

तस्मात्सक्तून्ग्रहीष्यामि वधूर्नार्हसि वञ्चनाम् ।
गणयित्वा महाभागे त्वं हि धर्मभृतां वरा ॥ ५४ ॥

इसलिये तुम वञ्चनाकी पात्री नहीं हो, तुम्हारा सत्तू ग्रहण करूंगा; महाभागे ! आज मैंने तुम्हें धर्मशीला स्त्रियोंके बीच मुख्य गिना है ॥ ५४ ॥

इत्युक्त्वा तानुपादाय सक्तून्प्रादाद्‌द्विजातये ।
ततस्तुष्टोऽभवद्विप्रस्तस्य साधोर्महात्मनः ॥ ५५ ॥

उन्होंने ऐसा कहके उसका सत्तू लेकर अतिथिको दिया । तिसके अनन्तर अतिथि उस विप्रवर साधु महात्मा ब्राह्मणपर बहुत संतुष्ट हुआ ॥ ५५ ॥

प्रीतात्मा स तु तं वाक्यमिदमाह द्विजर्षभम् ।
वाग्मी तदा द्विजश्रेष्ठो धर्मः पुरुषविग्रहः ॥ ५६ ॥

वह प्रसन्नचित्त होकर उस द्विजवरसे इस प्रकार कहने लगा । उस समय मानव विग्रहधारी साक्षात् धर्मस्वरूप उस वाग्मी द्विजवर अतिथिने ब्राह्मणसे कहा ॥ ५६ ॥

शुद्धेन तव दानेन न्यायोपात्तेन यत्नतः ।
यथाशक्ति विमुक्तेन प्रीतोऽस्मि द्विजसत्तम ॥ ५७ ॥

हे द्विजसत्तम ! मैं आपके न्यायसे और यत्नपूर्वक उपार्जित यथाशक्तिके अनुसार शुद्ध अन्न दानसे परम परितुष्ट हुआ हूं ॥ ५७ ॥

अहो दानं घुष्यते ते स्वर्गे स्वर्गनिवासिभिः ।
गगनात्पुष्पवर्षं च पश्यस्व पतितं भुवि ॥ ५८ ॥

सुरलोकमें निवास करनेवाले देवता भी तुम्हारे इस दानको 'आश्चर्य–दान' कहके घोषणा कर रहे हैं । यह देखिये आकाशमें पृथ्वीपर पुष्पकी वर्षा हो रही है ॥ ५८ ॥

सुरर्षिदेवगन्धर्वा ये च देवपुरःसराः ।
स्तुवन्तो देवदूताश्च स्थिता दानेन विस्मिताः ॥ ५९ ॥

सुरर्षि, देवता, गन्धर्व, देवताओंके अग्रणी तथा देवदूतगण आपके दानसे विस्मित होकर स्तुति करते हुए खडे हैं ॥ ५९ ॥

ब्रह्मर्षयो विमानस्था ब्रह्मलोकगताश्च ये ।
काङ्क्षन्ते दर्शनं तुभ्यं दिवं गच्छ द्विजर्षभ ॥ ६० ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! ब्रह्मलोकगामी विमानमें रहनेवाले ब्रह्मर्षिगण तुम्हारे दर्शनकी आकांक्षा करते हैं; इसलिये आप स्वर्गलोकमें जाइये ॥ ६० ॥

पितृलोकगताः सर्वे तारिताः पितरस्त्वया ।
अनागताश्च बहवः सुबहूनि युगानि च ॥ ६१ ॥

पितृलोकमें गये अपने सब पितरोंका आपने उद्धार किया है; भविष्यमें अनेक युगोंमें होनेवाली संताने भी तुम्हारे पुण्यकर्मसे तर जायंगी ॥ ६१ ॥

ब्रह्मचर्येण यज्ञेन दानेन तपसा तथा ।
अगह्वरेण धर्मेण तस्माद्गच्छ दिवं द्विज ॥ ६२ ॥

तुम अपने ब्रह्मचर्य, यज्ञ, दान, तपस्या तथा शुद्ध धर्मके आचरणसे स्वर्गलोकमें जाओ ॥ ६२ ॥

श्रद्धया परया यस्त्वं तपश्चरसि सुव्रत ।
तस्माद्देवास्तवानेन प्रीता द्विजवरोत्तम ॥ ६३ ॥

हे सुव्रत द्विजसत्तम ! आप परम श्रद्धापूर्वक धर्माचरण करते हुए तपस्या करते हैं, इसलिये तुम्हारे इस दानमें देवता अत्यन्त संतुष्ट हैं ॥ ६३ ॥

सर्वस्वमेतद्यस्मात्ते त्यक्तं शुद्धेन चेतसा ।
कृच्छ्रकाले ततः स्वर्गो जितोऽयं तव कर्मणा ॥ ६४ ॥

जब आपने प्राण संकटके समयमें भी शुद्धचित्तसे यह सर्वस्वका त्याग किया है, तब उस पुण्यकर्मसे तुम स्वर्गपर विजय प्राप्त कर ली हैं । ६४ ॥

क्षुधा निर्णुदति प्रज्ञां धर्म्यां बुद्धिं व्यपोहति ।
क्षुधापरिगतज्ञानो धृतिं त्यजति चैव ह ॥ ६५ ॥

क्षुधा मनुष्यको नष्ट करती है, धार्मिक विचारको मिटा देती है । जब क्षुधासे ज्ञान मोहित होता है, तब मनुष्य धीरज खो देता है ॥ ६५

बुभुक्षां जयते यस्तु स स्वर्गं जयते ध्रुवम् ।
यदा दानरुचिर्भवति तदा धर्मो न सीदति ॥ ६६ ॥

जो भूखको जीत सकता है, वह निश्चय ही स्वर्गपर जय करनेमें समर्थ होता है । जब मनुष्य दान करनेका अभिलाषी होता है, तब उसका धर्म किसी प्रकार अवसन्न नहीं होता ॥ ६६॥

अनवेक्ष्य सुतस्नेहं कलत्रस्नेहमेव च ।
धर्ममेव गुरुं ज्ञात्वा तृष्णा न गणिता त्वया ॥ ६७ ॥

आपने ऐसाही विचार करके पुत्र और पत्नीका स्नेहप्रेम त्यागके उसकी ओर देखके धर्मको श्रेष्ठ माना है और तृष्णाको तुच्छ समझा है ॥ ६७ ॥

द्रव्यागमो नृणां सूक्ष्मः पात्रे दानं ततः परम् ।
कालः परतरो दानाच्छ्रद्धा चापि ततः परा ॥ ६८ ॥

मनुष्यके लिये न्यायपूर्वक धन प्राप्तिका उपाय जानना अत्यन्त सूक्ष्म विषय है, सत्पात्रको दान करना उससे भी श्रेष्ठ है, सत्पात्रको दान देनेकी अपेक्षा उत्तम समयपर दान देना और भी अच्छा है; उसकी अपेक्षा श्रद्धाका महत्त्व अधिक हैं ॥ ६८ ॥

स्वर्गद्वारं सुसूक्ष्मं हि नरैर्मोहान्न दृश्यते ।
स्वर्गार्गलं लोभबीजं रागगुप्तं दुरासदम् ॥ ६९ ॥

और स्वर्गका द्वार परम सूक्ष्म रूपसे निर्णीत है, इस ही लिये मनुष्यगण मोहवशसे उसका दर्शन करनेमें समर्थ नहीं होते । उस स्वर्गद्वारका अर्गला (किल्ली) लोभ रूपी बीजकी बनी हुई है; वह द्वार रागसे गुप्त है, इसलिये उसमें प्रवेश करना कठिन है ॥ ६९ ॥

तत्तु पश्यन्ति पुरुषा जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ।
ब्राह्मणास्तपसा युक्ता यथाशक्तिप्रदायिनः ॥ ७० ॥

जो क्रोधको जीत चुके हैं, इंद्रियोंको वशमें कर चुके हैं, वे शक्तिके अनुसार दान करनेवाले सब तपोनिष्ठ ब्राह्मण उस द्वारको देख सकते हैं ॥ ७० ॥

सहस्रशक्तिश्च शतं शतशक्तिर्दशापि च ।
दद्यादपश्च यः शक्त्या सर्वे तुल्यफलाः स्मृताः ॥ ७१ ॥

सहस्र दान करनेमें समर्थ मनुष्य सौका दान करे, सौ दान करनेमें समर्थ दसका दान करे और जिसके पास कुछ भी न हो, वह शक्तिके अनुसार जलही दान कर दे, वे सबके तुल्य फलभागी हुआ करते हैं ॥ ७१ ॥

रन्तिदेवो हि नृपतिरपः प्रादादकिंचनः ।
शुद्धेन मनसा विप्र नाकपृष्ठं ततो गतः ॥ ७२ ॥

हे विप्र ! अकिञ्चन राजा रन्तिदेवने शुद्धचित्तसे जलका दान किया, इससे वे स्वर्गलोकमें गये ॥ ७२ ॥

न धर्मः प्रीयते तात दानैर्दत्तैर्महाफलैः ।
न्यायलब्धैर्यथा सूक्ष्मैः श्रद्धापूतैः स तुष्यति ॥ ७३ ॥

हे तात ! धर्म न्यायसे प्राप्त हुए श्रद्धायुक्त अर्थात् अल्प मात्र दानसे जिस प्रकार परितुष्ट होता है, उस भांति महाफलजनक अधिक दानसे परितुष्ट नहीं होता ॥ ७३ ॥

गोप्रदानसहस्राणि द्विजेभ्योऽदान्नृगो नृपः ।
एकां दत्त्वा स पारक्यां नरकं समवाप्तवान् ॥ ७४ ॥

राजा नृगने ब्राह्मणोंको हजारों गौएं प्रदान की थीं, उसके बीच बिना जाने दूसरेकी एकही गौ दान कर दी थी, इसीसे अन्यायसे प्राप्त द्रव्यका दान करनेके कारण वह नरकगामी हुए थे ॥ ७४ ॥

आत्ममांसप्रदानेन शिबिरौशीनरो नृपः ।
प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकान्मोदते दिवि सुव्रतः ॥ ७५ ॥

उशीनरके पुत्र उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजा शिबिने श्रद्धासे अपने शरीरका मांस दान करके पुण्यकृत लोकोंको पाके सुरलोकमें विविध सुखभोग किया ॥ ७५ ॥

विभवे न नृणां पुण्यं स्वशक्त्या स्वर्जितं सताम् ।
न यज्ञैर्विविधैर्विप्र यथान्यायेन संचितैः ॥ ७६ ॥

हे विप्र ! मनुष्योंके लिये द्रव्य ही पुण्यका हेतु नहीं है । साधु पुरुष निज शक्तिसे उपार्जित पुण्यका लाभ करते हैं । न्यायपूर्वक संचित किये द्रव्य अन्नके दानसे उत्तम फल प्राप्त होता है, वैसा अनेक यज्ञोंके करनेसे नहीं होता ॥ ७६ ॥

क्रोधो दानफलं हन्ति लोभात्स्वर्गं न गच्छति ।
न्यायवृत्तिर्हि तपसा दानवित्स्वर्गमश्नुते ॥ ७७ ॥

क्रोधसे मनुष्यके दानका फल निष्फल होता है और लोभसे वह स्वर्गमें नहीं जा सकता है। न्यायसे उपार्जित धनसे दानके महत्त्वको जाननेवाला मनुष्य केवल तपस्यासे ही स्वर्ग लोक प्राप्त करता है ॥ ७७ ॥

न राजसूयैर्बहुभिरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः ।
न चाश्वमेधैर्बहुभिः फलं सममिदं तव ॥ ७८ ॥

तुमने जो यह फलजनित प्राप्त किया है, उसकी तुलना बहुत दक्षिणायुक्त अनेक राजसूय प्रभृति विविध यज्ञोंसे भी हो सकती ॥ ७८ ॥

सक्तुप्रस्थेन हि जितो ब्रह्मलोकस्त्वयानघ ।
विरजो ब्रह्मभवनं गच्छ विप्र यथेच्छकम् ॥ ७९ ॥

हे विप्र ! आपने सत्तूप्रस्थके सहारे अक्षय ब्रह्मलोकको जीत लिया है । विप्र ! तुम इच्छित रजोगुणरहित ब्रह्मलोकमें जाओ ॥ ७९ ॥

सर्वेषां वो द्विजश्रेष्ठ दिव्यं यानमुपस्थितम् ।
आरोहत यथाकामं धर्मोऽस्मि द्विज पश्य माम् ॥ ८० ॥

हे द्विजवर ! तुम सब लोगोंके लिये यह दिव्य बिमान उपस्थित हुआ है । हे ब्रह्मन् ! मेरा दर्शन करो, मैं धर्म हूं । आप सब अपनी इच्छाके अनुसार इस बिमान पर चढो ॥ ८० ॥

पावितो हि त्वया देहो लोके कीर्त्तिः स्थिरा च ते ।
सभार्यः सहपुत्रश्च सस्नुषश्च दिवं व्रज ॥ ८१ ॥

तुमने अपने शरीरको पवित्र कर दिया और लोकके बीच भी तुम्हारी कीर्ति स्थिर रहेगी । इस समय तुम भार्या, पुत्र और पुत्रवधूके सहित सुरपुरमें चले जाओ ॥ ८१ ॥

इत्युक्तवाक्यो धर्मेण यानमारुह्य स द्विजः ।
सभार्यःससुतश्चापि सस्नुषश्च दिवं ययौ ॥ ८२ ॥

धर्मके ऐसा कहनेपर वह द्विजवर अपनी भार्या, पुत्र और पुत्रवधूके सहित दिव्य विमान पर चढके सुरलोकमें गया ॥ ८२ ॥

तस्मिन्विप्रे गते स्वर्गं ससुते सस्नुषे तदा ।
भार्याचतुर्थे धर्मज्ञे ततोऽहं निःसृतो बिलात् ॥ ८३ ॥

जब वह धर्मज्ञ विप्रवर भार्या, पुत्र और पुत्रवधूके सहित सुरलोकमें गया, तब मैं बिलसे बाहिर निकला ॥ ८३ ॥

ततस्तु सक्तुगन्धेन क्लेदेन सलिलस्य च ।
दिव्यपुष्पावमर्दाच्च साधोर्दानलवैश्च तैः ।
विप्रस्य तपसा तस्य शिरो मे काञ्चनीकृतम् ॥ ८४ ॥

तिसके अनन्तर सत्तूकी सुगन्धि, जलकी कीच, दिव्य फूलोंके अवमर्दन, उस साधु विप्रके दान करते समय गिरे हुए अन्नके कण, और उस उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मणकी तपस्याके बलसे मेरा मस्तक सुवर्णमय हुआ ॥ ८४ ॥

तस्य सत्याभिसंधस्य सूक्ष्मदानेन चैव ह ।
शरीरार्धं च मे विप्राः शातकुम्भमयं कृतम् ।
पश्यतेदं सुविपुलं तपसा तस्य धीमतः ॥ ८५ ॥

हे विप्रगण ! उस सत्यप्रतिज्ञ ब्राह्मणके सूक्ष्म दानसे मेरे शरीरका आधा भाग सुवर्णमय हुआ है । उस बुद्धिमान् ब्राह्मणकी तपस्यासे मुझे यह महान् फल मिला है, इसे आप देखिये ॥ ८५ ॥

कथमेवंविधं मे स्यादन्यत्पार्श्वमिति द्विजाः ।
तपोवनानि यज्ञांश्च हृष्टोऽभ्येमि पुनः पुनः ॥ ८६ ॥

हे द्विजगण ! मेरे शरीरका दूसरा पार्श्व किस भांति ऐसा होगा, इस विषयको सोचकर मैं प्रसन्नचितसे तपोवन और यज्ञस्थलोंमें बार बार भ्रमण करता हूं ॥ ८६ ॥

यज्ञं त्वहमिमं श्रुत्वा कुरुराजस्य धीमतः ।
आशया परया प्राप्तो न चाहं काञ्चनीकृतः ॥ ८७ ॥

बुद्धिमान् कुरुराज युधिष्ठिरके इस यज्ञका नाम सुनके अत्यंत आशा करके मैं यहां आया, परन्तु मैं सुवर्णमय न हुआ ॥ ८७ ॥

ततो मयोक्तं तद्वाक्यं प्रहस्य द्विजसत्तमाः ।
सक्तुप्रस्थेन यज्ञोऽयं संमितो नेति सर्वथा ॥ ८८ ॥

हे ब्राह्मण श्रेष्ठगण ! इस ही लिये मैंने हंसके कहा, कि तुम्हारा यह यज्ञ सब भांतिसे सत्तूप्रस्थके सदृश नहीं हुआ ॥ ८८ ॥

सक्तुप्रस्थलवैस्तैर्हि तदाहं काञ्चनीकृतः ।
न हि यज्ञो महानेष सदृशस्तैर्मतो मम ॥ ८९ ॥

उस समय मैं सत्तूप्रस्थके लेश मात्रसे सुवर्णमय हुआ हूं; इसीसे ऐसा समझता हूं, कि यह महायज्ञ उसके सदृश नहीं हुआ ॥ ८९ ॥

+

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्त्वा नकुलः सर्वान्यज्ञे द्विजवरांस्तदा ।
जगामादर्शनं राजन्विप्रास्ते च ययुर्गृहान् ॥ ९० ॥

श्रीवैशम्पायन बोले— नेवल यज्ञस्थलमें उन श्रेष्ठ द्विजोंसे ऐसा कहकर वहांसे अदृश्य हो गया। हे राजन्! तब वे ब्राह्मण लोग भी निज निज स्थान पर गये ॥ ९० ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं मया परपुरंजय ।
यदाश्चर्यमभूत्तस्मिन्वाजिमेधे महाक्रतौ ॥ ९१ ॥

हे शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले जनमेजय! उस महायज्ञ अश्वमेधमें जो आश्चर्यजनक घटना हुई थी, मैंने वह सब वृत्तान्त आपके समीप कहा ॥ ९१ ॥

न विस्मयस्ते नृपते यज्ञे कार्यः कथंचन ।
ऋषिकोटिसहस्राणि तपोभिर्ये दिवं गताः ॥ ९२ ॥

हे नरनाथ! आप उस यज्ञके सम्बन्धमें ऐसी घटना सुनकर विस्मय न कीजिये; क्योंकि सहस्रों कोटि ऋषियोंने यज्ञ न करके केवल तपोबलसे ही दिव्य लोकमें गमन किया है ॥ ९२ ॥

अद्रोहः सर्वभूतेषु संतोषः शीलमार्जवम् ।
तपो दमश्च सत्यं च दानं चेति समं मतम् ॥ ९३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥ २६५८ ॥

किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना, मनसे संतोष शील-सदाचारका पालन ' सबके साथ आर्जव, तपस्या, इंद्रियोंको वशमें रखना, सत्य बोलना और न्यायोपार्जित दान करना- इनमेंसे एक-एक गुण बडे यज्ञोंके समान हैं ॥ ९३ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें तिरानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९३ ॥ २६५८ ॥

: ९४ :

जनमेजय उवाच—

यज्ञे सक्ता नृपतयस्तपःसक्ता महर्षयः ।
शान्तिव्यवसिता विप्राः शमो दम इति प्रभो ॥ १ ॥

जनमेजय बोले— हे प्रभु! राजा लोग यज्ञ, महर्षिगण तपस्या और ब्राह्मण लोग शान्ति-मनोनिग्रहमें स्थित होते हैं। मनका निग्रह हो जानेपर इंद्रियोंका संयम हो जाता है ॥ १ ॥

तस्माद्यज्ञफलैस्तुल्यं न किंचिदिह विद्यते ।
इति मे वर्तते बुद्धिस्तथा चैतदसंशयम् ॥ २ ॥

मेरी समझमें ऐसा निश्चय होता है कि इस लोकमें यज्ञफलके सदृश कर्म कुछ भी नहीं है; यही विचार निःसंशय योग्य है ॥ २ ॥

यज्ञैरिष्ट्वा हि बहवो राजानो द्विजसत्तम ।
इह कीर्तिं परां प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमितो गताः ॥ ३ ॥

हे द्विजसत्तम ! बहुतेरे राजा बहुतसे यज्ञ करते हुए इस लोकमें परम यश पाके परलोक तथा सुरपुरमें गये हैं ॥ ३ ॥

देवराजः सहस्राक्षः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
देवराज्यं महातेजाः प्राप्तवानखिलं विभुः ॥ ४ ॥

महातेजस्वी सहस्रनयन सुरराजने अनेक दक्षिणायुक्त बहुतसे यज्ञ करके अखिल सुरराज्य प्राप्त किया है ॥ ४ ॥

यथा युधिष्ठिरो राजा भीमार्जुनपुरःसरः ।
सदृशो देवराजेन समृद्ध्या विक्रमेण च ॥ ५ ॥

भीम और अर्जुनको आगे करके राजा युधिष्ठिर भी समृद्धि और विक्रममें सुरराज सदृश थे ॥ ५ ॥

अथ कस्मात्स नकुलो गर्हयामास तं क्रतुम् ।
अश्वमेधं महायज्ञं राज्ञस्तस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

फिर महात्मा राजा युधिष्ठिरने जो अश्वमेध महायज्ञ किया था, नेवलने उस यज्ञकी किस निमित्त निन्दा की ? ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

यज्ञस्य विधिमग्र्यं वै फलं चैव नरर्षभ ।
गदतः शृणु मे राजन्यथावदिह भारत ॥ ७ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— हे नरनाथ ! भारत ! यज्ञकी प्रधान विधि और फल मैं आपके समीप यथार्थ रीतिसे यहां कहता हूं, सुनिये ॥ ७ ॥

पुरा शक्रस्य यजतः सर्वं ऊचुर्महर्षयः ।
ऋत्विक्षु कर्मव्यग्रेषु वितते यज्ञकर्मणि ॥ ८ ॥

पहलेके समय यज्ञ करनेवाले देवराज इन्द्रके विस्तृत यज्ञमें सब महर्षि मंत्रोचार कर रहे थे, ऋत्विज अपने कार्यमें व्यग्र रहे थे; यज्ञका कार्य उत्तम रीतिसे चल रहा था ॥ ८ ॥

हूयमाने तथा वह्नौ होत्रे बहुगुणान्विते ।
देवेष्वाहूयमानेषु स्थितेषु परमर्षिषु ॥ ९ ॥

उत्तम गुणशाली आहुतियोंका अग्निमें हवन किया जा रहा था, तथा देवगणोंका आवाहन होता था और परमश्रेष्ठ महर्षि खडे थे ॥ ९ ॥

सुप्रतीतैस्तदा विप्रैः स्वागमैः सुस्वनैर्नृप ।
अश्रान्तैश्चापि लघुभिरध्वर्युवृषभैस्तथा ॥ १० ॥

राजन् ! अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक ब्राह्मण वेदोंके मंत्रोंका उत्तम स्वरसे स्तवन करते थे और श्रेष्ठ अध्वर्यु लोग अश्रान्त भावसे अपना कर्तव्य करते थे ॥ १० ॥

आलम्भसमये तस्मिन्गृहीतेषु पशुष्वथ ।
महर्षयो महाराज संबभूवुः कृपान्विताः ॥ ११ ॥

महाराज ! आलम्बनके समय जब पशु पकडे गये, तब महर्षि उनपर अत्यन्त कृपान्वित हुए ॥ ११ ॥

ततो दीनान्पशून्दृष्ट्वा ऋषयस्ते तपोधनाः ।
ऊचुः शक्रं समागम्य नायं यज्ञविधिः शुभः ॥ १२ ॥

उन पशुओंको दीनभावयुक्त देखकर वे तपोधन ऋषि कृपापूर्वक इन्द्रके समीप जाकर उनसे बोले– यज्ञकी यह पशुवधकी विधि शुभ नहीं है ॥ १२ ॥

अपविज्ञानमेतत्ते महान्तं धर्ममिच्छतः ।
न हि यज्ञे पशुगणा विधिदृष्टाः पुरंदर ॥ १३ ॥

हे पुरन्दर ! आप महान् धर्म करनेके अभिलाषी हुए हैं, परन्तु आप इसे विशेषरूपसे नहीं जानते; क्योंकि पशुओंसे यज्ञ करना विधिविहीत नहीं है ॥ १३ ॥

धर्मोपघातकस्त्वेष समारम्भस्तव प्रभो ।
नायं धर्मकृतो धर्मो न हिंसा धर्म उच्यते ॥ १४ ॥

हे प्रभु ! जब कि हिंसाको कहीं भी धर्म कहके वर्णित नहीं किया गया है, तब यह धर्म धर्मयुक्त नहीं होता है, इसलिये आपका यह समारम्भ धर्मोपघातक होता है ॥ १४ ॥

आगमेनैव ते यज्ञं कुर्वन्तु यदि हेच्छसि ।
विधिदृष्टेन यज्ञेन धर्मस्ते सुमहान्भवेत् ॥ १५ ॥

यदि आप धर्मकी अभिलाषा करते हैं तो ऋत्विजगण वेदके अनुसार ही आपका यज्ञ करें; उस विधिदृष्ट यज्ञके सहारे ही आपको उत्तम महान् धर्मकी प्राप्ति होगी ॥ १५ ॥

यज बीजैः सहस्राक्ष त्रिवर्षपरमोषितैः ।
एष धर्मो महाञ्शक्र चिन्त्यमानोऽधिगम्यते ॥ १६ ॥

हे सहस्राक्ष इन्द्र ! आप हिंसा परित्याग करके तीन वर्षके पुराने बीजोंके सहारे यज्ञ करिये । यही महान् धर्म है और विचारणीयोंको मान्य है ॥ १६ ॥

शतक्रतुस्तु तद्वाक्यमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
उक्तं न प्रतिजग्राह मानमोहवशानुगः ॥ १७ ॥

शतक्रतुने अभिमान और मोहके वशमें होकर उन तत्त्वदर्शी ऋषियोंके बचनको स्वीकार नहीं किया ॥ १७ ॥

तेषां विवादः सुमहाञ्जज्ञे शक्रमहर्षिणाम् ।
जङ्गमैः स्थावरैर्वापि यष्टव्यमिति भारत ॥ १८ ॥

हे भारत ! इन्द्रके यज्ञमें उन तपस्वियोंके बीच अत्यन्त ही विवाद होने लगा । किसीने कहा, जङ्गम पदार्थ (पशु आदि) से यज्ञ करना चाहिये और कोई बोला, स्थावर वस्तुओं (अन्न-फल आदि) के द्वारा यज्ञ करना उचित है ॥ १८ ॥

ते तु खिन्ना विवादेन ऋषयस्तत्त्वदर्शिनः ।
ततः संधाय शक्रेण पप्रच्छुर्नृपतिं वसुम् ॥ १९ ॥

ऐसा कहके वे तत्त्वदर्शी ऋषि लोग विवाद करते हुए खिन्न हुए । अनन्तर ऋषियोंने इन्द्रकी सम्मति लेकर राजा वसुसे पूछा ॥ १९ ॥

महाभाग कथं यज्ञेष्वागमो नृपते स्मृतः ।
यष्टव्यं पशुभिर्मेध्यैरथो बीजैरजैरपि ॥ २० ॥

हे राजन् ! यज्ञोंके विषयमें वेदविधि कैसी है ? और मध्यम पशुओं द्वारा किंवा बीज व अजके द्वारा यज्ञ करना उचित है ॥ २० ॥

तच्छ्रुत्वा तु वचस्तेषामविचार्य बलाबलम् ।
यथोपनीतैर्यष्टव्यमिति प्रोवाच पार्थिवः ॥ २१ ॥

पृथ्वीपति वसु उन लोगोंके वचनको सुनकर उनके कथनमें कितना सार या असार है, इसका विचार न करके ही यह बचन बोले- कि जब जो वस्तु मिल जाय, उसीके द्वारा यज्ञ करना उचित है ॥ २१ ॥

एवमुक्त्वा स नृपतिः प्रविवेश रसातलम् ।
उक्त्वेह वितथं राजंश्चेदीनामीश्वरः प्रभुः ॥ २२ ॥

राजन् ! चेदीराज प्रभु राजा वसुने ऐसाही बोलने तथा प्रश्नके विषयमें मिथ्या कहनेसे रसातलमें प्रवेश किया ॥ २२ ॥

अन्यायोपगतं द्रव्यमतीतं यो ह्यपण्डितः ।
धर्माभिकाङ्क्षी यजते न धर्मफलमश्नुते ॥ २३ ॥

जो मूर्ख धर्माभिकांक्षी पुरुष निरन्तर अन्यायोपार्जित धन संग्रह करके यज्ञ करता है, वह उस धर्मफलको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता ॥ २३ ॥

धर्मवैतंसिको यस्तु पापात्मा पुरुषस्तथा ।
ददाति दानं विप्रेभ्यो लोकविश्वासकारकम् ॥ २४ ॥

जो पाखण्डी पापात्मा पुरुष सब लोगोंमें विश्वास निर्माण करनेके निमित्त ब्राह्मणोंको दान करता है वह धर्मके लिये नहीं करता ॥ २४ ॥

पापेन कर्मणा विप्रो धनं लब्ध्वा निरङ्कुशः ।
रागमोहान्वितः सोऽन्ते कलुषां गतिमाप्नुते ॥ २५ ॥

जो ब्राह्मण पापकर्मसे धन उपार्जन करके स्वेच्छाचारी हो राग तथा मोहके वशवर्ती होता है उसे सदा कलुषित गति प्राप्त होती है ॥ २५ ॥

तेन दत्तानि दानानि पापेन हतबुद्धिना ।
तानि सत्त्वमनासाद्य नश्यन्ति विपुलान्यपि ॥ २६ ॥

उस पापात्मा नष्टबुद्धिवाले मनुष्यके दिये हुए अनंत दान सबके सब अनादृत होकर विनष्ट हो जाते हैं ॥ २६ ॥

तस्याधर्मप्रवृत्तस्य हिंसकस्य दुरात्मनः ।
दाने न कीर्तिर्भवति प्रेत्य चेह च दुर्मतेः ॥ २७ ॥

उस अधर्ममें प्रवृत्त दुरात्मा हिंसक पुरुषकी इस लोक तथा परलोकमें उसके दानसे कीर्ति नहीं होती ॥ २७ ॥

अपि संचयबुद्धिर्हि लोभमोहवशंगतः ।
उद्वेजयति भूतानि हिंसया पापचेतनः ॥ २८ ॥

संग्रह करनेकी बुद्धिवाला मनुष्य लोभ और मोहके वशमें होकर हिंसाके कारण पापी बुद्धिवाला होकर प्राणियोंको उद्वेगयुक्त करता है ॥ २८ ॥

एवं लब्ध्वा धनं लोभाद्यजते यो ददाति च ।
स कृत्वा कर्मणा तेन न सिध्यति दुरागमात् ॥ २९ ॥

जो मनुष्य लोभके वशमें होकर इस प्रकार धन प्राप्त करके दान वा यज्ञ करता है, उस बुरी रीतिसे प्राप्त किये हुए धनसे कार्य करके वह सफल नहीं होता ॥ २९ ॥

उञ्छं मूलं फलं शाकमुदपात्रं तपोधनाः ।
दानं विभवतो दत्त्वा नराः स्वर्यान्ति धर्मिणः ॥ ३० ॥

तपोधन धार्मिक पुरुष अपनी शक्तिके अनुसार उञ्छ, मूल, फल, शाक और जलपात्रका दान करके स्वर्गमें गमन किया करते हैं ॥ ३० ॥

एष धर्मो महांस्त्यागो दानं भूतदया तथा ।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः क्षमा ।
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत्सनातनम् ॥ ३१ ॥

यही धर्म और महान् त्याग कहके वर्णित हुआ है । दान, सब प्राणियोंके विषयमें दया, ब्रह्मचर्य, सत्य, करुणा धृति और क्षमा, ये सब सनातन धर्मके सनातन मूल हैं ॥ ३१ ॥

श्रूयन्ते हि पुरा विप्रा विश्वामित्रादयो नृपाः ।
विश्वामित्रोऽसितश्चैव जनकश्च महीपतिः ।
कक्षसेनार्ष्टिषेणौ च सिन्धुद्वीपश्च पार्थिवः ॥ ३२ ॥

हे ब्राह्मणो, पहले विश्वामित्र प्रभृति राजा लोग इस ही प्रकार सिद्धिको प्राप्त हुए थे, ऐसा सुना जाता है। विश्वामित्र, असित, राजा जनक, कक्षसेन, अर्ष्टिषेण और महाराज सिन्धुद्वीप ॥ ३२ ॥

एते चान्ये च बहवः सिद्धिं परमिकां गताः ।
नृपाः सत्यैश्च दानैश्च न्यायलब्धैस्तपोधनाः ॥ ३३ ॥

ये तथा अन्य दूसरे राजा और तपस्वी लोग सत्य और न्यायसे प्राप्त हुए धनके दानसे परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये चाश्रितास्तपः ।
दानधर्माग्निना शुद्धास्ते स्वर्गं यान्ति भारत ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥ २६९२ ॥

हे भारत ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जो तपमें निष्ठा करनेवाले पुरुषगण दान-धर्मादिके सहारे पवित्र होकर स्वर्गलोकमें गमन किया करते हैं ॥ ३४ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें चौरानबेवां अध्याय समाप्त ॥ ९४ ॥ २६९२ ॥

: ९५ :

जनमेजय उवाच —

धर्मागतेन त्यागेन भगवन्सर्वमस्ति चेत् ।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व कुशलो ह्यसि भाषितुम् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले— हे भगवान् ! यदि धर्मयुक्त धनके दानसे सब कुछ मिलता है, तो आप इस विषयको विशेष रीतिसे मेरे समीप वर्णन करिये । आपही इस विषयको कहनेमें समर्थ हैं ॥ १ ॥

ततोञ्छवृत्तेर्यद्‌वृत्तं सक्तुदाने फलं महत् ।
कथितं मे महद्‌ब्रह्मंस्तथ्यमेतदसंशयम् ॥ २ ॥

हे ब्रह्मन् ! उस उञ्छवृत्ति ब्राह्मणने सत्तूका दान करके जो महत् फल प्राप्त किया, वह विषय सत्यरूपसे मेरे समीप कहा गया है, उसमें सन्देह नहीं है ॥ २ ॥

कथं हि सर्वयज्ञेषु निश्चयः परमो भवेत् ।
एतदर्हसि मे वक्तुं निखिलेन द्विजर्षभ ॥ ३ ॥

द्विजगणश्रेष्ठ ! परन्तु सब यज्ञोंमें किस प्रकार यह उत्तम निश्चय कार्यान्वित होगा, उसे पूरी रीतिसे आपको वर्णन करना उचित है ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अगस्त्यस्य महायज्ञे पुरावृत्तमरिंदम ॥ ४ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– हे अरिदमन ! पहले अगस्त्य मुनिके महायज्ञमें जो घटना हुई थी, ऐसे स्थलमें पण्डित लोग उदाहरणरूपसे उसही इतिहासको वर्णन किया करते हैं ॥ ४ ॥

पुरागस्त्यो महातेजा दीक्षां द्वादशवार्षिकीम् ।
प्रविवेश महाराज सर्वभूतहिते रतः ॥ ५ ॥

हे महाराज ! पहले सर्वभूतहितकारी महातेजस्वी अगस्त्य मुनिने बारह वर्षोंमें समाप्त होनेवाले यज्ञकी दीक्षा ली ॥ ५ ॥

तत्राग्निकल्पा होतार आसन्सत्रे महात्मनः ।
मूलाहारा निराहाराः साश्मकुट्टा मरीचिपाः ॥ ६ ॥

उन महात्माके यज्ञमें मूलाहारी, निराहारी, अश्मकुट्ट और मरीचिपायी अग्निके तुल्य तेजस्वी ऋषिगण होतृकार्यमें नियुक्त थे ॥ ६ ॥

परिघृष्टिका वैघसिकाः संप्रक्षालास्तथैव च ।
यतयो भिक्षवश्चात्र बभूवुः पर्यवस्थिताः ॥ ७ ॥

वहां परिघृष्टिक, वैघसिक, संप्रक्षाल प्रभृति यति तथा भिक्षुगण उपस्थित थे ॥ ७ ॥

सर्वे प्रत्यक्षधर्माणो जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ।
दमे स्थिताश्च ते सर्वे दम्भमोहविवर्जिताः ॥ ८ ॥

वे लोग सब कोई प्रत्यक्ष धर्मका पालन करनेवाले, जितक्रोध, जितेन्द्रिय, मनोनिग्रहपरायण, दम्भ और मोहसे वर्जित ॥ ८ ॥

वृत्ते शुद्धे स्थिता नित्यमिन्द्रियैश्चाप्यवाहिताः ।
उपासते स्म तं यज्ञं भुञ्जानास्ते महर्षयः ॥ ९ ॥

पवित्र वृत्तिमें स्थित, इन्द्रियोंके द्वारा अपराजित थे, ऐसा अधिकारी महर्षियोंने ही यज्ञमें उपस्थित होके यज्ञ किया ॥ ९ ॥

यथाशक्त्या भगवता तदन्नं समुपार्जितम् ।
तस्मिन्सत्रे यत्किंचिदयोग्यं तत्र नाभवत् ।
तथा ह्यनेकैर्मुनिभिर्महान्तः क्रतवः कृताः ॥ १० ॥

उस यज्ञमें भगवान् अगस्त्य मुनिने यथाशक्ति अन्न इकट्ठा किया था। उस यज्ञमें जो कृत तथा योग्य कहके निर्दिष्ट हुआ था, उसके अनुसार ही हुआ था; यत्किंचित् ही कुछ भी अयोग्य नहीं हुआ था, उनके सिवा और भी बहुतेरे मुनियोंने महायज्ञ किये थे ॥ १० ॥

एवंविधेस्त्वगस्त्यस्य वर्तमाने महाध्वरे ।
न ववर्ष सहस्राक्षस्तदा भरतसत्तम ॥ ११ ॥

भरतसत्तम ! परन्तु इस प्रकार महर्षि अगस्त्य मुनिका महायज्ञ होते रहनेपर इन्द्रने वहां जलकी वर्षा नहीं की ॥ ११ ॥

ततः कर्मान्तरे राजन्नगस्त्यस्य महात्मनः ।
कथेयमभिनिर्वृत्ता मुनीनां भावितात्मनाम् ॥ १२ ॥

हे महाराज ! उस यज्ञ कर्मके बीचमें समय मिलनेपर पवित्र अंतःकरणवाले मुनिगण परस्पर मिलकर महात्मा अगस्त्य मुनिके संबंधमें इस प्रकार चर्चा करने लगे ॥ १२ ॥

अगस्त्यो यजमानोऽसौ ददात्यन्नं विमत्सरः ।
न च वर्षति पर्जन्यः कथमन्नं भविष्यति ॥ १३ ॥

यह हमारे यजमान अगस्त्य मुनि मत्सररहित होकर अन्न दान कर रहे हैं, परन्तु मेघ जलकी वर्षा नहीं कर रहा है, तब किस प्रकार भविष्यमें अन्न उत्पन्न होगा ? ॥ १३ ॥

सत्रं चेदं महद्विप्रा मुनेर्द्वादशवार्षिकम् ।
न वर्षिष्यति देवश्च वर्षाण्येतानि द्वादश ॥ १४ ॥

हे विप्रगण ! अगस्त्य मुनिका यह महान् यज्ञ बारह वर्षों तक चालू रहेगा, इन बारह वर्षोंमें इन्द्र जलकी वर्षा नहीं करेंगे ॥ १४ ॥

एतद्भवन्तः संचिन्त्य महर्षेरस्य धीमतः ।
अगस्त्यस्यातितपसः कर्तुमर्हन्त्यनुग्रहम् ॥ १५ ॥

इसलिये आप लोग विचार करके बुद्धिमान् महर्षि परम तपस्वी अगस्त्यके विषयमें अनुग्रह करिये ॥ १५ ॥

इत्येवमुक्ते वचने ततोऽगस्त्यः प्रतापवान् ।
प्रोवाचेदं वचो वाग्मी प्रसाद्य शिरसा मुनीन् ॥ १६ ॥

जब महर्षिगण ऐसा कहने लगे, तब परम प्रतापी वाग्मी अगस्त्य मुनिने सिर झुकाकर प्रणाम करके मुनियोंको प्रसन्न करके इस प्रकार कहा ॥ १६ ॥

×

यदि द्वादशवर्षाणि न वर्षिष्यति वासवः ।
चिन्तायज्ञं करिष्यामि विधिरेष सनातनः ॥ १७ ॥

यदि इन्द्र बारह वर्षोंतक जलकी वर्षा नहीं करेंगे, तो मैं चिन्तनमात्रके द्वारा मानस–यज्ञ करूंगा, यही यज्ञकी सनातन विधि है ॥ १७ ॥

यदि द्वादशवर्षाणि न वर्षिष्यति वासवः ।
व्यायामेनाहरिष्यामि यज्ञानन्यानतिव्रतान् ॥ १८ ॥

हे ऋषिगण ! यदि इन्द्र बारह वर्षोंतक जलकी वर्षा नहीं करेंगे, तो मैं प्रयत्न पूर्वक नियमोंका पालन करके व्रतादिसे युक्त अन्य यज्ञोंका अनुष्ठान करूंगा ॥ १८ ॥

बीजयज्ञो मयायं वै बहुवर्षसमाचितः ।
बीजैः कृतैः करिष्ये च नात्र विघ्नो भविष्यति ॥ १९ ॥

मैंने जो कई वर्षोंसे यह बीजयज्ञ संचित कर रखा है, उन बीजोंसे ही मैं अपना यज्ञ संपन्न करूंगा, इसमें कुछ भी विघ्न नहीं होगा ॥ १९ ॥

नेदं शक्यं वृथा कर्तुं मम सत्रं कथंचन ।
वर्षिष्यतीह वा देवो न वा देवो भविष्यति ॥ २० ॥

मेरे इस यज्ञको किसी तरह व्यर्थ करनेका सामर्थ्य किसीको भी नहीं है; इन्द्र यहीं वर्षा करें, तो ठीक है, नहीं तो वे देवताओंके बीच परिगणित नहीं होंगे ॥ २० ॥

अथ वाभ्यर्थनामिन्द्रः कुर्यान्न त्विह कामतः ।
स्वयमिन्द्रो भविष्यामि जीवयिष्यामि च प्रजाः ॥ २१ ॥

इसके अतिरिक्त यदि इन्द्र इच्छानुसार जल वर्षाके लिये की हुई मेरी इस अभ्यर्थनाको पूरा नहीं करेंगे, तो मैं स्वयं इन्द्र होकर प्रजासमूहको जीवित रखूंगा ॥ २१ ॥

यो यदाहारजातश्च स तथैव भविष्यति ।
विशेषं चैव कर्तास्मि पुनः पुनरतीव हि ॥ २२ ॥

और जो जिस आहारसे उत्पन्न हुआ है, उसे वही आहार प्राप्त होगा । मैं बार बार अधिक मात्रामें ऐसी ही विशेषता करूंगा ॥ २२ ॥

अद्येह स्वर्णमभ्येतु यच्चान्यद्वसु दुर्लभम् ।
त्रिषु लोकेषु यच्चास्ति तदिहागच्छतां स्वयम् ॥ २३ ॥

तीनों लोकोंके बीच जो सुवर्ण वा दूसरा कोई दुर्लभ धन है, वह सब आज स्वयं ही मेरे समीप आगमन करें ॥ २३ ॥

दिव्याश्चाप्सरसां संघाः सगन्धर्वाः सकिंनराः ।
विश्वावसुश्च ये चान्ये तेऽप्युपासन्तु वः सदा ॥ २४ ॥

दिव्य अप्सराओंके समुदाय, गन्धर्व, किन्नर, विश्वावसु तथा अन्य सब गन्धर्व हैं, वे सब सदा तुम्हारे पास उपासनाके लिये आवें ॥ २४ ॥

उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्च यत्किंचिद्वसु विद्यते ।
सर्वं तदिह यज्ञे मे स्वयमेवोपतिष्ठतु ।
स्वर्गं स्वर्गसदश्चैव धर्मश्च स्वयमेव तु ॥ २५ ॥

उत्तर कुरुदेशमें जो कुछ धन विद्यमान् है, वह सब मेरे यज्ञमें स्वयं आके उपस्थित होवें और स्वर्ग, स्वर्गवासी देवता तथा धर्म स्वयं यहां आगमन करें ॥ २५ ॥

इत्युक्ते सर्वमेवैतदभवत्तस्य धीमतः ।
ततस्ते मुनयो दृष्ट्वा मुनेस्तस्य तपोबलम् ।
विस्मिता वचनं प्राहुरिदं सर्वे महार्थवत् ॥ २६ ॥

जब बुद्धिमान् अगस्त्य मुनिने ऐसा वचन कहा, उस समय वह सब उसही प्रकार हुआ । अनन्तर उन सब मुनियोंने अगस्त्य मुनिके तपोबलको देखकर, प्रसन्नचित्त तथा विस्मित होकर महान् अर्थयुक्त यह वचन कहने लगे ॥ २६ ॥

प्रीताः स्म तव वाक्येन न त्विच्छामस्तपोव्ययम् ।
स्वैरेव यज्ञैस्तुष्टाः स्मो न्यायेनेच्छामहे वयम् ॥ २७ ॥

हे मुनि ! तुम्हारे वचनसे हम लोग परम प्रसन्न हुए हैं; परन्तु हम आपकी तपस्याका व्यय करना नहीं चाहते हैं । हम तुम्हारे स्वकष्टार्जित यज्ञोंसे संतुष्ट हैं और न्यायोपार्जित अन्नकी ही अभिलाषा रखते हैं ॥ २७ ॥

यज्ञान्दीक्षास्तथा होमान्यच्चान्यन्मृगयामहे ।
तन्नोऽस्तु स्वकृतैर्यज्ञैर्नान्यतो मृगयामहे ॥ २८ ॥

हम लोग यज्ञ, दीक्षा, होम तथा दूसरे जिस कार्यको करनेकी चेष्टा करते हैं, वह सब हमें यहां प्राप्त है । स्वयं न्यायसे उपार्जित अन्नसे किये हुए यज्ञ ही हम चाहते हैं, दूसरे कीसीकी इच्छा नहीं करते ॥ २८ ॥

न्यायेनोपार्जिताहाराः स्वकर्मनिरता वयम् ।
वेदांश्च ब्रह्मचर्येण न्यायतः प्रार्थयामहे ॥ २९ ॥

न्यायसे उपार्जित किया हुआ अन्न ही हमारा भोजन है और हम अपने कार्यमें अभिरत होते रहते हैं। हम लोग ब्रह्मचर्यका पालन करके न्यायके अनुसार वेदोंको प्राप्त करेंगे ॥ २९ ॥

न्यायेनोत्तरकालं च गृहेभ्यो निःसृता वयम् ।
धर्मदृष्टैर्विधिद्वारैस्तपस्तप्स्यामहे वयम् ॥ ३० ॥

अन्तमें न्यायके अनुसार ही हम गृह छोडकर निकले हैं; और धर्मशास्त्रमें देखे गये विधिके सहारे ही तपस्या करेंगे ॥ ३० ॥

भवतः सम्यगेषा हि बुद्धिर्हिंसाविवर्जिता ।
एतामहिंसां यज्ञेषु ब्रूयास्त्वं सततं प्रभो ॥ ३१ ॥

हे प्रभु ! आपको पूरी रीतिसे हिंसाविहीन बुद्धि ही प्रिय है, इसलिये आप यज्ञमें सदा अहिंसाका विषय कहा करें ॥ ३१ ॥

प्रीतास्ततो भविष्यामो वयं द्विजवरोत्तम ।
विसर्जिताः समाप्तौ च सत्रादस्माद्‌ व्रजामहे ॥ ३२ ॥

हे द्विजसत्तम ! इस कारण हम आपपर अत्यन्त प्रसन्न होंगे । यज्ञकी समाप्ति होनेपर आप हमें विदा करेंगे, तब हम लोग यहांसे अपने घरको गमन करेंगे ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तथा कथयतामेव देवराजः पुरंदरः ।
ववर्ष सुमहातेजा दृष्ट्वा तस्य तपोबलम् ॥ ३३ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— उन लोगोंके इस ही प्रकार वार्तालाप करते रहनेपर महातेजस्वी देवराज पुरन्दर महर्षि तपोबलको देखके जलकी वर्षा करने लगे ॥ ३३ ॥

असमाप्तौ च यज्ञस्य तस्यामितपराक्रमः ।
निकामवर्षी देवेन्द्रो बभूव जनमेजय ॥ ३४ ॥

हे जनमेजय ! अगस्त्यमुनिके यज्ञकी समाप्तिपर्यन्त अमित पराक्रमी देवेन्द्र निःशेषरूपसे वर्षा करने लगे ॥ ३४ ॥

प्रसादयामास च तमगस्त्यं त्रिदशेश्वरः ।
स्वयमभ्येत्य राजर्षे पुरस्कृत्य बृहस्पतिम् ॥ ३५ ॥

हे राजर्षि ! त्रिदशनाथ इन्द्रने बृहस्पतिको आगे करके स्वयं अगस्त्य मुनिके निकट आके उन्हें प्रसन्न किया ॥ ३५ ॥

ततो यज्ञसमाप्तौ तान्विससर्ज महामुनीन् ।
अगस्त्यः परमप्रीतः पूजयित्वा यथाविधि ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥ २७२८ ॥

अनन्तर यज्ञ समाप्त होनेपर अगस्त्य मुनिने परम प्रसन्न होकर उन महामुनियोंकी विधिपूर्वक पूजा करके उन्हें विदा किया ॥ ३६ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें पञ्चानबेवां अध्याय समाप्त ॥ ९५ ॥ २७२८ ॥

: ९६ :

जनमेजय उवाच—

कोऽसौ नकुलरूपेण शिरसा काञ्चनेन वै ।
प्राह मानुषवद्वाचमेतत्पृष्टो वदस्व मे ॥ १ ॥

जनमेजय बोले— हे सत्तम ! जिस सोनेके मस्तकसे युक्त नकुलरूपी प्राणीने मनुष्यकी भांति वचन कहा, वह कौन था ? मैं उसे जाननेकी इच्छा करता हूं, आप मेरे समीप यह विषय विस्तारपूर्वक कहिये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एतत्पूर्वं न पृष्टोऽहं न चास्माभिः प्रभाषितम् ।
श्रूयतां नकुलो योऽसौ यथा वागस्य मानुषी ॥ २ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– आपने पहले मुझसे यह विषय नहीं पूछा था, और मैंने इसका वर्णन नहीं किया; परन्तु अब आप पूछते हो कि वह नकुल कौन था और किस प्रकार उसका मनुष्यकी भांति वचन हुआ, वह सब कहता हूं, सुनो ॥ २ ॥

श्राद्धं संकल्पयामास जमदग्निः पुरा किल ।
होमधेनुस्तमागाच्च स्वयं चापि दुदोह ताम् ॥ ३ ॥

पहले जमदग्नि ऋषिके श्राद्धका सङ्कल्प करनेपर उस समय उनकी होमधेनु स्वयं उनके निकट आई, उन्होंने स्वयं ही उसका दूध दुहा ॥ ३ ॥

तत्क्षीरं स्थापयामास नवे भाण्डे दृढे शुचौ ।
तच्च क्रोधः स्वरूपेण पिठरं पर्यवर्तयत् ॥ ४ ॥

उन्होंने उस दूधको पवित्र और दृढ नवीन बर्तनमें रखा; तब क्रोधने स्वयं रूप धारण करके उस बर्तनमें प्रवेश किया ॥ ४ ॥

जिज्ञासुस्तमृषिश्रेष्ठं किं कुर्याद्विप्रिये कृते ।
इति संचिन्त्य दुर्मेधा धर्षयामास तत्पयः ॥ ५ ॥

वह उन ऋषिश्रेष्ठकी परीक्षा लेना चाहते थे; ऋषिवर जमदग्नि अप्रिय करनेपर क्या करते हैं, यह विचार करके दुर्मेधाने उस दूधको धर्षित किया ॥ ५ ॥

तमाज्ञाय मुनिः क्रोधं नैवास्य चुकुपे ततः ।
स तु क्रोधस्तमाहेदं प्राञ्जलिर्मूर्तिमान्स्थितः ॥ ६ ॥

हे महाराज ! मुनिने उस समय क्रोधको जानके उसके ऊपर क्रोध नहीं किया । भृगुश्रेष्ठ जमदग्निके निकट मूर्तिमन्त हो हाथ जोडकर क्रोध स्वयं खडे हो गये ॥ ६ ॥

जितोऽस्मीति भृगुश्रेष्ठ भृगवो ह्यतिरोषणाः ।
लोके मिथ्याप्रवादोऽयं यत्त्वयास्मि पराजितः ॥ ७ ॥

मुनिके द्वारा पराजित होनेपर उस अमर्षशील क्रोधने उन भृगुश्रेष्ठसे कहा– हे भृगूद्वह ! मैं तुमसे पराजित हुआ। हे ऋषिश्रेष्ठ! मैंने सुना था कि भृगुवंशी ब्राह्मण अत्यन्त क्रोधी होते हैं; परंतु यह लोकप्रवाद आज मिथ्या सिद्ध हुआ; कारण कि आपने मुझे जीत लिया है ॥ ७ ॥

सोऽहं त्वयि स्थितो ह्यद्य क्षमावति महात्मनि ।
बिभेमि तपसः साधो प्रसादं कुरु मे विभो ॥ ८ ॥

आप महात्मा और क्षमावान् हो, इसलिये आजसे मैं तुम्हारे वशवर्ती हुआ हूं । हे साधु ! मैं तुम्हारी तपस्यासे डरता हूं, इसलिये तुम मुझपर प्रसन्न होओ ॥ ८ ॥

जमदग्निरुवाच—

साक्षाद्दृष्टोऽसि मे क्रोध गच्छ त्वं विगतज्वरः ।
न ममापकृतं तेऽद्य न मन्युर्विद्यते मम ॥ ९ ॥

जमदग्नि बोले— हे क्रोध ! मैंने तुम्हें साक्षात् देखा है; आपने मेरा कुछ अपराध नहीं किया है, इसलिये आज मुझे आपपर क्रोध नहीं है, आप शोकरहित तथा निश्चिन्त होकर जाइये ॥ ९ ॥

यानुद्दिश्य तु संकल्पः पयसोऽस्य कृतो मया ।
पितरस्ते महाभागास्तेभ्यो बुध्यस्व गम्यताम् ॥ १० ॥

मैंने जो पितरोंके उद्देश्यसे इस दूधका सङ्कल्प किया था, वे महाभाग पितर ही उसके स्वामी हैं । उन्हींसे ही इस विषयमें जान सकेंगे, अब तुम जाओ ॥ १० ॥

इत्युक्तो जातसंत्रासः स तत्रान्तरधीयत ।
पितॄणामभिषङ्गात्तु नकुलत्वमुपागतः ॥ ११ ॥

क्रोधरूपी जमदग्निका ऐसा वचन सुनके भयभीत होकर वहांसे अन्तर्हित हुए और पितरोंके अभिशापवशसे नकुलत्वको प्राप्त हुए ॥ ११ ॥

स तान्प्रसादयामास शापस्यान्तो भवेदिति ।
तैश्चाप्युक्तो यदा धर्मं क्षेप्स्यसे मोक्ष्यसे तदा ॥ १२ ॥

उन्होंने शापका अन्त होनेके निमित्त उन पितरोंको प्रसन्न किया; तब पितरोंने कहा, जब आप धर्मकी निन्दा करेंगे तब इस शापसे मुक्त होंगे ॥ १२ ॥

तैश्चोक्तो यज्ञियान्देशान्धर्मारण्यानि चैव ह ।
जुगुप्सन्परिधावन्स यज्ञं तं समुपासदत् ॥ १३ ॥

उन लोगोंनेही उस नेवलेको यज्ञीय स्थान तथा धर्मारण्यका पता बताया था; और वह धर्मराजकी निन्दा करनेके लिये ही दौडता हुआ उस यज्ञमें उपस्थित हुआ था ॥ १३ ॥

धर्मपुत्रमथाक्षिप्य सक्तुप्रस्थेन तेन सः ।
मुक्तः शापात्ततः क्रोधो धर्मो ह्यासीद्युधिष्ठिरः ॥ १४ ॥

वहां धर्मपुत्र युधिष्ठिरको 'तुम्हारा यज्ञ उस सत्तूप्रस्थके सदृश नहीं है' इसही प्रकार आक्षेप करते हुए उस शापसे मुक्त हुआ और वह धर्मराज युधिष्ठिरमें स्थित हो गया ॥ १४ ॥

एवमेतत्तदा वृत्तं तस्य यज्ञे महात्मनः ।
पश्यतां चापि नस्तत्र नकुलोऽन्तर्हितस्तदा ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥ २७४३ ॥

उस समय उस महात्मा युधिष्ठिरका यज्ञ समाप्त होनेपर ऐसी घटना हुई थी और हम लोगोंके सामने ही वह नेवला वहांसे अन्तर्धान हुआ ॥ १५ ॥

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें छानबेवां अध्याय समाप्त ॥ ९६ ॥ २७४३ ॥

॥ आश्वमेधिकपर्व समाप्त ॥

१५

महाभारत

आश्रमवासिक पर्व

[मूल संस्कृत श्लोक और हिन्दी अर्थ सहित]

प्रधान सम्पादक

डॉ. पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

पारडी [जि. बलसाड]

संवत् २०३४, शक १८९९, सन् १९७७

*

प्रथम आवृत्ति

*

प्रकाशक और मुद्रक :
वसन्त श्रीपाद सातवलेकर
स्वाध्याय-मण्डळ, भारत मुद्रणालय,
किल्ला-पारडी [जि. वलसाड] गुजरात

आश्रमवासिकपर्व

आभार प्रदर्शन

इस महाभारत प्रकाशनके लिए भारतसरकारके शिक्षा मंत्रालयने आर्थिक सहायता प्रदान करके जो महान् कार्य किया है, उसके लिए हम हृदयसे आभारी हैं।

इस महाभारत प्रकाशनके लिए हम माननीय श्री सेठ गंगाप्रसादजी बिरला और माननीय श्री सेठ बी. एम. बिरलाजी का भी उपकार नहीं भूल सकते। उन्होंने कागज देकर हमारी जो सहायता की है, उसके लिए हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

*

महाभारत

आश्रमवासिकपर्व ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

ॐ नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

ॐ गणोंके ईशके लिये नमस्कार हो ।

ॐ नरोत्तम नारायण, नर और देवी सरस्वतीको प्रणाम करके जयकी घोषणा करनी चाहिये ॥

: १ :

जनमेजय उवाच—

प्राप्य राज्यं महाभागाः पाण्डवा मे पितामहाः ।
कथमासन्महाराजे धृतराष्ट्रे महात्मनि ॥ १ ॥

जनमेजय बोले— हे द्विजसत्तम ! मेरे पितामह महाभाग पाण्डवोंने राज्य पाके महाराज धृतराष्ट्रके विषयमें कैसा आचरण किया ? ॥ १ ॥

स हि राजा हतामात्यो हतपुत्रो निराश्रयः ।
कथमासीद्धृतैश्वर्यो गान्धारी च यशस्विनी ॥ २ ॥

ऐश्वर्य, अपने मंत्री और पुत्रोंके नष्ट होनेपर असहाय हुए राजा धृतराष्ट्र तथा यशस्विनी गान्धारी किस प्रकार जीवन बिताते थे ? ॥ २ ॥

कियन्तं चैव कालं ते पितरो मम पूर्वकाः ।
स्थिता राज्ये महात्मानस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३ ॥

मेरे पूर्वपितामह महात्मा पाण्डवोंने कितने समयतक अपने राज्यमें निवास किया ? यह सब आप मेरे समीप यथार्थ वर्णन करिये ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

प्राप्य राज्यं महात्मानः पाण्डवा हतशत्रवः ।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य पृथिवीं पर्यपालयन् ॥ ४ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– हे कुरुसत्तम ! शत्रुओंके मारे जानेपर, महात्मा पाण्डवगण राज्य पाके राजा धृतराष्ट्रको आगे करके राज्य पालन करने लगे ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रमुपातिष्ठद्विदुरः संजयस्तथा ।
युयुत्सुश्चापि मेधावी वैश्यापुत्रः स कौरवः ॥ ५ ॥

विदुर, सञ्जय और वैश्यापुत्र कौरव मेधावी युयुत्सु– ये सब कोई धृतराष्ट्रकी सेवामें उपस्थित रहने लगे ॥ ५ ॥

पाण्डवाः सर्वकार्याणि संपृच्छन्ति स्म तं नृपम् ।
चक्रुस्तेनाभ्यनुज्ञाता वर्षाणि दश पञ्च च ॥ ६ ॥

पाण्डव लोग राजा धृतराष्ट्रसे पूंछकर उनकी आज्ञानुसार सब कार्य करते रहे; इसी तरह उन्होंने पंद्रह वर्षोंतक राज्यशासन किया ॥ ६ ॥

सदा हि गत्वा ते वीराः पर्युपासन्त तं नृपम् ।
पादाभिवन्दनं कृत्वा धर्मराजमते स्थिताः ।
ते मूर्ध्नि समुपाघ्राताः सर्वकार्याणि चक्रिरे ॥ ७ ॥

वीरश्रेष्ठ पाण्डवगण सर्वदा राजा धृतराष्ट्रके निकट जाके पादाभिवन्दन करते हुए उनकी सेवा करते थे; और धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञामें रहते थे। राजा धृतराष्ट्र प्रेमसे उनका मस्तक सूंघकर जब जानेकी अनुमति देते तब वे लोग सब कार्य करने लगते थे ॥ ७ ॥

कुन्तिभोजसुता चैव गान्धारीमन्ववर्तत ।
द्रौपदी च सुभद्रा च याश्चान्याः पाण्डवस्त्रियः ।
समां वृत्तिमवर्तन्त तयोः श्वश्र्वोर्यथाविधि ॥ ८ ॥

कुन्तिभोजपुत्री कुन्ती भी गान्धारीकी सेवामें तत्पर रहती थी। द्रौपदी, सुभद्रा तथा पाण्डवोंकी अन्य स्त्रियां दोनों सासुओंकी समभावसे विधिपूर्वक सेवा करती थीं ॥ ८ ॥

शयनानि महार्हाणि वासांस्याभरणानि च ।
राजार्हाणि च सर्वाणि भक्ष्यभोज्यान्यनेकशः ।
युधिष्ठिरो महाराज धृतराष्ट्रेऽभ्युपाहरत् ॥ ९ ॥

हे महाराज ! युधिष्ठिर राजा धृतराष्ट्रको राजयोग्य महामूल्यवान् शय्या, वस्त्र, आभूषण तथा अनेक भांतिके भक्ष्यभोज्य पदार्थ प्रदान करते थे ॥ ९ ॥

तथैव कुन्ती गान्धार्यां गुरुवृत्तिमवर्तत ।
विदुरः संजयश्चैव युयुत्सुश्चैव कौरवः ।
उपासते स्म तं वृद्धं हतपुत्रं जनाधिपम् ॥ १० ॥

उसी प्रकार कुन्ती भी गान्धारीका गुरुकी भांति सम्मान करती थीं । विदुर, सञ्जय और कौरव युयुत्सु उन हतपुत्र बूढ़े राजा धृतराष्ट्रकी उपासना करते थे ॥ १० ॥

स्यालो द्रोणस्य यश्चैको दयितो ब्राह्मणो महान् ।
स च तस्मिन्महेष्वासः कृपः समभवत्तदा ॥ ११ ॥

द्रोणाचार्यके प्रिय साले महाधनुर्धारी ब्राह्मणश्रेष्ठ कृपाचार्य सदा धृतराष्ट्रके निकट ही रहते थे ॥ ११ ॥

व्यासश्च भगवान्नित्यं वासं चक्रे नृपेण ह ।
कथाः कुर्वन्पुराणर्षिर्देवर्षिनृपरक्षसाम् ॥ १२ ॥

पुराण ऋषि श्रीवेदव्यास मुनिने सदा देव, ऋषि, पितर और राक्षसोंकी कथाएं कहते हुए उनके निकट निवास किया ॥ १२ ॥

धर्मयुक्तानि कार्याणि व्यवहारान्वितानि च ।
धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातो विदुरस्तान्यकारयत् ॥ १३ ॥

धृतराष्ट्रकी आज्ञानुसार विदुर उनके धार्मिक और व्यवहारयुक्त कार्योंको करते-कराते थे ॥ १३ ॥

सामन्तेभ्यः प्रियाण्यस्य कार्याणि सुगुरूण्यपि ।
प्राप्यन्तेऽर्थैः सुलघुभिः प्रभावाद्विदुरस्य वै ॥ १४ ॥

विदुरकी सुन्दर प्रभावयुक्त नीतिके अनुसार उनके बडे बडे प्रिय कार्य थोडे खर्चमें ही सामन्तगणके निकट सम्पादित होने लगे ॥ १४ ॥

अकरोद्बन्धमोक्षांश्च वध्यानां मोक्षणं तथा ।
न च धर्मात्मजो राजा कदाचित्किंचिदब्रवीत् ॥ १५ ॥

जब वह किसी कैदियोंको कैदसे छोडते थे और वधके योग्य मनुष्योंको भी प्राणदान देते थे, तब उस विषयमें धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर कदापि कोई वार्ता उल्लेख नहीं करते थे ॥१५॥

विहारयात्रासु पुनः कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
सर्वान्कामान्महातेजाः प्रददावम्बिकासुते ॥ १६ ॥

विहार तथा यात्राके समयके निमित्त महातेजस्वी कुरुराज युधिष्ठिर अम्बिकापुत्र धृतराष्ट्रको समस्त काम्य वस्तुओंको प्रदान करते थे ॥ १६ ॥

+

आरालिकाः सूपकारा रागखाण्डविकास्तथा ।
उपातिष्ठन्त राजानं धृतराष्ट्रं यथा पुरा ॥ १७ ॥

आरालिक अर्थात् शाकपाचक—सूपकार और पिप्पली, सोंठ तथा शर्करोपेत मुद्गपाचकगण पहलेकी भांति राजा धृतराष्ट्रकी सेवामें उपस्थित रहते थे ॥ १७ ॥

वासांसि च महार्हाणि माल्यानि विविधानि च ।
उपाजह्रुर्यथान्यायं धृतराष्ट्रस्य पाण्डवाः ॥ १८ ॥

और वे पांडुपुत्र धृतराष्ट्रको यथोचित महामूल्यवान् वस्त्र और विविध प्रकारकी मालाएं भेंट करते थे ॥ १८ ॥

मैरेयं मधु मांसानि पानकानि लघूनि च ।
चित्रान्भक्ष्यविकारांश्च चक्रुरस्य यथा पुरा ॥ १९ ॥

मैरेय, मधु, मांस, हलके शर्बत, और विविध विचित्र भक्ष्य वस्तु पहलेकी भांति उनकी सेवामें प्रदान करते थे ॥ १९ ॥

ये चापि पृथिवीपालाः समाजग्मुः समन्ततः ।
उपातिष्ठन्त ते सर्वे कौरवेन्द्रं यथा पुरा ॥ २० ॥

जो सब राजा अनेक देशोंसे वहांपर आते थे, वे सब पहलेकी भांति कौरवराज धृतराष्ट्रकी सेवामें उपस्थित होते थे ॥ २० ॥

कुन्ती च द्रौपदी चैव सात्वती चैव भामिनी ।
उलूपी नागकन्या च देवी चित्राङ्गदा तथा ॥ २१ ॥

इधर कुन्ती, द्रौपदी, भामिनी सुभद्रा, नागराजपुत्री उलूपी, चित्राङ्गदा देवी ॥ २१ ॥

धृष्टकेतोश्च भगिनी जरासन्धस्य चात्मजा ।
किंकराः स्मोपतिष्ठन्ति सर्वाः सुबलजां तथा ॥ २२ ॥

धृष्टकेतुकी बहिन और जरासन्धकी पुत्री, ये सब कोई दासीके समान सुबलपुत्री गान्धारीकी सेवा करती थीं ॥ २२ ॥

यथा पुत्रवियुक्तोऽयं न किंचिद्दुःखमाप्नुयात् ।
इति राजान्वशाद्भ्रातॄन्नित्यमेव युधिष्ठिरः ॥ २३ ॥

उन कुरुराज धृतराष्ट्रको अपने पुत्रवियोगसे कोई कुछ दुःख उपस्थित न हो, ऐसा बर्ताव करो, ऐसी युधिष्ठिरने राजाओंको आज्ञा दी थी ॥ २३ ॥

एवं ते धर्मराजस्य श्रुत्वा वचनमर्थवत् ।
सविशेषमवर्तन्त भीममेकं विना तदा ॥ २४ ॥

भीमसेनके अतिरिक्त सब लोग धर्मराजके अर्थयुक्त वचनानुसार यत्नपूर्वक धृतराष्ट्रका सत्कार करनेके कार्यमें प्रवृत्त हुए ॥ २४ ॥

न हि तत्तस्य वीरस्य हृदयादपसर्पति ।
धृतराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्यद्वृत्तं द्यूतकारितम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ २५ ॥

परन्तु धृतराष्ट्रकी दुर्बुद्धिसे जो जुएके समय अनर्थ हुआ था, वह बात वीरश्रेष्ठ भीमसेनके हृदयसे कभी भी दूर नहीं होती थी ॥ २५ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें पहला अध्याय समाप्त ॥ १ ॥ २५ ॥

: २ :

वैशम्पायन उवाच—

एवं संपूजितो राजा पाण्डवैरम्बिकासुतः ।
विजहार यथापूर्वमृषिभिः पर्युपासितः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— अम्बिकापुत्र राजा धृतराष्ट्र पाण्डवोंके द्वारा इस प्रकार पूजित और ऋषियोंसे समुपासित होकर पहलेकी भांति आनन्दसे निवास करने लगे ॥ १ ॥

ब्रह्मदेयाग्रहारांश्च प्रददौ स कुरूद्वहः ।
तच्च कुन्तीसुतो राजा सर्वमेवान्वमोदत ॥ २ ॥

कुरुकुलतिलक राजा धृतराष्ट्र ब्राह्मणोंको देनेयोग्य सब उत्कृष्ट अग्रहारोंको प्रदान करते थे और कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर सभी कर्मोंमें उन्हें आनन्दसे अनुमति देते थे ॥ २ ॥

आनृशंस्यपरो राजा प्रीयमाणो युधिष्ठिरः ।
उवाच स तदा भ्रातॄनमात्यांश्च महीपतिः ॥ ३ ॥

अनन्तर सरलस्वभाववाले राजा युधिष्ठिरने परम प्रसन्न होकर अपने भाइयों और मन्त्रियोंसे कहा ॥ ३ ॥

मया चैव भवद्भिश्च मान्य एष नराधिपः ।
निदेशे धृतराष्ट्रस्य यः स्थास्यति स मे सुहृत् ।
विपरीतश्च मे शत्रुर्निरस्यश्च भवेन्नरः ॥ ४ ॥

ये नरनाथ राजा धृतराष्ट्र हमारे तथा तुम लोगोंके माननीय हैं; इसलिये जो इनकी आज्ञाके अधीन रहता है, वही मेरा सुहृद् कहके परिगणित होगा और जो इनके विपरीत आचरण करेगा, वह मेरा शत्रु है; और उसका निराकरण किया जायगा ॥ ४ ॥

परिदृष्टेषु चाहःसु पुत्राणां श्राद्धकर्माणि ।
ददातु राजा सर्वेषां यावदस्य चिकीर्षितम् ॥ ५ ॥
प्रत्यर्पणकी तिथियोंपर तथा पुत्रोंके श्राद्धकर्ममें इनकी जो कुछ करनेकी इच्छा होगी, ये वही करेंगे । राजा इच्छानुसार दान करें ॥ ५ ॥

ततः स राजा कौरव्यो धृतराष्ट्रो महामनाः ।
ब्राह्मणेभ्यो महार्हेभ्यो ददौ वित्तान्यनेकशः ॥ ६ ॥
तिसके अनन्तर कुरुकुलतिलक महामना राजा धृतराष्ट्र अत्यन्त श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको बहुतसा धन दान करते थे ॥ ६ ॥

धर्मराजश्च भीमश्च सव्यसाची यमावपि ।
तत्सर्वमन्ववर्तन्त धृतराष्ट्रव्यपेक्षया ॥ ७ ॥
धर्मराज, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव इन सबने धृतराष्ट्रकी विशेष अपेक्षाके अनुसार उस बिषयका अनुमोदन किया था ॥ ७ ॥

कथं नु राजा वृद्धः सन्पुत्रशोकसमाहतः ।
शोकमस्मत्कृतं प्राप्य न म्रियेतेति चिन्त्यते ॥ ८ ॥
और उन लोगोंने मनही मन ऐसा बिचार किया था कि ये बूढे राजा पुत्र शोकसे पीडित और हम लोगोंके द्वारा शोकित होके अपने प्राण त्याग न करें ॥ ८ ॥

यावद्धि कुरुमुख्यस्य जीवत्पुत्रस्य वै सुखम् ।
बभूव तदवाप्नोतु भोगांश्चेति व्यवस्थिताः ॥ ९ ॥
ये कुरुपति धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके जीवित रहनेपर जिस प्रकार सुखभोग करते थे, इस समय भी उन सब सुखोंको भोग करें, इसलिये पाण्डवोंने सब व्यवस्था की थी ॥ ९ ॥

ततस्ते सहिताः सर्वे भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ।
तथाशीलाः समातस्थुर्धृतराष्ट्रस्य शासने ॥ १० ॥
वैसे शीलयुक्त स्वभावसे युक्त वे पाण्डुपुत्र पांचों भाई एकत्रित होकर धृतराष्ट्रकी आज्ञामें निवास करने लगे ॥ १० ॥

धृतराष्ट्रश्च तान्वीरान्विनीतान्विनये स्थितान् ।
शिष्यवृत्तौ स्थितान्नित्यं गुरुवत्पर्यपश्यत ॥ ११ ॥
धृतराष्ट्र भी शिष्यवृत्तियुक्त परमविनयमें स्थित बिनीत और सेवामें रत उन वीरोंके विषयमें गुरुकी भांति स्नेहयुक्त आचरण करने लगे ॥ ११ ॥

गान्धारी चैव पुत्राणां विविधैः श्राद्धकर्मभिः ।
आनृण्यमगमत्कामान्विप्रेभ्यः प्रतिपाद्य वै ॥ १२ ॥

इधर गान्धारीने भी अपने पुत्रोंके लिये विविध श्राद्ध–कार्यके उपलक्षमें ब्राह्मणोंको सब काम्य वस्तु दान करके, वह उनके ऋणसे मुक्त हो गयी ॥ १२ ॥

एवं धर्मभृतां श्रेष्ठो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातृभिः सहितो धीमान्पूजयामास तं नृपम् ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ ३८ ॥

धार्मिक लोगोंमें श्रेष्ठ धीमान् राजा धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाईयोंके साथ इस ही प्रकार सदा उन राजा धृतराष्ट्रकी सेवा करते रहे ॥ १३ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें दूसरा अध्याय समाप्त ॥ २ ॥ ३८ ॥

: ३ :

वैशम्पायन उवाच—

स राजा सुमहातेजा वृद्धः कुरुकुलोद्वहः ।
नापश्यत तदा किंचिदप्रियं पाण्डुनन्दने ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— कुरुकुलोद्वह महातेजस्वी वृद्ध राजा धृतराष्ट्रने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरका उस समय कुछ भी अप्रिय कार्य नहीं देखा ॥ १ ॥

वर्तमानेषु सद्वृत्तिं पाण्डवेषु महात्मसु ।
प्रीतिमानभवद्राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ २ ॥

उस समय महात्मा पाण्डव सदा अच्छा बर्ताव करते थे; इस कारण अम्बिकापुत्र राजा धृतराष्ट्र उनके ऊपर प्रसन्न हुए थे ॥ २ ॥

सौबलेयी च गान्धारी पुत्रशोकमपास्य तम् ।
सदैव प्रीतिमत्यासीत्तनयेषु निजेष्विव ॥ ३ ॥

सुबलपुत्री गान्धारी भी पाण्डवोंकी वृत्ति देखकर पुत्रशोक परित्याग करके निजपुत्रोंकी भांति उन लोगोंपर सदा प्रेम करती थी ॥ ३ ॥

प्रियाण्येव तु कौरव्यो नाप्रियाणि कुरूद्वह ।
वैचित्रवीर्ये नृपतौ समाचरति नित्यदा ॥ ४ ॥

कुरुप्रवीर ! राजा युधिष्ठिर विचित्रपुत्र राजा धृतराष्ट्रके विषयमें सदा अप्रिय आचरण न करके, केवल प्रिय कार्य ही करते थे ॥ ४ ॥

यद्यद्ब्रूते च किंचित्स धृतराष्ट्रो नराधिपः ।
गुरु वा लघु वा कार्यं गान्धारी च यशस्विनी ॥ ५ ॥

प्रजानाथ धृतराष्ट्र और यशस्विनी गान्धारी छोटा वा बडा जो कुछ कार्य करनेके लिये कहते ॥ ५ ॥

तत्स राजा महाराज पाण्डवानां धुरंधरः ।
पूजयित्वा वचस्तत्तदकार्षीत्परवीरहा ॥ ६ ॥

पाण्डवभारवाही परवीरघाती महाराज युधिष्ठिर उनकी पूजा करके उस वचनका प्रतिपालन करके वह पूर्ण करते थे ॥ ६ ॥

तेन तस्याभवत्प्रीतो वृत्तेन स नराधिपः ।
अन्वतप्यच्च संस्मृत्य पुत्रं मन्दमचेतसम् । ॥ ७ ॥

राजा धृतराष्ट्र युधिष्ठिरके व्यवहारसे प्रसन्न होकर, अपने उस मन्दबुद्धि निजपुत्रको स्मरण करके अनुताप करते थे ॥ ७ ॥

सदा च प्रातरुत्थाय कृतजप्यः शुचिर्नृपः ।
आशास्ते पाण्डुपुत्राणां समरेष्वपराजयम् ॥ ८ ॥

राजा धृतराष्ट्र प्रतिदिन भोरके समय उठके सन्ध्या और जप आदि दैवकार्योंको सम्पन्न करते हुए पवित्र चित्तसे पाण्डुपुत्रोंको युद्धमें विजयी होनेका अशीर्वाद देते थे ॥ ८ ॥

ब्राह्मणान्वाचयित्वा च हुत्वा चैव हुताशनम् ।
आयुष्यं पाण्डुपुत्राणामाशास्ते स नराधिपः ॥ ९ ॥

ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराके अग्निमें आहुति देनेपर राजा धृतराष्ट्र पाण्डुपुत्रोंके लिये अपरिमित आयुकी अभिलाषा करते थे ॥ ९ ॥

न तां प्रीतिं परामाप पुत्रेभ्यः स महीपतिः ।
यां प्रीतिं पाण्डुपुत्रेभ्यः समवाप तदा नृपः ॥ १० ॥

राजा धृतराष्ट्र पाण्डुपुत्रोंके निकट उनके बर्तावसे जिस प्रकार प्रसन्न हुए, उन्हें निज पुत्रोंके निकट वैसी प्रसन्नता प्राप्त नहीं हुई थी ॥ १० ॥

ब्राह्मणानां च वृद्धानां क्षत्रियाणां च भारत ।
तथा विट्शूद्रसंघानामभवत्सुप्रियस्तदा ॥ ११ ॥

भारत ! उस समय युधिष्ठिर ब्राह्मण, वृद्ध, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके साथ समान सद्भाव और बर्ताव करते थे, इसलिये वे सबके प्रिय हो गये थे ॥ ११ ॥

यच्च किंञ्चित्पुरा पापं धृतराष्ट्रसुतैः कृतम् ।
अकृत्वा हृदि तद्राजा तं नृपं सोऽन्ववर्तत ॥ १२ ॥

पहले धृतराष्ट्रके पुत्रोंने उनके साथ जो अनिष्टाचरण किया था, उस समय वे उसे अपने हृदयसे निकालके राजा धृतराष्ट्रके अत्यन्त अनुवर्ती हुए ॥ १२ ॥

यश्च कश्चिन्नरः किंचिदप्रियं चाम्बिकासुते ।
कुरुते द्वेष्यतामेति स कौन्तेयस्य धीमतः ॥ १३ ॥

उस समय जो कोई मनुष्य अम्बिकापुत्र राजा धृतराष्ट्रका तनिक भी अप्रिय कार्य कर देता, वह कुन्तीपुत्र बुद्धिमान् धर्मराजके द्वेषका पात्र बनता था ॥ १३ ॥

न राज्ञो धृतराष्ट्रस्य न च दुर्योधनस्य वै ।
उवाच दुष्कृतं किंचिद्युधिष्ठिरभयान्नरः ॥ १४ ॥

युधिष्ठिरके भयसे कोई भी मनुष्य राजा धृतराष्ट्र वा दुर्योधनके दुष्कृत्योंकी किंचित् भी बात नहीं करता था ॥ १४ ॥

धृत्या तुष्टो नरेन्द्रस्य गान्धारी विदुरस्तथा ।
शौचेन चाजातशत्रोर्न तु भीमस्य शत्रुहन् ॥ १५ ॥

हे शत्रुनाशन ! गान्धारी और विदुर अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरके धीरज और शुद्ध आचारसे जिस प्रकार सन्तुष्ट हुए, भीमके विषयमें वे वैसे सन्तुष्ट नहीं हुए ॥ १५ ॥

अन्ववर्तत भीमोऽपि निष्टनन्धर्मजं नृपम् ।
धृतराष्ट्रं च संप्रेक्ष्य सदा भवति दुर्मनाः ॥ १६ ॥

भीम भी दृढतासे धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरके मार्गका अनुसरण करते थे, परंतु धृतराष्ट्रको देखतेही उनके मनमें दुर्भावना निर्माण होती थी ॥ १६ ॥

राजानमनुवर्तन्तं धर्मपुत्रं महामतिम् ।
अन्ववर्तत कौरव्यो हृदयेन पराङ्मुखः ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ ५५ ॥

शत्रुसूदन कुरुवंशावतंस–भीम धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरको धृतराष्ट्रके अनुवर्ती देखकर ऊपरसे उनका अनुसरण करते थे, परंतु उनका हृदय राजा धृतराष्ट्रसे विमुख ही रहता था ॥ १७ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें तीसरा अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥ ५५ ॥

: ४ :

वैशम्पायन उवाच—

युधिष्ठिरस्य नृपतेर्दुर्योधनपितुस्तथा ।
नान्तरं ददृशू राजन्पुरुषाः प्रणयं प्रति ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– हे राजन् ! जनपदवासी सब पुरुष राजा युधिष्ठिर और दुर्योधनके पिता राजा धृतराष्ट्रकी प्रीतिके विषयमें कुछ भी अन्तर न मालूम कर सके ॥ १ ॥

यदा तु कौरवो राजा पुत्रं सस्मार बालिशम् ।
तदा भीमं हृदा राजन्नपध्याति स पार्थिवः ॥ २ ॥

हे महाराज ! जब कुरुवंशी राजा धृतराष्ट्र अपने मूर्ख पुत्रका स्मरण करते थे, तब वे मनमें भीमसेनका अनिष्ट चिंतन करते थे ॥ २ ॥

तथैव भीमसेनोऽपि धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
नामर्षयत राजेन्द्र सदैवातुष्टवद्धृदा ॥ ३ ॥

राजेन्द्र ! इस ही प्रकार भीमसेन भी सदा असंतुष्टकी भांति राजा धृतराष्ट्रके प्रति क्रोध ही रखते थे ॥ ३ ॥

अप्रकाशान्यप्रियाणि चकारास्य वृकोदरः ।
आज्ञां प्रत्यहरच्चापि कृतकैः पुरुषैः सदा ॥ ४ ॥

उसके अनन्तर वृकोदर धृतराष्ट्रके परोक्षमें अप्रिय कार्य करते हुए, सदा कृतज्ञ पुरुषोंके द्वारा उनकी आज्ञा भी भंग कराते थे ॥ ४ ॥

अथ भीमः सुहृन्मध्ये बाहुशब्दं तथाकरोत् ।
संश्रवे धृतराष्ट्रस्य गान्धार्याश्चाप्यमर्षणः ॥ ५ ॥

भीमसेन एक दिन धृतराष्ट्रके किसी कार्य तथा दुर्योधनके बुरे विचारको स्मरण करके अपने सुहृदोंके बीच अपनी बाहुओंपर ताल ठोंकते थे और अमर्षी भीम धृतराष्ट्र तथा गान्धारीको सुनाते हुए ॥ ५ ॥

स्मृत्वा दुर्योधनं शत्रुं कर्णदुःशासनावपि ।
प्रोवाचाथ सुसंरब्धो भीमः स परुषं वचः ॥ ६ ॥

क्रुद्ध होकर अपने शत्रु दुर्योधन, कर्ण और दुःशासनको याद करके इस प्रकार कठोर वाक्य कहने लगे ॥ ६ ॥

अन्धस्य नृपतेः पुत्रा मया परिघबाहुना ।
नीता लोकममुं सर्वे नानाशस्त्रात्तजीविताः ॥ ७ ॥

अन्धे राजा धृतराष्ट्रके शस्त्र और अस्त्रधारी महायोद्धा पुत्रोंको मेरी परिघसदृश दोनों भुजाके सहारे मैंने ही यमलोकमें भेजा है ॥ ७ ॥

इमौ तौ परिघप्रख्यौ भुजौ मम दुरासदौ ।
ययोरन्तरमासाद्य धार्तराष्ट्राः क्षयं गताः ॥ ८ ॥

धार्तराष्ट्रगण जिन भुजाओंके बीचमें पडके नष्ट हुए, मेरी ये वेही परिघसदृश दुर्धर दोनों भुजाएं विद्यमान हैं ॥ ८ ॥

ताविमौ चन्दनेनाक्तौ वन्दनीयौ च मे भुजौ ।
याभ्यां दुर्योधनो नीतः क्षयं ससुतबान्धवः । ॥ ९ ॥

जिन भुजाओंके द्वारा राजा दुर्योधन पुत्र और सुहृदोंके सहित नष्ट हुआ, मेरी ये वन्दनीय दोनों भुजाएं सुगन्धी चन्दनसे चर्चित होकर शोभित होती हैं ॥ ९ ॥

एताश्चान्याश्च विविधाः शल्यभूता जनाधिपः ।
वृकोदरस्य ता वाचः श्रुत्वा निर्वेदमागमत् ॥ १० ॥

राजा धृतराष्ट्रने भीमके शल्यसदृश ऐसे तथा अन्य प्रकारके वचन सुनकर परम दुःख पाया ॥ १० ॥

सा च बुद्धिमती देवी कालपर्यायवेदिनी ।
गान्धारी सर्वधर्मज्ञा तान्यलीकानि शुश्रुवे ॥ ११ ॥

समयकी गति जाननेवाली सर्वधर्मज्ञा बुद्धिमती गान्धारीने भी भीमसेनके इन अप्रिय वचनोंको सुना ॥ ११ ॥

ततः पञ्चदशे वर्षे समतीते नराधिपः ।
राजा निर्वेदमापेदे भीमवाग्बाणपीडितः ॥ १२ ॥

तिसके अनन्तर पन्दरह वर्ष बीतनेपर राजा धृतराष्ट्र भीमके वाग्बाणोंसे पीडित होकर परम दुःखको प्राप्त हुए ॥ १२ ॥

नान्वबुध्यत तद्राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
श्वेताश्वो वाथ कुन्ती वा द्रौपदी वा यशस्विनी ॥ १३ ॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर, श्वेताश्व अर्जुन, कुन्ती और यशस्विनी द्रौपदी– इन लोगोंको इस बातका पता नहीं था ॥ १३ ॥

माद्रीपुत्रौ च भीमस्य चित्तज्ञावन्वमोदताम् ।
राज्ञस्तु चित्तं रक्षन्तौ नोचतुः किंचिदप्रियम् ॥ १४ ॥

माद्रीपुत्र नकुल–सहदेव भीमसेनके मनको जानकर उनके अनुवर्ती हुए; परन्तु उन लोगोंने राजाके चित्तकी रक्षा करते हुए कुछ अप्रिय वचन न कहा ॥ १४ ॥

×

ततः समानयामास धृतराष्ट्रः सुहृज्जनम् ।
बाष्पसंदिग्धमत्यर्थमिदमाह वचो भृशम् ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ ७० ॥

अनन्तर धृतराष्ट्र अपने सुहृदोंको बुलवाकर आंखोंमें आंसू भरके उन लोगोंसे अत्यंत सगद्गदित बाणीसे इस प्रकार कहने लगे ॥ १५ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें चौथा अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥ ७० ॥

: ५ :

धृतराष्ट्र उवाच—
विदितं भवतामेतद्यथा वृत्तः कुरुक्षयः ।
ममापराधात्तत्सर्वमिति ज्ञेयं तु कौरवाः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले– जिस प्रकार कुरुकुलका नाश हुआ है, उसे तुम लोग विशेष रीतिसे जानते हो; मेरे ही अपराधसे सारा अनर्थ हुआ है, यह सब कौरव जानते हैं ॥ १ ॥

योऽहं दुष्टमतिं मूढं ज्ञातीनां भयवर्धनम् ।
दुर्योधनं कौरवाणामाधिपत्येऽभ्यषेचयम् ॥ २ ॥

मैंने दुर्बुद्धिवश, स्वजनोंके भयबर्धक, मूढ दुर्योधनको कौरवोंके राज्यपर अभिषिक्त किया था ॥ २ ॥

यच्चाहं वासुदेवस्य वाक्यं नाश्रौषमर्थवत् ।
वध्यतां साध्वयं पाप सामात्य इति दुर्मतिः ॥ ३ ॥

मैंने वसुदेवपुत्र श्रीकृष्णका सार्थक वचन नहीं सुना कि इस दुर्मति पापी दुर्योधनको मन्त्रियोंके सहित मार डाला जाय ॥ ३ ॥

पुत्रस्नेहाभिभूतश्च हितमुक्तो मनीषिभिः ।
विदुरेणाथ भीष्मेण द्रोणेन च कृपेण च ॥ ४ ॥

मनीषी पुरुषोंने मुझे यह हितकी बात कही थी, परंतु उस हितकर वचनको मैंने पुत्रस्नेहसे युक्त होकर नहीं सुना । विदुर, भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य ॥ ४ ॥

पदे पदे भगवता व्यासेन च महात्मना ।
सञ्जयेनाथ गान्धार्या तदिदं तप्यतेऽद्य माम् ॥ ५ ॥

महात्मा भगवान् व्यासदेव, सञ्जय और गान्धारीने भी मुझे योग्य सलाह बार बार दी थी, परंतु मैंने किसीकी बात नहीं मानी । आज यह भूल मुझे अत्यन्त संताप देती है ॥ ५ ॥

यच्चाहं पाण्डुपुत्रेण गुणवत्सु महात्मसु ।
न दत्तवाञ्छ्रियं दीप्तां पितृपैतामहीमिमाम् ॥ ६ ॥

और गुणवान् महात्मा पाण्डुपुत्रोंको यह पितृपैतामहसे प्राप्त प्रदीप्त श्री मैंने प्रदान नहीं की ॥ ६ ॥

विनाशं पश्यमानो हि सर्वराज्ञां गदाग्रजः ।
एतच्छ्रेयः स परममन्यत जनार्दनः ॥ ७ ॥

गदाग्रज जनार्दनने सब राजाओंका विनाश अवलोकन करके ही इसे परम मङ्गल समझा था ॥ ७ ॥

सोऽहमेतान्यलीकानि निवृत्तान्यात्मनः सदा ।
हृदये शल्यभूतानि धारयामि सहस्रशः ॥ ८ ॥

निज दोषसे उत्पन्न हुई हजारों भूलें मैं हृदयमें धारण करता हूं; ये इस समय कांटोंके समान पीडा देती हैं ॥ ८ ॥

विशेषतस्तु दह्यामि वर्षं पञ्चदशं हि वै ।
अस्य पापस्य शुद्ध्यर्थं नियतोऽस्मि सुदुर्मतिः ॥ ९ ॥

पन्द्रह वर्ष व्यतीत हुए हैं, आज यह विशेष रीतिसे मुझे जलाती हैं; मैं दुर्मति होनेसे उस पापकी शुद्धिके लिये नियमका पालन करता हूं ॥ ९ ॥

चतुर्थे नियते काले कदाचिदपि चाष्टमे ।
तृष्णाविनयनं भुञ्जे गान्धारी वेद तन्मम ॥ १० ॥

मैं जो समयके चौथे भाग और कभी आठवें भागमें केवल भूख निवारणके योग्य भोजन किया करता हूं; मेरे इस नियमको गान्धारी ही जानती है ॥ १० ॥

करोत्याहारमिति मां सर्वः परिजनः सदा ।
युधिष्ठिरभयाद्वेत्ति भृशं तप्यति पाण्डवः ॥ ११ ॥

मैं प्रतिदिन भोजन करता हूं, ऐसा ही सब लोगोंको ज्ञात है । पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मेरे भूखा रहनेसे अत्यन्त दुःखी होंगे इस भयसे ही मैं ऐसा करता हूं; वे मुझे आराम देनेके लिये बहुत चिन्तित रहते हैं ॥ ११ ॥

भूमौ शये जप्यपरो दर्भेष्वजिनसंवृतः ।
नियमव्यपदेशेन गान्धारी च यशस्विनी ॥ १२ ॥

यशस्विनी गान्धारी और मैं नियमच्छलसे मृगचर्म पहरके दर्भशय्यापर बैठकर ध्यानधारणा करते और भूमिपर शयन किया करते हैं ॥ १२ ॥

हतं पुत्रशतं शूरं संग्रामेष्वपलायिनम् ।
नानुतप्यामि तच्चाहं क्षत्रधर्मं हि तं विदुः ।
इत्युक्त्वा धर्मराजानमभ्यभाषत कौरवः ॥ १३ ॥

हमारे युद्धमें न भागनेवाले सौ शूरपुत्र मारे गये हैं, क्षत्रियधर्म समझके मैं उस विषयमें शोक नहीं करता । कुरुनन्दन धृतराष्ट्र अपने सुहृदोंसे ऐसा वचन कहके फिर धर्मराज युधिष्ठिरसे कहने लगे ॥ १३ ॥

भद्रं ते यादवीमातर्वाक्यं चेदं निबोध मे ।
सुखमस्म्युषितः पुत्र त्वया सुपरिपालितः ॥ १४ ॥

हे कुंतीपुत्र ! तुम्हारा मङ्गल हो, तुम मेरा यह बचन सुनो। हे पुत्र ! मैं तुमसे उत्तम रीतिसे रक्षित होकर सुखसे निवास करता हूं ॥ १४ ॥

महादानानि दत्तानि श्राद्धानि च पुनः पुनः ।
प्रकृष्टं मे वयः पुत्र पुण्यं चीर्णं यथाबलम् ।
गान्धारी हतपुत्रेयं धैर्येणोदीक्षते च माम् ॥ १५ ॥

मैं बार बार श्राद्ध और महादान करता हूं। हे पुत्र ! मेरी आयु बहुत हो गयी है, और मैंने शक्तिके अनुसार यथार्थ रीतिसे पुण्यसञ्चय किया है; इसीसे यह हतपुत्रा गान्धारी धीरज अवलम्बन करके मेरी देखभाल करती है ॥ १५ ॥

द्रौपद्या ह्यपकर्तारस्तव चैश्वर्यहारिणः ।
समतीता नृशंसास्ते धर्मेण निहता युधि ॥ १६ ॥

जिन्होंने द्रौपदीकी बुराई की थी, तुम्हारे ऐश्वर्यका अपहरण किया था, वे क्रूरकर्मा मेरे पुत्र युद्धमें क्षत्रियधर्मके अनुसार मारे गये हैं ॥ १६ ॥

न तेषु प्रतिकर्तव्यं पश्यामि कुरुनन्दन ।
सर्वे शस्त्रजिताँल्लोकान्गतास्तेऽभिमुखं हताः ॥ १७ ॥

हे कुरुनन्दन ! इसलिये उन लोगोंके विषयमें कुछ भी कर्तव्य नहीं देखता हूं, वे सब युद्धमें सामने मारे गये हैं, इस लिये शस्त्रधारण करके विजय पानेवालोंको मिलनेवाले लोकोंमें गये हैं ॥ १७ ॥

आत्मनस्तु हितं मुख्यं प्रतिकर्तव्यमद्य मे ।
गान्धार्याश्चैव राजेन्द्र तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ १८ ॥

राजेन्द्र ! इस समय मुझे तथा गान्धारीको निज हितके लिये मुख्यकर्म करना चाहिये, उस विषयमें तुम्हें हमें अनुमति देनी उचित है ॥ १८ ॥

त्वं हि धर्मभृतां श्रेष्ठः सततं धर्मवत्सलः ।
राजा गुरुः प्राणभृतां तस्मादेतद्ब्रवीम्यहम् ॥ १९ ॥

तुम सब धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ और सदा धर्मवत्सल हो। राजा सब प्राणियोंके लिये गुरुकी भांति वंदनीय होता है, इसही लिये मैंने तुमसे ऐसा कहा है ॥ १९ ॥

अनुज्ञातस्त्वया वीर संश्रयेयं वनान्यहम् ।
चीरवल्कलभृद्राजन्गान्धार्या सहितोऽनया ।
तवाशिषः प्रयुञ्जानो भविष्यामि वनेचरः ॥ २० ॥

हे वीर राजन् ! तुम्हारी अनुमति होनेपर मैं चीर और बल्कल पहरके इस गान्धारीके सहित बनको चला जाऊंगा। हे पुत्र ! मैं बनबासी होके तुम्हें आशीर्वाद देता रहूंगा ॥ २० ॥

उचितं नः कुले तात सर्वेषां भरतर्षभ ।
पुत्रेष्वैश्वर्यमाधाय वयसोऽन्ते वनं नृप ॥ २१ ॥

हे तात ! भरतश्रेष्ठ राजन् ! हमारे कुलके सब राजाओंको यही उचित है कि अन्तिम अवस्थामें पुत्रोंको राज्य देकर स्वयं बनमें जाएं ॥ २१ ॥

तत्राहं वायुभक्षो वा निराहारोऽपि वा वसन् ।
पत्न्या सहानया वीर चरिष्यामि तपः परम् ॥ २२ ॥

वीर ! बनमें जाकर वहां वायुभक्षी अथवा निराहार होकर अपनी इस पत्नीके सहित परम तपस्या करूंगा ॥ २२ ॥

त्वं चापि फलभाक्तात तपसः पार्थिवो ह्यसि ।
फलभागो हि राजानः कल्याणस्येतरस्य वा ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥ ९३ ॥

तात ! तुम भी पृथ्वीपति होनेसे तपस्याके फलके भागी होंगे, क्योंकि राजा लोग सत् तथा असत् कार्योंके फलभागी हुआ करते हैं ॥ २३ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें पांचवां अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥ ९३ ॥

: ६ :

युधिष्ठिर उवाच—

न मां प्रीणयते राज्यं त्वय्येवं दुःखिते नृप ।
धिङ्मामस्तु सुदुर्बुद्धिं राज्यसक्तं प्रमादिनम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे नरनाथ ! आपके इस प्रकार दुःखित होनेसे यह राज्य मुझे प्रीतिकर नहीं होता । मैं अत्यन्त दुर्बुद्धि, राज्यासक्त और प्रमादी हूं, इसलिये मुझे धिक्कार है ॥ १ ॥

योऽहं भवन्तं दुःखार्तमुपवासकृशं नृप ।
यताहारं क्षितिशयं नाविन्दं भ्रातृभिः सह ॥ २ ॥

क्योंकि राजन् ! भाईयोंके सहित आपको दुःखार्त, उपवाससे अत्यन्त कृश, नियत आहारी और भूतलशायी हैं, यह न जान सका ॥ २ ॥

अहोऽस्मि वञ्चितो मूढो भवता गूढबुद्धिना ।
विश्वासयित्वा पूर्वं मां यदिदं दुःखमश्नुथाः ॥ ३ ॥

आपने अपने बिचारोंको छिपाकर रखनेके कारण मैं मूढबुद्धि प्रमादित हुआ हूं; क्योंकि आप पहले मेरा विश्वास करके इस प्रकार दुःख भोग करते हैं ॥ ३ ॥

किं मे राज्येन भोगैर्वा किं यज्ञैः किं सुखेन वा।
यस्य मे त्वं महीपाल दुःखान्येतान्यवाप्तवान् ॥ ४ ॥

हे महाराज! मेरे जीवित रहते जब आपको ऐसा दुःख मिला है, तब इस राज्यसे, इन भोगोंसे, यज्ञोंसे अथवा सुखसे मुझे क्या लाभ हुआ है? ॥ ४ ॥

पीडितं चापि जानामि राज्यमात्मानमेव च।
अनेन वचसा तुभ्यं दुःखितस्य जनेश्वर ॥ ५ ॥

हे जननाथ! आपके इस दुःखसूचक वचनके सहारे मैं राज्यको तथा अपनेको दुःखित मानता हूं ॥ ५ ॥

भवान्पिता भवान्माता भवान्नः परमो गुरुः।
भवता विप्रहीणा हि क नु तिष्ठामहे वयम् ॥ ६ ॥

आप हमारे पिता, माता और परम गुरु हैं; इसलिये हम लोग आपसे रहित होके कहां निवास करेंगे? ॥ ६ ॥

औरसो भवतः पुत्रो युयुत्सुर्नृपसत्तम।
अस्तु राजा महाराज यं चान्यं मन्यते भवान् ॥ ७ ॥

हे नृपसत्तम! महाराज! आपके औरस पुत्र युयुत्सु अथवा आप जिसके लिये इच्छा करें, वह पुरुषही इस राज्यपर अभिषिक्त होवे ॥ ७ ॥

अहं वनं गमिष्यामि भवान्राज्यं प्रशास्त्विदम्।
न मामयशसा दग्धं भूयस्त्वं दग्धुमर्हसि ॥ ८ ॥

मैं वनमें चला जाऊंगा, आप स्वयं इस राज्यका शासन करिये। मैं अपयशकी आगमें जल गया हूं, अब आप फिर मुझे न जलाइये ॥ ८ ॥

नाहं राजा भवान्राजा भवता परवानहम्।
कथं गुरुं त्वां धर्मज्ञमनुज्ञातुमिहोत्सहे ॥ ९ ॥

मैं राजा नहीं हूं, आपही राजा, धर्मज्ञ और हमारे गुरु हैं; इसलिये मैं आपके अधीन होकर किस प्रकार आपके विषयमें आज्ञा करनेमें उत्साहित हूंगा? ॥ ९ ॥

न मन्युर्हृदि नः कश्चिद्दुर्योधनकृतेऽनघ।
भवितव्यं तथा तद्धि वयं ते चैव मोहिताः ॥ १० ॥

हे अनघ! दुर्योधनने जो किया है, उसके निमित्त हमारे अन्तःकरणमें तनिक भी क्रोध नहीं है; उस समय भवितव्यताके अनुसारही हम लोग और वे भी उसीसे मोहित हुए थे ॥ १० ॥

वयं हि पुत्रा भवतो यथा दुर्योधनादयः ।
गान्धारी चैव कुन्ती च निर्विशेषे मते मम ॥ ११ ॥

दुर्योधनादिकी भांति हम लोग भी आपके पुत्र हैं; गांधारी और कुंती इन दोनोंको मैं समानही मानता हूं ॥ ११ ॥

स मां त्वं यदि राजेन्द्र परित्यज्य गमिष्यसि ।
पृष्ठतस्त्वानुयास्यामि सत्येनात्मानमालभे ॥ १२ ॥

हे राजन् ! इसलिये यदि आप मुझे छोडकर चले जायंगे, तो मैं भी आपका अनुगामी हो जाऊंगा, यह मैं अपनी सौगंध खाकर सत्य कहता हूं ॥ १२ ॥

इयं हि वसुसंपूर्णा मही सागरमेखला ।
भवता विप्रहीणस्य न मे प्रीतिकरी भवेत् ॥ १३ ॥

आपसे रहित होनेपर यह धनयुक्त तथा सागरमेखला सारी पृथ्वी मुझे प्रिय न होगी ॥ १३ ॥

भवदीयमिदं सर्वं शिरसा त्वां प्रसादये ।
त्वदधीनाः स्म राजेन्द्र व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ १४ ॥

हे राजेन्द्र ! यह सब आपका ही है । मैं सिर झुकाकर आपको प्रार्थना करता हूं कि आप प्रसन्न हो जाइये । हम लोग आपकेही अधीन हैं, आप अपने मनका दुःख दूर करिये ॥ १४ ॥

भवितव्यमनुप्राप्तं मन्ये त्वां तज्जनाधिप ।
दिष्ट्या शुश्रूषमाणस्त्वां मोक्ष्यामि मनसो ज्वरम् ॥ १५ ॥

हे पृथ्वीपति ! मुझे बोध होता है, कि आप भवितव्यके अनुवर्ती होकरही इस प्रकार मनका दुःख भोग करते हैं, इसलिये मैं भाग्यसे ही आपकी सेवा करके आपके मनका दुःख दूर करूंगा ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

तापस्ये मे मनस्तात वर्तते कुरुनन्दन ।
उचितं हि कुलेऽस्माकमरण्यगमनं प्रभो ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र बोले– हे पुत्र ! कुरुनन्दन ! मेरा मन तपस्यामें प्रवृत्त हुआ है । वनमें जाना हमारा कुलोचित कर्म है ॥ १६ ॥

चिरमस्म्युषितः पुत्र चिरं शुश्रूषितस्त्वया ।
वृद्धं मामभ्यनुज्ञातुं त्वमर्हसि जनाधिप ॥ १७ ॥

हे पुत्र ! जनाधिप ! मैं बहुत समय तक तुम्हारे समीप रहा हूं और तुमने बहुत दिनोंतक मेरी सेवा की है । अब मैं वृद्ध हुआ हूं, इसलिये मुझे वनमें जानेके लिये तुम्हें अनुमती देनी उचित है ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्त्वा धर्मराजानं वेपमानः कृताञ्जलिम् ।
उवाच वचनं राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ १८ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– राजा धृतराष्ट्रकी यह बात सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर कांपते हुए शरीरसे हाथ जोडके चूप बैठे । अम्बिकापुत्र राजा धृतराष्ट्र उनसे यह कहकर ॥ १८ ॥

सञ्जयं च महामात्रं कृपं चापि महारथम् ।
अनुनेतुमिहेच्छामि भवद्भिः पृथिवीपतिम् ॥ १९ ॥

महामात्र सञ्जय और महारथी कृपाचार्यसे बोले– मैं तुम लोगोंसे पृथ्वीपति युधिष्ठिरको समझानेकी इच्छा करता हूं ॥ १९ ॥

ग्लायते मे मनो हीदं मुखं च परिशुष्यति ।
वयसा च प्रकृष्टेन वाग्व्यायामेन चैव हि ॥ २० ॥

वृद्धावस्थाके धर्म और बोलनेका परिश्रमसे मेरा मन थका हुआ तथा मुख सूखा गया है ॥ २० ॥

इत्युक्त्वा स तु धर्मात्मा वृद्धो राजा कुरूद्वहः ।
गान्धारीं शिश्रिये धीमान्सहसैव गतासुवत् ॥ २१ ॥

धीमान् धर्मात्मा वृद्ध राजा कुरुकुलश्रेष्ठ धृतराष्ट्रने इतनी बात कहके सहसा चेतरहितकी भांति गान्धारीका सहारा ग्रहण किया ॥ २१ ॥

तं तु दृष्ट्वा तथासीनं निश्चेष्टं कुरुपार्थिवम् ।
आर्तिं राजा ययौ तूर्णं कौन्तेयः परवीरहा ॥ २२ ॥

परवीरसूदन कुंतीपुत्र राजा युधिष्ठिर कुरुराजा धृतराष्ट्को चेतरहितकी भांति बैठे हुए देखकर शीघ्रही मनमें तीव्र व्यथाको प्राप्त हुए ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

यस्य नागसहस्रेण दशसंख्येन वै बलम् ।
सोऽयं नारीमुपाश्रित्य शेते राजा गतासुवत् ॥ २३ ॥

और बोले– हाय ! दस हजार हाथियोंका बल धारण करते थे, वे ही ये राजा धृतराष्ट्र इस समय चेतरहितकी भांति होकर स्त्रीका सहारा लेके सो रहे हैं ॥ २३ ॥

आयसी प्रतिमा येन भीमसेनस्य वै पुरा ।
चूर्णीकृता बलवता स बलार्थी श्रितः स्त्रियम् ॥ २४ ॥

जिन बलवानने पहले भीमसेनकी लोहमयी प्रतिमाको चूर कर दिया था, सामर्थ्यकी इच्छा करनेवाले उन्होंने इस समय स्त्रीका आश्रय ग्रहण किया है ॥ २४ ॥

धिगस्तु मामधर्मज्ञं धिग्बुद्धिं धिक्च मे श्रुतम् ।
यत्कृते पृथिवीपालः शेतेऽयमतथोचितः ॥ २५ ॥

जब कि इन पृथ्वीपति राजा धृतराष्ट्रने मेरे निमित्त अनुचितरूपसे शयन किया, तो मैं अधर्मज्ञ हूं, इसलिये मेरी बुद्धि, शास्त्रज्ञान तथा मुझे धिक्कार है ॥ २५ ॥

अहमप्युपवत्स्यामि यथैवायं गुरुर्मम ।
यदि राजा न भुङ्क्तेऽयं गान्धारी च यशस्विनी ॥ २६ ॥

यदि ये राजा धृतराष्ट्र और यशस्विनी गान्धारी भोजन नहीं करते हैं, तो मैं भी अपने गुरु राजा धृतराष्ट्रकी भांति उपवास करूंगा ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततोऽस्य पाणिना राजा जलशीतेन पाण्डवः ।
उरो मुखं च शनकैः पर्यमार्जत धर्मवित् ॥ २७ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— तिसके अनन्तर धार्मिकश्रेष्ठ पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर जलसे शीतल किये हुए करकमलके सहारे धृतराष्ट्रका वक्षस्थल और मुखमण्डल पोंछने लगे ॥ २७ ॥

तेन रत्नौषधिमता पुण्येन च सुगन्धिना ।
पाणिस्पर्शेन राज्ञस्तु राजा संज्ञामवाप ह ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ १२१ ॥

तब राजा धृतराष्ट्र महीपति युधिष्ठिरके रत्नौषधिसम्पन्न पवित्र गन्धयुक्त हाथके स्पर्शसे चैतन्ययुक्त हो गये ॥ २८ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें छठा अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥ १२१ ॥

: ७ :

धृतराष्ट्र उवाच—

स्पृश मां पाणिना भूयः परिष्वज च पाण्डव ।
जीवामीव हि संस्पर्शात्तव राजीवलोचन ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—हे राजीवलोचन पाण्डुपुत्र ! तुम अपने उत्तम शीतल करकमलोंसे मुझे बार बार स्पर्श तथा आलिंगन करो । तुम्हारे स्पर्शसे मानो मैं फिर जीवित हुआ हूं ॥ १ ॥

मूर्धानं च तवाघ्रातुमिच्छामि मनुजाधिप ।
पाणिभ्यां च परिस्प्रष्टुं प्राणा हि न जहुर्मम ॥ २ ॥

हे नरनाथ ! इस समय मैं तुम्हारा मस्तक सूंघना चाहता हूं और दोनों भुजाओंसे स्पर्श करनेकी इच्छा करता हूं; ऐसा करनेसे मेरे प्राण मुझे छोडकर नहीं जायेंगे ॥ २ ॥

अष्टमो ह्यद्य कालोऽयमाहारस्य कृतस्य मे ।
येनाहं कुरुशार्दूल न शक्नोमि विचेष्टितुम् ॥ ३ ॥

हे कुरुशार्दूल ! पिछले दिनों जब मैंने भोजन किया था, तबसे आज यह आठवां समय पूरा हो गया है; इसीसे आज हाथ पांव आदि अङ्गोंको चलानेमें असमर्थ हो रहा हूं ॥ ३ ॥

व्यायामश्चायमत्यर्थं कृतस्त्वामभियाचता ।
ततो ग्लानमनास्तात नष्टसंज्ञ इवाभवम् ॥ ४ ॥

तात ! विशेष करके यह सब वृत्तान्त तुम्हें विदित करके तुमसे अनुरोध करनेमें मुझे अत्यंत परिश्रम हुआ, इसीसे क्षीणशक्ति होकर मेरी संज्ञा विलुप्त सी हुई थी ॥ ४ ॥

तवामृतसमस्पर्शं हस्तस्पर्शमिमं विभो ।
लब्ध्वा संजीवितोऽस्मीति मन्ये कुरुकुलोद्वह ॥ ५ ॥

हे विभो ! कुरुकुलोद्वह ! फिर ऐसा समझता हूं, कि तुम्हारे इस अमृतरसके समान शीतल और सुखद हाथके स्पर्शसे मैं जीवित हुआ ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तस्तु कौन्तेयः पित्रा ज्येष्ठेन भारत ।
पस्पर्श सर्वगात्रेषु सौहार्दात्तं शनैस्तदा ॥ ६ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले- हे भारत ! उस समय कुंतीपुत्र युधिष्ठिर पितासे जेठे राजा धृतराष्ट्रका ऐसा वचन सुनके सुहृदयतापूर्वक धीरे धीरे उनके सारे शरीरको स्पर्श करने लगे ॥ ६ ॥

उपलभ्य ततः प्राणान्धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
बाहुभ्यां संपरिष्वज्य मूर्ध्न्याजिघ्रत पाण्डवम् ॥ ७ ॥

अनन्तर पृथ्वीपति धृतराष्ट्रने युधिष्ठिरके करस्पर्शसे प्राणलाभ करके अपनी दोनों भुजाओंसे पाण्डुपुत्रको आलिंगन करते हुए उसका मस्तक सूंघा ॥ ७ ॥

विदुरादयश्च ते सर्वे रुरुदुर्दुःखिता भृशम् ।
अतिदुःखाच्च राजानं नोचुः किंचन पाण्डवाः ॥ ८ ॥

विदुर प्रभृति सब कोई अत्यन्त दुःखित होकर रोदन करने लगे । परन्तु अत्यन्त दुःखके कारण उनके भाई राजा युधिष्ठिरसे कुछ न कह सके ॥ ८ ॥

गान्धारी त्वेव धर्मज्ञा मनसोद्वहती भृशम् ।
दुःखान्यवारयद्राजन्मैवमित्येव चाब्रवीत् ॥ ९ ॥

हे महाराज ! धर्म जाननेवाली गान्धारी भी व्याकुलचित्तसे अपने मनके बीच दुःखका बडा भारी बोझ धारण करती हुई यह बचन बोली- 'आप लोग ऐसा न करिये' ॥ ९ ॥

इतरास्तु स्त्रियः सर्वाः कुन्त्या सह सुदुःखिताः ।
नेत्रैरागतविक्लेदैः परिवार्य स्थिताभवन् ॥ १० ॥

कुंतीके सहित अन्य स्त्रियां अत्यंत दुःखी हो आंखोंसे आंसू बहाती हुई उन्हें घेरकर खडी हो गयीं ॥ १० ॥

अथाब्रवीत्पुनर्वाक्यं धृतराष्ट्रो युधिष्ठिरम् ।
अनुजानीहि मां राजंस्तापस्ये भरतर्षभ ॥ ११ ॥

तिसके अनन्तर राजा धृतराष्ट्र युधिष्ठिरसे फिर बोले– हे महाराज ! भरतश्रेष्ठ ! तुम मुझे तप करनेके लिये अनुमति दे दो ॥ ११ ॥

ग्लायते मे मनस्तात भूयो भूयः प्रजल्पतः ।
न मामतः परं पुत्र परिक्लेष्टुमिहार्हसि ॥ १२ ॥

हे तात ! इस विषयमें बार बार आलोचन करते हुए मेरा मन दुर्बल होता है, इसलिये इसके अनन्तर मुझे क्लेश देना तुम्हें उचित नहीं है ॥ १२ ॥

तस्मिंस्तु कौरवेन्द्रे तं तथा ब्रुवति पाण्डवम् ।
सर्वेषामवरोधानामार्तनादो महानभूत् ॥ १३ ॥

वे कौरवेन्द्र धृतराष्ट्र जब पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरसे ऐसा कह रहे थे, उस समय अन्तर्गृहके बीच महान् आर्तनाद होने लगा ॥ १३ ॥

दृष्ट्वा कृशं विवर्णं च राजानमतथोचितम् ।
उपवासपरिश्रान्तं त्वगस्थिपरिवारितम् ॥ १४ ॥

अपने जेठे पिता राजा धृतराष्ट्रको उपवाससे परिश्रान्त, विवर्ण, दुर्बल, अस्थि मात्र अवशिष्ट और अयोग्य अवस्थामें स्थित देखकर ॥ १४ ॥

धर्मपुत्रः स पितरं परिष्वज्य महाभुजः ।
शोकजं बाष्पमुत्सृज्य पुनर्वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

महाभुज धर्मपुत्र युधिष्ठिर उन्हें आलिंगन करके शोकयुक्त होकर आंसू बहाते हुए फिर उनसे कहने लगे ॥ १५ ॥

न कामये नरश्रेष्ठ जीवितं पृथिवीं तथा ।
यथा तव प्रियं राजंश्चिकीर्षामि परंतप ॥ १६ ॥

हे नरनाथ ! मैं जीवन तथा पृथ्वीका राज्य नहीं चाहता हूं । परंतप राजन् ! जो आपको प्रिय कार्य लगता है, वही मैं करना चाहता हूं ॥ १६ ॥

यदि त्वहमनुग्राह्यो भवतो दयितोऽपि वा ।
क्रियतां तावदाहारस्ततो वेत्स्यामहे वयम् । ॥ १७ ॥

यदि मैं आपको प्रिय हूं, तथा मुझपर आपकी कृपा है, तो आप मेरी प्रार्थनासे भोजन करें। फिर हम विचार करेंगे ॥ १७ ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा धर्मपुत्रं स पार्थिवः ।
अनुज्ञातस्त्वया पुत्र भुञ्जीयामिति कामये ॥ १८ ॥

तिसके अनन्तर महातेजस्वी राजा धृतराष्ट्र धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे बोले– हे पुत्र ! तुम मुझे बनमें जानेकी अनुमति देंगे, तो मैं भोजन करूं, यही मेरी इच्छा है ॥ १८ ॥

इति ब्रुवति राजेन्द्रे धृतराष्ट्रे युधिष्ठिरम् ।
ऋषिः सत्यवतीपुत्रो व्यासोऽभ्येत्य वचोऽब्रवीत् ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥ १४० ॥

राजेन्द्र धृतराष्ट्रके ऐसा ही कहते रहनेपर सत्यवतीपुत्र ऋषिश्रेष्ठ वेदव्यास मुनि वहां आके कहने लगे ॥ १९ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें सातवां अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥ १४० ॥

: ८ :

व्यास उवाच–

युधिष्ठिर महाबाहो यदाह कुरुनन्दनः ।
धृतराष्ट्रो महात्मा त्वां तत्कुरुष्वाविचारयन् ॥ १ ॥

श्रीवेदव्यास मुनि बोले– हे महाबाहो ! युधिष्ठिर ! महात्मा कुरुनन्दन धृतराष्ट्र जो कुछ तुम्हें कहते हैं, तुम उस बिषयमें कुछ विचार न करके उस कार्यको पूरा करो ॥ १ ॥

अयं हि वृद्धो नृपतिर्हतपुत्रो विशेषतः ।
नेदं कृच्छ्रं चिरतरं सहेदिति मतिर्मम ॥ २ ॥

ये राजा वृद्ध और विशेष करके पुत्ररहित हैं; इसलिये मुझे बोध होता है, कि ये इस प्रकार अधिक कालतक कष्ट सहनेमें समर्थ नहीं होंगे ॥ २ ॥

गान्धारी च महाभागा प्राज्ञा करुणवेदिनी ।
पुत्रशोकं महाराज धैर्येणोद्वहते भृशम् ॥ ३ ॥

हे महाराज ! करुणाको जाननेवाली बुद्धिमती महाभागा यह गान्धारी भी धैर्यके सहारे हृदयमें महान् पुत्रशोकको धारण करती है ॥ ३ ॥

अहमप्येतदेव त्वां ब्रवीमि कुरु मे वचः ।
अनुज्ञां लभतां राजा मा वृथेह मरिष्यति ॥ ४ ॥

इसलिये मैं भी तुम्हें यही कहता हूं, कि तुम मेरा बचन परिपालन करो। राजा धृतराष्ट्रको वनमें जानेकी अनुमति मिलनेपर वे यहां व्यर्थ नहीं मरेंगे ॥ ४ ॥

राजर्षीणां पुराणानामनुयातु गतिं नृपः ।
राजर्षीणां हि सर्वेषामन्ते वनमुपाश्रयः ॥ ५ ॥

ये राजा भी पुराने राजर्षियोंके पथका अनुसरण कर सकें, ऐसा करो; अन्तकालमें सब राजर्षियोंको वनका अवलम्बन करना ही कल्याणकारी है ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्तः स तदा राजा व्यासेनाद्भुतकर्मणा ।
प्रत्युवाच महातेजा धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– उस समय महातेजस्वी धर्मराज राजा युधिष्ठिर, अद्भुतकर्मा महामुनि व्यासदेवका ऐसा वचन सुनके उनसे बोले ॥ ६ ॥

भगवानेव नो मान्यो भगवानेव नो गुरुः ।
भगवानस्य राज्यस्य कुलस्य च परायणम् ॥ ७ ॥

हे भगवन् ! आपही हमारे महामान्य और गुरु हैं तथा इस राज्य और कुलके परम आधार भी हैं ॥ ७ ॥

अहं तु पुत्रो भगवान्पिता राजा गुरुश्च मे ।
निदेशवर्ती च पितुः पुत्रो भवति धर्मतः ॥ ८ ॥

भगवान् ! आप और राजा मेरे पिता तथा गुरु हैं; जब कि पुत्र धर्मपूर्वक पिताका आज्ञाकारी हुआ करता है, तब आप लोग मुझे जो कुछ आज्ञा करेंगे, मैं उस ही समय उसे करूंगा ॥ ८ ॥

इत्युक्तः स तु तं प्राह व्यासो धर्मभृतां वरः ।
युधिष्ठिरं महातेजाः पुनरेव विशां पते ॥ ९ ॥

हे पृथ्वीपति ! महातेजस्वी, धर्म धारण करनेवालोंमें श्रेष्ठ व्यासदेवसे जब युधिष्ठिरने ऐसा वचन कहा, तब वे फिर उनसे कहने लगे ॥ ९ ॥

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
राजायं वृद्धतां प्राप्तः प्रमाणे परमे स्थितः ॥ १० ॥

हे महाबाहो भारत ! तुमने जो कहा वह सत्य है; परन्तु ये राजा धृतराष्ट्र वृद्धत्वको प्राप्त होके अन्तिम अवस्थामें स्थित हैं ॥ १० ॥

सोऽयं मयाभ्यनुज्ञातस्त्वया च पृथिवीपते ।
करोतु स्वमभिप्रायं मास्य विघ्नकरो भव ॥ ११ ॥

पृथ्वीपते ! इस समय ये तुम्हारे द्वारा तथा मुझसे अनुज्ञात होकर निज मनोरथ पूर्ण करें; तुम उसमें विघ्नकारी मत बनो ॥ ११ ॥

एष एव परो धर्मो राजर्षीणां युधिष्ठिर ।
समरे वा भवेन्मृत्युर्वने वा विधिपूर्वकम् ॥ १२ ॥

हे युधिष्ठिर ! युद्धमें वा वनमें विधिपूर्वक प्राणत्याग करना ही राजर्षियोंका परम धर्म है ॥ १२ ॥

पित्रा तु तव राजेन्द्र पाण्डुना पृथिवीक्षिता ।
शिष्यभूतेन राजायं गुरुवत्पर्युपासितः ॥ १३ ॥

हे राजेन्द्र ! तुम्हारे पिता पृथ्वीपति पाण्डुने भी शिष्यवृत्तिका अवलम्बन करके गुरुकी भांति इन राजाकी उपासना की थी ॥ १३ ॥

क्रतुभिर्दक्षिणावद्भिरन्नपर्वतशोभितैः ।
महद्भिरिष्टं भोगाश्च भुक्ताः पुत्राश्च पालिताः ॥ १४ ॥

इससे इन्होंने पहले पर्वतपरिमित अन्नोंसे सुशोभित बहुतसी दक्षिणासे युक्त महायज्ञ करते हुए समस्त भोग भोगे हैं तथा पुत्रोंका पालन किया है ॥ १४ ॥

पुत्रसंस्थं च विपुलं राज्यं विप्रोषिते त्वयि ।
त्रयोदशसमा भुक्तं दत्तं च विविधं वसु ॥ १५ ॥

इसके अतिरिक्त तुम्हारे तेरह वर्षोंतक वनमें रहनेसे राजा धृतराष्ट्रने अपने पुत्रोंके निकट विपुल राज्यका उपभोग किया तथा विविध वसु दान किया है ॥ १५ ॥

त्वया चायं नरव्याघ्र गुरुशुश्रूषया नृपः ।
आराधितः सभृत्येन गान्धारी च यशस्विनी ॥ १६ ॥

हे राजन् पुरुषश्रेष्ठ ! तुमने भी सेवकों सहित राजा धृतराष्ट्र तथा यशस्विनी गान्धारीकी गुरुसदश सेवा की है ॥ १६ ॥

अनुजानीहि पितरं समयोऽस्य तपोविधौ ।
न मन्युर्विद्यते चास्य सुसूक्ष्मोऽपि युधिष्ठिर ॥ १७ ॥

हे युधिष्ठिर ! परन्तु इस समय इनके तपोनुष्ठानका समय प्राप्त हुआ है, इसलिये तुम इन्हें वनमें जानेके लिये अनुमति दे दो; तुम्हारे ऊपर इनका अणुमात्र भी क्रोध नहीं है ॥ १७ ॥

एतावदुक्त्वा वचनमनुज्ञाप्य च पार्थिवम् ।
तथास्त्विति च तेनोक्तः कौन्तेयेन ययौ वनम् ॥ १८ ॥

जब व्यासदेवने इतनी बात कहके इस प्रकार राजा युधिष्ठिरको आज्ञा की और कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने ' ऐसा ही होगा ' कहकर उसे स्वीकार किया, तब वे वनको चले गये ॥ १८ ॥

गते भगवति व्यासे राजा पाण्डुसुतस्ततः ।
प्रोवाच पितरं वृद्धं मन्दं मन्दमिवानतः ॥ १९ ॥

भगवान् वेदव्यास मुनिके चले जाने पर पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर सिर झुकाके वृद्ध पिता धृतराष्ट्रसे नम्रतापूर्वक धीरे धीरे बोले ॥ १९ ॥

यदाह भगवान्व्यासो यच्चापि भवतो मतम् ।
यदाह च महेष्वासः कृपो विदुर एव च ॥ २० ॥

हे तात ! भगवान् व्यासदेवने जो आज्ञा दी है और आपको जो अभिलषित है तथा महाधनुर्धर कृपाचार्य, विदुर, ॥ २० ॥

युयुत्सुः संजयश्चैव तत्कर्तास्म्यहमञ्जसा ।
सर्वे ह्येतेऽनुमान्या मे कुलस्यास्य हितैषिणः ॥ २१ ॥

युयुत्सु और सञ्जय, ये लोग मुझसे जो कहेंगे, मैं उस ही समय उसे करूंगा; क्योंकि ये लोग सब ही मेरे माननीय तथा इस कुलके हितैषी हैं ॥ २१ ॥

इदं तु याचे नृपते त्वामहं शिरसा नतः ।
क्रियतां तावदाहारस्ततो गच्छाश्रमं प्रति ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥ १६२ ॥

हे नरनाथ ! परन्तु मैं सिर झुकाके आपके समीप यह प्रार्थना करता हूं, कि आप पहले भोजन करिये, पीछे आश्रममें गमन करिये ॥ २२ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें आठवां अध्याय समाप्त ॥ ८ ॥ १६२ ॥

ः ९ ः

वैशम्पायन उवाच—

ततो राज्ञाभ्यनुज्ञातो धृतराष्ट्रः प्रतापवान् ।
ययौ स्वभवनं राजा गान्धार्यानुगतस्तदा ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— तिसके अनन्तर प्रतापवान् राजा धृतराष्ट्र राजा युधिष्ठिरसे अनुज्ञात होकर गान्धारीके सहित निज गृहमें गये ॥ १ ॥

मन्दप्राणगतिर्धीमान्कृच्छ्रादिव समुद्धरन् ।
पदातिः स महीपालो जीर्णो गजपतिर्यथा ॥ २ ॥

उस समय मन्दशक्ति और मन्दगति बुद्धिमान् महीपति धृतराष्ट्र बुढे हाथीकी भांति पैदल चलते अत्यन्त कष्टसे पृथ्वीपर पांव रखते थे ॥ २ ॥

तमन्वगच्छद्विदुरो विद्वान्सूतश्च संजयः ।
स चापि परमेष्वासः कृपः शारद्वतस्तथा ॥ ३ ॥

विद्वान् विदुर, सूत सञ्जय और परम धनुर्धारी शारद्वत कृपाचार्य भी उनके पीछे पीछे गये ॥ ३ ॥

स प्रविश्य गृहं राजा कृतपूर्वाह्णिकक्रियः ।
तर्पयित्वा द्विजश्रेष्ठानाहारमकरोत्तदा ॥ ४ ॥

राजा धृतराष्ट्रने नीज भवनमें प्रवेश कर प्रातःकर्म प्रभृति सब कार्य करके तथा श्रेष्ठ द्विजातियोंको तृप्त करते हुए स्वयं भोजन किया ॥ ४ ॥

गान्धारी चैव धर्मज्ञा कुन्त्या सह मनस्विनी ।
वधूभिरुपचारेण पूजिताभुङ्क्त भारत ॥ ५ ॥

हे भारत ! धर्म जाननेवाली मनस्विनी गान्धारीने भी कुन्तीके सहित बधूओंसे उपचारोंके द्वारा पूजित होकर भोजन किया ॥ ५ ॥

कृताहारं कृताहाराः सर्वे ते विदुरादयः ।
पाण्डवाश्च कुरुश्रेष्ठमुपातिष्ठन्त तं नृपम् ॥ ६ ॥

पाण्डुपुत्र और बिदुर प्रभृति लोगोंने भोजन करके कृताहार कुरुश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रकी सेबामें सब उपस्थित हुए ॥ ६ ॥

ततोऽब्रवीन्महाराज कुन्तीपुत्रमुपह्वरे ।
निषण्णं पाणिना पृष्ठे संस्पृशन्नम्बिकासुतः ॥ ७ ॥

हे महाराज ! तिसके अनन्तर अम्बिकापुत्र धृतराष्ट्र एकान्तमें अपने निकटमें बैठे हुए कुंतीपुत्र युधिष्ठिरकी पीठपर हाथ फेरके उनसे बोले ॥ ७ ॥

अप्रमादस्त्वया कार्यः सर्वथा कुरुनन्दन ।
अष्टाङ्गे राजशार्दूल राज्ये धर्मपुरस्कृते ॥ ८ ॥

हे कुरुकुलनन्दन ! राजेन्द्र ! तुम इस धर्मपुरस्कृत अष्टाङ्ग राज्यमें किसी प्रकार इसके संरक्षण और संचालनमें प्रमाद नहीं करना, असावधान न होना ॥ ८ ॥

तत्तु शक्यं यथा तात रक्षितुं पाण्डुनन्दन ।
राज्यं धर्मं कौन्तेय विद्वानसि निबोध तत् ॥ ९ ॥

हे तात कुन्तीपुत्र ! तुम विद्वान् हो, इसलिये जिस प्रकार धर्मपूर्वक राज्यकी रक्षा कर सकोगे, वह विषय मेरे समीप सुनो ॥ ९ ॥

विद्यावृद्धान्सदैव त्वमुपासीथा युधिष्ठिर ।
शृणुयास्ते च यद्ब्रूयुः कुर्याश्चैवाविचारयन् ॥ १० ॥

हे युधिष्ठिर ! तुम सदा विद्यावृद्ध पुरुषोंकी उपासना करना; वे लोग जो कहें, उसे ध्यान-पूर्वक सुनना और कुछ विचार न करके ही उनकी आज्ञाका पालन करना ॥ १० ॥

प्रातरुत्थाय तान्राजन्पूजयित्वा यथाविधि ।
कृत्यकाले समुत्पन्ने पृच्छेथाः कार्यमात्मनः ॥ ११ ॥

हे महाराज ! भोरके समय उठके विधिपूर्वक उनकी पूजा करके कोई कार्य उपस्थित होनेके समय उनसे ही अपना कर्तव्य पूछना ॥ ११ ॥

ते तु संमानिता राजंस्त्वया राज्यहितार्थिना ।
प्रवक्ष्यन्ति हितं तात सर्वं कौरवनन्दन ॥ १२ ॥

हे राजन् ! पुत्र ! कुरुलकुनन्दन ! तुम राज्यहितके अभिलाषी होकर उनका सम्मान करनेसे वे लोग सदा तुमसे हितका ही वचन कहेंगे ॥ १२ ॥

इन्द्रियाणि च सर्वाणि वाजिवत्परिपालय ।
हिताय वै भविष्यन्ति रक्षितं द्रविणं यथा ॥ १३ ॥

हे महाराज ! जैसे सारथि घोडोंको काबूमें रखता है, वैसे ही तुम सब इन्द्रियोंको अपने अधीन रखकर उनकी रक्षा करो । ऐसा करनेसे वे इन्द्रियां सुरक्षित धनकी भांति तुम्हारी हितकारी होंगी ॥ १३ ॥

अमात्यानुपधातीतान्पितृपैतामहाञ्शुचीन् ।
दान्तान्कर्मसु सर्वेषु मुख्यान्मुख्येषु योजयेः ॥ १४ ॥

कपटरहित, पवित्रचित्त, दान्त, विशुद्धवंशोत्पन्न सत्यकर्मशाली श्रेष्ठसे श्रेष्ठ और पिता-पितामहोंके समयसे काम करनेवाले पुरुषोंको मन्त्रीपद पर नियुक्त करना ॥ १४ ॥

चारयेथाश्च सततं चारैरविदितैः परान् ।
परीक्षितैर्बहुविधं स्वराष्ट्रेषु परेषु च ॥ १५ ॥

स्वराज्योंमें तथा शत्रुओंके राष्ट्रोंमें— जिनकी अनेक प्रकारकी परीक्षा ली गई हो— ऐसे जासूसोंको भेजकर, शत्रुओंसे अविदित हो— शत्रुओंका गुप्त भेद लेना ॥ १५ ॥

पुरं च ते सुगुप्तं स्याद्दृढप्राकारतोरणम् ।
अट्टाट्टालकसंबाधं षट्पथं सर्वतोदिशम् ॥ १६ ॥

निज पुरकी उत्तम रीतिसे रक्षा करना; उसके चारों ओरकी दिवारें और मुख्य द्वार अत्यन्त दृढ करना; नगर ऊंचे घरोंसे सम्पन्न होना चाहिये; चारों ओर छः रास्ते निर्माण करना ॥ १६ ॥

×

तस्य द्वाराणि कार्याणि पर्याप्तानि बृहन्ति च ।
सर्वतः सुविभक्तानि यन्त्रैरारक्षितानि च ॥ १७ ॥

नगरके सब द्वार यथेष्ट बृहत् तथा सब ओर रक्षाके लिये उत्तम रीतिसे यंत्रोंसे सुसज्ज हो और उन द्वारोंके विभाग सम्पन्न हों ॥ १७ ॥

पुरुषैरलमर्थज्ञैर्विदितैः कुलशीलतः ।
आत्मा च रक्ष्यः सततं भोजनादिषु भारत ॥ १८ ॥

हे भारत ! जिनका कुल और शील विदित है, वैसे पुरुषोंके द्वारा तुम्हारा अर्थ भली भांति रक्षित होवे और सदा भोजनादिके समय पर तुम्हें स्वयंकी रक्षापर ध्यान देना चाहिये ॥ १८ ॥

विहाराहारकालेषु माल्यशय्यासनेषु च ।
स्त्रियश्च ते सुगुप्ताः स्युर्वृद्धैराप्तैरधिष्ठिताः ।
शीलवद्भिः कुलीनैश्च विद्वद्भिश्च युधिष्ठिर ॥ १९ ॥

हे युधिष्ठिर ! आहार और विहारके समय तथा माला पहनने, शय्या पर सोने और आसनोंपर बैठनेके समय तुम्हें अपनी रक्षाके लिये सावधान रहना चाहिये । कुलीन, शीलवान् विद्वान् आत्मीय वृद्धगण तुम्हारी स्त्रियोंकी रक्षा करें ॥ १९ ॥

मन्त्रिणश्चैव कुर्वीथा द्विजान्विद्याविशारदान् ।
विनीतांश्च कुलीनांश्च धर्मार्थकुशलानृजून् ॥ २० ॥

हे महाराज ! तुम विद्याविशारद, विनीत, कुलीन, धर्म और अर्थमें निपुण और सरल स्वभाववाले ब्राह्मणोंको मंत्री करो ॥ २० ॥

तैः सार्धं मन्त्रयेथास्त्वं नात्यर्थं बहुभिः सह ।
समस्तैरपि च व्यस्तैर्व्यपदेशेन केनचित् ॥ २१ ॥

उनहींके सङ्ग विचार विनिमय करना, परंतु दूसरे बहुतसे लोगोंके सङ्ग बहुत देरतक सलाह नहीं करनी । सब मंत्रियोंको अथवा उनमेंसे एक-दोको लेकरही मंत्रणा करनी चाहिये ॥ २१ ॥

सुसंवृतं मन्त्रगृहं स्थलं चारुह्य मन्त्रयेः ।
अरण्ये निःशलाके वा न च रात्रौ कथंचन ॥ २२ ॥

चारों ओरसे सुरक्षित मंत्रगृहमें तथा खुले मैदानमें जाकर विचार करना; तृणरहित जंगलमें भी गुप्त मंत्रणा करें; परंतु रात्रिके समय इन स्थानोंमें कदापि सलाह नहीं करनी ॥ २२ ॥

वानराः पक्षिणश्चैव ये मनुष्यानुकारिणः ।
सर्वे मन्त्रगृहे वर्ज्या ये चापि जडपङ्गुकाः ॥ २३ ॥

मनुष्योंका अनुसरण करनेवाले जो वानर, पक्षी हैं । उनको और मूर्ख तथा पंगु मनुष्योंको विचार गृहमें नहीं रहने देना ॥ २३ ॥

मन्त्रभेदे हि ये दोषा भवन्ति पृथिवीक्षिताम् ।
न ते शक्याः समाधातुं कथंचिदिति मे मतिः ॥ २४ ॥

गुप्त मंत्रणाके प्रकट हो जानेसे राजाओंको जो सब संकट प्राप्त होते हैं, मुझे बोध होता है, उनका किसी प्रकारसे ही समाधान नहीं किया जा सकता ॥ २४ ॥

दोषांश्च मन्त्रभेदेषु ब्रूयास्त्वं मन्त्रिमण्डले ।
अभेदे च गुणान्राजान्पुनः पुनररिंदम ॥ २५ ॥

हे अरिदमन राजन् ! इसलिये तुम मन्त्रिमंडलीके बीच बैठकर मन्त्रणाभेदके दोष और मन्त्रगुप्तिके गुणोंको बार बार वर्णन करना ॥ २५ ॥

पौरजानपदानां च शौचाशौचं युधिष्ठिर ।
यथा स्याद्विदितं राजंस्तथा कार्यमरिंदम ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥ १८८ ॥

हे अरिदमन महाराज ! तुम सदा आप्तजनोंके बीच अधिष्ठित होकर व्यवहारके सहारे नगर और जनपद वासियोंका मन तुम्हारे प्रति शुद्ध है या अशुद्ध है, यह जिस प्रकार मालूम हो सके, वैसा करना ॥ २६ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें नवां अध्याय समाप्त ॥ ९ ॥ १८८ ॥

: १० :

धृतराष्ट्र उवाच—

व्यवहाराश्च ते तात नित्यमाप्तैरधिष्ठिताः ।
योज्यास्तुष्टैर्हितै राजन्नित्यं चारैरनुष्ठिताः ॥ १ ॥

हे तात ! राजन् ! न्यायदानके कामपर विश्वासपात्र, संतुष्ट और हितकारी पुरुषोंको सदा नियुक्त करो और गुप्तचरोंके द्वारा सदा उनपर दृष्टि रखो ॥ १ ॥

परिमाणं विदित्वा च दण्डं दण्डयेषु भारत ।
प्रणयेयुर्यथान्यायं पुरुषास्ते युधिष्ठिर ॥ २ ॥

हे भारत ! युधिष्ठिर ! तुम्हारे नियुक्त न्यायाधिकारी पुरुष अपराधियोंको अपराधके परिमाणका विचार कर जो दण्डनीय हों उन्हें ही दण्ड दें ॥ २ ॥

आदानरुचयश्चैव परदाराभिमर्शनः ।
उग्रदण्डप्रधानाश्च मिथ्या व्याहारिणस्तथा ॥ ३ ॥

तुम दूसरोंसे घूसखानेमें रुचि रखनेवाले, परस्त्रीगामी, कठोर दण्ड देनेके पक्षपाती, मिथ्यावादी ॥ ३ ॥

आक्रोष्टारश्च लुब्धाश्च हन्तारः साहसप्रियाः ।
सभाविहारभेत्तारो वर्णानां च प्रदूषकाः ।
हिरण्यदण्डया वध्याश्च कर्तव्या देशकालतः ॥ ४ ॥

कटुवादी, लोभी, हन्ता, साहसप्रिय, सभाभवन और उद्यान आदिको नष्ट करनेवाले, और वर्णदूषक पुरुषोंको देश, काल तथा न्यायके अनुसार सुवर्णदण्ड अथवा प्राणदण्डके द्वारा दण्डित करो ॥ ४ ॥

प्रातरेव हि पश्येथा ये कुर्युर्व्ययकर्म ते ।
अलंकारमथो भोज्यमत ऊर्ध्वं समाचरेः ॥ ५ ॥

तुम प्रातःकालमें ही अपने व्ययकर्मकारी पुरुषोंके कार्योंको देखकर, उसके अनन्तर अलंकार पहनने वा भोजन करनेके कार्य पर ध्यान दो ॥ ५ ॥

पश्येथाश्च ततो योधान्सदा त्वं परिहर्षयन् ।
दूतानां च चराणां च प्रदोषस्ते सदा भवेत् ॥ ६ ॥

तिसके अनन्तर सर्वदा योद्धाओंको हर्षित तथा उत्साहित करते हुए उनके विषयमें दृष्टि रखना । अनन्तर प्रदोष समयमें दूत तथा चारोंसे मिलना चाहिये ॥ ६ ॥

सदा चापररात्रं ते भवेत्कार्यार्थनिर्णये ।
मध्यरात्रे विहारस्ते मध्याह्ने च सदा भवेत् ॥ ७ ॥

अपर रात्रिमें अगले दिनके कार्य और अर्थका निर्णय करना; प्रतिदिन मध्यरात्रि तथा दोपहरके समयमें स्वयं घूमकर प्रजाकी अवस्थाका निरीक्षण करना ॥ ७ ॥

सर्वे त्वात्ययिकाः कालाः कार्याणां भरतर्षभ ।
तथैवालंकृतः काले तिष्ठेथा भूरिदक्षिणः ।
चक्रवत्कर्मणां तात पर्यायो ह्येष नित्यशः ॥ ८ ॥

हे भरतर्षभ ! जिन कार्योंको जिस प्रकार उपयुक्त समय निर्दिष्ट है, तुम उस ही समयमें उन कार्योंको पूरा करो, क्योंकि सभी समय कार्य करनेके लिये पीडा कारक भी होते हैं । नियमित समयमें अलंकृत होकर प्रचुर दक्षिणा देना । क्योंकि तात ! कार्यका पर्याय सदा चक्रकी भांति प्रवर्तित होता है ॥ ८ ॥

कोशस्य संचये यत्नं कुर्वीथा न्यायतः सदा ।
द्विविधस्य महाराज विपरीतं विवर्जयेः ॥ ९ ॥

हे महाराज ! तुम सदा न्यायके अनुसार दो प्रकारके कोषका सञ्चय करनेका यत्न करना और इसके विपरीत प्रयत्नको परित्याग करना ॥ ९ ॥

चारैर्विदित्वा शत्रूंश्च ये ते राज्यान्तरायिणः ।
तानाप्तैः पुरुषैर्दूराद्घातयेथाः परस्परम् ॥ १० ॥

राज्योंके अन्तरैषी शत्रुओंको गुप्तचरोंके द्वारा मालूम करके विश्वसनीय–आप्त पुरुषोंके सहारे दूरहीसे उनका परस्पर वध करना ॥ १० ॥

कर्मदृष्ट्याथ भृत्यांस्त्वं वरयेथाः कुरूद्वह ।
कारयेथाश्च कर्माणि युक्तायुक्तैरधिष्ठितैः ॥ ११ ॥

हे कुरूद्वह ! पहले सेवकोंके कार्यको देखकर उन्हें यथायोग्य कार्यपर नियुक्त करना और अपने अधिष्ठित मनुष्य योग्य हों वा अयोग्य, उनसे काम लेना ॥ ११ ॥

सेनाप्रणेता भवेत्तव तात दृढव्रतः ।
शूरः क्लेशसहश्चैव प्रियश्च तव मानवः ॥ १२ ॥

हे तात ! तुम दृढव्रत, शूर, क्लेश सहनेवाले, हितकारी तुम्हारा प्रिय इच्छिनेवाले मनुष्यको सेनाका नायक करना ॥ १२ ॥

सर्वे जानपदाश्चैव तव कर्माणि पाण्डव ।
पौरोगवाश्च सभ्याश्च कुर्युर्ये व्यवहारिणः ॥ १३ ॥

हे पाण्डुनन्दन ! जो लोग सदा तुम्हारे शिल्पादि कार्योंको करते हैं, उनके भरण–पोषणका प्रबन्ध तुम्हें करना चाहिये; जैसे व्यवहारी सभ्य पौरजन गोधनका पालन करते हैं ॥ १३ ॥

स्वरन्ध्रं पररन्ध्रं च स्वेषु चैव परेषु च ।
उपलक्षयितव्यं ते नित्यमेव युधिष्ठिर ॥ १४ ॥

हे युधिष्ठिर ! तुम्हें सदा स्वजनों और शत्रुओंके छिद्रोंपर दृष्टि रखनी चाहिये ॥ १४ ॥

देशान्तरस्थाश्च नरा विक्रान्ताः सर्वकर्मसु ।
मात्राभिरनुरूपाभिरनुग्राह्या हितास्त्वया ॥ १५ ॥

अपने देशमें रहनेवाले लोगोंमेंसे जो सब कार्योंमें विशेष कुशल और हितकारी हैं, उन्हें योग्य आजीविका देकर अनुग्रह पूर्वक अपने करना ॥ १५ ॥

गुणार्थिनां गुणः कार्यो विदुषां ते जनाधिप ।
अविचाल्याश्च ते ते स्युर्यथा मेरुर्महागिरिः ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि दसमोऽध्यायः ॥ १० ॥ २०४ ॥

हे जननाथ ! जो लोग गुणार्थी और विद्वान् हों, उनके गुणको ग्रहण करना योग्य है; क्योंकि वे लोग महान् मेरु पर्वतकी भांति अविचलित रूपसे तुम्हारे सहायक होंगे ॥ १६ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें दसवां अध्याय समाप्त ॥ १० ॥ २०४ ॥

: ११ :

धृतराष्ट्र उवाच—

मण्डलानि च बुध्येथाः परेषामात्मनस्तथा ।
उदासीनगुणानां च मध्यमानां तथैव च ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले— तुम परकीय, आत्मीय, उदासीन और मध्यओंके शत्रुमित्रादिरूपी मण्डलोंको विशेष रीतिसे मालूम करना ॥ १ ॥

चतुर्णां शत्रुजातानां सर्वेषामाततायिनाम् ।
मित्रं चामित्रमित्रं च बोद्धव्यं तेऽरिकर्शन ॥ २ ॥

हे शत्रुसूदन ! चार प्रकारके शत्रुओं और आततायियोंके भेदोंको और मित्र तथा शत्रुके मित्रको तुम्हें विशेष रीतिसे जानना उचित है ॥ २ ॥

तथामात्या जनपदा दुर्गाणि विषमाणि च ।
बलानि च कुरुश्रेष्ठ भवन्त्येषां यथेच्छकम् ॥ ३ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! मन्त्रियों, जनपदों, विषम किलों तथा सेनामें शत्रुओंका ध्यान रहता है; इसलिये जिस प्रकार उनमें फूट न हो उसही भांति सावधान होकर निवास करना ॥ ३ ॥

ते च द्वादश कौन्तेय राज्ञां वै विविधात्मकाः ।
मन्त्रिप्रधानाश्च गुणाः षष्टिर्द्वादश च प्रभो ॥ ४ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! प्रभो ! उपर्युक्त बारह प्रकारके मनुष्य राजाओंके विविध विषय हैं । मंत्रीके अधीन रहनेवाले कृषी आदि साठ गुण और उपरके बारह ॥ ४ ॥

[(राजाओंके मन्त्रिप्रधान विविध सम्बन्धीय चार प्रकारके शत्रु; अग्निद प्रभृति छः आततायी; मित्र और अमित्र मित्र ये बारह प्रकारके नृपति;) (कृष्यादि आठ प्रकारके सन्धानकार्य; निवातादि बीस, नास्तिक्यादि चौदह दोष और मंत्रादि अठ्ठारह तीर्थ येही षष्टिगण हैं)]

एतन्मण्डलमित्याहुराचार्या नीतिकोविदाः ।
अत्र षाड्गुण्यमायत्तं युधिष्ठिर निबोध तत् ॥ ५ ॥

नीतिज्ञ आचार्यगण इन्हें ही मण्डल कहा करते हैं । हे युधिष्ठिर ! उसमें जो सन्धि निग्रह प्रभृति षाड्गुण्य वशमें करना होता है, उसे सुनो ॥ ५ ॥

वृद्धिक्षयौ च विज्ञेयौ स्थानं च कुरुनन्दन ।
द्विसप्तत्या महाबाहो ततः षाड्गुण्यचारिणः ॥ ६ ॥

हे कुरुनन्दन ! राजाओंको वृद्धि, क्षय और स्थानको विशेष रीतिसे जानना उचित है । हे महाबाहो ! षष्टि गण और द्वादश नृपति, इन बहत्तर प्रकारके गुणोंका पहले ज्ञान प्राप्त करके ही संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय—इन छः गुणोंका उपयोग होता है ॥ ६ ॥

यदा स्वपक्षो बलवान्परपक्षस्तथाबलः ।
विगृह्य शत्रून्कौन्तेय यायात्क्षितिपतिस्तदा ।
यदा स्वपक्षोऽबलवांस्तदा संधिं समाश्रयेत् ॥ ७ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! जब अपना पक्ष बलिष्ठ और शत्रुका पक्ष दुर्बल हो, तब शत्रुओंके साथ युद्ध करके, उन्हें परास्त करना राजाको उचित है; जब अपना पक्ष दुर्बल हो, तब शत्रुओंके सङ्ग संधि करे ॥ ७ ॥

द्रव्याणां संचयश्चैव कर्तव्यः स्यान्महांस्तथा ।
यदा समर्थो यानाय नचिरेणैव भारत ॥ ८ ॥

हे भारत ! राजाको धनका महान् संग्रह करना अत्यंत आवश्यक है । जब राजा शीघ्रही युद्धमें जानेके लिये समर्थ होवे ॥ ८ ॥

तदा सर्वं विधेयं स्यात्स्थानं च न विभाजयेत् ।
भूमिरल्पफला देया विपरीतस्य भारत ॥ ९ ॥

तब वह विचारपूर्वक सब वस्तुओंको विधिके अनुसार ठीक करे, उसे वह स्थिरचित्तसे पूर्ण करे । भारत ! अपनी विपरीत अवस्था हो तो शत्रुको अल्प फल प्राप्त हो वैसी भूमि दे ॥९॥

हिरण्यं कुप्यभूयिष्ठं मित्रं क्षीणमकोशवत् ।
विपरीतान्न गृह्णीयात्स्वयं संधिविशारदः ॥ १० ॥

मित्र और कोश क्षीण होनेपर सन्धिविशारद राजा शत्रुको सोना और अधिक मात्रामें जस्ता–पीतल आदि बहुतसा धन दान करे और स्वयं विपरीत वस्तु ग्रहण करे ॥ १० ॥

संध्यर्थं राजपुत्रं च लिप्सेथा भरतर्षभ ।
विपरीतस्तु तेऽदेयः पुत्र कस्यांचिदापदि ।
तस्य प्रमोक्षे यत्नं च कुर्याः सोपायमन्त्रवित् ॥ ११ ॥

हे भरतर्षभ ! सन्धि करनेके समय जो सन्धि करे, उसके राजपुत्रको अपने यहां जमानतके तौरपर रखे। इसके विपरीत बर्ताव करना उचित नहीं है । जब कोई आपत्काल उपस्थित हो, तब योग्य उपाय और मन्त्रणा जाननेवाले तुम्हारे जैसे राजाको उससे छूटनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ ११ ॥

प्रकृतीनां च कौन्तेय राजा दीनां विभावयेत् ।
क्रमेण युगपद्द्वंद्वं व्यसनानां बलाबलम् ॥ १२ ॥

हे कौन्तेय ! प्रजाजनोंमें जो दीन–दुर्बल–दरिद्र मनुष्य हों, उनका भी राजाको आदर करना चाहिये । अपने शत्रुके विपरीत क्रमशः अथवा एक साथ दोनों ही प्रकारसे छोटे मोटे संकटोंको निर्माण करता रहे ॥ १२ ॥

पीडनं स्तम्भनं चैव कोशभङ्गस्तथैव च ।
कार्यं यत्नेन शत्रूणां स्वराष्ट्रं रक्षता स्वयम् ॥ १३ ॥

वह यत्नपूर्वक उसे पीडा दे, उसकी गति रोके तथा उसका कोष नष्ट करे । अपने राष्ट्रकी रक्षा करनेवाले राजाको यत्नपूर्वक शत्रुओंके साथ ऐसा बर्ताव करना चाहिये ॥ १३ ॥

न च हिंस्योऽभ्युपगतः सामन्तो वृद्धिमिच्छता ।
कौन्तेय तं न हिंसेत यो महीं विजिगीषते ॥ १४ ॥

हे कौन्तेय ! अपनी वृद्धिके अभिलाषी राजाको शरणमें आये हुए सामन्तका वध कदापि नहीं करना चाहिये । जो सब पृथिवीपर विजयकी इच्छा करता है वह तो कभी भी उस सामन्तकी हिंसा न करे ॥ १४ ॥

गणानां भेदने योगं गच्छेथाः सह मन्त्रिभिः ।
साधुसंग्रहणाच्चैव पापनिग्रहणात्तथा ॥ १५ ॥

तुम शत्रुगणोंके भेदके निमित्त मन्त्रियोंके सहित योगलाभकी आकांक्षा करना । बलवान् राजा साधुओंका संग्रह और पापियोंका निग्रह करे ॥ १५ ॥

दुर्बलाश्चापि सततं नावष्टभ्या बलीयसा ।
तिष्ठेथा राजशार्दूल वैतसीं वृत्तिमास्थितः ॥ १६ ॥

परन्तु महाबलवान् राजा निर्बल शत्रुको कदापि उच्छिन्न न करे। हे राजशार्दूल ! तुम्हें बैतसी वृत्ति—नम्रताका अवलम्बन करके रहना चाहिये ॥ १६ ॥

यद्येवमभियायाच्च दुर्बलं बलवान्नृपः ।
सामादिभिरुपायैस्तं क्रमेण विनिवर्तयेत् ॥ १७ ॥

यदि बलवान् राजा किसी दुर्बल राजापर आक्रमण करे तो क्रमसे साम आदि उपायोंके सहारे उसे निवृत्त करनेकी चेष्टा करना ॥ १७ ॥

अशक्नुवंस्तु युद्धाय निष्पतेत्सह मन्त्रिभिः ।
कोशेन पौरैर्दण्डेन ये चान्ये प्रियकारिणः ॥ १८ ॥

अपनेमें युद्ध करनेकी सामर्थ्य न हो तो मन्त्रियोंके सहित उसकी शरणमें जाना; और कोश, पुरवासी मनुष्य, दण्ड तथा अन्य जो प्रिय कार्य हों, उनको देकर उसे लौटानेका प्रयत्न करना ॥ १८ ॥

असंभवे तु सर्वस्य यथामुख्येन निष्पतेत् ।
क्रमेणानेन मोक्षः स्याच्छरीरमपि केवलम् ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥ २२३ ॥

परन्तु सभी उपायोंसे संधि असम्भव होनेपर अव्यग्र चित्तसे उसपर युद्धके निमित्त टूट पडे; इस क्रमके अनुसारही शरीर नष्ट हो जाय तो भी शूर पुरुषकी मुक्ति हुआ करती है। केवल शरीर देनाही उसका मुख्य साधन है ॥ १९ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें ग्यारहवां अध्याय समाप्त ॥ ११ ॥ २२३ ॥

: १२ :

धृतराष्ट्र उवाच—

संधिविग्रहमप्यत्र पश्येथा राजसत्तम ।
द्वियोनिं त्रिविधोपायं बहुकल्पं युधिष्ठिर ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले— हे राजसत्तम युधिष्ठिर ! ऐसे स्थलमें प्रबल और निर्बल शत्रुके निमित्त इस द्वियोनि सम्भूत तीन प्रकारकी उपाययुक्त बहुकल्प सन्धि तथा विग्रहकी पर्यालोचन करना ॥ १ ॥

राजेन्द्र पर्युपासीथाश्छित्त्वा द्वैविध्यमात्मनः ।
तुष्टपुष्टबलः शत्रुरात्मवानिति च स्मरेत् ॥ २ ॥

हे राजेन्द्र ! शत्रुके तुष्ट, पुष्ट, बलयुक्त तथा बुद्धिमान् होनेपर अपने बलाबलको जानके छेद करके जयका उपाय सोचते हुए जबतक जय प्राप्त न हो, तबतक उसकी उपासना करना ॥ २ ॥

पर्युपासनकाले तु विपरीतं विधीयते ।
आमर्दकाले राजेन्द्र व्यपसर्पस्ततो वरः ॥ ३ ॥

हे राजेंन्द्र ! आक्रमणकालके समय शत्रुका बल असंतुष्ट और अपुष्ट होनेपर युद्धयात्राके लिये उद्योग करना और शत्रुसे बलपूर्वक अपना मान नष्ट होनेका समय उपस्थित होनेपर वहांसे भागकर दूसरे श्रेष्ठ राजाकी शरणमें जाना ॥ ३ ॥

व्यसनं भेदनं चैव शत्रूणां कारयेत्ततः ।
कर्शनं भीषणं चैव युद्धे चापि बहुलयम् ॥ ४ ॥

तिसके अनन्तर शत्रुओंपर संकट आ जाय, उनमें भेद होवे, वे क्षीण और भयभीत हो जाय तथा युद्धमें नष्ट हो जाय, ऐसा प्रयत्न करना चाहिये ॥ ४ ॥

+

प्रयास्यमानो नृपतिस्त्रिविधं परिचिन्तयेत् ।
आत्मनश्चैव शत्रोश्च शक्तिं शास्त्रविशारदः ॥ ५ ॥

शास्त्रविशारद राजा शत्रुपर चढाईके लिये प्रयाणके पहिले अपनी और शत्रुओंकी तीन प्रकारकी शक्ति अर्थात् उत्साहशक्ति, प्रभुशक्ति और मन्त्रशक्तिका विचार करे ॥ ५ ॥

उत्साहप्रभुशक्तिभ्यां मन्त्रशक्त्या च भारत ।
उपपन्नो नरो यायाद्विपरीतमतोऽन्यथा ॥ ६ ॥

हे भारत ! मनुष्य उत्साहशक्ति, प्रभुशक्ति और मन्त्रशक्तिसे युक्त होकर युद्धके निमित्त यात्रा करे और इसके बिपरीत अवस्था हो तो आक्रमणके विचारका परित्याग करे ॥ ६ ॥

आददीत बलं राजा मौलं मित्रबलं तथा ।
अटवीबलं भृतं चैव तथा श्रेणीबलं च यत् ॥ ७ ॥

महीपतिको अपने पास धनबल, मित्रबल, अरण्यबल, भृत्यबल और श्रेणीबलका संग्रह करना चाहिये ॥ ७ ॥

तत्र मित्रबलं राजन्मौलेन न विशिष्यते ।
श्रेणीबलं भृतं चैव तुल्य एवेति मे मतिः ॥ ८ ॥

हे राजन् ! मेरा यही मत है, कि सब लोकोंके बीच मित्रबल धनबलसे मुख्य नहीं है और श्रेणीबल तथा भृत्यबल ये दोनों तुल्य ही हैं ॥ ८ ॥

तथा चारबलं चैव परस्परसमं नृप ।
विज्ञेयं बलकालेषु राज्ञा काल उपस्थिते ॥ ९ ॥

हे नरनाथ ! दूतबल भी परस्पर तुल्य है; समय उपस्थित होनेपर उसे अधिक अवसरोंपर राजाको जानना चाहिये ॥ ९ ॥

आपदश्चापि बोद्धव्या बहुरूपा नराधिप ।
भवन्ति राज्ञां कौरव्य यास्ताः पृथगतः शृणु ॥ १० ॥

हे नराधिप ! राजाओंपर अनेक प्रकारकी आनेवाली आपत्तियोंको भी मालूम करना चाहिये; हे कौरव्य ! उनको पृथक् करके कहता हूं, सुनो ॥ १० ॥

विकल्पा बहवो राजन्नापदां पाण्डुनन्दन ।
सामादिभिरुपन्यस्य शमयेत्तान्नृपः सदा ॥ ११ ॥

हे राजन् पाण्डुपुत्र ! उन सब आपदोंके विकल्प अनेक प्रकारके हैं; आपद उपस्थित होनेपर राजा सामादि उपायोंके सहारे उनको प्रकाश्य रूपसे सदा शमन करें ॥ ११ ॥

यात्रां यायाद्बलैर्युक्तो राजा षड्भिः परंतप ।
संयुक्तो देशकालाभ्यां बलैरात्मगुणैस्तथा ॥ १२ ॥

हे परन्तप ! राजा देश, काल, आत्मगुणसदृश बल तथा छः प्रकारके बलोंसे सम्पन्न होकर युद्ध करनेके लिये गमन करे ॥ १२ ॥

तुष्टपुष्टबलो यायाद्राजा वृद्ध्युदये रतः ।
आहूतश्चाप्यथो यायादनृतावपि पार्थिवः ॥ १३ ॥

अपनी वृद्धि और अभ्युदयके लिये तत्पर बलवान् राजा तुष्टपुष्ट बलसे युक्त होकर अनुकूल मौसम न होनेपर भी युद्ध करनेके निमित्त गमन करे ॥ १३ ॥

स्थूणाश्मानं वाजिरथप्रधानां ध्वजद्रुमैः संवृतकूलरोधसम् ।
पदातिनागैर्बहुकर्दमां नदीं सपत्ननाशे नृपतिः प्रयायात् ॥ १४ ॥

स्थूण जिसमें पत्थर, घोडे और रथ प्रधान प्रवाह, जिसका किनारा तथा तट ध्वजारूपी वृक्षोंसे संवृत्त और बहुतसे पैदल तथा हाथियोंके द्वारा जो कर्दममय हो, ऐसी सेनारूपी नदीका प्रयोग करके राजा शत्रुके बिनाशके लिये जांय ॥ १४ ॥

अथोपपत्त्या शकटं पद्मं वज्रं च भारत ।
उशना वेद यच्छास्त्रं तत्रैतद्विहितं विभो ॥ १५ ॥

भारत ! युद्धके समय युक्तिके सहित सेनाका शकट, पद्म और वज्र व्यूह बनावे। हे विभु ! शुक्राचार्य जो शास्त्र जानते हैं, उसमें ही यह सब विहित हैं ॥ १५ ॥

सादयित्वा परबलं कृत्वा च बलहर्षणम् ।
स्वभूमौ योजयेद्युद्धं परभूमौ तथैव च ॥ १६ ॥

राजा निज बलकी ओर दृष्टि रखकर हर्षित करके परबलको प्रचारण करते हुए निज भूमि अथवा पर भूमिमें युद्ध करे ॥ १६ ॥

लब्धं प्रशमयेद्राजा निक्षिपेद्धनिनो नरान् ।
ज्ञात्वा स्वविषयं तं च सामादिभिरुपक्रमेत् ॥ १७ ॥

राजा अपनी सेनाको प्राप्त हुए धनसे संतुष्ट रखे, धनियोंको दूर रखे; और निज बलाबलको जानके सामादि उपायोंके सहारे संधि या युद्धके लिये निश्चय करे ॥ १७ ॥

सर्वथैव महाराज शरीरं धारयेदिह ।
प्रेत्येह चैव कर्तव्यमात्मनिःश्रेयसं परम् ॥ १८ ॥

इस लोकमें सब प्रकारसे यत्नपूर्वक शरीरकी रक्षा करना, इसके द्वारा ही इहलोक और परलोकमें परम मङ्गल लाभका साधन करना उचित है ॥ १८ ॥

एवं कुर्वञ्शुभा वाचो लोकेऽस्मिञ्शृणुते नृपः ।
प्रेत्य स्वर्गं तथाप्नोति प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ १९ ॥

हे राजन्! जो राजा इन सब विषयोंका पूरी रीतिसे आचरण करता है, वह इस लोकमें जनतासे शुभ वाणी सुनता है। धर्मपूर्वक प्रजापालन करनेसे वह मृत्युके बाद परलोकमें स्वर्ग प्राप्त करता है ॥ १९ ॥

एवं त्वया कुरुश्रेष्ठ वर्तितव्यं प्रजाहितम् ।
उभयोर्लोकयोस्तात प्राप्तये नित्यमेव च ॥ २० ॥

हे तात! कुरुश्रेष्ठ! तुम भी दोनों लोकमें सुख प्राप्त करनेके लिये सदा ऐसा ही आचरण करते हुए प्रजाके हितमें रत रहो ॥ २० ॥

भीष्मेण पूर्वमुक्तोऽसि कृष्णेन विदुरेण च ।
मयाप्यवश्यं वक्तव्यं प्रीत्या ते नृपसत्तम ॥ २१ ॥

हे नृपसत्तम! यद्यपि भीष्म, भगवान श्रीकृष्ण और विदुरने तुमसे सब प्रकारका उपदेश किया हैं, तथापि तुम्हारे ऊपर मेरी अत्यन्त प्रीति रहनेसे अवश्य ही मुझे भी कहना पडा ॥ २१ ॥

एतत्सर्वं यथान्यायं कुर्वीथा भूरिदक्षिण ।
प्रियस्तथा प्रजानां त्वं स्वर्गे सुखमवाप्स्यसि ॥ २२ ॥

हे भूरिदक्षिण! तुम न्यायके अनुसार यह सब आचरण करनेसे प्रजासमूहके प्रिय होकर सुरपुरमें सुख भोगनेमें समर्थ होंगे ॥ २२ ॥

अश्वमेधसहस्रेण यो यजेत्पृथिवीपतिः ।
पालयेद्वापि धर्मेण प्रजास्तुल्यं फलं लभेत् ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ २४६ ॥

हे जननाथ! जो महीपति सहस्र अश्वमेध करता है और जो धर्मपूर्वक प्रजापालन करता है, उन दोनोंको तुल्य फल प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें बारहवां अध्याय समाप्त ॥ १२ ॥ २४६ ॥

: १३ :

युधिष्ठिर उवाच—

एवमेतत्करिष्यामि यथात्थ पृथिवीपते ।
भूयश्चैवानुशास्योऽहं भवता पार्थिवर्षभ ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पृथ्वीपति! आपने जो कहा है, मैं वैसा ही उन सब कार्योंको करूंगा; अनन्तर जो जो करना होगा, उसके लिये आप मुझे और कुछ उपदेश करिये ॥ १ ॥

भीष्मे स्वर्गमनुप्राप्ते गते च मधुसूदने ।
विदुरे संजये चैव कोऽन्यो मां वक्तुमर्हति ॥ २ ॥

भीष्मके सुरलोकमें जाने तथा मधुसूदन श्रीकृष्णके द्वारका पधारने, विदुर और सञ्जयके न रहनेपर अब दूसरा कौन मुझसे ऐसा कहेगा ? ॥ २ ॥

यत्तु मामनुशास्तीह भवानद्य हिते स्थितः ।
कर्तास्म्येतन्महीपाल निर्वृतो भव भारत ॥ ३ ॥

हे महीपाल ! आज आपने मेरे हितैषी होकर जो कुछ मुझे उपदेश किया है, मैं वही करूंगा; आप संतुष्ट हों ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तः स राजर्षिर्धर्मराजेन धीमता ।
कौन्तेयं समनुज्ञातुमियेष भरतर्षभ ॥ ४ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— हे भरतर्षभ ! उन राजर्षि धृतराष्ट्रने बुद्धिमान् धर्मराजका ऐसा बचन सुनके कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे जानेके लिये अनुमति लेनेकी इच्छा की ॥ ४ ॥

पुत्र विश्रम्यतां तावन्ममापि बलवाञ्श्रमः ।
इत्युक्त्वा प्राविशद्राजा गान्धार्या भवनं तदा ॥ ५ ॥

मुझे बोलनेमें अत्यन्त श्रम हुआ है, इसलिये तुम कुछ समय तक विश्राम करो । इतनी बात कहके राजा धृतराष्ट्रने गान्धारीके गृहमें प्रवेश किया ॥ ५ ॥

तमासनगतं देवी गान्धारी धर्मचारिणी ।
उवाच काले कालज्ञा प्रजापतिसमं पतिम् ॥ ६ ॥

समयको जाननेवाली धर्मचारिणी गान्धारी उस समय आसनपर बैठे हुए प्रजापतिसदृश अपने पति धृतराष्ट्रसे बोली ॥ ६ ॥

अनुज्ञातः स्वयं तेन व्यासेनापि महर्षिणा ।
युधिष्ठिरस्यानुमते कदारण्यं गमिष्यसि ॥ ७ ॥

हे स्वामी ! आप तो स्वयं महर्षि व्यासदेवसे अनुज्ञात तथा युधिष्ठिरसे अनुमत हुए हैं, इसलिये कब आप बनमें चलेंगे ? ॥ ७ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

गान्धार्यहमनुज्ञातः स्वयं पित्रा महात्मना ।
युधिष्ठिरस्यानुमते गन्तास्मि नचिराद्वनम् ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र बोले— मैं जब स्वयं महात्मा पिताकी आज्ञा और युधिष्ठिरकी अनुमति पा चुका हूं, तब मैं शीघ्र ही वनमें गमन करूंगा ॥ ८ ॥

अहं हि नाम सर्वेषां तेषां दुर्द्यूतदेविनाम् ।
पुत्राणां दातुमिच्छामि प्रेत्यभावानुगं वसु ।
सर्वप्रकृतिसांनिध्यं कारयित्वा स्ववेश्मनि ॥ ९ ॥

परन्तु मैं निज गृहमें सब प्रजाको बुलाकर उन निन्दित द्यूतक्रीडा करनेवाले पुत्रोंके लिये पारलौकिक लाभके निमित्त कुछ वसु दान करनेकी इच्छा करता हूं ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्त्वा धर्मराजाय प्रेषयामास पार्थिवः ।
स च तद्वचनात्सर्वं समानिन्ये महीपतिः ॥ १० ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— ऐसा कहकर राजा धृतराष्ट्रने धर्मराजके पास अपना विचार कहलाया; राजा युधिष्ठिरने उनकी आज्ञाके अनुसार वह सब सामग्री एकत्र की ॥ १० ॥

ततो निष्क्रम्य नृपतिस्तस्मादन्तःपुरात्तदा ।
सर्वं सुहृज्जनं चैव सर्वाश्च प्रकृतीस्तथा ।
समवेतांश्च तान्सर्वान्पौरजानपदानथ ॥ ११ ॥

तिसके अनन्तर राजा धृतराष्ट्रने अन्तःपुरसे बाहिर होकर नगर तथा जनपदकी समस्त प्रजा तथा वहां आये हुए सुहृज्जनोंको देखा ॥ ११ ॥

ब्राह्मणांश्च महीपालान्नानादेशसमागतान् ।
ततः प्राह महातेजा धृतराष्ट्रो महीपतिः ॥ १२ ॥

महातेजस्वी राजा धृतराष्ट्र उन समागत पुरवासी, जनपदवासी, सुहृद्, अनेक देशोंसे आये हुए ब्राह्मणों और राजाओंको वहांपर इकट्ठे हुए देखकर बोले ॥ १२ ॥

शृण्वन्त्वेकाग्रमनसो ब्राह्मणाः कुरुजाङ्गलाः ।
क्षत्रियाश्चैव वैश्याश्च शूद्राश्चैव समागताः ॥ १३ ॥

यहांपर आये हुए समस्त ब्राह्मण, कुरुजाङ्गलवासी, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र एकाग्र चित्तसे सुनिये ॥ १३ ॥

भवन्तः कुरवश्चैव बहुकालं सहोषिताः ।
परस्परस्य सुहृदः परस्परहिते रताः ॥ १४ ॥

आप लोग बहुत समयसे कुरुकुलके सहित एकत्र वास करते हुए परस्परके सुहृद और हितैषी रहते हैं ॥ १४ ॥

यदिदानीमहं ब्रूयामस्मिन्काल उपस्थिते ।
तथा भवद्भिः कर्तव्यमविचार्य वचो मम ॥ १५ ॥

परंतु इस उपस्थित समयमें मैं आप लोगोंसे जो कुछ कहता हूं, आप लोग उसपर विचार न करके मेरे वचनकी रक्षा करिये ॥ १५ ॥

अरण्यगमने बुद्धिर्गान्धारीसहितस्य मे ।
व्यासस्यानुमते राज्ञस्तथा कुन्तीसुतस्य च ।
भवन्तोऽप्यनुजानन्तु मा वोऽन्या भूद्विचारणा ॥ १६ ॥

मैं गान्धारीके साथ बनमें जानेकी अभिलाष करता हूं; इसीलिये महर्षि व्यासदेव और कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरकी अनुमति मिली है । आप लोग भी इस विषयमें कोई अन्य विचार न करके मुझे अनुमति दें ॥ १६ ॥

अस्माकं भवतां चैव येयं प्रीतिर्हि शाश्वती ।
न चान्येष्वस्ति देशेषु राज्ञामिति मतिर्मम ॥ १७ ॥

और मेरी यह प्रार्थना है, कि आप लोगोंका हमारे साथ जो यह प्रीति सदा अविचलित-भावसे चली आ रही हैं, मुझे ऐसा विश्वास है, कि वह प्रीति अन्यदेशीय राजाओंके साथ वहांकी प्रजाकी नहीं है ॥ १७ ॥

श्रान्तोऽस्मि वयसानेन तथा पुत्रविनाकृतः ।
उपवासकृशश्चास्मि गान्धारीसहितोऽनघाः ॥ १८ ॥

हे अनघगण ! मैं गान्धारीके सहित पुत्रविरहका दुःख और बुढापेके कारण अत्यन्त थका हुआ हूं तथा उपवास करनेके कारण भी हम दुर्बल हो गये हैं ॥ १८ ॥

युधिष्ठिरगते राज्ये प्राप्तश्चास्मि सुखं महत् ।
मन्ये दुर्योधनैश्वर्याद्विशिष्टमिति सत्तमाः ॥ १९ ॥

युधिष्ठिरको राज्य मिलनेसे मैं उत्तम रीतिसे सुखभोग करता हूं । हे सत्तमगण ! दुर्योधनके राज्यसे भी अधिक सुख मुझे प्राप्त हुआ है, ऐसे मैं बोध करता हूं ॥ १९ ॥

मम त्वन्धस्य वृद्धस्य हतपुत्रस्य का गतिः ।
ऋते वनं महाभागास्तन्मानुज्ञातुमर्हथ ॥ २० ॥

हे महाभागगण ! इस समय मुझे हतपुत्र वृद्ध अन्ध धृतराष्ट्रको बनमें जानेके अतिरिक्त और दूसरी गति कहां हैं ? इसलिये तुम लोग मुझे बनमें जानेके लिये आज्ञा दें ॥ २० ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सर्वे ते कुरुजाङ्गलाः ।
बाष्पसंन्दिग्धया वाचा रुरुदुर्भरतर्षभ ॥ २१ ॥

हे भरतर्षभ ! वे सब कुरुजाङ्गलवासी प्रजा धृतराष्ट्रके बचनको सुनके नेत्रोंसे आंसुओंकी धारा बहाती हुई रोदन करने लगीं ॥ २१ ॥

तानविब्रुवतः किंचिद्दुःखशोकपरायणान् ।
पुनरेव महातेजा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥ २६८ ॥

महातेजस्वी धृतराष्ट्र उन सबको दुःख शोकपरायण होकर कुछ भी उत्तर न देते देख फिर ऐसा बचन कहने लगे ॥ २२ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें तेरहवां अध्याय समाप्त ॥ १३ ॥ २६८ ॥

: १४ :

धृतराष्ट्र उवाच—

शान्तनुः पालयामास यथावत्पृथिवीमिमाम् ।
तथा विचित्रवीर्यश्च भीष्मेण परिपालितः ।
पालयामास वस्तातो विदितं वो नसंशयः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले– हे तातगण ! महाराज शन्तनुने इस पृथ्वीका यथावत् पालन किया था, अनन्तर हमारे पिता बिचित्रवीर्यने भीष्मके द्वारा रक्षित होकर तुम लोगोंका पालन किया था; यह तुम लोगोंसे बिदित है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ १ ॥

यथा च पाण्डुर्भ्राता मे दयितो भवतामभूत् ।
स चापि पालयामास यथावत्तच्च वेत्थ ह ॥ २ ॥

तुम लोगोंको यह भी बिदित है, कि मेरे भाई पाण्डु भी इस पृथ्वीका और तुम लोगोंका उत्तम रीतिसे पालन करके आपके परम प्रिय हुए थे ॥ २ ॥

मया च भवतां सम्यक्छुश्रूषा या कृतानघाः ।
असम्यग्वा महाभागास्तत्क्षन्तव्यमतन्द्रितैः ॥ ३ ॥

हे अनघगण ! मैंने भी यथावत् रीतिसे तुम लोगोंकी सेवा की है, यदि उसमें भूल हुई हो, तो उसे तुम लोग जो सावधानचित्त हैं मुझे क्षमा करना ॥ ३ ॥

यच्चा दुर्योधनेनेदं राज्यं भुक्तमकण्टकम् ।
अपि तत्र न वो मन्दो दुर्बुद्धिरपराद्धवान् ॥ ४ ॥

यद्यपि उस मन्दमति दुर्बुद्धि दुर्योधनने इस अकण्टक राज्यको पाके भोग किया था, तथापि उसने उस समय तुम लोगोंका कुछ अपराध नहीं किया था ॥ ४ ॥

तस्यापराधाद्दुर्बुद्धेरभिमानान्महीक्षिताम् ।
विमर्दः सुमहानासीदनयान्मत्कृतादथ ॥ ५ ॥

केवल उस दुर्बुधिके अपने ही किये हुए अन्याय, अपराध और अभिमानसे ही राजाओंका यह महान् नाश हुआ ॥ ५ ॥

तन्मया साधु वापीदं यदि वासाधु वै कृतम् ।
तद्वो हृदि न कर्तव्यं मामनुज्ञातुमर्हथ ॥ ६ ॥

तुम लोगोंके निकट यह प्रार्थना करता हूं, कि उस समय मैंने भला किया हो वा बुरा किया हो, उसे तुम लोगोंको मनमें नहीं लाना चाहिये, और आप मुझे बनमें जानेकी अनुज्ञा दें, यही आप लोगोंको उचित है ॥ ६ ॥

वृद्धोऽयं हतपुत्रोऽयं दुःखितोऽयं जनाधिपः ।
पूर्वराज्ञां च पुत्रोऽयमिति कृत्वानुजानत ॥ ७ ॥

तुम लोग मुझ वृद्ध, हतपुत्र, दुःखित नरपतिको अपने प्राचीन राजाओंका पुत्र समझकर मेरे अपराधोंकी क्षमा करके, मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दें ॥ ७ ॥

इयं च कृपणा वृद्धा हतपुत्रा तपस्विनी ।
गान्धारी पुत्रशोकार्ता तुल्यं याचति वो मया ॥ ८ ॥

इसके अतिरिक्त मेरे समान यह वृद्धा, कृशित, कृपणा, पुत्रशोकार्ता, तपस्विनी गान्धारी मेरे सहित तुम लोगोंके निकट यह क्षमाप्रार्थना करती है ॥ ८ ॥

हतपुत्राविमौ वृद्धौ विदित्वा दुःखितौ तथा ।
अनुजानीत भद्रं वो व्रजावः शरणं च वः ॥ ९ ॥

हम लोग तुम्हारे शरणागत हुए हैं, इस समय तुम लोग हमें हतपुत्र और वृद्ध जानके बनमें जानेके लिये आज्ञा करो, तुम लोगोंका मङ्गल हो ॥ ९ ॥

अयं च कौरवो राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
सर्वैर्भवद्भिर्द्रष्टव्यः समेषु विषमेषु च ।
न जातु विषमं चैव गमिष्यति कदाचन ॥ १० ॥

इन कुन्तीपुत्र कुरुराज युधिष्ठिर जो तुम लोगोंके पालक हैं, उनकी आप सब अच्छे और बुरे सभी समयोंमें रक्षा करना । ये कदापि आपके प्रति विषम भाव नहीं रखेंगे ॥ १० ॥

चत्वारः सचिवा यस्य भ्रातरो विपुलौजसः ।
लोकपालोपमा ह्येते सर्वे धर्मार्थदर्शिनः ॥ ११ ॥

इनके चारों भाई लोकपालोंके सदृश महातेजस्वी और सर्वधर्मार्थदर्शी हैं; वेही इनके मन्त्री हैं ॥ ११ ॥

ब्रह्मेव भगवानेष सर्वभूतजगत्पतिः ।
युधिष्ठिरो महातेजा भवतः पालयिष्यति ॥ १२ ॥

सब प्राणियों तथा समस्त जगतके प्रभु छः ऐश्वर्योंसे युक्त भगवान् ब्रह्माकी भांति ये महातेजस्वी युधिष्ठिर तुम लोगोंका पालन करेंगे ॥ १२ ॥

+

अवश्यमेव वक्तव्यमिति कृत्वा ब्रवीमि वः ।
एष न्यासो मया दत्तः सर्वेषां वो युधिष्ठिरः ।
भवन्तोऽस्य च वीरस्य न्यासभूताः मया कृताः ॥ १३ ॥

मुझे अवश्य ही यह कहना चाहिये, ऐसा मानकर मैंने तुम लोगोंसे ऐसा कहा है । तुम्हारे इस स्थाप्यस्वरूप राजा युधिष्ठिरको मैंने तुम लोगोंको प्रदान किया है और तुम लोग भी मेरे द्वारा वीरश्रेष्ठ युधिष्ठिरके निकट थातीरूपसे अर्पित हुए हैं ॥ १३ ॥

यद्येव तैः कृतं किंचिद्व्यलीकं वा सुतैर्मम ।
यद्यन्येन मदीयेन तदनुज्ञातुमर्हथ ॥ १४ ॥

यदि मेरे पुत्रों अथवा मेरे अन्य किसी पुरुषके द्वारा तुम लोगोंका कुछ भी अपराध किया हो, तो उसके लिये मुझे क्षमा करें और जानेकी आज्ञा दें ॥ १४ ॥

भवद्भिर्हि न मे मन्युः कृतपूर्वः कथंचन ।
अत्यन्तगुरुभक्तानामेषोऽञ्जलिरिदं नमः ॥ १५ ॥

पहले तुम लोगोंने मेरे ऊपर किसी प्रकार क्रोध नहीं किया है, तथा तुम लोगोंके अत्यन्त गुरुभक्त होनेसे मैं हाथ जोडके तुम लोगोंको नमस्कार करता हूं ॥ १५ ॥

तेषामस्थिरबुद्धीनां लुब्धानां कामचारिणाम् ।
कृते याचामि वः सर्वान्गान्धारीसहितोऽनघाः ॥ १६ ॥

हे अनघगण ! मैं गान्धारीके सहित उन अस्थिरबुद्धि, लोभी और स्वेच्छाचारी पुत्रोंके अपराधोंके निमित्त तुम लोगोंसे क्षमा मांगता हूं ॥ १६ ॥

इत्युक्तास्तेन ते राज्ञा पौरजानपदा जनाः ।
नोचुर्बाष्पकलाः किंचिद्वीक्षांचक्रुः परस्परम् ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥ २८५ ॥

वे सब पुरवासी और जनपदवासी लोग धृतराष्ट्रका ऐसा वचन सुनके आंसू भरे नेत्रोंसे परस्परको देखते हुए कुछ भी कहनेमें समर्थ न हुए ॥ १७ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें चौदहवां अध्याय समाप्त ॥ १४ ॥ २८५ ॥

: १५ :

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तास्तु ते तेन पौरजानपदा जनाः ।
वृद्धेन राज्ञा कौरव्य नष्टसंज्ञा इवाभवन् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— हे कौरवनाथ ! वे सब पुरवासी लोग बूढे राजा धृतराष्ट्रका ऐसा वचन सुनके संज्ञाविहीन हुए ॥ १ ॥

तूष्णींभूतांस्ततस्तांस्तु बाष्पकण्ठान्महीपतिः ।
धृतराष्ट्रो महीपालः पुनरेवाभ्यभाषत ॥ २ ॥

महीपति राजा धृतराष्ट्र उन लोगोंको आंसुओंसे कण्ठ अवरुद्ध होनेसे मौनावलम्बी तथा दुःखित देखकर फिर कहने लगे ॥ २ ॥

वृद्धं मां हतपुत्रं च धर्मपत्न्या सहानया ।
विलपन्तं बहुविधं कृपणं चैव सत्तमाः ॥ ३ ॥

हे सत्तमगण ! मैं वृद्ध हूं और मेरे सब पुत्र मारे गये हैं; मैं अपनी इस धर्मपत्नीके साथ दीनतापूर्वक विलाप कर रहा हूं ॥ ३ ॥

पित्रा स्वयमनुज्ञातं कृष्णद्वैपायनेन वै ।
वनवासाय धर्मज्ञा धर्मज्ञेन नृपेण च ॥ ४ ॥

मेरे पिता स्वयं महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यासने मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दी है और धर्मज्ञ राजा युधिष्ठिरने भी वनवासके निमित्त अनुमति दी है ॥ ४ ॥

सोऽहं पुनः पुनर्याचे शिरसावनतोऽनघाः ।
गान्धार्या सहितं तन्मां समनुज्ञातुमर्हथ ॥ ५ ॥

हे अनघगण ! मैं सिर झुकाके बार बार तुम लोगोंके निकट प्रणाम करके प्रार्थना करता हूं; इसलिये गान्धारीके सहित मुझे वनमें जानेके लिये तुम लोगोंको आज्ञा करनी उचित है ॥ ५ ॥

श्रुत्वा तु कुरुराजस्य वाक्यानि करुणानि ते ।
रुरुदुः सर्वतो राजन्समेताः कुरुजाङ्गलाः ॥ ६ ॥

हे राजन् ! वहां एकत्र हुए वे कुरुजाङ्गलवासी प्रजासमूह कुरुराज धृतराष्ट्रके ऐसे करुणायुक्त वचनको सुनके सब कोई रोदन करने लगे ॥ ६ ॥

उत्तरीयैः करैश्चापि संछाद्य वदनानि ते ।
रुरुदुः शोकसंतप्ता मुहूर्तं पितृमातृवत् ॥ ७ ॥

वे लोग पितामाताकी भांति शोकसे सन्तापित होकर दुपटोंके सहित दोनों हाथोंसे मुंह मूंदके मुहूर्तभर रोते रहे ॥ ७ ॥

हृदयैः शून्यभूतैस्ते धृतराष्ट्रप्रवासजम् ।
दुःखं संधारयन्तः स्म नष्टसंज्ञा इवाभवन् ॥ ८ ॥

अनन्तर उन्होंने शून्यप्राय हृदयमें धृतराष्ट्रके प्रवासजनित दुःखको धारण करते हुए चेतरहितकी भांति निवास किया ॥ ८ ॥

ते विनीय तमायासं कुरुराजवियोगजम् ।
शनैः शनैस्तदान्योन्यमब्रुवन्स्वमतान्युत ॥ ९ ॥

कुछ समयके अनन्तर उन लोगोंने कुरुराजके वियोगजनित दुःखको त्यागके धीरे धीरे आपसमें अपना अपना मत प्रकट किया ॥ ९ ॥

ततः संधाय ते सर्वे वाक्यान्यथ समासतः ।
एकस्मिन्ब्राह्मणे राजन्नावेश्योचुर्नराधिपम् ॥ १० ॥

हे राजन् ! अनन्तर उन सब लोगोंने एकमत होकर सन्धान करते हुए एक ब्राह्मणके ऊपर अपनी सारी बातें कहनेका भार रखा; उनके द्वारा उन्होंने राजासे अपना कहना सुनाया ॥ १० ॥

ततः स्वचरणे वृद्धः संमतोऽर्थविशारदः ।
साम्बाख्यो बह्वृचो राजन्वक्तुं समुपचक्रमे ॥ ११ ॥

हे महाराज ! अनन्तर सर्वमान्य, अर्थविशारद बह ऋक्वेत्ता साम्ब नामका पवित्राचारी वृद्ध ब्राह्मण राजासे वह सब बचन कहने लगा ॥ ११ ॥

अनुमान्य महाराजं तत्सदः संप्रभाष्य च ।
विप्रः प्रगल्भो मेधावी स राजानमुवाच ह ॥ १२ ॥

हे महाराज ! उस मेधावी, अत्यन्त प्रगल्भ विप्रने सभाको प्रसन्न तथा राजा धृतराष्ट्रको सम्मानित करके कहा– ॥ १२ ॥

राजन्वाक्यं जनस्यास्य मयि सर्वं समर्पितम् ।
वक्ष्यामि तदहं वीर तज्जुषस्व नराधिप ॥ १३ ॥

हे महाराज ! इन लोगोंने अपना सब वचन कहनेका भार मुझे सौंप दिया है; हे बीर नरनाथ ! वह सब मैं आपसे कहता हूं, आप सुनके स्वीकार करिये ॥ १३ ॥

यथा वदसि राजेन्द्र सर्वमेतत्तथा विभो ।
नात्र मिथ्या वचः किंचित्सुहृत्त्वं नः परस्परम् ॥ १४ ॥

राजेन्द्र ! आप हम लोगोंको अपना और अपनेको हम लोगोंका सुहृद् कहते हैं, सो वह सब सत्य है, इस बिषयमें कुछ भी मिथ्या बचन नहीं हुआ ॥ १४ ॥

न जात्वस्य तु वंशस्य राज्ञां कश्चित्कदाचन ।
राजासीद्यः प्रजापालः प्रजानामप्रियो भवेत् ॥ १५ ॥

इस वंशके राजाओंके बीच जो जिस समय राजा हुए हैं, उस समय वे प्रजापालक प्रजाके प्रिय होनेके अतिरिक्त अप्रियभाजन नहीं हुए ॥ १५ ॥

पितृवद्भ्रातृवच्चैव भवन्तः पालयन्ति नः ।
न च दुर्योधनः किंचिदयुक्तं कृतवान्नृप ॥ १६ ॥

राजन् ! वरन पिता और भ्राताकी भांति हम लोगोंका आप लोगोंने प्रतिपालन किया है; राजा दुर्योधनने भी हम लोगोंके विषयमें कुछ अनुचित बर्ताव नहीं किया ॥ १६ ॥

यथा ब्रवीति धर्मज्ञो मुनिः सत्यवतीसुतः ।
तथा कुरु महाराज स हि नः परमो गुरुः ॥ १७ ॥

हे महाराज ! सत्यवतीपुत्र धर्मज्ञ महामुनि व्यासने आपको जैसा कहा है, आप इस समय वही करिये; क्योंकि वही हम लोगोंके परम गुरु हैं ॥ १७ ॥

त्यक्ता वयं तु भवता दुःखशोकपरायणाः ।
भविष्यामश्चिरं राजन्भवद्गुणशतैर्हृताः ॥ १८ ॥

हे राजन् ! हम लोग आपके द्वारा परित्यक्त होकर अत्यन्त शोकार्त तथा दुःखित होंगे; परन्तु हम लोग सदाके लिये आपके सैंकडों गुणसमूहसे वहृत होकर निवास करेंगे ॥१८॥

यथा शंतनुना गुप्ता राज्ञा चित्राङ्गदेन च ।
भीष्मवीर्योपगूढेन पित्रा च तव पार्थिव ॥ १९ ॥

हे पार्थिव ! महाराजा शन्तनु, राजा चित्राङ्गद और भीष्मके बलसे रक्षित आपके पिता विचित्रवीर्यने जिस प्रकार हमारी रक्षा और पालन किया है ॥ १९ ॥

भवद्बुद्धियुजा चैव पाण्डुना पृथिवीक्षिता ।
तथा दुर्योधनेनापि राज्ञा सुपरिपालिताः ॥ २० ॥

तथा आपकी बुद्धियुक्त देखरेखमें पृथ्वीपति पाण्डुने जिस प्रकार हम लोगोंका पालन किया था, राजा दुर्योधनने भी उस ही प्रकार हम लोगोंको पालन किया है ॥ २० ॥

न स्वल्पमपि पुत्रस्ते व्यलीकं कृतवान्नृप ।
पितरीव सुविश्वस्तास्तस्मिन्नपि नराधिपे ।
वयमास्म यथा सम्यग्भवतो विदितं तथा ॥ २१ ॥

हे नृपवर ! आपके पुत्रने हम लोगोंका कुछ भी अप्रिय कार्य नहीं किया, इसलिये हम लोग उस राजाका पिताकी भांति विश्वास करते थे और हम लोग जिस प्रकार उनके राज्यमें सुखसे रहते थे, आपको वह सब विदित ही है ॥ २१ ॥

तथा वर्षसहस्राय कुन्तीपुत्रेण धीमता ।
पाल्यमाना धृतिमता सुखं विन्दामहे नृप ॥ २२ ॥

उस ही भांति बुद्धिमान् कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरके द्वारा सहस्रों वर्षोंतक प्रतिपालित होकर हम परम सुखभोग करेंगे ॥ २२ ॥

राजर्षीणां पुराणानां भवतां वंशधारिणाम् ।
कुरुसंवरणादीनां भरतस्य च धीमतः ॥ २३ ॥

हे नरनाथ ! ये राजा युधिष्ठिर प्राचीन कालके राजर्षि कुरु, संवरण और धीमान् भरत प्रभृतियोंके वंशज हुए हैं ॥ २३ ॥

वृत्तं समनुयात्येष धर्मात्मा भूरिदक्षिणः ।
नात्र वाच्यं महाराज सुसूक्ष्ममपि विद्यते ॥ २४ ॥

ये यज्ञोंमें बहुतसी दक्षिणा प्रदान करनेवाले धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर उन राजर्षियोंके व्यवहारका अनुसरण करते हैं; हे महाराज ! इसलिये इनके विषयमें कुछ भी वक्तव्य नहीं है ॥ २४ ॥

उषिताः स्म सुखं नित्यं भवता परिपालिताः ।
सुसूक्ष्मं च व्यलीकं ते सपुत्रस्य न विद्यते ॥ २५ ॥

हम लोगोंने आपके द्वारा प्रतिपालित होकर इनके राज्यमें सुखसे वास किया है; उस समय पुत्रके सहित आपका अणुमात्र भी अप्रिय कार्य हमारे देखनेमें नहीं आया है ॥ २५ ॥

यत्तु ज्ञातिविमर्देऽस्मिन्नात्थ दुर्योधनं प्रति ।
भवन्तमनुनेष्यामि तत्रापि कुरुनन्दन ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥ १११ ॥

हे कुरुनन्दन ! परन्तु आप इस ज्ञातिविनाशके विषयमें दुर्योधनके ऊपर दोषारोप करते हैं, उसके निमित्त भी मैं आपसे कुछ निवेदन करना चाहता हूं ॥ २६ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें पंद्रहवां अध्याय समाप्त ॥ १५ ॥ १११ ॥

: १६ :

ब्राह्मण उवाच —

न तद्दुर्योधनकृतं न च तद्भवता कृतम् ।
न कर्णसौबलाभ्यां च कुरवो यत्क्षयं गताः ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोला— हे महाराज ! जो कुरुकुल नष्ट हुआ है, वह दुर्योधन, आप, कर्ण तथा शकुनिके द्वारा नहीं हुआ ॥ १ ॥

दैवं तत्तु विजानीमो यन्न शक्यं प्रबाधितुम् ।
दैवं पुरुषकारेण न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ २ ॥

यह दैवका विधान था, इसे कोई टाल नहीं सकता । दैवको पुरुषार्थके द्वारा कदापि मिटा देना अशक्य है ॥ २ ॥

अक्षौहिण्यो महाराज दशाष्टौ च समागताः ।
अष्टादशाहेन हता दशभिर्योधपुंगवैः ॥ ३ ॥

हे महाराज ! योद्धाओंमें श्रेष्ठ दस पुरुषोंके हाथसे अठारह अक्षौहिणी सेनाएं जो वहां एकत्र हुई थीं, वह सब अठारह दिनोंमें मारी गई ॥ ३ ॥

भीष्मद्रोणकृपाद्यैश्च कर्णेन च महात्मना ।
युयुधानेन वीरेण धृष्टद्युम्नेन चैव ह ॥ ४ ॥

भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि तथा महात्मा कर्ण, वीर युयुधान, धृष्टद्युम्न ॥ ४ ॥

चतुर्भिः पाण्डुपुत्रैश्च भीमार्जुनयमैर्नृप ।
जनक्षयोऽयं नृपते कृतो दैवबलात्कृतैः ॥ ५ ॥

और भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव-इन चार पाण्डुपुत्रोंके द्वारा इस समस्त सेनाका नाश हुआ । हे राजन् ! ऐसा यह जन संहार दैवशक्तिके कारण ही किया गया ॥ ५ ॥

अवश्यमेव संग्रामे क्षत्रियेण विशेषतः ।
कर्तव्यं निधनं लोके शस्त्रेण क्षत्रबन्धुना ॥ ६ ॥

इस लोकमें युद्धमें मनुष्यको विशेष करके क्षत्रियको अवश्य ही शस्त्रोंसे शत्रुओंका संहार करना चाहिये ॥ ६ ॥

तैरियं पुरुषव्याघ्रैर्विद्याबाहुबलान्वितैः ।
पृथिवी निहता सर्वा सहया सरथद्विपा ॥ ७ ॥

उन विद्या और बाहुबलशाली पुरुषसिंह क्षत्रियोंने घोडे, रथ और हाथियोंके सहित इस सब पृथ्वीका नाश कर दिया ॥ ७ ॥

न स राजापराध्नोति पुत्रस्तव महामनाः ।
न भवान्न च ते भृत्या न कर्णो न च सौबलः ॥ ८ ॥

आपके वे महामना पुत्र तथा आप अथवा कर्ण, शकुनि वा आपके सेवक, कोई भी महात्मा राजाओंके विनाशके विषयमें कारण नहीं हैं ॥ ८ ॥

यद्विनष्टाः कुरुश्रेष्ठा राजानश्च सहस्रशः ।
सर्वं दैवकृतं तद्वै कोऽत्र किं वक्तुमर्हति ॥ ९ ॥

सहस्रों कुरुश्रेष्ठ राजा लोग जो युद्धमें विनष्ट हुए हैं, वह सब दैवकर्म है; इस विषयमें कोई दूसरा कुछ क्या कह सकता है ? ॥ ९ ॥

गुरुर्मतो भवानस्य कृत्स्नस्य जगतः प्रभुः ।
धर्मात्मानमतस्तुभ्यमनुजानीमहे सुतम् ॥ १० ॥

आप हम लोगोंके गुरु और समस्त जगत्‌के प्रभु हैं; इसलिये हम लोग आप धर्मात्मा राजाको वनमें जानेकी अनुमति देते हैं और आपके पुत्रके निमित्त यह कहते हैं ॥ १० ॥

लभतां वीरलोकान्स ससहायो नराधिपः ।
द्विजाग्र्यैः समनुज्ञातस्त्रिदिवे मोदतां सुखी ॥ ११ ॥

राजा दुर्योधन अपने सहायकोंके सहित द्विजोंके शुभाशीर्वादसे वीर लोकोंको प्राप्त करे और सुरलोकमें आनन्दसे सुखभोग करें ॥ ११ ॥

प्राप्स्यते च भवान्पुण्यं धर्मे च परमां स्थितिम् ।
वेद पुण्यं च कार्त्स्न्येन सम्यग्भरतसत्तम ॥ १२ ॥

हे भरतसत्तम ! आप भी पुण्य और धर्ममें परम स्थिति प्राप्त करें तथा समस्त पुण्य आपको प्राप्त हों ॥ १२ ॥

दृष्टापदानाश्चास्माभिः पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ।
समर्थास्त्रिदिवस्यापि पालने किं पुनः क्षितेः ॥ १३ ॥

आपने हमलोगोंको पुरुषश्रेष्ठ पाण्डवोंके आधीन रखा है; हमने तो उनको विपत्तियोंमें पार होते हुए देखा है । वे लोग स्वर्गका भी पालन करनेमें समर्थ हैं, फिर पृथ्वीकी तो बात ही क्या है ? ॥ १३ ॥

अनुवत्स्यन्ति चापीमाः समेषु विषमेषु च ।
प्रजाः कुरुकुलश्रेष्ठ पाण्डवाञ्शीलभूषणान् ॥ १४ ॥

हे कुरुकुलप्रवर ! यह सारी प्रजा अच्छे या बुरे सभी समयोंमें शीलभूषणसम्पन्न पाण्डवोंकी अनुवर्ती होगी ॥ १४ ॥

ब्रह्मदेयाग्रहारांश्च परिहारांश्च पार्थिव ।
पूर्वराजातिसर्गांश्च पालयत्येव पाण्डवः ॥ १५ ॥

राजन् ! पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर पुराने राजाओंके द्वारा ब्राह्मणोंको प्रदान किये हुए अग्रहार तथा परिहारोंकी भी रक्षा करते ही हैं ॥ १५ ॥

दीर्घदर्शी कृतप्रज्ञः सदा वैश्रवणो यथा ।
अक्षुद्रसचिवश्चायं कुन्तीपुत्रो महामनाः ॥ १६ ॥

ये कुन्तीपुत्र सदा कुबेरके समान दीर्घदर्शी महामना और कृतप्रज्ञ हैं; इनके मंत्री भी उच्च विचारके हैं ॥ १६ ॥

अप्यमित्रे दयावांश्च शुचिश्च भरतर्षभ ।
ऋजु पश्यति मेधावी पुत्रवत्पाति नः सदा ॥ १७ ॥

भरतकुलश्रेष्ठ युधिष्ठिर शत्रुओंपर भी दयायुक्त आचरण करनेवाले और अत्यन्त पवित्र हैं। ये मेधावी सरलचित्तसे सदा पुत्रकी भांति हम लोगोंका पालन करते हैं ॥ १७ ॥

विप्रियं च जनस्यास्य संसर्गाद्धर्मजस्य वै ।
न करिष्यन्ति राजर्षे तथा भीमार्जुनादयः ॥ १८ ॥

हे राजर्षि ! इन धर्मपुत्र युधिष्ठिरके संसर्गसे भीम तथा अर्जुन प्रभृति भी इस जनसमुदायके प्रति अप्रिय आचरण नहीं करेंगे ॥ १८ ॥

मन्दा मृदुषु कौरव्यास्तीक्ष्णेष्वाशीविषोपमाः ।
वीर्यवन्तो महात्मानः पौराणां च हिते रताः ॥ १९ ॥

हे कौरव्य ! ये वीर्यवान महात्मा पाण्डव पुरवासियोंके हितैषी हैं। ये मृदु स्वभाववाले सज्जनोंके प्रति मृदुता और तीखे स्वभाववाले दुष्टोंके प्रति विषधर सर्पोंके समान उग्रता दिखाते हैं ॥ १९ ॥

न कुन्ती न च पाञ्चाली न चोलूपी न सात्वती ।
अस्मिञ्जने करिष्यन्ति प्रतिकूलानि कर्हिचित् ॥ २० ॥

कुन्ती, द्रौपदी, उलूपी और सात्वत कुलमें उत्पन्न हुई सुभद्रा, ये भी कदापि प्रजाजनोंके प्रतिकूल आचरण नहीं करेंगी ॥ २० ॥

भवत्कृतमिमं स्नेहं युधिष्ठिरविवर्धितम् ।
न पृष्ठतः करिष्यन्ति पौरजानपदा जनाः ॥ २१ ॥

आपका पुरवासी और जनपदवासी प्रजासमूहके साथ जो स्नेह था, उसे युधिष्ठिरने और भी विवर्धित किया है; हम लोग आपके इस प्रेमको कदापि नहीं भूलेंगे ॥ २१ ॥

अधर्मिष्ठानपि सतः कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
मानवान्पालयिष्यन्ति भूत्वा धर्मपरायणाः ॥ २२ ॥

महारथी कुन्तीपुत्रगण स्वयं धर्मपरायण होके अधार्मिक मनुष्योंका भी पालन करेंगे ॥२२॥

स राजन्मानसं दुःखमपनीय युधिष्ठिरात् ।
कुरु कार्याणि धर्म्याणि नमस्ते पुरुषर्षभ ॥ २३ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ महाराज ! आप युधिष्ठिरकी ओरसे मानसिक दुःख दूर करके धर्मकार्य करिये। आपको हम लोग प्रणाम करते हैं ॥ २३ ॥

×

वैशम्पायन उवाच—

तस्य तद्वचनं धर्म्यमनुबन्ध गुणोत्तरम् ।
साधु साध्विति सर्वः स जनः प्रतिगृहीतवान् ॥ २४ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— सब लोगोंने उस ब्राह्मणके उत्तम गुणयुक्त धर्मसमन्वित वैसे वचनका सम्मान करते हुए ' धन्य धन्य ' कहके उनकी बातका अनुमोदन किया ॥ २४ ॥

धृतराष्ट्रश्च तद्वाक्यमभिपूज्य पुनः पुनः ।
विसर्जयामास तदा सर्वास्तु प्रकृतीः शनैः ॥ २५ ॥

उस समय धृतराष्ट्रने भी बार बार उन बचनोंको उत्तम कहकर धीरे धीरे सर्व प्रजासमूहको विसर्जन किया ॥ २५ ॥

स तैः संपूजितो राजा शिवेनावेक्षितस्तदा ।
प्राञ्जलिः पूजयामास तं जनं भरतर्षभ ॥ २६ ॥

हे भरतकुलतिलक ! उस प्रजासमूहसे पूजित तथा शुभदृष्टिसे अवलोकित होकर राजा धृतराष्ट्रने हाथ जोडके उस ब्राह्मणकी पूजा की ॥ २६ ॥

ततो विवेश भुवनं गान्धार्या सहितो नृपः ।
व्युष्टायां चैव शर्वर्यां यचकार निबोध तत् ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥ ३३८ ॥

तिसके अनन्तर राजा धृतराष्ट्रने गान्धारीके सहित अपने गृहमें प्रवेश किया । रात्रि बीतने-पर उन्होंने जो कुछ किया था, उसे सुनो ॥ २७ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें सोलहवां अध्याय समाप्त ॥ १६ ॥ ३३८ ॥

: १७ :

वैशम्पायन उवाच—

व्युषितायां रजन्यां तु धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
विदुरं प्रेषयामास युधिष्ठिरनिवेशनम् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— अनन्तर रात बीतनेपर सबेरे अम्बिकापुत्र धृतराष्ट्रने विदुरको युधिष्ठिरके भवनमें भेजा ॥ १ ॥

स गत्वा राजवचनादुवाचाच्युतमीश्वरम् ।
युधिष्ठिरं महातेजाः सर्वबुद्धिमतां वरः ॥ २ ॥

बुद्धिमान् पुरुषोंमें अग्रगण्य महातेजस्वी विदुर राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञानुसार अच्युत ईश्वर युधिष्ठिरके निकट जाके उनसे बोले ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रो महाराज वनवासाय दीक्षितः ।
गमिष्यति वनं राजन्कार्तिकीमागतामिमाम् ॥ ३ ॥

हे राजन् ! महाराज धृतराष्ट्र वनवासके निमित्त दीक्षित हुए हैं, वे इसी आगामी कार्तिकी पूर्णिमाके दिन वनमें जायंगे ॥ ३ ॥

स त्वा कुरुकुलश्रेष्ठ किंचिदर्थमभीप्सति ।
श्राद्धमिच्छति दातुं स गाङ्गेयस्य महात्मनः ॥ ४ ॥

हे कुरुकुलप्रवर ! वे महात्मा गङ्गातनय भीष्मके श्राद्धदानके निमित्त आपके समीप कुछ धनकी आकांक्षा करते हैं ॥ ४ ॥

द्रोणस्य सोमदत्तस्य बाह्लीकस्य च धीमतः ।
पुत्राणां चैव सर्वेषां ये चास्य सुहृदो हताः ।
यदि चाभ्यनुजानीषे सैन्धवापसदस्य च ॥ ५ ॥

द्रोण, सोमदत्त, बुद्धिमान् बाह्लीक और युद्धमें मारे गये अपने सब पुत्रों तथा सुहृदोंका और यदि आपकी अनुमति हो तो उस नराधम सिन्धुराज जयद्रथका भी श्राद्ध करें ॥५॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं विदुरस्य युधिष्ठिरः ।
हृष्टः संपूजयामास गुडाकेशश्च पाण्डवः ॥ ६ ॥

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर और गुडाकेश अर्जुनने विदुरका वैसा वचन सुनके प्रसन्न होकर सम्मान पूर्वक उसे स्वीकार किया ॥ ६ ॥

न तु भीमो दृढक्रोधस्तद्वचो जगृहे तदा ।
विदुरस्य महातेजा दुर्योधनकृतं स्मरन् ॥ ७ ॥

परन्तु उस समय महातेजस्वी दृढक्रोधी भीमने दुर्योधनके कार्योंको स्मरण करते हुए विदुरके उस वचनको स्वीकार न किया ॥ ७ ॥

अभिप्रायं विदित्वा तु भीमसेनस्य फल्गुनः ।
किरीटी किंचिदानम्य भीमं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

किरीटी अर्जुन भीमसेनका अभिप्राय जानके किञ्चित् विनयपूर्वक भीमसे बोले ॥ ८ ॥

भीम राजा पिता वृद्धो वनवासाय दीक्षितः ।
दातुमिच्छति सर्वेषां सुहृदामौर्ध्वदेहिकम् ॥ ९ ॥

हे भीम ! बूढे राजा पिता धृतराष्ट्र वनवासके निमित्त दीक्षित होकर सुहृदोंके और्ध्वदेहिक श्राद्ध करनेकी इच्छा करते हैं ॥ ९ ॥

भवता निर्जितं वित्तं दातुमिच्छति कौरवः ।
भीष्मादीनां महाबाहो तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ १० ॥

हे महाबाहो ! जब कुरुपति धृतराष्ट्र भीष्मादिके और्ध्वदेहिक कार्यके लिये तुम्हारे द्वारा निर्जित धन दान करनेकी इच्छा करते हैं, तब उस विषयमें आपको अनुमति करनी ही उचित है ॥ १० ॥

दिष्ट्या त्वद्य महाबाहो धृतराष्ट्रः प्रयाचति ।
याचितो यः पुरास्माभिः पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ ११ ॥

हे महाबाहो ! देखिये, समयका कैसा उलट फेर है, कि पहले ये हम लोगोंके द्वारा याचित हुए थे, आज वेही धृतराष्ट्र भाग्यवशसे हम लोगोंके निकट प्रार्थना करते हैं ॥ ११ ॥

योऽसौ पृथिव्याः कृत्स्नाया भर्ता भूत्वा नराधिपः ।
परैर्विनिहतापत्यो वनं गन्तुमभीप्सति ॥ १२ ॥

ये राजा धृतराष्ट्र सारी पृथ्वीके भरण पोषण करनेवाले अधिपति थे; शत्रुके द्वारा पुत्रोंके मारे जानेसे वनमें जानेके लिये अभिलाषी हुए हैं ॥ १२ ॥

मा तेऽन्यत्पुरुषव्याघ्र दानाद्भवतु दर्शनम् ।
अयशस्यमतोऽन्यत्स्यादधर्म्यं च महाभुज ॥ १३ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! उन्हें धन देनेके अतिरिक्त अन्यकार्यमें आपकी प्रवृत्ति न हो, क्योंकि महाबाहो ! दानके अतिरिक्त अन्य कार्यमें प्रवृत्ति होनेसे अयश और अधर्म हुआ करता है ॥ १३ ॥

राजानमुपतिष्ठस्व ज्येष्ठं भ्रातरमीश्वरम् ।
अर्हस्त्वमसि दातुं वै नादातुं भरतर्षभ ।
एवं ब्रुवाणं कौन्तेयं धर्मराजोऽभ्यपूजयत् ॥ १४ ॥

हे भरतर्षभ ! आप सबके प्रभु ज्येष्ठ भ्राता राजा युधिष्ठिरके साथ सहमत हो जाइये; आप दूसरोंको देनेके योग्य हैं, दूसरोंसे लेनेके योग्य नहीं । कुन्तीपुत्र अर्जुनके ऐसा कहनेपर धर्मराजने भी उन्हें सम्मानित किया ॥ १४ ॥

भीमसेनस्तु सक्रोधः प्रोवाचेदं वचस्तदा ।
वयं भीष्मस्य कुर्मेह प्रेतकार्याणि फल्गुन ॥ १५ ॥

परन्तु उस समय भीमसेन क्रोधपूर्वक उनसे बोले– हे अर्जुन हम लोग ही भीष्मका श्राद्ध कार्य करेंगे ॥ १५ ॥

सोमदत्तस्य नृपतेर्भूरिश्रवस एव च ।
बाह्लीकस्य च राजर्षेर्द्रोणस्य च महात्मनः ॥ १६ ॥

राजा सोमदत्त, भूरिश्रवा, राजर्षि बाह्लिक, महात्मा द्रोणाचार्य ॥ १६ ॥

अन्येषां चैव सुहृदां कुन्ती कर्णाय दास्यति ।
श्राद्धानि पुरुषव्याघ्र मादात्कौरवको नृपः ॥ १७ ॥

तथा अन्यान्य सुहृदोंका श्राद्धादि करेंगे और कुन्ती माता कर्णका श्राद्ध दान करेगी । हे पुरुषसिंह ! कुरुराज धृतराष्ट्र उनका श्राद्ध न करें ॥ १७ ॥

इति मे वर्तते बुद्धिर्मा वो नन्दन्तु शत्रवः ।
कष्टात्कष्टतरं यान्तु सर्वे दुर्योधनादयः ।
यैरियं पृथिवी सर्वा घातिता कुलपांसनैः ॥ १८ ॥

यही मेरा विचार है; इसके लिये हमारे शत्रु हमारी स्तुति न करें । जिन कुलपांसनोंके द्वारा यह सारी पृथ्वी विनाशित हुई है, वे हमारे परम शत्रु दुर्योधनादि अत्यन्त कष्टमें पड जायं ॥ १८ ॥

कुतस्त्वमद्य विस्मृत्य वैरं द्वादशवार्षिकम् ।
अज्ञातवासगमनं द्रौपदीशोकवर्धनम् ।
क तदा धृतराष्ट्रस्य स्नेहोऽस्मास्वभवत्तदा ॥ १९ ॥

आज तुम वह वैर, बारह वर्षोंका वनवास और द्रौपदीके शोकवर्धन एक वर्षका गहन अज्ञातवास आदि सब कैसे भूल गये ? उस समय धृतराष्ट्रका हमारे प्रति स्नेह क्यों नष्ट हुआ ? ॥ १९ ॥

कृष्णाजिनोपसंवीतो हृताभरणभूषणः ।
सार्धं पाञ्चालपुत्र्या त्वं राजानमुपजग्मिवान् ।
क तदा द्रोणभीष्मौ तौ सोमदत्तोऽपि वाभवत् ॥ २० ॥

जब तुमने पाञ्चालपुत्री द्रौपदीके सहित आभरण तथा भूषणरहित होकर कृष्णाजिन पहरके राजा धृतराष्ट्रके समीप गमन किया था, उस समय द्रोण और भीष्म और सोमदत्त ये लोग कहां चले गये थे ? ॥ २० ॥

यत्र त्रयोदश समा वने वन्येन जीवसि ।
न तदा त्वा पिता ज्येष्ठः पितृत्वेनाभिवीक्षते ॥ २१ ॥

जब तेरह वर्षोंतक वनके बीच वन्यवृत्ति धारण करके जीविका निर्वाह करते थे, उस समय तुम्हारे इन ज्येष्ठ पिताने पिताकी भांति तुम्हारे बिषयमें क्यों नहीं दृष्टि की ? ॥ २१ ॥

किं ते तद्विस्मृतं पार्थ यदेष कुलपांसनः ।
दुर्वृत्तो विदुरं प्राह द्यूते किं जितमित्युत ॥ २२ ॥

हे पार्थ ! इस कुलपांसन दुर्वृत्तने ही जुएके समय विदुरसे यह बात पूछी थी, कि " क्या जूएमें जीत हुई ? " उसे तुम एकबारही भूल गये हो ? ॥ २२ ॥

तमेवंवादिनं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
उवाच भ्रातरं धीमाञ्जोषमास्वेति भर्त्सयन् ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥ ३६१ ॥

भीमसेनके ऐसा कहते रहनेपर कुन्तीपुत्र बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिर उनकी निन्दा करते हुए यह वचन बोले कि शान्त हो जाओ ॥ २३ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें सत्रहवां अध्याय समाप्त ॥ १७ ॥ ३६१ ॥

: १८ :

अर्जुन उवाच—

भीम ज्येष्ठो गुरुर्मे त्वं नातोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे ।
धृतराष्ट्रो हि राजर्षिः सर्वथा मानमर्हति ॥ १ ॥

अर्जुन बोले– हे भीम ! आप मेरे ज्येष्ठ भाई तथा गुरु हैं, इसही निमित्त आपसे अतिरिक्त कहनेका मुझे उत्साह नहीं होता है; और क्या कहूं, राजर्षि धृतराष्ट्र सब प्रकारसे हम लोगोंके सम्मानार्ह हैं ॥ १ ॥

न स्मरन्त्यपराद्धानि स्मरन्ति सुकृतानि च ।
असंभिन्नार्थमर्यादाः साधवः पुरुषोत्तमाः ॥ २ ॥

अर्थकी मर्यादा भङ्ग न करनेवाले साधुचित्त उत्तम पुरुष दूसरोंके अपकारोंको स्मरण न करके उपकारोंहीको स्मरण किया करते हैं ॥ २ ॥

इदं मद्वचनात्क्षत्तः कौरवं ब्रूहि पार्थिवम् ।
यावदिच्छति पुत्राणां दातुं तावद्ददाम्यहम् ॥ ३ ॥

हे विदुर ! आप मेरे वचनके अनुसार कुरुकुलश्रेष्ठ पृथ्वीपति धृतराष्ट्रसे कहना, कि वह पुत्रोंके श्राद्धमें जो धन दान करनेकी इच्छा करेंगे, वह सब धन मैं दे दूंगा ॥ ३ ॥

भीष्मादीनां च सर्वेषां सुहृदामुपकारिणाम् ।
मम कोशादिति विभो मा भूद्भीमः सुदुर्मनाः ॥ ४ ॥

प्रभो ! भीष्म प्रभृति सब उपकारी सुहृदोंका श्राद्ध करनेके लिये केवल मेरे खजानेसे धन मिलेगा । इसमें भीम दुःखित नहीं होंगे ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्ते धर्मराजस्तमर्जुनं प्रत्यपूजयत् ।
भीमसेनः कटाक्षेण वीक्षांचक्रे धनंजयम् ॥ ५ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– धर्मराजने इतनी बात कहके अर्जुनको सम्मानित किया; तब भीमसेनने धनञ्जयकी ओर कटाक्षपूर्ण दृष्टिसे देखा ॥ ५ ॥

ततः स विदुरं धीमान्वाक्यमाह युधिष्ठिरः ।
न भीमसेने कोपं स नृपतिः कर्तुमर्हति ॥ ६ ॥

अनन्तर बुद्धिमान् युधिष्ठिर विदुरसे बोले, राजा धृतराष्ट्र भीमसेनके ऊपर क्रोध न करें ॥ ६ ॥

परिक्लिष्टो हि भीमोऽयं हिमवृष्टयातपादिभिः ।
दुःखैर्बहुविधैर्धीमानरण्ये विदितं तव ॥ ७ ॥

ये धीमान् भीमसेन जो हिम-वृष्टि, धूप तथा अनेक प्रकारके दुःखोंसे मनमें क्लेशित हुए हैं, वह आपको विदित है ॥ ७ ॥

किं तु मद्वचनाद्ब्रूहि राजानं भरतर्षभम् ।
यद्यदिच्छसि यावच्च गृह्यतां मद्गृहादिति ॥ ८ ॥

परन्तु आप मेरे बचनके अनुसार भरतश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रसे कहना, कि उनकी जो इच्छा हो, मेरे गृहसे वह उन सब वस्तुओंको ग्रहण करें ॥ ८ ॥

यन्मात्सर्यमयं भीमः करोति भृशदुःखितः ।
न तन्मनसि कर्तव्यमिति वाच्यः स पार्थिवः ॥ ९ ॥

और यह भी महाराजसे अवश्य कहना, कि यह भीमसेन अत्यन्त दुःखित होनेके कारण जो मत्सरता करते हैं, वह उन्हें अन्तःकरणमें रखना उचित नहीं है ॥ ९ ॥

यन्ममास्ति धनं किंचिदर्जुनस्य च वेश्मनि ।
तस्य स्वामी महाराज इति वाच्यः स पार्थिवः ॥ १० ॥

और उस नरनाथसे यह बचन कहना, कि मेरे तथा अर्जुनके गृहमें जो सब धन है, उस समस्त धनके स्वामी महाराज धृतराष्ट्र हैं ॥ १० ॥

ददातु राजा विप्रेभ्यो यथेष्टं क्रियतां व्ययः ।
पुत्राणां सुहृदां चैव गच्छत्वानृण्यमद्य सः ॥ ११ ॥

इसलिये आज राजा पुत्रों तथा सुहृदोंके निमित्त ब्राह्मणोंको इच्छानुसार दान दें, जितना खर्च करना चाहें करें और अऋण्य लाभ करें ॥ ११ ॥

इदं चापि शरीरं मे तवायत्तं जनाधिप ।
धनानि चेति विद्धि त्वं क्षत्तर्नास्त्यत्र संशयः ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥ ३७३ ॥

हे जननाथ ! मेरा यह शरीर तथा जो कुछ धन है, वह आपके अधीन है। विदुर आप भी यह निश्चय जानिये, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ १२ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें अठारहवां अध्याय समाप्त ॥ १८ ॥ ३७३ ॥

: १९ :

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तस्तु राज्ञा स विदुरो बुद्धिसत्तमः ।
धृतराष्ट्रमुपेत्येदं वाक्यमाह महार्थवत् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– बुद्धिसत्तम विदुर राजा युधिष्ठिरका ऐसा वचन सुनके धृतराष्ट्रके निकट जाकर युधिष्ठिरके कहे हुए महान् अर्थयुक्त समस्त वचन कहने लगे ॥ १ ॥

उक्तो युधिष्ठिरो राजा भवद्वचनमादितः ।
स च संश्रुत्य वाक्यं ते प्रशशंस महाद्युतिः ॥ २ ॥

हे महाराज ! मैंने महातेजस्वी युधिष्ठिरके समीप आपका वचन विस्तारपूर्वक कहा, उन्होंने आपका वचन सुनके आपकी अत्यन्त प्रशंसा की ॥ २ ॥

बीभत्सुश्च महातेजा निवेदयति ते गृहान् ।
वसु तस्य गृहे यच्च प्राणानपि च केवलान् ॥ ३ ॥

महातेजस्वी अर्जुन भी आपका वचन सुनके निज गृहमें स्थित समस्त धन, गृह तथा अपने प्राणोंको भी आपकी सेवामें अर्पण करते हैं ॥ ३ ॥

धर्मराजश्च पुत्रस्ते राज्यं प्राणान्धनानि च ।
अनुजानाति राजर्षे यच्चान्यदपि किंचन ॥ ४ ॥

हे राजर्षि ! आपके पुत्र धर्मराज अपना राज्य, धन, प्राण तथा गृहमें जो कुछ वस्तु है, वह सब आपको ग्रहण करनेके लिये कहते हैं ॥ ४ ॥

भीमस्तु सर्वदुःखानि संस्मृत्य बहुलान्युत ।
कृच्छ्रादिव महाबाहुरनुमन्ये विनिःश्वसन् ॥ ५ ॥

परन्तु महाबाहु भीमसेनने पहलेके सब दुःखोंको, जो बहुत ही हैं, स्मरण करके लंबी सांस छोडते हुए बहुत कष्टसे अनुमति दी है ॥ ५ ॥

स राज्ञा धर्मशीलेन भ्रात्रा बीभत्सुना तथा ।
अनुनीतो महाबाहुः सौहृदे स्थापितोऽपि च ॥ ६ ॥

उसे देखकर धर्मशील राजा युधिष्ठिर तथा भाई अर्जुनने महाबाहु भीमसे बहुत समझाकर सुहृदता स्थापन की है ॥ ६ ॥

न च मन्युस्त्वया कार्य इति त्वां प्राह धर्मराट् ।
संस्मृत्य भीमस्तद्वैरं यदन्यायवदाचरेत् ॥ ७ ॥

उसके लिये धर्मराजने आपको कहा है, कि भीम पहले वैरको स्मरण करके जो कभी आपके साथ अन्याय्य आचरण करते हैं, उससे आप भीमके विषयमें क्रोध न करें ॥ ७ ॥

एवंप्रायो हि धर्मोऽयं क्षत्रियाणां नराधिप ।
युद्धे क्षत्रियधर्मे च निरतोऽयं वृकोदरः ॥ ८ ॥

हे नराधिप ! जब कि क्षत्रियोंका यह धर्म ऐसा ही है, तब इस वृकोदरने युद्ध तथा क्षत्र-धर्ममें रत रहनेसे ऐसा आचरण किया है ॥ ८ ॥

वृकोदरकृते चाहमर्जुनश्च पुनः पुनः ।
प्रसादयाव नृपते भवान्प्रभुरिहास्ति यत् ॥ ९ ॥

हे नरनाथ ! इसलिये मैं और अर्जुन भीमके अप्रिय बर्तावके निमित्त आपसे बार बार क्षमा मांगते हैं; आप प्रसन्न होइये; हम लोगोंके पास जो कुछ है, आप उन समस्त वस्तुओंके प्रभु हैं ॥ ९ ॥

प्रददातु भवान्वित्तं यावदिच्छसि पार्थिव ।
त्वमीश्वरो नो राज्यस्य प्राणानां चेति भारत ॥ १० ॥

हे पृथ्वीपति ! भारत ! जब कि आप इस राज्य तथा हमारे प्राणोंके भी प्रभु हैं, तब आपको जितने धनकी इच्छा हो, उतना दान करिये ॥ १० ॥

ब्रह्मदेयाग्रहारांश्च पुत्राणां चौर्ध्वदेहिकम् ।
इतो रत्नानि गाश्चैव दासीदासमजाविकम् ॥ ११ ॥

ब्राह्मणोंको अग्रहार दीजिये और पुत्रोंका श्राद्ध कीजिये । इसलिये हमारे पाससे उत्तम रत्न, गौएं, दास, दासियां तथा बकरे प्रभृति समस्त धन ॥ ११ ॥

आनयित्वा कुरुश्रेष्ठो ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छतु ।
दीनान्धकृपणेभ्यश्च तत्र तत्र नृपाज्ञया ॥ १२ ॥

मंगवाकर ब्राह्मणोंको महाराज धृतराष्ट्र दान करें । राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे दीन, अन्ध और कृपणोंको भिन्न भिन्न स्थानोंमें ॥ १२ ॥

बह्वन्नरसपानाढ्याः सभा विदुर कारय ।
गवां निपानान्यन्यच्च विविधं पुण्यकर्म यत् ॥ १३ ॥

हे विदुर ! बहुतसा अन्न, पान, रस आदि पदार्थोंसे भरे हुए अन्नछत्र बनवाइये और गौओंको जल पीनेके निमित्त तालाब और अन्यान्य विविध पुण्यजनक कार्य कीजिये ॥ १३ ॥

इति मामब्रवीद्राजा पार्थश्चैव धनंजयः ।
यदत्रानन्तरं कार्यं तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ १४ ॥

इस प्रकार राजा युधिष्ठिर और अर्जुनने मुझसे कहा है । अब इसके बाद जो कुछ करना हो, आप उसे कहिये ॥ १४ ॥

×

इत्युक्तो विदुरेणाथ धृतराष्ट्रोऽभिनन्द्य तत्।
मनश्चक्रे महादाने कार्तिक्यां जनमेजय ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥ ३८८ ॥

हे जनमेजय ! जब विदुरने ऐसा कहा, तब धृतराष्ट्रने पाण्डवोंके विषयमें अत्यन्त सन्तुष्ट होके उन्हें अभिनन्दित करते हुए कार्तिककी तिथियोंमें महादान करनेकी इच्छा की ॥ १५॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें उन्नीसवां अध्याय समाप्त ॥ १९ ॥ ३८८ ॥

: २० :

वैशम्पायन उवाच—

विदुरेणैवमुक्तस्तु धृतराष्ट्रो जनाधिपः।
प्रीतिमानभवद्राजा राज्ञो जिष्णोश्च कर्मणा ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— राजा धृतराष्ट्र विदुरका ऐसा वचन सुनके राजा युधिष्ठिर तथा जिष्णु अर्जुनके कार्यसे बहुत ही प्रसन्न हुए ॥ १ ॥

ततोऽभिरूपान्भीष्माय ब्राह्मणानृषिसत्तमान्।
पुत्रार्थे सुहृदां चैव स समीक्ष्य सहस्रशः ॥ २ ॥

अनन्तर उन्होंने भीष्म और अपने पुत्रोंके श्राद्धके निमित्त सुयोग्य और श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियों तथा सहस्रों सुहृदोंको आमंत्रित किया ॥ २ ॥

कारयित्वान्नपानानि यानान्याच्छादनानि च।
सुवर्णमणिरत्नानि दासीदासपरिच्छदान् ॥ ३ ॥

और उनके लिये अन्न, पान, सवारी, वस्त्र, सुवर्ण, मणि, रत्न, दास, दासी, परिच्छद ॥३॥

कम्बलाजिनरत्नानि ग्रामान्क्षेत्रानजाविकम्।
अलंकारान्गजानश्वान्कन्याश्चैव वरास्त्रियः।
आदिश्यादिश्य विप्रेभ्यो ददौ स नृपसत्तमः ॥ ४ ॥

और कम्बल, विविध रत्न, ग्राम, खेत, धन, अलङ्कार, सुसज्जित घोडे, हाथी और आभूषणोंसे युक्त उत्तम कन्याएं एकत्र कीं; अनन्तर उन नृपराजने सम्पूर्ण मृत व्यक्तियोंके नाम लेकर उनके लिये उन सब वस्तुओंका दान किया ॥ ४ ॥

द्रोणं संकीर्त्य भीष्मं च सोमदत्तं च बाह्लिकम्।
दुर्योधनं च राजानं पुत्रांश्चैव पृथक्पृथक्।
जयद्रथपुरोगाश्च सुहृदश्चैव सर्वशः ॥ ५ ॥

द्रोण, भीष्म, सोमदत्त, बाह्लीक, राजा दुर्योधन, अन्यान्य पुत्रगण और जयद्रथ प्रभृति सभी सगे-सम्बन्धियों और सुहृदोंके नाम लेकर उनके निमित्त पृथक् पृथक् दान किया ॥ ५ ॥

स श्राद्धयज्ञो ववृधे बहुगोधनदक्षिणः ।
अनेकधनरत्नौघो युधिष्ठिरमते तदा ॥ ६ ॥

उस समय युधिष्ठिरकी अनुमतिके अनुसार अनेक गौएं, धन, रत्न और अनेक धन दक्षिणासे वह श्राद्धयज्ञ वर्धित हुआ ॥ ६ ॥

अनिशं यत्र पुरुषा गणका लेखकास्तथा ।
युधिष्ठिरस्य वचनात्तदापृच्छन्ति तं नृपम् ॥ ७ ॥

वहां गणक तथा लेखक पुरुष युधिष्ठिरकी आज्ञानुसार निरन्तर उपस्थित रहकर राजा धृतराष्ट्रसे बार बार पूछते थे कि ॥ ७ ॥

आज्ञापय किमेतेभ्यः प्रदेयं दीयतामिति ।
तदुपस्थितमेवात्र वचनान्ते प्रदृश्यते ॥ ८ ॥

इन लोगोंको क्या दान करना होगा, उसके लिये आप आज्ञा करिये; आप जो आज्ञा करेंगे, वही सब इस स्थानमें उपस्थित है। फिर राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञानुसार वे याचकोंको देते थे ॥ ८ ॥

शते देये दशशतं सहस्रे चायुतं तथा ।
दीयते वचनाद्राज्ञः कुन्तीपुत्रस्य धीमतः ॥ ९ ॥

उस समय वे लोग धृतराष्ट्रके वचनको सुनके बुद्धिमान् कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरके वचनानुसार जो लोग सौ दानके पात्र थे, उन्हें सहस्र और सहस्र दानवाले पात्रको दस सहस्र परिमाणसे धन दान करने लगे ॥ ९ ॥

एवं स वसुधाराभिर्वर्षमाणो नृपाम्बुदः ।
तर्पयामास विप्रांस्तान्वर्षन्भूमिमिवाम्बुदः ॥ १० ॥

जैसे बादल जलकी वर्षा करके भूमिको पुष्ट करता है, वैसे ही राजा धृतराष्ट्ररूपी मेघने धनरूपी जलकी वर्षा करते हुए ब्राह्मणोंको परितृप्त किया ॥ १० ॥

ततोऽनन्तरमेवात्र सर्ववर्णान्महीपतिः ।
अन्नपानरसौघेन प्लावयामास पार्थिवः ॥ ११ ॥

तिसके अनन्तर राजाने उस श्राद्धयज्ञमें अन्न पान तथा रसके सहारे सब वर्णोंके लोगोंको संतुष्ट किया ॥ ११ ॥

सवस्त्रफेनरत्नौघो मृदङ्गनिनदस्वनः ।
गवाश्वमकरावर्तो नारीरत्नमहाकरः ॥ १२ ॥

वस्त्र, धन और समस्त रत्न जिसका प्रवाह, मृदङ्गोंकी ध्वनि उस समुद्रकी गर्जना, गाय और अश्वसमूह मकर तथा भंवर, नारीयोंके रत्न ही महान् आकर ॥ १२ ॥

ग्रामाग्रहारकुल्याढयो मणिहेमजलार्णवः ।
जगत्संप्लावयामास धृतराष्ट्रदयाम्बुधिः ॥ १३ ॥

ग्राम और अग्रहार स्रोतस्, मणि तथा सुवर्ण प्रभृति जल और धृतराष्ट्र दयारूपी समुद्र हुए; ऐसे दानरूपी समुद्रने समस्त जगत्को प्लावित किया ॥ १३ ॥

एवं स पुत्रपौत्राणां पितॄणामात्मनस्तथा ।
गान्धार्याश्च महाराज प्रददावौर्ध्वदेहिकम् ॥ १४ ॥

हे महाराज ! नरनाथ धृतराष्ट्रने इस ही प्रकार पुत्र, पौत्र, पितरगण और अपना तथा गान्धारीका और्ध्वदेहिक कार्य पूरा किया ॥ १४ ॥

परिश्रान्तो यदासीत्स ददद्दानान्यनेकशः ।
ततो निर्वर्तयामास दानयज्ञं कुरूद्वहः ॥ १५ ॥

अनन्तर जब कुरुकुलतिलक धृतराष्ट्र अनेक प्रकारके दान करके बहुत थक गये, तब उन्होंने उस दानयज्ञको निवर्तित किया ॥ १५ ॥

एवं स राजा कौरव्यश्चक्रे दानमहोत्सवम् ।
नटनर्तकलास्याढयं बह्वन्नरसदक्षिणम् ॥ १६ ॥

कुरुपति राजा धृतराष्ट्रने नट, नर्तक और नृत्य गीतादि समन्वित बहुतसा अन्न, रस और दक्षिणायुक्त दानरूपी महोत्सवको इस प्रकार सम्पन्न किया ॥ १६ ॥

दशाहमेवं दानानि दत्त्वा राजाम्बिकासुतः ।
बभूव पुत्रपौत्राणामनृणो भरतर्षभ ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥ ४०५ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अम्बिकापुत्र धृतराष्ट्र इस ही प्रकार दस दिनोंतक अनेक भांतिसे धनदान करके पुत्रों और पौत्रोंके ऋणसे मुक्त हो गये ॥ १७ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें वीसवां अध्याय समाप्त ॥ २० ॥ ४०५ ॥

: २१ :

वैशम्पायन उवाच—

ततः प्रभाते राजा स धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
आहूय पाण्डवान्वीरान्वनवासकृतक्षणः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— अनन्तर दूसरे दिन प्रातःकाल अम्बिकापुत्र राजा धृतराष्ट्रने बनवासका समय निश्चय करते हुए वीरश्रेष्ठ पाण्डुपुत्रोंको बुलाके ॥ १ ॥

गान्धारीसहितो धीमानभिनन्द्य यथाविधि ।
कार्त्तिक्यां कारयित्वेष्टिं ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ २ ॥

गान्धारी सहित धीमान् राजाने विधिपूर्वक उन्हें अभिनन्दित किया । अनन्तर वह कार्तिकी पौर्णमासीमें वेदपारंगत ब्राह्मणोंके द्वारा यात्राके लिये उद्वसनीय नाम यज्ञ पूरा करके ॥ २ ॥

अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य वल्कलाजिनसंवृतः ।
वधूपरिवृतो राजा निर्ययौ भवनात्ततः ॥ ३ ॥

वल्कल तथा मृगचर्म पहरके अग्निहोत्रको आगे करके वधूगणोंसे घिरके निज गृहसे बाहिर हुए ॥ ३ ॥

ततः स्त्रियः कौरवपाण्डवानां याश्चाप्यन्याः कौरवराजवंश्याः ।
तासां नादः प्रादुरासीत्तदानीं वैचित्रवीर्ये नृपतौ प्रयाते ॥ ४ ॥

अनन्तर विचित्रवीर्यपुत्र राजा धृतराष्ट्रके इस प्रकार गृहसे प्रस्थान करने पर उस समय कौरवों और पाण्डवोंकी स्त्रियां तथा कुरुराजवंशीय अन्यान्य स्त्रियोंके रोदनकी ध्वनि सब ओर प्रकट हुई ॥ ४ ॥

ततो लाजैः सुमनोभिश्च राजा विचित्राभिस्तद्गृहं पूजयित्वा ।
संयोज्यार्थैर्भृत्यजनं च सर्वं ततः समुत्सृज्य ययौ नरेन्द्रः ॥ ५ ॥

उसके अनन्तर राजा धृतराष्ट्रने लावा तथा अनेक प्रकारके विचित्र पुष्पोंसे उस गृहकी पूजा की तथा धनसे सब सेवकोंकी तुष्टि करके उन सबको छोडकर वे वहांसे चल दिये ॥ ५ ॥

ततो राजा प्राञ्जलिर्वेपमानो युधिष्ठिरः सस्वनं बाष्पकण्ठः ।
विलप्योच्चैर्हा महाराज साधो क्व गन्तासीत्यपतत्तात भूमौ ॥ ६ ॥

उस समय राजा युधिष्ठिर हाथ जोडके कम्पित शरीर तथा सबाष्पकण्ठसे युक्त ऊंचे स्वरसे हे महाराज कहते हुए विलाप करने लगे और 'हे साधो ! आप कहां जाएंगे ?' ऐसा वचन कहके पृथ्वीपर गिर पडे ॥ ६ ॥

तथार्जुनस्तीव्रदुःखाभितप्तो मुहुर्मुहुर्निःश्वसन्भारताग्र्यः ।
युधिष्ठिरं मैवमित्येवमुक्त्वा निगृह्याथोदीधरत्सीदमानः ॥ ७ ॥

उस समय भारतप्रधान अर्जुनने तीव्र दुःखसे अत्यन्त सन्तापित होकर बार बार लम्बी सांस छोडते हुए दीन जनोंकी भांति अवसन्न होकर युधिष्ठिरको 'आप ऐसा न होइये' इस प्रकार कहके उन्हें धारण किया ॥ ७ ॥

वृकोदरः फल्गुनश्चैव वीरौ माद्रीपुत्रौ विदुरः संजयश्च ।
वैश्यापुत्रः सहितो गौतमेन धौम्यो विप्राश्चान्वयुर्बाष्पकण्ठाः ॥ ८ ॥

अनन्तर भीमसेन, अर्जुन, माद्रीपुत्र वीर नकुल–सहदेव, विदुर, सञ्जय, वैश्यापुत्र युयुत्सु और गौतमके सहित धौम्य प्रभृति विप्रगण बाष्परुद्ध कण्ठसे उनका अनुगमन करने लगे ॥ ८ ॥

कुन्ती गान्धारीं बद्धनेत्रां व्रजन्तीं स्कन्धासक्तं हस्तमथोद्वहन्ती ।
राजा गान्धार्याः स्कन्धदेशेऽवसज्य पाणिं ययौ धृतराष्ट्रः प्रतीतः ॥ ९ ॥
कुन्ती नेत्र बांधके चलनेवाली गांधारीके निज कन्धे पर स्थित हाथको धरके चलने लगी । राजा धृतराष्ट्र भी गान्धारीके कन्धेपर हाथ रखके विश्वासी होकर चलने लगे ॥ ९ ॥

तथा कृष्णा द्रौपदी यादवी च बालापत्या चोत्तरा कौरवी च ।
चित्राङ्गदा याश्च काश्चित्स्त्रियोऽन्याः सार्धं राज्ञा प्रस्थितास्ता वधूभिः ॥१०॥
द्रुपदपुत्री कृष्णा, यादवकुलमें उत्पन्न हुई सुभद्रा, गोदमें छोटासा बालक लिये उत्तरा, कौरव्य नागकी पुत्री उलूपी, चित्राङ्गदा और अन्यान्य स्त्रियां अपनी बहुओं सहित राजाके सङ्ग चलीं ॥ १० ॥

तासां नादो रुदतीनां तदासीद्राजन्दुःखात्कुररीणामिवोच्चैः ।
ततो निष्पेतुर्ब्राह्मणक्षत्रियाणां विट्शूद्राणां चैव नार्यः समन्तात् ॥११॥
राजन् ! दुःखसे व्याकुल हो कुररियोंकी भांति उच्च स्वरसे वे स्त्रियां विलाप कर रही थीं । उसके अनन्तर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंकी स्त्रियां भी उस ध्वनिको सुनकर चारों ओरसे वहां आके निपतित हुईं ॥ ११ ॥

तन्निर्याणे दुःखितः पौरवर्गो गजाह्वयेऽतीव बभूव राजन् ।
यथा पूर्वं गच्छतां पाण्डवानां द्यूते राजन्कौरवाणां सभायाम् ॥ १२ ॥
हे महाराज ! पहले पाण्डवोंके जुएकी खेलमें हारके कौरवसभासे निकलकर बनवासके लिये गमन करनेपर हस्तिनापुरवासी जिस प्रकार दुःखित हुए थे, धृतराष्ट्रके निकलनेके समयमें भी वे लोग उस ही प्रकार दुःखित हुए ॥ १२ ॥

या नापश्यञ्चन्द्रमा नैव सूर्यो रामाः कदाचिदपि तस्मिन्नरेन्द्रे ।
महावनं गच्छति कौरवेन्द्रे शोकेनार्ता राजमार्गं प्रपेदुः ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥ ४१८ ॥

ऐसा ही नहीं, वरन जो सब स्त्रियां कभी बाहर आकर चन्द्र तथा सूर्यको भी नहीं देखने पाती थीं, वे भी उस कुरुपति नरेन्द्र धृतराष्ट्रके महाबनमें जानेके समय अत्यन्त शोकार्त होकर राजमार्गमें बाहिर हुईं ॥ १३ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें इक्कीसवां अध्याय समाप्त ॥ २१ ॥ ४१८ ॥

: २२ :

वैशम्पायन उवाच—

ततः प्रासादहर्म्येषु वसुधायां च पार्थिव ।
स्त्रीणां च पुरुषाणां च सुमहान्निःस्वनोऽभवत् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले-- हे पृथ्वीपाल! उसके अनन्तर समस्त प्रासाद, अट्टालिका तथा भूमण्डलके बीच रोते हुए नरनारियोंका महान् शब्द प्रकट हुआ ॥ १ ॥

स राजा राजमार्गेण नृनारीसंकुलेन च ।
कथंचिन्निर्ययौ धीमान्वेपमानः कृताञ्जलिः ॥ २ ॥

बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र हाथ जोडके तथा कांपते हुए शरीरसे अत्यन्त कष्टके सहित नर-नारियोंसे परिपूरित राजमार्गसे आगे बढ सकते थे ॥ २ ॥

स वर्धमानद्वारेण निर्ययौ गजसाह्वयात् ।
विसर्जयामास च तं जनौघं स मुहुर्मुहुः ॥ ३ ॥

अनन्तर उन्होंने वर्धमान नामक दरवाजेसे हस्तिनापुरके बाहिर होकर उस स्थानमें समागत लोगोंको बार बार आग्रह करके बिदा किया ॥ ३ ॥

वनं गन्तुं च विदुरो राज्ञा सह कृतक्षणः ।
संजयश्च महामात्रः सूतो गावल्गणिस्तथा ॥ ४ ॥

महामन्त्री सूत गवल्गणपुत्र सञ्जय और विदुरने राजा धृतराष्ट्रके सङ्ग वनमें जानेके लिये स्थिर सङ्कल्प किया था ॥ ४ ॥

कृपं निवर्तयामास युयुत्सुं च महारथम् ।
धृतराष्ट्रो महीपालः परिदाय युधिष्ठिरे ॥ ५ ॥

पृथ्वीनाथ धृतराष्ट्रने कृपाचार्य और महारथी युयुत्सुको युधिष्ठिरके समीप सौंपकर उन लोगोंको निवृत्त किया ॥ ५ ॥

निवृत्ते पौरवर्गे तु राजा सान्तःपुरस्तदा ।
धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातो निवर्तितुमियेष सः ॥ ६ ॥

उस समय पुरवासियोंके लौटने पर राजा युधिष्ठिर अन्तःपुरवासी स्त्रियोंके सहित धृतराष्ट्रकी आज्ञा पाके वहांसे निवृत्त होनेका विचार करते थे ॥ ६ ॥

सोऽब्रवीन्मातरं कुन्तीमुपेत्य भरतर्षभ ।
अहं राजानमन्विष्ये भवती विनिवर्तताम् ॥ ७ ॥

हे भरतर्षभ! वह निज माता कुन्तीके पास जाकर बोले— हे माता! मैं राजाके सङ्ग जाऊंगा, तुम लौट जाओ ॥ ७ ॥

वधूपरिवृता राज्ञि नगरं गन्तुमर्हसि ।
राजा यात्वेष धर्मात्मा तपसे धृतनिश्चयः ॥ ८ ॥

तपस्याके लिये निश्चय किये हुए ये धर्मात्मा राजा धृतराष्ट्र वनमें जावें, परन्तु आप पुत्र-बधुओंके साथ नगरको लौट जाइये ॥ ८ ॥

इत्युक्ता धर्मराजेन बाष्पव्याकुललोचना ।
जगादैवं तदा कुन्ती गान्धारीं परिगृह्य ह ॥ ९ ॥

उस समय धर्मराजका ऐसा बचन सुनके आंखोंमें आंसू भरकर गान्धारीको दृढताके सहित धरके कुंती बोली ॥ ९ ॥

सहदेवे महाराज मा प्रमादं कृथाः क्वचित् ।
एष मामनुरक्तो हि राजंस्त्वां चैव नित्यदा ॥ १० ॥

हे महाराज ! यह सहदेव सदा तुम्हारा और मेरा अनुरक्त है, इसलिये तुम इस पर कभी अप्रसन्न न होना ॥ १० ॥

कर्णं स्मरेथाः सततं संग्रामेष्वपलायिनम् ।
अवकीर्णो हि मया वीरो दुष्प्रज्ञया तदा ॥ ११ ॥

युद्धमें सदा अपराङ्मुख कर्णको स्मरण करना, क्योंकि वह वीर उस समय मेरी दुर्बुद्धिसे ही मारा गया ॥ ११ ॥

आयसं हृदयं नूनं मन्दाया मम पुत्रक ।
यत्सूर्यजमपश्यन्त्याः शतधा न विदीर्यते ॥ १२ ॥

हे पुत्र ! मैं मन्दभागिनी हूं, मेरा हृदय निश्चयसे ही लोहमय है; क्योंकि सूर्यपुत्रको न देखकर अबतक भी इसके सौ टुकडे होकर न फट गया ॥ १२ ॥

एवंगते तु किं शक्यं मया कर्तुमरिंदम ।
मम दोषोऽयमत्यर्थं ख्यापितो यन्न सूर्यजः ।
तन्निमित्तं महाबाहो दानं दद्यास्त्वमुत्तमम् ॥ १३ ॥

हे अरिंदमन ! ऐसी परिस्थितिमें मैं और क्या कर सकती हूं ? मेरा ही इसमें एक महान् दोष हुआ है, कि पहले मैंने सूर्यपुत्र कर्णका तुमसे परिचय नहीं दिया । हे महाबाहो ! तुम उसके निमित्त उत्तम रीतिसे दान करना ॥ १३ ॥

सदैव भ्रातृभिः सार्धमग्रजस्यारिमर्दन ।
द्रौपद्याश्च प्रिये नित्यं स्थातव्यमरिकर्शन ॥ १४ ॥

हे शत्रुकर्षण ! तुम अपने भाईयोंके सहित तुम्हारे ज्येष्ठ भाईके लिये सदा मनमें प्रेम रखना । सदा द्रौपदीके प्रियकार्यमें रत रहना ॥ १४ ॥

भीमसेनार्जुनौ चैव नकुलश्च कुरूद्वह ।
समाधेयास्त्वया वीर त्वय्यद्य कुलधूर्गता ॥ १५ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! तुम भीम, अर्जुन और नकुलको सदा प्रसन्न रखना । आज तुमपर ही समस्त कुलका भार अर्पित हुआ है, इसलिये तुम इन सब कार्योंको पूरा करना ॥ १५ ॥

श्वश्रूश्वशुरयोः पादाञ्शुश्रूषन्ती वने त्वहम् ।
गान्धारीसहिता वत्स्ये तापसी मलपङ्किनी ॥ १६ ॥

मैं वनके बीच गांधारीके सङ्ग मलपङ्किनी तपस्विनी बनकर रहूंगी और अपने इन सास-ससुरके चरणोंकी सेवा करती रहूंगी ॥ १६ ॥

एवमुक्तः स धर्मात्मा भ्रातृभिः सहितो वशी ।
विषादमगमत्तीव्रं न च किंचिदुवाच ह ॥ १७ ॥

अपने चित्तको वशमें किये हुए धर्मात्मा युधिष्ठिर कुन्तीका ऐसा वचन सुनके भाइयोंके सहित अत्यन्त दुःखित होकर कुछ भी उत्तर देनेमें समर्थ न हुए ॥ १७ ॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
उवाच मातरं दीनश्चिन्ताशोकपरायणः ॥ १८ ॥

चिन्ताशोकपरायण धर्मपुत्र युधिष्ठिर मुहूर्तभर कुछ विचार न करके दीनभावसे निज जननी कुन्तीसे बोले ॥ १८ ॥

किमिदं ते व्यवसितं नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ।
न त्वामभ्यनुजानामि प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १९ ॥

हे माता ! तुम्हारा यह कैसा व्यवहार है ? आपको ऐसा करना उचित नहीं है; मैं तुम्हें वनमें जानेके निमित्त अनुमति नहीं दे सकता । आप हमपर कृपा कीजिये ॥ १९ ॥

व्यरोचयः पुरा ह्यस्मानुत्साह्य प्रियदर्शने ।
विदुराया वचोभिस्त्वमस्मान्न त्यक्तुमर्हसि ॥ २० ॥

हे प्रियदर्शने ! पहले तुमने हम लोगोंको विदुराके वचनसे उत्साहित किया था, इस समय हम लोगोंका परित्याग करना तुम्हें उचित नहीं है ॥ २० ॥

निहत्य पृथिवीपालान्राज्यं प्राप्तमिदं मया ।
तव प्रज्ञामुपश्रुत्य वासुदेवान्नरर्षभात् ॥ २१ ॥

मैंने पुरुषश्रेष्ठ श्रीकृष्णके समीप तुम्हारा विचार सुनके उसहीके अनुसार राजाओंका संहार करके यह राज्य पाया है ॥ २१ ॥

+

क्व सा बुद्धिरियं चाद्य भवत्या या श्रुता मया ।
क्षत्रधर्मे स्थितिं ह्युक्त्वा तस्याश्चलितुमिच्छसि ॥ २२ ॥

तुम्हारी वह बुद्धि कहां है ? और आज जो मैं यह विचार सुनता हूं वह कहां ? पहले तुम मुझे क्षत्रधर्ममें निवास करना अवश्य कर्तव्य कहके, इस समय स्वयं उससे च्युत होनेकी इच्छा करती हो ? ॥ २२ ॥

अस्मानुत्सृज्य राज्यं च स्नुषां चेमां यशस्विनीम् ।
कथं वत्स्यसि शून्येषु वनेष्वम्ब प्रसीद मे ॥ २३ ॥

तुम इस राज्य, यशस्विनी पुत्रवधुओं तथा हम लोगोंको परित्याग करके किस प्रकार निर्जन वनमें वास करोगी ? मुझपर प्रसन्न होके वनमें जानेसे निवृत्त होजाओ, यहीं रहो ॥ २३ ॥

इति बाष्पकलां वाचं कुन्ती पुत्रस्य शृण्वती ।
जगामैवाश्रुपूर्णाक्षी भीमस्तामिदमब्रवीत् ॥ २४ ॥

पुत्रका ऐसा बाष्पाकुल करुणायुक्त वचन सुनके कुन्ती आंखोंमें आंसू भरके भी गमन करने लगी, तब भीमसेन उससे बोले ॥ २४ ॥

यदा राज्यमिदं कुन्ति भोक्तव्यं पुत्रनिर्जितम् ।
प्राप्तव्या राजधर्माश्च तदेयं ते कुतो मतिः ॥ २५ ॥

हे माता ! जब पुत्रोंके जीते हुए इस राज्यके भोगनेका और राजधर्म प्राप्त करनेका अवसर आया, तब आपको यह बुद्धि कैसी हो गयी ? ॥ २५ ॥

किं वयं कारिताः पूर्वं भवत्या पृथिवीक्षयम् ।
कस्य हेतोः परित्यज्य वनं गन्तुमभीप्ससि ॥ २६ ॥

यदि तुम्हारा ऐसा ही अभिप्राय था, तो पहले क्यों हम लोगोंके द्वारा पृथ्वीका नाश कराया ? तुम किस कारण हम लोगोंको छोडके वनमें जानेकी इच्छा करती हो ? ॥ २६ ॥

वनाच्चापि किमानीता भवत्या बालका वयम् ।
दुःखशोकसमाविष्टौ माद्रीपुत्राविमौ तथा ॥ २७ ॥

और हम लोग बाल्यावस्थामें ही वनको गये थे, तब हम लोगोंको तथा दुःखशोकयुक्त माद्रीपुत्र नकुल-सहदेवको क्यों वनसे नगरमें बुलवाया ? ॥ २७ ॥

प्रसीद मातर्मा गास्त्वं वनमद्य यशस्विनि ।
श्रियं यौधिष्ठिरीं तावद्भुङ्क्ष्व पार्थबलार्जिताम् ॥ २८ ॥

हे यशस्विनी माता ! तुम प्रसन्न होओ, आज हमें छोडकर वनमें न जायँ; अर्जुनके बाहु-बलसे उपार्जित इस राजा युधिष्ठिरकी राजलक्ष्मीका भोग करो ॥ २८ ॥

इति सा निश्चितैवाथ वनवासकृतक्षणा।
लालप्यतां बहुविधं पुत्राणां नाकरोद्वचः ॥ २९ ॥

कुन्तीने शीघ्र वनवासके निमित्त दृढ निश्चय करके, पुत्रोंके अनेक प्रकारसे बिलापयुक्त वचनको न सुना और न ग्रहण किया ॥ २९ ॥

द्रौपदी चान्वयाच्छ्वश्रूं विषण्णवदना तदा।
वनवासाय गच्छन्तीं रुदती भद्रया सह ॥ ३० ॥

तब द्रौपदी विषण्णवदन होकर रोदन करती हुई सुभद्राके सहित बनमें जानेके लिये उद्यत निज सास कुन्तीकी अनुगामिनी हुई ॥ ३० ॥

सा पुत्रान्रुदतः सर्वान्मुहुर्मुहुरवेक्षती।
जगामैव महाप्राज्ञा वनाय कृतनिश्चया ॥ ३१ ॥

वनवासका दृढ निश्चय किये हुई महाबुद्धिमती कुन्ती रोते हुए अपने सब पुत्रोंको बार बार देखती हुई आगे गमन करने लगी ॥ ३१ ॥

अन्वयुः पाण्डवास्तां तु सभृत्यान्तःपुरास्तदा।
ततः प्रमृज्य साश्रूणि पुत्रान्वचनमब्रवीत् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥ ४५० ॥

पाण्डवगण भी सेवकों तथा अन्तःपुरकी स्त्रियोंके सङ्ग उसका अनुगमन करने लगे। तिसके अनन्तर कुन्ती अत्यन्त कष्टसे आंसू रोककर पुत्रोंसे कहने लगी ॥ ३२ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें बाईसवां अध्याय समाप्त ॥ २२ ॥ ४५० ॥

: २३ :

कुन्त्युवाच—

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि पाण्डव।
कृतमुद्धर्षणं पूर्वं मया वः सीदतां नृप ॥ १ ॥

कुन्ती बोली— हे महाबाहु पाण्डुपुत्र नरपति! तुमने जो कहा, वह सत्य है; परन्तु पहले तुम अनेक प्रकारके कष्टोंसे श्रान्त हो गये थे, इसलिये मैंने तुम्हें युद्धके लिये प्रोत्साहित किया था ॥ १ ॥

द्यूतापहृतराज्यानां पतितानां सुखादपि।
ज्ञातिभिः परिभूतानां कृतमुद्धर्षणं मया ॥ २ ॥

जूएमें तुम्हारा राज्य अपहृत हुआ था और सुखसे तुम भ्रष्ट हो गये थे, स्वजनोंसे तिरस्कृत हुए थे तथा अवसन्न होनेपर उत्साह बढानेके निमित्त ही मैंने तुम्हें ऐसा कहा था ॥ २ ॥

कथं पाण्डोर्न नश्येत संततिः पुरुषर्षभाः ।
यशश्च वो न नश्येत इति चोद्धर्षणं कृतम् ॥ ३ ॥

हे पुरुषप्रवरगण ! पाण्डुकी सन्तति तथा तुम लोगोंका यश किसी प्रकार लुप्त न हो, इस ही निमित्त मैंने तुम लोगोंको उत्साहित–हर्षित किया था ॥ ३ ॥

यूयमिन्द्रसमाः सर्वे देवतुल्यपराक्रमाः ।
मा परेषां मुखप्रेक्षाः स्थेत्येवं तत्कृतं मया ॥ ४ ॥

इन्द्र तथा देवताओंके सदृश पराक्रमशाली तुम लोगोंको जीविकाके लिये दूसरोंका मुखापेक्षी न होनेके लिये मैंने ऐसी विवेचना करके वैसा किया था ॥ ४ ॥

कथं धर्मभृतां श्रेष्ठो राजा त्वं वासवोपमः ।
पुनर्वने न दुःखी स्या इति चोद्धर्षणं कृतम् ॥ ५ ॥

हे युधिष्ठिर ! तुम धार्मिक लोगोंमें श्रेष्ठ और सुरराजसदृश ऐश्वर्यशाली राजा होकर फिर तुम्हें वनके बीच किसी प्रकारका क्लेश भोगना न पडे, ऐसा ही समझकर मैंने तुम्हें हर्षित किया था ॥ ५ ॥

नागायुतसमप्राणः ख्यातविक्रमपौरुषः ।
नायं भीमोऽत्ययं गच्छेदिति चोद्धर्षणं कृतम् ॥ ६ ॥

दस हजार हाथियोंके समान बलशाली, विक्रम तथा पुरुषार्थमें विख्यात यह भीमसेन पराजयको प्राप्त न होवे, इसलिये मैंने तुम लोगोंके उत्साहको बढाया था ॥ ६ ॥

भीमसेनादवरजस्तथायं वासवोपमः ।
विजयो नावसीदेत इति चोद्धर्षणं कृतम् ॥ ७ ॥

भीमसेनके छोटे भाई इन्द्रसदृश पराक्रमी यह विजय–अर्जुन किसी प्रकार अवसन्न न हों, इस ही निमित्त मैंने तुम लोगोंका उत्साह बर्धित किया था ॥ ७ ॥

नकुलः सहदेवश्च तथेमौ गुरुवर्तिनौ ।
क्षुधा कथं न सीदेतामिति चोद्धर्षणं कृतम् ॥ ८ ॥

गुरुके आज्ञानुवर्ती ये दोनों भाई नकुल और सहदेव किसी प्रकार क्षुधासे अवसन्न न हों, ऐसा ही समझके मैंने तुम लोगोंके उत्साहको विशेष रीतिसे बर्धित किया था ॥ ८ ॥

इयं च बृहती श्यामा श्रीमत्यायतलोचना ।
वृथा सभातले क्लिष्टा मा भूदिति च तत्कृतम् ॥ ९ ॥

यह दीर्घाङ्गी श्यामवर्णवाली विशालनयनी सौभाग्यवती द्रौपदी सभास्थलमें फिर वृथा क्लेश न पावे, यही समझकर मैंने वैसा किया था ॥ ९ ॥

प्रेक्षन्त्या मे तदा हीमां वेपन्तीं कदलीमिव ।
स्त्रीधर्मिणीमनिन्द्याङ्गीं तथा द्यूतपराजिताम् ॥ १० ॥

जब मेरे देखते देखते ही कदलीकी भांति कम्पित शरीरवाली, रजस्वला, निर्दोष अंगवाली और जूएमें हारी हुई इस द्रौपदीको ॥ १० ॥

दुःशासनो यदा मौढ्याद्दासीवत्पर्यकर्षत ।
तदैव विदितं मह्यं पराभूतमिदं कुलम् ॥ ११ ॥

दुःशासनने मूर्खतासे दासीकी भांति परिकर्षित किया, तभी मैंने इस कुरुकुलको अपने समीप पराजित समझा था ॥ ११ ॥

विषण्णाः कुरवश्चैव तदा मे श्वशुरादयः ।
यदैषा नाथमिच्छन्ती व्यलपत्कुररी यथा ॥ १२ ॥

जब द्रौपदी कुररीकी भांति विलाप करती हुई अपने लिये रक्षक चाहती हुई भगवान्को पुकारती थी, उस समय मेरे श्वशुर प्रभृति कौरवगण अत्यन्त दुःखित हुए थे ॥ १२ ॥

केशपक्षे परामृष्टा पापेन हतबुद्धिना ।
यदा दुःशासनेनैषा तदा मुह्याम्यहं नृप ॥ १३ ॥

हे नृप ! जिस समय हतबुद्धि पापात्मा दुःशासनने इसका केश पकडकर खींचा था, उस समय मैं दुःखसे मोहित हो गई थी ॥ १३ ॥

युष्मत्तेजोविवृद्ध्यर्थं मया ह्युद्धर्षणं कृतम् ।
तदानीं विदुरावाक्यैरिति तद्वित्त पुत्रकाः ॥ १४ ॥

हे पुत्र ! उस समय तुम्हारा तेज बढानेके लिये मैंने विदुराके वचनोंके द्वारा तुम लोगोंको उत्साहित किया था । इस विचारको अच्छी तरहसे समझो ॥ १४ ॥

कथं न राजवंशोऽयं नश्येत्प्राप्य सुतान्मम ।
पाण्डोरिति मया पुत्र तस्मादुद्धर्षणं कृतम् ॥ १५ ॥

उस समय मेरे और पाण्डुके पुत्रोंतक पहुंचकर यह राजवंश बिनष्ट न हो जाय, इस ही अभिप्रायसे मैंने तुम लोगोंका उत्साह वर्धित किया था ॥ १५ ॥

न तस्य पुत्रः पौत्रो वा कृत एव स पार्थिवः ।
लभते सुकृताँल्लोकान्यस्माद्वंशः प्रणश्यति ॥ १६ ॥

जिसका वंश नष्ट हो जाता है, उस कुलका पुत्र या पौत्र कभी सुकृत् लोगोंको नहीं प्राप्त कर सकते । फिर तो उस राजाकी क्या बात ? ॥ १६ ॥

भुक्तं राज्यफलं पुत्रा भर्तुर्मे विपुलं पुरा ।
महादानानि दत्तानि पीतः सोमो यथाविधि ॥ १७ ॥

हे पुत्रगण ! पहले मैंने अपने स्वामी पाण्डुके राज्यका विपुल सुख भोग किया है, सब प्रकारसे महादान किया तथा यज्ञमें विधिपूर्वक सोमपान किया है ॥ १७ ॥

साहं नात्मफलार्थं वै वासुदेवमचूचुदम् ।
विदुरायाः प्रलापैस्तैः प्लावनार्थं च तत्कृतम् ॥ १८ ॥

मैंने निज फलके निमित्त श्रीकृष्णको प्रेरित नहीं किया था, केवल विदुराके वचन हेतु तथा तुम्हारा संरक्षण करनेके निमित्त वैसा किया था ॥ १८ ॥

नाहं राज्यफलं पुत्र कामये पुत्रनिर्जितम् ।
पतिलोकानहं पुण्यान्कामये तपसा विभो ॥ १९ ॥

हे पुत्रगण ! मैं पुत्रके किये हुए राज्यफलकी कामना नहीं करती । हे विभु ! मैं तपस्याके सहारे केवल पुण्यजनक पतिलोककी कामना करती हूं ॥ १९ ॥

श्वश्रूश्वशुरयोः कृत्वा शुश्रूषां वनवासिनोः ।
तपसा शोषयिष्यामि युधिष्ठिर कलेवरम् ॥ २० ॥

हे युधिष्ठिर ! मैं वनवासी सासश्वशुरकी सेवा करती हुई तपोबलसे शरीर सुखाऊंगी ॥ २० ॥

निवर्तस्व कुरुश्रेष्ठ भीमसेनादिभिः सह ।
धर्मे ते धीयतां बुद्धिर्मनस्ते महदस्तु च ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वाणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥ ४७१ ॥

हे कुरुप्रवीर ! इसलिये तुम भीमसेनादिके सहित लौट जाओ, तुम्हारी बुद्धि धर्ममें रत रहे और तुम्हारा मन अत्यन्त उच्चपदपर आरूढ होवे ॥ २१ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें तेईसवां अध्याय समाप्त ॥ २३ ॥ ४७१ ॥

: २४ :

वैशम्पायन उवाच—

कुन्त्यास्तु वचनं श्रुत्वा पाण्डवा राजसत्तम ।
व्रीडिताः संन्यवर्तन्त पाञ्चाल्या सहितानघाः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— हे राजसत्तम ! पापरहित पाण्डवगण कुन्तीका ऐसा वचन सुनके लज्जित होकर, द्रौपदीके सहित वहांसे लौटे ॥ १ ॥

ततः शब्दो महानासीत्सर्वेषामेव भारत ।
अन्तःपुराणां रुदतां दृष्ट्वा कुन्तीं तथागताम् ॥ २ ॥

हे भारत ! उस समय कुन्तीके इस प्रकार गमन करनेपर अन्तःपुरकी सारी स्त्रियां उसे देखके अत्यन्त शोकार्त होकर रोदन करने लगीं; उनके रोदन करनेसे तुमुल शब्द हुआ ॥ २ ॥

प्रदक्षिणमथावृत्य राजानं पाण्डवास्तदा ।
अभिवाद्य न्यवर्तन्त पृथां तामनिवर्त्य वै ॥ ३ ॥

उस समय पाण्डवगण कुन्तीको फिर लौटानेमें समर्थ न हो, राजा धृतराष्ट्रकी प्रदक्षिणा करते हुए प्रणाम करके निवृत्त हुए ॥ ३ ॥

ततोऽब्रवीन्महाराजो धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
गान्धारीं विदुरं चैव समाभाष्य निगृह्य च ॥ ४ ॥

अनन्तर महाराज अम्बिकापुत्र धृतराष्ट्र गान्धारी और विदुरको सम्बोधित करके उनका हाथ पकडकर बोले ॥ ४ ॥

युधिष्ठिरस्य जननी देवी साधु निवर्त्यताम् ।
यथा युधिष्ठिरः प्राह तत्सर्वं सत्यमेव हि ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने जो कहा है, वह सब सत्य है; इसलिये युधिष्ठिरकी जननी कुन्तीदेवी सद्भावके सहित निवृत्त होवे ॥ ५ ॥

पुत्रैश्वर्यं महदिदमपास्य च महाफलम् ।
का नु गच्छेद्वनं दुर्गं पुत्रानुत्सृज्य मूढवत् ॥ ६ ॥

पुत्रोंका महान् फलजनक यह महान् ऐश्वर्य तथा पुत्रोंको परित्याग करके कौनसी स्त्री मूढकी भांति दुर्गम बनमें जायगी ? ॥ ६ ॥

राज्यस्थया तपस्तप्तं दानं दत्तं व्रतं कृतम् ।
अनया शक्यमद्येह श्रूयतां च वचो मम ॥ ७ ॥

आज मेरा यह वचन सुने, कि वह राज्यमें ही रहके महादान, व्रत तथा तपस्या कर सकेगी ॥७॥

गान्धारि परितुष्टोऽस्मि वध्वाः शुश्रूषणेन वै ।
तस्मात्त्वमेनां धर्मज्ञे समनुज्ञातुमर्हसि ॥ ८ ॥

हे धर्मज्ञा गान्धारी ! मैं बधूकी सेवासे अत्यन्तही परितुष्ट हुआ हूं, इसलिये तुम ही इसे घर लौटनेकी आज्ञा करो ॥ ८ ॥

इत्युक्ता सौबलेयी तु राज्ञा कुन्तीमुवाच ह ।
तत्सर्वं राजवचनं स्वं च वाक्यं विशेषवत् ॥ ९ ॥

सुबलपुत्री गान्धारीने राजाका ऐसा वचन सुनके कुन्तीको राजाकी आज्ञा सुनायी और स्वयं भी विशेष करके उसे घर लौटनेको कहा ॥ ९ ॥

न च सा वनवासाय देवीं कृतमतिं तदा ।
शक्नोत्युपावर्तयितुं कुन्तीं धर्मपरां सतीम् ॥ १० ॥

परन्तु बनवासके निमित्त दृढ निश्चय करनेवाली धर्मपरायण सती कुन्तीदेवीको गान्धारी किसी प्रकार लौटानेमें समर्थ न हुई ॥ १० ॥

तस्यास्तु तं स्थिरं ज्ञात्वा व्यवसायं कुरुस्त्रियः ।
निवृत्तांश्च कुरुश्रेष्ठान्दृष्ट्वा प्ररुरुदुस्तदा ॥ ११ ॥

उस समय कुन्तीका धीरज और बनमें रहनेका दृढनिश्चय मालूम करके कुरुपतिगणोंको निवृत्त होते देखकर कुरुकुलकी स्त्रियां ऊंचे स्वरसे रोदन करने लगीं ॥ ११ ॥

उपावृत्तेषु पार्थेषु सर्वेष्वन्तःपुरेषु च ।
ययौ राजा महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो वनं तदा ॥ १२ ॥

अनन्तर पृथापुत्रों तथा अन्तःपुरकी सारी स्त्रियोंके निवृत्त होनेपर महाप्राज्ञ राजा धृतराष्ट्रने बनकी ओर गमन किया ॥ १२ ॥

पाण्डवा अपि दीनास्ते दुःखशोकपरायणाः ।
यानैः स्त्रीसहिताः सर्वे पुरं प्रविविशुस्तदा ॥ १३ ॥

शोकदुःखपरायण पाण्डव भी अत्यन्त दीनभावसे स्त्रियोंके सहित सवारीके द्वारा नगरमें आये ॥ १३ ॥

तदहृष्टमिवाकूजं गतोत्सवमिवाभवत् ।
नगरं हास्तिनपुरं सस्त्रीवृद्धकुमारकम् ॥ १४ ॥

उस समय स्त्री, वृद्ध और बालकोंके सहित हस्तिनापुर हर्ष, नाद और उत्सवसे रहित हो गया था ॥ १४ ॥

सर्वे चासन्निरुत्साहाः पाण्डवा जातमन्यवः ।
कुन्त्या हीनाः सुदुःखार्ता वत्सा इव विनाकृताः ॥ १५ ॥

उत्साह रहित सब पाण्डवगण कुन्तीके विरहसे गो–विहीन बछड़ोंकी भांति दुःखार्त तथा व्याकुल हुए ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रस्तु तेनाह्ना गत्वा सुमहदन्तरम् ।
ततो भागीरथीतीरे निवासमकरोत्प्रभुः ॥ १६ ॥

इधर राजा धृतराष्ट्रने उस दिन बहुत दूर जाके भागीरथीके तटपर बास किया ॥ १६ ॥

प्रादुष्कृता यथान्यायमग्नयो वेदपारगैः ।
व्यराजन्त द्विजश्रेष्ठैस्तत्र तत्र तपोधनैः ।
प्रादुष्कृताग्निरभवत्स च वृद्धो नराधिपः ॥ १७ ॥

वहां तपोबनमें वेदपारंगत तपस्वी ब्राह्मणोंके द्वारा जहां तहां विधिपूर्वक अग्नि जलाकर प्रकट की थीं, वह अत्यन्त शोभायमान दीखती थी। उस समय बूढे राजा धृतराष्ट्रने अग्निको प्रकट तथा प्रज्वलित किया ॥ २७ ॥

स राजाग्नीन्पर्युपास्य हुत्वा च विधिवत्तदा ।
संध्यागतं सहस्रांशुमुपातिष्ठत भारत ॥ १८ ॥

भारत ! उन्होंने विधानके अनुसार अग्निहोत्रकी उपासना तथा आहुति दान करके संध्याके समयका सूर्यका उपस्थान किया ॥ १८ ॥

विदुरः संजयश्चैव राज्ञः शय्यां कुशैस्ततः ।
चक्रतुः कुरुवीरस्य गान्धार्याश्चाविदूरतः ॥ १९ ॥

अनन्तर विदुर और सञ्जयने कुरुकुलवीरश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रके लिये कुशके सहारे शय्या तैयार की; राजाके पासही गान्धारीके लिये एक स्वतंत्र आसन बिछा दिया ॥ १९ ॥

गान्धार्याः संनिकर्षे तु निषसाद कुशेष्वथ ।
युधिष्ठिरस्य जननी कुन्ती साधुव्रते स्थिता ॥ २० ॥

अनन्तर युधिष्ठिरकी जननी उत्तम व्रतवाली कुन्ती गान्धारीके निकट कुशासनपर सोयी ॥ २० ॥

तेषां संश्रवणे चापि निषेदुर्विदुरादयः ।
याजकाश्च यथोद्देशं द्विजा ये चानुयायिनः ॥ २१ ॥

विदुर प्रभृति सब कोई उनके निकट ही सोये, जहांसे उनकी बोली सुनायी दे सके । और याजक और अनुयायी द्विजगण यथास्थानपर सोये ॥ २१ ॥

प्राधीतद्विजमुख्या सा संप्रज्वालितपावका ।
बभूव तेषां रजनी ब्राह्मीव प्रीतिवर्धनी ॥ २२ ॥

उस समय मुख्य ब्राह्मणोंकी वेदध्वनी समुत्थित तथा पावकपुञ्ज प्रज्वलित होनेसे वह रात्रि ब्राह्मीनिशाकी भांति उन लोगको प्रीतिवर्धिनी हुई ॥ २२ ॥

ततो रात्र्यां व्यतीतायां कृतपूर्वाह्णिकक्रियाः ।
हुत्वाग्निं विधिवत्सर्वे प्रययुस्ते यथाक्रमम् ।
उदङ्मुखा निरीक्षन्त उपवासपरायणाः ॥ २३ ॥

तिसके अनन्तर रात बीतनेपर भोरको उपवासपरायण धृतराष्ट्र प्रभृति पुरुषोंने पौर्वाह्णिक कार्योंको पुरा करते हुए विधिपूर्वक अग्निमें होम करके यथाक्रमसे उत्तरकी ओर मुंह करके उधरही देखते हुए प्रस्थान किया ॥ २३ ॥

स तेषामतिदुःखोऽभून्निवासः प्रथमेऽहनि ।
शोचतां शोच्यमानानां पौरजानपदैर्जनैः ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥ ४९५ ॥

हे नरनाथ ! शोच्यमान पुरवासी तथा जनपदवासियोंके निमित्त शोकपरायण धृतराष्ट्र प्रभृतिका उस भागीरथी तटपरका प्रथम दिनका निवास अत्यन्त दुःखकर हुआ था ॥ २४ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें चौबीसवां अध्याय समाप्त ॥ २४ ॥ ४९५ ॥

×

: २५ :

वैशम्पायन उवाच—

ततो भागीरथीतीरे मेध्ये पुण्यजनोचिते ।
निवासमकरोद्राजा विदुरस्य मते स्थितः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– तिसके अनन्तर राजा धृतराष्ट्रने विदुरकी सम्मतिके अनुसार पुण्यमान् पुरुषोंके वासके योग्य उस गङ्गाके तटपर ही निवास किया ॥ १ ॥

तत्रैनं पर्युपातिष्ठन्ब्राह्मणा राष्ट्रवासिनः ।
क्षत्रविट्शूद्रसंघाश्च बहवो भरतर्षभ ॥ २ ॥

हे भरतर्षभ ! वहांपर बहुतसे देशवासी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रगण उनको मिलनेको आये ॥ २ ॥

स तैः परिवृतो राजा कथाभिरभिनन्द्य तान् ।
अनुजज्ञे सशिष्यान्वै विधिवत्प्रतिपूज्य च ॥ ३ ॥

राजाने उन लोगोंके बीच घिरकर अनेक प्रकारके वचनोंसे उन लोगोंको परितुष्ट करते हुए, शिष्योंके सहित ब्राह्मणोंकी विधिपूर्वक पूजा करके उन्हें जानेके लिये अनुमति दी ॥ ३ ॥

सायाह्ने स महीपालस्ततो गङ्गामुपेत्य ह ।
चकार विधिवच्छौचं गान्धारी च यशस्विनी ॥ ४ ॥

फिर राजा धृतराष्ट्रने यशस्विनी गान्धारीके सहित सायंकालमें गङ्गाके जलमें प्रविष्ट होकर विधिवत् स्नान कार्य पूरा किया ॥ ४ ॥

तथैवान्ये पृथक्सर्वे तीर्थेष्वाप्लुत्य भारत ।
चक्रुः सर्वाः क्रियास्तत्र पुरुषा विदुरादयः ॥ ५ ॥

हे भारत ! वे और विदुरादि अन्यान्य पुरुषोंने पृथक् पृथक् स्थानोंमें स्नान करके संध्योपासनादि सब कार्य पूरे किये ॥ ५ ॥

कृतशौचं ततो वृद्धं श्वशुरं कुन्तिभोजजा ।
गान्धारीं च पृथा राजन्गङ्गातीरमुपानयत् ॥ ६ ॥

हे राजन् ! तिसके अनन्तर भोजराजपुत्री कुन्ती स्नानादिसे निवृत्त होनेपर वृद्ध श्वशुर धृतराष्ट्र तथा गान्धारीको गङ्गातटपर ले आई ॥ ६ ॥

राज्ञस्तु याजकैस्तत्र कृतो वेदीपरिस्तरः ।
जुहाव तत्र वह्निं स नृपतिः सत्यसंगरः ॥ ७ ॥

याजक गणोंने वहांपर राजाके निमित्त कुशास्तृत यज्ञवेदी तैयार की; उस सत्यप्रतिज्ञ राजा धृतराष्ट्रने वहां अग्नि स्थापना करके विधिवत् होम किया ॥ ७ ॥

ततो भागीरथीतीरात्कुरुक्षेत्रं जगाम सः ।
सानुगो नृपतिर्विद्वान्नियतः संयतेन्द्रियः ॥ ८ ॥

फिर विद्वान् राजाने नियत तथा संयतेन्द्रिय होकर अनुचरोंके सहित गंगातटसे चलकर कुरुक्षेत्रमें गमन किया ॥ ८ ॥

तत्राश्रमपदं धीमानभिगम्य स पार्थिवः ।
आससादाथ राजर्षिः शतयूपं मनीषिणम् ॥ ९ ॥

वह बुद्धिमान् राजर्षि धृतराष्ट्र एक आश्रममें आगमन करके मनीषी शतयूपसे मिले ॥ ९ ॥

स हि राजा महानासीत्केकयेषु परंतपः ।
स पुत्रं मनुजैश्वर्ये निवेश्य वनमाविशत् ॥ १० ॥

वह परन्तप राजा शतयूप केकयदेशके महाराज थे; उन्होंने अपने पुत्रको पार्थिव ऐश्वर्य तथा राज्यका अधिपति करके वनका अवलम्बन किया था ॥ १० ॥

तेनासौ सहितो राजा ययौ व्यासाश्रमं तदा ।
तत्रैनं विधिवद्राजन्प्रत्यगृह्णात्कुरूद्वहम् ॥ ११ ॥

राजा धृतराष्ट्र उनके सहित व्यासदेवके आश्रमपर गये। राजन् ! उन्होंने वहां विधिपूर्वक कुरुपतिको प्रतिग्रह किया ॥ ११ ॥

स दीक्षां तत्र संप्राप्य राजा कौरवनन्दनः ।
शतयूपाश्रमे तस्मिन्निवासमकरोत्तदा ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन राजा धृतराष्ट्रने वहां दीक्षा पाकर उस शतयूपके आश्रममें ही निवास किया ॥ १२ ॥

तस्मै सर्वं विधिं राजन्राजाचख्यौ महामतिः ।
आरण्यकं महाराज व्यासस्यानुमते तदा ॥ १३ ॥

हे महाराज ! महाबुद्धिमान् राजा शतयूपने वेदव्यासकी आज्ञासे राजा धृतराष्ट्रसे वनमें रहनेकी समस्त विधि विशेष रीतिसे कही ॥ १३ ॥

एवं स तपसा राजा धृतराष्ट्रो महामनाः ।
योजयामास चात्मानं तांश्चाप्यनुचरांस्तदा ॥ १४ ॥

तब महामना पृथ्वीपति धृतराष्ट्रने स्वयंको और साथ आये अनुचरोंको तपस्यामें नियुक्त किया ॥ १४ ॥

तथैव देवी गान्धारी वल्कलाजिनवासिनी ।
कुन्त्या सह महाराज समानव्रतचारिणी ॥ १५ ॥

हे महाराज ! गान्धारी देवी भी वल्कल तथा मृगचर्म धारण करके कुन्तीके सहित धृतराष्ट्रके समान व्रतका पालन करने लगी ॥ १५ ॥

कर्मणा मनसा वाचा चक्षुषा चापि ते नृप ।
संनियम्येन्द्रियग्राममास्थिताः परमं तपः ॥ १६ ॥

हे नरनाथ ! वे कर्म, मन, बचन और नेत्रोंके सहित इन्द्रियोंको संयत करके परम तपस्यामें संलग्न हो गयीं ॥ १६ ॥

त्वगस्थिभूतः परिशुष्कमांसो जटाजिनी वल्कलसंवृताङ्गः ।
स पार्थिवस्तत्र तपश्चचार महर्षिवत्तीव्रमपेतदोषः ॥ १७ ॥

वह राजा धृतराष्ट्र महर्षिकी भांति मोह दोषरहित होकर अस्थिचर्मावशिष्ट शुष्क मांसयुक्त, मस्तकपर जटा और शरीरको मृगाजिन तथा वल्कलके द्वारा ढांकके तीव्र तपस्या करने लगे ॥ १७ ॥

क्षत्ता च धर्मार्थविदग्र्यबुद्धिः ससंजयस्तं नृपतिं सदारम् ।
उपाचरद्घोरतपो जितात्मा तदा कृशो वल्कलचीरवासाः ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥ ५१३ ॥

धर्मार्थवित् लोकातीत बुद्धिमान् जितात्मा विदुर भी सञ्जयके सहित वल्कल तथा चीरवसन पहरके गांधारी और धृतराष्ट्रकी सेवा करके, दुर्बल शरीरसे अत्यन्त घोर तपस्या करने लगे ॥ १८ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें पचीसवां अध्याय समाप्त ॥ २५ ॥ ५१३ ॥

: २६ :

वैशम्पायन उवाच—

ततस्तस्मिन्मुनिश्रेष्ठा राजानं द्रष्टुमभ्ययुः ।
नारदः पर्वतश्चैव देवलश्च महातपाः ॥ १ ॥

श्री वैशम्पायन मुनि बोले— तिसके अनन्तर वहां राजा धृतराष्ट्रसे मिलनेके लिये मुनिश्रेष्ठ नारद, पर्वत, महातपस्वी देवल ॥ १ ॥

द्वैपायनः सशिष्यश्च सिद्धाश्चान्ये मनीषिणः ।
शतयूपश्च राजर्षिर्वृद्धः परमधार्मिकः ॥ २ ॥

शिष्योंके सहित द्वैपायन व्यास, तथा अन्य मनीषी, सिद्धगण और परम धार्मिक वृद्ध राजर्षि शतयूप,—ये सब कोई उस स्थानमें आये ॥ २ ॥

तेषां कुन्ती महाराज पूजां चक्रे यथाविधि ।
ते चापि तुतुषुस्यास्तस्तापसाः परिचर्यया ॥ ३ ॥

हे महाराज ! कुन्तीने उन समागत तपस्वियोंकी विधिपूर्वक पूजा की; वे सब तपस्वी ऋषि उसकी सेवासे प्रसन्न हुए ॥ ३ ॥

तत्र धर्म्याः कथास्तात चक्रुस्ते परमर्षयः ।
रमयन्तो महात्मानं धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ॥ ४ ॥

हे तात ! उन परमश्रेष्ठ ऋषियोंने वहां आपसमें धर्मयुक्त वचनकी पर्यालोचना करते हुए महात्मा राजा धृतराष्ट्रको आनन्दित किया ॥ ४ ॥

कथान्तरे तु कस्मिंश्चिद्देवर्षिर्नारदस्तदा ।
कथामिमामकथयत्सर्वप्रत्यक्षदर्शिवान् ॥ ५ ॥

तिसके अनन्तर किसी कथाप्रसंगसे सर्वप्रत्यक्षदर्शी देवर्षि नारद यह वार्ता कहने लगे ॥५॥

पुरा प्रजापतिसमो राजासीदकुतोभयः ।
सहस्रचित्य इत्युक्तः शतयूपपितामहः ॥ ६ ॥

पहले प्रजापतिके समान शतयूपके पितामह नरनाथ सहस्रचित्य निःशङ्कचित्त थे ॥ ६ ॥

स पुत्रे राज्यमासज्य ज्येष्ठे परमधार्मिके ।
सहस्रचित्यो धर्मात्मा प्रविवेश वनं नृपः ॥ ७ ॥

उस धर्मात्मा राजा सहस्रचित्यने परम धार्मिक ज्येष्ठ पुत्रको राज्यभार अर्पण करके वनमें प्रवेश किया ॥ ७ ॥

स गत्वा तपसः पारं दीप्तस्य स नराधिपः ।
पुरंदरस्य संस्थानं प्रतिपेदे महामनाः ॥ ८ ॥

महामनस्वी राजा सहस्रचित्यने तपस्याकी पराकाष्ठा लाभ करके अन्तमें प्रदीप्त इन्द्रलोक पाया ॥ ८ ॥

दृष्टपूर्वः स बहुशो राजन्संपतता मया ।
महेन्द्रसदने राजा तपसा दग्धकिल्बिषः ॥ ९ ॥

मैंने महेन्द्रभवनमें आते जाते समय अनेक बार देखा, कि बहुत पहलेके देखे हुए नरनाथ सहस्रचित्य तपस्याके सहारे निष्पाप होकर वहां निवास करते हैं ॥ ९ ॥

तथा शैलालयो राजा भगदत्तपितामहः ।
तपोबलेनैव नृपो महेन्द्रसदनं गतः ॥ १० ॥

और भगदत्तके पितामह राजा शैलालयने भी तपोबलसे सुरेन्द्रभवनमें गमन किया ॥१०॥

तथा पृषध्रो नामासीद्राजा वज्रधरोपमः ।
स चापि तपसा लेभे नाकपृष्ठमितो नृपः ॥ ११ ॥

हे राजन् ! इन्द्रके सदृश राजा पृषध्रने भी तपोबलके सहारे इस लोकसे स्वर्गमें गमन किया है ॥ ११ ॥

अस्मिन्नरण्ये नृपते मान्धातुरपि चात्मजः ।
पुरुकुत्सो नृपः सिद्धिं महतीं समवाप्तवान् ॥ १२ ॥

हे नरनाथ ! इस वनमें ही मान्धाताके पुत्र राजा पुरुकुत्सने महती सिद्धि पाई है ॥ १२ ॥

भार्या समभवद्यस्य नर्मदा सरितां वरा ।
सोऽस्मिन्नरण्ये नृपतिस्तपस्तप्त्वा दिवं गतः ॥ १३ ॥

नदियोंमें श्रेष्ठ नर्मदा जिसकी भार्या हुई थीं, वह राजा इस वनमें तपस्या करके सुरलोकमें गया था ॥ १३ ॥

शशलोमा च नामासीद्राजा परमधार्मिकः ।
स चाप्यस्मिन्वने तप्त्वा तपो दिवमवाप्तवान् ॥ १४ ॥

हे राजन् ! परम धार्मिक राजा शशलोमाने भी इस वनमें उत्तम रीतिसे तपस्या करके स्वर्गलोक पाया है ॥ १४ ॥

द्वैपायनप्रसादाच्च त्वमपीदं तपोवनम् ।
राजन्नवाप्य दुष्प्रापां सिद्धिमग्र्यां गमिष्यसि ॥ १५ ॥

हे राजन् ! आप भी द्वैपायन व्यासकी कृपासे इस वनमें आकर तपोबल लाभ करके दुष्प्राप्य उत्तम गति पावेंगे ॥ १५ ॥

त्वं चापि राजशार्दूल तपसोऽन्ते श्रिया वृतः ।
गान्धारीसहितो गन्ता गतिं तेषां महात्मनाम् ॥ १६ ॥

हे राजशार्दूल ! आप भी तपस्याके अन्तमें श्रीसे सम्पन्न होकर गान्धारीके सहित उन महात्माओंकी गति प्राप्त करेंगे ॥ १६ ॥

पाण्डुः स्मरति नित्यं बलहन्तुः समीपतः ।
त्वां सदैव महीपाल स त्वां श्रेयसि योक्ष्यति ॥ १७ ॥

हे पृथ्वीपति ! आपके छोटे भाई पाण्डु इन्द्रके निकट रहके भी सदा आपको स्मरण करते हैं, वह आपको श्रीयुक्त करेंगे ॥ १७ ॥

तव शुश्रूषया चैव गान्धार्याश्च यशस्विनी ।
भर्तुः सलोकतां कुन्ती गमिष्यति वधूस्तव ॥ १८ ॥

तुम्हारी वहू युधिष्ठिरकी जननी यशस्विनी कुंती आपकी तथा गान्धारीकी सेवा करनेसे स्वामीकी सलोकता प्राप्त करेगी ॥ १८ ॥

युधिष्ठिरस्य जननी स हि धर्मः सनातनः ।
वयमेतत्प्रपश्यामो नृपते दिव्यचक्षुषा ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर साक्षात् सनातन धर्म हैं; हम अपनी दिव्यदृष्टिसे यह देखते हैं ॥ १९ ॥

प्रवेक्ष्यति महात्मानं विदुरश्च युधिष्ठिरम् ।
संजयस्त्वदनुध्यानात्पूतः स्वर्गमवाप्स्यति ॥ २० ॥

और विदुर महात्मा युधिष्ठिरके शरीरमें प्रवेश करेंगे; सञ्जय उन्हींका चिंतन करनेके कारण इस लोकसे सुरलोकमें जायंगे ॥ २० ॥

एतच्छ्रुत्वा कौरवेन्द्रो महात्मा सहैव पत्न्या प्रीतिमान्प्रत्यगृह्णात् ।
विद्वान्वाक्यं नारदस्य प्रशस्य चक्रे पूजां चातुलां नारदाय ॥ २१ ॥

कुरुपति महात्मा विद्वान् धृतराष्ट्रने नारद मुनिका ऐसा वचन सुनके भार्याके सहित अत्यन्त सन्तुष्ट होकर, उनके वचनकी प्रशंसा करके उनकी अतुल पूजा की ॥ २१ ॥

तथा सर्वे नारदं विप्रसंघाः संपूजयामासुरतीव राजन् ।
राज्ञः प्रीत्या धृतराष्ट्रस्य ते वै पुनः पुनः संप्रहृष्टास्तदानीम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥ ५३५ ॥

हे राजन् ! तिसके अनन्तर ब्राह्मणोंने राजा धृतराष्ट्रकी प्रीतिके अनुसार अत्यन्त संतुष्ट होकर नारद मुनिकी पूजा की ॥ २२ ॥

श्रीमहाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें छब्बीसवां अध्याय समाप्त ॥ २६ ॥ ५३५ ॥

: २७ :

वैशम्पायन उवाच—

नारदस्य तु तद्वाक्यं प्रशशंसुर्द्विजोत्तमाः ।
शतयूपस्तु राजर्षिर्नारदं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

उस समय द्विजश्रेष्ठोंने नारद मुनिके वचनकी अत्यंत प्रशंसा की; अनन्तर राजर्षि शतयूप नारदसे बोले ॥ १ ॥

अहो भगवता श्रद्धा कुरुराजस्य वर्धिता ।
सर्वस्य च जनास्यास्य मम चैव महाद्युते ॥ २ ॥

हे महातेजस्वी ! यह आश्चर्य है कि आपने हमारी, कुरुराज धृतराष्ट्रकी तथा सब लोगोंकी ही तपस्याकी श्रद्धा वर्धित की है ॥ २ ॥

अस्ति काचिद्विवक्षा तु मम तां गदतः शृणु ।
धृतराष्ट्रं प्रति नृपं देवर्षे लोकपूजित ॥ ३ ॥

हे लोकपूजित देवर्षि ! राजा धृतराष्ट्रके सम्बन्धमें मुझे कुछ कहना है, मैं उसे कहता हूं, सुनिये ॥ ३ ॥

सर्ववृत्तान्ततत्त्वज्ञो भवान्दिव्येन चक्षुषा ।
युक्तः पश्यसि देवर्षे गतीर्वै विविधा नृणाम् ॥ ४ ॥

हे देवर्षि ! आपको सबका वृत्तान्त तथा तत्त्व विदित है । विशेष करके आप दिव्य दृष्टिसे सब मनुष्योंकी विविध गति प्रत्यक्ष देखते रहते हैं ॥ ४ ॥

उक्तवान्नृपतीनां त्वं महेन्द्रस्य सलोकताम् ।
न त्वस्य नृपतेर्लोकाः कथितास्ते महामुने ॥ ५ ॥

महामुनि ! आपने अनेक राजाओंको इन्द्रकी सलोकता प्राप्तिका विषय वर्णन किया, परन्तु ये राजा धृतराष्ट्र कौनसा लोक प्राप्त करेंगे उस विषयमें कुछ भी न कहा ॥ ५ ॥

स्थानमस्य क्षितिपतेः श्रोतुमिच्छाम्यहं विभो ।
त्वत्तः कीदृक्कदा वेति तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ ६ ॥

हे विभु ! इसलिये इस राजाको किस समय कौनसा स्थान प्राप्त होगा, उसे मैं आपके समीप सुननेकी इच्छा करता हूं, आप उसे बिस्तारपूर्वक कहिये ॥ ६ ॥

इत्युक्तो नारदस्तेन वाक्यं सर्वमनोनुगम् ।
व्याजहार सतां मध्ये दिव्यदर्शी महातपाः ॥ ७ ॥

दिव्यदर्शी महातपस्वी नारद मुनि शतयूपका ऐसा बचन सुनके उन श्रेष्ठ लोगोंकी सभामें सबके मनोनुकूल विषय वर्णन करने लगे ॥ ७ ॥

यदृच्छया शक्रसदो गत्वा शक्रं शचीपतिम् ।
दृष्टवानस्मि राजर्षे तत्र पाण्डुं नराधिपम् ॥ ८ ॥

हे राजर्षि ! मैं एक दिन दैवेच्छासे इन्द्रके स्थानमें जाकर शचीपति इन्द्रसे मिला और वहीं राजा पाण्डुको भी मैंने देखा ॥ ८ ॥

तत्रेयं धृतराष्ट्रस्य कथा समभवन्नृप ।
तपसो दुश्चरस्यास्य यदयं तप्यते नृपः ॥ ९ ॥

हे नरनाथ ! ये राजा धृतराष्ट्र जिस प्रकार अत्यंत कठिन तपस्या करते हैं, इनकी वह वार्ता ही वहां होरही थी ॥ ९ ॥

तत्राहमिदमश्रौषं शक्रस्य वदतो नृप ।
वर्षाणि त्रीणि शिष्टानि राज्ञोऽस्य परमायुषः ॥ १० ॥

राजन् ! मैंने वहां सुरराज इन्द्रके मुखसे ऐसा सुना, कि इन राजा धृतराष्ट्रकी परमायु तीन वर्ष अवशिष्ट है ॥ १० ॥

ततः कुबेरभवनं गान्धारीसहितो नृपः ।
विहर्ता धृतराष्ट्रोऽयं राजराजाभिपूजितः ॥ ११ ॥

उसके अनन्तर ये राजा धृतराष्ट्र गान्धारीके साथ कुबेरके लोकमें जायंगे और वहां राजाधिराज कुबेरसे सम्मानित होकर ॥ ११ ॥

कामगेन विमानेन दिव्याभरणभूषितः ।
ऋषिपुत्रो महाभागस्तपसा दग्धकिल्बिषः ॥ १२ ॥

इच्छानुसार चलनेवाले बिमानपर चढके दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हो ये ऋषिपुत्र महाभाग अपनी तपस्याके प्रभावसे सब पापोंको भस्म करेंगे ॥ १२ ॥

संचरिष्यति लोकांश्च देवगन्धर्वरक्षसाम् ।
स्वच्छन्देनेति धर्मात्मा यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १३ ॥

फिर ये धर्मात्मा देव, गन्धर्व तथा राक्षसोंके लोकोंमें विचरण कर सकेंगे । हे राजन् ! आपने मुझसे जो विषय पूछा था, उसका उत्तर यही है ॥ १३ ॥

देवगुह्यमिदं प्रीत्या मया वः कथितं महत् ।
भवन्तो हि श्रुतधनास्तपसा दग्धकिल्बिषाः ॥ १४ ॥

यह देवलोकमें गोपनीय बिचार होनेपर भी, आप लोगोंके श्रुतज्ञ होने तथा तपसे सब पापोंके जलानेसे और आप लोगोंके विषयमें मेरी महती प्रीति रहनेसे मैंने आपसे यह वृत्तान्त कहा है ॥ १४ ॥

इति ते तस्य तच्छ्रुत्वा देवर्षेर्मधुरं वचः ।
सर्वे सुमनसः प्रीता बभूवुः स च पार्थिवः ॥ १५ ॥

देवर्षि नारदके ऐसे मधुर वचनको सुनके राजा धृतराष्ट्रके सहित सब कोई सुस्थचित्त तथा परम परितुष्ट हुए ॥ १५ ॥

एवं कथाभिरन्वास्य धृतराष्ट्रं मनीषिणः ।
विप्रजग्मुर्यथाकामं ते सिद्धगतिमास्थिताः ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥ ५५१ ॥

वे मनीषी महर्षि लोग इस ही प्रकार अपनी कथाओंसे धृतराष्ट्रको आश्वासित करके, सिद्ध गतिका अबलम्बन करके, इच्छानुसार विभिन्न स्थानोंको चले गये ॥ १६ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें सत्ताईसवां अध्याय समाप्त ॥ २७ ॥ ५५१ ॥

×

: २८ :

वैशम्पायन उवाच—

वनं गते कौरवेन्द्रे दुःखशोकसमाहताः ।
बभूवुः पाण्डवा राजन्मातृशोकेन चार्दिताः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– हे राजन् ! कौरवेन्द्र महाराज धृतराष्ट्रके वनमें जानेके अनन्तर पाण्डवगण दुःखित तथा शोकित हुए। माताके बियोगके शोकसे वे व्याकुल हो गये ॥१॥

तथा पौरजनः सर्वः शोचन्नास्ते जनाधिपम् ।
कुर्वाणाश्च कथास्तत्र ब्राह्मणा नृपतिं प्रति ॥ २ ॥

पुरवासी लोग भी जननाथ धृतराष्ट्रके निमित्त शोकमग्न रहते थे; ब्राह्मण लोग शोकार्त होकर धृतराष्ट्रके सम्बन्धमें ऐसा कहते थे— ॥ २ ॥

कथं नु राजा वृद्धः स वने वसति निर्जने ।
गान्धारी च महाभागा सा च कुन्ती पृथा कथम् ॥ ३ ॥

वे वृद्ध राजा, महाभागा गान्धारी और पृथा कुन्ती, ये लोग निर्जन वनमें किस प्रकार वास करते होंगे ? ॥ ३ ॥

सुखार्हः स हि राजर्षिर्न सुखं तन्महावनम् ।
किमवस्थः समासाद्य प्रज्ञाचक्षुर्हतात्मजः ॥ ४ ॥

वह सुख भोगनेके योग्य प्रज्ञाचक्षु हतपुत्र राजर्षि उस महाबनमें जाकर कैसी दशामें निवास कर रहे होंगे ? ॥ ४ ॥

सुदुष्करं कृतवती कुन्ती पुत्रानपश्यती ।
राज्यश्रियं परित्यज्य वनवासमरोचयत् ॥ ५ ॥

कुन्तीने राज्यश्री परित्याग करके पुत्रोंको बिना देखे बनवासमें रहनेकी इच्छा की, यह बडा दुष्कर कर्म किया ॥ ५ ॥

विदुरः किमवस्थश्च भ्रातुः शुश्रूषुरात्मवान् ।
स च गावल्गणिर्धीमान्भर्तृपिण्डानुपालकः ॥ ६ ॥

आत्मज्ञ विदुर भ्राताकी सेवा करते हुए किस अवस्थामें हैं और अपने स्वामीके शरीरकी रक्षा करनेवाले बुद्धिमान् गवल्गणपुत्र सञ्जय भी किस अवस्थाको प्राप्त हुए हैं ? ॥ ६ ॥

आकुमारं च पौरास्ते चिन्ताशोकसमाहताः ।
तत्र तत्र कथाचक्रुः समासाद्य परस्परम् ॥ ७ ॥

पुरवासी आबाल वृद्ध सब कोई चिन्ता तथा शोकसे परिपूरित होकर आपसमें एक दूसरेके साथ इस ही प्रकार वार्तालाप करने लगे ॥ ७ ॥

पाण्डवाश्चैव ते सर्वे भृशं शोकपरायणाः ।
शोचन्तो मातरं वृद्धामूषुर्नातिचिरं पुरे ॥ ८ ॥

उस समय अत्यन्त शोकयुक्त समस्त पाण्डवगण अपनी बूढी माताके लिये चिन्तित होकर अधिक समयतक पुरके बीच वास न कर सके ॥ ८ ॥

तथैव पितरं वृद्धं हतपुत्रं जनेश्वरम् ।
गान्धारीं च महाभागां विदुरं च महामतिम् ॥ ९ ॥

इसी प्रकार बूढे हतपुत्र महाराज धृतराष्ट्र, महाभागा गांधारी और महाबुद्धिमान् विदुरके निमित्त ॥ ९ ॥

नैषां बभूव संप्रीतिस्तान्विचिन्तयतां तदा ।
न राज्ये न च नारीषु न वेदाध्ययने तथा ॥ १० ॥

अधिक चिन्ता करनेके कारण उन्हें कभी प्रसन्नता नहीं मिलती थी; पाण्डुपुत्रोंका राज्य, स्त्री वा वेदाध्ययनमें भी मन तृप्त नहीं होता था ॥ १० ॥

परं निर्वेदमगमंश्चिन्तयन्तो नराधिपम् ।
तच्च ज्ञातिवधं घोरं संस्मरन्तः पुनः पुनः ॥ ११ ॥

वे नरनाथ धृतराष्ट्रको याद करके अत्यन्त खिन्न और विरक्त होते थे; तथा उन्हें बार बार बन्धु-बान्धवोंके उस भयंकर बधका स्मरण आता था ॥ ११ ॥

अभिमन्योश्च बालस्य विनाशं रणमूर्धनि ।
कर्णस्य च महाबाहोः संग्रामेष्वपलायिनः ॥ १२ ॥

युद्धके अगाडी बालक अभिमन्युका और संग्राममें कभी न भागनेवाले महाबाहु कर्णका जो बध किया गया ॥ १२ ॥

तथैव द्रौपदेयानामन्येषां सुहृदामपि ।
वधं संस्मृत्य ते वीरा नातिप्रमनसोऽभवन् ॥ १३ ॥

तथा द्रौपदीके पुत्रों और अन्य सुहृदोंके बधकी याद करके क्षुब्धचित्त होकर वे अप्रसन्न मन होते थे ॥ १३ ॥

हतप्रवीरां पृथिवीं हतरत्नां च भारत ।
सदैव चिन्तयन्तस्ते न निद्रामुपलेभिरे ॥ १४ ॥

हे भारत ! वे लोग पृथिवीको रत्नविहीन तथा वीरोंसे रहित देखकर सर्वदा चिन्ता करते हुए निद्रा लाभ न कर सके ॥ १४ ॥

द्रौपदी हतपुत्रा च सुभद्रा चैव भामिनी ।
नातिप्रीतियुते देव्यौ तदास्तामप्रहृष्टवत् ॥ १५ ॥

हतपुत्रा द्रौपदी तथा भामिनी सुभद्रा देवी, ये दोनों दुःखिनीकी भांति सदा अप्रसन्न और आनन्दरहित हो गयी थीं ॥ १५ ॥

वैराटयास्तु सुतं दृष्ट्वा पितरं ते परिक्षितम् ।
धारयन्ति स्म ते प्राणांस्तव पूर्वपितामहाः ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥ ५६७ ॥

परन्तु तुम्हारे पूर्व पितामहोंने तुम्हारे पिता उत्तरापुत्र परीक्षितको देखकर प्राण धारण किया था ॥ १६ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें अट्ठाईसवां अध्याय समाप्त ॥ २८ ॥ ५६७ ॥

: २९ :

वैशम्पायन उवाच—

एवं ते पुरुषव्याघ्राः पाण्डवाः मातृनन्दनाः ।
स्मरन्तो मातरं वीरा बभूवुर्भृशदुःखिताः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— वे वीरवर पुरुषश्रेष्ठ मातृनन्दन पाण्डवगण माताको स्मरण करते हुए इस ही प्रकार अत्यन्त दुःखी हो गये थे ॥ १ ॥

ये राजकार्येषु पुरा व्यासक्ता नित्यशोऽभवन् ।
ते राजकार्याणि तदा नाकार्षुः सर्वतः पुरे ॥ २ ॥

पहले जो लोग निरन्तर राजकार्यमें नियुक्त रहते थे, उस समय वे ही सब कोई नगरमें पूरी रीतिसे राजकार्य करनेमें समर्थ न हुए ॥ २ ॥

आविष्टा इव शोकेन नाभ्यनन्दन्त किंचन ।
संभाष्यमाणा अपि ते न किंचित्प्रत्यपूजयन् ॥ ३ ॥

वे लोग इस प्रकार शोकयुक्त हुए, कि किसीके पूछनेपर भी उत्तर देने तथा किसी विषयको अभिनन्दन करनेमें समर्थ न हुए ॥ ३ ॥

ते स्म वीरा दुराधर्षा गाम्भीर्ये सागरोपमाः ।
शोकोपहतविज्ञाना नष्टसंज्ञा इवाभवन् ॥ ४ ॥

गम्भीरतामें समुद्रसदृश दुराधर्ष वे सब वीरगण अत्यन्त शोकसे ज्ञानरहित होकर सदा चेत-रहितकी भांति निवास करने लगे ॥ ४ ॥

अनुस्मरन्तो जननीं ततस्ते कुरुनन्दनाः ।
कथं नु वृद्धमिथुनं वहत्यद्य पृथा कृशा ॥ ५ ॥

तिसके अनन्तर पाण्डवगण जननीके निमित्त इस प्रकार चिन्ता करने लगे, कि वह अत्यन्त कृशाङ्गी पृथा वृद्ध दम्पतीकी सेवा किस प्रकार निभाती होगी ? ॥ ५ ॥

कथं च स महीपालो हतपुत्रो निराश्रयः ।
पत्न्या सह वसत्येको वने श्वापदसेविते ॥ ६ ॥

वह हतपुत्र महीपाल आश्रयरहित ही पत्नीके सहित किस प्रकार अकेले श्वापदसेवित उस बनमें वास करते हैं ? ॥ ६ ॥

सा च देवी महाभागा गान्धारी हतबान्धवा ।
पतिमन्धं कथं वृद्धमन्वेति विजने वने ॥ ७ ॥

वह महाभागा हतबान्धव गान्धारी देवी निर्जन वनमें किस प्रकार बूढे अन्ध पतिका अनु-सरण करती होगी ? ॥ ७ ॥

एवं तेषां कथयतामौत्सुक्यमभवत्तदा ।
गमने चाभवद्बुद्धिर्धृतराष्ट्रदिदृक्षया ॥ ८ ॥

पाण्डवोंके इस ही प्रकार बात करते रहनेपर उनके मनमें उत्सुकता निर्माण हो गयी; कुछ समयके अनन्तर उन लोगोंने धृतराष्ट्रके देखनेकी अभिलाषासे बनमें जानेका बिचार किया ॥ ८ ॥

सहदेवस्तु राजानं प्रणिपत्येदमब्रवीत् ।
अहो मे भवतो दृष्टं हृदयं गमनं प्रति ॥ ९ ॥

अनन्तर सहदेव राजा युधिष्ठिरको प्रणाम करके यह बचन बोले, ओहो ! मैं आपके चित्तको बनमें गमनोन्मुख देखता हूं ॥ ९ ॥

न हि त्वा गौरवेणाहमशक्तं वक्तुमात्मना ।
गमनं प्रति राजेन्द्र तदिदं समुपस्थितम् ॥ १० ॥

हे राजेन्द्र ! मैं आपके गौरववशसे सहसा जो वहां चलनेकी बात नहीं कर सकता था, इस समय वह अवसर उपस्थित हुआ है ॥ १० ॥

दिष्ट्या द्रक्ष्यामि तां कुन्तीं वर्तयन्तीं तपस्विनीम् ।
जटिलां तापसीं वृद्धां कुशकाशपरिक्षताम् ॥ ११ ॥

मैं दैवयोगसे ही उस तपस्विनी बूढी कुशकाशके आसनोंपर शयन करनेके कारण परिक्षता जटाधारिणी कुन्ती देवीको देखूंगा ॥ ११ ॥

प्रासादहर्म्यसंवृद्धामत्यन्तसुखभागिनीम् ।
कदा तु जननीं श्रान्तां द्रक्ष्यामि भृशदुःखिताम् ॥ १२ ॥

जो सदा प्रासाद तथा कोठेके ऊपर रहती हुई बूढी हुई है, अत्यन्त सुखकी भागिनी रही है, इस समय उस अत्यन्त दुःखित परिश्रान्त जननीको कब देखूंगा ? ॥ १२ ॥

अनित्याः खलु मर्त्यानां गतयो भरतर्षभ ।
कुन्ती राजसुता यत्र वसत्यसुखिनी वने ॥ १३ ॥

हे भरतर्षभ ! मर्त्य लोगोंकी गतियां निश्चय ही अनित्य हैं, क्यों कि कुन्ती राजपुत्री होकर दुःखके सहित जङ्गलमें बास करती है ॥ १३ ॥

सहदेववचः श्रुत्वा द्रौपदी योषितां वरा ।
उवाच देवी राजानमभिपूज्याभिनन्द्य च ॥ १४ ॥

स्त्रियोंमें श्रेष्ठ द्रौपदी देवीने सहदेवका वचन सुनकर राजा युधिष्ठिरको सम्मानपूर्वक अभिनन्दित और प्रसन्न करके कहा ॥ १४ ॥

कदा द्रक्ष्यामि तां देवीं यदि जीवति सा पृथा ।
जीवन्त्या ह्यद्य नः प्रीतिर्भविष्यति नराधिप ॥ १५ ॥

हे जननाथ ! यदि वह पृथादेवी जीवित हों, तो मैं किस समय उन्हें देखूंगी ? क्योंकि मैं उनकी जिवित अवस्थामें उनका दर्शन पानेसे अत्यन्त प्रसन्न हूंगी ॥ १५ ॥

एषा तेऽस्तु मतिर्नित्यं धर्मे ते रमतां मनः ।
योऽद्य त्वमस्मान्राजेन्द्र श्रेयसा योजयिष्यसि ॥ १६ ॥

हे राजेन्द्र ! आपकी यह मति सदा बर्धित हो और आपका मन सदा धर्ममें रत रहे । आप शीघ्र हम लोगोंको पृथाके दर्शनरूपी मङ्गलकार्यमें नियुक्त करिये ॥ १६ ॥

अग्रपादस्थितं चेमं विद्धि राजन्वधूजनम् ।
काङ्क्षन्तं दर्शनं कुन्त्या गान्धार्याः श्वशुरस्य च ॥ १७ ॥

हे राजन् ! आपको मालूम हो, कि ये वधूगण कुन्ती, गान्धारी तथा श्वशुरको देखनेकी इच्छासे आगे पांव रखती हुई निवास कर रही हैं ॥ १७ ॥

इत्युक्तः स नृपो देव्या पाञ्चाल्या भरतर्षभ ।
सेनाध्यक्षान्समानाय्य सर्वानिदमथाब्रवीत् ॥ १८ ॥

हे भरतर्षभ ! नरनाथ युधिष्ठिर पाञ्चाली द्रौपदी देवीका ऐसा वचन सुनके सब सेनाध्यक्षोंको बुलाके यह बात बोले ॥ १८ ॥

निर्यातयत मे सेनां प्रभूतरथकुञ्जराम् ।
द्रक्ष्यामि वनसंस्थं च धृतराष्ट्रं महीपतिम् ॥ १९ ॥

मैं उन वनवासी महीपति धृतराष्ट्रको देखनेके लिये जाऊंगा, इसलिये तुम लोग हमारे बहुतसे रथ तथा हाथियोंसे युक्त समस्त सेनाको सज्जित होकर कूच करनेके लिये आज्ञा करो ॥ १९ ॥

स्त्र्यध्यक्षांश्चाब्रवीद्राजा यानानि विविधानि मे ।
सज्जीक्रियन्तां सर्वाणि शिबिकाश्च सहस्रशः ॥ २० ॥

अनन्तर राजा युधिष्ठिर स्त्रियोंके अध्यक्षोंसे बोले, कि तुम अनेक प्रकारके यान तथा हजारों पालकियोंको सज्जित करो ॥ २० ॥

शकटापणवेशाश्च कोशशिल्पिन एव च ।
निर्यान्तु कोशपालाश्च कुरुक्षेत्राश्रमं प्रति ॥ २१ ॥

आवश्यक समानोंसे भरी हुई गाडियां, आपण व्यवसायी, वंशधर, शिल्पी और कोशपाल लोग खजाना लेकर कुरुक्षेत्राश्रमकी ओर जावें ॥ २१ ॥

यश्च पौरजनः कश्चिद्द्रष्टुमिच्छति पार्थिवम् ।
अनावृतः सुविहितः स च यातु सुरक्षितः ॥ २२ ॥

यदि कोई पुरवासी महाराजाको देखनेकी इच्छा करता हो, तो वह अनावृत, सुविहित तथा उत्तम रीतिसे रक्षित होकर जा सकेगा ॥ २२ ॥

सूदाः पौरोगवाश्चैव सर्वं चैव महानसम् ।
विविधं भक्ष्यभोज्यं च शकटैरुह्यतां मम ॥ २३ ॥

हमारे रसोइयें और पुरमें रहनेवाले सेवकगण अनेक प्रकारके पाकपात्र तथा भक्ष्यभोज्य प्रभृति सामग्रियोंसे भरे छकडोंपर लादकर ले चलें ॥ २३ ॥

प्रयाणं घुष्यतां चैवं श्वोभूत इति मा चिरम् ।
क्रियन्तां पथि चाप्यद्य वेश्मानि विविधानि च ॥ २४ ॥

कल चलना होगा, विलम्ब नहीं करना चाहिये, इतनी बातकी शीघ्र घोषणा करो और मार्गके बीच ठहरनेके लिये आज ही अनेक प्रकारके गृह बनाओ ॥ २४ ॥

एवमाज्ञाप्य राजा स भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।
श्वोभूते निर्ययौ राजा सस्त्रीबालपुरस्कृतः ॥ २५ ॥

हे राजन् ! इस ही प्रकार आज्ञा करके पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर भाइयोंके सहित दूसरे दिन स्त्रियां और बालकोंको आगे करके नगरसे बाहिर हुए ॥ २५ ॥

स बहिर्दिवसानेवं जनौघं परिपालयन् ।
न्यवसन्नृपतिः पञ्च ततोऽगच्छद्वनं प्रति ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥ ५९२ ॥

उस नरनाथ युधिष्ठिरने नगरके बाहिरी हिस्सेमें पांच दिन निवास कर सब लोगोंकी प्रतीक्षा करनेके अनन्तर सबको साथ लेकर वनकी ओर गमन किया ॥ २६ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें उन्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ २९ ॥ ५९२ ॥

: ३० :

वैशम्पायन उवाच—

आज्ञापयामास ततः सेनां भरतसत्तमः ।
अर्जुनप्रमुखैर्गुप्तां लोकपालोपमैर्नरैः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— अनन्तर भरतसत्तम राजा युधिष्ठिरने लोकपालोंके सदृश अर्जुन प्रभृति पुरुषोंसे रक्षित सेनाको चलनेके लिये आज्ञा की ॥ १ ॥

योगो योग इति प्रीत्या ततः शब्दो महानभूत् ।
क्रोशतां सादिनां तत्र युज्यतां युज्यतामिति ॥ २ ॥

हे भारत ! तिसके अनन्तर ' इकट्ठे होओ, इकट्ठे होजाओ, ' इस प्रकार उनका परम प्रीति-पूर्ण आदेश प्राप्त होते ही घुडसवार प्रभृतिका ' घोडोंको जोतो ' इस ही प्रकार तुमुल शब्द प्रकट हुआ ॥ २ ॥

केचिद्यानैर्नरा जग्मुः केचिदश्वैर्मनोजवैः ।
रथैश्च नगराकारैः प्रदीप्तज्वलनोपमैः ॥ ३ ॥

अनन्तर कुछ लोग यान, कोई मनके समान वेगशाली घोडे, कोई प्रज्वलित अग्निसदृश नगराकार रथोंपर आरूढ होकर वहांसे चले ॥ ३ ॥

गजेन्द्रैश्च तथैवान्ये केचिदुष्ट्रैर्नराधिप ।
पदातिनस्तथैवान्ये नखरप्रासयोधिनः ॥ ४ ॥

कोई हाथी और कोई कोई ऊंटोंपर चढके चलने लगे । कितने ही बघनखों और भालोंसे युद्ध करनेवाले लोग पैदल ही चले ॥ ४ ॥

पौरजानपदाश्चैव यानैर्बहुविधैस्तथा ।
अन्वयुः कुरुराजानं धृतराष्ट्रदिदृक्षया ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्रको देखनेकी इच्छा करनेवाले पुरवासी तथा जनपदवासी लोग अनेक प्रकारके यानों-में चढके कुरुराजका अनुगमन करने लगे ॥ ५ ॥

स चापि राजवचनादाचार्यो गौतमः कृपः ।
सेनामादाय सेनानी प्रययावाश्रमं प्रति ॥ ६ ॥

गौतमपुत्र कृपाचार्य राजाकी आज्ञासे सेनानायक होकर सेनाके सहित आश्रमकी ओर चले ॥ ६ ॥

ततो द्विजैर्वृतः श्रीमान्कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
संस्तूयमानो बहुभिः सूतमागधबन्दिभिः ॥ ७ ॥

तिसके अनन्तर कुरुराज युधिष्ठिर द्विजवरोंसे घिरकर बहुतेरे सूत, मागध और बन्दियोंसे अपनी स्तुति सुनते हुए ॥ ७ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ।
रथानीकेन महता निर्ययौ कुरुनन्दनः ॥ ८ ॥

सिरके ऊपर पाण्डुरवर्ण छत्रसे सुशोभित और महान् रथ तथा सेनासमूहसे समावृत्त होकर बाहिर हुए ॥ ८ ॥

गजैश्चाचलसंकाशैर्भीमकर्मा वृकोदरः ।
सज्जयन्त्रायुधोपेतैः प्रययौ मारुतात्मजः ॥ ९ ॥

पवनपुत्र भीमकर्म करनेवाले वृकोदरने सज्जितयन्त्र और आयुधयुक्त पर्वतसदृश हाथियोंकी सेनाके साथ गमन किया ॥ ९ ॥

माद्रीपुत्रावपि तथा हयारोहैः सुसंवृतौ ।
जग्मतुः प्रीतिजननौ संनद्धकवचध्वजौ ॥ १० ॥

माद्रीपुत्र नकुल और सहदेवने ध्वजा और कवच बांधकर घोडेपर चढके भलीभांति घुडसवारोंकी सेनासे घिरके प्रसन्न करते हुए गमन किया ॥ १० ॥

अर्जुनश्च महातेजा रथेनादित्यवर्चसा ।
वशी श्वेतैर्हयैर्युक्तैर्दिव्येनान्वगमन्नृपम् ॥ ११ ॥

चित्तको वशमें करनेवाले महातेजस्वी अर्जुन सफेद वर्णवाले घोडोंसे युक्त, सूर्यके समान प्रभासम्पन्न दिव्य रथपर चढके राजा युधिष्ठिरके अनुगामी हुए ॥ ११ ॥

द्रौपदीप्रमुखाश्चापि स्त्रीसंघाः शिबिकागताः ।
स्त्र्यध्यक्षयुक्ताः प्रययुर्विसृजन्तोऽमितं वसु ॥ १२ ॥

द्रौपदी प्रभृति सब स्त्रियां पालकीमें बैठकर स्त्रीरक्षकोंसे रक्षित होकर अमित धन बांटती हुई चलने लगीं ॥ १२ ॥

×

समृद्धनरनागाश्वं वेणुवीणानिनादितम् ।
शुशुभे पाण्डवं सैन्यं तत्तदा भरतर्षभ ॥ १३ ॥

हे भरतर्षभ ! उस समय समृद्ध नर, हाथी और घोडोंसे युक्त पाण्डवोंकी सेना बांसरी और वीणासे अनुनादित होकर अत्यन्त शोभित होने लगी ॥ १३ ॥

नदीतीरेषु रम्येषु सरस्सु च विशां पते ।
वासान्कृत्वा क्रमेणाथ जग्मुस्ते कुरुपुंगवाः ॥ १४ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! वे कुरुपुङ्गवगण नदी तथा तालाबोंके मनोहर तटपर वास करते हुए क्रमसे चलने लगे ॥ १४ ॥

युयुत्सुश्च महातेजा धौम्यश्चैव पुरोहितः ।
युधिष्ठिरस्य वचनात्पुरगुप्तिं प्रचक्रतुः ॥ १५ ॥

इधर महातेजस्वी युयुत्सु और पुरोहित धौम्य मुनि राजा युधिष्ठिरकी आज्ञानुसार नगरकी रक्षा करने लगे ॥ १५ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा कुरुक्षेत्रमवातरत् ।
क्रमेणोत्तीर्य यमुनां नदीं परमपावनीम् ॥ १६ ॥

अनन्तर राजा युधिष्ठिर क्रमसे परमपावनी यमुना नदी पार होके कुरुक्षेत्रमें जा पहुंचे ॥ १६ ॥

स ददर्शाश्रमं दूराद्राजर्षेस्तस्य धीमतः ।
शतयूपस्य कौरव्य धृतराष्ट्रस्य चैव ह ॥ १७ ॥

कुरुपुत्र ! उन्होंने वहांसे दूरमें स्थित उस धीमान् राजर्षि शतयूप और कुरुपति धृतराष्ट्रका आश्रम देखा ॥ १७ ॥

ततः प्रमुदितः सर्वो जनस्तद्वनमञ्जसा ।
विवेश सुमहानादैरापूर्य भरतर्षभ ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥ ६११ ॥

हे भरतर्षभ ! तिसके अनन्तर सब कोई अत्यन्त आनन्दित होकर सहसा महाशब्दसे उस वनको परिपूर्ण करते हुए उसमें प्रविष्ट हुए ॥ १८ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें तीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३० ॥ ६११ ॥

: ३१ :

वैशम्पायन उवाच—

ततस्ते पाण्डवा दूरादवतीर्य पदातयः ।
अभिजग्मुर्नरपतेराश्रमं विनयानताः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— अनन्तर पाण्डवोंने दूरसे ही अपनी सवारियोंसे उतरके पैदल चलकर विनय और प्रणतिपूर्वक राजाके आश्रममें गमन किया ॥ १ ॥

स च पौरजनः सर्वो ये च राष्ट्रनिवासिनः ।
स्त्रियश्च कुरुमुख्यानां पद्भिरेवान्वयुस्तदा ॥ २ ॥

उस समय पुरवासी लोग, राज्यके निवासी और कुलके श्रेष्ठ पुरुषोंकी स्त्रियां पैदल ही चलने लगीं ॥ २ ॥

आश्रमं ते ततो जग्मुर्धृतराष्ट्रस्य पाण्डवाः ।
शून्यं मृगगणाकीर्णं कदलीवनशोभितम् ॥ ३ ॥

अनन्तर पाण्डवोंने मृगसमूहसे परिपूरित कदलीवनसे शोभित पुण्यजनक धृतराष्ट्रके निर्जन आश्रममें प्रवेश किया ॥ ३ ॥

ततस्तत्र समाजग्मुस्तापसा विविधव्रताः ।
पाण्डवानागतान्द्रष्टुं कौतूहलसमन्विताः ॥ ४ ॥

तिसके अनन्तर विविध प्रकारके व्रती तपस्वीवृन्द समागत पाण्डवोंको देखनेके लिये कौतूहलयुक्त होकर वहां आये ॥ ४ ॥

तानपृच्छत्ततो राजा क्वासौ कौरववंशभृत् ।
पिता ज्येष्ठो गतोऽस्माकमिति बाष्पपरिप्लुतः ॥ ५ ॥

तब राजा युधिष्ठिरने आंसू डबडबाये हुए नेत्रयुक्त होकर उन लोगोंसे यह बात पूंछी, कि 'हमारे जेठे पिता वह कुरुवंशपति कहां हैं ?' ॥ ५ ॥

तमूचुस्त ततो वाक्यं यमुनामवगाहितुम् ।
पुष्पाणामुदकुम्भस्य चार्थे गत इति प्रभो ॥ ६ ॥

उन लोगोंने इतनी बात सुनके राजासे कहा, 'हे प्रभु ! वे फूल और जल लाने तथा यमुनामें स्नान करनेके निमित्त इस ही मार्गसे गये हैं ॥ ६ ॥

तैराख्यातेन मार्गेण ततस्ते प्रययुस्तदा ।
ददृशुश्चाविदूरे तान्सर्वानथ पदातयः ॥ ७ ॥

यह सुनकर पाण्डवोंने शीघ्र ही उन लोगोंके कहे हुए मार्गसे पैदल ही गमन किया, उन्होंने उन सबको दूरसे आते देखा ॥ ७ ॥

ततस्ते सत्वरा जग्मुः पितुर्दर्शनकाङ्क्षिणः ।
सहदेवस्तु वेगेन प्राधावद्येन सा पृथा ॥ ८ ॥

अनन्तर वे लोग पिताको देखनेके लिये अत्यन्त उत्सुक होके शीघ्र ही आगे बढे; सहदेव तो वेगपूर्वक पृथाके समीप जानेके लिये दौडे ॥ ८ ॥

सस्वनं प्ररुदन्धीमान्मातुः पादावुपस्पृशन् ।
सा च बाष्पाविलमुखी प्रददर्श प्रियं सुतम् ॥ ९ ॥

धीमान् सहदेव माताके दोनों चरण छूके फूट फूटकर रोने लगे; कुन्ती नेत्रोंमें आंसू भरके प्रिय पुत्रको देखने लगी ॥ ९ ॥

बाहुभ्यां संपरिष्वज्य समुन्नाम्य च पुत्रकम् ।
गान्धार्याः कथयामास सहदेवमुपस्थितम् ॥ १० ॥

अनन्तर दोनों भुजाओंसे पुत्रको उठाकर आलिङ्गन करके उसने गान्धारीसे सहदेवके आनेका संवाद कहा ॥ १० ॥

अनन्तरं च राजानं भीमसेनमथार्जुनम् ।
नकुलं च पृथा दृष्ट्वा त्वरमाणोपचक्रमे ॥ ११ ॥

अनन्तर राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन और नकुलको देखकर शीघ्रताके सहित कुन्तीने उनके निकट गमन किया ॥ ११ ॥

सा ह्यग्रेऽगच्छत तयोर्दंपत्योर्हतपुत्रयोः ।
कर्षन्ती तौ ततस्ते तां दृष्ट्वा संन्यपतन्भुवि ॥ १२ ॥

पाण्डवोंने उस पृथाको हतपुत्र दंपती धृतराष्ट्र तथा गान्धारीका हाथ धरके उनके आगे आगे आती हुई देखकर उन लोगोंके समीप जाकर भूमिपर झुकके प्रणाम किया ॥ १२ ॥

तान्राजा स्वरयोगेन स्पर्शेन च महामनाः ।
प्रत्यभिज्ञाय मेधावी समाश्वासयत प्रभुः ॥ १३ ॥

महामना मेधावी राजा धृतराष्ट्रने बोलनेके स्वर और स्पर्शसे पाण्डवोंको पहचानके उन्हें आश्वासित किया ॥ १३ ॥

ततस्ते बाष्पमुत्सृज्य गान्धारीसहितं नृपम् ।
उपतस्थुर्महात्मानो मातरं च यथाविधि ॥ १४ ॥

तिसके अनन्तर महात्मा पाण्डवोंने अपने नेत्रोंके आंसू पोंछते हुए गान्धारीके सहित राजा धृतराष्ट्र और कुन्ती माताकी विधिपूर्वक पूजा की ॥ १४ ॥

सर्वेषां तोयकलशाञ्जगृहस्ते स्वयं तदा ।
पाण्डवा लब्धसंज्ञास्ते मात्रा चाश्वासिताः पुनः ॥ १५ ॥

फिर पाण्डव लोग निज माता कुन्तीके द्वारा आश्वासित हुए; और सावधान—सचेत होकर उन्होंने उन सबके जलके भरे हुए कलश स्वयं लिये ॥ १५ ॥

ततो नार्यो नृसिंहानां स च योधजनस्तदा ।
पौरजानपदाश्चैव ददृशुस्तं नराधिपम् ॥ १६ ॥

उस समय पुरुषश्रेष्ठ पाण्डवोंकी स्त्रियां अन्तःपुरवासी अन्य स्त्रियां, पुरवासी योद्धा और जनपदवासी सब लोग जननाथ धृतराष्ट्रका दर्शन करने लगे ॥ १६ ॥

निवेदयामास तदा जनं तं नामगोत्रतः ।
युधिष्ठिरो नरपतिः स चैनान्प्रत्यपूजयत् ॥ १७ ॥

अनन्तर स्वयं नरनाथ युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रको सबका नाम और गोत्र सुनाकर परिचय दिया और धृतराष्ट्रने उन सबकी पूजा की ॥ १७ ॥

स तैः परिवृतो मेने हर्षबाष्पाविलेक्षणः ।
राजात्मानं गृहगतं पुरेव गजसाह्वये ॥ १८ ॥

उस समय हर्ष-बाष्पाकुललोचन राजा धृतराष्ट्रने पाण्डव प्रभृति सब लोगोंके बीच घिरके अपनेको मानो पहलेकी भांति हस्तिनापुरमें स्थित समझा ॥ १८ ॥

अभिवादितो वधूभिश्च कृष्णाद्याभिः स पार्थिवः ।
गान्धार्या सहितो धीमान्कुन्त्या च प्रत्यनन्दत ॥ १९ ॥

अनन्तर श्रीमान् पृथ्वीपति धृतराष्ट्र गान्धारी और कुन्तीके सहित द्रौपदी प्रभृति बधूगणोंके द्वारा अभिवादित हुए और उन्होंने उन सबको आशीर्वाद देकर आनन्दित किया ॥ १९ ॥

ततश्चाश्रममागच्छत्सिद्धचारणसेवितम् ।
दिदृक्षुभिः समाकीर्णं नभस्तारागणैरिव ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥ ६३१ ॥

उस समय वह आश्रम तारासमूहसे भरे हुए नभमण्डलकी भांति दर्शनेच्छु लोगोंसे परिपूरित हुआ था । तत्पश्चात् वे सबके साथ सिद्ध तथा चारणोंसे सेवित आश्रममें आये ॥ २० ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें एकतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३१ ॥ ६३१ ॥

: ३२ :

वैशम्पायन उवाच—

स तैः सह नरव्याघ्रैर्भ्रातृभिर्भरतर्षभ ।
राजा रुचिरपद्माक्षैरासांचक्रे तदाश्रमे ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले- राजा धृतराष्ट्रने सुरम्य कमलनेत्र पुरुषश्रेष्ठ उन पांचों भाइयोंके सहित आश्रममें निवास किया ॥ १ ॥

तापसैश्च महाभागैर्नानादेशसमागतैः ।
द्रष्टुं कुरुपतेः पुत्रान्पाण्डवान्पृथुवक्षसः ॥ २ ॥

अनेक देशोंसे आये हुए महाभाग तपस्वीगण कुरुपतिके विपुल वक्षःस्थलसम्पन्न पुत्र उन पाण्डवोंके देखनेकी अभिलाषासे वहां उपस्थित थे ॥ २ ॥

तेऽब्रुवञ्ज्ञातुमिच्छामः कतमोऽत्र युधिष्ठिरः ।
भीमार्जुनयमाश्चैव द्रौपदी च यशस्विनी ॥ ३ ॥

वे बोले कि 'इन लोगोंके बीच कौन युधिष्ठिर, कौन भीम, कौनसे अर्जुन और कौनसे नकुल सहदेव हैं और कौनसी यशस्विनी द्रौपदी है ? हम लोग उन्हें जाननेकी इच्छा करते हैं ॥३॥

तानाचख्यौ तदा सूतः सर्वान्नामाभिनामतः ।
संजयो द्रौपदीं चैव सर्वाश्चान्याः कुरुस्त्रियः ॥ ४ ॥

उस समय सूत सञ्जय तपस्वियोंकी ऐसी बात सुनके पांचों पाण्डव, द्रौपदी तथा अन्यान्य कुरुस्त्रियोंका नाम पृथक् पृथक् कहके परिचय देने लगे ॥ ४ ॥

य एष जाम्बूनदशुद्धगौरतनुर्महासिंह इव प्रवृद्धः ।
प्रचण्डघोणः पृथुदीर्घनेत्रस्ताम्रायताक्षः कुरुराज एषः ॥ ५ ॥

ये जो विशुद्ध सुवर्णकी भांति गौरशरीरयुक्त, महासिंहकी भांति समुन्नत हैं और जिसकी नासिका ऊंची, नेत्र स्थूल वा दीर्घ अथवा लोचन ताम्र वर्ण तथा अत्यन्त विस्तृत दीखते हैं, येही युधिष्ठिर हैं ॥ ५ ॥

अयं पुनर्मत्तगजेन्द्रगामी प्रतप्तचामीकरशुद्धगौरः ।
पृथ्वायतांसः पृथुदीर्घबाहुर्वृकोदरः पश्यत पश्यतैनम् ॥ ६ ॥

जिसका चलना मतवारे गजेन्द्रकी भांति, वर्ण प्रतप्त सुवर्णके सदृश, कन्धे स्थूल और विस्तृत हैं, तथा भुजाएं मोटी और लम्बी हैं, वेही भीमसेन हैं; आप लोग देखिये, देखिये ॥ ६ ॥

यस्त्वेष पार्श्वेऽस्य महाधनुष्माञ्श्यामो युवा वारणयूथपाभः ।
सिंहोन्नतांसो गजखेलगामी पद्मायताक्षोऽर्जुन एष वीरः ॥ ७ ॥

इनके बगलमें महाधनुर्धारी हाथियोंके यूथपतिकी भांति श्याम वर्णके युवा, सिंहकी भांति ऊंचे स्कन्धवाले हाथीके समान मस्तानी चालसे चलनेवाले और कमलके समान विशाल नेत्रवाले वीरवर पुरुषही अर्जुन हैं ॥ ७ ॥

कुन्तीसमीपे पुरुषोत्तमा तु यमाविमौ विष्णुमहेन्द्रकल्पौ ।
मनुष्यलोके सकले समोऽस्ति ययोर्न रूपे न बले न शीले ॥ ८ ॥

ये जो पुरुषश्रेष्ठ विष्णु और महेन्द्रसदृश, मनुष्यलोकातीत रूप, बल और शीलसम्पन्न दो पुरुष कुन्तीके समीप निवास करते हैं, वेही यमज नकुल सहदेव हैं ॥ ८ ॥

इयं पुनः पद्मदलायताक्षी मध्यं वयः किंचिदिव स्पृशन्ती ।
नीलोत्पलाभा पुरदेवतेव कृष्णा स्थिता मूर्तिमतीव लक्ष्मीः ॥ ९ ॥

यह जो पद्मदलकी भांति विशालनयनी मध्यम अवस्थावाली नीलोत्पलसदृश शामकान्तिसे युक्त सुन्दरी मूर्तिमती लक्ष्मी तथा पुरदेवताकी भांति निवास करती हैं, वही कृष्णा द्रौपदी हैं ॥ ९ ॥

अस्यास्तु पार्श्वे कनकोत्तमाभा यैषा प्रभा मूर्तिमतीव गौरी ।
मध्ये स्थितैषा भगिनी द्विजाग्र्या चक्रायुधस्याप्रतिमस्य तस्य ॥ १० ॥

हे द्विजवरगण ! उसके बगलमें यह जो मूर्तिमती गौरी प्रभासमान सुवर्णसे भी उत्तम वर्ण-वाली स्त्री सब स्त्रियोंके बीच विद्यमान है, वही उस अप्रितम चक्रधारी भगवान श्री कृष्णकी बहिन सुभद्रा हैं ॥ १० ॥

इयं स्वसा राजचमूपतेस्तु प्रवृद्धनीलोत्पलदामवर्णा ।
पस्पर्ध कृष्णेन नृपः सदा यो वृकोदरस्यैष परिग्रहोऽग्र्यः ॥ ११ ॥

जो नरनाथ श्रीकृष्णके सङ्ग सर्वदा स्पर्धा करते थे, उस राजचमूपतिकी बहिन यह इन्दीवरके समान शाम वर्णवाली स्त्री ही भीमसेनकी श्रेष्ठ भार्या है ॥ ११ ॥

इयं च राज्ञो मगधाधिपस्य सुता जरासन्ध इति श्रुतस्य ।
यवीयसो माद्रवतीसुतस्य भार्या मता चम्पकदामगौरी ॥ १२ ॥

यह प्रसिद्ध मगधराज जरासन्धकी पुत्री चम्पाकी मालाकी भांति गौराङ्गी स्त्री ही माद्रीके कनिष्ठ पुत्र सहदेवकी भार्या है ॥ १२ ॥

इन्दीवरश्यामतनुः स्थिता तु यैषापरासन्नमहीतले च ।
भार्या मता माद्रवतीसुतस्य ज्येष्ठस्य सेयं कमलायताक्षी ॥ १३ ॥

यह जो इन्दीवरकी भांति श्यामाङ्गी और कमलदलके समान विशालनयनी स्त्री इसके पास है, उसे ही माद्रीके ज्येष्ठ पुत्र नकुलकी भार्या जानो ॥ १३ ॥

इयं तु निष्टप्तसुवर्णगौरी राज्ञो विराटस्य सुता सपुत्रा ।
भार्याभिमन्योर्निहतो रणे यो द्रोणादिभिस्तैर्विरथो रथस्थैः ॥ १४ ॥

तपाये हुए सुवर्णकी भांति गौरवर्ण, पुत्रके सहित यह विराटराजपुत्री युद्धमें विरथ हुए रथस्थ द्रोणादिके द्वारा मारे हुए अभिमन्युकी पत्नी उत्तरा है ॥ १४ ॥

एतास्तु सीमन्तशिरोरुहा या शुक्लोत्तरीया नरराजपत्न्यः ।
राज्ञोऽस्य वृद्धस्य परंशताख्याः स्नुषा विवीरा हतपुत्रनाथाः ॥ १५ ॥

इनके अतिरिक्त ये जो सफेद वस्त्र पहरे हुए, जिनकी मांगोंमें सिंदूर नहीं है, सौ राजरानियां दीखती हैं, वे सब इस वृद्ध राजा धृतराष्ट्रकी पुत्रवधूएं हैं । इनके पति और पुत्र युद्धमें वीरों द्वारा मारे गये हैं ॥ १५ ॥

एता यथामुख्यमुदाहृता वो ब्राह्मण्यभावादृजुबुद्धिसत्त्वाः ।
सर्वा भवद्भिः परिपृच्छ्यमाना नरेन्द्रपत्न्यः सुविशुद्धसत्त्वाः ॥ १६ ॥

हे तपस्वीगण ! आप लोग ब्रह्मनिष्ठासे सरलचित्त तथा सत्त्वगुणसम्पन्न हैं; आप लोगोंने सबका परिचय पूछा था, इसलिये मैंने इनमेंसे मुख्य व्यक्तियोंका परिचय यथार्थ रीतिसे आपके समीप कहा है । ये सभी राजरानियां विशुद्ध सत्त्वगुणसम्पन्न हैं ॥ १६ ॥

एवं स राजा कुरुवृद्धवर्यः समागतस्तैर्नरदेवपुत्रैः ।
प्रपच्छ सर्वान्कुशलं तदानीं गतेषु सर्वेष्वथ तापसेषु ॥ १७ ॥

उस समय तपस्वियोंके गमन करनेपर कुरुकुलके वृद्ध और श्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रने उन नरदेवपुत्र पाण्डवोंके सहित समागत होकर कुशलादि पूछा ॥ १७ ॥

योधेषु चाप्याश्रममण्डलं तं मुक्त्वा निविष्टेषु विमुच्य पत्रम् ।
स्त्रीवृद्धबाले च सुसंनिविष्टे यथार्हतः कुशलं पर्यपृच्छत् ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥ ६४९ ॥

अनन्तर योद्धाओंके आश्रममण्डलकी सीमाको छोडकर, दूरपर वाहनोंको खोलकर निज निज स्थानपर जाने और स्त्री, वृद्ध तथा बालकोंके अपने अपने स्थानमें विश्रामके लिये प्रविष्ट होनेपर, वे पाण्डवोंसे यथोचित कुशलादि पूछने लगे ॥ १८ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें बत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३२ ॥ ६४९ ॥

: ३३ :

धृतराष्ट्र उवाच—

युधिष्ठिर महाबाहो कच्चित्तात कुशल्यसि ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैः पौरजानपदैस्तथा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले— हे महाबाहो युधिष्ठिर ! तात ! तुम सब भ्राता, पुरवासी और जनपदवासियोंके सहित कुशलसे तो हो ? ॥ १ ॥

ये च त्वामुपजीवन्ति कच्चित्तेऽपि निरामयाः ।
सचिवा भृत्यवर्गाश्च गुरवश्चैव ते विभो ॥ २ ॥

हे विभो ! तुम्हारे जो सब गुरु, सचिव और सेवकवृन्द तुम्हें अवलम्ब करके जीविका निर्वाह किया करते हैं, वे लोग निरामय तथा सुखी तो हैं न ? ॥ २ ॥

कच्चिद्वर्तसि पौराणीं वृत्तिं राजर्षिसेविताम् ।
कच्चिद्दायाननुच्छिद्य कोशस्तेऽभिप्रपूर्यते ॥ ३ ॥

तुम राजर्षियोंसे सेवित पुरातनी वृत्तिमें वर्तमान तो हो ? तुम न्यायपथको अतिक्रम न करके कोशपूरण करते हो न ? ॥ ३ ॥

अरिमध्यस्थमित्रेषु वर्तसे चानुरूपतः ।
ब्राह्मणानग्रहारैर्वा यथावदनुपश्यसि　　　॥ ४ ॥

और शत्रु मित्र तथा उदासीन लोगोंके निकट समभावसे बर्ताव करते हो न ? तुम ब्राह्मणोंको उत्कृष्ट अग्रहार प्रदान करके यथासमयमें उनके तत्त्वोंका निश्चय करते हो न ? ॥ ४ ॥

कच्चित्ते परितुष्यन्ति शीलेन भरतर्षभ ।
शत्रवो गुरवः पौरा भृत्या वा स्वजनोऽपि वा　　　॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे सब लोग तथा शत्रु, गुरुजन, पुरवासियों, सेवक और स्वजनवृन्द तुम्हारे शील-स्वभावसे सन्तुष्ट तो हैं ? ॥ ५ ॥

कच्चिद्यजसि राजेन्द्र श्रद्धावान्पितृदेवताः ।
अतिथींश्चान्नपानेन कच्चिदर्चसि भारत　　　॥ ६ ॥

हे राजेन्द्र ! तुम श्रद्धायुक्त होकर पितरों और देवताओंका यजन करते हो ? अन्न और जलसे अतिथियोंकी पूजा करते हो न ? ॥ ६ ॥

कच्चिच्च विषये विप्राः स्वकर्मनिरतास्तव ।
क्षत्रिया वैश्यवर्गा वा शूद्रा वापि कुटुम्बिनः　　　॥ ७ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र लोग तथा कुटुम्बीजन तुम्हारे राज्यमें अपने अपने कर्ममें रत रहते हैं ? ॥ ७ ॥

कच्चित्स्त्रीबालवृद्धं ते न शोचति न याचते ।
जामयः पूजिताः कच्चित्तव गेहे नरर्षभ　　　॥ ८ ॥

नरश्रेष्ठ ! स्त्री, बालक और वृद्धगण तुम्हारे निकट शोक प्रकाश तथा याचना प्रार्थना तो नहीं करते ? तुम्हारे गृहमें स्त्रियां पूजित तो होती हैं ? ॥ ८ ॥

कच्चिद्राजर्षिवंशोऽयं त्वामासाद्य महीपतिम् ।
यथोचितं महाराज यशसा नावसीदति　　　॥ ९ ॥

महाराज ! तुम्हारे पृथ्वीपति होनेसे यह राजर्षियोंका वंश यथोचित प्रतिष्ठाका लाभ करता है न ? यह तुम्हारे द्वारा यशहीन वा अवसन्न तो नहीं हुआ ? ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्येवंवादिनं तं स न्यायवित्प्रत्यभाषत ।
कुशलप्रश्नसंयुक्तं कुशलो वाक्यकर्मणि　　　॥ १० ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— जब धृतराष्ट्रने ऐसा कहा, तब न्यायवित् वाक्य बोलनेमें कुशल युधिष्ठिर उनसे कुशल प्रश्नयुक्त वचन कहने लगे ॥ १० ॥

×

कच्चित्ते वर्धते राजंस्तपो मन्दश्रमस्य ते।
अपि मे जननी चेयं शुश्रूषुर्विगतक्लमा।
अप्यस्याः सफलो राजन्वनवासो भविष्यति ॥ ११ ॥

हे राजन्! श्रमके कारण दुर्बल हुए आपसे तपस्या वर्धित होती है न? मेरी यह माता कुन्ती आपकी सेवा करती हुई कष्टका अनुभव तो नहीं करती? हे नरनाथ! यदि ये आपकी सेवामें रत रहें, तो क्या इनका बनवास सफल होगा? ॥ ११ ॥

इयं च माता ज्येष्ठा मे वीतवाताध्वकर्शिता।
घोरेण तपसा युक्ता देवी कच्चिन्न शोचति ॥ १२ ॥

शीतल वायु सेवन और मार्गके श्रमसे कातर, घोर तपमें निष्ठा करनेवाली ये मेरी बडी माता गान्धारी देवी शोक तो नहीं करती? ॥ १२ ॥

हतान्पुत्रान्महावीर्यान्क्षत्रधर्मपरायणान्।
नापध्यायति वा कच्चिदस्मान्पापकृतः सदा ॥ १३ ॥

ये देवी युद्धमें मारे गये अपने क्षत्रियधर्मपरायण महावीर पुत्रोंकी याद करके शोक तो नहीं करती? हम लोगोंको पापकर्म करनेवाला समझकर सदा हमारी बुराई तो नहीं विचारती ॥ १३ ॥

क चासौ विदुरो राजन्नैनं पश्यामहे वयम्।
संजयः कुशली चायं कच्चिन्नु तपसि स्थितः ॥ १४ ॥

हे राजन्! विदुर कहां हैं? उन्हें हमलोग यहां क्यों नहीं देख सकते हैं? सञ्जय तपस्यामें रत रहके कुशलसे तो हैं? ॥ १४ ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं धृतराष्ट्रो जनाधिपम्।
कुशली विदुरः पुत्र तपो घोरं समास्थितः ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रने जननाथ युधिष्ठिरका ऐसा प्रश्न सुनके उनसे कहा, हे पुत्र! विदुर घोर तपस्या अवलम्बन करके कुशलसे हैं ॥ १५ ॥

वायुभक्षो निराहारः कृशो धमनिसंततः।
कदाचिद्दृश्यते विप्रैः शून्येऽस्मिन्कानने क्वचित् ॥ १६ ॥

परन्तु वह अन्यान्य खानेकी वस्तुओंका परित्याग करके केवल वायु पान करके इस प्रकार कृशित हुए हैं, कि उनका समस्त शरीर शिराओंसे परिपूरित हुआ है और उस ही अवस्थामें किसी समय इस सूने जङ्गलमें ब्राह्मणोंके द्वारा वह लक्षित हुआ करते हैं ॥ १६ ॥

इत्येवं वदतस्तस्य जटी वीटामुखः कृशः।
दिग्वासा मलदिग्धाङ्गो वनरेणुसमुक्षितः ॥ १७ ॥

जब राजा धृतराष्ट्र ऐसा कह रहे थे, उस ही समय वह जटाधारी मुखमें पत्थरका टुकडा लिये अत्यन्त दुबले, दिगम्बर, मलिनदेह और बनधूलिधूसरित ॥ १७ ॥

दूरादालक्षितः क्षत्ता तत्राख्यातो महीपतेः ।
निवर्तमानः सहसा जनं दृष्ट्वाश्रमं प्रति ॥ १८ ॥

क्षत्ता विदुर दूरसे आते दिखायी दिये । राजा युधिष्ठिरको उनके आनेकी सूचना दी गयी । राजन् ! विदुर उस आश्रमकी और लोगोंकी ओर देखकर सहसा लौट पडें ॥ १८ ॥

तमन्वधावन्नृपतिरेक एव युधिष्ठिरः ।
प्रविशन्तं वनं घोरं लक्ष्यालक्ष्यं क्वचित्क्वचित् ॥ १९ ॥

यह देख अकेले ही नरनाथ युधिष्ठिर उस विदुरके पीछे दौडे । वे कभी दिखायी देते और कभी अदृश्य हो जाते थे । उनको घोर वनमें प्रवेश करते देख ॥ १९ ॥

भो भो विदुर राजाहं दयितस्ते युधिष्ठिरः ।
इति ब्रुवन्नरपतिस्तं यत्नादभ्यधावत ॥ २० ॥

'ओ विदुर !! मैं तुम्हारा परमप्रिय राजा युधिष्ठिर हूं ' ऐसा बचन कहते कहते अत्यन्त यत्नके सहित उनके पीछे पीछे दौडे ॥ २० ॥

ततो विविक्त एकान्ते तस्थौ बुद्धिमतां वरः ।
विदुरो वृक्षमाश्रित्य कंचित्तत्र वनान्तरे ॥ २१ ॥

तिसके अनन्तर प्राज्ञवर विदुर उस एकान्त तथा निर्जन वनके बीच किसी एक वृक्षका सहारा लेकर खडे हो गये ॥ २१ ॥

तं राजा क्षीणभूयिष्ठमाकृतीमात्रसूचितम् ।
अभिजज्ञे महाबुद्धिं महाबुद्धिर्युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥

महाबुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने शरीराकृतिमात्र अवशिष्ट अत्यन्त कृश महाबुद्धिमान् विदुरको पहचाना ॥ २२ ॥

युधिष्ठिरोऽहमस्मीति वाक्यमुक्त्वाग्रतः स्थितः ।
विदुरस्याश्रवे राजा स च प्रत्याह संज्ञया ॥ २३ ॥

फिर उनके सामने जाकर आगे खडे होकर उनके श्रुतिगोचर होनेके लिये " मैं युधिष्ठिर हूं " – ऐसा कहके पास जाकर उनकी पूजा की । विदुरने भी उन्हें जान लिया ॥ २३ ॥

ततः सोऽनिमिषो भूत्वा राजानं तमुदैक्षत ।
संयोज्य विदुरस्तस्मिन्दृष्टिं दृष्ट्या समाहितः ॥ २४ ॥

तिसके अनन्तर विदुर एकाग्र होकर अनिमिष नेत्रसे युधिष्ठिरकी ओर देखकर इकटक दृष्टिसे उन्हें देखने लगे ॥ २४ ॥

विवेश विदुरो धीमान्गात्रैर्गात्राणि चैव ह ।
प्राणान्प्राणेषु च दधदिन्द्रियाणीन्द्रियेषु च ॥ २५ ॥

अनन्तर वह धीमान् विदुर अपने शरीरको राजाके शरीरमें निज शरीर, प्राणोंमें प्राण और इन्द्रियसमूहमें इन्द्रियोंको प्रविष्ट करके उनके भीतर समा गये ॥ २५ ॥

स योगबलमास्थाय विवेश नृपतेस्तनुम् ।
विदुरो धर्मराजस्य तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ २६ ॥

प्रदीप्त अग्निकी भांति प्रकाशित होकर, विदुरने योगबलका अवलम्बन करके धर्मराज युधिष्ठिरके शरीरमें प्रवेश किया ॥ २६ ॥

विदुरस्य शरीरं तत्तथैव स्तब्धलोचनम् ।
वृक्षाश्रितं तदा राजा ददर्श गतचेतनम् ॥ २७ ॥

परन्तु राजाने उस समय विदुरके उस वृक्षाश्रित स्तब्धलोचनयुक्त चेतरहित शरीरको देखा ॥ २७ ॥

बलवन्तं तथात्मानं मेने बहुगुण तदा ।
धर्मराजो महातेजास्तच्च सस्मार पाण्डवः ॥ २८ ॥

और उन्होंने अपनेको अत्यन्त बलवान् तथा गुणवान् समझा। महातेजस्वी धर्मराज पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने अपने स्वजनका स्मरण किया ॥ २८ ॥

पौराणमात्मनः सर्वं विद्यावान्स विशां पते ।
योगधर्मं महातेजा व्यासेन कथितं यथा ॥ २९ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! उन महातेजस्वी, विद्वान् राजाने व्यासदेवके कहे हुए अपने पुराने योगधर्मको भी स्मरण किया ॥ २९ ॥

धर्मराजस्तु तत्रैनं संचस्कारयिषुस्तदा ।
दग्धुकामोऽभवद्विद्वानथ वै वागभाषत ॥ ३० ॥

अनन्तर उस समय विद्वान् धर्मराजने संस्काराभिलाषी होकर विदुरके शरीरको जलानेकी इच्छा की, तब इस प्रकार देववाणी हुई ॥ ३० ॥

भो भो राजन्न दग्धव्यमेतद्विदुरसंज्ञकम् ।
कलेवरमिहैतत्ते धर्म एष सनातनः ॥ ३१ ॥

'हे राजन् ! इस विदुर नामक शरीरको यहां जलाना तुम्हें योग्य नहीं है; इस शरीरके इस स्थानमें रहना ही तुम्हारे लिये सनातन धर्म है ॥ ३१ ॥

न्तयस्य पार्थिव ।
: परन्तप ॥ ३२ ॥
ते इन्हें सन्तानक नामक लोककी प्राप्ति होगी,
॥

तत: पुन: ।
यवेदयत् ॥ ३३ ॥
वीर्यपुत्र राजा धृतराष्ट्रके निकट यह समस्त

र्वो जनस्तदा ।
गता: ॥ ३४ ॥
ीमसेन प्रभृति सब लोग उस वचनको सुनके

धर्मजमब्रवीत् ।
गृह्यताम् ॥ ३५ ॥
नके प्रसन्न होकर धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे बोले–
३५ ॥

तिथि: स्मृत: ।
मजो नृपम् ।
सहानुज: ॥ ३६ ॥
सा अन्न भोग करता है, उसके अतिथियोंको
ऐसा वचन सुनके धर्मराज बोले– 'आपने
योंके सहित धृतराष्ट्रके दिये हुए फलमूलका

हा: ।
जलाशना: ॥ ३७ ॥
यस्त्रिंशोऽध्याय: ॥ ३३ ॥ ६८६ ॥
हार करके वृक्षोंके नीचे ही वास करते हुए

नवां अध्याय समाप्त ॥ ३३ ॥ ६८६ ॥

लोका: सन्तानका नाम भविष्य
यतिधर्ममवाप्तोऽसौ नैव शोच्य
हे परन्तप राजन् ! इनके यतिधर्मको प्राप्त होने
इसलिये इनके निमित्त शोक मत करो ' ॥ ३

इत्युक्तो धर्मराज: स विनिवृत्य
राज्ञो वैचित्रवीर्यस्य तत्सर्वं प्रत
धर्मराजने ऐसा सुनके वहांसे लौटकर विचित्र
वृत्तान्त वर्णन किया ॥ ३३ ॥

तत: स राजा द्युतिमान्स च स
भीमसेनादयश्चैव परं विस्मयम
तिसके अनन्तर द्युतिमान् राजा धृतराष्ट्र और भ
विस्मययुक्त हुए ॥ ३४ ॥

तच्छ्रुत्वा प्रीतिमान्राजा भूत्व
आपो मूलं फलं चैव ममेदं प्रति
राजा धृतराष्ट्र विदुरके उस वृत्तान्तको सु
' मेरा यह फल, मूल और जल ग्रहण करो ॥

यदन्नो हि नरो राजंस्तदन्नोऽस्य
इत्युक्त: स तथेत्येव प्राह धर्मा
फलं मूलं च बुभुजे राज्ञा दत्तं
हे राजन् ! ऐसा शास्त्रमें कहा है कि मनुष्य जै
भी वही अन्न भोगना होता है। ' धृतराष्ट्रका
जो कहा, वही होवे ' । इतनी बात कहके भाई
भोजन तथा जलपान किया ॥ ३६ ॥

ततस्ते वृक्षमूलेषु कृतवासपरिग्र
तां रात्रिं न्यवसन्सर्वे जलमूल
इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि त्र
अनन्तर उन लोगोंने फल–मूल और जलका आ
वह रात्रि व्यतीत की ॥ ३७ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें तैंती

: २४ :

वैशम्पायन उवाच—

एवं सा रजनी तेषामाश्रमे पुण्यकर्मणाम् ।
शिवा नक्षत्रसंपन्ना सा व्यतीयाय भारत ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— हे भारत ! अनन्तर पुण्यकर्मा पाण्डवोंने उस आश्रममें मङ्गल-सूचक नक्षत्रोंसे युक्त रात्रि व्यतीत की ॥ १ ॥

तत्र तत्र कथाश्चासंस्तेषां धर्मार्थलक्षणाः ।
विचित्रपदसंचारा नानाश्रुतिभिरन्विताः ॥ २ ॥

उस समय उनमें धर्म और अर्थयुक्त विचित्र पद तथा अनेक श्रुतियुक्त विविध कथाओंपर चर्चा होती रही ॥ २ ॥

पाण्डवास्त्वभितो मातुर्धरण्यां सुषुपुस्तदा ।
उत्सृज्य सुमहार्हाणि शयनानि नराधिप ॥ ३ ॥

हे नरनाथ ! उस समय पाण्डवोंने अत्यन्त महामूल्यवान् शय्याओंका परित्याग करके माता कुन्तीके चारों ओर पृथ्वीपर शयन किया ॥ ३ ॥

यदाहारोऽभवद्राजा धृतराष्ट्रो महामनाः ।
तदाहारा नृवीरास्ते न्यवसंस्तां निशां तदा ॥ ४ ॥

उस रात्रिमें महामना राजा धृतराष्ट्रने जो आहार किया था, नरवीर पाण्डवोंने भी उस रात्रिमें वही भोजन किया था ॥ ४ ॥

व्यतीतायां तु शर्वर्यां कृतपूर्वाह्णिकक्रियः ।
भ्रातृभिः सह कौन्तेयो ददर्शाश्रममण्डलम् ॥ ५ ॥

रात बीतनेपर भोरको पूर्वाण्हिक नैत्यिक क्रिया पूरी करके राजा युधिष्ठिरने भाईयोंके सहित आश्रमके स्थानका दर्शन किया ॥ ५ ॥

सान्तःपुरपरीवारः सभृत्यः सपुरोहितः ।
यथासुखं यथोद्देशं धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञया ॥ ६ ॥

अनन्तर धर्मराजने धृतराष्ट्रकी आज्ञा ले अन्तःपुरके परिवार, सेवकों तथा पुरोहितोंके सहित सुखपूर्वक वहांके सब स्थान ॥ ६ ॥

ददर्श तत्र वेदीश्च संप्रज्वलितपावकाः ।
कृताभिषेकैर्मुनिभिर्हुताग्निभिरुपस्थिताः ॥ ७ ॥

और प्रज्वलित अग्निसम्पन्न यज्ञकी वेदियां देखी तथा मुनि लोग उन वेदियोंके पास बैठकर अग्निमें आहुति दे रहे हैं, यह भी देखा ॥ ७ ॥

वानेयपुष्पनिकरैराज्यधूमोद्गमैरपि ।
ब्राह्मेण वपुषा युक्ता युक्ता मुनिगणैश्च ताः ॥ ८ ॥

वे सब वेदियाँ वनके पुष्पों तथा घृतकी आहुतिके धूमोंसे परिव्याप्त तथा मुनियोंके ब्राह्म शरीरकी शोभासे शोभित होरही थीं; मुनि लोग सदा उनसे युक्त हो गये थे ॥ ८ ॥

मृगयूथैरनुद्विग्नैस्तत्र तत्र समाश्रितैः ।
अशङ्कितैः पक्षिगणैः प्रगीतैरिव च प्रभो ॥ ९ ॥

हे प्रभु ! उन स्थानोंमें मृगोंके समूहोंके निर्भय तथा शान्तचित्तसे निवास करने और विविध पक्षियोंके निःशंक होकर मनोहर बोली बोलनेसे मानो सङ्गीत होता हुआ बोध होने लगा ॥९॥

केकाभिर्नीलकण्ठानां दात्यूहानां च कूजितैः ।
कोकिलानां च कुहरैः शुभैः श्रुतिमनोहरैः ॥ १० ॥

कोई कोई स्थान नीलकण्ठवाले मयूरोंकी केकाध्वनि, दात्यूहोंका कूजना और कोकिलोंकी कल्याण कर तथा श्रुतिमनोहर कूकना हो रही थी ॥ १० ॥

प्राधीतद्विजघोषैश्च क्वचित्क्वचिदलंकृतम् ।
फलमूलसमुद्राहैर्महद्भिश्चोपशोभितम् ॥ ११ ॥

कहीं कहीं वेदपाठी ब्राह्मणोंकी गम्भीर वेदध्वनि हो रही थी और अत्यन्त उत्कृष्ट फलमूलोंका आहार करनेवाले महान् पुरुषोंसे वह आश्रम सुशोभित हो रहा था ॥ ११ ॥

ततः स राजा प्रददौ तापसार्थमुपाहृतान् ।
कलशान्काञ्चनान्राजंस्तथैवौदुम्बरानपि ॥ १२ ॥

हे राजन् ! तिसके अनन्तर पृथ्वीपति राजा युधिष्ठिरने तपस्वियोंके निमित्त लाये हुए सुवर्णके कलश, उदुम्बर, ॥ १२ ॥

अजिनानि प्रवेणीश्च स्रुक्स्रुवं च महीपतिः ।
कमण्डलूंस्तथा स्थालीः पिठराणि च भारत ॥ १३ ॥

मृगाजिन, कम्बल, स्रुक्, स्रुवा, कमण्डलु, स्थाली, पिठपात्र ॥ १३ ॥

भाजनानि च लौहानि पात्रीश्च विविधा नृप ।
यद्यदिच्छति यावच्च यदन्यदपि काङ्क्षितम् ॥ १४ ॥

लोहेके बने हुए भाजन तथा अन्यान्य विविध इच्छित बर्तन उन लोगोंको प्रदान किये ॥१४॥

एवं स राजा धर्मात्मा परीत्याश्रममण्डलम् ।
वसु विश्राण्य तत्सर्वं पुनरायान्महीपतिः ॥ १५ ॥

धर्मात्मा राजा पृथ्वीपति युधिष्ठिर इस ही प्रकार आश्रमोंमें परिभ्रमण करके वह सारा धन बांटनेके बाद धृतराष्ट्रके आश्रमपर लौटे ॥ १५ ॥

कृताह्निकं च राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ।
ददर्शासीनमव्यग्रं गान्धारीसहितं तदा ॥ १६ ॥

उन्होंने वहां आकर नित्यकर्म किये तथा अव्यग्रचित्तसे गान्धारीके सहित बैठे हुए मनीषी राजा धृतराष्ट्रको देखा ॥ १६ ॥

मातरं चाविदूरस्थां शिष्यवत्प्रणतां स्थिताम् ।
कुन्तीं ददर्श धर्मात्मा सततं धर्मचारिणीम् ॥ १७ ॥

और उनके निकटमें शिष्याकी भांति प्रणतभावसे स्थित सदा धर्मचारिणी कुन्तीमाताको देखा ॥ १७ ॥

स तमभ्यर्च्य राजानं नाम संश्राव्य चात्मनः ।
निषीदेत्यभ्यनुज्ञातो बृस्यामुपविवेश ह ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर राजा धृतराष्ट्रको अपना नाम सुनाकर प्रणामपूर्वक पूजन करते हुए, बैठनेकी आज्ञा पाकर कुशके आसनपर बैठे ॥ १८ ॥

भीमसेनादयश्चैव पाण्डवा कौरवर्षभम् ।
अभिवाद्योपसंगृह्य निषेदुः पार्थिवाज्ञया ॥ १९ ॥

भीमसेन प्रभृति पाण्डवगण भी कौरवश्रेष्ठ राजाके पांव छूकर प्रणाम करनेके अनन्तर उनकी आज्ञानुसार बैठ गये ॥ १९ ॥

स तैः परिवृतो राजा शुशुभेऽतीव कौरवः ।
बिभ्रद्ब्राह्मीं श्रियं दीप्तां देवैरिव बृहस्पतिः ॥ २० ॥

कुरुराज धृतराष्ट्र पाण्डवोंके बीच घिरकर उस समय ब्राह्मी श्री धारण करनेवाले देवताओंसे घिरे हुए बृहस्पतिकी भांति शोभित हुए ॥ २० ॥

तथा तेषूपविष्टेषु समाजग्मुर्महर्षयः ।
शतयूपप्रभृतयः कुरुक्षेत्रनिवासिनः ॥ २१ ॥

उन लोगोंके बैठनेके अनन्तर कुरुक्षेत्रनिवासी शतयूप प्रभृति महर्षिवृन्द उस स्थानमें आये ॥ २१ ॥

व्यासश्च भगवान्विप्रो देवर्षिगणपूजितः ।
वृतः शिष्यैर्महातेजा दर्शयामास तं नृपम् ॥ २२ ॥

देवर्षियोंसे पूजित महातेजस्वी विप्रवर भगवान् व्यासदेवने शिष्योंसहित आकर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरको दर्शन दिया ॥ २२ ॥

ततः स राजा कौरव्यः कुन्तीपुत्रश्च वीर्यवान् ।
भीमसेनादयश्चैव प्रत्युत्थायाभ्यपूजयन् ॥ २३ ॥

उस समय कुरुपति राजा धृतराष्ट्र, कुन्तीपुत्र वीर्यवान् राजा युधिष्ठिर और भीमसेन आदि सब लोगोंने, उठके उन्हें प्रणाम करके पूजित किया ॥ २३ ॥

समागतस्ततो व्यासः शतयूपादिभिर्वृतः ।
धृतराष्ट्रं महीपालमास्यतामित्यभाषत ॥ २४ ॥

तिसके अनन्तर शतयूप आदि ऋषियोंसे घिरकर वहां आए हुए व्यासमुनिने पृथ्वीपति धृतराष्ट्रको बैठनेके लिये कहा ॥ २४ ॥

नवं तु विष्टरं कौश्यं कृष्णाजिनकुशोत्तरम् ।
प्रतिपेदे तदा व्यासस्तदर्थमुपकल्पितम् ॥ २५ ॥

उस समय व्यासदेव अपने लिये उपकल्पित नवीन कुशासन पर जो कृष्णाजिनसे आच्छादित था, बैठ गये ॥ २५ ॥

ते च सर्वे द्विजश्रेष्ठा विष्टरेषु समन्ततः ।
द्वैपायनाभ्यनुज्ञाता निषेदुर्विपुलौजसः ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥ ७१२ ॥

विपुल तेजस्वी द्विजवरगण द्वैपायन मुनिकी आज्ञा पाके चारों ओर कुशाकी चटाईपर बैठ गये ॥ २६ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें चौतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३४ ॥ ७१२ ॥

: ३५ :

वैशम्पायन उवाच—

तथा समुपविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
व्यासः सत्यवतीपुत्रः प्रोवाचामन्त्र्य पार्थिवम् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— अनन्तर महात्मा पाण्डवोंके बैठनेपर सत्यवतीपुत्र व्यासदेव राजाको संबोधित करके बोले ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र महाबाहो कच्चित्ते वर्धते तपः ।
कच्चिन्मनस्ते प्रीणाति वनवासे नराधिप ॥ २ ॥

हे महाबाहो धृतराष्ट्र ! तुम्हारा तप बर्धित होता है न ? नराधिप ! वनवाससे तुम्हारा मन प्रसन्न तो है ? ॥ २ ॥

कच्चिद्धृदि न ते शोको राजन्पुत्रविनाशजः ।
कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रसन्नानि तवानघ ॥ ३ ॥

हे अनघ महाराज ! तुम्हारे हृदयमें पुत्रविनाशजनित शोक तो नहीं विद्यमान है ? तुम्हारी सब ज्ञानेन्द्रियां सुप्रसन्न हो गयी हैं न ? ॥ ३ ॥

×

कच्चिद्बुद्धिं दृढां कृत्वा चरस्यारण्यकं विधिम् ।
कच्चिद्वधूश्च गान्धारी न शोकेनाभिभूयते ॥ ४ ॥

तुम अपनी बुद्धिको दृढ करके वनवासके नियमोंका आचरण करते हो न ? बहू गान्धारी शोकसे अभिभूत तो नहीं होती ? ॥ ४ ॥

महाप्रज्ञा बुद्धिमती देवी धर्मार्थदर्शिनी ।
आगमापायतत्त्वज्ञा कच्चिदेषा न शोचति ॥ ५ ॥

महाप्राज्ञा बुद्धिमती धर्मार्थदर्शिनी, जन्म-मरणके तत्त्वोंको जाननेवाली यह गान्धारी देवी शोक तो नहीं करती ? ॥ ५ ॥

कच्चित्कुन्ती च राजंस्त्वां शुश्रूषुरनहंकृता ।
या परित्यज्य राज्यं स्वं गुरुशुश्रूषणे रता ॥ ६ ॥

हे राजन् ! जो अपने राज्यको त्यागके गुरुसेवामें रत हुई है, वह कुन्ती अहङ्काररहित होकर तुम्हारी सेवा करती है न ? ॥ ६ ॥

कच्चिद्धर्मसुतो राजा त्वया प्रीत्याभिनन्दितः ।
भीमार्जुनयमाश्चैव कच्चिदेतेऽपि सान्त्विताः ॥ ७ ॥

तुमने धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरका अभिनन्दन किया है ? भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवको ढाढस दिया है न ? ॥ ७ ॥

कच्चिन्नन्दसि दृष्ट्वैतान्कच्चित्ते निर्मलं मनः ।
कच्चिद्विशुद्धभावोऽसि जातज्ञानो नराधिप ॥ ८ ॥

नराधिप ! इन लोगोंको देखके तुम्हारा चित्त निर्मल तथा आनन्दित हुआ है न ? और ज्ञान सम्पन्न होनेसे तुम्हारा चित्त शुद्ध हुआ है न ? ॥ ८ ॥

एतद्धि त्रितयं श्रेष्ठं सर्वभूतेषु भारत ।
निर्वैरता महाराज सत्यमद्रोह एव च ॥ ९ ॥

हे महाराज ! भारत ! सब भूतोंमें निर्वैरता, सत्य और अद्रोह, येही तीन गुण मुख्य माने गये हैं ॥ ९ ॥

कच्चित्ते नानुतापोऽस्ति वनवासेन भारत ।
स्वदते वन्यमन्नं वा मुनिवासांसि वा विभो ॥ १० ॥

हे भारत ! इसलिये वनवाससे तुम्हें मोह तो नहीं हुआ ? हे विभु ! वनमें उत्पन्न हुआ अन्न और मुनियोंके वस्त्र-वल्कल आपको पसंद तो हैं न ? ॥ १० ॥

विदितं चापि मे राजन्विदुरस्य महात्मनः ।
गमनं विधिना येन धर्मस्य सुमहात्मनः ॥ ११ ॥

हे राजेन्द्र ! महात्मा विदुरका, जो साक्षात् महामना धर्मके स्वरूप थे, इस ही विधानसे परलोकगमन हुआ, यह समाचार मुझे ज्ञात हुआ ॥ ११ ॥

माण्डव्यशापाद्धि स वै धर्मो विदुरतां गतः ।
महाबुद्धिर्महायोगी महात्मा सुमहामनाः ॥ १२ ॥

माण्डव्यमुनिके शापसे धर्मही विदुरके रूपमें अवतरित हुए थे। वे महाबुद्धिमान्, महायोगी, सुमहामना और महात्मा थे ॥ १२ ॥

बृहस्पतिर्वा देवेषु शुक्रो वाप्यसुरेषु यः ।
न तथा बुद्धिसंपन्नो यथा स पुरुषर्षभः ॥ १३ ॥

पुरुषप्रवर विदुर जिस प्रकार बुद्धिसम्पन्न थे, देवताओंके बीच बृहस्पति और असुरोंके बीच शुक्र भी वैसे बुद्धिसम्पन्न नहीं हैं ॥ १३ ॥

तपोबलव्ययं कृत्वा सुमहच्चिरसंभृतम् ।
माण्डव्येनर्षिणा धर्मो ह्यभिभूतः सनातनः ॥ १४ ॥

उस समय चिरकालसे उपार्जित तपोबलका व्यय करके माण्डव्य ऋषिने सनातन धर्मको पराभूत (अभिशप्त करके) किया था ॥ १४ ॥

नियोगाद्ब्रह्मणः पूर्वं मया स्वेन बलेन च ।
वैचित्रवीर्यके क्षेत्रे जातः स सुमहामतिः ॥ १५ ॥

पहले ब्रह्माकी आज्ञानुसार निज तेज और बलसे मैंने विचित्रवीर्यके क्षेत्रमें उस महाबुद्धिमान् विदुरको उत्पन्न किया था ॥ १५ ॥

भ्राता तव महाराज देवदेवः सनातनः ।
धारणाच्छ्रेयसो ध्यानाद्यं धर्मं कवयो विदुः ॥ १६ ॥

हे महाराज ! तुम्हारे भ्राता विदुर देवताओंके देवता सनातन धर्म थे। आनन्दमय धर्मका जो धारण और ध्यान किया जाता है, विद्वान् मनीषी उन्हें धर्मके नामसे जानते हैं ॥१६॥

सत्येन संवर्धयति दमेन नियमेन च ।
अहिंसया च दानेन तपसा च सनातनः ॥ १७ ॥

वे पुरुषश्रेष्ठ तपस्या करते हुए सत्य, दम, नियम, अहिंसा और दानके सहारे वर्धित हुए थे; वह सनातन धर्म विदुरसे भिन्न नहीं है ॥ १७ ॥

येन योगबलाज्जातः कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
धर्म इत्येष नृपते प्राज्ञेनामितबुद्धिना ॥ १८ ॥

कुरुराज युधिष्ठिरको जिस अमित बुद्धिवाले और प्राज्ञ देवताने योगबलसे जन्म दिया था, वह धर्म विदुरका ही स्वरूप है ॥ १८ ॥

यथा ह्यग्निर्यथा वायुर्यथापः पृथिवी यथा ।
यथाकाशं तथा धर्म इह चामुत्र च स्थितः ॥ १९ ॥

अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी और आकाशकी भांति धर्म इस लोक तथा परलोकमें सदा निवास करता है ॥ १९ ॥

सर्वगश्चैव कौरव्य सर्वं व्याप्य चराचरम् ।
दृश्यते देवदेवः स सिद्धैर्निर्दग्धकिल्बिषैः ॥ २० ॥

हे कुरुकुलोत्पन्न ! धर्मकी गति सर्वत्र है, इसीसे वह सब चराचरोंमें व्याप्त होकर निवास करता है । जिनके पाप दग्ध हो गये हैं, वे सिद्ध पुरुष ही उस देवताओंके देवता धर्मका दर्शन किया करते हैं ॥ २० ॥

यो हि धर्मः स विदुरो विदुरो यः स पाण्डवः ।
स एव राजन्वश्यस्ते पाण्डवः प्रेष्यवत्स्थितः ॥ २१ ॥

हे राजन् ! जो धर्म है, वेही विदुर थे और और जो विदुर थे, वेही दीप्तिमान् पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर हैं, जो दासकी भांति खडे हैं ॥ २१ ॥

प्रविष्टः स स्वमात्मानं भ्राता ते बुद्धिसत्तमः ।
दिष्ट्या महात्मा कौन्तेयं महायोगबलान्वितः ॥ २२ ॥

तुम्हारे भाई वे महायोगबलसंपन्न महात्मा बुद्धिसत्तम विदुर महात्मा कुन्तीपुत्रको देखकर दैवयोगसे ही इन्हींमें प्रविष्ट हुए हैं ॥ २२ ॥

त्वां चापि श्रेयसा योक्ष्ये नचिराद्भरतर्षभ ।
संशयच्छेदनार्थाय हि प्राप्तं मां विद्धि पुत्रक ॥ २३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! तुम्हें भी मैं शीघ्र कल्याणका भागी बनाऊंगा । पुत्र ! इसलिये तुम्हारा सन्देह छुडानेके निमित्त मैं तुम्हारे समीप आया हूं, यह तुम जानो ॥ २३ ॥

न कृतं यत्पुरा कैश्चित्कर्म लोके महर्षिभिः ।
आश्चर्यभूतं तपसः फलं संदर्शयामि वः ॥ २४ ॥

पहले जगत्के बीच किन्हीं महर्षियोंके द्वारा जो चमत्कारपूर्ण कार्य सम्पादित नहीं हुआ था, मैं अपनी तपस्याका आश्चर्यभूत फल तुम्हें दिखाऊंगा ॥ २४ ॥

किमिच्छसि महीपाल मत्तः प्राप्तुममानुषम् ।
द्रष्टुं स्प्रष्टुमथ श्रोतुं वद कर्तास्मि तत्तथा ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥ समाप्तमाश्रमवासपर्व ॥ ७३७ ॥

हे महीपाल ! तुम मेरे समीप कौनसी अमानुष वस्तु पाने अथवा कौनसे विषयको देखने, सुनने वा स्पर्श करनेकी इच्छा करते हो ? वह मुझसे कहो, मैं उसे ही करूंगा ॥ २५ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें पैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३५ ॥ ७३७ ॥

: ३६ :

जनमेजय उवाच—

वनवासं गते विप्र धृतराष्ट्रे महीपतौ ।
सभार्ये नृपशार्दूले वध्वा कुन्त्या समन्विते ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– हे विप्र ! नृपवर महिपति धृतराष्ट्रके निज भार्या गान्धारी तथा वधू कुन्तीके सहित वनमें जाने ॥ १ ॥

विदुरे चापि संसिद्धे धर्मराजं व्यपाश्रिते ।
वसत्सु पाण्डुपुत्रेषु सर्वेष्वाश्रममण्डले ॥ २ ॥

विदुरके सिद्धिको प्राप्त होकर धर्मराजके शरीरमें प्रविष्ट होने और समस्त पाण्डुपुत्रोंके आश्रममण्डलमें वास करते रहनेपर ॥ २ ॥

यत्तदाश्चर्यमिति वै करिष्यामीत्युवाच ह ।
व्यासः परमतेजस्वी महर्षिस्तद्वदस्व मे ॥ ३ ॥

उस समय परम तेजस्वी महर्षि व्यासदेवने जो ऐसा कहा था, कि ' मैं आश्चर्यजनक घटना करूंगा ' वह किस प्रकार हुई ? वह सब मेरे निकट बिस्तारपूर्वक कहिये ॥ ३ ॥

वनवासे च कौरव्यः कियन्तं कालमच्युतः ।
युधिष्ठिरो नरपतिर्न्यवसत्सजनो द्विज ॥ ४ ॥

कुरुवंशमें उत्पन्न हुए अच्युत नरनाथ युधिष्ठिरने सब लोगोंके साथ उस वनके बीच कितने दिनोंतक बास किया था ? ॥ ४ ॥

किमाहाराश्च ते तत्र ससैन्या न्यवसन्प्रभो ।
सान्तःपुरा महात्मान इति तद्ब्रूहि मेऽनघ ॥ ५ ॥

हे प्रभु ! अनघ ! वे महात्मा पाण्डव लोग अन्तःपुरवासियों और सेनाके सहित वहां वास करते हुए क्या भोजन करते थे, वह आप मुझसे कहिये ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तेऽनुज्ञातास्तदा राजन्कुरुराजेन पाण्डवाः ।
विविधान्यन्नपानानि विश्राम्यानुभवन्ति ते ॥ ६ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– हे राजन् ! उस समय पाण्डव लोगोंने कुरुराज धृतराष्ट्रकी आज्ञा पाके अनेक प्रकारके अन्न और पीनेकी वस्तु वहां विश्राम पाकर भोजन की ॥ ६ ॥

मासमेकं विजह्रुस्ते ससैन्यान्तःपुरा वने ।
अथ तत्रागमद्व्यासो यथोक्तं ते मयानघ ॥ ७ ॥

हे अनघ ! उन लोगोंके उस वनमें सेना तथा अन्तःपुरवासियोंके सहित एक महीनेतक विहार करनेपर, वहांपर व्यासदेव आये, यह मैंने तुम्हारे समीप यथार्थ कहा है ॥ ७ ॥

तथा तु तेषां सर्वेषां कथाभिर्नृपसंनिधौ ।
व्यासमन्वासतां राजन्नाजग्मुर्मुनयोऽपरे ॥ ८ ॥

हे राजन् ! वे लोग राजाके निकट व्यासदेवके पीछे बैठके वार्तालाप करने लगे; तब अन्यान्य मुनियोंने वहां आगमन किया ॥ ८ ॥

नारदः पर्वतश्चैव देवलश्च महातपाः ।
विश्वावसुस्तुम्बुरुश्च चित्रसेनश्च भारत ॥ ९ ॥

भारत ! नारद, पर्वत, महातपस्वी देवल, विश्वावसु, तुम्बुरु और चित्रसेन प्रभृति उनमें थे ॥ ९ ॥

तेषामपि यथान्यायं पूजां चक्रे महामनाः ।
धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातः कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ १० ॥

महामना कुरुराज युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रकी आज्ञानुसार उन समागत ऋषियोंकी यथोचित पूजा की ॥ १० ॥

निषेदुस्ते ततः सर्वे पूजां प्राप्य युधिष्ठिरात् ।
आसनेष्वथ पुण्येषु बर्हिष्केषु वरेषु च ॥ ११ ॥

तिसके अनन्तर वे सब लोग युधिष्ठिरसे पूजा पाके उत्तम पवित्र मयूरपंखके बने हुए आसनों पर बैठे ॥ ११ ॥

तेषु तत्रोपविष्टेषु स तु राजा महामतिः ।
पाण्डुपुत्रैः परिवृतो निषसाद कुरूद्वहः ॥ १२ ॥

मुनियोंके बैठनेके अनन्तर महाबुद्धिमान् कुरुश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्र पाण्डुपुत्रोंके बीच घिरके बैठे ॥ १२ ॥

गान्धारी चैव कुन्ती च द्रौपदी सात्वती तथा।
स्त्रियश्चान्यास्तथान्याभिः सहोपविविशुस्ततः ॥ १३ ॥

उनके पीछे गान्धारी, कुन्ती, द्रौपदी, सात्वतकुलमें उत्पन्न हुई सुभद्रा तथा अन्यान्य स्त्रियां अपर स्त्रियोंके सहित वहां बैठीं ॥ १३ ॥

तेषां तत्र कथा दिव्या धर्मिष्ठाश्चाभवन्नृप।
ऋषीणां च पुराणानां देवासुरविमिश्रिताः ॥ १४ ॥

हे नृपवर! वहांपर उन लोगोंमें प्राचीन ऋषि तथा देवासुर सम्बंधित धर्मसंयुक्त दिव्य कथाएं होने लगीं ॥ १४ ॥

ततः कथान्ते व्यासस्तं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम्।
प्रोवाच वदतां श्रेष्ठः पुनरेव स तद्वचः।
प्रीयमाणो महातेजाः सर्ववेदविदां वरः ॥ १५ ॥

अनन्तर कथाओंकी समाप्ति होनेपर वेद जाननेवाले पुरुषोंमें मुख्य, वाग्मिवर, महातेजस्वी महर्षि व्यासदेव अत्यन्त प्रसन्न होकर प्रज्ञाचक्षु नरेन्द्र धृतराष्ट्रसे फिर वही बात कहने लगे ॥ १५ ॥

विदितं मम राजेन्द्र यत्ते हृदि विवक्षितम्।
दह्यमानस्य शोकेन तव पुत्रकृतेन वै ॥ १६ ॥

हे राजेन्द्र! पुत्र वियोगजनित शोकसे जलनेपर तुम्हारे हृदयमें जो भाव उदित हुए हैं, मैंने उसे समझा है ॥ १६ ॥

गान्धार्याश्चैव यद्दुःखं हृदि तिष्ठति पार्थिव।
कुन्त्याश्च यन्महाराज द्रौपद्याश्च हृदि स्थितम् ॥ १७ ॥

हे महाराज! गान्धारीके हृदयमें सदा जो दुःख निवास करता है, कुन्ती और द्रौपदीके हृदयमें जो दुःख सदा विद्यमान रहता है ॥ १७ ॥

यच्च धारयते तीव्रं दुःखं पुत्रविनशाजम्।
सुभद्रा कृष्णभगिनी तच्चापि विदितं मम ॥ १८ ॥

तथा श्रीकृष्णकी बहिन सुभद्रा पुत्रविनाशजनित जिस तीव्र दुःखको मनके बीच धारण करती है, वह सब मुझे विदित हुआ है ॥ १८ ॥

श्रुत्वा समागममिमं सर्वेषां वस्ततो नृप।
संशयच्छेदनायाहं प्राप्तः कौरवनन्दन ॥ १९ ॥

हे नरनाथ! कौरवनन्दन! इस स्थानमें तुम लोगोंका समागम सुनके तुम्हारे मानसिक सन्देहोंको छुडानेके निमित्त मैं यहां आया हूं ॥ १९ ॥

इमे च देवगन्धर्वाः सर्वे चैव महर्षयः ।
पश्यन्तु तपसो वीर्यमद्य मे चिरसंभृतम् ॥ २० ॥

ये देवता, गन्धर्व और महर्षिगण आज मेरे चिरसञ्चित तपस्याके प्रभावको देखें ॥ २० ॥

तदुच्यतां महाबाहो कं कामं प्रदिशामि ते ।
प्रवणोऽस्मि वरं दातुं पश्य मे तपसो बलम् ॥ २१ ॥

हे महाबाहो ! तुम्हारी क्या कामना है, वह मुझसे कहो, मैं वही तुम्हें प्रदान करता हूं; मेरी तपस्याका बल देखो, मैं बरदान करनेके लिये प्रस्तुत हुआ हूं ॥ २१ ॥

एवमुक्तः स राजेन्द्रो व्यासेनामितबुद्धिना ।
मुहूर्तमिव संचिन्त्य वचनायोपचक्रमे ॥ २२ ॥

नरेन्द्र धृतराष्ट्रने अमितबुद्धि व्यासदेवका ऐसा वचन सुनके मुहूर्तभर सोचके निज अभिप्राय प्रकाश करना आरम्भ किया ॥ २२ ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि सफलं जीवितं च मे ।
यन्मे समागमोऽद्येह भवद्भिः सह साधुभिः ॥ २३ ॥

मैं धन्य हूं ! आपके द्वारा अनुग्रहीत हुआ हूं; आज मेरा जीना भी सफल हुआ है, क्योंकि आज आप जैसे साधुओंके सङ्ग मेरा समागम हुआ ॥ २३ ॥

अद्य चाप्यवगच्छामि गतिमिष्टामिहात्मनः ।
भवद्भिर्ब्रह्मकल्पैर्यत्समेतोऽहं तपोधनाः ॥ २४ ॥

हे तपोधनगण ! आज ब्रह्मतुल्य आप लोगोंके सहित मेरा समागम होनेसे मुझे इस लोकमें ही निज अभिलषित गति प्राप्त हुई है, ऐसा मैं मानता हूं ॥ २४ ॥

दर्शनादेव भवतां पूतोऽहं नात्र संशयः ।
विद्यते न भयं चापि परलोकान्ममानघाः ॥ २५ ॥

हे अनघगण ! आप लोगोंके दर्शनमात्रसे मैं निश्चय ही पवित्र हुआ इसमें संदेह नहीं है । परलोकसे अब मुझे भय नहीं रहा है ॥ २५ ॥

किं तु तस्य सुदुर्बुद्धेर्मन्दस्यापनयैर्भृशम् ।
दूयते मे मनो नित्यं स्मरतः पुत्रगृद्धिनः ॥ २६ ॥

परन्तु मेरे पुत्रवत्सल होनेसे उस दुर्बुद्धि मूढ पुत्रकी दुर्नीतियोंको स्मरण करते हुए मेरा अन्तःकरण अत्यन्त व्यथित होता है ॥ २६ ॥

अपापाः पाण्डवा येन निकृताः पापबुद्धिना ।
घातिता पृथिवी चैयं सहया सनरद्विपा ॥ २७ ॥

पापबुद्धि दुर्योधनके द्वारा निरपराध पाण्डुपुत्रगण सताये गये और मनुष्यों—हाथीघोडोंसे युक्त यह पृथ्वी विनष्ट की गई ॥ २७ ॥

राजानश्च महात्मानो नानाजनपदेश्वराः ।
आगम्य मम पुत्रार्थे सर्वे मृत्युवशं गताः ॥ २८ ॥

अनेक देशोंके नरेश महामना राजा मेरे पुत्रकी सहायताके लिये आकर सब मृत्युवश हो गये ॥ २८ ॥

ये ते पुत्रांश्च दारांश्च प्राणांश्च मनसः प्रियान् ।
परित्यज्य गताः शूराः प्रेतराजनिवेशनम् ॥ २९ ॥

हे ब्रह्मन्! वे सब शूरवीर नरेश अपने पुत्र, पत्नी, प्राण और मनके प्रिय भोगोंका त्याग करके यमलोकको चले गये ॥ २९ ॥

का नु तेषां गतिर्ब्रह्मन्मित्रार्थे ये हता मृधे ।
तथैव पुत्रपौत्राणां मम ये निहता युधि ॥ ३० ॥

जो मित्रके निमित्त युद्धके लिये आकर मृत्युके वशमें हो गये, उन लोगोंकी क्या गति हुई? तथा जो मेरे पुत्र और पौत्र युद्धमें मारे गये हैं, उनको कौनसी गति प्राप्त हो गयी होगी? ॥ ३० ॥

दूयते मे मनोऽभीक्ष्णं घातयित्वा महाबलम् ।
भीष्मं शान्तनवं वृद्धं द्रोणं च द्विजसत्तमम् ॥ ३१ ॥

महाबलवान् शान्तनुपुत्र भीष्म और बूढे द्विजसत्तम द्रोणाचार्यका युद्धमें बध कराकर मेरा चित्त अत्यन्त सन्तप्त होता है ॥ ३१ ॥

मम पुत्रेण मूढेन पापेन सुहृदद्विषा ।
क्षयं नीतं कुलं दीप्तं पृथिवीराज्यमिच्छता ॥ ३२ ॥

पृथ्वीभरके राज्यका अभिलाषी होकर मेरे सुहृद्द्वेषी पापात्मा उस मूढ पुत्रके द्वारा यह प्रदीप्त कुल नष्ट हुआ ॥ ३२ ॥

एतत्सर्वमनुस्मृत्य दह्यमानो दिवानिशम् ।
न शान्तिमधिगच्छामि दुःखशोकसमाहतः ।
इति मे चिन्तयानस्य पितः शर्म न विद्यते ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिकपर्वणि षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥ ७७० ॥

दिन रात इन्हीं बिषयोंको स्मरण करते हुए दुःख और शोकसे समाहत तथा जलके मैं शान्तिलाभ नहीं कर सकता हूं। हे पिता! यह विषय सर्वदा मेरे स्मृतिपथारूढ होनेसे मुझे तनिक भी शान्ति लाभ नहीं होती है ॥ ३३ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें छत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३६ ॥ ७७० ॥

×

: ३७ :

वैशम्पायन उवाच—

तच्छ्रुत्वा विविधं तस्य राजर्षेः परिदेवितम् ।
पुनर्नवीकृतः शोको गान्धार्या जनमेजय ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– हे जनमेजय ! राजर्षि धृतराष्ट्रका वैसा विविध प्रकारका विलाप सुनके गान्धारीका शोक फिर नयासा हो गया ॥ १ ॥

कुन्त्या द्रुपदपुत्र्याश्च सुभद्रायास्तथैव च ।
तासां च वरनारीणां वधूनां कौरवस्य ह ॥ २ ॥

कुन्ती, द्रुपदराजपुत्री द्रौपदी, सुभद्रा तथा कुरुराजकी उन सुन्दरी वधूगणोंका शोक फिर नवीन हो गया ॥ २ ॥

पुत्रशोकसमाविष्टा गान्धारी त्विदमब्रवीत् ।
श्वशुरं बद्धनयना देवी प्राञ्जलिरुत्थिता ॥ ३ ॥

परन्तु पुत्रशोकयुक्त बद्धनेत्रवाली गान्धारी उठके हाथ जोडकर निज श्वशुर व्यासदेवसे बोली ॥ ३ ॥

षोडशेमानि वर्षाणि गतानि मुनिपुंगव ।
अस्य राज्ञो हतान्पुत्राञ्शोचतो न शमो विभो ॥ ४ ॥

हे मुनिपुङ्गव ! विभु ! इस नरनाथको अपने मरे हुए पुत्रोंके लिये शोक करते आज सोलह वर्ष व्यतीत हुए, परंतु तनिक भी शान्ति नहीं होती है ॥ ४ ॥

पुत्रशोकसमाविष्टो निःश्वसन्ह्येष भूमिपः ।
न शेते वसतीः सर्वा धृतराष्ट्रो महामुने ॥ ५ ॥

हे महामुनि ! पुत्रशोकयुक्त यह भूपति धृतराष्ट्र सदा लम्बी सांस छोडते हुए सारी रात बिताते हैं, एक बार भी शयन नहीं करते ॥ ५ ॥

लोकानन्यान्समर्थोऽसि स्रष्टुं सर्वांस्तपोबलात् ।
किमु लोकान्तरगतान्राज्ञो दर्शयितुं सुतान् ॥ ६ ॥

आप तपोबलसे सब लोकोंकी दूसरी सृष्टि करनेमें समर्थ हैं, परन्तु परलोकमें गये हुए पुत्रोंको राजासे मिलानेमें क्या कठिनता है ? ॥ ६ ॥

इयं च द्रौपदी कृष्णा हतज्ञातिसुता भृशम् ।
शोचत्यतीव साध्वी ते स्नुषाणां दयिता स्नुषा ॥ ७ ॥

पुत्रवधुओंके बीच अत्यन्त प्रिय बन्धु–बान्धव तथा पुत्रोंसे रहित यह साध्वी कृष्णा द्रौपदी अत्यन्त शोक करती है ॥ ७ ॥

तथा कृष्णस्य भगिनी सुभद्रा भद्रभाषिणी ।
सौभद्रवधसंतप्ता भृशं शोचति भामिनी ॥ ८ ॥

उत्तम बचन कहनेवाली श्रीकृष्णकी बहिन भामिनी यह सुभद्रा अभिमन्युके बधसे अत्यन्त सन्तप्त होकर बहुत ही शोकार्त हुई है ॥ ८ ॥

इयं च भूरिश्रवसो भार्या परमदुःखिता ।
भर्तृव्यसनशोकार्ता न शेते वसतीः प्रभो ॥ ९ ॥

यह भूरिश्रवाकी परम दुःखिता भार्या स्वामीके मरनेसे शोकार्ता होकर अत्यन्त शोक करती है ॥ ९ ॥

यस्यास्तु श्वशुरो धीमान्बाह्लीकः स कुरूद्वहः ।
निहतः सोमदत्तश्च पित्रा सह महारणे ॥ १० ॥

बुद्धिमान् कुरुश्रेष्ठ बाह्लिक जिसके श्वशुर हैं, वे ही सोमदत्त पिताके सहित महासंग्राममें मारे गये हैं ॥ १० ॥

श्रीमच्चास्य महाबुद्धेः संग्रामेष्वपलायिनः ।
पुत्रस्य ते पुत्रशतं निहतं यद्रणाजिरे ॥ ११ ॥

संग्राममें न भागनेवाले महाबुद्धिमान् श्रीमान् तुम्हारे इस पुत्रके जो सौ पुत्र युद्धमें मारे गये ॥ ११ ॥

तस्य भार्याशतमिदं पुत्रशोकसमाहतम् ।
पुनः पुनर्वर्धयानं शोकं राज्ञो ममैव च ।
तेनारम्भेण महता मामुपास्ते महामुने ॥ १२ ॥

उनकी ये सौ भार्या पुत्रके शोकसे समाहत होकर बार बार मेरे तथा राजाके शोकको बढाती हैं और वे सब उस शोकार्तचित्तसे ही मुझे घेरकर बैठी रहती हैं ॥ १२ ॥

ये च शूरा महात्मानः श्वशुरा मे महारथाः ।
सोमदत्तप्रभृतयः का नु तेषां गतिः प्रभो ॥ १३ ॥

हे प्रभु ! मेरे महात्मा श्वशुर शूरवीर महारथी सोमदत्त प्रभृति मारे गये हैं; उनकी क्या गति हुई है ? ॥ १३ ॥

तव प्रसादाद्भगवन्विशोकोऽयं महीपतिः ।
कुर्यात्कालमहं चैव कुन्ती चेयं वधूस्तव ॥ १४ ॥

हे भगवन् ! ये महीपति, मैं और आपकी वधू कुन्ती जिस प्रकार आपकी कृपासे शोकरहित होवें, आप वैसाही करिये ॥ १४ ॥

इत्युक्तवत्यां गान्धार्यां कुन्ती व्रतकृशानना ।
प्रच्छन्नजातं पुत्रं तं सस्माराादित्यसंभवम् ॥ १५ ॥

गान्धारीके ऐसा कहनेपर नियम और व्रतादिसे कृश शरीरवाली कुन्तीने आदित्यसे गुप्त रीतिसे उत्पन्न हुए उस पुत्रका स्मरण किया ॥ १५ ॥

तामृषिर्वरदो व्यासो दूरश्रवणदर्शनः ।
अपश्यद्दुःखितां देवीं मातरं सव्यसाचिनः ॥ १६ ॥

दूर श्रवणदर्शी ऋषिवर वरदाता व्यासदेवने सव्यसाचीकी माता उस दुःखिता कुन्ती देवीकी ओर देखा ॥ १६ ॥

तामुवाच ततो व्यासो यत्ते कार्यं विवक्षितम् ।
तद्ब्रूहि त्वं महाप्राज्ञे यत्ते मनसि वर्तते ॥ १७ ॥

तिसके अनन्तर श्रीवेदव्यास मुनि उससे बोले, हे महाप्राज्ञे ! तुम्हें किसी कार्यके लिये कुछ कहना हो, तुम्हारे मनके बीच कुछ बिषय उपस्थित हुआ हो, तो वह तुम मुझसे कहो ॥१७॥

ततः कुन्ती श्वशुरयोः प्रणम्य शिरसा तदा ।
उवाच वाक्यं सव्रीडं विवृण्वाना पुरातनम् ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिकपर्वणि सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥ ७८८ ॥

तब कुन्ती सिर नीचा करके श्वशुरको प्रणाम कर लज्जापूर्वक पुराना वृत्तान्त विस्तारके सहित कहने लगी ॥ १८ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें सैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३७ ॥ ७८८ ॥

: ३८ :

कुन्त्युवाच—

भगवञ्श्वशुरो मेऽसि दैवतस्यापि दैवतम् ।
स मे देवातिदेवस्त्वं शृणु सत्यां गिरं मम ॥ १ ॥

कुन्ती बोली— हे भगवन् ! आप मेरे श्वशुर और देवताके देवता हैं, आपही हमारे देवाधिदेव हैं, इसलिये मैं आपके समीप सत्य वचन कहती हूं, सुनिये ॥ १ ॥

तपस्वी कोपनो विप्रो दुर्वासा नाम मे पितुः ।
भिक्षामुपागतो भोक्तुं तमहं पर्यतोषयम् ॥ २ ॥

एक बार क्रुद्धस्वभाववाले परम तपस्वी द्विजवर दुर्वासा भिक्षा तथा भोजनके निमित्त मेरे पिताके निकट उपस्थित हुए, तब मैंने सेवासे उन्हें सन्तुष्ट किया ॥ २ ॥

शौचेन त्वागस्त्यागैः शुद्धेन मनसा तथा ।
कोपस्थानेष्वपि महत्स्वकुप्यं न कदाचन ॥ ३ ॥

मैं पवित्रता—स्वच्छताका पालन करती निरपराध रहती तथा शुद्धचित्तसम्पन्न होकर उनकी सेवा करती; क्रोधके बडे कारण उत्पन्न होनेपर भी मैंने कभी क्रोध नहीं किया ॥ ३ ॥

स मे वरमदात्प्रीतः कृतमित्यहमब्रुवम् ।
अवश्यं ते गृहीतव्यमिति मां सोऽब्रवीद्वचः ॥ ४ ॥

इससे उन महामुनिने मुझसे परम प्रसन्न होकर वर दिया; 'तुम्हें मेरा वरदान अवश्य स्वीकारना होगा' वे बोले । इसपर मैं कृतकृत्य हूं ऐसा मैंने कहा ॥ ४ ॥

ततः शापभयाद्विप्रमवोचं पुनरेव तम् ।
एवमस्त्विति च प्राह पुनरेव स मां द्विजः ॥ ५ ॥

तिसके अनन्तर उनकी बात सुनकर मैंने शापभयसे उन विप्रसे फिर विनयपूर्वक कहा— 'ऐसा ही होगा' तब वे ब्राह्मण फिर मुझसे बोले ॥ ५ ॥

धर्मस्य जननी भद्रे भवित्री त्वं वरानने ।
वशे स्थास्यन्ति ते देवा यांस्त्वमावाहयिष्यसि ॥ ६ ॥

हे भद्रे वरानने ! तू धर्मकी जननी होगी और तुम जिन देवताओंको आवाहन करोगी, वेही तुम्हारे वशमें हो जायंगे ॥ ६ ॥

इत्युक्त्वान्तर्हितो विप्रस्ततोऽहं विस्मिताभवम् ।
न च सर्वास्ववस्थासु स्मृतिर्मे विप्रणश्यति ॥ ७ ॥

इतनी बात कहके वे विप्रवर अन्तर्धान हो गये; तब मैं अत्यन्त विस्मित हो गयी । सब अवस्थाओंमें उनकी बात मैं नहीं भूलती थी ॥ ७ ॥

अथ हर्म्यतलस्थाहं रविमुद्यन्तमीक्षती ।
संस्मृत्य तदृषेर्वाक्यं स्पृहयन्ती दिवाकरम् ।
स्थिताहं बालभावेन तत्र दोषमबुध्यती ॥ ८ ॥

कुछ दिनके अनन्तर मैं कोठेपर खडी थी; उदय होते हुए सूर्यको देखती थी । ऋषिके बचनका स्मरण करके मैं दिनरात दिवाकरकी अभिलाष करने लगी; उस समय बाल्य-स्वभावसे मैं उस विषयमें दोष न समझ सकी ॥ ८ ॥

अथ देवः सहस्रांशुर्मत्समीपगतोऽभवत् ।
द्विधा कृत्वात्मनो देहं भूमौ च गगनेऽपि च ।
तताप लोकानेकेन द्वितीयेनागमच्च माम् ॥ ९ ॥

अनन्तर सहस्रांशु सूर्यदेव निज शरीरको दो हिस्सेमें विभक्त करके आकाश और भूमण्डलमें स्थापित करते हुए मेरे निकट आये । वह एक अंशसे सब लोकोंको ताप प्रदान करते हुए दूसरे अंशसे मेरे समीप आगये ॥ ९ ॥

स मामुवाच वेपन्तीं वरं मत्तो वृणीष्व ह।
गम्यतामिति तं चाहं प्रणम्य शिरसावदम् ॥ १० ॥

फिर मुझे कांपती हुई देखके बोले ' मुझसे वर मांगो '। तब मैंने सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम करके कहा, ' आप मेरे समीपसे चले जाइये ' ॥ १० ॥

स मामुवाच तिग्मांशुर्वृथाह्वानं न ते क्षमम्।
धक्ष्यामि त्वां च विप्रं च येन दत्तो वरस्तव ॥ ११ ॥

उस समय प्रचण्डरश्मि सूर्यने मेरे बचनको न मानके मुझसे कहा, ' तुमने जिस लिये मुझे आवाहन किया है, वह वृथा न होगा। यदि मुझे प्रत्याख्यात होना पडे, तो जिसने तुम्हें वर दिया है, मैं उस ब्राह्मणको और तुम्हें भस्म करूंगा ' ॥ ११ ॥

तमहं रक्षती विप्रं शापादनपराधिनम्।
पुत्रो मे त्वत्समो देव भवेदिति ततोऽब्रुवम् ॥ १२ ॥

मैंने सूर्यका ऐसा वचन सुनके उस निरपराधी ब्राह्मणको शापसे बचाके कहा, ' हे देव! मेरे तुम्हारे सदृश पुत्र हो, आप मुझे यही वर दीजिये ' ॥ १२ ॥

ततो मां तेजसाविश्य मोहयित्वा च भानुमान्।
उवाच भविता पुत्रस्तवेत्यभ्यगमद्दिवम् ॥ १३ ॥

अनन्तर सूर्य निज तेजके सहारे मुझमें प्रविष्ट होके मुझे मोहित करते हुए बोले— कि ' तुम्हारे मेरे समान पुत्र होगा, ' ऐसा कहके वह आकाशमें चले गये ॥ १३ ॥

ततोऽहमन्तर्भवने पितुर्वृत्तान्तरक्षिणी।
गूढोत्पन्नं सुतं बालं जले कर्णमवासृजम् ॥ १४ ॥

तिसके अनन्तर मैं उस वृत्तान्तको पितासे छिपाये रखनेके लिये अन्तर्गृहमें रही और गुप्त-रूपसे बालक उत्पन्न होनेपर उस मेरे पुत्र कर्णको जलमें बहा दिया ॥ १४ ॥

नूनं तस्यैव देवस्य प्रसादात्पुनरेव तु।
कन्याहमभवं विप्र यथा प्राह स मामृषिः ॥ १५ ॥

हे विप्र! उस ऋषिने जैसा कहा था, निश्चय ही मैं उस देवके प्रसादसे उसके जन्मके बाद फिर कन्याभावको प्राप्त हो गई ॥ १५ ॥

स मया मूढया पुत्रो ज्ञायमानोऽप्युपेक्षितः।
तन्मां दहति विप्रर्षे यथा सुविदितं तव ॥ १६ ॥

हे विप्रर्षि! मैंने मूढ होकर जानके जो पुत्रके विषयमें उपेक्षा की थी, वही आज मुझे जलाती है; आपको तो यह यथार्थ रीतिसे ज्ञात है ॥ १६ ॥

यदि पापमपापं वा तदेतद्विवृतं मया ।
तन्मे भयं त्वं भगवन्व्यपनेतुमिहार्हसि ॥ १७ ॥

हे भगवन् ! इसमें चाहे पाप हो वा पुण्य हो, मैंने आपके निकट यह विस्तारके सहित कहा; आपको मेरे उस भयको दूर करना उचित है ॥ १७ ॥

यच्चास्य राज्ञो विदितं हृदिस्थं भवतोऽनघ ।
तं चायं लभतां काममद्यैव मुनिसत्तम ॥ १८ ॥

हे अनघ मुनिसत्तम ! इस राजाके हृदयका जो भाव है वह आपको विदित है; ये जो कामना करते हैं, उसे आज ही प्राप्त करें, यही हमारी अभिलाष है ॥ १८ ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं व्यासो वेदविदां वरः ।
साधु सर्वमिदं तथ्यमेवमेव यथात्थ माम् ॥ १९ ॥

बेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ व्यासदेव कुन्तीका ऐसा बचन सुनके बोले— तुमने मुझसे जो कहा, वह सब सत्य है, वह सब उत्तम रीतिसे सम्पन्न होगा ॥ १९ ॥

अपराधश्च ते नास्ति कन्याभावं गता ह्यसि ।
देवाश्चैश्वर्यवन्तो वै शरीराण्याविशन्ति वै ॥ २० ॥

तुम्हारा कुछ अपराध नहीं है, क्योंकि तुम्हें कन्याभाव प्राप्त हुआ है। देवगण निज ऐश्वर्यबलसे दूसरेके शरीरमें प्रवेश किया करते हैं ॥ २० ॥

सन्ति देवनिकायाश्च संकल्पाज्जनयन्ति ये ।
वाचा दृष्ट्या तथा स्पर्शात्संघर्षेणेति पञ्चधा ॥ २१ ॥

देवतासमुदाय सङ्कल्प, वचन, दृष्टि, स्पर्श और समागम इन पांचों प्रकारोंसे जीव उत्पन्न कर सकते हैं ॥ २१ ॥

मनुष्यधर्मो दैवेन धर्मेण न हि दुष्यते ।
इति कुन्ति व्यजानीहि व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ २२ ॥

हे कुन्ती ! तुम यह निश्चय जानना, कि मनुष्यधर्म देवधर्मके द्वारा जुड नहीं जाता; अब तुम्हारी सब मानासिक पीडा दूर होगी ॥ २२ ॥

सर्वं बलवतां पथ्यं सर्वं बलवतां शुचि ।
सर्वं बलवतां धर्मः सर्वं बलवतां स्वकम् ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥ ८११ ॥

देखो, बलवान् पुरुषोंका सभी हितकर, सभी पवित्र और सभी धर्म हुआ करता है और बलवानोंके लिये सारी वस्तुएं अपनी हैं ॥ २३ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें अडतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३८ ॥ ८११ ॥

: ३९ :

व्यास उवाच—

भद्रे द्रक्ष्यसि गान्धारि पुत्रान्भ्रातॄन्सखींस्तथा ।
वधूश्च पतिभिः सार्धं निशि सुप्तोत्थिता इव ॥ १ ॥

श्रीवेदव्यास मुनि बोले— हे भद्रे गान्धारी! तुम रातमें पुत्र, भाई तथा उनके मित्रोंको देखोगी। तुम्हारी वधुएं पतियोंके साथ सोकर उठी हुई सी दिखायी देंगी ॥ १ ॥

कर्णं द्रक्ष्यति कुन्ती च सौभद्रं चापि यादवी ।
द्रौपदी पञ्च पुत्रांश्च पितॄन्भ्रातॄंस्तथैव च ॥ २ ॥

कुन्ती कर्णको, यदुकुलमें उत्पन्न हुई सुभद्रा अभिमन्युको और द्रौपदी अपने पांचों पुत्रों, पिता तथा भाईयोंको भी देखेगी ॥ २ ॥

पूर्वमेवैष हृदये व्यवसायोऽभवन्मम ।
यथास्मि चोदितो राज्ञा भवत्या पृथयैव च ॥ ३ ॥

ये महाराज, तुम और पृथाने मुझसे जो कहा है, वह विषय पहले ही मेरे अन्तःकरणमें उदित हुआ था ॥ ३ ॥

न ते शोच्या महात्मानः सर्वे एव नरर्षभाः ।
क्षत्रधर्मपराः सन्तस्तथा हि निधनं गताः ॥ ४ ॥

वे सब महात्मा नरश्रेष्ठ राजा लोग क्षत्रियधर्मपरायण होके युद्धमें मारे जानेपर वीर गतिको प्राप्त हुए हैं, उनके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ ४ ॥

भवितव्यमवश्यं तत्सुरकार्यमनिन्दिते ।
अवतेरुस्ततः सर्वे देवभागैर्महीतलम् ॥ ५ ॥

हे अनिन्दिते! वह देवताओंका कार्य अवश्य इसी रूपमें होनेवाला था, इसीसे वे सब कोई देवताओंके अंश पृथ्वीपर जन्मे थे ॥ ५ ॥

गन्धर्वाप्सरसश्चैव पिशाचा गुह्यराक्षसाः ।
तथा पुण्यजनाश्चैव सिद्धा देवर्षयोऽपि च ॥ ६ ॥

गन्धर्व, अप्सरा, पिशाच, गुह्य, राक्षस, पुण्यजन, सिद्ध, देवर्षि ॥ ६ ॥

देवाश्च दानवाश्चैव तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ।
त एते निधनं प्राप्ताः कुरुक्षेत्रे रणाजिरे ॥ ७ ॥

देव, दानव तथा निर्मल ब्रह्मर्षिवृन्द— ये सब जन्म लेकर कुरुक्षेत्रके युद्धमें मरे हैं ॥ ७ ॥

गन्धर्वराजो यो धीमान्धृतराष्ट्र इति श्रुतः ।
स एव मानुषे लोके धृतराष्ट्रः पतिस्तव ॥ ८ ॥

ये जो धृतराष्ट्र हैं, ये पहले गन्धर्वोंके लोकमें बुद्धिमान् गन्धर्वराज धृतराष्ट्रके नामसे विख्यात हैं, वेही गन्धर्वराज मनुष्यलोकमें धृतराष्ट्ररूपसे जन्म लेकर तुम्हारे पति हुए हैं ॥ ८ ॥

पाण्डुं मरुद्गणं विद्धि विशिष्टतममच्युतम् ।
धर्मस्यांशोऽभवत्क्षत्ता राजा चायं युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

विशिष्टतम अच्युत राजा पाण्डुको मरुद्गण समझो और क्षत्ता विदुर तथा ये राजा युधिष्ठिर धर्मके अंश हैं ॥ ९ ॥

कलिं दुर्योधनं विद्धि शकुनिं द्वापरं तथा ।
दुःशासनादीन्विद्धि त्वं राक्षसाञ्शुभदर्शने ॥ १० ॥

हे शुभदर्शने ! दुर्योधन कलि, शकुनि द्वापर और दुःशासन प्रभृतिको राक्षस जानो ॥१०॥

मरुद्गणाद्भीमसेनं बलवन्तमरिंदमम् ।
विद्धि च त्वं नरमृषिमिमं पार्थं धनंजयम् ।
नारायणं हृषीकेशमश्विनौ यमजावुभौ ॥ ११ ॥

बलवान् अरिंदमन भीमसेन मरुद्गणोंके अंशसे उत्पन्न मानो; इन पृथापुत्र धनंजयको तुम प्राचीन ऋषि नर समझो; भगवान् श्रीकृष्ण नारायण ऋषि हैं और दोनों यमजों–नकुल, –सहदेवको अश्विनीकुमाररूपी जानना ॥ ११ ॥

द्विधा कृत्वात्मनो देहमादित्यं तपतां वरम् ।
लोकांश्च तापयानं वै विद्धि कर्णं च शोभने ।
यश्च वैरार्थमुद्भूतः संघर्षजननस्तथा । ॥ १२ ॥

शोभने ! तपनेवालोंमें श्रेष्ठ सूर्य अपनेको दो भागोंमें करके एकसे सब लोकोंको तपाते रहे और दूसरे भागसे कर्णके रूपमें उत्पन्न हुए; कर्णको तुम सूर्यरूप जानो । जो केवल वैर बढानेके लिये तथा कौरव–पाण्डवोंमें संघर्ष निर्माण करनेके लिये– उत्पन्न हुआ था, वह कर्ण सूर्य समझो ॥ १२ ॥

यश्च पाण्डवदायादो हतः षड्भिर्महारथैः ।
स सोम इह सौभद्रो योगादेवाभवद्द्विधा ॥ १३ ॥

जो सबको हर्षित करनेवाला पार्थका पुत्र छः महारथियोंके द्वारा मारा गया है, उस सुभद्रापुत्र अभिमन्युको योगबलसे दो शरीर धारण किये हुए चन्द्रमा जानो ॥ १३ ॥

द्रौपद्या सह संभूतं धृष्टद्युम्नं च पावकात् ।
अग्नेर्भागं शुभं विद्धि राक्षसं तु शिखण्डिनम् ॥ १४ ॥

द्रौपदीके सहित अग्निसे उत्पन्न हुए धृष्टद्युम्नको अग्निका शुभ अंश और शिखण्डीको राक्षस जानो ॥ १४ ॥

×

द्रोणं बृहस्पतेर्भागं विद्धि द्रौणिं च रुद्रजम् ।
भीष्मं च विद्धि गाङ्गेयं वसुं मानुषतां गतम् ॥ १५ ॥

द्रोणाचार्यको बृहस्पतिका और द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको रुद्रका अंश जानो; गङ्गानन्दन भीष्मको मनुष्यरूपी वसु करके मालूम करो ॥ १५ ॥

एवमेते महाप्राज्ञे देवा मानुष्यमेत्य हि ।
ततः पुनर्गताः स्वर्गं कृते कर्मणि शोभने ॥ १६ ॥

हे महाप्राज्ञे ! शोभने ! ये देववृन्द इस ही प्रकार मनुष्यत्व प्राप्त करके निज निज कार्योंको पूरा करते हुए फिर सुरपुरमें गये हैं ॥ १६ ॥

यच्च वो हृदि सर्वेषां दुःखमेतच्चिरं स्थितम् ।
तदद्य व्यपनेष्यामि परलोककृताद्भयात् ॥ १७ ॥

तुम सबके हृदयमें जो यह परलौकिक भयके कारण चिरकालसे सदा दुःख रहता है, उसे आज दूर करूंगा ॥ १७ ॥

सर्वे भवन्तो गच्छन्तु नदीं भागीरथीं प्रति ।
तत्र द्रक्ष्यथ तान्सर्वान्ये हतास्मिन्रणाजिरे ॥ १८ ॥

तुम सब कोई भागीरथी नदीके तटपर जाओ । जो लोग इस रणभूमिमें मारे गये हैं, वे सब कोई वहांपर तुम लोगोंको दीख पड़ेंगे ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इति व्यासस्य वचनं श्रुत्वा सर्वो जनस्तदा ।
महता सिंहनादेन गङ्गामभिमुखो ययौ ॥ १९ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— उस समय सब लोगोंने व्यासदेवका ऐसा वचन सुनके बड़ा सिंहनाद करते हुए गङ्गाके तटकी ओर गमन किया ॥ १९ ॥

धृतराष्ट्रश्च सामात्यः प्रययौ सह पाण्डवैः ।
सहितो मुनिशार्दूलैर्गन्धर्वैश्च समागतैः ॥ २० ॥

राजा धृतराष्ट्रने अपने मन्त्रियों, समागत गन्धर्वों, मुनिवरों तथा पाण्डवोंके सहित गमन किया ॥ २० ॥

ततो गङ्गां समासाद्य क्रमेण स जनार्णवः ।
निवासमकरोत्सर्वो यथाप्रीति यथासुखम् ॥ २१ ॥

तिसके अनन्तर क्रमशः वह सारा जन महासागर गङ्गा तटपर पहुंच गया तथा सब प्रीतिपूर्वक सुखसे वहां स्थित हो गये ॥ २१ ॥

राजा च पाण्डवैः सार्धमिष्टे देशे सहानुगः ।
निवासमकरोद्धीमान्सस्त्रीवृद्धपुरःसरः ॥ २२ ॥

धीमान् राजा धृतराष्ट्रने स्त्रियों और वृद्धोंको आगे करके पाण्डवों और सेवकोंके सहित वहां जाके अभिलषित स्थानमें निवास किया ॥ २२ ॥

जगाम तदहश्चापि तेषां वर्षशतं यथा ।
निशां प्रतीक्षमाणानां दिदृक्षूणां मृतान्नृपान् ॥ २३ ॥

वे लोग मरे हुए राजाओंको देखनेकी इच्छासे रात्रिके समागमकी प्रतीक्षा करने लगे । वह दिन उन लोगोंको सौ वर्षोंके समान मालूम होने लगा, तो भी वह बीत गया ॥ २३ ॥

अथ पुण्यं गिरिवरमस्तमभ्यगमद्रविः ।
ततः कृताभिषेकास्ते नैशं कर्म समाचरन् ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥ ८३५ ॥

अनन्तर सूर्यके पवित्र अस्तमय गिरिवरमें जानेपर वे लोग स्नान कार्यको पूरा करके सायंकालके कार्य करने लगे ॥ २४ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें उन्तालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३९ ॥ ८३५ ॥

: ४० :

वैशम्पायन उवाच—

ततो निशायां प्राप्तायां कृतसायाह्निकक्रियाः ।
व्यासमभ्यगमन्सर्वे ये तत्रासन्समागताः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— तिसके अनन्तर रात्रिका समय उपस्थित होनेपर वे सब कोई, जो लोग वहां आये थे, सायंसन्ध्या करके व्यास देवके निकट गये ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रस्तु धर्मात्मा पाण्डवैः सहितस्तदा ।
शुचिरेकमनाः सार्धमृषिभिस्तैरुपाविशत् ॥ २ ॥

उस समय धर्मात्मा धृतराष्ट्र पवित्र और एकाग्र चित्तसे पाण्डवों तथा ऋषियोंके सहित बैठे ॥ २ ॥

गान्धार्या सह नार्यस्तु सहिताः समुपाविशन् ।
पौरजानपदश्चापि जनः सर्वो यथावयः ॥ ३ ॥

गान्धारीके सहित सब स्त्रियां एकत्र हो बैठ गयीं; पौर तथा जनपदवासी लोग अवस्थाके अनुसार क्रमसे बैठ गये ॥ ३ ॥

ततो व्यासो महातेजाः पुण्यं भागीरथीजलम् ।
अवगाह्याजुहावाथ सर्वाँल्लोकान्महामुनिः ॥ ४ ॥

अनन्तर महातेजस्वी महामुनि व्यासदेवने भागरथीके पवित्र जलमें प्रवेश करके पाण्डव-कौरवोंके पक्षके सब लोगोंका आवाहन किया ॥ ४ ॥

पाण्डवानां च ये योधाः कौरवाणां च सर्वशः ।
राजानश्च महाभागा नानादेशनिवासिनः ॥ ५ ॥

पाण्डव और कौरवोंके पक्षके अनेक देश निवासी सब महाभाग योद्धा राजाओंका आह्वान किया ॥ ५ ॥

ततः सुतुमुलः शब्दो जलान्तर्जनमेजय ।
प्रादुरासीद्यथा पूर्वं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ६ ॥

हे जनमेजय ! तिसके अनन्तर जलके बीच कुरुपाण्डवोंकी सेनाओंका पहिलेकी भांति तुमुल शब्द उत्पन्न हुआ ॥ ६ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे भीष्मद्रोणपुरोगमाः ।
ससैन्याः सलिलात्तस्मात्समुत्तस्थुः सहस्रशः ॥ ७ ॥

अनन्तर वे राजा लोग भीष्म और द्रोणके सहित सेनाके सङ्ग सहस्रोंकी संख्यामें उस जलसे उठे ॥ ७ ॥

विराटद्रुपदौ चोभौ सपुत्रौ सहसैनिकौ ।
द्रौपदेयाश्च सौभद्रो राक्षसश्च घटोत्कचः ॥ ८ ॥

सेना और पुत्रोंके सहित विराट और द्रुपद, द्रौपदीके पांचों पुत्र, सुभद्रानन्दन अभिमन्यु, घटोत्कच राक्षस ॥ ८ ॥

कर्णदुर्योधनौ चोभौ शकुनिश्च महारथः ।
दुःशासनादयश्चैव धार्तराष्ट्रा महारथाः ॥ ९ ॥

कर्ण, दुर्योधन, महारथ शकुनि, धृतराष्ट्रके दुःशासन प्रभृति महारथी सब पुत्र ॥ ९ ॥

जारासंधिर्भगदत्तो जलसंधश्च पार्थिवः ।
भूरिश्रवाः शलः शल्यो वृषसेनश्च सानुजः ॥ १० ॥

जरासन्धका पुत्र, भगदत्त, राजा जलसन्ध, भूरिश्रवा, शल, शल्य, भाइयोंके सहित वृषसेन ॥ १० ॥

लक्ष्मणो राजपुत्रश्च धृष्टद्युम्नस्य चात्मजाः ।
शिखण्डिपुत्राः सर्वे च धृष्टकेतुश्च सानुजः ॥ ११ ॥

राजपुत्र लक्ष्मण, धृष्टद्युम्नके पुत्र, शिखण्डीके सभी पुत्र, भाइयोंके सहित धृष्टकेतु ॥ ११ ॥

अचलो वृषकश्चैव राक्षसश्चाप्यलायुधः ।
बाह्लीकः सोमदत्तश्च चेकितानश्च पार्थिवः ॥ १२ ॥

अचल, वृषक, अलायुध राक्षस, बाह्लिक, सोमदत्त, राजा चेकितान ॥ १२ ॥

एते चान्ये च बहवो बहुत्वाद्ये न कीर्त्तिताः ।
सर्वे भासुरदेहास्ते समुत्तस्थुर्जलात्ततः ॥ १३ ॥

—ये तथा दूसरे अनेक क्षत्रियवीर, जो संख्यामें अधिक होनेके कारण सबके नाम नहीं कहे गये; सभी दिव्य प्रकाशमान शरीर धारण करके जलसे प्रकट हुए ॥ १३ ॥

यस्य वीरस्य यो वेषो यो ध्वजो यच्च वाहनम् ।
तेन तेन व्यदृश्यन्त समुपेता नराधिपाः ॥ १४ ॥

जिस वीरका जैसा वेष, जैसी ध्वजा तथा जैसा वाहन था, राजा लोग उस ही वेष, ध्वजा तथा वाहनसे युक्त होकर सबके दृष्टिगोचर हुए ॥ १४ ॥

दिव्याम्बरधराः सर्वे सर्वे भ्राजिष्णुकुण्डलाः ।
निर्वैरा निरहङ्कारा विगतक्रोधमन्यवः ॥ १५ ॥

सब कोई दिव्य वस्त्र, तथा प्रकाशमान कुण्डल धारण करते हुए वैर, अहङ्कार, क्रोध और अमर्ष छोड चुके थे ॥ १५ ॥

गन्धर्वैरुपगीयन्तः स्तूयमानाश्च वन्दिभिः ।
दिव्यमाल्याम्बरधरा वृताश्चाप्सरसां गणैः ॥ १६ ॥

गन्धर्व उनका गुणगान करते थे और वन्दीजन स्तुति करते थे । उन्होंने दिव्य माला और दिव्य वस्त्र धारण किये थे और वे अप्सराओंसे घिरे हुए थे ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्रस्य च तदा दिव्यं चक्षुर्नराधिप ।
मुनिः सत्यवतीपुत्रः प्रीतः प्रादात्तपोबलात् ॥ १७ ॥

हे नरनाथ ! उस समय सत्यवतीपुत्र मुनिश्रेष्ठ व्यासदेवने परम प्रसन्न होकर तपोबलसे धृतराष्ट्रको दिव्य नेत्र प्रदान किये ॥ १७ ॥

दिव्यज्ञानबलोपेता गान्धारी च यशस्विनी ।
ददर्श पुत्रांस्तान्सर्वान्ये चान्येऽपि रणे हताः ॥ १८ ॥

दिव्य ज्ञानबलसे युक्त यशस्विनी गान्धारी युद्धमें मारे गये अपने पुत्रों तथा अन्य सब लोगोंको देखने लगी ॥ १८ ॥

तदद्भुतमचिन्त्यं च सुमहद्रोमहर्षणम् ।
विस्मितः स जनः सर्वो ददर्शानिमिषेक्षणः ॥ १९ ॥

वे सब कोई अत्यन्त विस्मित होकर इकटक नेत्रसे उस रोएंको खडा करनेवाले अचिन्त्य अद्भुत दृश्यको देखने लगे ॥ १९ ॥

तदुत्सवमहोदग्रं हृष्टनारीनराकुलम् ।
ददृशे बलमायान्तं चित्रं पटगतं यथा ॥ २० ॥

वह अत्यन्त उत्कृष्ट प्रहृष्ट नरनारियोंसे युक्त महान् उत्सव चित्रपटकी भांति सबके दृष्टिगोचर हुआ ॥ २० ॥

धृतराष्ट्रस्तु तान्सर्वान्पश्यन्दिव्येन चक्षुषा ।
मुमुदे भरतश्रेष्ठ प्रसादात्तस्य वै मुनेः ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥ ८५६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! राजा धृतराष्ट्र महामुनि व्यासदेवकी कृपासे दिव्य नेत्रके सहारे उन सब लोगोंको देखकर अत्यन्त आनन्दित हुए ॥ २१ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें चालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४० ॥ ८५६ ॥

: ४१ :

वैशम्पायन उवाच—

ततस्ते भरतश्रेष्ठा समाजग्मुः परस्परम् ।
विगतक्रोधमात्सर्याः सर्वे विगतकल्मषाः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— तिसके अनन्तर वे भरत श्रेष्ठगण क्रोध, मत्सरता और पापरहित होके परस्पर मिले ॥ १ ॥

विधिं परममास्थाय ब्रह्मर्षिविहितं शुभम् ।
संप्रीतमनसः सर्वे देवलोक इवामराः ॥ २ ॥

वे लोग सुरलोकमें समागत देवताओंकी भांति प्रसन्न होकर ब्रह्मर्षिविहित परम पवित्र विधि अवलम्बन करके एक दूसरेसे प्रेमसे मिले ॥ २ ॥

पुत्रः पित्रा च मात्रा च भार्या च पतिना सह ।
भ्राता भ्रात्रा सखा चैव सख्या राजन्समागताः ॥ ३ ॥

राजन् ! पुत्र पिता तथा माताके सहित, भार्या पतिके सङ्ग, भाई भाईके साथसे और मित्र मित्रके सङ्ग मिले ॥ ३ ॥

पाण्डवास्तु महेष्वासं कर्णं सौभद्रमेव च ।
संप्रहर्षात्समाजग्मुर्द्रौपदेयांश्च सर्वशः ॥ ४ ॥

पाण्डव लोग अत्यन्त हर्षके सहित महाधनुर्धारी कर्ण, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदीके पांचों पुत्रोंके साथ मिले ॥ ४ ॥

ततस्ते प्रीयमाणा वै कर्णेन सह पाण्डवाः ।
समेत्य पृथिवीपालाः सौहृदेऽवस्थिताभवन् ॥ ५ ॥

उन राजाओंने कर्णके सङ्ग मिलके परम प्रीति अनुभव करते हुए उसके साथ सुहृदताके सहित बर्ताव किया ॥ ५ ॥

ऋषिप्रसादात्तेऽन्ये च क्षत्रिया नष्टमन्यवः ।
असौहृदं परित्यज्य सौहृदे पर्यवस्थिताः ॥ ६ ॥

मुनिश्रेष्ठ व्यासदेवकी कृपासे वे सब क्षत्रिय योद्धा लोग आपसमें मिलके क्रोध और वैरभावको परित्याग करके सुहृदतापूर्वक एकत्र स्थित हुए ॥ ६ ॥

एवं समागताः सर्वे गुरुभिर्बान्धवैस्तथा ।
पुत्रैश्च पुरुषव्याघ्राः कुरवोऽन्ये च मानवाः ॥ ७ ॥

इस तरह पुरुषश्रेष्ठ कौरव तथा अन्यान्य मनुष्य परस्पर गुरुजन, पुत्र और बान्धवोंके सङ्ग मिले ॥ ७ ॥

तां रात्रिमेकां कृत्स्नां ते विहृत्य प्रीतमानसाः ।
मेनिरे परितोषेण नृपाः स्वर्गसदो यथा ॥ ८ ॥

प्रसन्नचित्तसे परितोषके सहित इस ही प्रकार उस रात्रिको विहार करते हुए स्वर्गवासियोंकी भांति सुख अनुभव किया ॥ ८ ॥

नात्र शोको भयं त्रासो नारतिर्नायशोऽभवत् ।
परस्परं समागम्य योधानां भरतर्षभ ॥ ९ ॥

हे भरतर्षभ ! योद्धाओंके परस्पर एकत्रित होनेसे उस समय उन लोगोंमें शोक, भय, त्रास, दुःख तथा अयश कुछ भी न रहा ॥ ९ ॥

समागतास्ताः पितृभिर्भ्रातृभिः पतिभिः सुतैः
मुदं परामिकां प्राप्य नार्यो दुःखमथात्यजन् ॥ १० ॥

इसके अतिरिक्त वहां आयी हुई सब स्त्रियां अपने पिता, भाई, पति तथा पुत्रके सहित समागत होकर परम हर्षपूर्वक एक बारगी दुःखरहित हुई ॥ १० ॥

एकां रात्रिं विहृत्यैवं ते वीरास्ताश्च योषितः ।
आमन्त्र्यान्योन्यमाश्लिष्य ततो जग्मुर्यथागतम् ॥ ११ ॥

वे सब वीरगण तथा उनकी स्त्रियां इस ही प्रकार एक रात्रि विहार करके परस्पर आमन्त्रण तथा आलिङ्गन करनेके अनन्तर वीर लोग जिस स्थानसे आये थे, वहां चले गये ॥ ११ ॥

ततो विसर्जयामास लोकांस्तान्मुनिपुंगवः ।
क्षणेनान्तर्हिताश्चैव प्रेक्षतामेव तेऽभवन् ॥ १२ ॥

अनन्तर मुनिश्रेष्ठ व्यासदेवने जब उन समागत लोगोंको बिदा किया, तो वे लोग सबके देखते ही क्षणभरके बीच अन्तर्धान हो गये ॥ १२ ॥

अवगाह्य महात्मानः पुण्यां त्रिपथगां नदीम् ।
सरथाः सध्वजाश्चैव स्वानि स्थानानि भेजिरे ॥ १३ ॥

वे महात्मा लोग पुण्य देनेवाली त्रिपथगा गंगा नदीमें स्नान करके ध्वजायुक्त रथोंमें चढकर अपने अपने स्थानपर गये ॥ १३ ॥

देवलोकं ययुः केचित्केचिद्ब्रह्मसदस्तथा ।
केचिच्च वारुणं लोकं केचित्कौबेरमाप्नुवन् ॥ १४ ॥

उनके बीच कोई सुरलोक, कोई ब्रह्मलोक, कोई वरुणलोक, और कुछ कुबेरलोकमें गये ॥१४॥

तथा वैवस्वतं लोकं केचिच्चैवाप्नुवन्नृपाः ।
राक्षसानां पिशाचानां केचिच्चाप्युत्तरान्कुरून् ॥ १५ ॥

कितने ही राजा वैवस्वतके लोकमें चले गये; राक्षसों तथा पिशाचोंके लोकोंमें कोई चले गये और कितनेही उत्तर कुरुदेशमें गये ॥ १५ ॥

विचित्रगतयः सर्वे या अवाप्यामरैः सह ।
आजग्मुस्ते महात्मानः सवाहाः सपदानुगाः ॥ १६ ॥

इस प्रकार विचित्र गतियां सबको प्राप्त हुई थीं; वे महात्मा वहींसे देवताओंके साथ अपने वाहन और सेवकोंके सहित आये थे ॥ १६ ॥

गतेषु तेषु सर्वेषु सलिलस्थो महामुनिः ।
धर्मशीलो महातेजाः कुरूणां हितकृत्सदा ।
ततः प्रोवाच ताः सर्वाः क्षत्रिया निहतेश्वराः ॥ १७ ॥

उन सब लोगोंके जानेके अनन्तर जलमें निवास करते हुए सदा कुरुकुलके हितैषी, धर्मशील, महातेजस्वी वेदव्यासमुनि पतिहीन क्षत्रिय स्त्रियोंसे बोले ॥ १७ ॥

या याः पतिकृताँल्लोकानिच्छन्ति परमस्त्रियः ।
ता जाह्नवीजलं क्षिप्रमवगाहन्त्वतन्द्रिताः ॥ १८ ॥

कि जिन साध्वी स्त्रियोंको अपने पतिके लोकमें जानेकी इच्छा है, वे शीघ्र ही अतन्द्रित होकर इस गङ्गाजलमें स्नान करें ॥ १८॥

ततस्तस्य वचः श्रुत्वा श्रद्दधाना वराङ्गनाः ।
श्वशुरं समनुज्ञाप्य विविशुर्जाह्नवीजलम् ॥ १९ ॥

अनन्तर वे सती स्त्रियां श्रीवेदव्यास मुनिका वचन सुनके श्रद्धायुक्त होकर श्वशुरको अपना अभिप्राय सुनाके शीघ्र ही देवनदी गङ्गाके जलमें प्रविष्ट हुईं ॥ १९ ॥

विमुक्ता मानुषैर्देहैस्ततस्ता भर्तृभिः सह ।
समाजग्मुस्तदा साध्व्यः सर्वा एव विशां पते ॥ २० ॥

हे पृथ्वीनाथ ! उस समय वे सभी साध्वी स्त्रियां मानुष शरीर छोडके अपने स्वामीके सङ्ग जा मिलीं ॥ २० ॥

एवं क्रमेण सर्वास्ताः शीलवत्यः कुलस्त्रियः ।
प्रविश्य तोयं निर्मुक्ता जग्मुर्भर्तृसलोकताम् ॥ २१ ॥

उन शीलवती कुलवती क्षत्रिया स्त्रियोंने इस ही प्रकार गङ्गाजीमें प्रवेश करके शरीर छोडकर स्वामीकी सलोकता पाई ॥ २१ ॥

दिव्यरूपसमायुक्ता दिव्याभरणभूषिताः ।
दिव्यमाल्याम्बरधरा यथासां पतयस्तथा ॥ २२ ॥

उनके पति जैसे थे उसी प्रकार वे भी दिव्य रूपसंपन्न, दिव्य आभूषण युक्त तथा दिव्य माला और दिव्य वस्त्र धारण कर लिये थीं ॥ २२ ॥

ताः शीलसत्त्वसंपन्ना वितमस्का गतक्लमाः ।
सर्वाः सर्वगुणैर्युक्ताः स्वं स्वं स्थानं प्रपेदिरे ॥ २३ ॥

वे सभी गुणसंपन्न स्त्रियां दुःखरहित तथा श्रमविहीन होकर निज निज स्थानमें गईं; वे समस्त सद्गुणोंसे अलंकृत हो गयीं थीं ॥ २३ ॥

यस्य यस्य च यः कामस्तस्मिन्कालेऽभवत्तदा ।
तं तं विसृष्टवान्व्यासो वरदो धर्मवत्सलः ॥ २४ ॥

उस समय जिसकी जैसी कामना हुई थी, वरदाता धर्मवत्सल व्यासदेवने उनकी वह कामना पूरी की ॥ २४ ॥

तच्छ्रुत्वा नरदेवानां पुनरागमनं नराः ।
जहृषुर्मुदिताश्चासन्नन्यदेहगता अपि ॥ २५ ॥

अन्य देहोंमें समागत राजाओंके पुनरागमनके वृत्तान्तको सुनके लोग अत्यन्त हर्षित तथा आनन्दित हुए ॥ २५ ॥

×

प्रियैः समागमं तेषां य इमं शृणुयान्नरः ।
प्रियाणि लभते नित्यमिह च प्रेत्य चैव ह ॥ २६ ॥

जो मनुष्य उन लोगोंके प्रियजन समागमका यह वृत्तान्त पूरी रीतिसे सुनेगा, वह इस लोक और परलोकमें सदा प्रिय वस्तुका लाभ किया करेगा ॥ २६ ॥

इष्टबान्धवसंयोगमनायासमनामयम् ।
य इमं श्रावयेद्विद्वान्संसिद्धिं प्राप्नुयात्पराम् ॥ २७ ॥

जो विद्वान् मनुष्य इस अनामय अनायास इष्टबान्धवसंयोगके प्रसङ्गको सुनायेगा; वह परम-सिद्धिको प्राप्त करेगा ॥ २७ ॥

स्वाध्याययुक्ताः पुरुषाः क्रियायुक्ताश्च भारत ।
अध्यात्मयोगयुक्ताश्च धृतिमन्तश्च मानवाः ।
श्रुत्वा पर्व त्विदं नित्यमवाप्स्यन्ति परां गतिम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥ ८८४ ॥

हे भारत ! जो स्वाध्याय परायण, क्रियाशील, अध्यात्म योगयुक्त और धैर्यवान् मनुष्य हैं, वे इस आश्चर्यजनक पर्वको सदा सुनकर परम गतिको प्राप्त करेंगे ॥ २८ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें इकतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४१ ॥ ८८४ ॥

: ४२ :

सूत उवाच—

एतच्छ्रुत्वा नृपो विद्वान्हृष्टोऽभूज्जनमेजयः ।
पितामहानां सर्वेषां गमनागमनं तदा ॥ १ ॥

सूत बोले– विद्वान् राजा जनमेजय अपने सब पितामहोंका इस प्रकार परलोकसे आने और जानेका वृत्तान्त सुनके अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ १ ॥

अब्रवीच्च मुदा युक्तः पुनरागमनं प्रति ।
कथं नु त्यक्तदेहानां पुनस्तद्रूपदर्शनम् ॥ २ ॥

आनन्दित होकर वे पुनरागमनका विवरण पूछते हुए बोले, शरीर छोडे हुए पुरुषोंका फिर उसी रूपमें दीख पडना कैसे सम्भव हो सकता है ? ॥ २ ॥

इत्युक्तः स द्विजश्रेष्ठो व्यासशिष्यः प्रतापवान् ।
प्रोवाच वदतां श्रेष्ठस्तं नृपं जनमेजयम् ॥ ३ ॥

प्रतापशाली वक्ताओंमें श्रेष्ठ द्विजवर व्यासशिष्य ऐसा प्रश्न सुनके नरनाथ जनमेजयसे कहने लगे ॥ ३ ॥

अविप्रणाशः सर्वेषां कर्मणामिति निश्चयः ।
कर्मजानि शरीराणि तथैवाकृतयो नृप ॥ ४ ॥

हे महाराज ! ऐसा निश्चय है, कि सब कर्मोंका फल भोग किये बिना उनका नाश नहीं होता । उन कर्मोंसे ही जीवोंके शरीर तथा आकृतिसमूह उत्पन्न हुआ करते हैं ॥ ४ ॥

महाभूतानि नित्यानि भूताधिपतिसंश्रयात् ।
तेषां च नित्यसंवासो न विनाशो वियुज्यताम् ॥ ५ ॥

भूताधिपतिके संयोग निबन्धनसे महाभूतोंका नित्य संवास होता है; उन नित्य महाभूतोंका अनित्य शरीरोंके साथ नित्य संयोग है; अनित्य शरीरोंका नाश होनेपर इन नित्य महाभूतोंका उनसे वियोग ही होता है, उनका बिनाश नहीं होता ॥ ५ ॥

अनाशाय कृतं कर्म तस्य चेष्टः फलागमः ।
आत्मा चैभिः समायुक्तः सुखदुःखमुपाश्नुते ॥ ६ ॥

आशारहित किये जानेवाले कर्मका फल इच्छित मुक्तिदायक है; इस ही लिये आत्मा कर्मफलसे युक्त होकर सुखदुःख भोग किया करता है ॥ ६ ॥

अविनाशी तथा नित्यं क्षेत्रज्ञ इति निश्चयः ।
भूतानामात्मभावो यो ध्रुवोऽसौ संविजानताम् ॥ ७ ॥

ऐसा निश्चय है कि क्षेत्रज्ञ नश्वर प्राणियोंमें युक्त होकर भी अविनाशी और नित्य है; भूतोंके साथ आत्मभाव लेनेपर भी वह निश्चल है, यह जानो ॥ ७ ॥

यावन्न क्षीयते कर्म तावदस्य स्वरूपता ।
संक्षीणकर्मा पुरुषो रूपान्यत्वं नियच्छति ॥ ८ ॥

जबतक शरीरके कर्मोंका क्षय नहीं होता, तबतक क्षेत्रज्ञकी एकरूपता रहती है; इस लोकमें मनुष्य क्षीणकर्मा होनेसे वह दूसरे स्वरूपको प्राप्त हुआ करता है ॥ ८ ॥

नानाभावास्तथैकत्वं शरीरं प्राप्य संहताः ।
भवन्ति ते तथा नित्याः पृथग्भावं विजानताम् ॥ ९ ॥

भूतादि नाना पदार्थ शरीरको पाकर एकत्वको प्राप्त हो गये है; जो शरीर आदिको आत्मासे पृथक् जानते हैं, उन भावज्ञोंके लिये वे पदार्थ नित्य आत्मस्वरूप होते हैं ॥ ९ ॥

अश्वमेधे श्रुतिश्चेयमश्वसंज्ञपनं प्रति ।
लोकान्तरगता नित्यं प्राणा नित्या हि वाजिनः ॥ १० ॥

अश्वमेध यज्ञमें जब अश्वका वध करते समय जो मन्त्र पढे जाते हैं, उनसे यह सूचित होता है कि अश्वके प्राण निश्चयसे नित्य लोकान्तरमें स्थित होते हैं ॥ १० ॥

अहं हितं वदाम्येतत्प्रियं चेत्तव पार्थिव ।
देवयाना हि पन्थानः श्रुतास्ते यज्ञसंस्तरे ॥ ११ ॥

हे पृथ्वीपति ! मैं आपसे यह हितकर प्रियवचन कहता हूं, यज्ञ आरम्भ करते समय तुमने देवयान मार्गोंकी बात सुनी हैं ॥ ११ ॥

सुकृतो यत्र ते यज्ञस्तत्र देवा हितास्तव ।
यदा समन्विता देवाः पशूनां गमनेश्वराः ।
गतिमन्तश्च तेनेष्ट्वा नान्ये नित्या भवन्ति ते ॥ १२ ॥

जब तुमने उत्तम यज्ञका अनुष्ठान किया, तब देवता लोग तुम्हारे हितैषी हो गये । वे सुहृद देवता जीवोंको लोकान्तरकी प्राप्ति करानेमें समर्थ होनेसे उन्हें अभीष्ट लोकोंकी प्राप्ति करा देते हैं। इसलिये नित्य जीव यज्ञोंसे देवताओंको प्रसन्न करके लोकान्तरमें जानेकी शक्ति पाते हैं; जो यज्ञ नहीं करते, वे वैसे नहीं होते ॥ १२ ॥

नित्येऽस्मिन्पञ्चके वर्गे नित्ये चात्मनि यो नरः ।
अस्य नानासमायोगं यः पश्यति वृथामतिः ।
वियोगे शोचतेऽत्यर्थं स बाल इति मे मतिः ॥ १३ ॥

जो पुरुष इस नित्य पञ्चतत्त्व अर्थात् पांचों महाभूतों तथा नित्य आत्मामें जीवका अनेक समायोग देखता है, वह वृथामति और वियोगसे अत्यन्त शोकार्त होता है, उस पुरुषको मेरे मतमें बालक समझना चाहिये ॥ १३ ॥

वियोगे दोषदर्शी यः संयोगमिह वर्जयेत् ।
असंगे संगमो नास्ति दुःखं भुवि वियोगजम् ॥ १४ ॥

जो पुरुष वियोगमें दोषदर्शी होता है, वही संयोग परिवर्जन करता है और जिसकी असङ्गमें आसक्ति नहीं होती, उसे ही पृथिवीमें वियोगजनित महादुःख हुआ करता है ॥ १४ ॥

परापरज्ञस्तु नरो नाभिमानादुदीरितः ।
अपरज्ञः परां बुद्धिं स्पृष्ट्वा मोहाद्विमुच्यते ॥ १५ ॥

जो पर–अपरके ज्ञानमें मुग्ध रहता है, वह अभिमानसे ऊपर नहीं उठता; और अपरज्ञ पुरुषको परम बुद्धिका बोध होनेपर उसे मोहसे छुटकारा मिलता है ॥ १५ ॥

अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः ।
नाहं तं वेद्मि नासौ मां न च मेऽस्ति विरागता ॥ १६ ॥

वह मुक्त पुरुष अव्यक्तसेही प्रकट हुआ था, और फिर अव्यक्तमें अदृश्य हो गया । इस ही निमित्त में उसे नहीं जानता हूं, वह भी मुझे नहीं जानता है; उसमें मुझे वैराग्य नहीं है ॥ १६ ॥

येन येन शरीरेण करोत्ययमनीश्वरः ।
तेन तेन शरीरेण तदवश्यमुपाश्नुते ॥
मानसं मनसाप्नोति शारीरं च शरीरवान् ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥ ९०१ ॥

किन्तु यह पराधीन मनुष्य जिस जिस शरीरसे जो जो कार्य करता है, उस ही उस शरीरसे उसे उन फलोंको भोगना होता है; मानसिक कार्य मनसे और शारीरक कर्म शरीरके द्वारा प्राप्त हुआ करते हैं ॥ १७ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें बयालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४२ ॥ ९०१ ॥

: ४३ :

वैशम्पायन उवाच—

अदृष्ट्वा तु नृपः पुत्रान्दर्शनं प्रतिलब्धवान् ।
ऋषिप्रसादात्पुत्राणां स्वरूपाणां कुरूद्वह ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— हे कुरूद्वह ! पहले नरनाथ धृतराष्ट्रने अपने पुत्रोंको देखा नहीं था, परंतु व्यास ऋषिकी कृपासे निज निज रूपधारी पुत्रोंको उन्होंने फिर देखा ॥ १ ॥

स राजा राजधर्मांश्च ब्रह्मोपनिषदं तथा ।
अवाप्तवान्नरश्रेष्ठो बुद्धिनिश्चयमेव च ॥ २ ॥

पुरुषश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रको ऋषिकी कृपासे राजधर्म, ब्रह्मोपनिषद और बुद्धिनिश्चय भी प्राप्त हुआ था ॥ २ ॥

विदुरश्च महाप्राज्ञो ययौ सिद्धिं तपोबलात् ।
धृतराष्ट्रः समासाद्य व्यासं चापि तपस्विनम् ॥ ३ ॥

महाप्राज्ञ विदुरने तपोबलसे सिद्धि प्राप्त की थी; और धृतराष्ट्रने तपस्वी व्यासदेवकी कृपासे सिद्धि पाई ॥ ३ ॥

जनमेजय उवाच—

ममापि वरदो व्यासो दर्शयेत्पितरं यदि ।
तद्रूपवेषवयसं श्रद्दध्यां सर्वमेव ते ॥ ४ ॥

जनमेजय बोले— यदि वरदाता व्यासदेव मुझे वैसे रूप, वेष तथा अवस्थायुक्त मेरे पिताका दर्शन करा दें, तो मैं आपकी सब बातोंका विश्वास करूंगा ॥ ४ ॥

प्रियं मे स्यात्कृतार्थश्च स्यामहं कृतनिश्चयः ।
प्रसादादृषिपुत्रस्य मम कामः समृध्यताम् ॥ ५ ॥

उन ऋषिपुत्रकी कृपासे मेरे पिताका दर्शन होनेपर मैं परम प्रसन्न, कृतार्थ और कृतनिश्चय हूंगा, तथा मेरी चिर कामना परिपूर्ण होगी ॥ ५ ॥

सूत उवाच—

इत्युक्तवचने तस्मिन्नृपे व्यासः प्रतापवान् ।
प्रसादमकरोद्धीमानानयच्च परिक्षितम् ॥ ६ ॥

सूत बोले– उस नरनाथ जनमेजयके ऐसा कहनेपर धीमान् प्रतापवान् वेदव्यास मुनिने उस पर भी कृपा की और राजा परीक्षितको बुलाया ॥ ६ ॥

ततस्तद्रूपवयसमागतं नृपतिं दिवः ।
श्रीमन्तं पितरं राजा ददर्श जनमेजयः ॥ ७ ॥

अनन्तर राजा जनमेजयने वैसे ही रूप, बेष और अवस्थायुक्त सुरलोकसे आये हुए अपने श्रीमान् पिताका दर्शन किया ॥ ७ ॥

शमीकं च महात्मानं पुत्रं तं चास्य शृङ्गिणम् ।
अमात्या ये बभूवुश्च राज्ञस्तांश्च ददर्श ह ॥ ८ ॥

उनके साथ महात्मा शमीक, उनके पुत्र शृङ्गी ऋषि तथा राजाके जो मन्त्रि थे, इन सबका दर्शन किया ॥ ८ ॥

ततः सोऽवभृथे राजा मुदितो जनमेजयः ।
पितरं स्नापयामास स्वयं सस्नौ च पार्थिवः ॥ ९ ॥

अनन्तर राजा जनमेजयने अत्यन्त आनन्दित होके यज्ञके अन्तमें पिताको स्नान कराके स्वयं स्नान किया ॥ ९ ॥

स्नात्वा च भरतश्रेष्ठः सोऽऽस्तीकमिदमब्रवीत् ।
यायावरकुलोत्पन्नं जरत्कारुसुतं तदा ॥ १० ॥

उस समय भरतश्रेष्ठ जनमेजय स्नान करके यायावरकुलमें उत्पन्न जरत्कारुपुत्र आस्तिक मुनिसे बोले ॥ १० ॥

आस्तीक विविधाश्चर्यो यज्ञोऽयमिति मे मतिः ।
यदद्यायं पिता प्राप्तो मम शोकप्रणाशनः ॥ ११ ॥

हे आस्तिक ! मेरा यह यज्ञ नाना प्रकारके अत्यन्त आश्चर्योंका जनक हुआ है, ऐसा मुझे बोध होता है; क्योंकि आज मेरे शोकनाशक ये पिता समागत हुए थे ॥ ११ ॥

आस्तीक उवाच—

ऋषिर्द्वैपायनो यत्र पुराणस्तपसो निधिः ।
यज्ञे कुरुकुलश्रेष्ठ तस्य लोकावुभौ जितौ ॥ १२ ॥

आस्तीक मुनि बोले– हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! तपोनिधि पुराण ऋषि द्वैपायन व्यास मुनि जिसके यज्ञमें अधिष्ठित होते हैं, उसके दोनों लोक जीत हुआ करते हैं ॥ १२ ॥

श्रुतं विचित्रमाख्यानं त्वया पाण्डवनन्दन ।
सर्पाश्च भस्मसान्नीता गताश्च पदवीं पितुः ॥ १३ ॥

हे पाण्डवनन्दन ! आपने विचित्र आख्यान सुना; तुम्हारे शत्रु सर्पगण भस्म होकर तुम्हारे पिताकी पदवीको प्राप्त हुए ॥ १३ ॥

कथंचित्तक्षको मुक्तः सत्यत्वात्तव पार्थिव ।
ऋषयः पूजिताः सर्वे गतिं दृष्टा महात्मनः ॥ १४ ॥

हे महाराज ! तक्षक आपकी सत्य परायणताके कारण किसी प्रकार छूट गया । तुमने सब ऋषियोंकी पूजा की और महात्मा व्यासकी गति प्रत्यक्ष देखी ॥ १४ ॥

प्राप्तः सुविपुलो धर्मः श्रुत्वा पापविनाशनम् ।
विमुक्तो हृदयग्रन्थिरुदारजनदर्शनात् ॥ १५ ॥

इस पापविनाशी आख्यानको सुननेसे तुम्हें विपुल धर्म प्राप्त हुआ और उदार हृदयवाले साधुओंके दर्शनसे हृदयकी ग्रन्थि छूट गई, सब संशय दूर हो गया ॥ १५ ॥

ये च पक्षधरा धर्मे सद्वृत्तरुचयश्च ये ।
यान्दृष्ट्वा हीयते पापं तेभ्यः कार्या नमस्क्रियाः ॥ १६ ॥

जो लोग धर्मके पक्षपाती, सद्वृत्त रुचिसम्पन्न हैं, तथा जिनके दर्शनसे पापका नाश होता है, उन्हें नमस्कार करना चाहिये ॥ १६ ॥

सूत उवाच—
एतच्छ्रुत्वा द्विजश्रेष्ठात्स राजा जनमेजयः ।
पूजयामास तमृषिमनुमान्य पुनः पुनः ॥ १७ ॥

सूत बोले– राजा जनमेजयने द्विजश्रेष्ठ आस्तीक मुनिके समीप यह सब बात सुनके उन महर्षि व्यासको बार बार सम्मानित करके उनकी पूजा की ॥ १७ ॥

पप्रच्छ तमृषिं चापि वैशम्पायनमच्युतम् ।
कथावशेषं धर्मज्ञो वनवासस्य सत्तम ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिकपर्वणि त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥ ९१९ ॥

हे सत्तम ! अनन्तर धर्मज्ञ राजा जनमेजयने ऋषिवर अच्युत वैशम्पायनसे वनवासकी कथाका शेष वृत्तान्त पूंछा ॥ १८ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें तैंतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४३ ॥ ९१९ ॥

: ४४ :

जनमेजय उवाच—

दृष्ट्वा पुत्रांस्तथा पौत्रान्सानुबन्धाञ्जनाधिप: ।
धृतराष्ट्रः किमकरोद्राजा चैव युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– पुत्र, पौत्र और आत्मीय जनोंको देखकर राजा धृतराष्ट्रने तथा युधिष्ठिरने अन्तमें क्या किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तद्दृष्ट्वा महदाश्चर्यं पुत्राणां दर्शनं पुनः ।
वीतशोकः स राजर्षिः पुनराश्रममागमत् ॥ २ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– राजन् ! वह राजर्षि धृतराष्ट्र पुत्रदर्शनरूपी उस महान् आश्चर्य व्यापारको देखकर शोकरहित होके फिर आश्रममें आये ॥ २ ॥

इतरस्तु जनः सर्वस्ते चैव परमर्षयः ।
प्रतिजग्मुर्यथाकामं धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञया ॥ ३ ॥

दूसरे सब साधारण लोग और परमर्षिवृन्द धृतराष्ट्रकी आज्ञा लेकर यथाभिलषित स्थानमें चले गये ॥ ३ ॥

पाण्डवास्तु महात्मानो लघुभूयिष्ठसैनिकाः ।
अनुजग्मुर्महात्मानं सदारं तं महीपतिम् ॥ ४ ॥

महात्मा पाण्डवोंने छोटे–बडे सैनिकोंके सहित महात्मा पृथ्वीनाथ धृतराष्ट्रके जो गान्धारीके साथ थे, निकट फिर गमन किया ॥ ४ ॥

तमाश्रमगतं धीमान्ब्रह्मर्षिर्लोकपूजितः ।
मुनिः सत्यवतीपुत्रो धृतराष्ट्रमभाषत ॥ ५ ॥

लोकपूजित धीमान् ब्रह्मर्षि सत्यवतीपुत्र मुनिश्रेष्ठ व्यासदेव उस आश्रममें आके धृतराष्ट्रसे कहने लगे ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र महाबाहो शृणु कौरवनन्दन ।
श्रुतं ते ज्ञानवृद्धानामृषीणां पुण्यकर्मणाम् ॥ ६ ॥

हे कुरुनन्दन महाबाहो धृतराष्ट्र ! सुनो, तुमने ज्ञानवृद्ध पुण्य कर्म करनेवाले ॥ ६ ॥

ऋद्धाभिजनवृद्धानां वेदवेदाङ्गवेदिनाम् ।
धर्मज्ञानां पुराणानां वदतां विविधाः कथाः ॥ ७ ॥

पूजनीय सिद्धि और कुलमें श्रेष्ठ, वेदवेदाङ्ग जाननेवाले, धर्मज्ञ पुरातन ऋषियोंकी विविध कथाएं सुनी हैं ॥ ७ ॥

मा स्म शोके मनः कार्षीर्दिष्टेन व्यथते बुधः ।
श्रुतं देवरहस्यं ते नारदाद्देवदर्शनात् ॥ ८ ॥

और देवर्षि नारद मुनिके समीप देवताओंका गुप्त रहस्य सुना है; इसलिये अब शोकमें मन न लगाना, क्योंकि विद्वान् पुरुष देवनिर्बन्धमें व्यथित होते हैं ॥ ८ ॥

गतास्ते क्षत्रधर्मेण शस्त्रपूतां गतिं शुभाम् ।
यथा दृष्टास्त्वया पुत्रा यथाकामविहारिणः ॥ ९ ॥

तुमने पुत्रोंको जिस प्रकार देखा, वे लोग क्षत्रियधर्मके अनुसार शस्त्रपूत शुभ गति पाके उस ही प्रकार इच्छानुसार विहार किया करते हैं ॥ ९ ॥

युधिष्ठिरस्त्वयं धीमान्भवन्तमनुरुध्यते ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैः सदारः ससुहृज्जनः ॥ १० ॥

ये धीमान् राजा युधिष्ठिर सब भाइयों, स्त्रियों और सुहृज्जनोंके सहित तुम्हारी सेवा करते हैं ॥ १० ॥

विसर्जयैनं यात्वेष स्वराज्यमनुशासताम्
मासः समधिको ह्येषामतीतो वसतां वने ॥ ११ ॥

तुम इन्हें बिदा करो; ये तुम्हारे समीपसे बिदा होके निज राज्यमें जाके राज्यका शासन करें; इन लोगोंने एक महीनेसे अधिक बनमें वास किया है ॥ ११ ॥

एतद्धि नित्यं यत्नेन पदं रक्ष्यं परंतप ।
बहुप्रत्यर्थिकं ह्येतद्राज्यं नाम नराधिप ॥ १२ ॥

हे परंतप ! नराधिप ! अत्यन्त यत्नके सहित सदा राज्यकी रक्षाही राजाओंका धर्म है; क्योंकि राज्यके बहुतसे शत्रु हुआ करते हैं ॥ १२ ॥

इत्युक्तः कौरवो राजा व्यासेनामितबुद्धिना ।
युधिष्ठिरमथाहूय वाग्मी वचनमब्रवीत् ॥ १३ ॥

कुरुराज वाग्मी धृतराष्ट्र अमितबुद्धिमान् वेदव्यासमुनिका ऐसा वचन सुनके युधिष्ठिरको बुला कर कहने लगे ॥ १३ ॥

अजातशत्रो भद्रं ते शृणु मे भ्रातृभिः सह ।
त्वत्प्रसादान्महीपाल शोको नास्मान्प्रबाधते ॥ १४ ॥

हे अजातशत्रो ! तुम्हारा मङ्गल हो, तुम भाईयोंके सहित मेरा बचन सुनो । हे महीपाल ! तुम्हारी कृपासे अब हम लोगोंको किसी प्रकारका शोक बाधित नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

×

रमे चाहं त्वया पुत्र पुरेव गजसाह्वये ।
नाथेनानुगतो विद्वन्प्रियेषु परिवर्तिना ॥ १५ ॥

हे पुत्र ! पहले तुम्हें हस्तिनापुरके प्रभु तथा प्रिय विषयमें सब प्रकारसे वर्तमान जानके मैंने तुम्हारे अनुगत होकर जैसे तुम्हारे सङ्ग सुखभोग किया था, इस समय भी उस ही प्रकार सुखी हुआ हूं ॥ १५ ॥

प्राप्तं पुत्रफलं त्वत्तः प्रीतिर्मे विपुला त्वयि ।
न मे मन्युर्महाबाहो गम्यतां पुत्र मा चिरम् ॥ १६ ॥

हे वत्स ! महाबाहो ! मुझे तुमसे पुत्रफल प्राप्त हुआ, तुममें मेरी विपुल प्रीती रही, तुम्हारे विषयमें मुझे तनिक भी क्रोध नहीं है; इसलिये तुम जाओ, अब देर न करो ॥ १६ ॥

भवन्तं चेह संप्रेक्ष्य तपो मे परिहीयते ।
तपोयुक्तं शरीरं च त्वां दृष्ट्वा धारितं पुनः ॥ १७ ॥

तुम्हारे इस स्थानमें सदा रहनेसे तुम्हें देखकर मेरी तपस्या नष्ट होती है; यह शरीर तपस्यामें लगाया था, परंतु तुम्हें देखकर फिर इसकी रक्षा करने लगा ॥ १७ ॥

मातरौ ते तथैवेमे शीर्णपर्णकृताशने ।
मम तुल्यव्रते पुत्र नचिरं वर्तयिष्यतः ॥ १८ ॥

पुत्र ! मेरे समान ये तुम्हारी दोनों माताएं सूखे पत्ते भोजन करती हुई व्रत-नियममें बर्तमान हैं । अब ये अधिक जीवन नहीं धारण करेंगी ॥ १८ ॥

दुर्योधनप्रभृतयो दृष्टा लोकान्तरं गताः ।
व्यासस्य तपसो वीर्याद्भवतश्च समागमात् ॥ १९ ॥

व्यास मुनिके तपोबलसे और तुम्हारे समागमसे वे परलोकमें गये हुए दुर्योधन प्रभृति पुत्र तथा बान्धवगण मुझे दीख पडे ॥ १९ ॥

प्रयोजनं चिरं वृत्तं जीवितस्य च मेऽनघ ।
उग्रं तपः समास्थास्ये त्वमनुज्ञातुमर्हसि ॥ २० ॥

हे अनघ ! मेरे जीवनका प्रयोजन पुरा होगया है; अब तुम आज्ञा करो, मैं उग्र तपस्याका अवलम्बन करूंगा ॥ २० ॥

त्वय्यद्य पिण्डः कीर्तिश्च कुलं चेदं प्रतिष्ठितम् ।
श्वो वाद्य वा महाबाहो गम्यतां पुत्र मा चिरम् ॥ २१ ॥

हे पुत्र ! आजसे पितृपिण्ड, कीर्ति तथा इस कुरुकुलका भार तुमपर प्रतिष्ठित हुआ है । हे महाबाहो ! इसलिये आज वा कल गमन करो, विलम्ब मत करो ॥ २१ ॥

राजनीतिः सुबहुशः श्रुता ते भरतर्षभ ।
संदेष्टव्यं न पश्यामि कृतमेतावता विभो ॥ २२ ॥

हे भरतर्षभ ! तुमने बहुत बार राजनीति सुनी है, इसलिये तुम्हारे विषयमें मैं अपना कुछ भी वक्तव्य नहीं देखता हूं । तुमने मेरे लिये बहुत किया है ॥ २२ ॥

इत्युक्तवचनं तात नृपो राजानमब्रवीत् ।
न मामर्हसि धर्मज्ञ परित्यक्तुमनागसम् ॥ २३ ॥

राजा धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर नरनाथ युधिष्ठिर उनसे बोले— हे धर्मज्ञ ! मैं निरपराध हूं, इसलिये मुझे परित्याग करना आपको उचित नहीं है ॥ २३ ॥

कामं गच्छन्तु मे सर्वे भ्रातरोऽनुचरास्तथा ।
भवन्तमहमन्विष्ये मातरौ च यतव्रते ॥ २४ ॥

मेरे भाई और सेवक लोग इच्छानुसार चले जायं; परन्तु मैं संयत और व्रतनिष्ठ होकर कुन्ती तथा गान्धारी माताएं और आपकी सेवा करूंगा ॥ २४ ॥

तमुवाचाथ गान्धारी मैवं पुत्र शृणुष्व मे ।
त्वय्यधीनं कुरुकुलं पिण्डश्च श्वशुरस्य मे ॥ २५ ॥

अनन्तर गान्धारी युधिष्ठिरका ऐसा वचन सुनके बोली, हे पुत्र ! तुम ऐसा मत कहो, मेरा वचन सुनो । यह कुरुकुल तथा मेरे श्वशुरका पिण्ड तुम्हारे अधीन हुआ है ॥ २५ ॥

गम्यतां पुत्र पर्याप्तमेतावत्पूजिता वयम् ।
राजा यदाह तत्कार्यं त्वया पुत्र पितुर्वचः ॥ २६ ॥

हे पुत्र ! तुम्हारे द्वारा हम लोगोंकी यथेष्ट सेवा पूजा हुई है । महाराज जो वचन कहते हैं, वह तुम्हें प्रतिपालन करना उचित है; पितृवाक्यका मानना तुम्हारा कर्तव्य है, इसलिये तुम शीघ्र जाओ ॥ २६ ॥

इत्युक्तः स तु गान्धार्या कुन्तीमिदमुवाच ह ।
स्नेहबाष्पाकुले नेत्रे प्रमृज्य रुदतीं वचः ॥ २७ ॥

गान्धारीका ऐसा वचन सुनके युधिष्ठिर प्रीतिपूर्वक बाष्प–परिपूर्ण दोनों नेत्रोंसे आंसू पोंछते हुए रोती हुई कुन्ती देवीसे यह वचन बोले ॥ २७ ॥

विसर्जयति मां राजा गान्धारी च यशस्विनी ।
भवत्यां बद्धचित्तस्तु कथं यास्यामि दुःखितः ॥ २८ ॥

हे माता ! राजा और यशस्विनी गान्धारी मुझे घर लौटनेको कहती है, परन्तु मेरा चित्त तुममें बद्ध रहनेसे मैं दुःखित होकर किस प्रकार गमन करूंगा ? ॥ २८ ॥

न चोत्सहे तपोविघ्नं कर्तुं ते धर्मचारिणि ।
तपसो हि परं नास्ति तपसा विन्दते महत् ॥ २९ ॥

हे धर्मचारिणी ! मैं तुम्हारी तपस्यामें विघ्न करनेके लिये उत्साहित नहीं होता, क्योंकि तपस्याके तुल्य और कुछ भी नहीं है। तपस्यासे महत् फल परब्रह्म प्राप्त हुआ करता है ॥ २९ ॥

ममापि न तथा राज्ञि राज्ये बुद्धिर्यथा पुरा ।
तपस्येवानुरक्तं मे मनः सर्वात्मना तथा ॥ ३० ॥

हे रानी ! पहलेकी भांति राज्यकार्यमें मेरा वैसा अनुराग नहीं होता है, मेरा मन इस समय सब प्रकारसे तपस्यामें अनुरक्त हुआ है ॥ ३० ॥

शून्येयं च मही सर्वा न मे प्रीतिकरी शुभे ।
बान्धवा नः परिक्षीणा बलं नो न यथा पुरा ॥ ३१ ॥

हे शुभे ! इस समय यह समस्त पृथ्वीमण्डल सूना होनेसे मुझे प्रीतिकर नहीं होता है । हमारे बन्धु–बान्धव नष्ट हो गये; हमारे पास पहलेकी भांति सैन्य बल भी नहीं है ॥ ३१ ॥

पाञ्चालाः सुभृशं क्षीणाः कन्यामात्रावशेषिताः ।
न तेषां कुलकर्तारं कंचित्पश्याम्यहं शुभे ॥ ३२ ॥

पांचालगण सब प्रकारसे नष्ट हुए, अब केवल कन्यामात्र शेष हैं; शुभे ! उनके वंशको चलानेवाला मुझे कोई दिखायी नहीं देता ॥ ३२ ॥

सर्वे हि भस्मसान्नीता द्रोणेनैकेन संयुगे ।
अवशेषास्तु निहता द्रोणपुत्रेण वै निशि ॥ ३३ ॥

वे सब कोई अकेले द्रोणाचार्यके द्वारा संग्राममें भस्म हो गये हैं। जो लोग शेष बच गये थे, उन्हें द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने रात्रिके समय मार डाला ॥ ३३ ॥

चेदयश्चैव मत्स्याश्च दृष्टपूर्वास्तथैव नः ।
केवलं वृष्णिचक्रं तु वासुदेवपरिग्रहात् ।
यं दृष्ट्वा स्थातुमिच्छामि धर्मार्थं नान्यहेतुकम् ॥ ३४ ॥

हम लोगोंके पहले देखे हुए चेदि और मत्स्यवंशीय लोग भी वैसे अब नहीं रहे; केवल वृष्णि-वंशीय ही श्रीकृष्णकी कृपासे अवशिष्ट है, उसे देखकर मैं केवल धर्मार्थ होकर ही रहनेकी इच्छा करता हूं, दूसरे किसी भी हेतुसे नहीं ॥ ३४ ॥

शिवेन पश्य नः सर्वान्दुर्लभं दर्शनं तव ।
भविष्यत्यम्ब राजा हि तीव्रमारप्स्यते तपः ॥ ३५ ॥

तुम हम सब लोगोंकी ओर कल्याणमयी दृष्टिसे देखो, क्योंकि हे माता, तुम्हारा दर्शन अत्यन्त दुर्लभ बनेगा; राजा धृतराष्ट्र अब अत्यन्त तीव्र तपस्या आरम्भ करेंगे ॥ ३५ ॥

एतच्छ्रुत्वा महाबाहुः सहदेवो युधां पतिः ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं बाष्पव्याकुललोचनः ॥ ३६ ॥

योद्धाश्रेष्ठ महाबाहु सहदेव इतनी बात सुनके आंखोंमें आंसू भरके युधिष्ठिरसे बोले ॥ ३६ ॥

नोत्सहेऽहं परित्यक्तुं मातरं पार्थिवर्षभ ।
प्रतियातु भवान्क्षिप्रं तपस्तप्स्याम्यहं वने ॥ ३७ ॥

हे पार्थिवश्रेष्ठ ! मैं माताको छोडके न जा सकूंगा, आप शीघ्र जाइये । मैं भी वनमें रहकर तपस्या करूंगा ॥ ३७ ॥

इहैव शोषयिष्यामि तपसाहं कलेवरम् ।
पादशुश्रूषणे युक्तो राज्ञो मात्रोस्तथानयोः ॥ ३८ ॥

तपोबलसे इस स्थानमें रहकर शरीर सुखाऊंगा; राजा धृतराष्ट्र और कुन्ती तथा गान्धारी इन दोनों माताओंकी चरणसेवामें अनुरक्त रहूंगा ॥ ३८ ॥

तमुवाच ततः कुन्ती परिष्वज्य महाभुजम् ।
गम्यतां पुत्र मैव त्वं वोचः कुरु वचो मम ॥ ३९ ॥

तिसके अनन्तर कुन्ती महाभुज सहदेवको छातीसे लगाकर बोली, हे पुत्र ! ऐसा न कहो, तुम मेरे वचनका प्रतिपालन करके जाओ ॥ ३९ ॥

आगमा वः शिवाः सन्तु स्वस्था भवत पुत्रकाः ।
उपरोधो भवेदेवमस्माकं तपसः कृते ॥ ४० ॥

हे पुत्रगण ! तुम लोगोंके मार्ग सफल तथा शुभ होवें और तुम लोग सदा रोग-रहित रहो; तुम्हारे यहां रहनेसे हम लोगोंके तपस्याके विषयमें यह बाधा होती है ॥ ४० ॥

त्वत्स्नेहपाशबद्धा च हीयेयं तपसः परात् ।
तस्मात्पुत्रक गच्छ त्वं शिष्टमल्पं हि नः प्रभो ॥ ४१ ॥

तुम्हारे स्नेहपाशमें बद्ध होकर उत्तम तपस्यासे मुझे भ्रष्ट होना होगा । हे पुत्र ! इसलिये तुम जाओ, हम लोगोंकी आयुमें अब थोडा ही शेष है ॥ ४१ ॥

एवं संस्तम्भितं वाक्यैः कुन्त्या बहुविधैर्मनः ।
सहदेवस्य राजेन्द्र राज्ञश्चैव विशेषतः ॥ ४२ ॥

हे राजेन्द्र ! कुन्तीके इस ही प्रकार बहुतसे बचन सुनके राजा युधिष्ठिर और सहदेवके मनको धीरज प्राप्त हुआ ॥ ४२ ॥

ते मात्रा समनुज्ञाता राज्ञा च कुरुपुङ्गवाः ।
अभिवाद्य कुरुश्रेष्ठमामन्त्रयितुमारभन् ॥ ४३ ॥

वे कुरुपुङ्गवगण निज माता कुन्ती और धृतराष्ट्रके द्वारा गमन करनेकी आज्ञा पाके, कुरुराज धृतराष्ट्रको प्रणाम करके बिदा लेनेके लिये इस प्रकार कहने लगे ॥ ४३ ॥

राजन्प्रतिगमिष्यामः शिवेन प्रतिनन्दिताः ।
अनुज्ञातास्त्वया राजन्गमिष्यामो विकल्मषाः ॥ ४४ ॥

हे राजन् ! आपके मङ्गल आशीर्वादसे हम लोग अभिनन्दित होकर निर्विघ्नताके सहित राज्यमें जायंगे । राजन् ! आपकी आज्ञा मिलनेपर हम पापरहित हो यहांसे प्रस्थान करेंगे ॥ ४४ ॥

एवमुक्तः स राजर्षिर्धर्मराज्ञा महात्मना ।
अनुजज्ञे जयाशीर्भिरभिनन्द्य युधिष्ठिरम् ॥ ४५ ॥

राजर्षि धृतराष्ट्रने महात्मा धर्मराजके ऐसा कहनेपर उन्हें जयाशीर्वादोंसे अभिनन्दित करते हुए जानेके लिये अनुमति दी ॥ ४५ ॥

भीमं च बलिनां श्रेष्ठं सान्त्वयामास पार्थिवः ।
स चास्य सम्यङ्मेधावी प्रत्यपद्यत वीर्यवान् ॥ ४६ ॥

अनन्तर बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेनको राजा धृतराष्ट्रने सान्त्वना दी; बुद्धिमान् तथा वीर्यवान् भीमसेनने उनका अंतःकरणपूर्वक स्वीकार किया ॥ ४६ ॥

अर्जुनं च समाश्लिष्य यमौ च पुरुषर्षभौ ।
अनुजज्ञे स कौरव्यः परिष्वज्याभिनन्द्य च ॥ ४७ ॥

अनन्तर धृतराष्ट्रने अर्जुन तथा पुरुषश्रेष्ठ यमज नकुल सहदेवको धीरज देके आश्वासित करते हुए आलिङ्गन तथा अभिनन्दन करके जानेके निमित्त आज्ञा की ॥ ४७ ॥

गान्धार्या चाभ्यनुज्ञाताः कृतपादाभिवन्दनाः ।
जनन्या समुपाघ्राताः परिष्वक्ताश्च ते नृपम् ।
चक्रुः प्रदक्षिणं सर्वे वत्सा इव निवारणे ॥ ४८ ॥

पाण्डवोंने गान्धारीके चरणोंमें प्रणाम करके उसकी आज्ञा ली; कुन्ती माताने उन्हें हृदयसे लगाकर उन्हें आज्ञा दी; फिर दूध पीनेसे निवारित बछडोंकी भांति नरेशकी प्रदक्षिणा करने लगे ॥ ४८ ॥

पुनः पुनर्निरीक्षन्तः प्रजग्मुस्ते प्रदक्षिणम् ।
तथैव द्रौपदी साध्वी सर्वाः कौरवयोषितः ॥ ४९ ॥

बार बार उनकी ओर देखते हुए उन्होंने प्रदक्षिणा की; तथा साध्वी द्रौपदी प्रभृति सब कुरु स्त्रियोंने भी ॥ ४९ ॥

न्यायतः श्वशुरे वृत्तिं प्रयुज्य प्रययुस्ततः ।
श्वश्रूभ्यां समनुज्ञाताः परिष्वज्याभिनन्दिताः ।
संदिष्टाश्चेतिकर्तव्यं प्रययुर्भर्तृभिः सह ॥ ५० ॥

न्यायपूर्वक श्वशुर धृतराष्ट्रको प्रणामादि किया । फिर दोनों सासुओंने आलिङ्गनपूर्वक आशीर्वाद दे जानेकी आज्ञा दी और उन्हें उनके कर्तव्य-विषयोंका उपदेश किया । फिर वे अपने अपने स्वामीयोंके सङ्ग चलीं ॥ ५० ॥

ततः प्रजज्ञे निनदः सूतानां युज्यतामिति ।
उष्ट्राणां क्रोशतां चैव हयानां हेषतामपि ॥ ५१ ॥

उस समय 'वाहनोंको जोतो' इस प्रकार सूतोंका चिल्लाना, ऊंटोंका बलबलाना और घोडोंका हिनहिनाना इनका शब्द प्रकट हुआ ॥ ५१ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा सदारः सहसैनिकः ।
नगरं हास्तिनपुरं पुनरायात्सबान्धवः ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिकपर्वणि चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥ समाप्तं पुत्रदर्शनपर्व ॥ ९७१ ॥

तिसके अनन्तर राजा युधिष्ठिर स्त्रियों, बन्धुजनों और सैनिक लोगोंके सहित फिर हस्तिनानगरमें आये ॥ ५२ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें चौवालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४४ ॥ पुत्रदर्शनपर्व समाप्त ॥ ९७१ ॥

: ४५ :

वैशम्पायन उवाच—

द्विवर्षोपनिवृत्तेषु पाण्डवेषु यदृच्छया ।
देवर्षिर्नारदो राजन्नाजगाम युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— पाण्डवोंको धृतराष्ट्रके निकटसे हस्तिनापुर आनेपर दो वर्ष व्यतीत हो गये, जब एकबार देवर्षि नारद मुनि इच्छानुसार युधिष्ठिरके निकट आये ॥ १ ॥

तमभ्यर्च्य महाबाहुः कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
आसीनं परिविश्वस्तं प्रोवाच वदतां वरः ॥ २ ॥

नारद मुनि कुरुराज महाबाहु युधिष्ठिरके द्वारा पूजित होकर बैठे और विश्वस्तभाव हो गये, तब वाग्मिवर धर्मराजने उनसे कहा ॥ २ ॥

चिरस्य खलु पश्यामि भगवन्तमुपस्थितम् ।
कच्चित्ते कुशलं विप्र शुभं वा प्रत्युपस्थितम् ॥ ३ ॥

हे विप्रवर ! मैंने आपको बहुत समयके बाद यहां आते देखा । इस समय आप कुशल हैं न ? वा आपको शुभकी प्राप्ति होती है न ? ॥ ३ ॥

के देशाः परिदृष्टास्ते किं च कार्यं करोमि ते ।
तद्ब्रूहि द्विजमुख्य त्वमस्माकं च प्रियोऽतिथिः ॥ ४ ॥

हे द्विजवर ! आपने कौनसे देश देखे हैं ? कहिये, इस समय मुझे तुम्हारा कौनसा मङ्गल कार्य करना होगा ? आप हम लोगोंके परम प्रिय अतिथि हैं ॥ ४ ॥

नारद उवाच—

चिरदृष्टोऽसि मे राजन्नागतोऽस्मि तपोवनात् ।
परिदृष्टानि तीर्थानि गङ्गा चैव मया नृप ॥ ५ ॥

नारद मुनि बोले– हे नरनाथ ! मैं गङ्गाप्रभृति तीर्थोंका दर्शन करके बहुत समयतक तुमसे भेंट न होनेके कारण तपोवनसे आया हूं ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

वदन्ति पुरुषा मेऽद्य गङ्गातीरनिवासिनः ।
धृतराष्ट्रं महात्मानमास्थितं परमं तपः ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर बोले–आज गङ्गातीरनिवासी पुरुषोंने मेरे पास आकर कहा है कि महात्मा धृतराष्ट्र अत्यंत कठोर तपस्यामें लगे हैं ॥ ६ ॥

अपि दृष्टस्त्वया तत्र कुशली स कुरूद्वहः ।
गान्धारी च पृथा चैव सूतपुत्रश्च संजयः ॥ ७ ॥

परंतु क्या आपने वहां कुरुराज, गान्धारी, पृथा तथा सूतपुत्र सञ्जयको कुशल तो देखा है न ? ॥ ७ ॥

कथं च वर्तते चाद्य पिता मम स पार्थिवः ।
श्रोतुमिच्छामि भगवन्यदि दृष्टस्त्वया नृपः ॥ ८ ॥

हे भगवन् ! यदि आपने उस मेरे पिता पृथ्वीपति धृतराष्ट्रको देखा है, तो वह इस समय कैसी अवस्थामें निवास करते हैं ? इस विषयको मैं सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ ८ ॥

नारद उवाच—

स्थिरीभूय महाराज शृणु सर्वं यथातथम् ।
यथा श्रुतं च दृष्टं च मया तस्मिंस्तपोवने ॥ ९ ॥

नारद मुनि बोले– हे महाराज ! मैंने उस तपोवनमें जो देखा और सुना है, उसे यथार्थ रीतिसे आपके समीप कहता हूं, आप स्थिर होकर सुनिये ॥ ९ ॥

वनवासनिवृत्तेषु भवत्सु कुरुनन्दन ।
कुरुक्षेत्रात्पिता तुभ्यं गङ्गाद्वारं ययौ नृप ॥ १० ॥

हे कुरुनन्दन ! राजन् ! आप लोगोंके वनसे निवृत्त होनेपर, आपके पिता धृतराष्ट्र कुरुक्षेत्रसे गंगाद्वार – हरिद्वारको चले गये ॥ १० ॥

गान्धार्या सहितो धीमान्वध्वा कुन्त्या समन्वितः ।
संजयेन च सूतेन साग्निहोत्रः सयाजकः ॥ ११ ॥

उन धीमान्के साथ गान्धारी, बहू कुन्ती और सूत सञ्जय, अग्निहोत्र और पुरोहित भी थे ॥ ११ ॥

आतस्थे स तपस्तीव्रं पिता तव तपोधनः ।
वीटां मुखे समाधाय वायुभक्षोऽभवन्मुनिः ॥ १२ ॥

तब आपके तपस्वी पिताने मौनावलम्बन करके मुखमें वीटा अर्थात् गुलिका स्थापन करके वायुभक्षी होकर तीव्र तपस्या आरम्भ की थी ॥ १२ ॥

वने स मुनिभिः सर्वैः पूज्यमानो महातपाः ।
त्वगस्थिमात्रशेषः स षण्मासानभवन्नृपः ॥ १३ ॥

वह महातपस्वी इस ही प्रकार उत्तम कठोर तपस्या करते हुए वनके बीच मुनियोंसे पूजित हुए और छः महीनेके बीच उनकी त्वचा तथा हड्डी मात्र शेष रह गई ॥ १३ ॥

गान्धारी तु जलाहारा कुन्ती मासोपवासिनी ।
संजयः षष्ठभक्तेन वर्तयामास भारत ॥ १४ ॥

हे भारत ! गान्धारी जलाहार, कुन्ती एक महीनेतक उपवास और सञ्जय छठवें भागमें भोजन करके प्राण धारण करने लगे ॥ १४ ॥

अग्नींस्तु याजकास्तत्र जुहुवुर्विधिवत्प्रभो ।
दृश्यतोऽदृश्यतश्चैव वने तस्मिन्नृपस्य ह ॥ १५ ॥

हे प्रभु ! वहां याजकगण उस नरनाथके द्वारा स्थापित अग्निमें विधानपूर्वक आहुति देने लगे । राजा धृतराष्ट्र उस वनमें कभी दिखायी देते, कभी अदृश्य हो जाते थे ॥ १५ ॥

अनिकेतोऽथ राजा स बभूव वनगोचरः ।
ते चापि सहिते देव्यौ संजयश्च तमन्वयुः ॥ १६ ॥

अब राजा वनमें सब ओर विचरते थे, उनका कोई निश्चित स्थान नहीं रहा । गान्धारी और कुन्ती देवी तथा सञ्जय उनके अनुगामी हुए ॥ १६ ॥

संजयो नृपतेर्नेता समेषु विषमेषु च ।
गान्धार्यास्तु पृथा राजंश्चक्षुरासीदनिन्दिता ॥ १७ ॥

हे महाराज ! सञ्जय नरपतिको सम तथा विषम स्थानमें ले जानेके लिये नायक और अनिन्दिता पृथा गान्धारीको नेत्रस्वरूप हुई ॥ १७ ॥

ततः कदाचिद्गङ्गायाः कच्छे स नृपसत्तमः ।
गङ्गायामाप्लुतो धीमानाश्रमाभिमुखोऽभवत् ॥ १८ ॥

तिसके अनन्तर धीमान् नृपसत्तम धृतराष्ट्रने गङ्गाके किसी तटपर जाकर स्नान करके आश्रमकी ओर मुह किया ॥ १८ ॥

×

अथ वायुः समुद्भूतो दावाग्निरभवन्महान् ।
दवाह तद्वनं सर्वं परिगृह्य समन्ततः ॥ १९ ॥

अनन्तर महावायु प्रकट होनेसे उस बनमें दावाग्नि उत्पन्न हुई । उस दावाग्निने उस वनको चारों ओरसे घेरकर सब जला दिया ॥ १९ ॥

दह्यत्सु मृगयूथेषु द्विजिह्वेषु समन्ततः ।
वराहाणां च यूथेषु संश्रयत्सु जलाशयान् ॥ २० ॥

सब ओर हरिनोंके झुण्ड और साप जलने लगे; तथा सूअर जलाशयोंका आश्रय लेने लगे ॥ २० ॥

समाविद्धे वने तस्मिन्प्राप्ते व्यसन उत्तमे ।
निराहारतया राजा मन्दप्राणविचेष्टितः ।
असमर्थोऽपसरणे सुकृशौ मातरौ च ते ॥ २१ ॥

सब वन आगसे घिर जानेसे उन लोगोंपर अत्यन्त भारी संकट उपस्थित हुआ; तब राजा उपवाससे क्षीण प्राण होनेके कारण वहांसे भागनेमें असमर्थ थे और तुम्हारी दोनों माताएं भी अत्यंत दुर्बल होनेके कारण भागनेमें असमर्थ थीं ॥ २१ ॥

ततः स नृपतिर्दृष्ट्वा वह्निमायान्तमन्तिकात् ।
इदमाह ततः सूतं संजयं पृथिवीपते ॥ २२ ॥

पृथ्वीपते ! अनन्तर उस राजाने अग्निको निकट आती देखकर सूतपुत्र सञ्जयसे यह बचन कहा ॥ २२ ॥

गच्छ संजय यत्राग्निर्न त्वां दहति कर्हिचित् ।
वयमत्राग्निना युक्ता गमिष्यामः परां गतिम् ॥ २३ ॥

हे सञ्जय ! जिस स्थानमें यह अग्नि तुम्हें कदापि भस्म न करेगी ऐसे स्थानमें भाग जाओः हम लोगोंको इस ही स्थानमें अग्निसे गृहीत होनेसे परम गति प्राप्त होगी ॥ २३ ॥

तमुवाच किलोद्विग्नः संजयो वदतां वरः ।
राजन्मृत्युरनिष्टोऽयं भविता ते वृथाग्निना ॥ २४ ॥

वाग्मिवर सञ्जय अत्यंत व्याकुल होके उनसे बोले, हे महाराज ! इस वृथा अग्निमें आपकी मृत्यु होनेसे वह इष्टकर न होगी ॥ २४ ॥

न चोपायं प्रपश्यामि मोक्षणे जातवेदसः ।
यदत्रानन्तरं कार्यं तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ २५ ॥

परन्तु दावाग्निसे बचनेका उपाय भी मैं नहीं देखता हूं; इसके अनन्तर जो कुछ करना हो, आप उसके लिये आज्ञा करिये ॥ २५ ॥

इत्युक्तः संजयेनेदं पुनराह स पार्थिवः ।
नैष मृत्युरनिष्टो नो निःसृतानां गृहात्स्वयम् ॥ २६ ॥

राजा धृतराष्ट्र सञ्जयका ऐसा बचन सुनके फिर उनसे बोले, हे सञ्जय ! जब हम लोग स्वयं गृहसे बाहिर हुए हैं, तब यह मृत्यु हमारे लिये अनिष्टकर न होगी ॥ २६ ॥

जलमग्निस्तथा वायुरथ वापि विकर्शनम् ।
तापसानां प्रशस्यन्ते गच्छ संजय माचिरम् ॥ २७ ॥

जल, वायु, अग्नि और योगबलसे प्राणवायुका आकर्षण– ये सब मृत्युके विषय तपस्वियोंके लिये श्रेष्ठ हैं; इसलिये तुम देरी मत करो, शीघ्र जाओ ॥ २७ ॥

इत्युक्त्वा संजयं राजा समाधाय मनस्तदा ।
प्राङ्मुखः सह गान्धार्या कुन्त्या चोपाविशत्तदा ॥ २८ ॥

तब संजयसे ऐसा कहके राजा योगयुक्त चित्तसे गान्धारी और कुन्तीके सहित पूर्वमुख होकर बैठे ॥ २८ ॥

संजयस्तं तथा दृष्ट्वा प्रदक्षिणमथाकरोत् ।
उवाच चैनं मेधावी युङ्क्ष्वात्मानमिति प्रभो ॥ २९ ॥

मेधावी सञ्जयने धृतराष्ट्रको योगमें चित्त लगाते देखकर उनकी प्रदक्षिणा करके कहा, हे प्रभु ! आप आत्माको योगयुक्त करिये ॥ २९ ॥

ऋषिपुत्रो मनीषी स राजा चक्रेऽस्य तद्वचः ।
संनिरुध्येन्द्रियग्राममासीत्काष्ठोपमस्तदा ॥ ३० ॥

ऋषिपुत्र मनीषी राजा धृतराष्ट्रने सञ्जयका ऐसा वचन सुनके इन्द्रियोंको पूरी रीतिसे रुद्ध करके काष्ठकी भांति निवास किया ॥ ३० ॥

गान्धारी च महाभागा जननी च पृथा तव ।
दावाग्निना समायुक्ते स च राजा पिता तव ॥ ३१ ॥

अनन्तर महाभागा गान्धारी, तुम्हारी माता कुन्ती और राजा धृतराष्ट्र दावाग्निमें जलकर भस्म हो गये ॥ ३१ ॥

संजयस्तु महामात्रस्तस्माद्दावादमुच्यत ।
गङ्गाकूले मया दृष्टस्तापसैः परिवारितः ॥ ३२ ॥

महामन्त्री सञ्जय उस दावानलसे जीवित बच गये । मैंने सञ्जयको गंगा तटपर तपस्वियोंसे घिरा देखा है ॥ ३२ ॥

स तानामन्त्र्य तेजस्वी निवेद्यैतच्च सर्वशः ।
प्रययौ संजयः सूतो हिमवन्तं महीधरम् ॥ ३३ ॥

तेजस्वी सूत सञ्जय उन्हें बुला करके सब वृत्तान्त सुनाकर हिमालय पर्वतपर चला गया ॥ ३३ ॥

एवं स निधनं प्राप्तः कुरुराजो महामनाः ।
गान्धारी च पृथा चैव जनन्यौ ते नराधिप । ॥ ३४ ॥

हे नराधिप ! महामना कुरुराज धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्ती–तुम्हारी दोनों माताएं–की इसही प्रकार मृत्यु हुई है ॥ ३४ ॥

यदृच्छयानुव्रजता मया राज्ञः कलेवरम् ।
तयोश्च देव्योरुभयोर्दृष्टानि भरतर्षभ ॥ ३५ ॥

हे भरतर्षभ ! मैंने इच्छानुसार वनमें घूमते समय राजा धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्ती देवीके मृत शरीर देखें ॥ ३५ ॥

ततस्तपोवने तस्मिन्समाजग्मुस्तपोधनाः ।
श्रुत्वा राज्ञस्तथा निष्ठां न त्वशोचन्गतिं च ते ॥ ३६ ॥

तिसके अनन्तर राजाकी मृत्युका समाचार सुनकर तपस्वी ऋषियोंने उस तपोवनमें आके राजाकी वैसी निष्ठा सुनके शोक न किया; उनकी गतिके विषयमें संशय नहीं था ॥३६॥

तत्राश्रौषमहं सर्वमेतत्पुरुषसत्तम ।
यथा च नृपतिर्दग्धो देव्यौ ते चेति पाण्डव ॥ ३७ ॥

हे पुरुषसत्तम ! पाण्डव ! जिस प्रकार राजा और उन देवियोंका दाह हुआ है, मैंने वहां यह सब वृत्तान्त सुना था ॥ ३७ ॥

न शोचितव्यं राजेन्द्र स्वन्तः स पृथिवीपतिः ।
प्राप्तवानग्निसंयोगं गान्धारी जननी च ते ॥ ३८ ॥

हे राजेन्द्र ! राजा धृतराष्ट्र, गान्धारीदेवी और तुम्हारी माता कुन्ती, ये लोग जिस प्रकार जले हैं, वह तुम्हारे शोकका विषय नहीं है, क्योंकि उन्होंने स्वयं अग्नि संयोग प्राप्त किया था ॥३८॥

वैशम्पायन उवाच—

एतच्छ्रुत्वा तु सर्वेषां पाण्डवानां महात्मनाम् ।
निर्याणं धृतराष्ट्रस्य शोकः समभवन्महान् ॥ ३९ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– हे महाराज ! सब महात्मा पाण्डव लोग राजा धृतराष्ट्रकी मृत्युका समाचार सुनके अत्यन्त शोकार्त हुए ॥ ३९ ॥

अन्तःपुराणां च तदा महानार्तस्वरोऽभवत् ।
पौराणां च महाराज श्रुत्वा राज्ञस्तदा गतिम् ॥ ४० ॥

राजाकी वैसी गति सुनके अन्तःपुरमें और पुरवासियोंके बीच महान् आर्तनाद प्रकट हुआ ॥४०॥

अहो धिगिति राजा तु विक्रुश्य भृशदुःखितः ।
ऊर्ध्वबाहुः स्मरन्मातुः प्ररुरोद युधिष्ठिरः ॥
भीमसेनपुरोगाश्च भ्रातरः सर्व एव ते ॥ ४१ ॥

इधर युधिष्ठिर भीमसेन प्रभृति सभी भाइयोंके सहित अत्यन्त दुःखसे 'ओहो धिक् !' ऐसा बचन कहके दोनों भुजाओंको उठाकर अपनी माताको याद करके ऊंचे स्वरसे रोदन करने लगे ॥ ४१ ॥

अन्तःपुरेषु च तदा सुमहान्रुदितस्वनः ।
प्रादुरासीन्महाराज पृथां श्रुत्वा तथागताम् ॥ ४२ ॥

हे महाराज ! पृथा की मृत्युका समाचार सुनके रनिवासमें भी महान् रोदनध्वनि प्रकट हुई ॥ ४२ ॥

तं च वृद्धं तथा दग्धं हतपुत्रं नराधिपम् ।
अन्वशोचन्त ते सर्वे गान्धारीं च तपस्विनीम् ॥ ४३ ॥

हतपुत्र बूढे नरनाथ धृतराष्ट्र और तपस्विनी गान्धारीका उस प्रकार जलना सुनके सब कोई शोक करने लगे ॥ ४३ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे मुहूर्तादिव भारत ।
निगृह्य बाष्पं धैर्येण धर्मराजोऽब्रवीदिदम् ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥ १०१५ ॥

हे भारत ! मुहूर्त भरके बीच रोनेकी आवाज बंद हुई, तब धर्मराज युधिष्ठिर धैर्यके सहारे आंसू रोकके नारदसे कहने लगे ॥ ४४ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें पैंतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४५ ॥ १०१५ ॥

: ४६ :

युधिष्ठिर उवाच—

तथा महात्मनस्तस्य तपस्युग्रे च वर्ततः ।
अनाथस्येव निधनं तिष्ठत्स्वस्मासु बन्धुषु ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले- हे ब्रह्मन् ! हम सब बन्धुबान्धवोंके रहते उस उग्र तपस्यामें रत महात्मा धृतराष्ट्रकी अनाथकी भांति मृत्यु हुई ॥ १ ॥

दुर्विज्ञेया हि गतयः पुरुषाणां मता मम ।
यत्र वैचित्रवीर्योऽसौ दग्ध एवं दवाग्निना ॥ २ ॥

जब वह विचित्रवीर्यपुत्र धृतराष्ट्र दाबानलमें जलकर मरे हैं, तब मैंने निश्चय जाना, कि मनुष्योंकी गतिका ज्ञान होना कठिन है ॥ २ ॥

यस्य पुत्रशतं श्रीमदभवद्बाहुशालिनः ।
नागायुतबलो राजा स दग्धो हि दवाग्निना ॥ ३ ॥

जिन बाहुबलशाली राजाके सौ पुत्र हुए थे, जो स्वयं दस हजार हाथियोंके सदृश बलशाली थे, वे ही दावानलमें भस्म हुए ॥ ३ ॥

यं पुरा पर्यवीजन्त तालवृन्तैर्वरस्त्रियः ।
तं गृध्राः पर्यवीजन्त दावाग्निपरिकालितम् ॥ ४ ॥

पहले जिनके समीप सुन्दरी स्त्रियां तालका बेना लेकर सञ्चालन करती थीं, इस समय दावाग्निसे परिगृहीत उस पृथ्वीपति धृतराष्ट्रको गीधोंने अपनी पांखोंसे हवा की है ॥ ४ ॥

सूतमागधसंघैश्च शयानो यः प्रबोध्यते ।
धरण्यां स नृपः शेते पापस्य मम कर्मभिः ॥ ५ ॥

हाय ! जो उत्तम शय्यापर सोके प्रतिदिन भोरको सूत और मागधोंके द्वारा जागते थे, आज वेही राजा मुझ पापात्माके कार्यदोषसे पृथ्वीपर सोये हैं ॥ ५ ॥

न तु शोचामि गान्धारीं हतपुत्रां यशस्विनीम् ।
पतिलोकमनुप्राप्तां तथा भर्तृव्रते स्थिताम् ॥ ६ ॥

मैं उस पतिव्रतमें रत रहनेवाली पतिलोकमें गई हुई हतपुत्रा यशस्विनी गान्धारीके निमित्त शोक नहीं करता ॥ ६ ॥

पृथामेव तु शोचामि या पुत्रैश्वर्यमृद्धिमत् ।
उत्सृज्य सुमहद्दीप्तं वनवासमरोचयत् ॥ ७ ॥

किन्तु जिसने पुत्रोंके समृद्धिशाली प्रदीप्त ऐश्वर्यको परित्याग करके बनवासकी अभिलाष की थी, उस माता पृथाके निमित्त ही मुझे अत्यन्त शोक उपस्थित होता है ॥ ७ ॥

धिग्राज्यमिदमस्माकं धिग्बलं धिक्पराक्रमम् ।
क्षत्रधर्मं च धिग्यस्मान्मृता जीवामहे वयम् ॥ ८ ॥

हम लोगोंके राज्य, बल, पराक्रम और क्षत्रिय धर्मको धिकार है; जिससे हम लोग मृतोंकी भांति जीवित रहे हैं ॥ ८ ॥

सुसूक्ष्मा किल कालस्य गतिर्द्विजवरोत्तम ।
यत्समुत्सृज्य राज्यं सा वनवासमरोचयत् ॥ ९ ॥

हे द्विजवरोत्तम ! कालकी गति अत्यन्त सूक्ष्म है, क्योंकि कुन्तीमाता राज्यको परित्याग करके बनवासकी अभिलाषी हुई थी ॥ ९ ॥

युधिष्ठिरस्य जननी भीमस्य विजयस्य च ।
अनाथवत्कथं दग्धा इति मुह्यामि चिन्तयन् ॥ १० ॥

पृथा युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुनकी जननी होकर अनाथाकी भांति किस निमित्त जली ? इसका विचार करके मैं विमोहित होता हूं ॥ १० ॥

वृथा संतोषितो वह्निः खाण्डवे सव्यसाचिना ।
उपकारमजानन्स कृतघ्न इति मे मतिः ॥ ११ ॥

सव्यसाची अर्जुनने खाण्डव वनमें वृथा अग्निको प्रसन्न किया था, क्योंकि उपकारको स्वीकार न करनेसे मुझे बोध होता है, कि अग्नि कृतघ्न है ॥ ११ ॥

यत्रादहत्स भगवान्मातरं सव्यसाचिनः ।
कृत्वा यो ब्राह्मणच्छद्म भिक्षार्थी समुपागतः ।
धिगग्निं धिक्च पार्थस्य विश्रुतां सत्यसंधताम् ॥ १२ ॥

जो वनके बीच भिक्षार्थी ब्राह्मणके छलसे अर्जुनसे भीख मांगने आये थे, उन्हीं भगवान् अग्निने सव्यसाचीकी माता पृथाको जलाया है; उस अग्नि भगवान् और पार्थकी विख्यात सत्यसन्धताको धिक्कार है ॥ १२ ॥

इदं कष्टतरं चान्यद्भगवन्प्रतिभाति मे ।
वृथाग्निना समायोगो यदभूत्पृथिवीपतेः ॥ १३ ॥

भगवन् ! राजर्षि तपस्वी पृथ्वीनाथ कुरुपतिको जो व्यर्थ अग्निसंयोग प्राप्त हुआ, यह बात सबसे बढके मुझे कष्टकर बोध होती है ॥ १३ ॥

तथा तपस्विनस्तस्य राजर्षेः कौरवस्य ह ।
कथमेवंविधो मृत्युः प्रशास्य पृथिवीमिमाम् ॥ १४ ॥

जिन्होंने पहले इस पृथ्वीका शासन किया और अन्तमें कठोर तपस्याका अनुष्ठान किया था, उन कुरुवंशी राजर्षिकी ऐसी मृत्यु क्यों प्राप्त हुई ? ॥ १४ ॥

तिष्ठत्सु मन्त्रपूतेषु तस्याग्निषु महावने ।
वृथाग्निना समायुक्तो निष्ठां प्राप्तः पिता मम ॥ १५ ॥

उस महावनमें उनके मन्त्रयुक्त अग्निके विद्यमान रहते हुए भी वे लौकिक अग्निसे दग्ध होकर क्यों मर गये ? ॥ १५ ॥

मन्ये पृथा वेपमाना कृशा धमनिसंतता ।
हा तात धर्मराजेति समाक्रन्दन्महाभये ॥ १६ ॥

मुझे बोध होता है, वह मेरी माता अत्यन्त दुबली होकर शिराओंसे व्याप्त महाभयसे कांपती ' हा तात, धर्मराज ! ' ऐसा कहके पुकारती होगी ॥ १६ ॥

भीम पर्याप्नुहि भयादिति चैवाभिवाशती ।
समन्ततः परिक्षिप्ता माता मेऽभूद्दवाग्निना ॥ १७ ॥

तथा ' हे भीम ! भयसे मेरी रक्षा करो ' ऐसा कहके अवसन्न होकर चारों ओर चिल्लाती हुई मेरी माता दावाग्निसे जलकर भस्म हुई होगी ॥ १७ ॥

सहदेवः प्रियस्तस्याः पुत्रेभ्योऽधिक एव तु ।
न चैनां मोक्षयामास वीरो माद्रवतीसुतः ॥ १८ ॥

उसके सब पुत्रोंसे अधिक प्रिय वीरश्रेष्ठ माद्रीपुत्र सहदेवभी उसे अग्निसे बचा न सका ॥१८॥

तच्छ्रुत्वा रुरुदुः सर्वे समालिङ्ग्य परस्परम् ।
पाण्डवाः पञ्च दुःखार्ता भूतानीव युगक्षये ॥ १९ ॥

पांचों पाण्डव ऐसी बात सुनके सब कोई परस्परको आलिङ्गन करते हुए प्रलयकालके प्राणियोंकी भांति रोदन करने लगे ॥ १९ ॥

तेषां तु पुरुषेन्द्राणां रुदतां रुदितस्वनः ।
प्रासादाभोगसंरुद्धो अन्वरौत्सीत्स रोदसी ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासिकपर्वणि षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥ १०३५ ॥

उन पुरुषश्रेष्ठ पाण्डवोंके रोदन करते रहनेपर उनके रोनेका शब्द मन्दिरके परिसरप्रदेशमें परिव्याप्त होनेसे गगनमण्डलके सहित उस प्रासादके स्थानमें गूंजने लगा ॥ २० ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें छियालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४६ ॥ १०३५ ॥

: ४७ :

नारद उवाच—

नासौ वृथाग्निना दग्धो यथा तत्र श्रुतं मया ।
वैचित्रवीर्यो नृपतिस्तत्ते वक्ष्यामि भारत ॥ १ ॥

नारद मुनि बोले– हे भारत ! मैंने उस वनमें जैसा सुना है, वही तुमसे कहूंगा; मैंने सुना कि, वह विचित्रवीर्यपुत्र नरनाथ धृतराष्ट्र वृथाग्निमें नहीं जले ॥ १ ॥

वनं प्रविशता तेन वायुभक्षेण धीमता ।
अग्नयः कारयित्वेष्टिमुत्सृष्टा इति नः श्रुतम् ॥ २ ॥

मैंने ऐसा सुना है, कि उस वायुभक्षण करके रहनेवाले धीमान् नरनाथने वनमें प्रवेश करते समय यज्ञ कराके अग्नियोंको वहीं त्याग दिया ॥ २ ॥

याजकास्तु ततस्तस्य तानग्नीन्निर्जने वने ।
समुत्सृज्य यथाकामं जग्मुर्भरतसत्तम ॥ ३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अनन्तर याजकवृन्द निर्जन बनके बीच उनकी उन अग्नियोंको छोडकर अभिलषित स्थानमें चले गये ॥ ३ ॥

स विवृद्धस्तदा वह्निर्वने तस्मिन्नभूत्किल ।
तेन तद्वनमादीप्तमिति मे तापसाब्रुवन् ॥ ४ ॥

तपस्वियोंने मुझे इस प्रकार कहा, कि उस समय अग्निने बनके बीच अत्यन्त वर्धित होकर उस बनको भस्मसात् किया ॥ ४ ॥

स राजा जाह्नवीकच्छे यथा ते कथितं मया ।
तेनाग्निना समायुक्तः स्वेनैव भरतर्षभ ॥ ५ ॥

हे भरतप्रबर ! उसके अनन्तर जैसा मैंने तुम्हें कहा है, राजा गङ्गाजीके तटपर उस अपनीही अग्निसे दग्ध हुए हैं ॥ ५ ॥

एवमावेदयामासुर्मुनयस्ते मयानघ ।
ये ते भागीरथीतीरे मया दृष्टा युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

हे अनघ! युधिष्ठिर ! गङ्गाजीके तटपर मैंने जिन मुनियोंका दर्शन किया, उन्हींने मुझसे यह सब वृत्तान्त कहा है ॥ ६ ॥

एवं स्वेनाग्निना राजा समायुक्तो महीपते ।
मा शोचिथास्त्वं नृपतिं गतः स परमां गतिम् ॥ ७ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! जब कि राजा इस प्रकार निज अग्निके सहित संयुक्त हुए हैं, तब उन्होंने निश्चय ही परम गति प्राप्त की है, उनके लिये आप शोक न करिये ॥ ७ ॥

गुरुशुश्रूषया चैव जननी तव पाण्डव ।
प्राप्ता सुमहतीं सिद्धिमिति मे नात्र संशयः ॥ ८ ॥

हे पाण्डव ! आपकी माताने भी गुरुसेवासे महती सिद्धि पाई है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ८ ॥

कर्तुमर्हसि कौरव्य तेषां त्वमुदकक्रियाम् ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैरेतदत्र विधीयताम् ॥ ९ ॥

हे कौरव्य ! इस समय आप अपने सब भाइयोंके सहित उन लोगोंकी विधिपूर्वक जलक्रिया पूरी करिये ॥ ९ ॥

×

वैशम्पायन उवाच—

ततः स पृथिवीपालः पाण्डवानां धुरन्धरः ।
निर्ययौ सह सोदर्यैः सदारो भरतर्षभः ॥ १० ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले- हे भरतश्रेष्ठ ! उसके अनन्तर वह पाण्डवधुरन्धर पृथ्वीपति युधिष्ठिर भाइयों और स्त्रियोंके सहित नगरसे बाहिर हुए ॥ १० ॥

पौरजानपदाश्चैव राजभक्तिपुरस्कृताः ।
गङ्गां प्रजग्मुरभितो वाससैकेन संवृताः ॥ ११ ॥

पुरवासियोंने और जनपदवासियोंने राजभक्ति दिखाते हुए एकवस्त्रसे संवृत होकर उन लोगोंके साथ गङ्गाकी ओर गमन किया ॥ ११ ॥

ततोऽवगाह्य सलिले सर्वे ते कुरुपुङ्गवाः ।
युयुत्सुमग्रतः कृत्वा ददुस्तोयं महात्मने ॥ १२ ॥

तिसके बाद उन कुरुपुङ्गवोंने गङ्गाजलमें स्नान कर युयुत्सुको आगे करके महात्मा धृतराष्ट्रको जलप्रदान किया ॥ १२ ॥

गान्धार्याश्च पृथायाश्च विधिवन्नामगोत्रतः ।
शौचं निवर्तयन्तस्ते तत्रोषुर्नगराद्बहिः ॥ १३ ॥

फिर गान्धारी और पृथाके विधिपूर्वक नाम गोत्रका उच्चारण करके उन्होंने उनके लिये भी जलदान किया; अनन्तर शौचकार्य निवर्तित करते हुए नगरके बाहिर भागमें वे सब लोग ठहर गये ॥ १३ ॥

प्रेषयामास स नरान्विधिज्ञानाप्तकारिणः ।
गङ्गाद्वारं कुरुश्रेष्ठो यत्र दग्धोऽभवन्नृपः ॥ १४ ॥

कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरने जहां धृतराष्ट्र जले थे, उस गङ्गाद्वारमें विधिज्ञ आप्तकारी मनुष्योंको भेजा ॥ १४ ॥

तत्रैव तेषां कुल्यानि गङ्गाद्वारेऽन्वशात्तदा ।
कर्तव्यानीति पुरुषान्दत्तदेयान्महीपतिः ॥ १५ ॥

राजा युधिष्ठिरने उन पुरुषोंको गङ्गाद्वारमें ही उनके कर्तव्य कार्योंको करनेके लिये आज्ञा की; फिर उन्होंने उन पुरुषोंको दानयोग्य अनेक वस्तुएं अर्पित कीं ॥ १५ ॥

द्वादशेऽहनि तेभ्यः स कृतशौचो नराधिपः ।
ददौ श्राद्धानि विधिवद्दक्षिणावन्ति पाण्डवः ॥ १६ ॥

अनन्तर पाण्डुपुत्र नरनाथ युधिष्ठिरने शौचादिसे निवृत्त होकर बारहवें दिन उन लोगोंका विधिविहित श्राद्ध किया और श्राद्धोंमें ब्राह्मणोंको विपुल दक्षिणाएं दीं ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्रं समुद्दिश्य ददौ स पृथिवीपतिः ।
सुवर्णं रजतं गाश्च शय्याश्च सुमहाधनाः ॥ १७ ॥

राजाने धृतराष्ट्रके उद्देश्यसे सोना, चांदी, गौ और महामूल्यवान शय्याएं प्रदान कीं ॥ १७ ॥

गान्धार्याश्चैव तेजस्वी पृथायाश्च पृथक्पृथक् ।
संकीर्त्य नामनी राजा ददौ दानमनुत्तमम् ॥ १८ ॥

फिर पृथक् रीतिसे गान्धारी और पृथाके नामसे तेजस्वी राजा युधिष्ठिरने सब प्रकारके उत्तम धन दान किये ॥ १८ ॥

यो यदिच्छति यावच्च तावत्स लभते द्विजः ।
शयनं भोजनं यानं मणिरत्नमथो धनम् ॥ १९ ॥

उस समय शय्या, भोजन, यान, मणि, रत्न, धन प्रभृति जो जो ब्राह्मण जिस वस्तुको जितनी मात्रामें इच्छता था उसने वही पाई ॥ १९ ॥

यानमाच्छादनं भोगान् दासीश्च परिचारिकाः ।
ददौ राजा समुद्दिश्य तयोर्मात्रोर्महीपतिः ॥ २० ॥

इतनाही नहीं वरन राजा युधिष्ठिरने गान्धारी और पृथामाताके उद्देश्यसे यान, ओढनेके वस्त्र, विविध भोगवस्तु तथा दासी प्रभृति परिचारिकाएं प्रदान कीं ॥ २० ॥

ततः स पृथिवीपालो दत्त्वा श्राद्धान्यनेकशः ।
प्रविवेश पुनर्धीमान्नगरं वारणाह्वयम् ॥ २१ ॥

इस प्रकार धीमान् राजा युधिष्ठिरने पिता–माताके उद्देश्यसे बहुतसी श्राद्धीय वस्तु दान करके फिर हस्तिनानगरमें प्रवेश किया ॥ २१ ॥

ते चापि राजवचनात्पुरुषा ये गताभवन् ।
संकल्प्य तेषां कुल्यानि पुनः प्रत्यागमंस्ततः ॥ २२ ॥

राजाकी आज्ञासे जो लोग धृतराष्ट्रादिके संस्कारके निमित्त गये थे, वे उनकी हड्डियोंको एकत्रित करके फिर लौट आये ॥ २२ ॥

माल्यैर्गन्धैश्च विविधैः पूजयित्वा यथाविधि ।
कुल्यानि तेषां संयोज्य तदाचख्युर्महीपतेः ॥ २३ ॥

विविध माला और सुगन्धि द्रव्योंसे विधिपूर्वक पूजा की; और उनको गङ्गामें प्रवाहित कर दिया । फिर नगरमें लौटकर उन्होंने यह सब राजाको कहा ॥ २३ ॥

समाश्वास्य च राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
नारदोऽप्यगमद्राजन्परमर्षिर्यथेप्सितम् ॥ २४ ॥

हे राजन् ! परमर्षि नारदने धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरको आश्वासित करके अभिलषित स्थानमें गमन किया ॥ २४ ॥

एवं वर्षाण्यतीतानि धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
वनवासे तदा त्रीणि नगरे दश पञ्च च ॥ २५ ॥

इस प्रकार धीमान् धृतराष्ट्रके हस्तिनापुर नगरमें पन्द्रह वर्ष और वनमें तीन वर्ष बीते थे ॥ २५ ॥

हतपुत्रस्य संग्रामे दानानि ददतः सदा ।
ज्ञातिसंबन्धिमित्राणां भ्रातॄणां स्वजनस्य च ॥ २६ ॥

संग्राममें हतपुत्र राजा धृतराष्ट्रने ज्ञाति, सम्बन्धी, मित्र, भ्राता और स्वजनोंके निमित्त सदा दान किया ॥ २६ ॥

युधिष्ठिरस्तु नृपतिर्नातिप्रीतमनास्तदा ।
धारयामास तद्राज्यं निहतज्ञातिबान्धवः ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्रमवासपर्वणि सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥ नारदागमनपर्व समाप्तम् ॥ १०६२ ॥
॥ समाप्तमाश्रमवासिकं पर्व ॥

उस समय राजा युधिष्ठिर ज्ञाति-बान्धवोंके मरनेसे मनमें अधिक प्रसन्न नहीं रहते, तो भी राज्यका भार संभालने लगे ॥ २७ ॥

महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें सैंतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४७ ॥ १०६२ ॥

॥ आश्रमवासिकपर्व समाप्त ॥

१६

महाभारत

मौसल पर्व

[मूल संस्कृत श्लोक और हिन्दी अर्थ सहित]

प्रधान सम्पादक

डॉ. पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

पारडी [जि. बलसाड]

संवत् २०३४, शक १८९९, सन् १९७७

*

प्रथम आवृत्ति

*

प्रकाशक और मुद्रक :
वसन्त श्रीपाद सातवलेकर
स्वाध्याय-मण्डळ, भारत मुद्रणालय,
किल्ला-पारडी [जि. वलसाड] गुजरात

मौसलपर्व

आभार प्रदर्शन

इस महाभारत प्रकाशनके लिए भारतसरकारके शिक्षा मंत्रालयने आर्थिक सहायता प्रदान करके जो महान् कार्य किया है, उसके लिए हम हृदयसे आभारी हैं।

इस महाभारत प्रकाशनके लिए हम माननीय श्री सेठ गंगाप्रसादजी बिरला और माननीय श्री सेठ बी. एम. बिरलाजी का भी उपकार नहीं भूल सकते। उन्होंने कागज देकर हमारी जो सहायता की है, उसके लिए हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

*

महाभारत

मौसलपर्व ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

ॐ नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

ॐ गणोंके ईशके लिये नमस्कार हो ।

ॐ नरोत्तम नारायण, नर और देवी सरस्वतीको प्रणाम करके जयकी घोषणा करनी चाहिये ।

: १ :

वैशम्पायन उवाच—

षट्त्रिंशे त्वथ संप्राप्ते वर्षे कौरवनन्दनः ।
ददर्श विपरीतानि निमित्तानि युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– कौरवनन्दन राजा युधिष्ठिरने राज्य पानेके अनन्तर छत्तीसवें वर्षके प्रारम्भमें ही अनेक प्रकारके अशकुन देखे ॥ १ ॥

ववुर्वाताः स निर्घाता रूक्षाः शर्करवर्षिणः ।
अपसव्यानि शकुना मण्डलानि प्रचक्रिरे ॥ २ ॥

कङ्कडसे युक्त रूखी वायु शब्दके सहित बहने लगी, पक्षी–वृन्द दाहिनी ओरकी मण्डलमें भ्रमण करने लगे ॥ २ ॥

प्रत्यगूहुर्महानद्यो दिशो नीहारसंवृताः ।
उल्काश्चाङ्गारवर्षिण्यः प्रपेतुर्गगनाद्भुवि ॥ ३ ॥

सब महानदियां सूख गईं और सब दिशाएं कुहरेसे परिपूरित हुईं, अङ्गारवर्षा युक्त उल्कासमूह आकाशमंडलसे पृथ्वीपर गिरने लगे ॥ ३ ॥

आदित्यो रजसा राजन्समवच्छन्नमण्डलः ।
विरश्मिरुदये नित्यं कबन्धैः समदृश्यत ॥ ४ ॥

हे महाराज ! उदयकालमें सूर्य तेज रहित हुए और उनका मण्डल धूलिधूसरित तथा सदा कवन्धोंसे परिपूर्ण दिखाई देने लगा ॥ ४ ॥

परिवेषाश्च दृश्यन्ते दारुणाः चन्द्रसूर्ययोः ।
त्रिवर्णाः शामरूक्षान्तास्तथा भास्मरुणप्रभाः ॥ ५ ॥

चन्द्र और सूर्य मण्डलके चारों ओर श्याम, अरुण और भस्म सदृश तीन रंगोंके भयानक घेरे दीखते थे ॥ ५ ॥

एते चान्ये च बहव उत्पाता भयशंसिनः ।
दृश्यन्तेऽहरहो राजन्हृदयोद्वेगकारकाः ॥ ६ ॥

हे महाराज ! हृदयको व्याकुल करनेवाले तथा भयसूचक इस ही प्रकार और भी अनेक उत्पात प्रतिदिन दीखायी देते थे ॥ ६ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
शुश्राव वृष्णिचक्रस्य मौसले कदनं कृतम् ॥ ७ ॥

किसी दिन कुरुराज युधिष्ठिरने सुना, कि वृष्णिवंशीय लोग सब कोई मुसलयुद्धमें बिनष्ट हुए हैं ॥ ७ ॥

विमुक्तं वासुदेवं च श्रुत्वा रामं च पाण्डवः ।
समानीयाब्रवीद्भ्रातॄन्किं करिष्याम इत्युत ॥ ८ ॥

और केवल भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम उस बिनाशसे बचे हैं । पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने यह बात सुनते ही भाइयोंको बुलाकर पूछा— हम लोगोंको इस समय क्या करना चाहिये ? ॥ ८ ॥

परस्परं समासाद्य ब्रह्मदण्डबलात्कृतान् ।
वृष्णीन्विनष्टांस्ते श्रुत्वा व्यथिताः पाण्डवाभवन् ॥ ९ ॥

ब्राह्मणोंके शापके बलसे पराधीन हो वृष्णिवंशीय लोग परस्पर युद्ध करके सब कोई विनष्ट हुए हैं, उसे सुनके पाण्डुके पुत्र अत्यन्त व्यथित हुए ॥ ९ ॥

निधनं वासुदेवस्य समुद्रस्येव शोषणम् ।
वीरा न श्रद्दधुस्तस्य विनाशं शार्ङ्गधन्वनः ॥ १० ॥

परन्तु समुद्र सूखनेकी भांति श्रीकृष्णका वध असम्भव समझके उन वीरोंने भगवान् श्रीकृष्णके बिनाशकी बातपर विश्वास नहीं रखा ॥ १० ॥

मौसलं ते परिश्रुत्य दुःखशोकसमन्विताः ।
विषण्णा हतसङ्कल्पाः पाण्डवाः समुपाविशन् ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ १७ ॥

अनन्तर मौसलयुद्धविषयक सब संवाद सुनके सब पाण्डव दुःख तथा शोकसे अभिभूत, विषण्ण तथा हतसङ्कल्प होकर बैठ गये ॥ ११ ॥

महाभारतके मौसलपर्वमें पहला अध्याय समाप्त ॥ १ ॥ १७ ॥

: २ :

जनमेजय उवाच—

कथं विनष्टा भगवन्नन्धका वृष्णिभिः सह ।
पश्यतो वासुदेवस्य भोजाश्चैव महारथाः ॥ १ ॥

जनमेजय बोले— हे भगवन् ! वृष्णियोंसहित अन्धक और महारथी भोजवंशीगण श्रीकृष्णके देखते देखते किस प्रकार विनष्ट हुए ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच—

षट्त्रिंशेऽथ ततो वर्षे वृष्णीनामनयो महान् ।
अन्योन्यं मुसलैस्ते तु निजघ्नुः कालचोदिताः ॥ २ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— युधिष्ठिरको राज्य मिलनेपर छत्तीसवें वर्षमें वृष्णिवंशियोंके बीच बहुत ही दुर्नीति उपस्थित होनेसे, वे लोग परस्पर झगडने लगे; फिर कालसे प्रेरित होकर उन्होंने मुसलोंके द्वारा परस्परको मार डाला ॥ २ ॥

जनमेजय उवाच—

केनानुशप्तास्ते वीराः क्षयं वृष्ण्यन्धका ययुः ।
भोजाश्च द्विजवर्य त्वं विस्तरेण वदस्व मे ॥ ३ ॥

जनमेजय बोले— हे द्विजश्रेष्ठ ! वृष्णि, अन्धक और भोजवंशीय लोगोंका किसके शापसे इस प्रकार नाश हुआ ? आप वह सब मेरे निकट बिस्तारपूर्वक कहिये ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

विश्वामित्रं च कण्वं च नारदं च तपोधनम् ।
सारणप्रमुखा वीरा ददृशुर्द्वारकागतान् ॥ ४ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— एक समय सारण प्रभृति वीरगणोंने बिश्वामित्र, कण्व और तपोधन नारद मुनिको द्वारका नगरीमें आये देखा ॥ ४ ॥

×

ते वै साम्बं पुरस्कृत्य भूषयित्वा स्त्रियं यथा ।
अब्रुवन्नुपसंगम्य दैवदण्डनिपीडिताः ॥ ५ ॥

वे साम्बको स्त्रीकी भांति विभूषित करके मानो कालप्रेरित होके ही ऋषियोंके निकट जाकर बोले ॥ ५ ॥

इयं स्त्री पुत्रकामस्य बभ्रोरमिततेजसः ।
ऋषयः साधु जानीत किमियं जनयिष्यति ॥ ६ ॥

" हे ब्रह्मर्षिगण ! पुत्राभिलाषी अमिततेजस्वी यह बभ्रुकी भार्या क्या प्रसव करेगी, उसे आप लोग उत्तम रीतिसे जानते होंगे " ॥ ६ ॥

इत्युक्तास्ते तदा राजन्विप्रलम्भप्रधर्षिताः ।
प्रत्यब्रुवंस्तान्मुनयो यत्तच्छृणु नराधिप ॥ ७ ॥

हे महाराज ! यह कहकर जब वृष्णिवंशियोंने ऋषियोंको ठगाया और उनका तिरस्कार किया, तब उन्होंने उनको जो प्रत्युत्तर दिया, उसे सुनिये ॥ ७ ॥

वृष्ण्यन्धकविनाशाय मुसलं घोरमायसम् ।
वासुदेवस्य दायादः साम्बोऽयं जनयिष्यति ॥ ८ ॥

उन लोगोंने कहा, यह श्रीकृष्णका पुत्र सांब वृष्णि और अन्धकोंके विनाशके निमित्त एक घोर लोहेका मुसल उत्पन्न करेगा ॥ ८ ॥

येन यूयं सुदुर्वृत्ता नृशंसा जातमन्यवः ।
उच्छेत्तारः कुलं कृत्स्नमृते रामजनार्दनौ ॥ ९ ॥

तुम लोग अत्यन्त दुर्वृत्त, गर्वित और नृशंस हुए हो; इसलिये तुम लोग उसीसे ही बलराम और श्रीकृष्णको छोडके सारा यदुकुल विनष्ट कर डालोगे ॥ ९ ॥

समुद्रं यास्यति श्रीमांस्त्यक्त्वा देहं हलायुधः ।
जरा कृष्णं महात्मानं शयानं भुवि भेत्स्यति ॥ १० ॥

श्रीमान् हलधर बलराम समुद्रमें प्रवेश करके शरीर छोडेंगे और जरा नामक कोई व्याध पृथ्वीपर सोये हुए महात्मा श्रीकृष्णको बाणोंसे विद्ध करेगा ॥ १० ॥

इत्यब्रुवन्त ते राजन्प्रलब्धास्तैर्दुरात्मभिः ।
मुनयः क्रोधरक्ताक्षाः समीक्ष्याथ परस्परम् ॥ ११ ॥

हे नरनाथ ! दुःस्वभाव यादवोंके द्वारा प्रतारित वे मुनिगण क्रोधसे लाल नेत्र करके परस्पर एक दूसरेको अवलोकन करते हुए इस प्रकार बोले ॥ ११ ॥

तथोक्त्वा मुनयस्ते तु ततः केशवमभ्ययुः ॥ १२ ॥

ऐसा कहकर वे मुनि भगवान् श्रीकृष्णके पास गये ॥ १२ ॥

अथाब्रवीत्तदा वृष्णीञ्श्रुत्वैवं मधुसूदनः ।
अन्तज्ञो मतिमांस्तस्य भवितव्यं तथेति तान् ॥ १३ ॥

अनागत विषयोंके जाननेवाले बुद्धिमान् मधुसूदन भी यह सब वृत्तान्त सुनके वृष्णिवंशियोंसे बोले, कि मुनियोंने जैसा कहा है, वैसाही होगा ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा हृषीकेशः प्रविवेश पुनर्गृहान् ।
कृतान्तमन्यथा नैच्छत्कर्तुं स जगतः प्रभुः ॥ १४ ॥

अनन्तर उस जगत्प्रभु हृषीकेशने ऐसा कहकर, जो कालवशसे हुआ है, उसे अन्यथा करनेमें अनभिलाषी होकर गृहोंके बीच पुनः प्रवेश किया ॥ १४ ॥

श्वोभूतेऽथ ततः साम्बो मुसलं तदसूत वै ।
वृष्ण्यन्धकविनाशाय किङ्करप्रतिमं महत् ॥ १५ ॥

दूसरे दिन सबेरे सांबने उस मुसलको जन्म दिया । वृष्णि और अन्धकोंका विनाश करनेके लिये वह महान् यमदूतके समान ही था ॥ १५ ॥

प्रसूतं शापजं घोरं तच्च राज्ञे न्यवेदयन् ।
विषण्णरूपस्तद्राजा सूक्ष्मं चूर्णमकारयत् ॥ १६ ॥

तिसके अनन्तर मुनि शापके प्रभावसे सांबके द्वारा प्रसव हुए उस यमदूत सदृश महत् घोर मुसलका विषय राजा उग्रसेनके समीप सुनानेपर उन्होंने उद्विग्न– दुःखी होकर, उसका उत्तम बारीक चूर्ण कराया ॥ १६ ॥

प्राक्षिपन्सागरे तच्च पुरुषा राजशासनात् ।
अघोषयंश्च नगरे वचनादाहुकस्य च ॥ १७ ॥

और राजाकी आज्ञासे उनके सेवकोंने वह चूर्ण समुद्रमें फेंक दिया; फिर उन्होंने आहुकके आदेशसे नगरमें इस प्रकार ढिंढोरा दिलाया ॥ १७ ॥

अद्य प्रभृति सर्वेषु वृष्ण्यन्धकगृहेष्विह ।
सुरासवो न कर्तव्यः सर्वैर्नगरवासिभिः ॥ १८ ॥

आजसे समस्त नगरवासी वृष्णि और अन्धकवंशियोंके घरोंमें कोई भी मद्य तैयार न करें ॥ १८ ॥

यश्च नोऽविदितं कुर्यात्पेयं कश्चिन्नरः क्वचित् ।
जीवन्स शूलमारोहेत्स्वयं कृत्वा सबान्धवः ॥ १९ ॥

यदि कोई मनुष्य कहीं भी हम लोगोंसे छिपकर मादक पेय तैयार करेगा, वह स्वयं अपराध करके अपने बांधवोंके सहित जीवित अवस्थामें शूलीपर चढा दिया जायगा ॥ १९ ॥

ततो राजभयात्सर्वे नियमं चक्रिरे तदा ।
नराः शासनमाज्ञाय तस्य राज्ञो महात्मनः ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ ३१ ॥

द्वारकावासी लोगोंने उस महात्मा राजाकी ऐसी आज्ञा सुनके राजभयसे "हम लोग अब मद्य न बनायेंगे न पीयेंगे" इसही प्रकार नियम स्थापित किया ॥ २० ॥

महाभारतके मौसलपर्वमें दूसरा अध्याय समाप्त ॥ २ ॥ ३१ ॥

: ३ :

वैशम्पायन उवाच—

एवं प्रयतमानानां वृष्णीनामन्धकैः सह ।
कालो गृहाणि सर्वेषां परिचक्राम नित्यशः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— अन्धक लोगोंके सहित वृष्णिवंशियोंके इस प्रकार सावधान होकर प्रयत्न करनेपर भी, कालपुरुष सदा प्रतिदिन उन लोगोंके गृहोंमें घूमने लगा ॥ १ ॥

करालो विकटो मुण्डः पुरुषः कृष्णपिङ्गलः ।
गृहाण्यवेक्ष्य वृष्णीनां नादृश्यत पुनः क्वचित् ॥ २ ॥

वह सिरमुंडे कराल वदन विकट दर्शन काले और पीले रंगका कालपुरुष वार्ष्णेय लोगोंके गृहोंमें प्रवेश करके सबको देखता, फिर कभी अदृश्य हो जाता था ॥ २ ॥

उत्पेदिरे महावाता दारुणाश्च दिने दिने ।
वृष्ण्यन्धकविनाशाय बहवो रोमहर्षणाः ॥ ३ ॥

उस समय प्रतिदिन वृष्णि और अन्धकवंशियोंके विनाश सूचक प्रबलतर दारुण रोंगटे खडे कर देनेवाली आंधी उठने लगी ॥ ३ ॥

विवृद्धमूषका रथ्या विभिन्नमणिकास्तथा ।
चीचीकूचीति वाश्यन्त्यः सारिका वृष्णिवेश्मसु ।
नोपशाम्यति शब्दश्च स दिवारात्रमेव हि ॥ ४ ॥

सडकोंपर चूहे बढ गये, वे मिट्टीके बर्तनोंमें छेद करते थे; वार्ष्णेय लोगोंके गृहोंमें स्थित सारिकासमूह चीचीकुची प्रभृति बोली बोलने लगीं और वह शब्द दिनरातके बीच एक बार भी बन्द न हुआ ॥ ४ ॥

अनुकुर्वन्नुलूकानां सारसा विरुतं तथा ।
अजाः शिवानां च रुतमन्वकुर्वत भारत ॥ ५ ॥

हे भारत ! उस समय सारसवृन्द उल्लुओं और बकरे सियारोंके शब्दका अनुकरण करने लगे ॥ ५ ॥

पाण्डुरा रक्तपादाश्च विहगाः कालचोदिताः ।
वृष्ण्यन्धकानां गेहेषु कपोता व्यचरंस्तदा ॥ ६ ॥

पाण्डुरवर्ण और लाल पैरोंवाले कबूतर आदि पक्षिवृन्द मानो कालसे प्रेरित होके ही वृष्णि और अन्धकगणोंके गृहोंमें विचरने लगे ॥ ६ ॥

व्यजायन्त खरा गोषु करभाश्वतरीषु च ।
शुनीष्वपि बिडालाश्च मूषका नकुलीषु च ॥ ७ ॥

गो-योनिमें गर्दभ, खच्चरियोंसे हाथी, कुतियोंसे बिडाल और नेवलियोंके गर्भसे चूहे उत्पन्न होने लगे ॥ ७ ॥

नापत्रपन्त पापानि कुर्वन्तो वृष्णयस्तदा ।
प्राद्विषन्ब्राह्मणांश्चापि पितॄन्देवांस्तथैव च ॥ ८ ॥

उस समय वार्ष्णेयगण पापकार्य करके भी लज्जा नहीं करते थे और उन्होंने देवता, ब्राह्मण तथा पितरोंका द्वेष करना आरम्भ किया ॥ ८ ॥

गुरूंश्चाप्यवमन्यन्त न तु रामजनार्दनौ ।
पत्न्यः पतीन्व्युच्चरन्त पत्नीश्च पतयस्तथा ॥ ९ ॥

बलराम और श्रीकृष्णके अतिरिक्त प्रायः सब यदुवंशी लोग गुरुजनोंकी अवमानना करनेमें प्रवृत्त हुए, पत्नियां पतियोंकी और पति पत्नियोंकी वञ्चना करने लगे ॥ ९ ॥

विभावसुः प्रज्वलितो वामं विपरिवर्तते ।
नीललोहितमाञ्जिष्ठा विसृजन्नर्चिषः पृथक् ॥ १० ॥

अग्नि लाल नीली और मञ्जिष्ठावर्ण पृथक् पृथक् शिखाओंके सहित वामावर्तमें प्रज्वलित होने लगी ॥ १० ॥

उदयास्तमने नित्यं पुर्यां तस्यां दिवाकरः ।
व्यदृश्यतासकृत्पुंभिः कबन्धैः परिवारितः ॥ ११ ॥

उस नगरीमें रहनेवाले लोगोंको उदय और अस्तके समय सूर्य बार बार कबन्ध पुरुषोंसे घिरा हुआ दिखाई देने लगा ॥ ११ ॥

महानसेषु सिद्धेऽन्ने संस्कृतेऽतीव भारत ।
आहार्यमाणे कृमयो व्यदृश्यन्त नराधिप ॥ १२ ॥

हे भारत ! पाकशालामें अच्छी तरह तैयार की तथा उत्तम संस्कारयुक्त अन्नादि भोजनकी वस्तुओंमें कृमि दिखाई देने लगे ॥ १२ ॥

पुण्याहे वाच्यमाने तु जपत्सु च महात्मसु ।
अभिधावन्तः श्रूयन्ते न चादृश्यत कश्चन ॥ १३ ॥

महात्मा लोग जिस समय पुण्याहवाचन तथा जपादिमें रत होते थे, तब कुछ लोगोंके दौडनेकी आवाज सुनायी देती थी, परंतु किसीको देख न सकते थे ॥ १३ ॥

परस्परं च नक्षत्रं हन्यमानं पुनः पुनः ।
ग्रहैरपश्यन्सर्वे ते नात्मनस्तु कथंचन ॥ १४ ॥

सब यादव लोग नक्षत्र परस्पर और ग्रहोंके साथ बार बार टकराये जाते देखने लगे, परन्तु किसीने भी अपने नक्षत्रको किसी तरह न देखा ॥ १४ ॥

नदन्तं पाञ्चजन्यं च वृष्ण्यन्धकनिवेशने ।
समन्तात्प्रत्यवाश्यन्त रासभा दारुणस्वराः ॥ १५ ॥

वृष्णि और अन्धकवंशियोंके गृहमें पाञ्चजन्य सङ्खके शब्दके समयमें दारुण स्वरसे गधोंका शब्द होने लगा ॥ १५ ॥

एवं पश्यन्हृषीकेशः संप्राप्तं कालपर्ययम् ।
त्रयोदश्याममावास्यां तान्दृष्ट्वा प्राब्रवीदिदम् ॥ १६ ॥

उस समय हृषीकेशने त्रयोदशीमें अमावास्या अर्थात् कृष्णपक्षको त्रयोदश दिवसात्मकादि रूप कालका उलटफेर प्राप्त हुआ देखकर सब यादवोंसे कहा ॥ १६ ॥

चतुर्दशी पञ्चदशी कृतेयं राहुणा पुनः ।
तदा च भारते युद्धे प्राप्ता चाद्य क्षयाय नः ॥ १७ ॥

'यह देखो, महाभारतयुद्धके समय जिस प्रकार योग था, उस ही भांति हम लोगोंके विनाशके निमित्त ही आज फिर राहुने चतुर्दशीको ही अमावास्या बना दिया है ॥ १७ ॥

विमृशन्नेव कालं तं परिचिन्त्य जनार्दनः ।
मेने प्राप्तं स षट्त्रिंशं वर्षं वै केशिसूदनः ॥ १८ ॥

इस प्रकार समयका विचार करते हुए केशिनिसूदन जनार्दनने क्षणभर विशेष प्रकार सोचा, तब महाभारत युद्धके बाद यह छत्तीसवां वर्ष उपस्थित हुआ है, यह उन्हें मालूम हुआ ॥ १८ ॥

पुत्रशोकाभिसंतप्ता गान्धारी हतबान्धवा ।
यदनुव्याजहारार्ता तदिदं समुपागतम् ॥ १९ ॥

वे बोले– 'हतबान्धवा गान्धारीने पुत्रशोकसे सन्तापित होके आर्तभावसे जो हमारे लिये शाप दिया था, उसके सफल होनेका समय आ गया है' ॥ १९ ॥

इदं च तदनुप्राप्तमब्रवीद्यद्युधिष्ठिरः ।
पुरा व्यूढेष्वनीकेषु दृष्ट्वोत्पातान्सुदारुणान् ॥ २० ॥

इसके अतिरिक्त पहले सब सेनाओंकी व्यूहरचना होनेपर महाराज युधिष्ठिरने निदारुण उत्पातोंको देखकर जो आशङ्का की थी, इस समय भी वही लक्षण उपस्थित हुआ है ॥ २० ॥

इत्युक्त्वा वासुदेवस्तु चिकीर्षन्सत्यमेव तत् ।
आज्ञापयामास तदा तीर्थयात्रामरिंदम ॥ २१ ॥

हे अरिन्दम ! भगवान् श्रीकृष्णने इतनी बात कहके ही उस दैवकृत दुर्निमित्तोंको सत्य करनेकी अभिलाषासे ही यादवोंको उस समय तीर्थयात्राके लिये आज्ञा की ॥ २२ ॥

अघोषयन्त पुरुषास्तत्र केशवशासनात् ।
तीर्थयात्रा समुद्रे वः कार्येति पुरुषर्षभाः ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ ५३ ॥

तब भगवान् श्रीकृष्ण केशवकी आज्ञानुसार पुरुषवृन्द नगरके बीच इस प्रकार ढिंढोरा देने लगे, कि हे पुरुषपुङ्गवगण ! आप सब लोगोंको समुद्रमेंही तीर्थयात्राके लिये चलना चाहिये ॥ २२ ॥

महाभारतके मौसलपर्वमें तीसरा अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥ ५३ ॥

: ४ :

वैशम्पायन उवाच—
काली स्त्री पाण्डुरैर्दन्तैः प्रविश्य हसती निशि ।
स्त्रियः स्वप्नेषु मुष्णन्ती द्वारकां परिधावति ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— द्वारकाके लोग स्वप्नोंमें देखने लगे कि काले रंगकी स्त्री रात्रिके समय सफेद दांत निकालके हंसते हंसते गृहोंमें प्रवेश कर अपनी स्त्रियोंके मङ्गलसूत्रादि हरती हुई द्वारका नगरमें सर्वत्र घूमने लगी है ॥ १ ॥

अलंकाराश्च छत्रं च ध्वजाश्च कवचानि च ।
ह्रियमाणान्यदृश्यन्त रक्षोभिः सुभयानकैः ॥ २ ॥

अत्यंत भयानक निशाचरोंके द्वारा उनके अलङ्कार, छत्र, ध्वजा और कवच अपहृत होते हैं, यह वे स्वप्नोंमें देखते थे ॥ २ ॥

तच्चाग्निदत्तं कृष्णस्य वज्रनाभमयस्मयम् ।
दिवमाचक्रमे चक्रं वृष्णीनां पश्यतां तदा ॥ ३ ॥

पहले अग्निने जो लोहमय वज्रनाभ चक्र प्रदान किया था, वार्ष्णेय लोगोंके सामनेही वह श्रीकृष्णका चक्र दिव्य लोकमें चला गया ॥ ३ ॥

युक्तं रथं दिव्यमादित्यवर्णं हयाहरन्पश्यतो दारुकस्य ।
ते सागरस्योपरिष्टादवर्तन्मनोजवाश्चतुरो वाजिमुख्याः ॥ ४ ॥

दारुकके देखते ही उसके मनके समान वेगशाली घोडे भगवान्के उस जुते हुए आदित्यवर्ण दिव्य रथको हरण करके समुद्रके जलके ऊपरसे ही चले गये ॥ ४ ॥

तालः सुपर्णश्च महाध्वजौ तौ सुपूजितौ रामजनार्दनाभ्याम् ।
उच्चैर्जह्रुरप्सरसो दिवानिशं वाचश्चोचुर्गम्यतां तीर्थयात्रा ॥ ५ ॥

बलराम और श्रीकृष्ण ताल तथा गरुड चिह्नसे युक्त जिन दो महाध्वजाओंकी सदा पूजा करते थे, उन दोनोंको अप्सराएं ऊंचे उठा ले गयीं और लोगोंसे दिनरात ऐसा कहने लगीं कि ' तुम लोग तीर्थयात्रा करो ' ॥ ५ ॥

ततो जिगमिषन्तस्ते वृष्ण्यन्धकमहारथाः ।
सान्तःपुरास्तदा तीर्थयात्रामैच्छन्नरर्षभाः ॥ ६ ॥

अनन्तर वृष्णि और अन्धकवंशीय महारथी मनुजपुङ्गवगण अपनी स्त्रियोंके सहित तीर्थयात्रा करनेके लिये अभिलाषी हुए; वे द्वारका छोडकर अन्यत्र जानेकी इच्छा करने लगे ॥ ६ ॥

ततो भोज्यं च भक्ष्यं च पेयं चान्धकवृष्णयः ।
बहु नानाविधं चक्रुर्मद्यं मांसमनेकशः ॥ ७ ॥

उस समय उन अन्धक और वृष्णियोंने अनेक प्रकारके भक्ष्य, भोज्य, पेय, मद्य और मांस तैयार कराये ॥ ७ ॥

ततः सीधुषु सक्ताश्च निर्ययुर्नगराद्बहिः ।
यानैरश्वैर्गजैश्चैव श्रीमन्तस्तिग्मतेजसः ॥ ८ ॥

अनन्तर मद्य पीकर मत्त हुए वे उग्र पराक्रमी समुज्ज्वल लोग घोडे, हाथी और यानोंमें चढके नगरसे बाहिर हुए ॥ ८ ॥

ततः प्रभासे न्यवसन्यथोद्देशं यथागृहम् ।
प्रभूतभक्ष्यपेयास्ते सदारा यादवास्तदा ॥ ९ ॥

इस ही प्रकार वे स्त्रियों सहित यदुबंशी लोग बहुतसी पीने तथा खानेकी वस्तुओंके सहित प्रभास तीर्थमें जाकर इच्छानुसार अनुकूल घरोंमें ठहर गये ॥ ९ ॥

निविष्टांस्तान्निशम्याथ समुद्रान्ते स योगवित् ।
जगामामन्त्र्य तान्वीरानुद्धवोऽर्थविशारदः ॥ १० ॥

उस समय मोक्षज्ञान बिशारद योगवेत्ता उद्धवने उन लोगोंको उस समुद्रके तटपर निवास करते देखके, उन बीरोंको पूछकर प्रस्थान किया ॥ १० ॥

तं प्रस्थितं महात्मानमभिवाद्य कृताञ्जलिम् ।
जानन्विनाशं वृष्णीनां नैच्छद्वारयितुं हरिः ॥ ११ ॥

उस महात्माके हाथ जोडकर प्रणाम करते हुए प्रस्थित होनेपर भी भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें निवारण करनेकी चेष्टा नहीं की, क्योंकि वृष्णिवंशियोंके नष्ट होनेका विषय वह पहलेसे ही जानते थे ॥ ११ ॥

ततः कालपरीतास्ते वृष्ण्यन्धकमहारथाः ।
अपश्यन्नुद्धवं यान्तं तेजसावृत्य रोदसी ॥ १२ ॥

कालके वशमें हुए वृष्णि तथा अन्धकवंशीय महारथोंने इतना ही देखा, कि उद्धव निज तेजके सहारे पृथ्वीतल और आकाशको परिपूरित करते हुए जा रहे हैं ॥ १२ ॥

ब्राह्मणार्थेषु यत्सिद्धमन्नं तेषां महात्मनाम् ।
तद्वानरेभ्यः प्रददुः सुरागन्धसमन्वितम् ॥ १३ ॥

ब्राह्मणोंके निमित्त जो सब अन्न उन महात्मा यादवोंके यहां पकाया गया था, उन लोगोंने उसमें मद्य मिलाकर उसकी गन्धसे युक्त वह सब अन्न बानरोंको प्रदान किया ॥ १३ ॥

ततस्तूर्यशताकीर्णं नटनर्तकसंकुलम् ।
प्रावर्तत महापानं प्रभासे तिग्मतेजसाम् ॥ १४ ॥

इस ही प्रकार उद्धवके चले जानेपर उस प्रभासतीर्थमें उग्रवीर्य यादवोंके सैकडों तूर्यशब्द तथा नटनर्तकोंके गीतादियुक्त नृत्य होने लगे; और महापान आरम्भ हुआ ॥ १४ ॥

कृष्णस्य संनिधौ रामः सहितः कृतवर्मणा ।
अपिबद्युयुधानश्च गदो बभ्रुस्तथैव च ॥ १५ ॥

कृतवर्मा सहित बलराम, सात्यकि, गद और बभ्रु प्रभृति वीरगण श्रीकृष्णके पास ही मद्य पीने लगे ॥ १५ ॥

ततः परिषदो मध्ये युयुधानो मदोत्कटः ।
अब्रवीत्कृतवर्माणमवहस्यावमन्य च ॥ १६ ॥

इतने ही समयमें सात्यकि मतवाला होकर सभाके बीच कृतवर्माका उपहास और अवमानना करते हुए बोला ॥ १६ ॥

कः क्षत्रियो मन्यमानः सुप्तान्हन्यान्मृतानिव ।
न तन्मृष्यन्ति हार्दिक्य यादवा यत्त्वया कृतम् ॥ १७ ॥

हे हार्दिक्य ! कौन विचारशील पुरुष क्षत्रियकुलमें जन्म लेकर मृतकसदृश सोते हुए लोगोंका वध किया करता है ? तुमने जो कार्य किया है, यदुवंशी लोग उसे कदापि न सहेंगे ॥ १७ ॥

×

इत्युक्ते युयुधानेन पूजयामास तद्वचः ।
प्रद्युम्नो रथिनां श्रेष्ठो हार्दिक्यमवमन्य च ॥ १८ ॥

सात्यकिने जब ऐसा कहा, तब रथियोंमें श्रेष्ठ प्रद्युम्नने कृतवर्माका तिरस्कार करते हुए सात्यकिके कहे हुए बचनकी बहुत ही प्रशंसा की ॥ १८ ॥

ततः परमसंक्रुद्धः कृतवर्मा तमब्रवीत् ।
निर्दिशन्निव सावज्ञं तदा सव्येन पाणिना ॥ १९ ॥

उसे सुनकर कृतबर्मा अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और बायां हाथ अवज्ञासे दिखाके बोला ॥ १९ ॥

भूरिश्रवाश्छिन्नबाहुर्युद्धे प्रायगतस्त्वया ।
वधेन सुनृशंसेन कथं वीरेण पातितः ॥ २० ॥

रणमें भुजा कट जाने पर जब भूरिश्रवा योगयुक्त होकर बैठा था, तब तुमने वीर होकर किस प्रकार नृशंसकी भांति वध करते हुए उसे रणके बीच गिराया था ? ॥ २० ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा केशवः परवीरहा ।
तिर्यक्सरोषया दृष्ट्या वीक्षांचक्रे स मन्युमान् ॥ २१ ॥

उसकी इतनी बात सुनके शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले केशव बहुत ही क्रुद्ध हुए और क्रोधपूर्वक तिरछे नेत्रसे उसे देखने लगे ॥ २१ ॥

मणिः स्यमन्तकश्चैव यः स सत्राजितोऽभवत् ।
तां कथां स्मारयामास सात्यकिर्मधुसूदनम् ॥ २२ ॥

उस समय सात्यकिने सत्राजितकी स्यमन्तक मणिसम्बन्धीय सब कथा मधुसूदनको सुनायी ॥ २२ ॥

तच्छ्रुत्वा केशवस्याङ्कमगमद्रुदती तदा ।
सत्यभामा प्रकुपिता कोपयन्ती जनार्दनम् ॥ २३ ॥

उसे सुनके सत्यभामा क्रुद्ध होकर जनार्दन केशवके क्रोधको उद्दीपित करनेके निमित्त रोती हुई उनकी गोदीमें गिरी ॥ २३ ॥

तत उत्थाय सक्रोधः सात्यकिर्वाक्यमब्रवीत् ।
पञ्चानां द्रौपदेयानां धृष्टद्युम्नशिखण्डिनोः ॥ २४ ॥

अनन्तर सात्यकि क्रोधपूर्वक उठके बोला— हे सुमध्यमे ! मैं द्रौपदीके पांचों पुत्र, धृष्टद्युम्न और शिखण्डीके ॥ २४ ॥

एष गच्छामि पदवीं सत्येन च तथा शपे ।
सौप्तिके ये च निहताः सुप्तानेन दुरात्मना ॥ २५ ॥

मार्गका अनुसरण करता हूं और सत्यकी शपथ लेकर कहता हूं कि जिस दुरात्माने रातमें सोते समय उन वीरोंका बध किया था ॥ २५ ॥

द्रोणपुत्रसहायेन पापेन कृतवर्मणा ।
समाप्तमायुरस्याद्य यशश्चापि सुमध्यमे ॥ २६ ॥

और जिस पापी कृतवर्माने द्रोणपुत्रकी सहायता की थी, आज उसका यश तथा आयुका भी अन्त हो गया ॥ २६ ॥

इतीदमुक्त्वा खड्गेन केशवस्य समीपतः ।
अभिद्रुत्य शिरः क्रुद्धश्चिच्छेद कृतवर्मणः ॥ २७ ॥

सात्यकिने इतनी बात कहके ही श्रीकृष्णके पाससे क्रोधपूर्वक दौडकर तलवारसे कृतवर्माका सिर काटा ॥ २७ ॥

तथान्यानपि निघ्नन्तं युयुधानं समन्ततः ।
अभ्यधावद्धृषीकेशो विनिवारयिषुस्तदा ॥ २८ ॥

और फिर वह दूसरे लोगोंका भी चारों ओर घूमकर वध करने लगे; तब श्रीकृष्ण उसे निवारण करनेकी इच्छा करके आगे बढे ॥ २८ ॥

एकीभूतास्ततः सर्वे कालपर्यायचोदिताः ।
भोजान्धका महाराज शैनेयं पर्यवारयन् ॥ २९ ॥

महाराज ! इतनेही समयमें भोज और अन्धकवंशियोंने कालकी प्रेरणासे एकत्रित होकर शिनिनन्दनको सब ओरसे घेर लिया ॥ २९ ॥

तान्दृष्ट्वा पततस्तूर्णमभिक्रुद्धाञ्जनार्दनः ।
न चुक्रोध महातेजा जानन्कालस्य पर्ययम् ॥ ३० ॥

परन्तु महातेजस्वी श्रीकृष्ण उस लोगोंको क्रोधपूर्वक शीघ्रतासे धावा करते देखकर भी क्रुद्ध न हुए; क्योंकि वे कालविपर्ययके विषय पहलेसे ही जानते थे ॥ ३० ॥

ते तु पानमदाविष्टाश्चोदिताश्चैव मन्युना ।
युयुधानमथाभ्यघ्नन्नुच्छिष्टैर्भाजनैस्तदा ॥ ३१ ॥

अनन्तर वे मदिरापानसे मदमत्त वीरगण क्रोधित होके ही जूठे बरतनोंसे सात्यकिको मारने लगे ॥ ३१ ॥

हन्यमाने तु शैनेये क्रुद्धो रुक्मिणिनन्दनः ।
तदन्तरमुपाधावन्मोक्षयिष्यञ्शिनेः सुतम् ॥ ३२ ॥

उस समय रुक्मिणीपुत्र प्रद्युम्न सात्यकिको पीडित देखके उसकी रक्षा करनेके निमित्त क्रोधपूर्वक दौडे ॥ ३२ ॥

स भोजैः सह संयुक्तः सात्यकिश्चान्धकैः सह ।
बहुत्वान्निहतौ तत्र उभौ कृष्णस्य पश्यतः ॥ ३३ ॥

वह भोजगणोंके सङ्ग और सात्यकि अन्धकवंशियोंके सङ्ग युद्धमें प्रवृत्त हुए । वे दोनों वीर शत्रुओंकी संख्या बहुत होनेके कारण श्रीकृष्णके देखते ही मारे गये ॥ ३३ ॥

हतं दृष्ट्वा तु शैनेयं पुत्रं च यदुनन्दनः ।
एरकाणां तदा मुष्टिं कोपाज्जग्राह केशवः ॥ ३४ ॥

यदुनन्दन श्रीकृष्णने अपने पुत्र और शिनिनन्दनको मारा गया देखकर क्रोधपूर्वक एक मुट्ठी एरका (पटेर) ग्रहण किया ॥ ३४ ॥

तदभून्मुसलं घोरं वज्रकल्पमयोमयम् ।
जघान तेन कृष्णस्तान्येऽस्य प्रमुखतोऽभवन् ॥ ३५ ॥

वह घास वज्रसदृश भयंकर लोहेका मुसल होगया। अनन्तर जिसे सामने पाया, उस मुसलसे ही श्रीकृष्णने उन सबका नाश कर डाला ॥ ३५ ॥

ततोऽन्धकाश्च भोजाश्च शैनेया वृष्णयस्तथा ।
जघ्नुरन्योन्यमाक्रन्दे मुसलैः कालचोदिताः ॥ ३६ ॥

उसे देखकर कालप्रेरित अन्धक, भोज, शैनेय और वृष्णिवंशीयगण उस ही मुसलभूत एरका (पटेर) लेकर परस्परमें एक दूसरेका नाश करने लगे ॥ ३६ ॥

यस्तेषामेरकां कश्चिज्जग्राह रुषितो नृप ।
वज्रभूतेव सा राजन्नदृश्यत तदा विभो ॥ ३७ ॥

हे महाराज ! उस समय उन लोगोंके बीच जिस किसीने कुपित होकर एक भी एरका (पटेर) ग्रहण किया, तो वही वज्रकी भांति दिखायी देती थी ॥ ३७ ॥

तृणं च मुसलीभूतमपि तत्र व्यदृश्यत ।
ब्रह्मदण्डकृतं सर्वमिति तद्विद्धि पार्थिव ॥ ३८ ॥

राजन् ! एक तृण भी मूसल होकर दिखायी देता था; यह सब ब्राह्मणोंके शापका परिणाम जानो ॥ ३८ ॥

आविध्याविध्य ते राजन्प्रक्षिपन्ति स्म यत्तृणम् ।
तद्वज्रभूतं मुसलं व्यदृश्यत तदा दृढम् ॥ ३९ ॥

राजन् ! वे अविभाज्य वस्तुका भी भेदन कर किसी भी तृणका त्याग करते, तो वह वज्रमय मूसलके समान दृढ दिखायी देता था ॥ ३९ ॥

अवधीत्पितरं पुत्रः पिता पुत्रं च भारत ।
मत्ताः परिपतन्ति स्म पोथयन्तः परस्परम् ॥ ४० ॥

हे भारत ! वे लोग इस प्रकार मतवारे हुए थे, कि परस्परयुद्धमें प्रवृत्त होकर पिता पुत्रको और पुत्र पिताको मारके गिराने लगे ॥ ४० ॥

पतंगा इव चाग्नौ ते न्यपतन्कुकुरान्धकाः ।
नासीत्पलायने बुद्धिर्वध्यमानस्य कस्यचित् ॥ ४१ ॥

हे महाराज ! जैसे पतङ्ग अग्निमें जा पडते हैं वैसे ही वे कुकुर और अन्धकवंशीय लोग युद्धमें गिरने लगे; तथापि वहां मारेजानेवाले किसी योद्धाको भागनेकी इच्छा न हुई ॥ ४१ ॥

तं तु पश्यन्महाबाहुर्जानन्कालस्य पर्ययम् ।
मुसलं समवष्टभ्य तस्थौ स मधुसूदनः ॥ ४२ ॥

महाबाहु मधुसूदन कालके उलट फेरके विषयको जानते हुए वहां सब देखते रहे; और मूसलका सहारा लेकर खडे रहे ॥ ४२ ॥

साम्बं च निहतं दृष्ट्वा चारुदेष्णं च माधवः ।
प्रद्युम्नं चानिरुद्धं च ततश्चुक्रोध भारत ॥ ४३ ॥

भारत ! अपने पुत्र साम्ब, चारुदेष्ण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्धको भी मारा गया जब श्रीकृष्णने देखा, तब वे अत्यन्त क्रोधित हुए ॥ ४३ ॥

गदं वीक्ष्य शयानं च भृशं कोपसमन्वितः
स निःशेषं तदा चक्रे शार्ङ्गचक्रगदाधरः ॥ ४४ ॥

अपने छोटे भाई गदको पृथ्वीमें पडा हुआ देखकर वे अत्यन्त क्रोधित हुए और शार्ङ्गधनुष, चक्र और चक्रधारी श्रीकृष्णने यादवोंको निःशेष कर डाला ॥ ४४ ॥

तं निघ्नन्तं महातेजा बभ्रुः परपुरंजयः ।
दारुकश्चैव दाशार्हमूचतुर्यन्निबोध तत् ॥ ४५ ॥

तब परपुरविजयी महातेजस्वी बभ्रु और दारुकने उस समय संहार करते हुए श्रीकृष्णके समीप जाके जो कहा, उसे सुनिये ॥ ४५ ॥

भगवन्संहृतं सर्वं त्वया भूयिष्ठमच्युत ।
रामस्य पदमन्विच्छ तत्र गच्छाम यत्र सः ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ ९९ ॥

हे भगवन् ! अच्युत ! आपने अधिकांश सबका विनाश करके यदुकुलको निःशेष किया है; इस समय जिस स्थानमें बलराम निवास करते हैं, वहां चलिये; हम भी आपके अनुगामी होते हैं ॥ ४६ ॥

महाभारतके मौसलपर्वमें चौथा अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥ ९९ ॥

: ५ :

वैशम्पायन उवाच—

ततो ययुर्दारुकः केशवश्च बभ्रुश्च रामस्य पदं पतन्तः ।
अथापश्यन्राममनन्तवीर्यं वृक्षे स्थितं चिन्तयानं विविक्ते ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— अनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण दारुक और बभ्रुने शीघ्र ही बलरामके पदचिन्ह देखते हुए वहांसे चलकर अनन्तवीर्य बलरामके समीप जाके देखा कि वह निर्जन स्थानमें वृक्षके नीचे बैठके ध्यान कर रहे हैं ॥ १ ॥

ततः समासाद्य महानुभावः कृष्णस्तदा दारुकमन्वशासत् ।
गत्वा कुरूञ्शीघ्रमिमं महान्तं पार्थाय शंसस्व वधं यदूनाम् ॥ २ ॥

महानुभाव श्रीकृष्णने उनके पास जाकर दारुकको आज्ञा दी कि तुम शीघ्र कुरुदेशको जाकर अर्जुनके समीप यादवोंका यह दारुण महा विनाशका वृत्तांत कहो ॥ २ ॥

ततोऽर्जुनः क्षिप्रमिहोपयातु श्रुत्वा मृतान्यादवान्ब्रह्मशापात् ।
इत्येवमुक्तः स ययौ रथेन कुरूंस्तदा दारुको नष्टचेताः ॥ ३ ॥

और ब्रह्मशापजनित यादवोंकी मृत्युका समाचार सुनके अर्जुन शीघ्र इस स्थानमें आवें, उस विषयमें यत्नवान् होना । इतनी बात सुनके दारुक विकलचित्तसे रथपर चढके कुरुदेशको चला गया ॥ ३ ॥

ततो गते दारुके केशवोऽथ दृष्ट्वान्तिके बभ्रुमुवाच वाक्यम् ।
स्त्रियो भवान्रक्षतु यातु शीघ्रं नैता हिंस्युर्दस्यवो वित्तलोभात् ॥ ४ ॥

दारुकके जानेपर श्रीकृष्ण अपने निकट स्थित बभ्रुकी ओर देखकर बोले, आप शीघ्र द्वारका-नगरमें जाकर स्त्रियोंकी रक्षा करिये; जिससे डाकू लोग धनके लोभसे उनकी हिंसा न कर सकें ॥ ४ ॥

स प्रस्थितः केशवेनानुशिष्टो मदातुरो ज्ञातिवधार्दितश्च ।
तं वै यान्तं संनिधौ केशवस्य त्वरन्तमेकं सहसैव बभ्रुम् ।
ब्रह्मानुशप्तमवधीन्महद्वै कूटोन्मुक्तं मुसलं लुब्धकस्य ॥ ५ ॥

ज्ञातिवधसे दुःखी मदसे मतवारा बभ्रु अत्यन्त थके रहनेपर श्रीकृष्णके निकट बिश्राम कर रहे थे तो श्रीकृष्णकी ऐसी आज्ञा सुनके जाने लगे; इतने ही समयमें ब्रह्मशापवश किसी व्याधके एक कूटसंयुक्त दुरन्त मुसलने सहसा गिरके श्रीकृष्णके निकट ही उसका जीवन हर लिया ॥ ५ ॥

ततो दृष्ट्वा निहतं बभ्रुमाह कृष्णो वाक्यं भ्रातरमग्रजं तु ।
इहैव त्वं मां प्रतीक्षस्व राम यावत्स्त्रियो ज्ञातिवशाः करोमि ॥ ६ ॥
बभ्रुको मारा हुआ देखके उग्रतेजस्वी श्रीकृष्ण अपने अग्रज भ्राता रामसे बोले, जब तक मैं स्त्रियोंको स्वजनोंकी रक्षामें रखकर न लौटूं, तबतक आप इस ही स्थानमें मेरी प्रतीक्षा करिये ॥ ६ ॥

ततः पुरीं द्वारवतीं प्रविश्य जनार्दनः पितरं प्राह वाक्यम् ।
स्त्रियो भवान्रक्षतु नः समग्रा धनंजयस्यागमनं प्रतीक्षन् ।
रामो वनान्ते प्रतिपालयन्मामास्तेऽद्याहं तेन समागमिष्ये ॥ ७ ॥
जनार्दन इतनी बात कहके ही द्वारकानगरमें प्रवेश करके अपने पितासे बोले— आप अर्जुनके आगमनकी प्रतीक्षा करते हुए इन सब पुरनारियोंकी रक्षा करिये । बलराम वनके बीच मेरी प्रतीक्षा करते हुए बैठे हैं, इसलिये आज मैं शीघ्र जाके उनके संग मिलूंगा ॥ ७ ॥

दृष्टं मयेदं निधनं यदूनां राज्ञां च पूर्वं कुरुपुंगवानाम् ।
नाहं विना यदुभिर्यादवानां पुरीमिमां द्रष्टुमिहाद्य शक्तः ॥ ८ ॥
पहले कुरुकुलके श्रेष्ठ असंख्य राजाओंका मरना तथा इस समय यादवोंकी मृत्यु देखकर, इस यादव वीरोंके रहित यदुनगरीको देखनेमें आज मैं असमर्थ हूं ॥ ८ ॥

तपश्चरिष्यामि निबोध तन्मे रामेण सार्धं वनमभ्युपेत्य ।
इतीदमुक्त्वा शिरसास्य पादौ संस्पृश्य कृष्णस्त्वरितो जगाम ॥ ९ ॥
इसलिये अब मैंने ऐसा निश्चय किया है, कि बलरामके सहित बनवासी होकर शेष समय तपस्यामें व्यतीत करूंगा । श्रीकृष्ण इतनी बात कहके ही सिर झुका उनके दोनों चरणोंको छूके शीघ्रताके सहित वहांसे चले ॥ ९ ॥

ततो महान्निनदः प्रादुरासीत्सस्त्रीकुमारस्य पुरस्य तस्य ।
अथाब्रवीत्केशवः संनिवर्त्य शब्दं श्रुत्वा योषितां क्रोशतीनाम् ॥ १० ॥
तब पुरके बीच स्त्रियों और बालकोंके रोदनकी महान् ध्वनि सुनायी दी । रोनेवाली उन स्त्रियोंकी करुण आवाज सुनकर श्रीकृष्ण लौटकर, उन्हें बोले ॥ १० ॥

पुरीमिमामेष्यति सव्यसाची स वो दुःखान्मोचयिता नराग्र्यः ।
ततो गत्वा केशवस्तं ददर्श रामं वने स्थितमेकं विविक्ते ॥ ११ ॥
नरश्रेष्ठ अर्जुन इस द्वारकापुरीमें आके तुम लोगोंका दुःख दूर करेंगे । अनन्तर केशवने वनके बीच जाके देखा, कि बलराम निर्जन प्रदेशमें अकेले बैठे हैं ॥ ११ ॥

अथापश्यद्योगयुक्तस्य तस्य नागं मुखान्निःसरन्तं महान्तम् ।
श्वेतं ययौ स ततः प्रेक्ष्यमाणो महार्णवो येन महानुभावः ॥ १२ ॥
और योगयुक्त हो समाधि लगाये उनके मुखसे एक श्वेतवर्ण महानाग बाहिर आरहा है। वह महानुभाव नाग महासागर जिस ओर था, उसी मार्गसे जाता हुआ उन्होंने देखा ॥ १२ ॥

सहस्रशीर्षः पर्वताभोगवर्ष्मा रक्ताननः स्वां तनुं तां विमुच्य ।
सम्यक्च तं सागरः प्रत्यगृह्णान्नागा दिव्याः सरितश्चैव पुण्याः ॥ १३ ॥
उस नागने अपनी पार्थिव तनु परित्याग करके सहस्रशीर्ष पर्वतभोगसदृश लोहितवदन होकर समुद्रमें प्रवेश किया । उस समय स्वयं समुद्र, दिव्य नाग और पवित्र नदियोंने उसका सत्कार किया ॥ १३ ॥

कर्कोटको वासुकिस्तक्षकश्च पृथुश्रवा वरुणः कुञ्जरश्च ।
मिश्री शङ्खः कुमुदः पुण्डरीकस्तथा नागो धृतराष्ट्रो महात्मा ॥ १४ ॥
कर्कोटक, वासुकि, तक्षक, पृथुश्रवा, वरुण, कुञ्जर, मिश्री, शंख, कुमुद, पुण्डरीक, महात्मा धृतराष्ट्र ॥ १४ ॥

ह्रादः क्राथः शितिकण्ठोऽग्रतेजास्तथा नागौ चक्रमन्दातिषण्डौ ।
नागश्रेष्ठो दुर्मुखश्चाम्बरीषः स्वयं राजा वरुणश्चापि राजन् ।
प्रत्युद्गम्य स्वागतेनाभ्यनन्दंस्तेऽपूजयंश्चार्घ्यपाद्यक्रियाभिः ॥ १५ ॥
ह्राद, क्राथ, शितिकण्ठ, उग्रतेजा, चक्रमन्द, अतिषण्ड, नागश्रेष्ठ दुर्मुख और अम्बरीष प्रभृति श्रेष्ठ नागों तथा राजा वरुणने स्वयं उनका स्वागत किया । उन्होंने आगे बढकर उनको सम्मानित करके स्वागत–अभिनन्दन किया, तथा पाद्य अर्घ्य उपचारोंसे पूजा की ॥१५॥

ततो गते भ्रातरि वासुदेवो जानन्सर्वा गतयो दिव्यदृष्टिः ।
वने शून्ये विचरंश्चिन्तयानो भूमौ ततः संविवेशाग्र्यतेजाः ॥ १६ ॥
श्रेष्ठ दीप्तिवाले भ्राताको परमधाम गमन करते देखकर, दिव्यदर्शी कालकी सारी गतियोंको जाननेवाले श्रीकृष्ण निर्जन बनमें विचार करते हुए घूमते घूमते पृथ्वीपर बैठे ॥ १६ ॥

सर्वं हि तेन प्राक्तदा वित्तमासीद्गान्धार्या यद्वाक्यमुक्तः स पूर्वम् ।
दुर्वाससा पायसोच्छिष्टलिप्ते यच्चाप्युक्तं तच्च सस्मार कृष्णः ॥ १७ ॥
उस श्रीकृष्णने पहलेसे ही इन सब विषयोंको सोचा था, तथापि पहले गांधारीने जो वचन कहा था तथा जूठा पायस शरीरमें लेप करनेके समयमें दुर्वासाने जो कहा था, उसे भी उन्हें स्मरण हो आया ॥ १७ ॥

स चिन्तयानोऽन्धकवृष्णिनाशं कुरुक्षयं चैव महानुभावः ।
मेने ततः संक्रमणस्य कालं ततश्चकारेन्द्रियसंनिरोधम् ॥ १८ ॥

फिर उन महानुभाव श्रीकृष्णने कुरु, अन्धक और वृष्णिवंशियोंके मृत्युका विषय सोचके, उस समयको अपने परमधाम पधारनेका उपयुक्त काल समझके इन्द्रियोंको संयत किया ॥ १८ ॥

स संनिरुद्धेन्द्रियवाङ्मनास्तु शिश्ये महायोगमुपेत्य कृष्णः ।
जराथ तं देशमुपाजगाम लुब्धस्तदानीं मृगलिप्सुरुग्रः ॥ १९ ॥

फिर वे वाणी, मन प्रभृति इन्द्रियनिरोधरूपी महायोगका अवलम्बन करके सोये । इतने ही समयमें जरा नामक एक उग्रमूर्ति व्याध मृगयाभिलाषी होकर उस स्थानमें आया ॥ १९ ॥

स केशवं योगयुक्तं शयानं मृगाशङ्की लुब्धकः सायकेन ।
जराविध्यत्पादतले त्वरावांस्तं चाभितस्तज्जिघृक्षुर्जगाम ।
अथापश्यत्पुरुषं योगयुक्तं पीताम्बरं लुब्धकोऽनेकबाहुम् ॥ २० ॥

योगयुक्त सोये हुए श्रीकृष्णको ही मृगोंमें आसक्त हुए उस व्याधने मृग समझकर शीघ्र ही बाणसे उनके पैरके तलवेमें उन्हें विद्ध किया; फिर मृगको पकडनेकी इच्छासे निकट गया और समीप पहुंचके उस योगयुक्त पीताम्बरधारी चतुर्भुज पुरुषको देखा ॥ २० ॥

मत्वात्मानमपराद्धं स तस्य जग्राह पादौ शिरसा चार्तरूपः ।
आश्वासयत्तं महात्मा तदानीं गच्छन्नूर्ध्वं रोदसी व्याप्य लक्ष्म्या ॥२१॥

उस व्याधने अपनेको अपराध करनेवाला समझ अत्यंत दुःखित चित्तसे उनके दोनों चरण मस्तकपर धारण किये । उस समय महात्मा श्रीकृष्ण उसे आश्वासित करके निज तेजके सहारे आकाश और पृथ्वीको परिपूरित करते हुए ऊपरकी ओर (अपने परमधामको) चले गये ॥ २१ ॥

दिवं प्राप्तं वासवोऽथाश्विनौ च रुद्रादित्या वसवश्चाथ विश्वे ।
प्रत्युद्ययुर्मुनयश्चापि सिद्धा गन्धर्वमुख्याश्च सहाप्सरोभिः ॥ २२ ॥

उनके स्वर्गमें पहुंचनेपर इन्द्र, दोनों अश्विनीकुमार, रुद्र, आदित्य, वसु, विश्वेदेवगण, मुनिगण अप्सराओंके सहित मुख्य गन्धर्व और सिद्धगणोंने आगे बढकर उनकी अभ्यर्थना की ॥२२॥

ततो राजन्भगवानुग्रतेजा नारायणः प्रभवश्चाव्ययश्च ।
योगाचार्यो रोदसी व्याप्य लक्ष्म्या स्थानं प्राप स्वं महात्माप्रमेयम् ॥२३॥

हे महाराज ! तिसके अनन्तर वह उग्रवीर्य, योगाचार्य, सर्वजगत् प्रभव, अव्यय, महात्मा भगवान् नारायण निज शोभाके सहारे पृथ्वी और आकाशको प्रकाशित करते हुए अपने अप्रमेय धामको प्राप्त हो गये ॥ २३ ॥

×

ततो देवैर्ऋषिभिश्चापि कृष्णः समागतश्चारणैश्चैव राजन् ।
गन्धर्वाग्र्यैरप्सरोभिर्वराभिः सिद्धैः साध्यैश्चानतैः पूज्यमानः ॥ २४ ॥

राजन् ! अनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण देवता, ऋषि और चारणोंके सहित मिलके तथा प्रणत हुए मुख्य गन्धर्वों, अप्सराओं, सिद्धों और साध्योंसे पूजित होकर अपने धामकी ओर गये ॥ २४ ॥

ते वै देवाः प्रत्यनन्दन्त राजन्मुनिश्रेष्ठा वाग्भिरानर्चुरीशम् ।
गन्धर्वाश्चाप्युपतस्थुः स्तुवन्तः प्रीत्या चैनं पुरुहूतोऽभ्यनन्दत् ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥ १२४ ॥

हे नरनाथ ! उस समय श्रेष्ठ मुनियोंने ऊंचे स्वरसे ऋक् उच्चारण करते हुए उस जगदीश्वरका यश गाया, इन्द्रादि देवताओंने स्वागत प्रश्नादिसे उन्हें प्रत्यभिनन्दित किया और गन्धर्व लोग प्रीतिपूर्वक उनकी स्तुति गान करते हुए उनका अनुसरण करने लगे ॥ २५ ॥

महाभारतके मौसलपर्वमें पांचवां अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥ १२४ ॥

: ६ :

वैशम्पायन उवाच—

दारुकोऽपि कुरून्गत्वा दृष्ट्वा पार्थान्महारथान् ।
आचष्ट मौसले वृष्णीनन्योन्येनोपसंहृतान् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— इधर दारुकने कौरवोंके नगरमें जाके महारथी पृथापुत्रोंका दर्शन करके, उन्हें वार्ष्णेय लोगोंके परस्परमें मुसलघटित युद्ध तथा मरनेका संवाद कथन किया ॥ १ ॥

श्रुत्वा विनष्टान्वार्ष्णेयान्सभोजकुकुरान्धकान् ।
पाण्डवाः शोकसंतप्ता वित्रस्तमनसोऽभवन् ॥ २ ॥

पाण्डुके सब पुत्र भोज, अन्धक और कुक्कुरगणोंके सहित वार्ष्णेय लोगोंका विनाश सुनके अत्यन्त ही शोक सन्तप्त तथा व्याकुलचित्त हुए ॥ २ ॥

ततोऽर्जुनस्तानामन्त्र्य केशवस्य प्रियः सखा ।
प्रययौ मातुलं द्रष्टुं नेदमस्तीति चाब्रवीत् ॥ ३ ॥

अनन्तर श्रीकृष्णके प्रिय सखा अर्जुन सबको पूछकर निज मातुल वसुदेवको देखनेके लिये चले और बोले— ऐसा नहीं हुआ है ॥ ३ ॥

स वृष्णिनिलयं गत्वा दारुकेण सह प्रभो।
ददर्श द्वारकां वीरो मृतनाथामिव स्त्रियम् ॥ ४ ॥

हे महाराज! उस वीरने दारुकके सहित वृष्णियोंके निवासस्थानमें जाके देखा, कि द्वारका-नगरी नाथरहित स्त्रीकी भांति शोभाविहीन हुई है ॥ ४ ॥

याः स्म ता लोकनाथेन नाथवत्यः पुराभवन्।
तास्त्वनाथास्तदा नाथं पार्थं दृष्ट्वा विचुक्रुशुः ॥ ५ ॥

जो पहले लोकनाथ श्रीकृष्णके अधिष्ठानसे सनाथा हुई थीं, उन नाथरहित स्त्रियोंने इस समय नाथसखा अर्जुनको देखतेही रोदन करना आरम्भ किया ॥ ५ ॥

षोडशस्त्रीसहस्राणि वासुदेवपरिग्रहः।
तासामासीन्महान्नादो दृष्ट्वैवार्जुनमागतम् ॥ ६ ॥

श्रीकृष्णकी सोलह हजार स्त्रियां अर्जुनको आया हुआ देखके महाशब्दके सहित रोदन करने लगीं ॥ ६ ॥

तास्तु दृष्ट्वैव कौरव्यो बाष्पेण पिहितोऽर्जुनः।
हीनाः कृष्णेन पुत्रैश्च नाशकत्सोऽभिवीक्षितुम् ॥ ७ ॥

उनको देखतेही अर्जुनके दोनों नेत्र आंसूसे परिपूरित हुए और वह उन यदुकुलभूषण श्रीकृष्ण तथा पुत्रादिसे रहित अनाथ स्त्रियोंकी ओर देखनेमें भी समर्थ न हुए ॥ ७ ॥

तां स वृष्ण्यन्धकजलां हयमीनां रथोडुपाम्।
वादित्ररथघोषौघां वेश्मतीर्थमहाग्रहाम् ॥ ८ ॥

अनन्तर इधर उधर पर्यवेक्षण करते हुए देखा, कि यादवनगरी वृष्णि और अन्धकवंशरूपी जल, घोडेरूपी मीन, रथरूप नाव, बाजोंकी ध्वनि और रथकी घरघराहट रूप जलौघका नाद, प्रासादरूप महाग्रह घट ॥ ८ ॥

रत्नशैवलसंघाटां वज्रप्राकारमालिनीम्।
रथ्यास्रोतोजलावर्तां चत्वरस्तिमितह्रदाम् ॥ ९ ॥

रत्नसमूहरूपी सेवार, बज्रप्राकाररूपी माला, सडकें और गलियां रूपी स्रोतजल और भवंर, चौराहेरूपी स्थिर तालाब ॥ ९ ॥

रामकृष्णमहाग्राहां द्वारकासरितं तदा।
कालपाशग्रहां घोरां नदीं वैतरणीमिव ॥ १० ॥

और बलराम श्रीकृष्णरूपी ग्राह थे; ऐसी कालपाशग्रस्त द्वारकारूपी नदीको घोर वैतरणीके समान देखा ॥ १० ॥

तां ददर्शार्जुनो धीमान्विहीनां वृष्णिपुंगवैः ।
गतश्रियं निरानन्दां पद्मिनीं शिशिरे यथा ॥ ११ ॥

धीमान् अर्जुनने देखा कि द्वारकानगरी वृष्णिपुंगवोंसे रहित होनेके कारण शीतकालकी कमलिनीके समान श्रीहीन और आनन्दरहित हो गयी है ॥ ११ ॥

तां दृष्ट्वा द्वारकां पार्थस्ताश्च कृष्णस्य योषितः ।
सस्वनं बाष्पमुत्सृज्य निपपात महीतले ॥ १२ ॥

पृथापुत्र अर्जुन द्वारका तथा श्रीकृष्णकी स्त्रियोंकी ऐसी अवस्था देखके आंसू बहाते सशब्द रोते हुए पृथ्वीपर गिर पडे ॥ १२ ॥

सात्राजिती ततः सत्या रुक्मिणी च विशां पते ।
अभिपत्य प्ररुरुदुः परिवार्य धनंजयम् ॥ १३ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! उसे देखके रुक्मिणी और सत्राजितपुत्री सत्यभामा प्रभृति श्रीकृष्णकी स्त्रियां शीघ्र ही उस स्थानमें आके उनको चारों ओरसे घेरकर रोदन करने लगीं ॥ १३ ॥

ततस्ताः काञ्चने पीठे समुत्थाप्योपवेश्य च ।
अब्रुवन्त्यो महात्मानं परिवार्योपतस्थिरे ॥ १४ ॥

अनन्तर वे स्त्रियां उस महात्माको उठाके सुवर्णमय पीठपर बिठलाकर कुछ बोले बिना उनके चारों ओर बैठीं ॥ १४ ॥

ततः संस्तूय गोविन्दं कथयित्वा च पाण्डवः ।
आश्वास्य ताः स्त्रियश्चापि मातुलं द्रष्टुमभ्यगात् ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ १३९ ॥

तब अर्जुनने भगवान्‌के कार्योंको कहकर अनेक प्रकारसे उनकी स्तुति कर श्रीकृष्णकी स्त्रियोंको आश्वासित करके मामाको देखनेके लिये गमन किया ॥ १५ ॥

महाभारतके मौसलपर्वमें छठा अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥ १३९ ॥

: ७ :

वैशम्पायन उवाच—

तं शयानं महात्मानं वीरमानकदुन्दुभिम् ।
पुत्रशोकाभिसंतप्तं ददर्श कुरुपुंगवः ॥ १ ॥

कुरुपुङ्गव धनञ्जयने अपने मामा वसुदेवके गृहमें जाके देखा, कि वे वीर महात्मा पुत्रशोकसे दुःखी होकर पृथ्वीपर सोये हुए हैं ॥ १ ॥

तस्याश्रुपरिपूर्णाक्षो व्यूढोरस्को महाभुजः ।
आर्तस्यार्ततरः पार्थः पादौ जग्राह भारत ॥ २ ॥

हे भारत ! उस समय विशालवक्ष महाभुज पृथानन्दनने आंखोंमें आंसू भरके अधिक आर्त-भावसे उनके दोनों चरणोंको ग्रहण किया ॥ २ ॥

समालिङ्ग्यार्जुनं वृद्धः स भुजाभ्यां महाभुजः ।
रुदन्पुत्रान्स्मरन्सर्वान्विललाप सुविह्वलः ।
भ्रातॄन्पुत्रांश्च पौत्रांश्च दौहित्रांश्च सखीनपि ॥ ३ ॥

अनन्तर बहुत कष्टसे अपनी दोनों भुजाओंसे महाबाहु वृद्ध वसुदेव अर्जुनको आलिंगन करके, अपने सब पुत्र, पौत्र, दौहित्र, भ्राता और मित्र बान्धवोंका स्मरण करते हुए विह्वलचित्तसे रोदन तथा विलाप करने लगे ॥ ३ ॥

वसुदेव उवाच—

यैर्जिता भूमिपालाश्च दैत्याश्च शतशोऽर्जुन ।
तान्दृष्ट्वा नेह पश्यामि जीवाम्यर्जुन दुर्मरः ॥ ४ ॥

वसुदेव बोले— हे धनञ्जय ! बोध होता है, मेरी मृत्यु नहीं है, कारण जिन्होंने सैकडों दैत्यों तथा राजाओंको जीता था, मैं उन्हें यहां न देखके भी अबतक जीवन धारण करता हूं ॥४॥

यौ तावर्जुन शिष्यौ ते प्रियौ बहुमतौ सदा ।
तयोरपनयात्पार्थ वृष्णयो निधनं गताः ॥ ५ ॥

हे पार्थ ! जो दो पुरुष तुम्हारे अत्यन्त प्रिय शिष्य थे, और जिनका तुम बहुत सम्मान करते थे, उनकी दुर्नीतिसे वार्ष्णेयगण मारे गये हैं ॥ ५ ॥

यौ तौ वृष्णिप्रवीराणां द्वावेवातिरथौ मतौ ।
प्रद्युम्नो युयुधानश्च कथयन्कत्थसे च यौ ॥ ६ ॥

जो दो पुरुष वृष्णिवंशियोंके प्रमुख वीरोंके बीच अतिरथी माने जाते थे, और तुम कथा-छलसे सदा जिनकी प्रशंसा करते थे, वे प्रद्युम्न और सात्यकि ॥ ६ ॥

नित्यं त्वं कुरुशार्दूल कृष्णश्च मम पुत्रकः ।
तावुभौ वृष्णिनाशस्य मुखमास्तां धनंजय ॥ ७ ॥

हे कुरुशार्दूल धनंजय ! नित्य तुम्हारे और मेरे पुत्र श्रीकृष्णके प्रीतिभाजन थे, वे दोनों ही वृष्णिवंशके विनाशके अधिनायक हैं ॥ ७ ॥

न तु गर्हामि शैनेयं हार्दिक्यं चाहमर्जुन ।
अक्रूरं रौक्मिणेयं च शापो ह्येवात्र कारणम् ॥ ८ ॥

हे अर्जुन ! अथवा इसमें मैं सात्यकि, कृतवर्मा, रुक्मिणीपुत्र और अक्रूरको दोष नहीं दे सकता; क्योंकि ऋषियोंका शाप ही हम लोगोंके वंशनाश–विषयमें कारण हुआ है ॥८॥

केशिनं यस्तु कंसं च विक्रम्य जगतः प्रभुः ।
विदेहावकरोत्पार्थ चैद्यं च बलगर्वितम् ॥ ९ ॥

हे पार्थ ! जिस जगत्प्रभुने विक्रमके सहित केशी, कंस और बलका अहंकार रखनेवाले चेदिराज शिशुपालको मारा ॥ ९ ॥

नैषादिमेकलव्यं च चक्रे कालिङ्गमागधान् ।
गान्धारान्काशिराजं च मरुभूमौ च पार्थिवान् ॥ १० ॥

और निषदराज एकलव्य, कलिङ्ग–मागधके क्षत्रिय, गांधार, काशिराज तथा मरूभूमिके राजाओंको यमपुरीमें भेजा था ॥ १० ॥

प्राच्यांश्च दाक्षिणात्यांश्च पार्वतीयांस्तथा नृपान् ।
सोऽभ्युपेक्षितवानेतमनयं मधुसूदनः ॥ ११ ॥

जिन्होंने प्राच्य, दाक्षिणात्य, और पर्वतीय राजाओंको अपने बशमें किया था, उस मधुसूदनने बालकोंके अपराधसे प्राप्त हुए इस वंशनाश–विषयमें उपेक्षा की ॥ ११ ॥

ततः पुत्रांश्च पौत्रांश्च भ्रातॄनथ सखीनपि ।
शयानान्निहतान्दृष्ट्वा ततो मामब्रवीदिदम् ॥ १२ ॥

हे भारत ! तुम्हारे उस सखाने पुत्र, पौत्र, भ्राता तथा सङ्गियोंको एक दूसरेके हाथसे मरके सोये हुए देखकर, मुझसे यह वचन कहा ॥ १२ ॥

संप्राप्तोऽद्यायमस्यान्तः कुलस्य पुरुषर्षभ ।
आगमिष्यति बीभत्सुरिमां द्वारवतीं पुरीम् ॥ १३ ॥

"हे पुरुषश्रेष्ठ ! आज इस यदुकुलका नाश होगया; अर्जुन इस द्वारकापुरीमें आयेंगे ॥ १३ ॥

आख्येयं तस्य यद्वृत्तं वृष्णीनां वैशसं महत् ।
स तु श्रुत्वा महातेजा यदूनामनयं प्रभो ।
आगन्ता क्षिप्रमेवेह न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ १४ ॥

आनेपर धनञ्जयको वार्ष्णेय लोगोंके इस निदारुण विनाशका वृत्तांत कहिये । हे प्रभु ! वे महातेजस्वी अर्जुन यदुवंशियोंके अधर्मका संवाद सुनते ही, शीघ्र इस स्थानमें आयेंगे; उसमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १४ ॥

योऽहं तमर्जुनं विद्धि योऽर्जुनः सोऽहमेव तु ।
यद्ब्रूयात्तत्तथा कार्यमिति बुध्यस्व माधव ॥ १५ ॥

जो अर्जुन है वही मैं हूं और जो मैं हूं वही अर्जुन हैं, हम दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं है, यह समझिये । माधव ! इसलिये वह जैसा कहेंगे, उसहीके अनुसार कार्यके अनुवर्ती होना ॥ १५ ॥

स स्त्रीषु प्राप्तकालं वः पाण्डवो बालकेषु च ।
प्रतिपत्स्यति बीभत्सुर्भवतश्चौर्ध्वदेहिकम् ॥ १६ ॥

वह पाण्डुपुत्र अर्जुनही जिन स्त्रियोंका प्रसवकाल समीप हो उनपर और बालकोंपर ध्यान देंगे; तथा वेही आपका और्ध्वदेहिक कार्य करेंगे ॥ १६ ॥

इमां च नगरीं सद्यः प्रतियाते धनंजये ।
प्राकाराट्टालकोपेतां समुद्रः प्लावयिष्यति ॥ १७ ॥

धनञ्जयके द्वारकासे चले जानेपर समुद्र उस ही समय प्राकार तथा अट्टालिकाओंके सहित इस नगरीको डुबो देगा ॥ १७ ॥

अहं हि देशे कस्मिंश्चित्पुण्ये नियममास्थितः ।
कालं कर्ता सद्य एव रामेण सह धीमता ॥ १८ ॥

मैं बुद्धिमान् बलरामके सहित किसी पवित्र स्थानमें रहकर नियमोंका पालन करके शीघ्र ही कालकी प्रतीक्षा करूंगा ॥ १८ ॥

एवमुक्त्वा हृषीकेशो मामचिन्त्यपराक्रमः ।
हित्वा मां बालकैः सार्धं दिशं कामप्यगात्प्रभुः ॥ १९ ॥

अचिन्त्य पराक्रमी सर्वशक्तिमान् हृषीकेशने इतनी बात कहके ही बालकोंके सहित मुझे परित्याग करके किसी अज्ञात दिशाको प्रस्थान किया है ॥ १९ ॥

सोऽहं तौ च महात्मानौ चिन्तयन्भ्रातरौ तव ।
घोरं ज्ञातिवधं चैव न भुञ्जे शोककर्शितः ॥ २० ॥

इस समय मैं तुम्हारे उन दोनों महात्मा भाइयों और इस निदारुण ज्ञातिवधके विषयकी चिन्ता करके अत्यन्त शोकपीडित हुआ हूं और मैं भोजन नहीं करता हूं ॥ २० ॥

न च भोक्ष्ये न जीविष्ये दिष्ट्या प्राप्तोऽसि पाण्डव ।
यदुक्तं पार्थ कृष्णेन तत्सर्वमखिलं कुरु ॥ २१ ॥

क्योंकि जीवनधारण तथा भोजनादि करनेकी इच्छा नहीं है । हे पाण्डुनन्दन ! तुम मेरे भाग्यसे ही यहां आये हो, इस समय श्रीकृष्णने जो कहा है, वह सब पूरा करो ॥ २१ ॥

एतत्ते पार्थ राज्यं च स्त्रियो रत्नानि चैव ह ।
इष्टान्प्राणानहं हीमांस्त्यक्ष्यामि रिपुसूदन ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥ १६१ ॥

हे अरिसूदन ! पृथानन्दन ! इस राज्य, ऐश्वर्य और स्त्रियोंको तुम्हारे हाथमें सौंपता हूं । अब मैं अपने इन प्राणोंका त्याग करूंगा ॥ २२ ॥

महाभारतके मौसलपर्वमें सातवां अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥ १६१ ॥

: ८ :

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तः स बीभत्सुर्मातुलेन परंतपः ।
दुर्मना दीनमनसं वसुदेवमुवाच ह ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— शत्रुओंके वीरोंको सन्ताप देनेवाले अर्जुन मातुल वसुदेवका ऐसा वचन सुनके अत्यंत दुःखित हुए और वे दीनचित्त वसुदेवको बोले ॥ १ ॥

नाहं वृष्णिप्रवीरेण मधुभिश्चैव मातुल ।
विहीनां पृथिवीं द्रष्टुं शक्तश्चिरमिह प्रभो ॥ २ ॥

मामा ! मैं उन वृष्णिप्रवीर श्रीकृष्ण तथा मधुओंसे रहित इस पृथ्वीको अब अधिक समय देखनेको समर्थ नहीं हूं ॥ २ ॥

राजा च भीमसेनश्च सहदेवश्च पाण्डवः ।
नकुलो याज्ञसेनी च षडेकमनसो वयम् ॥ ३ ॥

राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, पाण्डव सहदेव, नकुल, द्रौपदी और मैं— हम छः ही एकान्तःकरण हैं ॥ ३ ॥

राज्ञः संक्रमणे चापि कालोऽयं वर्तते ध्रुवम् ।
तमिमं विद्धि संप्राप्तं कालं कालविदां वर ॥ ४ ॥

हे कालविज्ञोंमें श्रेष्ठ ! धर्मराजका भी संक्रमणकाल निश्चय ही उपस्थित हुआ है, यह वही काल प्राप्त हुआ है, ऐसा समझें ॥ ४ ॥

सर्वथा वृष्णिदारांस्तु बालवृद्धांस्तथैव च ।
नयिष्ये परिगृह्याहमिन्द्रप्रस्थमरिंदम ॥ ५ ॥

हे अरिंदमन ! इस समय मैं यदुवंशियोंकी स्त्रियों, बालकों तथा वृद्धोंको शीघ्र ही इन्द्रप्रस्थमें ले जाऊंगा ॥ ५ ॥

इत्युक्त्वा दारुकमिदं वाक्यमाह धनंजयः ।
अमात्यान्वृष्णिवीराणां द्रष्टुमिच्छामि माचिरम् ॥ ६ ॥

धनञ्जय मामासे इतनी बात कहके दारुकसे बोले— चलो, अब विलम्बकी आवश्यकता नहीं है, इस समय वृष्णिवंशियोंके मन्त्रियोंसे भेंटकर आऊं ॥ ६ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं सुधर्मां यादवीं सभाम् ।
प्रविवेशार्जुनः शूरः शोचमानो महारथान् ॥ ७ ॥

शूरवीर अर्जुन इतनी बात कहके महारथी यादवोंके निमित्त शोक करते करते सुधर्मा नामक यादवोंकी सभामें प्रविष्ट हुए ॥ ७ ॥

तमासनगतं तत्र सर्वाः प्रकृतयस्तथा ।
ब्राह्मणा नैगमाश्चैव परिवार्योपतस्थिरे ॥ ८ ॥

तब आसनपर बैठे हुए अर्जुनके पास ब्राह्मण, वणिक् तथा प्रजापुञ्ज उनके चारों ओर एकत्रित होकर बैठ गये ॥ ८ ॥

तान्दीनमनसः सर्वान्निभृतान्गतचेतसः ।
उवाचेदं वचः पार्थः स्वयं दीनतरस्तदा ॥ ९ ॥

पृथापुत्रने उन लोगोंको दीनचित्त किंकर्तव्यविमूढ तथा मुमूर्षुप्राय देखकर स्वयं दीनभावसे युक्त उस समयके अनुसार यह वचन कहा ॥ ९ ॥

शक्रप्रस्थमहं नेष्ये वृष्ण्यन्धकजनं स्वयम् ।
इदं तु नगरं सर्वं समुद्रः प्लावयिष्यति ॥ १० ॥

थोडे ही दिनके बीच समुद्र द्वारकानगरको डूबो देगा, इसलिये मैं वृष्णि और अंधकवंशके अवशिष्ट लोगोंको इन्द्रप्रस्थमें ले जाऊंगा ॥ १० ॥

सज्जीकुरुत यानानि रत्नानि विविधानि च ।
वज्रोऽयं भवतां राजा शक्रप्रस्थे भविष्यति ॥ ११ ॥

इसलिये तुम लोग अनेक प्रकारके यान तथा रत्न लेकर सज्जित हो जाओ । इन्द्रप्रस्थमें ये वज्र तुम लोगोंके राजपदपर प्रतिष्ठित होंगे ॥ ११ ॥

सप्तमे दिवसे चैव रवौ विमल उद्गते ।
बहिर्वत्स्यामहे सर्वे सज्जीभवत मा चिरम् ॥ १२ ॥

आजसे सप्तम दिन निर्मल सूर्योदय होते ही हम लोग नगरसे बाहिर होंगे । इसलिये तुम लोग विलम्ब न करके इतनेही समयके बीच सज्जित हुए रहो ॥ १२ ॥

इत्युक्तास्तेन ते पौराः पार्थेनाक्लिष्टकर्मणा ।
सज्जमाशु ततश्चक्रुः स्वसिद्ध्यर्थं समुत्सुकाः ॥ १३ ॥

अक्लिष्टकर्मा पृथानन्दनकी ऐसी आज्ञा सुनके वे सब लोग निज निज अभीष्ट सिद्धि और प्राणरक्षाके निमित्त उत्सुक हुए और शीघ्रही यानादि सज्जित करने लगे ॥ १३ ॥

तां रात्रिमवसत्पार्थः केशवस्य निवेशने ।
महता शोकमोहेन सहसाभिपरिप्लुतः ॥ १४ ॥

अर्जुनने भी सहसा महान् शोक और मोहसे अभिभूत होकर उस रात्रिमें भगवान् श्रीकृष्णके गृहमें निवास किया ॥ १४ ॥

×

श्वोभूतेऽथ ततः शौरिर्वसुदेवः प्रतापवान् ।
युक्त्वात्मानं महातेजा जगाम गतिमुत्तमाम् ॥ १५ ॥

दूसरे दिन भोरमें ही प्रतापवान् महातेजस्वी शूरनन्दन वसुदेव योग अवलम्बन करके उत्तम गतिको प्राप्त हुए ॥ १५ ॥

ततः शब्दो महानासीद्वसुदेवस्य वेश्मनि ।
दारुणः क्रोशतीनां च रुदतीनां च योषिताम् ॥ १६ ॥

उस समय वसुदेवके गृहमें रोनेवाली स्त्रियोंकी विदारुण रोदनध्वनि प्रकट हुई ॥ १६ ॥

प्रकीर्णमूर्धजाः सर्वा विमुक्ताभरणस्रजः ।
उरांसि पाणिभिर्घ्नन्त्यो व्यलपन्करुणं स्त्रियः ॥ १७ ॥

वे स्त्रियां केशोंको खोलती तथा आभूषणों, मालाओंका परित्याग करती हुई अपने दोनों हाथोंसे वक्षस्थलमें आघात करती करुणस्वरसे विलाप करने लगीं ॥ १७ ॥

तं देवकी च भद्रा च रोहिणी मदिरा तथा ।
अन्वारोढुं व्यवसिता भर्तारं योषितां वराः ॥ १८ ॥

स्त्रीरत्न देवकी, भद्रा, मदिरा और रोहिणी स्वामीके सहित चितापर आरूढ होनेको निश्चित हो गयीं ॥ १८ ॥

ततः शौरिं नृयुक्तेन बहुमाल्येन भारत ।
यानेन महता पार्थो बहिर्निष्क्रामयत्तदा ॥ १९ ॥

भारत ! अनन्तर धनञ्जय मनुष्य–वाहित बहुमूल्य महत् यानके सहारे शौरिके शवको नगरसे बाहिर ले गये ॥ १९ ॥

तमन्वयुस्तत्र तत्र दुःखशोकसमाहताः ।
द्वारकावासिनः पौराः सर्व एव नरर्षभ ॥ २० ॥

हे नरश्रेष्ठ ! उस समय अत्यन्त अनुरक्त द्वारकानिवासी सभी लोग दुःख और शोकयुक्त होके उनके पीछे पीछे चलने लगे ॥ २० ॥

तस्याश्वमेधिकं छत्रं दीप्यमानाश्च पावकाः ।
पुरस्तात्तस्य यानस्य याजकाश्च ततो ययुः ॥ २१ ॥

उनके यानके आगे अश्वमेधिक छत्र और प्रदीप्त अग्नि लिये याजक ब्राह्मण चल रहे थे ॥ २१ ॥

अनुजग्मुश्च तं वीरं देव्यस्ता वै स्वलंकृताः ।
स्त्रीसहस्रैः परिवृता वधूभिश्च सहस्रशः ॥ २२ ॥

देवकी प्रभृति देवीगण वस्त्र और अलङ्कारोंसे सज्जित होकर अन्य स्त्रियां तथा हजारों वधूगणोंसे घिरकर उस वीरके पीछे चलने लगीं ॥ २२ ॥

यस्तु देशः प्रियस्तस्य जीवतोऽभून्महात्मनः ।
तत्रैनमुपसंकल्प्य पितृमेधं प्रचक्रिरे ॥ २३ ॥

अनन्तर जो स्थान जीवित समयमें उस महात्मा शूरपुत्रको परम प्रिय था, उस ही स्थानमें उनके शवको स्थापित करके पितृमेध कार्य उन्होंने किया ॥ २३ ॥

तं चिताग्निगतं वीरं शूरपुत्रं वराङ्गनाः ।
ततोऽन्वारुरुहुः पत्न्यश्चतस्रः पतिलोकगाः ॥ २४ ॥

उनकी स्त्रीरत्न चारों रानियां चिताग्निमें सोये हुए उस वीरके सहित चितापर बैठकर पति-लोकमें गई ॥ २४ ॥

तं वै चतसृभिः स्त्रीभिरन्वितं पाण्डुनन्दनः ।
अदाहयच्चन्दनैश्च गन्धैरुच्चावचैरपि ॥ २५ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनने चन्दनकी लकडियां तथा अनेक प्रकारकी सुगन्धित वस्तुओंसे चारों स्त्रियोंके सहित वसुदेवके शवका दाह किया ॥ २५ ॥

ततः प्रादुरभूच्छब्दः समिद्धस्य विभावसोः ।
सामगानां च निर्घोषो नराणां रुदतामपि ॥ २६ ॥

उस समय प्रज्वलित अग्निका चट-चट शब्द, सामगायक ब्राह्मणोंका घोष और रोनेवाले लोगोंका आर्तनाद एक ही साथ प्रकट हुआ ॥ २६ ॥

ततो वज्रप्रधानास्ते वृष्णिवीरकुमारकाः ।
सर्व एवोदकं चक्रुः स्त्रियश्चैव महात्मनः ॥ २७ ॥

तिसके अनन्तर वज्र प्रभृति वृष्णि वीर कुमारों तथा यादवोंकी स्त्रियोंने मिलके उस महात्माको जलाञ्जलि दी ॥ २७ ॥

अलुप्तधर्मस्तं धर्मं कारयित्वा स फल्गुनः ।
जगाम वृष्णयो यत्र विनष्टा भरतर्षभ ॥ २८ ॥

हे भरतपुङ्गव ! धार्मिकश्रेष्ठ धनञ्जय धर्मके अनुसार उन धर्म कार्योंको पूरा करके जहां वार्ष्णेयगण विनष्ट हुए थे, उस स्थानमें गये ॥ २८ ॥

स तान्दृष्ट्वा निपतितान्कदने भृशदुःखितः ।
बभूवातीव कौरव्यः प्राप्तकालं चकार च ॥ २९ ॥

कुरुकुलनन्दन उस स्थानमें पहुंचके उन सब लोगोंको भयंकर घातपातमें मरे हुए देखकर अत्यन्त दुःखित हुए और उन्होंने उस समयके अनुसार कार्य किया ॥ २९ ॥

यथाप्रधानतश्चैव चक्रे सर्वाः क्रियास्तदा ।
ये हता ब्रह्मशापेन मुसलैरेरकोद्भवैः ॥ ३० ॥

जो लोग ब्रह्मशापसे एरकासे प्रकट मुसलके सहारे मरे थे, प्रधानताके अनुसार उन लोगोंका अन्त्येष्टिकार्य उन्होंने किया ॥ ३० ॥

ततः शरीरे रामस्य वासुदेवस्य चोभयोः ।
अन्विष्य दाहयामास पुरुषैराप्तकारिभिः ॥ ३१ ॥

अनंतर अनुगत लोगोंके द्वारा बलराम और वसुदेवपुत्र श्रीकृष्णके शरीरोंकी खोज कराके अर्जुनने उनका भी दाह संस्कार किया ॥ ३१ ॥

स तेषां विधिवत्कृत्वा प्रेतकार्याणि पाण्डवः ।
सप्तमे दिवसे प्रायाद्रथमारुह्य सत्वरः ।
अश्वयुक्तै रथैश्चापि गोखरोष्ट्रयुतैरपि ॥ ३२ ॥

अर्जुन उन सबका विधिपूर्वक प्रेतकार्य पुरा करके सातवें दिन घोडे, बैल, खचर और ऊंटोंसे चलनेवाले रथोंमें चढके उस स्थानसे बाहिर हुए ॥ ३२ ॥

स्त्रियस्ता वृष्णिवीराणां रुदत्यः शोककर्शिताः ।
अनुजग्मुर्महात्मानं पाण्डुपुत्रं धनंजयम् ॥ ३३ ॥

वृष्णिवंशियोंकी शोककर्षित स्त्रियां रोदन करती हुई महात्मा पाण्डुपुत्र धनञ्जयकी अनुगामिनी हुईं ॥ ३३ ॥

भृत्यास्त्वन्धकवृष्णीनां सादिनो रथिनश्च ये ।
वीरहीनं वृद्धबालं पौरजानपदास्तथा ।
ययुस्ते परिवार्याथ कलत्रं पार्थशासनात् ॥ ३४ ॥

अन्धक और वृष्णिवंशीय रथी तथा घुडसवार प्रभृति सेवक वृन्द, पुरवासी और जनपदवासी लोग पार्थकी आज्ञानुसार उन बालक और बूढोंसे युक्त वीरबिहीन स्त्रियोंकी रक्षा करनेके लिये उनको चारों ओरसे घेरकर चले ॥ ३४ ॥

कुञ्जरैश्च गजारोहा ययुः शैलनिभैस्तथा ।
सपादरक्षैः संयुक्ताः सोत्तरायुधिका ययुः ॥ ३५ ॥

पादरक्षक पदातियोंसे युक्त गजारोह पुरुष पर्वतसदृश हाथियोंपर चढके गुप्तरूपसे अस्त्र-शस्त्र लेकर आगे पीछे चलने लगे ॥ ३५ ॥

पुत्राश्चान्धकवृष्णीनां सर्वे पार्थमनुव्रताः ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव महाधनाः ॥ ३६ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, महाधनवान् वैश्य और शूद्रगण तथा अन्धक और वृष्णिवंशीय बालकगण पार्थके अनुगामी हुए ॥ ३६ ॥

दश षट् च सहस्राणि वासुदेवावरोधनम् ।
पुरस्कृत्य ययुर्वज्रं पौत्रं कृष्णस्य धीमतः ॥ ३७ ॥

धीमान् वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी सोलह सहस्र स्त्रियां उनके परपोते वज्रको आगे करके बाहिर हुईं ॥ ३७ ॥

बहूनि च सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
भोजवृष्ण्यन्धकस्त्रीणां हतनाथानि निर्ययुः ॥ ३८ ॥

भोज, वृष्णि और अन्धकवंशीय हतनाथा करोडों स्त्रियां भी द्वारकापुरीसे बाहर निकलकर उनकी अनुगामिनी हुईं ॥ ३८ ॥

तत्सागरसमप्रख्यं वृष्णिचक्रं महर्धिमत् ।
उवाह रथिनां श्रेष्ठः पार्थः परपुरंजयः ॥ ३९ ॥

इस ही प्रकार परपुरविजयी रथिश्रेष्ठ पार्थ उन महान् समृद्धिशाली सागरके समान वृष्णि-वंशियोंके लोगोंको साथ लेकर चलने लगे ॥ ३९ ॥

निर्याते तु जने तस्मिन्सागरो मकरालयः ।
द्वारकां रत्नसंपूर्णां जलेनाप्लावयत्तदा ॥ ४० ॥

उन लोगोंके बाहिर होनेपर मगरों घडियालोंके निवासस्थान समुद्रने समग्र रत्नपूरित द्वारका नगरीको जलमें डुबाया ॥ ४० ॥

तदद्भुतमभिप्रेक्ष्य द्वारकावासिनो जनाः ।
तूर्णात्तूर्णतरं जग्मुरहो दैवमिति ब्रुवन् ॥ ४१ ॥

द्वारकावासी लोग वह अद्भुत घटना देखके कहने लगे, ' ओहो ! कैसी दैवदुर्घटना है ! ' ऐसा कहते हुए जितना शीघ्र होसका, नगरसे बाहिर हुए ॥ ४१ ॥

काननेषु च रम्येषु पर्वतेषु नदीषु च ।
निवसन्नानयामास वृष्णिदारान्धनंजयः ॥ ४२ ॥

इधर अर्जुन रमणीय वन, पर्वत तथा नदीयोंके तटपर निवास करते हुए यादवोंकी स्त्रियोंको साथ ले जा रहे थे ॥ ४२ ॥

स पञ्चनदमासाद्य धीमानतिसमृद्धिमत् ।
देशे गोपशुधान्याढ्ये निवासमकरोत्प्रभुः ॥ ४३ ॥

एक दिन पञ्चनदके समीपवर्ती गौ, पशु तथा धान्यसे पूर्ण किसी एक समृद्ध स्थानमें धीमान्, सामर्थ्यशाली अर्जुनने निवास किया ॥ ४३ ॥

ततो लोभः समभवद्दस्यूनां निहतेश्वराः ।
दृष्ट्वा स्त्रियो नीयमानाः पार्थेनैकेन भारत ॥ ४४ ॥

हे भारत ! उस स्थानमें बहुतसे डाकू वास करते थे । वे लोग धनञ्जयको अकेले हतनाथा स्त्रियोंको लेके जाते हुए देख लोभके वशमें हुए ॥ ४४ ॥

ततस्ते पापकर्माणो लोभोपहतचेतसः ।
आभीरा मन्त्रयामासुः समेत्याशुभदर्शनाः ॥ ४५ ॥

उन पापकर्म करनेवाले अशुभदर्शी आभीरकगणने लोभसे अन्धे होकर परस्पर मिलके इस प्रकार सलाह की ॥ ४५ ॥

अयमेकोऽर्जुनो योद्धा वृद्धबालं हतेश्वरम् ।
नयत्यस्मानतिक्रम्य योधाश्चेमे हतौजसः ॥ ४६ ॥

अकेला धनुर्धर अर्जुन और उसके सब तेजरहित योद्धा लोग हम लोगोंको अतिक्रम करके बाल बूढोंके सहित हतनाथा स्त्रियोंको लेकर जा रहे हैं ॥ ४६ ॥

ततो यष्टिप्रहरणा दस्यवस्ते सहस्रशः ।
अभ्यधावन्त वृष्णीनां तं जनं लोप्त्रहारिणः ॥ ४७ ॥

वे परधन हरनेवाले डाकूलोग इसही प्रकार सलाह करके लाठीरूपी अस्त्र लेकर उस वृष्णि-वंशियोंके समुदायपर हजारोंकी संख्यामें टूट पडे ॥ ४७ ॥

महता सिंहनादेन द्रावयन्तः पृथग्जनम् ।
अभिपेतुर्धनार्थं ते कालपर्यायचोदिताः ॥ ४८ ॥

वे डाकू लोग साधारण अनुयात्रियोंको महान् सिंहनाद करके भगाते हुए मानो काल–प्रेरित होके उन सबका धन लुटनेकी इच्छासे उनकी ओर दौडे ॥ ४८ ॥

ततो निवृत्तः कौन्तेयः सहसा सपदानुगः ।
उवाच तान्महाबाहुरर्जुनः प्रहसन्निव ॥ ४९ ॥

उन्हें देखकर महाबाहु कुन्तिनन्दन धनञ्जय पदातियोंके सहित निवृत्त होके हंसते हंसते बोले ॥ ४९ ॥

निवर्तध्वमधर्मज्ञा यदि स्व न मुमूर्षवः ।
नेदानीं शरनिर्भिन्नाः शोचध्वं निहता मया ॥ ५० ॥

रे अधार्मिकगण ! यदि न मरनेकी इच्छा हो, तो लौट जाओ; नहीं तो इस ही मुहूर्तमें मेरे बाणोंसे कटके तथा मरके अनुताप करना होगा ॥ ५० ॥

तथोक्तास्तेन वीरेण कदर्थीकृत्य तद्वचः ।
अभिपेतुर्जनं मूढा वार्यमाणाः पुनः पुनः ॥ ५१ ॥

परन्तु मूढ भीलोंने वीरवर अर्जुनका ऐसा वचन सुनके तथा बार बार निवारित होके भी उनके वचनका उपहास करते हुए उस जनसमुदायपर आक्रमण किया ॥ ५१ ॥

ततोऽर्जुनो धनुर्दिव्यं गाण्डीवमजरं महत्।
आरोपयितुमारेभे यत्नादिव कथंचन ॥ ५२ ॥

तब अर्जुनने अपने उत्तम महत् दिव्य अजर गाण्डीव धनुषपर रोदा चढानेकी इच्छासे बहुत यत्नके सहित नमाके अत्यन्त परिश्रम तथा कष्टसे किसी तरह रोदा चढाया ॥ ५२ ॥

चकार सज्यं कृच्छ्रेण संभ्रमे तुमुले सति।
चिन्तयामास चास्त्राणि न च सस्मार तान्यपि ॥ ५३ ॥

भयंकर लडाई शुरू हुई थी; अत्यंत कठिनाईसे उन्होंने धनुषपर रोदा तो चढाया; परंतु जब वे अस्त्रशस्त्रोंका स्मरण करने लगे, परन्तु कोई अस्त्र ही इस समय उनके स्मृतिपथमें न आया ॥ ५३ ॥

वैकृत्यं तन्महद्दृष्ट्वा भुजवीर्ये तथा युधि।
दिव्यानां च महास्त्राणां विनाशाद्व्रीडितोऽभवत् ॥ ५४ ॥

युद्धके समय कुन्तीपुत्र निज भुजवीर्यकी विपरीतता तथा दिव्य महास्त्रोंका विस्मरण हुआ जानकर बहुत लज्जित हुए ॥ ५४ ॥

वृष्णियोधाश्च ते सर्वे गजाश्वरथयायिनः।
न शेकुरावर्तयितुं ह्रियमाणं च तं जनम् ॥ ५५ ॥

इधर हाथी, घोडे और रथपर सवार होकर युद्ध करनेवाले वृष्णिपक्षीय सैनिक लोग उन हरण किये गये अपने मनुष्योंको लौटानेमें समर्थ न हुए ॥ ५५ ॥

कलत्रस्य बहुत्वात्तु संपतत्सु ततस्ततः।
प्रयत्नमकरोत्पार्थो जनस्य परिरक्षणे ॥ ५६ ॥

उसमें स्त्रियोंकी संख्या बहुत थी, इससे डाकू लोग चारों ओरसे आके आक्रमण करने लगे; धनञ्जयने उनकी रक्षा करनेके लिये बहुत यत्न किया ॥ ५६ ॥

मिषतां सर्वयोधानां ततस्ताः प्रमदोत्तमाः।
समन्ततोऽवकृष्यन्त कामाच्चान्याः प्रवव्रजुः ॥ ५७ ॥

परन्तु डाकू लोग योद्धाओंके देखते ही उन रूपवती स्त्रियोंको सब ओरसे खींच करके ले जाने लगे और दूसरी स्त्रियां उनकी इच्छानुसार भीलोंकी अनुगामिनी हुई ॥ ५७ ॥

ततो गाण्डीवनिर्मुक्तैः शरैः पार्थो धनञ्जयः।
जघान दस्यून्सोद्विग्नो वृष्णिभृत्यैः सह प्रभुः ॥ ५८ ॥

उसे देख प्रभावशाली धनञ्जय अत्यन्त ही व्याकुल हुए और वृष्णिवंशीय सेवकोंके सहित गाण्डीवसे छूटे हुए बाणोंसे डाकूओंको मारने लगे ॥ ५८ ॥

क्षणेन तस्य ते राजन्क्षयं जग्मुराजिह्मगाः ।
अक्षया हि पुरा भूत्वा क्षीणाः क्षतजभोजनाः ॥ ५९ ॥

हे महाराज ! पहले जो रुधिर पीनेवाले बाण अक्षय थे, उस समय वे ही शीघ्रगामी बाण क्षणभरमें क्षीण होकर सर्वथा समाप्त हो गये ॥ ५९ ॥

स शरक्षयमासाद्य दुःखशोकसमाहतः ।
धनुष्कोट्या तदा दस्यूनवधीत्पाकशासनिः ॥ ६० ॥

इन्द्रपुत्र अर्जुनने निज बाणोंको समाप्त होते देखकर दुःख और शोकसे अभिभूत होकर धनुषके कोनेसे डाकुओंको मारना आरम्भ किया ॥ ६० ॥

प्रेक्षतस्त्वेव पार्थस्य वृष्ण्यन्धकवरास्त्रियः ।
जग्मुरादाय ते म्लेच्छाः समन्ताज्जनमेजय ॥ ६१ ॥

हे जनमेजय ! परन्तु म्लेच्छगण देखते देखते अर्जुनके सम्मुखमें ही वृष्णि और अन्धक-वंशियोंकी उत्तम स्त्रियोंको लेकर चले गये ॥ ६१ ॥

धनंजयस्तु दैवं तन्मनसाचिन्तयत्प्रभुः ।
दुःखशोकसमाविष्टो निःश्वासपरमोऽभवत् ॥ ६२ ॥

प्रभावशाली धनञ्जयने मनमें उसे दैवदुर्घटना सोचकर, दुःख तथा शोकसे अभिभूत होके वे लम्बी सांस छोडने लगे ॥ ६२ ॥

अस्त्राणां च प्रणाशेन बाहुवीर्यस्य संक्षयात् ।
धनुषश्चाविधेयत्वाच्छराणां संक्षयेण च ॥ ६३ ॥

वे अपने बाहुबल, अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान और अक्षय बाणोंका क्षय होना और धनुषका काबूके बाहर होना—यह देखकर ॥ ६३ ॥

बभूव विमनाः पार्थो दैवमित्यनुचिन्तयन् ।
न्यवर्तत ततो राजन्नेदमस्तीति चाब्रवीत् ॥ ६४ ॥

उनका मन उद्विग्न हो गया; और वे इनको दैवका आयोजन मानने लगे। राजन् ! अनन्तर वे युद्धसे निवृत्त हुए और बोले— यह सब अनित्य है ॥ ६४ ॥

ततः स शेषमादाय कलत्रस्य महामतिः ।
हृतभूयिष्ठरत्नस्य कुरुक्षेत्रमवातरत् ॥ ६५ ॥

हे भारत ! अनन्तर महाबुद्धिमान् अर्जुन अपहृत होनेसे बची हुई स्त्रियां और अधिकांश लूटे गये ऐसे बचे हुए रत्नोंको साथ लेकर कुरुक्षेत्रमें आये ॥ ६५ ॥

एवं कलत्रमानीय वृष्णीनां हृतशेषितम् ।
न्यवेशयत कौरव्यस्तत्र तत्र धनंजयः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार अपहरणसे बची हुई वृष्णियोंकी स्त्रियोंको लाकर कुरुनन्दन अर्जुनने उनको जहां तहां वासस्थान प्रदान किया ॥ ६६ ॥

हार्दिक्यतनयं पार्थो नगरं मार्तिकावतम् ।
भोजराजकलत्रं च हृतशेषं नरोत्तमः ॥ ६७ ॥

कृतवर्माके पुत्र तथा हरनेसे बची हुई भोजराजकी स्त्रियोंको नरश्रेष्ठ अर्जुनने मार्तिकावत नगरमें स्थापित किया ॥ ६७ ॥

ततो वृद्धांश्च बालांश्च स्त्रियश्चादाय पाण्डवः ।
वीरैर्विहीनान्सर्वांस्ताञ्छक्रप्रस्थे न्यवेशयत् ॥ ६८ ॥

अनन्तर वीरविहीन सब बालक, वृद्ध और स्त्रियोंको लेकर वे पाण्डुपुत्र अर्जुन इन्द्रप्रस्थमें आये और उनको वहां बसा दिया ॥ ६८ ॥

यौयुधानिं सरस्वत्यां पुत्रं सात्यकिनः प्रियम् ।
न्यवेशयत धर्मात्मा वृद्धबालपुरस्कृतम् ॥ ६९ ॥

अनन्तर धर्मात्मा पार्थने सात्यकिनन्दन युयुधानके प्रिय पुत्रको वृद्ध और बालकोंके सहित सरस्वती नदीके तटपर स्थापित किया ॥ ६९ ॥

इन्द्रप्रस्थे ददौ राज्यं वज्राय परवीरहा ।
वज्रेणाक्रूरदारास्तु वार्यमाणाः प्रवव्रजुः ॥ ७० ॥

फिर परवीरघ्न अर्जुनने वज्रको इन्द्रप्रस्थका राज्य प्रदान किया। वज्रके बहुत कहकर रोकने पर भी अक्रूरकी स्त्रियां तपस्याके लिये वनमें गयीं ॥ ७० ॥

रुक्मिणी त्वथ गान्धारी शैब्या हैमवतीत्यपि ।
देवी जाम्बवती चैव विविशुर्जातवेदसम् ॥ ७१ ॥

रुक्मिणी, गान्धारी, शैब्या, हैमवती और जाम्बवती देवीने अग्निमें प्रवेश किया ॥ ७१ ॥

सत्यभामा तथैवान्या देव्यः कृष्णस्य संमताः ।
वनं प्रविविशू राजंस्तापस्ये कृतनिश्चयाः ॥ ७२ ॥

राजन् ! श्रीकृष्णकी सत्यभामा प्रभृति अन्यान्य प्रिय स्त्रियां तपस्या करनेका निश्चय करके वनमें प्रविष्ट हुईं ॥ ७२ ॥

द्वारकावासिनो ये तु पुरुषाः पार्थमन्वयुः ।
यथार्हं संविभज्यैनान्वज्रे पर्यददज्जयः ॥ ७३ ॥

जो द्वारकावासी लोग पृथापुत्र धनञ्जयके सङ्ग आये थे, अर्जुनने विभागक्रमसे उन लोगोंमेंसे बहुतेरे लोगोंको वज्रके समीप स्थापित किया ॥ ७३ ॥

स तत्कृत्वा प्राप्तकालं बाष्पेणापिहितोऽर्जुनः ।
कृष्णद्वैपायनं राजन्ददर्शासीनमाश्रमे ॥ ७४ ॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥ २३५ ॥

अर्जुनने यह सब समयके अनुसार कार्य करके आंखोंसे आंसू बहाते हुए भगवान् कृष्ण-द्वैपायन व्यास मुनिके आश्रममें जाके, वहां बैठे हुए उनका दर्शन किया ॥ ७४ ॥

महाभारतके मौसलपर्वमें आठवां अध्याय समाप्त ॥ ८ ॥ २२५ ॥

: ९ :

वैशम्पायन उवाच—

प्रविशन्नर्जुनो राजन्नाश्रमं सत्यवादिनः ।
ददर्शासीनमेकान्ते मुनिं सत्यवतीसुतम् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— हे महाराज ! अर्जुनने सत्यबादी व्यासदेवके आश्रममें जाकर देखा, कि मुनिश्रेष्ठ सत्यवतीपुत्र एकान्तमें अकेले बैठे हैं ॥ १ ॥

स तमासाद्य धर्मज्ञमुपतस्थे महाव्रतम् ।
अर्जुनोऽस्मीति नामास्मै निवेद्याभ्यवदत्ततः ॥ २ ॥

उनको देखकर उन्होंने उस महाव्रती धर्मज्ञ व्यासदेवके निकट जाकर कहा, कि मैं अर्जुन हूं— इस ही प्रकार अपना नाम सुनाके प्रणाम किया और वे उनके पासही खडे रहे ॥२॥

स्वागतं तेऽस्त्विति प्राह मुनिः सत्यवतीसुतः ।
आस्यतामिति चोवाच प्रसन्नात्मा महामुनिः ॥ ३ ॥

प्रसन्नहृदय महामुनि सत्यवतीपुत्र व्यासने भी अर्जुनसे कहा— ' तुम्हारा स्वागत है; इधर आओ, बैठो ' ॥ ३ ॥

तमप्रतीतमनसं निःश्वसन्तं पुनः पुनः ।
निर्विण्णमनसं दृष्ट्वा पार्थं व्यासोऽब्रवीदिदम् ॥ ४ ॥

धनञ्जयको कातर मन, खिन्न और उदास चित्त तथा बार बार लम्बी सांस छोडते हुए देखकर महामुनि व्यास बोले ॥ ४ ॥

अवीरजोभिघातस्ते ब्राह्मणो वा हतस्त्वया ।
युद्धे पराजितो वासि गतश्रीरिव लक्ष्यसे ॥ ५ ॥

क्या तुमने त्रिरात्रके बीच रजस्वला स्त्री गमन वा ब्रह्महत्या की है ? अथवा किसी युद्धमें तुम पराजित हुए हो ? इस समय तुम इस प्रकार श्रीहीन दिखाई देते हो ! ॥ ५ ॥

न त्वा प्रत्यभिजानामि किमिदं भरतर्षभ ।
श्रोतव्यं चेन्मया पार्थ क्षिप्रमाख्यातुमर्हसि ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तुम्हें तो कभी पराजित होते हुए, मैंने नहीं जाना है; फिर किस कारणसे तुम्हारी ऐसी अवस्था हुई है ? हे अर्जुन ! यदि यह मेरे सुनने योग्य हो, तो शीघ्र प्रकाश करके कहो ॥ ६ ॥

अर्जुन उवाच—

यः स मेघवपुः श्रीमान्बृहत्पङ्कजलोचनः ।
स कृष्णः सह रामेण त्यक्त्वा देहं दिवं गतः ॥ ७ ॥

अर्जुन बोले– जिसकी देहश्री बादलके सदृश श्यामवर्ण और दोनों नेत्र विशाल कमलदलके तुल्य थे, उस श्रीमान् भगवान् श्रीकृष्णने बलरामके सहित शरीर छोडके सुरलोकमें गमन किया है ॥ ७ ॥

मौसले वृष्णिवीराणां विनाशो ब्रह्मशापजः ।
बभूव वीरान्तकरः प्रभासे रोमहर्षणः ॥ ८ ॥

ब्राह्मणोंके शापवशसे प्रभासमें मुसलजनित युद्धमें वृष्णिवंशियोंके वीरोंका अन्त करनेवाला दारुण रोमांचकारी विनाश हुआ है ॥ ८ ॥

ये ते शूरा महात्मानः सिंहदर्पा महाबलाः ।
भोजवृष्ण्यन्धका ब्रह्मन्नन्योन्यं तैर्हतं युधि ॥ ९ ॥

हे ब्रह्मन् ! जो भोज, वृष्णि और अन्धकवंशीय महाबली शूरबीर लोग सिंहसदृश महाबलवान् तथा दर्पशाली थे, वे लोग परस्पर युद्ध करके विनष्ट हुए हैं ॥ ९ ॥

गदापरिघशक्तीनां सहाः परिघबाहवः ।
त एरकाभिर्निहताः पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ १० ॥

हे महाभाग ! कालकी उलटी गति देखिये, जिन लोगोंकी भुजा परिघके समान थीं और जो लोग गदा, परिघ तथा शक्ति प्रभृति आयुधोंके प्रहारको सहजमें ही सह सकते थे, वेही एरका (पटेरकी) चोटसे मरे हैं ॥ १० ॥

हतं पञ्चशतं तेषां सहस्रं बाहुशालिनाम् ।
निधनं समनुप्राप्तं समासाद्येतरेतरम् ॥ ११ ॥

पांच लाख यदुवंशीय विशालबाहु बीर परस्पर युद्धमें प्रवृत्त होके मारे गये हैं ॥ ११ ॥

पुनः पुनर्न मृष्यामि विनाशममितौजसाम् ।
चिन्तयानो यदूनां च कृष्णस्य च यशस्विनः ॥ १२ ॥

मैं बार बार चिन्ता–विचार करता हूं, तथापि अमित तेजस्वी यदुवंशियोंका विनाश और यशस्वी श्रीकृष्णके परलोक गमनकी बात मुझसे सही नहीं जाती ॥ १२ ॥

×

शोषणं सागरस्येव पर्वतस्येव चालनम् ।
नभसः पतनं चैव शैत्यमग्नेस्तथैव च ॥ १३ ॥

समुद्रका सूख जाना, पर्वतका चलना, आकाशका पतन तथा अग्निमें शीतगुणका भाव दिखाई देना, यह कैसे शक्य है ? ॥ १३ ॥

अश्रद्धेयमहं मन्ये विनाशं शार्ङ्गधन्वनः ।
न चेह स्थातुमिच्छामि लोके कृष्णविनाकृतः ॥ १४ ॥

क्या शार्ङ्गधर श्रीकृष्णके विनाशमें किसी प्रकार विश्वास हो सकता है ? मैं इसे नहीं मानता; जो हो अब मैं श्रीकृष्णसे रहित होकर इस लोकमें रहनेकी इच्छा नहीं करता ॥ १४ ॥

इतः कष्टतरं चान्यच्छृणु तद्वै तपोधन ।
मनो मे दीर्यते येन चिन्तयानस्य वै मुहुः ॥ १५ ॥

हे तपोधन ! इसके अतिरिक्त जिसका बार बार विचार करते हुए मेरा मन सदा विदीर्ण होता है, इससे भी बढके कष्टका कारण सुनिये ॥ १५ ॥

पश्यतो वृष्णिदाराश्च मम ब्रह्मन्सहस्रशः ।
आभीरैरनुसृत्याजौ हृताः पञ्चनदालयैः ॥ १६ ॥

हे ब्रह्मन् ! मैं यादवोंकी हजारों स्त्रियोंको लेकर आता था, इतने ही समयमें मार्गके बीच पञ्चनदनिवासी भीलोंने मुझसे युद्ध करके मेरे सामने ही देखते देखते उन स्त्रियोंका अपहरण किया है ॥ १६ ॥

धनुरादाय तत्राहं नाशकं तस्य पूरणे ।
यथा पुरा च मे वीर्यं भुजयोर्न तथाभवत् ॥ १७ ॥

यद्यपि मैं उस समय अपना गाण्डीव धनुष धारण किये हुए था, परन्तु मेरी दोनों भुजा पहलेकी भांति पराक्रम प्रकाश करनेमें असमर्थ हुई, मैं उस धनुषमें रोदा चढाके उसे खींच न सका ॥ १७ ॥

अस्त्राणि मे प्रनष्टानि विविधानि महामुने ।
शराश्च क्षयमापन्नाः क्षणेनैव समन्ततः ॥ १८ ॥

हे महामुनि ! उस समय मैं अनेक प्रकारके अस्त्रोंको भूल गया था और सब बाण सब ओर जाकर मुहूर्त भरके बीच सब प्रकारसे तूणसे खाली होगये थे ॥ १८ ॥

पुरुषश्चाप्रमेयात्मा शङ्खचक्रगदाधरः ।
चतुर्भुजः पीतवासा श्यामः पद्मायतेक्षणः ॥ १९ ॥

जिनके दोनों नेत्र कमलदलके सदृश विशाल थे, वेही शंख, चक्र और गदाधारी श्यामवर्ण चतुर्भुज पीताम्बरधारी अप्रमेयात्मा परम पुरुष ॥ १९ ॥

यः स याति पुरस्तान्मे रथस्य सुमहाद्युतिः ।
प्रदहन्रिपुसैन्यानि न पश्याम्यहमद्य तम् ॥ २० ॥

गोविन्दको जब नहीं देखता हूं, हाय ! वह महातेजस्वी प्रभु शत्रुसेनाको जलाते हुए मेरे रथके आगे चलते थे, मैं उस भगवान् अच्युतको अब आज नहीं देखता हूं ॥ २० ॥

येन पूर्वं प्रदग्धानि शत्रुसैन्यानि तेजसा ।
शरैर्गाण्डीवनिर्मुक्तैरहं पश्चाद्व्यनाशयम् ॥ २१ ॥

वह पहले निज तेजके सहारे शत्रुसेनाओंको जलाते थे, तिसके बाद मैं गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंसे शत्रुओंका नाश करता था ॥ २१ ॥

तमपश्यन्विषीदामि घूर्णामीव च सत्तम ।
परिनिर्विण्णचेताश्च शान्तिं नोपलभेऽपि च ॥ २२ ॥

हे सत्तम ! इस समय उन्हें न देखकर मैं दुःखित होता हूं, तथा मेरा अन्तःकरण कातर होके चक्कर खा रहा है; मेरे चित्तमें वैराग्य उत्पन्न हो गया है और कहीं भी मुझे शान्ति प्राप्त नहीं होती ॥ २२ ॥

विना जनार्दनं वीरं नाहं जीवितुमुत्सहे ।
श्रुत्वैव हि गतं विष्णुं ममापि मुमुहुर्दिशः ॥ २३ ॥

जबसे भगवान् जनार्दन विष्णु अन्तर्धान हुए हैं, इतनी बात सुननेके समयसे ही मुझे सब दिशाएं अन्धकारमय दीखती हैं, इसलिये भगवान् श्रीकृष्णसे रहित होके अब मुझे जीवन धारण करनेका उत्साह नहीं होता है ॥ २३ ॥

प्रनष्टज्ञातिवीर्यस्य शून्यस्य परिधावतः ।
उपदेष्टुं मम श्रेयो भवानर्हति सत्तम ॥ २४ ॥

हे श्रेष्ठ ! मेरे पराक्रम तथा स्वजनोंके विनष्ट होनेसे चित्त घबडा रहा है और जगत्को सूना देखकर मैं इधर उधर दौड रहा हूं; इसलिये जिससे मेरा मङ्गल हो, आपको उचित है, कि मुझे वैसा ही उपदेश करें ॥ २४ ॥

व्यास उवाच—

ब्रह्मशापविनिर्दग्धा वृष्ण्यन्धकमहारथाः ।
विनष्टाः कुरुशार्दूल न ताञ्शोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

वेदव्यास मुनि बोले– हे कुरुशार्दूल ! वृष्णि और अन्धकवंशीय महारथीगण ब्रह्मशापसे भस्म होकर विनष्ट हुए हैं, इसलिये उन लोगोंके निमित्त शोक मत करो ॥ २५ ॥

भवितव्यं तथा तद्धि दिष्टमेतन्महात्मनाम् ।
उपेक्षितं च कृष्णेन शक्तेनापि व्यपोहितुम् ॥ २६ ॥

जो होनहार होता है, वह अवश्य हुआ करता है; उन महात्माओंकी भवितव्यता ऐसी थी, इसलिये उनका प्रारब्ध वैसा हुआ। इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने समर्थ होके भी महात्मा यदुवंशियोंके इस अवश्यम्भावी विनाशके विषयको जान सकनेपर भी निवारण करनेकी चेष्टा न की, बल्कि उपेक्षा ही की थी ॥ २६ ॥

त्र्यैलोक्यमपि कृष्णो हि कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम् ।
प्रसहेदन्यथा कर्तुं किमु शापं मनीषिणाम् ॥ २७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण इच्छा करनेसे अखिल स्थावर और जङ्गमके सहित तीनों लोकोंको भी अन्यथा कर सकते हैं, फिर उन मनीषियोंके शापको पलट देना उनके लिये क्या कठिन था ? ॥२७॥

रथस्य पुरतो याति यः स चक्रगदाधरः ।
तव स्नेहात्पुराणर्षिर्वासुदेवश्चतुर्भुजः ॥ २८ ॥

वे वासुदेव शंख, चक्र, गदाधारी चतुर्भुज पुरातन ऋषि साक्षात् नारायण थे, जो प्रीतिके वशमें होकर ही तुम्हारे रथके आगे चलते थे ॥ २८ ॥

कृत्वा भारावतरणं पृथिव्याः पृथुलोचनः ।
मोक्षयित्वा जगत्सर्वं गतः स्वस्थानमुत्तमम् ॥ २९ ॥

वे विशालनयन श्रीकृष्ण इस समय पृथ्वीका भार हरके समस्त जगत् छोडकर निज उत्तम धाममें गये हैं ॥ २९ ॥

त्वया त्विह महत्कर्म देवानां पुरुषर्षभ ।
कृतं भीमसहायेन यमाभ्यां च महाभुज ॥ ३० ॥

हे महाबाहो पुरुषपुङ्गव ! तुमने भी भीमसेन और नकुल–सहदेवकी सहायतासे देवताओंका उत्तम महत् कार्य सिद्ध किया है ॥ ३० ॥

कृतकृत्यांश्च वो मन्ये संसिद्धान्कुरुपुङ्गव ।
गमनं प्राप्तकालं च तद्धि श्रेयो मतं मम ॥ ३१ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! तुम लोग जिस लिये इस पृथ्वीमें आये थे, वह अपना कर्तव्य तुमने पूर्ण किया है, तुम उसमें कृतकृत्य हुए हैं ऐसे मैं मानता हूं; अब तुम लोगोंके परलोक गमनका समय उपस्थित हुआ है, इसलिये मेरे विचारमें अब यहांसे गमन करना ही तुम लोगोंके लिये कल्याणकारी है ॥ ३१ ॥

बलं बुद्धिश्च तेजश्च प्रतिपत्तिश्च भारत ।
भवन्ति भवकालेषु विपद्यन्ते विपर्यये ॥ ३२ ॥

भारत ! उन्नतिके समयमें मनुष्यके बल, बुद्धि, तेज तथा ज्ञानका विकास होता है और विपरीत कालमें इन सबका विनाश होता है ॥ ३२ ॥

कालमूलमिदं सर्वं जगद्बीजं धनञ्जय ।
काल एव समादत्ते पुनरेव यदृच्छया ॥ ३३ ॥

हे धनञ्जय ! काल ही सबका मूल है; उसने ही बीजस्वरूप होके इस जगत्की सृष्टि की है, और वही इच्छानुसार फिर सबका विनाश करता है ॥ ३३ ॥

स एव बलवान्भूत्वा पुनर्भवति दुर्बलः ।
स एवेशश्च भूत्वेह परैराज्ञाप्यते पुनः ॥ ३४ ॥

कालके वशसे बलवान् होके भी पुरुष फिर निर्बल होता है, तथा सबका ईश्वर होके भी फिर दूसरेकी आज्ञाके वशमें हुआ करता है ॥ ३४ ॥

कृतकृत्यानि चास्त्राणि गतान्यद्य यथागतम् ।
पुनरेष्यन्ति ते हस्तं यदा कालो भविष्यति ॥ ३५ ॥

तुमने समयके अनुसार जिन सब अस्त्रोंको पाया था, वे सब कृतकृत्य होकर जैसे मिले थे वैसे ही इस समय निज निज स्थानमें चले गये; जब योग्य समय आयेगा तब फिर वे सब तुम्हारे हाथमें आवेंगे ॥ ३५ ॥

कालो गन्तुं गतिं मुख्यां भवतामपि भारत ।
एतच्छ्रेयो हि वो मन्ये परमं भरतर्षभ ॥ ३६ ॥

हे भरतपुङ्गव ! तुम लोगोंका भी अभिलषणीय महाप्रस्थानका समय उपस्थित हुआ है । इसलिये मेरे विचारमें अब वैसा ही अनुष्ठान करनेसे तुम कल्याणका लाभ कर सकोगे ॥ ३६ ॥

एतद्वचनमाज्ञाय व्यासस्यामिततेजसः ।
अनुज्ञातो ययौ पार्थो नगरं नागसाह्वयम् ॥ ३७ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— अमिततेजस्वी श्रीवेदव्यास मुनिका ऐसा वचन सुनके वीरवर पृथानन्दन उनकी आज्ञा पाके हस्तिनापुरको चले गये ॥ ३७ ॥

प्रविश्य च पुरीं वीरः समासाद्य युधिष्ठिरम् ।
आचष्ट तद्यथावृत्तं वृष्ण्यन्धकजनं प्रति ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते मौसलपर्वणि नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥ मौसलपर्व समाप्तम् ॥ २७३ ॥

और नगरमें प्रवेश करके वीर अर्जुनने धर्मराजके समीप जाके, वृष्णि तथा अन्धकवंशियोंके विनष्ट होनेका सारा वृत्तान्त आदिसे अन्ततक कह सुनाया ॥ ३८ ॥

महाभारतके मौसलपर्वमें नवां अध्याय समाप्त ॥ ९ ॥ २७३ ॥

॥ मौसलपर्व समाप्तम् ॥

महाभारत

महाप्रस्थानिक पर्व

[मूल संस्कृत श्लोक और हिन्दी अर्थ सहित]

प्रधान सम्पादक

डॉ. पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

पारडी [जि. वलसाड]

संवत् २०३४, शक १८९९, सन् १९७७

*

प्रथम आवृत्ति

*

प्रकाशक और मुद्रक :
वसन्त श्रीपाद सातवलेकर
स्वाध्याय-मण्डळ, भारत मुद्रणालय,
किल्ला-पारडी [जि. वलसाड] गुजरात

महाप्रस्थानिकपर्व

आभार प्रदर्शन

इस महाभारत प्रकाशनके लिए भारतसरकारके शिक्षा मंत्रालयने आर्थिक सहायता प्रदान करके जो महान् कार्य किया है, उसके लिए हम हृदयसे आभारी हैं।

इस महाभारत प्रकाशनके लिए हम माननीय श्री सेठ गंगाप्रसादजी बिरला और माननीय श्री सेठ बी. एम. बिरलाजी का भी उपकार नहीं भूल सकते। उन्होंने कागज देकर हमारी जो सहायता की है, उसके लिए हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

❊

महाभारत

महाप्रस्थानिकपर्व ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

ॐ नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

ॐ गणोंके ईशके लिये नमस्कार हो ।

ॐ नरोत्तम नारायण, नर और देवी सरस्वतीको प्रणाम करके जयकी घोषणा करनी चाहिये ।

: १ :

जनमेजय उवाच—

एवं वृष्ण्यन्धककुले श्रुत्वा मौसलमाहवम् ।
पाण्डवाः किमकुर्वन्त तथा कृष्णे दिवं गते ॥ १ ॥

जनमेजय बोले— वृष्णि और अन्धकवंशियोंके वीरोंमें इस प्रकारसे मुसलयुद्ध होनेका वृत्तांत सुनकर और श्रीकृष्णके निज धाममें जानेपर पाण्डवोंने किस कार्यका अनुष्ठान किया ? ॥१॥

वैशम्पायन उवाच—

श्रुत्वैव कौरवो राजा वृष्णीनां कदनं महत् ।
प्रस्थाने मतिमाधाय वाक्यमर्जुनमब्रवीत् ॥ २ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— कौरवराज युधिष्ठिरने वृष्णिवंशियोंके वैसे दारुण विनाशका विवरण सुनके, महाप्रस्थानका निश्चय करके अर्जुनसे कहा ॥ २ ॥

कालः पचति भूतानि सर्वाण्येव महामते ।
कर्मन्यासमहं मन्ये त्वमपि द्रष्टुमर्हसि ॥ ३ ॥

हे महाबुद्धिमान् ! काल ही सब प्राणियोंको हरण किया करता है । मुझे बोध होता है, कि हम लोग भी उस ही कर्मन्यासमें आबद्ध हुए हैं, इसलिये अब तुम्हें भी इन सब विषयोंकी आलोचना करनी चाहिये ॥ ३ ॥

इत्युक्तः स तु कौन्तेयः कालः काल इति ब्रुवन् ।
अन्वपद्यत तद्वाक्यं भ्रातुर्ज्येष्ठस्य वीर्यवान् ॥ ४ ॥

जेठे भाई शक्तिमान् धर्मराजका ऐसा वचन सुनकर कुन्तीपुत्र अर्जुनने कालको अपरिहार्य कहके उनके वचनका स्वीकार किया ॥ ४ ॥

अर्जुनस्य मतं ज्ञात्वा भीमसेनो यमौ तथा ।
अन्वपद्यन्त तद्वाक्यं यदुक्तं सव्यसाचिना ॥ ५ ॥

भीमसेन और नकुल-सहदेवने भी सव्यसाची धनञ्जयका अभिप्राय जानके उन्होंने जैसा कहा, उसमें ही निज निज सम्मति प्रकाश की ॥ ५ ॥

ततो युयुत्सुमानाय्य प्रव्रजन्धर्मकाम्यया ।
राज्यं परिददौ सर्वं वैश्यापुत्रे युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥

अनन्तर राजा युधिष्ठिरने वैश्यापुत्र युयुत्सुको बुलाकर धर्माचरणके निमित्त राज्य छोडकर वनमें जानेका अभिप्राय प्रकाशित करके, उन्हें सब राज्यभार प्रदान किया ॥ ६ ॥

अभिषिच्य स्वराज्ये तु तं राजानं परिक्षितम् ।
दुःखार्तश्चाब्रवीद्राजा सुभद्रां पाण्डवाग्रजः ॥ ७ ॥

और राजा परिक्षितको निज राज्यपर अभिषिक्त करके पाण्डवोंके ज्येष्ठ भाई युधिष्ठिर अत्यंत दुःखित भावसे सुभद्रासे बोले ॥ ७ ॥

एष पुत्रस्य पुत्रस्ते कुरुराजो भविष्यति ।
यदूनां परिशेषश्च वज्रो राजा कृतश्च ह ॥ ८ ॥

तुम्हारा यह पोता परीक्षित् कुरुदेश और कौरवोंका राजा होगा और यादवोंमें बचे हुए लोगोंका राजा वज्रको बनाया गया है ॥ ८ ॥

परिक्षिद्धास्तिनपुरे शक्रप्रस्थे तु यादवः ।
वज्रो राजा त्वया रक्ष्यो मा चाधर्मे मनः कृथाः ॥ ९ ॥

परीक्षित हस्तिनापुरमें और यदुवंशी वज्र इन्द्रप्रस्थमें राज्य करेंगे । तुम्हें उसकी सदा रक्षा करनी है और कभी भी अपने मनको अधर्मकी ओर नहीं जाने देना ॥ ९ ॥

इत्युक्त्वा धर्मराजः स वासुदेवस्य धीमतः ।
मातुलस्य च वृद्धस्य रामादीनां तथैव च ॥ १० ॥

धर्मात्मा धर्मराज युधिष्ठिरने इतनी बात कहके धीमान् भगवान् श्रीकृष्ण, बूढे मामा वसुदेव और बलराम प्रभृतिको ॥ १० ॥

भ्रातृभिः सह धर्मात्मा कृत्वोदकमतन्द्रितः ।
श्राद्धान्युद्दिश्य सर्वेषां चकार विधिवत्तदा ॥ ११ ॥

भाईयोंके सहित सावधानतापूर्वक जलाञ्जलि दी और विधिपूर्वक उन सबके उद्देशसे श्राद्ध किया ॥ ११ ॥

ददौ रत्नानि वासांसि ग्रामानश्वान्रथानपि ।
स्त्रियश्च द्विजमुख्येभ्यो गवां शतसहस्रशः ॥ १२ ॥

द्विजश्रेष्ठोंको अनेक प्रकारके असंख्य रत्न, वस्त्र, ग्राम, घोडे, रथ और सैंकडों सहस्रों स्त्रियां तथा गौएं दान दीं ॥ १२ ॥

कृपमभ्यर्च्य च गुरुमर्थमानपुरस्कृतम् ।
शिष्यं परिक्षितं तस्मै ददौ भरतसत्तमः ॥ १३ ॥

तिसके अनन्तर भरतश्रेष्ठने गुरु कृपाचार्यकी बहुत धन देके पूजा करके परीक्षितको शिष्यरूपसे उनके हाथमें सौंप दिया ॥ १३ ॥

ततस्तु प्रकृतीः सर्वाः समानाय्य युधिष्ठिरः ।
सर्वमाचष्ट राजर्षिश्चिकीर्षितमथात्मनः ॥ १४ ॥

अनन्तर राजर्षि युधिष्ठिरने प्रजापुञ्जको बुलाकर वे जो करना चाहते थे वह अपना सब विषय उनसे कह सुनाया ॥ १४ ॥

ते श्रुत्वैव वचस्तस्य पौरजानपदा जनाः ।
भृशमुद्विग्नमनसो नाभ्यनन्दन्त तद्वचः ॥ १५ ॥

पुरवासी तथा जनपदवासी लोग उनका ऐसा वचन सुनके अत्यन्त दुःखितचित्त हुए और उस वचनका उन्होंने स्वागत नहीं किया ॥ १५ ॥

नैवं कर्तव्यमिति ते तदोचुस्ते नराधिपम् ।
न च राजा तथाकार्षीत्कालपर्यायधर्मवित् ॥ १६ ॥

वे सब राजासे बार बार इस प्रकार कहने लगे, हे नरनाथ ! आपको ऐसा नहीं करना चाहिये । परन्तु राजा युधिष्ठिरने कालके विपरीत धर्मको जान लिया था, इसलिये उन्होंने प्रजाके कहनेके अनुसार कार्य नहीं किया ॥ १६ ॥

ततोऽनुमान्य धर्मात्मा पौरजानपदं जनम् ।
गमनाय मतिं चक्रे भ्रातरश्चास्य ते तदा ॥ १७ ॥

उन पुरवासियों और जनपदवासियोंके लोगोंको उन धर्मात्माने समझाकर उनकी सम्मति प्राप्त की; फिर उन्होंने भाइयोंके सहित वनमें जानेकी इच्छा की ॥ १७ ॥

×

ततः स राजा कौरव्यो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
उत्सृज्याभरणान्यङ्गाज्जगृहे वल्कलान्युत ॥ १८ ॥

अनन्तर कुरुकुलश्रेष्ठ धर्मपुत्र युधिष्ठिरने शरीरके सब आभूषणोंको उतारा और वल्कल वस्त्र धारण किया ॥ १८ ॥

भीमार्जुनौ यमौ चैव द्रौपदी च यशस्विनी ।
तथैव सर्वे जगृहुर्वल्कलानि जनाधिप ॥ १९ ॥

जनाधिप ! फिर भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव और यशस्विनी द्रुपदपुत्रीने भी भूषणोंको परित्याग करके वल्कलवस्त्र पहने ॥ १९ ॥

विधिवत्कारयित्वेष्टिं नैष्ठिकीं भरतर्षभ ।
समुत्सृज्याप्सु सर्वेऽग्नीन्प्रतस्थुर्नरपुंगवाः ॥ २० ॥

हे भरतपुङ्गव ! तिसके अनन्तर उन पुरुषपुङ्गवोंने विधिपूर्वक उत्सर्गकालके अनुसार अन्तिम यज्ञ समाप्त करके अग्निको जलके बीच विसर्जन किया और वे महायात्राके लिये निकले ॥२०॥

ततः प्ररुरुदुः सर्वाः स्त्रियो दृष्ट्वा नरर्षभान् ।
प्रस्थितान्द्रौपदीषष्ठान्पुरा द्यूतजितान्यथा ॥ २१ ॥

पहले जूएके खेलमें हारनेपर जिस प्रकार पाण्डवोंने वनमें गमन किया था, उस समय भी उन श्रेष्ठ पुरुषोंको द्रौपदीके सहित उस ही भांति जाते हुए देखके नगरकी स्त्रियां रोने लगीं ॥२१॥

हर्षोऽभवच्च सर्वेषां भ्रातॄणां गमनं प्रति ।
युधिष्ठिरमतं ज्ञात्वा वृष्णिक्षयमवेक्ष्य च ॥ २२ ॥

परन्तु वे भ्रातृगण वृष्णियोंका विनाश देखके तथा युधिष्ठिरके अभिप्रायको जानके गमन-विषयमें ही हर्ष प्रकाश करने लगे । ॥ २२ ॥

भ्रातरः पञ्च कृष्णा च षष्ठी श्वा चैव सप्तमः ।
आत्मना सप्तमो राजा निर्ययौ गजसाह्वयात् ।
पौरैरनुगतो दूरं सर्वैरन्तःपुरैस्तथा ॥ २३ ॥

अनन्तर चारों भाइयों, द्रौपदी और एक कुत्ता, इन छहोंको लेकर सातवें राजा युधिष्ठिर जब हस्तिनापुरसे बाहिर हुए, तब पुरवासियों तथा अन्तःपुरवासियोंने बहुत दूरतक उनका अनुगमन किया ॥ २३ ॥

न चैनमशकत्कश्चिन्निवर्तस्वेति भाषितुम् ।
न्यवर्तन्त ततः सर्वे नरा नगरवासिनः ॥ २४ ॥

परन्तु कोई भी मनुष्य राजा युधिष्ठिरसे " निवर्तित होइये " ऐसा वचन कहनेमें समर्थ न हुआ । तिसके अनन्तर सब नगरवासी जन लौट आये ॥ २४ ॥

कृपप्रभृतयश्चैव युयुत्सुं पर्यवारयन् ।
विवेश गङ्गां कौरव्य उलूपी भुजगात्मजा ॥ २५ ॥

कृपाचार्य प्रभृति अनुयायी लोग युयुत्सुको घेरकर उनके साथ ही लौटे । भुजगनन्दिनी उलूपीने गङ्गामें प्रवेश किया ॥ २५ ॥

चित्राङ्गदा ययौ चापि मणिपूरपुरं प्रति ।
शिष्टाः परिक्षितं त्वन्या मातरः पर्यवारयन् ॥ २६ ॥

तथा चित्राङ्गदा मणिपुरनगरकी ओर चली गई, दूसरी शेष माताएं परीक्षितको घेरकर पीछे लौटीं ॥ २६ ॥

पाण्डवाश्च महात्मानो द्रौपदी च यशस्विनी ।
कृतोपवासाः कौरव्य प्रययुः प्राङ्मुखास्ततः ॥ २७ ॥

हे कुरुनन्दन ! इधर महात्मा पाण्डवों तथा यशस्विनी द्रुपदनन्दिनीने उपवासी होकर पूर्वकी ओर मुंह करके गमन किया ॥ २७ ॥

योगयुक्ता महात्मानस्त्यागधर्ममुपेयुषः ।
अभिजग्मुर्बहून्देशान्सरितः पर्वतांस्तथा ॥ २८ ॥

वे सब योगयुक्त और संन्यास धर्मका अवलंबन करनेवाले थे; उन्होंने अनेक जनपद, पर्वत तथा नदियोंकी यात्रा की ॥ २८ ॥

युधिष्ठिरो ययावग्रे भीमस्तु तदनन्तरम् ।
अर्जुनस्तस्य चान्वेव यमौ चैव यथाक्रमम् ॥ २९ ॥

उस समय युधिष्ठिर सबके आगे, और भीमसेन, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव यथाक्रमसे एक दूसरेके पीछे चलने लगे ॥ २९ ॥

पृष्ठतस्तु वरारोहा श्यामा पद्मदलेक्षणा ।
द्रौपदी योषितां श्रेष्ठा ययौ भरतसत्तम ॥ ३० ॥

हे भरतसत्तम ! कमलदल नयनी, श्यामाङ्गिनी उत्तम शरीरवाली, स्त्रियोंमें श्रेष्ठ द्रुपदनन्दिनी उन सबके पीछे चलने लगी ॥ ३० ॥

श्वा चैवानुययावेकः पाण्डवान्प्रस्थितान्वने ।
क्रमेण ते ययुर्वीरा लौहित्यं सलिलार्णवम् ॥ ३१ ॥

इसही प्रकार जब पाण्डुपुत्रोंने वनकी ओर प्रस्थान किया, तब एक कुत्ता भी उनके पीछे जा रहा था । क्रमशः चलते हुए वे वीर लाल सागरके प्रदेशमें आये ॥ ३१ ॥

गाण्डीवं च धनुर्दिव्यं न मुमोच धनंजयः ।
रत्नलोभान्महाराज तौ चाक्षय्यौ महेषुधी ॥ ३२ ॥

हे महाराज ! उस महाप्रस्थानके समयमें भी धनञ्जयने दिव्य रत्नलोभके वशमें होकर दिव्य गाण्डीव धनुष और दोनों अक्षय तूणीरोंका परित्याग नहीं किया था ॥ ३२ ॥

अग्निं ते ददृशुस्तत्र स्थितं शैलमिवाग्रतः ।
मार्गमावृत्य तिष्ठन्तं साक्षात्पुरुषविग्रहम् ॥ ३३ ॥

वहां उन लोगोंने देखा, कि मूर्तिमान् अग्निदेव पुरुषका रूप धारण करके पर्वतकी भांति मार्ग रोकके सामने खडे हुए हैं ॥ ३३ ॥

ततो देवः स सप्तार्चिः पाण्डवानिदमब्रवीत् ।
भो भो पाण्डुसुता वीराः पावकं मां विबोधत ॥ ३४ ॥

अनन्तर देवश्रेष्ठ सप्तार्चि अग्निदेव पाण्डवोंको इस प्रकार बोले— हे वीर पाण्डुपुत्रो ! मुझे अग्नि जानो ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर महाबाहो भीमसेन परंतप ।
अर्जुनाश्विसुतौ वीरौ निबोधत वचो मम ॥ ३५ ॥

हे महाबाहु युधिष्ठिर ! हे शत्रुओंको संताप देनेवाले भीमसेन ! हे अर्जुन ! हे वीर दोनों अश्विनीकुमार ! तुम सब कोई मेरा वचन सुनो ॥ ३५ ॥

अहमग्निः कुरुश्रेष्ठा मया दग्धं च खाण्डवम् ।
अर्जुनस्य प्रभावेण तथा नारायणस्य च ॥ ३६ ॥

हे कुरुश्रेष्ठगण ! मैं अग्नि हूं; मैंने उन नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके प्रभावसे खाण्डवबनको जलाया था ॥ ३६ ॥

अयं वः फल्गुनो भ्राता गाण्डीवं परमायुधम् ।
परित्यज्य वनं यातु नानेनार्थोऽस्ति कश्चन ॥ ३७ ॥

तुम लोगोंका भ्राता यह अर्जुन इस परमायुध गाण्डीवका परित्याग करके बनमें जावे, क्यों कि इस समय इससे इनका अब कुछ प्रयोजन नहीं है ॥ ३७ ॥

चक्ररत्नं तु यत्कृष्णे स्थितमासीन्महात्मनि ।
गतं तच्च पुनर्हस्ते कालेनैष्यति तस्य ह ॥ ३८ ॥

महात्मा श्रीकृष्णके पास जो चक्ररत्न था, वह इस समय चला गया है, परन्तु फिर समय आनेपर उनके हाथमें स्थित होगा ॥ ३८ ॥

वरुणादाहृतं पूर्वं मयैतत्पार्थकारणात् ।
गाण्डीवं कार्मुकश्रेष्ठं वरुणायैव दीयताम् ॥ ३९ ॥

मैंने अर्जुनके निमित्त बरुणके समीपसे यह धनुषोंमें श्रेष्ठ गाण्डीव लाया था, इसलिये अब यह बरुणको ही वापस दिया जावे ॥ ३९ ॥

ततस्ते भ्रातरः सर्वे धनंजयमचोदयन् ।
स जले प्राक्षिपत्तत्तु तथाक्षय्यौ महेषुधी ॥ ४० ॥

अग्निदेवकी इतनी बात सुनके सब भाइयोंने अर्जुनसे वह धनुष त्याग देनेके लिये अनुरोध किया, तब उन्होंने वह धनुष और दोनों अक्षय तूणीर जलके बीच फेंक दिये ॥ ४० ॥

ततोऽग्निर्भरतश्रेष्ठ तत्रैवान्तरधीयत ।
ययुश्च पाण्डवा वीरास्ततस्ते दक्षिणामुखाः ॥ ४१ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! उसे देखकर अग्निदेव भी शीघ्रही उसी स्थानमें अन्तर्धान हुए और पाण्डव वीरोंने भी दक्षिणकी ओर गमन किया ॥ ४१ ॥

ततस्ते तूत्तरेणैव तीरेण लवणाम्भसः ।
जग्मुर्भरतशार्दूल दिशं दक्षिणपश्चिमम् ॥ ४२ ॥

हे भरतशार्दूल ! अनन्तर वे लोग लवण समुद्रके उत्तर किनारेसे चलते हुए दक्षिण–पश्चिम दिशामें गये ॥ ४२ ॥

ततः पुनः समावृत्ताः पश्चिमां दिशमेव ते ।
ददृशुर्द्वारकां चापि सागरेण परिप्लुताम् ॥ ४३ ॥

तिसके अनन्तर वहांसे निवृत्त होकर पश्चिमकी ओर जाकर देखा, कि महासागरने द्वारका-पुरीको डुबा दिया है ॥ ४३ ॥

उदीचीं पुनरावृत्त्य ययुर्भरतसत्तमाः ।
प्रादक्षिण्यं चिकीर्षन्तः पृथिव्या योगधर्मिणः ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते महाप्रस्थानिकपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ ४४ ॥

इस ही प्रकार वे योगावलम्बी भरतसत्तम पाण्डव पृथिवीकी प्रदक्षिणा करनेके लिये अभिलाषी होकर पश्चिमदिशासे लौटकर उत्तरकी ओर चले ॥ ४४ ॥

महाभारतके महाप्रस्थानिकपर्वमें पहला अध्याय समाप्त ॥ १ ॥ ४४ ॥

: २ :

वैशम्पायन उवाच—

ततस्ते नियतात्मान उदीचीं दिशमास्थिताः ।
ददृशुर्योगयुक्ताश्च हिमवन्तं महागिरिम् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— संयतचित्त पाण्डुपुत्रोंने इसही प्रकार तीनों दिशाओंकी प्रदक्षिण करके समाहित मनसे उत्तरकी ओर जाके महागिरी हिमवान्को देखा ॥ १ ॥

तं चाप्यतिक्रमन्तस्ते ददृशुर्वालुकार्णवम् ।
अवैक्षन्त महाशैलं मेरुं शिखरिणां वरम् ॥ २ ॥

उन लोगोंने उस शैलराजको अतिक्रम करके बालुकामय समुद्रको देखा; फिर पर्वतोंमें श्रेष्ठ महाशैल सुमेरुका भी दर्शन किया ॥ २ ॥

तेषां तु गच्छतां शीघ्रं सर्वेषां योगधर्मिणाम् ।
याज्ञसेनी भ्रष्टयोगा निपपात महीतले ॥ ३ ॥

वे योगधर्ममें स्थित सब शीघ्रतासे चल रहे थे, इतने ही समयमें द्रौपदी योगभ्रष्ट होकर पृथ्वीतलमें गिर पडी ॥ ३ ॥

तां तु प्रपतितां दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ।
उवाच धर्मराजानं याज्ञसेनीमवेक्ष्य ह ॥ ४ ॥

द्रुपदपुत्रीको नीचे गिरती हुई देखकर महाबली भीमसेनने धर्मराज युधिष्ठिरसे पूछा ॥ ४ ॥

नाधर्मश्चरितः कश्चिद्राजपुत्र्या परंतप ।
कारणं किं नु तद्राजन्यत्कृष्णा पतिता भुवि ॥ ५ ॥

हे अरिन्दम राजन् ! इस राजपुत्री कृष्णाने कभी अधर्माचरण नहीं किया, तो भी पृथ्वीतलमें गिर पडी, इसका क्या कारण है ? मुझसे इसका कारण कहिये ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

पक्षपातो महानस्या विशेषेण धनंजये ।
तस्यैतत्फलमद्यैषा भुङ्क्ते पुरुषसत्तम ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे पुरुषोत्तम ! हम सब लोगोंके तुल्य होनेपर भी अर्जुनके ऊपर विशेष रीतिसे इसका महत् पक्षपात था, यह आज उस ही फलको भोग करती है ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वानवेक्ष्यैनां ययौ धर्मसुतो नृपः ।
समाधाय मनो धीमान्धर्मात्मा पुरुषर्षभः ॥ ७ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— धर्मात्मा धीमान् पुरुषपुङ्गव धर्मपुत्र युधिष्ठिर इतनी बात कहके द्रौपदीकी ओर देखे बिना ही एकाग्र चित्त करके आगे चलने लगे ॥ ७ ॥

सहदेवस्ततो धीमान्निपपात महीतले ।
तं चापि पतितं दृष्ट्वा भीमो राजानमब्रवीत् ॥ ८ ॥

इतने ही समयके बीच धीमान् सहदेव पृथ्वीतलमें गिरे । उसे गिरा देखकर भीमने धर्मराजसे पूछा ॥ ८ ॥

योऽयमस्मासु सर्वेषु शुश्रूषुरनहंकृतः ।
सोऽयं माद्रवतीपुत्रः कस्मान्निपतितो भुवि ॥ ९ ॥

जो अहङ्काररहित होकर सदा हम सब लोगोंकी सेवा करते थे, यह वही माद्रीपुत्र किस निमित्त पृथ्वीपर गिरे ? ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

आत्मनः सदृशं प्राज्ञं नैषोऽमन्यत कंचन ।
तेन दोषेण पतितस्तस्मादेष नृपात्मजः ॥ १० ॥

युधिष्ठिर बोले— यह राजपुत्र किसी पुरुषको अपने समान बुद्धिमान् नहीं समझते थे, ये उस दोषसे ही इस समय गिरे हैं ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्त्वा तु समुत्सृज्य सहदेवं ययौ तदा ।
भ्रातृभिः सह कौन्तेयः शुना चैव युधिष्ठिरः ॥ ११ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर इतनी बात कहके ही उस समय सहदेवको परित्याग कर भाइयों तथा उस कुत्तेके सहित आगे चलने लगे ॥ ११ ॥

कृष्णां निपतितां दृष्ट्वा सहदेवं च पाण्डवम् ।
आर्तो बन्धुप्रियः शूरो नकुलो निपपात ह ॥ १२ ॥

परन्तु द्रौपदी और पाण्डुनन्दन सहदेवको गिरते हुए देखके भ्रातृप्रिय शूर नकुल शोकसे पीडित होके पृथ्वीतलमें गिर पडे ॥ १२ ॥

तस्मिन्निपतिते वीरे नकुले चारुदर्शने ।
पुनरेव तदा भीमो राजानमिदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

उस वीरश्रेष्ठ सुन्दर नकुलके गिरनेपर भीमसेनने फिर राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार पूछा ॥ १३ ॥

योऽयमक्षतधर्मात्मा भ्राता वचनकारकः ।
रूपेणाप्रतिमो लोके नकुलः पतितो भुवि ॥ १४ ॥

जो कभी धर्ममार्गसे विचलित नहीं हुए, सदा हम लोगोंके आज्ञानुवर्ती थे और तीनों लोकोंके बीच जिनके सदृश रूपवान् कोई नहीं है, यह वही भ्राता नकुल किस निमित्त पृथ्वीतलमें गिरे ? ॥ १४ ॥

इत्युक्तो भीमसेनेन प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ।
नकुलं प्रति धर्मात्मा सर्वबुद्धिमतां वरः ॥ १५ ॥

बुद्धिमान् पुरुषोंमें अग्रगण्य धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर भीमसेनका ऐसा प्रश्न सुनके नकुलके विषयमें यह बोले ॥ १५ ॥

रूपेण मत्समो नास्ति कश्चिदित्यस्य दर्शनम् ।
अधिकश्चाहमेवैक इत्यस्य मनसि स्थितम् ॥ १६ ॥

नकुल सर्वदा मनमें ऐसी धारणा करते थे, कि तीनों लोकोंके बीच मेरे समान रूपवान् दूसरा कोई नहीं है, तथा मैंही एकमात्र सबसे अधिक रूपवान् हूं ॥ १६ ॥

नकुलः पतितस्तस्मादागच्छ त्वं वृकोदर ।
यस्य यद्विहितं वीर सोऽवश्यं तदुपाश्नुते ॥ १७ ॥

हे वृकोदर ! ये इस समय उस ही गर्ववशसे गिरे हैं । हे वीर ! जिसके लिये जिस प्रकार विहित हुआ है, वह अवश्य उसहीके अनुरूप फल भोग करेगा, इसलिये इसके निमित्त शोक न करके आगमन करो ॥ १७ ॥

तांस्तु प्रपतितान्दृष्ट्वा पाण्डवः श्वेतवाहनः ।
पपात शोकसंतप्तस्ततोऽनु परवीरहा ॥ १८ ॥

द्रौपदी और नकुल–सहदेव भाइयोंको इस प्रकार गिरते हुए देखकर पाण्डुपुत्र परवीरनिषूदन श्वेतवाहन पार्थ शोकसे सन्तापित होकर गिर पडे ॥ १८ ॥

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे पतिते शक्रतेजसि ।
म्रियमाणे दुराधर्षे भीमो राजानमब्रवीत् ॥ १९ ॥

सुरराज इन्द्र सदृश तेजस्वी दुराधर्ष पुरुषसिंह अर्जुनको पृथ्वीपर गिरते तथा मरते देखकर, भीमने फिर राजासे पूछा ॥ १९ ॥

अनृतं न स्मराम्यस्य स्वैरेष्वपि महात्मनः ।
अथ कस्य विकारोऽयं येनायं पतितो भुवि ॥ २० ॥

मुझे ऐसा स्मरण होता है, कि इन्होंने कभी परिहासके छलसे भी मिथ्या वचन नहीं कहा था, तथापि किस कर्मविकारसे इस समय ये पृथ्वीमें गिरे ? ॥ २० ॥

युधिष्ठिर उवाच—

एकाह्ना निर्दहेयं वै शत्रूनित्यर्जुनोऽब्रवीत् ।
न च तत्कृतवानेष शूरमानी ततोऽपतत् ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर बोले– अर्जुनने कहा था, कि मैं एक ही दिनके बीच शत्रुओंको जला दूंगा; परन्तु कार्यसे उसे पूरा नहीं किया । हे वीर ! ये शूरताभिमानी इस समय उस मिथ्या प्रतिज्ञासे ही गिरे ॥ २१ ॥

अवमेने धनुर्ग्राहानेष सर्वांश्च फल्गुनः ।
यथा चोक्तं तथा चैव कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ २२ ॥

विशेष करके अर्जुन धनुर्धारियोंमें अग्रगण्य थे, इसलिये सदा दूसरे धनुर्धरोंकी अवज्ञा करते थे, यह भी उनके गिरनेका दूसरा कारण है । अपना कल्याण इच्छनेवालेको जैसे कहना वैसे ही करना चाहिये ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्त्वा प्रस्थितो राजा भीमोऽथ निपपात ह ।
पतितश्चाब्रवीद्भीमो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ २३ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— राजा युधिष्ठिर इतनी बात कहके ही चलने लगे, उस ही समय भीमसेन भी गिरे और गिरते गिरते धर्मराज युधिष्ठिरसे बोले ॥ २३ ॥

भो भो राजन्नवेक्षस्व पतितोऽहं प्रियस्तव ।
किंनिमित्तं च पतनं ब्रूहि मे यदि वेत्थ ह ॥ २४ ॥

भो भो राजन् ! यह देखिये, मैं तुम्हारा प्रिय होके भी यहां गिर पडा हूं । मैं किस निमित्त गिरता हूं ? यदि आपको यह मालूम हो, तो प्रकाश करके शीघ्र कहिये ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अतिभुक्तं च भवता प्राणेन च विकत्थसे ।
अनवेक्ष्य परं पार्थ तेनासि पतितः क्षितौ ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भीम ! तुम बहुतसा भोजन करते और दूसरेके बलको न देखकर सदा अपने बलकी बडाई करते थे, इस ही निमित्त पृथ्वीमें गिरे हो ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्त्वा तं महाबाहुर्जगामानवलोकयन् ।
श्वा त्वेकोऽनुययौ यस्ते बहुशः कीर्तितो मया ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते महाप्रस्थानिकपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ ७० ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— महाबाहु युधिष्ठिर इतनी बात कहके उनकी ओर न देखकर ही चलने लगे । मैंने जिसका विषय बारंवार तुम्हारे निकट वर्णन किया है, उस समय वह एकमात्र कुत्ता ही उनका अनुगमन करने लगा ॥ २६ ॥

महाभारतके महाप्रस्थानिकपर्वमें दूसरा अध्याय समाप्त ॥ २ ॥ ७० ॥

: ३ :

वैशम्पायन उवाच—

ततः संनादयञ्शक्रो दिवं भूमिं च सर्वशः ।
रथेनोपययौ पार्थमारोहेत्यब्रवीच्च तम् ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— अनन्तर पृथ्वी और आकाशमण्डलको सन्नादित करते हुए देवराज इन्द्र रथसे उस स्थानमें आये और उन्होंने युधिष्ठिरको रथपर चढनेके लिये कहा ॥ १ ॥

स भ्रातॄन्पतितान्दृष्ट्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अब्रवीच्छोकसंतप्तः सहस्राक्षमिदं वचः ॥ २ ॥

परन्तु धर्मराज युधिष्ठिर भाइयोंको गिरे हुए देखके शोकसे सन्तापित होकर सहस्रलोचन इन्द्रसे यह बचन बोले ॥ २ ॥

भ्रातरः पतिता मेऽत्र आगच्छेयुर्मया सह ।
न विना भ्रातृभिः स्वर्गमिच्छे गन्तुं सुरेश्वर ॥ ३ ॥

हे सुरेश्वर ! मेरे भाई मार्गमें गिरे हुए हैं; भ्रातृवृन्द मेरे सङ्ग चलें, यही मुझे अत्यन्त अभिलषणीय है; इसलिये मैं अपने भाइयोंसे रहित होकर स्वर्गमें जानेकी इच्छा नहीं करता ॥ ३ ॥

सुकुमारी सुखार्हा च राजपुत्री पुरंदर ।
सास्माभिः सह गच्छेत तद्भवाननुमन्यताम् ॥ ४ ॥

हे पुरन्दर ! कोमलांगी और सुख भोगनेयोग्य राजपुत्री द्रौपदीको हमारे साथ चलनेकी आपको अनुमति देना उचित है ॥ ४ ॥

इन्द्र उवाच—

भ्रातॄन्द्रक्ष्यसि पुत्रांस्त्वमग्रतस्त्रिदिवं गतान् ।
कृष्णया सहितान्सर्वान्मा शुचो भरतर्षभ ॥ ५ ॥

इन्द्र बोले— हे भरतपुङ्गव ! तुम्हारे सब भाई तुमसे पहले ही सुरलोकमें गये हैं, तुम स्वर्गमें जाके ही द्रौपदीके सहित उन लोगोंको देखोगे, इसलिये शोक मत करो ॥ ५ ॥

निक्षिप्य मानुषं देहं गतास्ते भरतर्षभ ।
अनेन त्वं शरीरेण स्वर्गं गन्ता न संशयः ॥ ६ ॥

हे भारत ! वे लोग मनुष्यशरीरका परित्याग करके स्वर्गमें गये हैं, परन्तु तुम निःसंदेह इस शरीरसे ही स्वर्गमें जाओगे, इसमें संदेह नहीं है ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अयं श्वा भूतभव्येश भक्तो मां नित्यमेव ह ।
स गच्छेत मया सार्धमानृशंस्या हि मे मतिः ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भूतभव्यके ईश्वर ! यह कुत्ता मेरा चिरभक्त है, इसलिये इसे अपने सङ्ग स्वर्गमें ले जानेकी इच्छा करता हूं, कृपया आज्ञा दीजिये; क्योंकि मेरी बुद्धिमें निर्दयता नहीं है ॥ ७ ॥

इन्द्र उवाच—

अमर्त्यत्वं मत्समत्वं च राजञ्श्रियं कृत्स्नां महतीं चैव कीर्तिम् ।
संप्राप्तोऽद्य स्वर्गसुखानि च त्वं त्यज श्वानं नात्र नृशंसमस्ति ॥ ८ ॥

इन्द्र बोले— हे राजन् ! इस समय तुम मर्त्य भावसे रहित होके मेरे सदृश हुए हो और समग्र लक्ष्मी, महती कीर्ति तथा स्वर्गसुख प्राप्त किया है; इसलिये इस कुत्तेका परित्याग करो, इसमें तुम्हारी किसी प्रकार निर्दयता नहीं होगी ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

अनार्यमार्येण सहस्रनेत्र शक्यं कर्तुं दुष्करमेतदार्य ।
मा मे श्रिया संगमनं तयास्तु यस्याः कृते भक्तजनं त्यजेयम् ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे सहस्रलोचन आर्य ! आर्य पुरुष होके इस प्रकारके अनार्य कार्यको करना दुष्कर है; आप जिस ऐश्वर्यकी बात कहते हैं, उसकी प्राप्ति मुझे न हो, जिसके लिये इस प्रकार भक्तजनका परित्याग करना पडेगा ॥ ९ ॥

इन्द्र उवाच—

स्वर्गे लोके श्ववतां नास्ति धिष्ण्यमिष्टापूर्तं क्रोधवशा हरन्ति ।
ततो विचार्य क्रियतां धर्मराज त्यज श्वानं नात्र नृशंसमस्ति ॥ १० ॥

इन्द्र बोले– जिन लोगोंके यहां कुत्ता रहता है, उन अपवित्र लोगोंको स्वर्गमें स्थान नहीं मिलता, क्योंकि क्रोधवश नामक राक्षस उनके यज्ञ आदि कार्योंके पुण्यके फलको हरण किया करते हैं; हे धर्मराज ! इसलिये तुम विचार करके काम करो, इस कुत्तेका परित्याग करो, उसमें तुम्हारी निर्दयता नहीं होगी ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच—

भक्तत्यागं प्राहुरत्यन्तपापं तुल्यं लोके ब्रह्मवध्याकृतेन ।
तस्मान्नाहं जातु कथंचनाद्य त्यक्ष्याम्येनं स्वसुखार्थी महेन्द्र ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे महेन्द्र ! मुनि लोग जगत्में भक्तत्यागको ब्रह्महत्याके सदृश महापातक कहा करते हैं; इसलिये मैं निज सुखकी अभिलाषासे इस भक्तका किसी प्रकार भी परित्याग न कर सकूंगा ॥ ११ ॥

इन्द्र उवाच—

शुना दृष्टं क्रोधवशा हरन्ति यद्दत्तमिष्टं विवृतमथो हुतं च ।
तस्माच्छुनस्त्यागमिमं कुरुष्व शुनस्त्यागात्प्राप्स्यसे देवलोकम् ॥ १२ ॥

इन्द्र बोले– हे धर्मराज ! मनुष्य जो दान, यज्ञ, स्वाध्याय तथा हवन आदि पुण्यकर्म करता है, वह सारमेयके द्वारा देखे जानेपर क्रोधवश नामक राक्षस उसके फलको हरण करते हैं, इसलिये तुम इस कुत्तेका परित्याग करो, क्योंकि इस कुत्तेको परित्याग करनेसे ही देवलोकमें जा सकोगे ॥ १२ ॥

त्यक्त्वा भ्रातॄन्दयितां चापि कृष्णां प्राप्तो लोकः कर्मणा स्वेन वीर ।
श्वानं चैनं न त्यजसे कथं नु त्यागं कृत्स्नं चास्थितो मुह्यसेऽद्य ॥ १३ ॥

हे वीर ! तुमने भाइयों तथा पत्नी द्रौपदीका परित्याग करके निज कर्मके सहारे इस देवलोकको प्राप्त किया है; फिर तुम इस कुत्तेको क्यों नहीं छोड देते ? सब त्यागकर आज कुत्तेके मोहमें कैसे पड गये हैं ? ॥ १३ ॥

×

युधिष्ठिर उवाच—

न विद्यते संधिरथापि विग्रहो मृतैर्मर्त्यैरिति लोकेषु निष्ठा ।
न ते मया जीवयितुं हि शक्या तस्मात्त्यागस्तेषु कृतो न जीवताम् ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे सुरेश्वर ! जगत्में मरे हुए मनुष्योंके सङ्ग मर्त्य लोगोंकी सन्धि, विग्रह तथा दूसरे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रहता; अपने भाई तथा द्रौपदीको जीवित करना मेरे स्वाधीन नहीं है । मैंने इस लोकस्थितिके वशमें होके ही उनका परित्याग किया है, उन्हें जीवित रहते नहीं छोडा है ॥ १४ ॥

प्रतिप्रदानं शरणागतस्य स्त्रिया वधो ब्राह्मणस्वापहारः ।
मित्रद्रोहस्तानि चत्वारि शक्र भक्तत्यागश्चैव समो मतो मे ॥ १५ ॥

हे शक्र ! शरणागतको वापस दे देना, स्त्रीका वध करना, ब्राह्मणका धन लूटना और मित्रद्रोह करना ये जो चार पातक हैं, मैं अकेले भक्तके त्यागको उन्हींके सदृश ही समझता हूं ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तद्धर्मराजस्य वचो निशम्य धर्मस्वरूपी भगवानुवाच ।
युधिष्ठिरं प्रीतियुक्तो नरेन्द्रं श्लक्ष्णैर्वाक्यैः संस्तवसंप्रयुक्तैः ॥ १६ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— कुत्तेका रूप धारण किये हुए धर्मस्वरूपी भगवान् धर्मराज युधिष्ठिरका ऐसा वचन सुनके अत्यन्त प्रसन्न हुए और स्तवयुक्त मधुर बाणीमें नरेन्द्र युधिष्ठिरसे कहने लगे ॥ १६ ॥

अभिजातोऽसि राजेन्द्र पितुर्वृत्तेन मेधया ।
अनुक्रोशेन चानेन सर्वभूतेषु भारत ॥ १७ ॥

हे राजेन्द्र भारत ! तुम निज बुद्धि और सब प्राणियोंके प्रति ऐसी दया प्रकट करके अपनी कुलीनता तथा उत्तम पिताके कुलमें उत्पन्न हुए हो, यह सिद्ध कर रहे हो ॥ १७ ॥

पुरा द्वैतवने चासि मया पुत्र परीक्षितः ।
पानीयार्थे पराक्रान्ता यत्र ते भ्रातरो हताः ॥ १८ ॥

हे पुत्र ! पहले द्वैतवनमें, जब तुम्हारे भाई पानी लानेके लिये प्रयत्न करते हुए मारे गये थे, तब मैंने तुम्हारी परीक्षा ली थी ॥ १८ ॥

भीमार्जुनौ परित्यज्य यत्र त्वं भ्रातरावुभौ ।
मात्रोः साम्यमभीप्सन्वै नकुलं जीवमिच्छसि ॥ १९ ॥

उस समय तुमने सहोदर भीम तथा अर्जुनको परित्याग करके मातृकुलके साम्याभिलाषसे केवल नकुलको जीवित करनेकी इच्छा की थी ॥ १९ ॥

अयं श्वा भक्त इत्येव त्यक्तो देवरथस्त्वया ।
तस्मात्स्वर्गे न ते तुल्यः कश्चिदस्ति नराधिप ॥ २० ॥

हे नरनाथ ! बोध होता है, स्वर्गमें तुम्हारे समान कोई नहीं है; क्योंकि इस कुत्तेको भक्त कहके तुम इसके अनुरोधसे देवरथको भी परित्याग करनेके लिये उद्यत हुए हो ॥ २० ॥

अतस्तवाक्षया लोकाः स्वशरीरेण भारत ।
प्राप्तोऽसि भरतश्रेष्ठ दिव्यां गतिमनुत्तमाम् ॥ २१ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! इस ही कारण तुमने सशरीर ही अक्षय स्वर्गलोक और परम श्रेष्ठ दिव्य गति प्राप्त की ॥ २१ ॥

ततो धर्मश्च शक्रश्च मरुतश्चाश्विनावपि ।
देवा देवर्षयश्चैव रथमारोप्य पाण्डवम् ॥ २२ ॥

अनन्तर धर्म, इन्द्र, मरुद्गण, अश्विनीकुमार, देव और देवर्षियोंने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको रथपर बिठाकर ॥ २२ ॥

प्रययुः स्वैर्विमानैस्ते सिद्धाः कामविहारिणः ।
सर्वे विरजसः पुण्याः पुण्यवाग्बुद्धिकर्मिणः ॥ २३ ॥

अपने अपने विमानोंमें चढकर चलने लगे । वे सब इच्छानुसार विहार करनेवाले, रजोगुण-विहीन पुण्यात्मा, पवित्र वाणी, बुद्धि तथा कर्मवाले तथा सिद्ध थे ॥ २३ ॥

स तं रथं समास्थाय राजा कुरुकुलोद्वहः ।
ऊर्ध्वमाचक्रमे शीघ्रं तेजसावृत्य रोदसी ॥ २४ ॥

कुरुकुलश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर भी उस रथपर चढके निज तेजसे पृथ्वी और स्वर्गको परिपूरित करते हुए शीघ्र ही ऊपरको जाने लगे ॥ २४ ॥

ततो देवनिकायस्थो नारदः सर्वलोकवित् ।
उवाचोच्चैस्तदा वाक्यं बृहद्वादी बृहत्तपाः ॥ २५ ॥

उस समय सुरपुरमें स्थित सर्वलोकवित् बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ महान् तपस्वी नारद मुनि ऊंचे स्वरसे यह वचन बोले ॥ २५ ॥

येऽपि राजर्षयः सर्वे ते चापि समुपस्थिताः ।
कीर्तिं प्रच्छाद्य तेषां वै कुरुराजोऽधितिष्ठति ॥ २६ ॥

जो सब राजर्षि स्वर्गमें आये हैं, वे सभी उपस्थित हैं; परन्तु कुरुराज युधिष्ठिर उन सबकी कीर्तिको आच्छादित करके आरहे हैं ॥ २६ ॥

लोकानावृत्य यशसा तेजसा वृत्तसंपदा ।
स्वशरीरेण संप्राप्तं नान्यं शुश्रुम पाण्डवात् ॥ २७ ॥

मैंने ऐसे किसी राजर्षिकी कथा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके सिवा नहीं सुनी, जिसने निज यश, तेज, सच्चरित रूप सम्पत्तिसे तीनों लोकोंको आवृत करते हुए, सशरीर ही स्वर्गलोक प्राप्त किया है ॥ २७ ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा राजा वचनमब्रवीत् ।
देवानामन्त्र्य धर्मात्मा स्वपक्षांश्चैव पार्थिवान् ॥ २८ ॥

नारद मुनिका बचन सुनके धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर देवताओं तथा अपने पक्षके राजाओंकी अनुमति लेकर बोले ॥ २८ ॥

शुभं वा यदि वा पापं भ्रातॄणां स्थानमद्य मे ।
तदेव प्राप्तुमिच्छामि लोकानन्यान्न कामये ॥ २९ ॥

जिस स्थानमें मेरे भ्रातृवृन्द गये हैं, वह शुभ हो अथवा अशुभ ही होवे, मैं उस ही स्थानको पानेकी इच्छा करता हूं; दूसरे लोकोंमें जानेकी मेरी अभिलाषा नहीं है ॥ २९ ॥

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा देवराजः पुरंदरः ।
आनृशंस्यसमायुक्तं प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ॥ ३० ॥

धर्मराजका वचन सुनकर देवराज पुरन्दर दयालु हृदयभावमें युधिष्ठिरसे बोले ॥ ३० ॥

स्थानेऽस्मिन्वस राजेन्द्र कर्मभिर्निर्जिते शुभैः ।
किं त्वं मानुष्यकं स्नेहमद्यापि परिकर्षसि ॥ ३१ ॥

हे राजेन्द्र ! अबतक भी किस निमित्त मानुष सुलभ स्नेहभावको ढो रहे हो ? निज शुभ कर्मोंके सहारे जो लोक तुमने पाया है, इस समय उसमें ही वास करो ॥ ३१ ॥

सिद्धिं प्राप्तोऽसि परमां यथा नान्यः पुमान्क्वचित् ।
नैव ते भ्रातरः स्थानं संप्राप्ताः कुरुनन्दन ॥ ३२ ॥

हे कुरुनन्दन ! जो किसी दूसरे पुरुषको कभी और कहीं प्राप्त नहीं हुई, तुमने वैसी परम सिद्धि पाई है, परन्तु तुम्हारे भाइयोंको कोई ऐसा स्थान प्राप्त नहीं हुआ है ॥ ३२ ॥

अद्यापि मानुषो भावः स्पृशते त्वां नराधिप ।
स्वर्गोऽयं पश्य देवर्षीन्सिद्धांश्च त्रिदिवालयान् ॥ ३३ ॥

हे नरनाथ ! इस समय भी जो मनुष्यभाव तुम्हें परित्याग नहीं करता है, उसका क्या कारण है ? यह स्वर्ग है; इन त्रिदिवनिवासी देवर्षियों तथा सिद्धोंको देखो ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिरस्तु देवेन्द्रमेवंवादिनमीश्वरम् ।
पुनरेवाब्रवीद्धीमानिदं वचनमर्थवत् ॥ ३४ ॥

सर्वभूतेश्वर देवेन्द्रके ऐसी बात कहते रहनेपर धीमान् युधिष्ठिर फिर यह अर्थयुक्त वचन बोले ॥ ३४ ॥

तैर्विना नोत्सहे वस्तुमिह दैत्यनिबर्हण ।
गन्तुमिच्छामि तत्राहं यत्र मे भ्रातरो गताः ॥ ३५ ॥

हे दैत्यनिषूदन ! मैं भाइयोंसे रहित होके इस स्थानमें वास करनेकी इच्छा नहीं करता; इसलिये जहां मेरे भ्रातृगण गये हैं, मैं उसी स्थानमें जाना चाहता हूं ॥ ३५ ॥

यत्र सा बृहती श्यामा बुद्धिसत्त्वगुणान्विता ।
द्रौपदी योषितां श्रेष्ठा यत्र चैव प्रिया मम ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते महाप्रस्थानिकपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ १०६ ॥

जिस स्थानमें वह बुद्धिमती तथा सत्त्वगुणान्विता श्यामाङ्गिनी वरवर्णिनी स्त्रियोंमें श्रेष्ठ, मेरी प्रिया द्रुपदनन्दिनी गई है, मैं उस स्थानमें ही जाऊंगा ॥ ३६ ॥

महाभारतके महाप्रस्थानिकपर्वमें तीसरा अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥ १०६ ॥

॥ महाप्रस्थानिकपर्व समाप्तम् ॥

महाभारत

स्वर्गारोहण पर्व

[मूल संस्कृत श्लोक और हिन्दी अर्थ सहित]

प्रधान सम्पादक

डॉ. पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

पारडी [जि. वलसाड]

संवत् २०३४, शक १८९९, सन् १९७७

*

प्रथम आवृत्ति

*

प्रकाशक और मुद्रक :
वसन्त श्रीपाद सातवलेकर
स्वाध्याय-मण्डळ, भारत मुद्रणालय,
किल्ला-पारडी [जि. वलसाड] गुजरात

स्वर्गारोहणपर्व

आभार प्रदर्शन

इस महाभारत प्रकाशनके लिए भारतसरकारके शिक्षा मंत्रालयने आर्थिक सहायता प्रदान करके जो महान् कार्य किया है, उसके लिए हम हृदयसे आभारी हैं।

इस महाभारत प्रकाशनके लिए हम माननीय श्री सेठ गंगाप्रसादजी बिरला और माननीय श्री सेठ बी. एम. बिरलाजी का भी उपकार नहीं भूल सकते। उन्होंने कागज देकर हमारी जो सहायता की है, उसके लिए हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

*

महाभारत

स्वर्गारोहणपर्व ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

ॐ नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

ॐ गणोंके ईशके लिये नमस्कार हो ।

ॐ नरोत्तम नारायण, नर और देवी सरस्वतीको प्रणाम करके जयकी घोषणा करनी चाहिये ।

: १ :

जनमेजय उवाच—

स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य मम पूर्वपितामहाः ।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च कानि स्थानानि भेजिरे ॥ १ ॥

जनमेजय बोले— फलके उत्कर्षसे त्रिभुवन जिसके अन्तर्भूत होता है, वह त्रिविष्टप स्वर्गलोक लाभ करनेपर मेरे पूर्व पितामह पाण्डवों तथा धार्तराष्ट्रोंको कौनसे स्थान प्राप्त हुए थे ? ॥१॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं सर्वविचासि मे मतः ।
महर्षिणाभ्यनुज्ञातो व्यासेनाद्भुतकर्मणा ॥ २ ॥

मैं इसे ही सुननेकी इच्छा करता हूं । अद्भुतकर्मा महर्षि व्यासदेवके द्वारा अनुज्ञात होनेसे आप सर्वज्ञ हुए हैं, यही मेरा विश्वास है ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच—

स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य तव पूर्वपितामहाः ।
युधिष्ठिरप्रभृतयो यदकुर्वत तच्छृणु ॥ ३ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— तुम्हारे पूर्व पितामह युधिष्ठिर प्रभृतिने त्रिविष्टप स्वर्गका लाभ करके जो किया था, उसे सुनो ॥ ३ ॥

स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
दुर्योधनं श्रिया जुष्टं ददर्शासीनमासने ॥ ४ ॥
धर्मराज युधिष्ठिरने त्रिविष्टपमें जाके श्रीसम्पन्न दुर्योधनको आसनपर बैठे हुए देखा ॥ ४ ॥

भ्राजमानमिवादित्यं वीरलक्ष्म्याभिसंवृतम् ।
देवैर्भ्राजिष्णुभिः साध्यैः सहितं पुण्यकर्मभिः ॥ ५ ॥
वे उस समय सूर्यकी भांति देदीप्यमान हो, वीरश्रीसे परिपूरित तथा दिप्तिमान् देवताओं और पुण्यकर्मशील साध्य पुरुषोंके सहित बैठे थे ॥ ५ ॥

ततो युधिष्ठिरो दृष्ट्वा दुर्योधनममर्षितः ।
सहसा संनिवृत्तोऽभूच्छ्रियं दृष्ट्वा सुयोधने ॥ ६ ॥
अनन्तर युधिष्ठिर दुर्योधनको ऐसी अवस्थामें देखकर अमर्षके वशमें होकर तथा उनकी श्री-सम्पत्ति देखनेसे सहसा लौट गये ॥ ६ ॥

ब्रुवन्नुच्चैर्वचस्तान्वै नाहं दुर्योधनेन वै ।
सहितः कामये लोकाँल्लुब्धेनादीर्घदर्शिना ॥ ७ ॥
अनन्तर ऊंचे स्वरसे उन लोगोंसे बोले—मैं अदूरदर्शी लोभी दुर्योधनके सङ्ग स्वर्गलोकमें वास करनेकी कामना नहीं करता ॥ ७ ॥

यत्कृते पृथिवी सर्वा सुहृदो बान्धवास्तथा ।
हतास्माभिः प्रसह्याजौ क्लिष्टैः पूर्वं महावने ॥ ८ ॥
जिसके निमित्त हम लोगोंने पहले महावनके बीच महाकष्ट भोगकर, अन्तमें पृथ्वीपरके सब सुहृदों तथा बान्धवोंका बलपूर्वक संग्राममें संहार किया है और सारी पृथ्वी उजाड कर दी ॥८॥

द्रौपदी च सभामध्ये पाञ्चाली धर्मचारिणी ।
परिक्लिष्टानवद्याङ्गी पत्नी नो गुरुसंनिधौ ॥ ९ ॥
और जिसने धर्मचारिणी पाञ्चालराजपुत्री निर्दोष अङ्गोंवाली हमारी पत्नी द्रौपदी सभाके बीच गुरुजनोंके समीप घसीट लायी थी ॥ ९ ॥

स्वस्ति देवा न मे कामः सुयोधनमुदीक्षितुम् ।
तत्राहं गन्तुमिच्छामि यत्र ते भ्रातरो मम ॥ १० ॥
हे देवगण ! इसलिये उस दुर्योधनकी ओर देखनेकी मुझे इच्छा नहीं है; मेरे वे भ्राता लोक जिस स्थानमें हैं, मैं वहीं जानेकी इच्छा करता हूं ॥ १० ॥

मैवमित्यब्रवीत्तं तु नारदः प्रहसन्निव ।
स्वर्गे निवासो राजेन्द्र विरुद्धं चापि नश्यति ॥ ११ ॥
यह सुनकर नारद मुनि उस समय उनसे हंसते हुएसे बोले—हे राजेन्द्र ! आप ऐसा न कहिये; स्वर्गवासमें पहलेका वैर नष्ट होता है ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर महाबाहो मैवं वोचः कथंचन ।
दुर्योधनं प्रति नृपं शृणु चेदं वचो मम ॥ १२ ॥

हे महाबाहु युधिष्ठिर ! इसलिये आप राजा दुर्योधनके विषयमें किसी प्रकार ऐसी बात न कहिये, मेरा यह वचन सुनिये ॥ १२ ॥

एष दुर्योधनो राजा पूज्यते त्रिदशैः सह ।
सद्भिश्च राजप्रवरैर्य इमे स्वर्गवासिनः ॥ १३ ॥

ये सब सज्जन श्रेष्ठ राजा लोग जो स्वर्गलोकमें रहते हैं, वे देवताओंके सहित राजा दुर्योधनकी पूजा-सम्मान किया करते हैं ॥ १३ ॥

वीरलोकगतिं प्राप्तो युद्धे हुत्वात्मनस्तनुम् ।
यूयं सर्वे सुरसमा येन युद्धे समासिताः ॥ १४ ॥

ये समरमें अपना शरीर आहुति करके वीरलोकमें आये हैं; आप सब कोई देवतुल्य पराक्रमी हैं, इन्होंने सदा आप लोगोंका सामना किया है ॥ १४ ॥

स एष क्षत्रधर्मेण स्थानमेतदवाप्तवान् ।
भये महति योऽभीतो बभूव पृथिवीपतिः ॥ १५ ॥

जो भूपति दुर्योधन महाभयसे भी नहीं डरते थे, उन्होंने ही क्षत्रिय धर्मके अनुसार यह स्थान पाया है ॥ १५ ॥

न तन्मनसि कर्त्तव्यं पुत्र यद्द्यूतकारितम् ।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं न चिन्तयितुमर्हसि ॥ १६ ॥

हे तात ! द्यूतक्रीडाके समय जो हुआ था, उसे मनमें लाना उचित नहीं है और द्रौपदीको भी जो सब क्लेश प्राप्त हुए थे उसकी भी चिन्ता करनी अनुचित है ॥ १६ ॥

ये चान्येऽपि परिक्लेशा युष्माकं द्यूतकारिताः ।
संग्रामेष्वथ वान्यत्र न तान्संस्मर्तुमर्हसि ॥ १७ ॥

संग्राममें अथवा अन्य स्थानमें तुम लोगोंको द्युत खेलनेके कारण दूसरे जो सब क्लेश हुए थे, उसे अब स्मरण करना योग्य नहीं है ॥ १७ ॥

समागच्छ यथान्यायं राज्ञा दुर्योधनेन वै ।
स्वर्गोऽयं नेह वैराणि भवन्ति मनुजाधिप ॥ १८ ॥

इस समय न्यायपूर्वक राजा दुर्योधनके सङ्ग मिलो । हे नरनाथ ! यह स्वर्गलोक है, इस स्थानमें कुछ वैर नहीं रहता है ॥ १८ ॥

×

नारदेनैवमुक्तस्तु कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातॄन्पप्रच्छ मेधावी वाक्यमेतदुवाच ह ॥ १९ ॥

जब नारदमुनिने कुरुराज युधिष्ठिरसे इतनी बात कही, तब उस मेधावी राजाने भाइयोंका विषय पूछते हुए यह वचन कहा ॥ १९ ॥

यदि दुर्योधनस्यैते वीरलोकाः सनातनाः ।
अधर्मज्ञस्य पापस्य पृथिवीसुहृदद्रुहः ॥ २० ॥

उस अधर्मज्ञ, पापाचारी, पृथ्वी और सुहृदोंके द्रोही दुर्योधनको यदि ये सब सनातन वीर लोक प्राप्त हुए हैं ॥ २० ॥

यत्कृते पृथिवी नष्टा सहया सरथद्विपा ।
वयं च मन्युना दग्धा वैरं प्रतिचिकीर्षवः ॥ २१ ॥

जिसके निमित्त घोडे, हाथी और रथोंके सहित भूमण्डल विनष्ट हुआ है और हमलोग भी वैरका बदला लेनेकी इच्छासे क्रोधमें जलते थे ॥ २१ ॥

ये ते वीरा महात्मानो भ्रातरो मे महाव्रताः ।
सत्यप्रतिज्ञा लोकस्य शूरा वै सत्यवादिनः ॥ २२ ॥

तो मेरे जो सब भाई बीर, महात्मा, महान् व्रतधारी, सत्यप्रतिज्ञ, लोकोंके बीच अत्यन्त शूर और सत्यवादी हैं ॥ २२ ॥

तेषामिदानीं के लोका द्रष्टुमिच्छामि तानहम् ।
कर्णं चैव महात्मानं कौन्तेयं सत्यसंगरम् ॥ २३ ॥

उन लोगोंको इस समय किस प्रकारके लोक प्राप्त हुए हैं ? उन सब लोकोंको देखनेकी इच्छा करता हूं । सत्यप्रतिज्ञ महात्मा कुन्तीपुत्र कर्णको भी देखना चाहता हूं ॥ २३ ॥

धृष्टद्युम्नं सात्यकिं च धृष्टद्युम्नस्य चात्मजान् ।
ये च शस्त्रैर्वधं प्राप्ताः क्षत्रधर्मेण पार्थिवाः ॥ २४ ॥

धृष्टद्युम्न, सात्यकि, धृष्टद्युम्नके पुत्रगण और जो सब राजा क्षत्रियधर्मके अनुसार शस्त्रोंसे मरे हैं ॥ २४ ॥

क नु ते पार्थिवा ब्रह्मन्नैतान्पश्यामि नारद ।
विराटद्रुपदौ चैव धृष्टकेतुमुखांश्च तान् ॥ २५ ॥

वे सब राजा लोग कहां हैं ? उन लोगोंको मैं यहां नहीं देखता हूं । ब्रह्मन् ! हे नारद ! विराट, द्रुपद और धृष्टकेतु प्रभृति ॥ २५ ॥

शिखण्डिनं च पाञ्चाल्यं द्रौपदेयांश्च सर्वशः ।
अभिमन्युं च दुर्धर्षं द्रष्टुमिच्छामि नारद ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते स्वर्गारोहणपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ २६ ॥

तथा पाञ्चालपुत्र शिखण्डी, द्रौपदीके पुत्रों और दुर्धर्ष अभिमन्युको भी देखनेकी मैं अभिलाषा करता हूं ॥ २६ ॥

महाभारतके स्वर्गारोहणपर्वमें पहला अध्याय समाप्त ॥ १ ॥ २६ ॥

: २ :

युधिष्ठिर उवाच—

नेह पश्यामि विबुधा राधेयममितौजसम् ।
भ्रातरौ च महात्मानौ युधामन्यूत्तमौजसौ ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे देवगण ! मैं इस स्थानमें अमित तेजस्वी कर्ण, महानुभाव दोनों भाई युधामन्यु और उत्तमौजाको नहीं देखता हूं ॥ १ ॥

जुहुवुर्ये शरीराणि रणवह्नौ महारथाः ।
राजानो राजपुत्राश्च ये मदर्थे हता रणे ॥ २ ॥

जिन सब महारथी राजा और राजपुत्रोंने मेरे निमित्त युद्धरूपी अग्निमें अपने शरीरोंकी आहुति प्रदान की तथा मेरे निमित्त समरमें मारे गये ॥ २ ॥

क्व ते महारथाः सर्वे शार्दूलसमविक्रमाः ।
तैरप्ययं जितो लोकः कच्चित्पुरुषसत्तमैः ॥ ३ ॥

वे सिंहसदृश विक्रमशाली सब महारथी कहां हैं ? उन पुरुषसत्तमोंने क्या इस स्वर्गलोकपर जय प्राप्त किया है ? ॥ ३ ॥

यदि लोकानिमान्प्राप्तास्ते च सर्वे महारथाः ।
स्थितं वित्त हि मां देवाः सहितं तैर्महात्मभिः ॥ ४ ॥

हे देवगण ! यदि वे सब महारथी इन लोकोंमें आ गये हैं, तो मुझे भी उन महात्माओंके सहित इस स्थानमें स्थित जानिये ॥ ४ ॥

कच्चिन्न तैरवाप्तोऽयं नृपैर्लोकोऽक्षयः शुभः ।
न तैरहं विना वत्स्ये ज्ञातिभिर्भ्रातृभिस्तथा ॥ ५ ॥

यदि उन राजाओंने इस शुभ तथा अक्षय लोकमें निवासलाभ नहीं किया है, तो मैं उन भाइयों तथा स्वजनोंके विना इस स्थानमें निवास नहीं करूंगा ॥ ५ ॥

मातुर्हि वचनं श्रुत्वा तदा सलिलकर्मणि ।
कर्णस्य क्रियतां तोयमिति तप्यामि तेन वै ॥ ६ ॥

जलाञ्जलि देनेके समय "कर्णको जलाञ्जलि देना" जननीकी ऐसी बात सुनके मैंने सूर्यनन्दनको जलाञ्जलि दान की । तबसे मुझे उनके लिये बहुत दुःख होता है ॥ ६ ॥

इदं च परितप्यामि पुनः पुनरहं सुराः ।
यन्मातुः सदृशौ पादौ तस्याहममितौजसः ॥ ७ ॥

हे देवगण ! इस समय मैं बार बार यह पश्चात्ताप करता हूं, कि मैं उस अमित तेजस्वी कर्णके दोनों चरणोंको माता कुन्तीके चरणोंके सदृश ॥ ७ ॥

दृष्ट्वैव तं नानुगतः कर्णं परबलार्दनम् ।
न ह्यस्मान्कर्णसहिताञ्जयेच्छक्रोऽपि संयुगे ॥ ८ ॥

देखकर भी मैं शत्रुसैन्यका मर्दन करनेवाले कर्णका अनुगामी नहीं हुआ । हम लोग कर्णके सङ्ग मिले रहते, तो देवराज इन्द्र भी हमें युद्धमें जय करनेमें समर्थ नहीं होते ॥ ८ ॥

तमहं यत्रतत्रस्थं द्रष्टुमिच्छामि सूर्यजम् ।
अविज्ञातो मया योऽसौ घातितः सव्यसाचिना ॥ ९ ॥

मुझे मालूम न रहनेसे ही वे सव्यसाचीके द्वारा मारे गये, वह सूर्यपुत्र चाहे किसी स्थानमें क्यों न हों, मैं उन्हें देखनेकी इच्छा करता हूं ॥ ९ ॥

भीमं च भीमविक्रान्तं प्राणेभ्योऽपि प्रियं मम ।
अर्जुनं चेन्द्रसंकाशं यमौ तौ च यमोपमौ ॥ १० ॥

मैं प्राणोंसे भी प्रिय भीमविक्रमी भीमसेन, इन्द्रसदृश अर्जुन, यमके समान यमज नकुल-सहदेव ॥ १० ॥

द्रष्टुमिच्छामि तां चाहं पाञ्चालीं धर्मचारिणीम् ।
न चेह स्थातुमिच्छामि सत्यमेतद्‌ब्रवीमि वः ॥ ११ ॥

और उस धर्मचारिणी द्रौपदीको देखनेकी अभिलाष करता हूं । मैं इस स्थानमें निवास करनेकी इच्छा नहीं करता, आप लोगोंसे यह सत्य ही कहता हूं ॥ ११ ॥

किं मे भ्रातृविहीनस्य स्वर्गेण सुरसत्तमाः ।
यत्र ते स मम स्वर्गो नायं स्वर्गो मतो मम ॥ १२ ॥

हे सुरसत्तमगण ! भाइयोंसे रहित रहनेसे मुझे स्वर्गसे क्या प्रयोजन है ? वे लोग जिस स्थानमें हैं, वही मेरा स्वर्ग है । उनके बिना यह स्थान स्वर्गरूपसे मुझे सम्मत नहीं है ॥ १२ ॥

देवा ऊचुः—

यदि वै तत्र ते श्रद्धा गम्यतां पुत्र मारिचम् ।
प्रिये हि तव वर्तामो देवराजस्य शासनात् ॥ १३ ॥

देवगण बोले– हे तात ! यदि उस ही स्थानमें तुम्हारी श्रद्धा हो तो वहां जाओ, विलम्बका प्रयोजन नहीं है । देवराजकी आज्ञासे हम लोग तुम्हारा प्रिय कार्य करेंगे ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच—

इत्युक्त्वा तं ततो देवा देवदूतमुपादिशन् ।
युधिष्ठिरस्य सुहृदो दर्शयेति परंतप ॥ १४ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले– हे शत्रुतापन ! देवताओंने उनसे इतनी बात कहके देवदूतसे कहा, " युधिष्ठिरके सुहृदोंको दिखाओ " ॥ १४ ॥

ततः कुन्तीसुतो राजा देवदूतश्च जग्मतुः ।
सहितौ राजशार्दूल यत्र ते पुरुषर्षभाः ॥ १५ ॥

हे नृपवर ! अनन्तर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर जिस स्थानमें वे पुरुषपुङ्गवगण स्थित थे, देवदूतके सङ्ग वहीं ही गये ॥ १५ ॥

अग्रतो देवदूतस्तु ययौ राजा च पृष्ठतः ।
पन्थानमशुभं दुर्गं सेवितं पापकर्मभिः ॥ १६ ॥

देवदूत आगे और राजा पीछे पीछे जा रहे थे । पापकर्मवाले पुरुषोंसे सेवित उस अशुभ दुर्गम पथपरसे वे जाने लगे ॥ १६ ॥

तमसा संवृतं घोरं केशशैवलशाद्वलम् ।
युक्तं पापकृतां गन्धैर्मांसशोणितकर्दमम् ॥ १७ ॥

वह मार्ग घोर अन्धकारसे परिपूरित, केश, सेवार और घाससे समन्वित, पापियोंके लिये योग्य दुर्गन्धयुक्त, मांसरुधिरके कीचड–विशिष्ट ॥ १७ ॥

दंशोत्थानं सझिल्लीकं मक्षिकामशकावृतम् ।
इतश्चेतश्च कुणपैः समंतात्परिवारितम् ॥ १८ ॥

डांस, मच्छर, मक्खी और उत्पाती जीवजन्तुओंसे आवृत, इधर उधर सर्वत्र मृत शरीरोंसे घिरा हुआ था ॥ १८ ॥

अस्थिकेशसमाकीर्णं कृमिकीटसमाकुलम् ।
ज्वलनेन प्रदीप्तेन समन्तात्परिवेष्टितम् ॥ १९ ॥

हड्डियां तथा केशोंसे भरे, कृमि तथा कीटोंसे परिपूर्ण, प्रज्वलित अग्निसे चारों ओरसे घेरा हुआ था ॥ १९ ॥

अयोमुखैश्च काकोलैर्गृध्रैश्च समभिद्रुतम् ।
सूचीमुखैस्तथा प्रेतैर्विन्ध्यशैलोपमैर्वृतम् ॥ २० ॥

लोहेकीसी मुखवाले सर्प और बराह और गीध आदियोंसे परिवेष्टित था; सूची मुख तथा बिन्ध्याचल पर्वतके समान प्रेत वहां घूम रहे थे ॥ २० ॥

मेदोरुधिरयुक्तैश्च छिन्नबाहूरुपाणिभिः ।
निकृत्तोदरपादैश्च तत्र तत्र प्रवेरितैः ॥ २१ ॥

चर्बी और रुधिरयुक्त कटे हुए बाहु, जंघा, हाथ कटे हुए उदर और कटे पांववाले मुर्दे इधर उधर बिखरे पडे थे ॥ २१ ॥

स तत्कुणपदुर्गन्धमशिवं रोमहर्षणम् ।
जगाम राजा धर्मात्मा मध्ये बहु विचिन्तयन् ॥ २२ ॥

धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर उन मृत शरीरोंके दुर्गन्धयुक्त अमङ्गल रोंगटे खडे कर देनेवाले मार्गसे बहुत चिन्ता करते हुए चलने लगे ॥ २२ ॥

ददर्शोष्णोदकैः पूर्णां नदीं चापि सुदुर्गमाम् ।
असिपत्रवनं चैव निशितक्षुरसंवृतम् ॥ २३ ॥

मार्गके बीच उन्होंने उष्णजलसे भरी हुई दुर्गम नदी और तीखी तलवारोंसे या छूरोंके-से पत्तोंसे परिपूर्ण तीक्ष्ण धारवाला असिपत्रनामक वन देखा ॥ २३ ॥

करम्भवालुकास्तप्ता आयसीश्च शिलाः पृथक् ।
लोहकुम्भीश्च तैलस्य क्वाथ्यमानाः समन्ततः ॥ २४ ॥

गरम की हुई सूक्ष्म बालू, तपाये हुए लोहेकी बडी शिलाएं और उबाले हुए तेलसे भरे लोहेके घडे चारों ओर सज्जित हैं ॥ २४ ॥

कूटशाल्मलिकं चापि दुस्पर्शं तीक्ष्णकण्टकम् ।
ददर्श चापि कौन्तेयो यातनाः पापकर्मिणाम् ॥ २५ ॥

कुन्तीनन्दनने उस समय तीक्ष्ण कांटोंसे युक्त दुःस्पर्शकूट सेमलके वृक्षों तथा पापकर्म करनेवाले लोगोंको दी जानेवाली पीडाएं भी देखी ॥ २५ ॥

स तं दुर्गन्धमालक्ष्य देवदूतमुवाच ह ।
कियदध्वानमस्माभिर्गन्तव्यमिदमीदृशम् ॥ २६ ॥

वे उस दुर्गन्धित स्थानको देखकर देव दूतसे बोले, हम लोगोंको इस प्रकार कितना मार्ग चलना होगा ? ॥ २६ ॥

क्व च ते भ्रातरो मह्यं तन्ममाख्यातुमर्हसि ।
देशोऽयं कश्च देवानामेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ २७ ॥

मेरे वे भ्रातृगण कहां है ? वह तुम मुझसे कहो और देवताओंका यह कौनसा स्थान है, उसे भी जाननेकी इच्छा करता हूं ॥ २७ ॥

स संनिववृते श्रुत्वा धर्मराजस्य भाषितम् ।
देवदूतोऽब्रवीच्चैनमेतावद्गमनं तव ॥ २८ ॥

देवदूत धर्मराजका इतना वचन सुनके लौट पडा और उनसे बोला, यहांतक ही तुम्हें आना योग्य था ॥ २८ ॥

निवर्तितव्यं हि मया तथास्म्युक्तो दिवौकसैः ।
यदि श्रान्तोऽसि राजेन्द्र त्वमथागन्तुमर्हसि ॥ २९ ॥

देवताओंने मुझे ऐसा ही कहा था कि जब युधिष्ठिर थक जाय, तब उन्हें वापस लौटा लाना; इसलिये आपको मुझे लौटा लेकर चलना है । हे राजेन्द्र ! यदि तुम थके हुए हों, तो मेरे साथ आइये ॥ २९ ॥

युधिष्ठिरस्तु निर्विण्णस्तेन गन्धेन मूर्च्छितः ।
निवर्तने धृतमनाः पर्यावर्तत भारत ॥ ३० ॥

हे भारत ! युधिष्ठिरने उद्विग्न तथा उस दुर्गन्धसे मूर्च्छितसा होकर लौटनेका मनमें निश्चय किया, तथा वहांसे लौटे ॥ ३० ॥

स संनिवृत्तो धर्मात्मा दुःखशोकसमन्वितः ।
शुश्राव तत्र वदतां दीना वाचः समन्ततः ॥ ३१ ॥

उस धर्मात्माने दुःख और शोकसे पीडित होकर निवृत्त होते समय वहांपर चारों ओरसे चिल्लानेवाले मनुष्योंकी दीनवाणी सुनी ॥ ३१ ॥

भो भो धर्मज राजर्षे पुण्याभिजन पाण्डव ।
अनुग्रहार्थमस्माकं तिष्ठ तावन्मुहूर्तकम् ॥ ३२ ॥

हे धर्मजपुत्र ! राजर्षे ! हे पवित्र कुलमें उत्पन्न पाण्डव ! आप हम लोगोंपर अनुग्रह करनेके निमित्त मुहूर्त भर यहीं ठहरिये ॥ ३२ ॥

आयाति त्वयि दुर्धर्षे वाति पुण्यः समीरणः ।
तव गन्धानुगस्तात येनास्मान्सुखमागमत् ॥ ३३ ॥

आप दुर्धर्ष महात्माके आनेसे पवित्र वायु बहने लगी है और हे तात ! वह हवा तुम्हारे शरीरकी सुगन्ध ला रही है, उस ही कारण हम सुखी हो रहे हैं ॥ ३३ ॥

ते वयं पार्थ दीर्घस्य कालस्य पुरुषर्षभ ।
सुखमासादयिष्यामस्त्वां दृष्ट्वा राजसत्तम ॥ ३४ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! राजसत्तम! पार्थ! हम लोग बहुत समयके अनन्तर आपको देखकर सुखी हो जायेंगे ॥ ३४ ॥

संतिष्ठस्व महाबाहो मुहूर्तमपि भारत ।
त्वयि तिष्ठति कौरव्य यातनास्मान्न बाधते ॥ ३५ ॥

हे महाबाहु भारत! इसलिये आप मुहूर्तभर ठहर जाइये । हे कौरव्य! आपके खडे रहते समस्त यातना हम लोगोंको पीडा न दे सकेंगी ॥ ३५ ॥

एवं बहुविधा वाचः कृपणा वेदनावताम् ।
तस्मिन्देशे स शुश्राव समन्ताद्वदतां नृप ॥ ३६ ॥

हे महाराज! उन्होंने उस स्थानमें निवास करते हुए कष्ट भोगनेवाले मनुष्योंके इसही भांति अनेक प्रकारके दीन बचन सुने ॥ ३६ ॥

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा दयावान्दीनभाषिणाम् ।
अहो कृच्छ्रमिति प्राह तस्थौ स च युधिष्ठिरः ॥ ३७ ॥

दयालु युधिष्ठिर उन दीन बचन कहनेवालोंकी वाणी सुनके "क्या कष्ट है।" ऐसा कहके वहां खडे हो गये ॥ ३७ ॥

स ता गिरः पुरस्ताद्वै श्रुतपूर्वाः पुनः पुनः ।
ग्लानानां दुःखितानां च नाभ्यजानत पाण्डवः ॥ ३८ ॥

पाण्डुपुत्र अत्यन्त पीडित और दुःखी लोगोंके सामनेकी ओरसे यह पहलेके बचन बार बार सुनके भी यह पहचान नहीं सके, कि वे किनके वचन हैं? ॥ ३८ ॥

अबुध्यमानस्ता वाचो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
उवाच के भवन्तो वै किमर्थमिह तिष्ठथ ॥ ३९ ॥

धर्मपुत्र युधिष्ठिर वह सब बचन न समझ सकनेपर बोले- 'आप लोग कौन हैं और किस निमित्त इस स्थानमें निवास करते हैं?' ॥ ३९ ॥

इत्युक्तास्ते ततः सर्वे समन्तादवभाषिरे ।
कर्णोऽहं भीमसेनोऽहमर्जुनोऽहमिति प्रभो ॥ ४० ॥

वे लोग ऐसा सुनकर चारों ओरसे कहने लगे- हे प्रभो! मैं कर्ण हूं, मैं भीमसेन हूं, मैं अर्जुन हूं ॥ ४० ॥

नकुलः सहदेवोऽहं धृष्टद्युम्नोऽहमित्युत ।
द्रौपदी द्रौपदेयाश्च इत्येवं ते विचुक्रुशुः ॥ ४१ ॥

मैं नकुल, मैं सहदेव, मैं धृष्टद्युम्न, मैं द्रौपदी और हम लोग द्रौपदीके पुत्र हैं, इस ही प्रकार वे लोग चिल्लाने लगे ॥ ४१ ॥

ता वाचः स तदा श्रुत्वा तद्देशसदृशीर्नृप ।
ततो विमम्रृशे राजा किं न्विदं दैवकारितम् ॥ ४२ ॥

हे राजन् ! उस समय राजा युधिष्ठिरने उस देशके अनुरूप उन लोगोंके वे सब बचन सुनके विचार किया, कि दैवने यह क्या किया है ? ॥ ४२ ॥

किं नु तत्कलुषं कर्म कृतमेभिर्महात्मभिः
कर्णेन द्रौपदेयैर्वा पाञ्चाल्या वा सुमध्यया ॥ ४३ ॥

मेरे महात्मा भाई, कर्ण, द्रौपदीके पुत्र तथा सुमध्यमा द्रौपदी आदियोंने कौनसा पापकर्म किया था, ॥ ४३ ॥

य इमे पापगन्धेऽस्मिन्देशे सन्ति सुदारुणे ।
न हि जानामि सर्वेषां दुष्कृतं पुण्यकर्मणाम् ॥ ४४ ॥

जिससे ये इस दुर्गन्धसे परिपूर्ण दारुण स्थानमें निवास करते हैं ? मैं इन सब पुण्यकर्म करनेवालोंका कुछ दुष्कृत नहीं जानता ॥ ४४ ॥

किं कृत्वा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो राजा सुयोधनः ।
तथा श्रिया युतः पापः सह सर्वैः पदानुगैः ॥ ४५ ॥

धृतराष्ट्रका पुत्र राजा सुयोधन कौनसा कर्म करके समस्त पापी सेवकोंके सहित वैसा श्रीसम्पन्न हुआ है ? ॥ ४५ ॥

महेन्द्र इव लक्ष्मीवानास्ते परमपूजितः ।
कस्येदानीं विकारोऽयं यदिमे नरकं गताः ॥ ४६ ॥

और महेन्द्रकी भांति लक्ष्मीवान् तथा परम पूजित हो रहा है ? और इधर ये लोग इस समय नरकगामी हुए हैं, यह किस पापका फल है ? ॥ ४६ ॥

सर्वधर्मविदः शूराः सत्यागमपरायणाः ।
क्षात्रधर्मपराः प्राज्ञा यज्वानो भूरिदक्षिणाः ॥ ४७ ॥

ये सब सर्वधर्मज्ञ, शूर, सत्यवादी और शास्त्रके अनुकूल चलनेवाले, क्षत्रियधर्ममें रत, याज्ञिक तथा बहुतसी दक्षिणादान करनेवाले थे ॥ ४७ ॥

×

किं नु सुप्तोऽस्मि जागर्मि चेतयानो न चेतये ।
अहो चित्तविकारोऽयं स्याद्वा मे चित्तविभ्रमः ॥ ४८ ॥

क्या मैं सोया हूं अथवा जागता हूं ? मुझे चेत है वा अचेत हुआ हूं ? क्या यह मेरा चित्तविकार हैं अथवा मुझे चित्तविभ्रम हुआ है ? ॥ ४८ ॥

एवं बहुविधं राजा विममर्श युधिष्ठिरः ।
दुःखशोकसमाविष्टश्चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियः ॥ ४९ ॥

राजा युधिष्ठिर शोक और दुःखसे युक्त तथा चिन्तासे व्याकुलेन्द्रिय होकर इस ही भांति अनेक प्रकारसे विचार करने लगे ॥ ४९ ॥

क्रोधमाहारयच्चैव तीव्रं धर्मसुतो नृपः ।
देवांश्च गर्हयामास धर्मं चैव युधिष्ठिरः ॥ ५० ॥

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर बहुत ही क्रुद्ध हुए और देवताओं तथा धर्मकी निन्दा करने लगे॥ ५०॥

स तीव्रगन्धसंतप्तो देवदूतमुवाच ह ।
गम्यतां भद्र येषां त्वं दूतस्तेषामुपान्तिकम् ॥ ५१ ॥

वे असह्य दुर्गन्धसे सन्तापित होके देवदूतसे बोले, भद्र ! तुम जिन लोगोंके दूत हो, उनके समीप जाओ ॥ ५१ ॥

न ह्यहं तत्र यास्यामि स्थितोऽस्मीति निवेद्यताम् ।
मत्संश्रयादिमे दूत सुखिनो भ्रातरो हि मे ॥ ५२ ॥

मैं वहां न जाऊंगा, इस ही स्थानमें रहूंगा, उन लोगोंसे ऐसा ही निवेदन करो । हे दूत ! मेरे यहां रहनेसे ये मेरे दुःखित भाई सुखी हुए हैं ॥ ५२ ॥

इत्युक्तः स तदा दूतः पाण्डुपुत्रेण धीमता ।
जगाम तत्र यत्रास्ते देवराजः शतक्रतुः ॥ ५३ ॥

देवदूत उस समय धीमान् पाण्डुपुत्रका ऐसा वचन सुनके, जिस स्थानमें शतक्रतु देवराज इन्द्र निवास करते थे, वहां गया ॥ ५३ ॥

निवेदयामास च तद्धर्मराजविकीर्षितम् ।
यथोक्तं धर्मपुत्रेण सर्वमेव जनाधिप ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते स्वर्गारोहणपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ ८० ॥

हे जननाथ ! धर्मराज जो करना चाहते थे तथा धर्मपुत्रने जो कहा था, उसने वह सब देवराजके निकट कह सुनाया ॥ ५४ ॥

महाभारतके स्वर्गारोहणपर्वमें दूसरा अध्याय समाप्त ॥ २ ॥ ८० ॥

: ३ :

वैशम्पायन उवाच—

स्थिते मुहूर्तं पार्थे तु धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
आजग्मुस्तत्र कौरव्य देवाः शक्रपुरोगमाः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— हे कौरव ! पृथानन्दन धर्मराज युधिष्ठिरके मुहूर्तभर ही उस स्थानमें निवास करनेके अनन्तर, इन्द्रको आगे करके सब देवता उस स्थानमें आये ॥१॥

स्वयं विग्रहवान्धर्मो राजानं प्रसमीक्षितुम् ।
तत्राजगाम यत्रासौ कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ २ ॥

और कुरुराज राजा युधिष्ठिर जिस स्थानमें थे, मूर्तिमान् धर्म शरीर धारण करके उस राजाको देखनेके लिये वहां समागत हुए ॥ २ ॥

तेषु भास्वरदेहेषु पुण्याभिजनकर्मसु ।
समागतेषु देवेषु व्यगमत्तत्तमो नृप ॥ ३ ॥

हे महाराज ! उन प्रकाशमान शरीर, पवित्र जन्मकर्मयुक्त देवताओंके वहां समागत होनेसे वहांका सारा अन्धकार दूर हुआ ॥ ३ ॥

नादृश्यन्त च तास्तत्र यातनाः पापकर्मिणाम् ।
नदी वैतरणी चैव कूटशाल्मलिना सह ॥ ४ ॥

वहां उन पापकर्मियोंको जो यातनाएं दी जाती थीं वे, वैतरणी नदी और कूट शाल्मलि वृक्ष सहसा अदृश्य हो गयीं ॥ ४ ॥

लोहकुम्भ्यः शिलाश्चैव नादृश्यन्त भयानकाः ।
विकृतानि शरीराणि यानि तत्र समन्ततः ।
ददर्श राजा कौन्तेयस्तान्यदृश्यानि चाभवन् ॥ ५ ॥

बडे भयानक लोहेके घडे और समस्त शिलाएं अदृश्य हुई तथा वहांपर चारों ओर जो सब विकृत शरीर थे, वे भी न दीख पडे । कुरुश्रेष्ठ राजाने देखा, कि वे सब अदृश्य हुए ॥५॥

ततो वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शिवः ।
ववौ देवसमीपस्थः शीतलोऽतीव भारत ॥ ६ ॥

हे भारत ! अनन्तर देवताओंके समीपसे अत्यंत शीतल, पवित्र—मंगल, पुण्यगन्धयुक्त सुखद वायु बहने लगी ॥ ६ ॥

मरुतः सह शक्रेण वसवश्चाश्विनौ सह ।
साध्या रुद्रास्तथादित्या ये चान्येऽपि दिवौकसः ॥ ७ ॥

इन्द्रके सहित मरुद्गण, वसुगण, दोनों अश्विनीकुमार, साध्यगण, रुद्रगण, आदित्यगण, इनके अतिरिक्त अन्य देवलोकवासी ॥ ७ ॥

सर्वे तत्र समाजग्मुः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
यत्र राजा महातेजा धर्मपुत्रः स्थितोऽभवत् ॥ ८ ॥

समस्त सिद्ध और महर्षिवृन्द ये सभी जहां परमतेजस्वी धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर स्थित थे, वहां आये ॥ ८ ॥

ततः शक्रः सुरपतिः श्रिया परमया युतः ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥ ९ ॥

अनन्तर परम श्रीसम्पन्न सुरराज इन्द्र सान्त्वनापूर्वक युधिष्ठिरसे यह वचन बोले ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर महाबाहो प्रीता देवगणास्तव ।
एह्येहि पुरुषव्याघ्र कृतमेतावता विभो ।
सिद्धिः प्राप्ता त्वया राजँल्लोकाश्चाप्यक्षयास्तव ॥ १० ॥

हे महाबाहु युधिष्ठिर ! देवगण तुम्हारे विषयमें प्रसन्न हुए हैं। हे पुरुषप्रवर ! विभो ! आओ यहांतक ही भला है; तुम्हें सब अक्षयलोक तथा सिद्धि प्राप्त हुई है ॥ १० ॥

न च मन्युस्त्वया कार्यः श्रृणु चेदं वचो मम ।
अवश्यं नरकस्तात द्रष्टव्यः सर्वराजभिः ॥ ११ ॥

तुम क्रोध मत करो, मेरा यह बचन सुनो। हे तात ! सब राजाओंको निश्चय ही नरक देखना होता है ॥ ११ ॥

शुभानामशुभानां च द्वौ राशी पुरुषर्षभ ।
यः पूर्वं सुकृतं भुङ्क्ते पश्चान्निरयमेति सः ।
पूर्वं नरकभाग्यस्तु पश्चात्स्वर्गमुपैति सः ॥ १२ ॥

हे पुरुषवर ! मनुष्यके जीवनमें शुभ और अशुभ कर्मोंकी दो राशियां होती हैं; उसके बीच जो पहले ही सुकृतका भोग लेता है, उसे पीछे नरकमें जाना पडता है; और जो पहले नरकभागी होता है, वह पश्चात् स्वर्गका लाभ करता है ॥ १२ ॥

भूयिष्ठं पापकर्मा यः स पूर्वं स्वर्गमश्नुते ।
तेन त्वमेवं गमितो मया श्रेयोर्थिना नृप ॥ १३ ॥

राजन् ! जो बहुतसे पाप कर्म करता है, वह पहले स्वर्गका भोग किया करता है; इस ही निमित्त मैंने तुम्हारे कल्याणके निमित्त ऐसा कराया है ॥ १३ ॥

व्याजेन हि त्वया द्रोण उपचीर्णः सुतं प्रति ।
व्याजेनैव ततो राजन्दर्शितो नरकस्तव ॥ १४ ॥

हे राजन् ! तुमने छलपूर्वक द्रोणकी सन्तानके निमित्त प्रतारणा की थी, इसही लिये मैंने तुम्हें छलक्रमसे नरक दिखाया है ॥ १४ ॥

यथैव त्वं तथा भीमस्तथा पार्थो यमौ तथा ।
द्रौपदी च तथा कृष्णा व्याजेन नरकं गताः ॥ १५ ॥

तुम जिस प्रकार यहां लाये गये थे, उस ही प्रकार भीम, अर्जुन, सहदेव और द्रुपदराजपुत्री कृष्णा ये छलक्रमसे नरकके पास लाये गये थे ॥ १५ ॥

आगच्छ नरशार्दूल मुक्तास्ते चैव किल्बिषात् ।
स्वपक्षाश्चैव ये तुभ्यं पार्थिवा निहता रणे ।
सर्वे स्वर्गमनुप्राप्तास्तान्पश्य भरतर्षभ ॥ १६ ॥

हे नरशार्दूल ! आओ, वे सभी पापसे मुक्त हो गये हैं । भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे पक्षके जो सब राजा लोग युद्धमें मारे गये हैं, वे सभी स्वर्गमें आये हैं, उनको देखो ॥ १६ ॥

कर्णश्चैव महेष्वासः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
स गतः परमां सिद्धिं यदर्थं परितप्यसे ॥ १७ ॥

तुम जिसके निमित्त परिताप करते हो, उस सब शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर कर्णको परम सिद्धि प्राप्त हुई है ॥ १७ ॥

तं पश्य पुरुषव्याघ्रमादित्यतनयं विभो ।
स्वस्थानस्थं महाबाहो जहि शोकं नरर्षभ ॥ १८ ॥

हे विभो ! महाबाहो ! तुम पुरुषव्याघ्र सूर्यपुत्र कर्णको देखो, वह निज स्थानमें स्थित है । हे पुरुषश्रेष्ठ ! अब शोक परित्याग करो ॥ १८ ॥

भ्रातॄंश्चान्यांस्तथा पश्य स्वपक्षांश्चैव पार्थिवान् ।
स्वं स्वं स्थानमनुप्राप्तान्व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ १९ ॥

तुम अपने अन्यान्य भाइयों तथा स्वपक्षके राजाओंको निज निज योग्य स्थानको प्राप्त हुए देखो, तुम्हारे मनका शोक दूर होवे ॥ १९ ॥

अनुभूय पूर्वं त्वं कृच्छ्रमितः प्रभृति कौरव ।
विहरस्व मया सार्धं गतशोको निरामयः ॥ २० ॥

हे कौरव ! पहले कष्टका अनुभव करके इसके अनन्तर शोकरहित तथा निरामय होकर तुम मेरे साथ रहकर बिहार करो ॥ २० ॥

कर्मणां तात पुण्यानां जितानां तपसा स्वयम् ।
दानानां च महबाहो फलं प्राप्नुहि पाण्डव ॥ २१ ॥

हे तात महाबाहु पाण्डुपुत्र ! तुम अपनी तपस्यासे उपार्जित लोकोंका, पुण्यकर्मोंका तथा दानोंका फल स्वयं प्राप्त करो ॥ २१ ॥

अद्य त्वां देवगन्धर्वा दिव्याश्चाप्सरसो दिवि ।
उपसेवन्तु कल्याणं विरजोऽम्बरवाससः । ॥ २२ ॥

आज देव, गन्धर्व तथा कल्याणमयी दिव्य अप्सराएं स्वच्छ वस्त्र और उत्तम भूषणोंसे युक्त हो स्वर्गमें तुम्हारी सेवा करें ॥ २२ ॥

राजसूयजिताँल्लोकानश्वमेधाभिवर्धितान् ।
प्राप्नुहि त्वं महाबाहो तपसश्च फलं महत् ॥ २३ ॥

हे महाबाहो ! तुमने राजसूय यज्ञसे जीते हुए और अश्वमेधसे वर्धित किये हुए पुण्य लोकोंको प्राप्त करो तथा तपस्याके महान् फलको पाओ ॥ २३ ॥

उपर्युपरि राज्ञां हि तव लोका युधिष्ठिर ।
हरिश्चन्द्रसमाः पार्थ येषु त्वं विहरिष्यसि ॥ २४ ॥

हे युधिष्ठिर ! हे पार्थ ! तुम जिन लोकोंमें विहार करोगे, वे तुम्हें प्राप्त हुए लोक राजा हरिश्चन्द्रके लोकोंके सदृश सब राजाओंके लोकोंसे ऊपर हैं ॥ २४ ॥

मान्धाता यत्र राजर्षिर्यत्र राजा भगीरथः ।
दौःषन्तिर्यत्र भरतस्तत्र त्वं विहरिष्यसि ॥ २५ ॥

जिस स्थानमें राजर्षि मान्धाता, राजा भगीरथ और दुष्यन्तपुत्र निवास करते हैं, तुम वहां विहार करोगे ॥ २५ ॥

एषा देवनदी पुण्या पार्थ त्रैलोक्यपावनी ।
आकाशगङ्गा राजेन्द्र तत्राप्लुत्य गमिष्यसि ॥ २६ ॥

हे राजेन्द्र पार्थ ! यह त्रैलोक्यपावनी पवित्र देवनदी आकाशगङ्गा है, इसमें स्नान करके चलना ॥ २६ ॥

अत्र स्नातस्य ते भावो मानुषो विगमिष्यति ।
गतशोको निरायासो मुक्तवैरो भविष्यसि ॥ २७ ॥

इसमें स्नान करनेसे तुम्हारा मनुष्यभाव छूट जायगा; तुम शोकरहित, निरायास और वैर-रहित होगे ॥ २७ ॥

एवं ब्रुवति देवेन्द्रे कौरवेन्द्रं युधिष्ठिरम् ।
धर्मो विग्रहवान्साक्षादुवाच सुतमात्मनः ॥ २८ ॥

जब देवराज इन्द्र इस प्रकार कह रहे थे, तब मूर्तिमान् साक्षात् धर्मने अपने पुत्र कौरवराज युधिष्ठिरसे कहा ॥ २८ ॥

भो भो राजन्महाप्राज्ञ प्रीतोऽस्मि तव पुत्रक।
मद्भक्त्या सत्यवाक्येन क्षमया च दमेन च ॥ २९ ॥

हे महाप्राज्ञ राजेन्द्र ! हे पुत्र ! मुझमें भक्ति, सत्य वचन, क्षमा और दमसे मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुआ हूं ॥ २९ ॥

एषा तृतीया जिज्ञासा तव राजन्कृता मया।
न शक्यसे चालयितुं स्वभावात्पार्थ हेतुभिः ॥ ३० ॥

हे राजन् ! मैंने तुम्हारी यह तीसरी बार परीक्षा की है। हे पार्थ ! किसी कारणसे तुम्हें स्वभावसे विचलित करनेमें किसीका भी सामर्थ्य नहीं है ॥ ३० ॥

पूर्वं परीक्षितो हि स्वमासीर्द्वैतवनं प्रति।
अरणीसहितस्यार्थे तच्च निस्तीर्णवानसि ॥ ३१ ॥

पहले द्वैतवनमें अरणीकाष्ठका अपहरणके बाद यक्षके रूपमें मैंने कई प्रश्न किये थे, वह तुम्हारी पहली परीक्षा थी; तुम उसमें उत्तीर्ण हुए थे ॥ ३१ ॥

सोदर्येषु विनष्टेषु द्रौपद्यां तत्र भारत।
श्वरूपधारिणा पुत्र पुनस्त्वं मे परीक्षितः ॥ ३२ ॥

हे भारत ! हे पुत्र ! फिर द्रौपदी सहित सभी भाइयोंके विनष्ट होते रहनेपर मैंने वहां कुत्तेका रूप धारण करके दूसरी बार तुम्हारी परीक्षा की थी ॥ ३२ ॥

इदं तृतीयं भ्रातॄणामर्थे यत्स्थातुमिच्छसि।
विशुद्धोऽसि महाभाग सुखी विगतकल्मषः ॥ ३३ ॥

हे महाभाग ! यह मेरी तीसरी परीक्षा है; जब तुम भाइयोंके हितके लिये नरकमें रहनेकी इच्छा करते हो, तब अत्यन्त पवित्र और पापरहित हो; इसलिये तुम सुखी होओ ॥ ३३ ॥

न च ते भ्रातरः पार्थ नरकस्था विशां पते।
मायैषा देवराजेन महेन्द्रेण प्रयोजिता ॥ ३४ ॥

हे नरश्रेष्ठ पार्थ ! तुम्हारे भाईलोग नरकमें रहनेके योग्य नहीं हैं; तुमने उन्हें नरक भोगते देखा, वह देवराज महेन्द्रके द्वारा प्रयुक्त की हुई माया थी ॥ ३४ ॥

अवश्यं नरकस्तात द्रष्टव्यः सर्वराजभिः।
ततस्त्वया प्राप्तमिदं मुहूर्तं दुःखमुत्तमम् ॥ ३५ ॥

हे तात ! सब राजाओंको अवश्य नरक देखना होता है, इसलिये तुम्हें मुहूर्तभर यह कष्टकर दुःख प्राप्त हुआ ॥ ३५ ॥

न सव्यसाची भीमो वा यमौ वा पुरुषर्षभौ।
कर्णो वा सत्यवाक्शूरो नरकार्हाश्चिरं नृप ॥ ३६ ॥

हे राजन् ! सव्यसाची अर्जुन, भीमसेन, पुरुषश्रेष्ठ नकुल, सहदेव और सत्यवादी शूरवीर कर्ण, ये लोग चिरकाल तक नरकमें रहनेके योग्य नहीं हैं ॥ ३६ ॥

न कृष्णा राजपुत्री च नरकार्हा युधिष्ठिर।
एह्येहि भरतश्रेष्ठ पश्य गङ्गां त्रिलोकगाम् ॥ ३७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! राजपुत्री द्रौपदी भी नरकमें जाने योग्य नहीं है। आओ, त्रिलोकगामिनी गङ्गाको देखो ॥ ३७ ॥

एवमुक्तः स राजर्षिस्तव पूर्वपितामहः।
जगाम सह धर्मेण सर्वैश्च त्रिदशालयैः ॥ ३८ ॥

धर्मके ऐसा कहनेपर तुम्हारे पूर्वपितामह वे राजर्षि युधिष्ठिर धर्म तथा स्वर्गमें रहनेवाले सब देवताओंके सहित गये ॥ ३८ ॥

गङ्गां देवनदीं पुण्यां पावनीमृषिसंस्तुताम्।
अवगाह्य तु तां राजा तनुं तत्याज मानुषीम् ॥ ३९ ॥

और ऋषियोंसे स्तुता पावनी पवित्रजलवाली देवनदी गङ्गामें राजा युधिष्ठिरने स्नान करके, अपने मानवशरीरका परित्याग किया ॥ ३९ ॥

ततो दिव्यवपुर्भूत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः।
निर्वैरो गतसंतापो जले तस्मिन्समाप्लुतः ॥ ४० ॥

अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिर उस गङ्गाजलमें स्नान करके दिव्य देहयुक्त, वैरभावसे रहित तथा सन्तापरहित होके शोभित होने लगे ॥ ४० ॥

ततो ययौ वृतो देवैः कुरुराजो युधिष्ठिरः।
धर्मेण सहितो धीमान्स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते स्वर्गारोहणपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ ॥ १२१ ॥

अनन्तर धीमान् कुरुराज युधिष्ठिर देवताओंसे घिरके ऋषियोंके द्वारा स्तुतियुक्त होकर धर्मके सहित गये ॥ ४१ ॥

महाभारतके स्वर्गारोहणपर्वमें तीसरा अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥ १२१ ॥

: ४ :

वैशम्पायन उवाच—

ततो युधिष्ठिरो राजा देवैः सर्षिमरुद्गणैः ।
पूज्यमानो ययौ तत्र यत्र ते कुरुपुंगवाः ॥ १ ॥

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले— अनन्तर राजा युधिष्ठिर देवताओं, ऋषियों और मरुद्गणसे पूजित होकर जिस स्थानमें कुरुपाण्डवगण निवास करते थे वहां गये ॥ १ ॥

ददर्श तत्र गोविन्दं ब्राह्मेण वपुषान्वितम् ।
तेनैव दृष्टपूर्वेण साहश्येनोपसूचितम् ॥ २ ॥

वहां पहले देखे हुए साहश्यके द्वारा सूचित ब्राह्मशरीरयुक्त भगवान् गोविन्दका उन्होंने दर्शन किया ॥ २ ॥

दीप्यमानं स्ववपुषा दिव्यैरस्त्रैरुपस्थितम् ।
चक्रप्रभृतिभिर्घोरैर्दिव्यैः पुरुषविग्रहैः ।
उपास्यमानं वीरेण फल्गुनेन सुवर्चसा ॥ ३ ॥

वे उस समय निज शरीरकी शोभासे दीप्यमान है, चक्रप्रभृति दिव्य और भयंकर अस्त्र पुरुष विग्रह धारण करके उनकी सेवामें उपस्थित हैं; अत्यंत तेजस्वी वीरश्रेष्ठ अर्जुन उनकी उपासनामें लगे हुए हैं, यह देखा ॥ ३ ॥

अपरस्मिन्नथोद्देशे कर्णं शस्त्रभृतां वरम् ।
द्वादशादित्यसहितं ददर्श कुरुनन्दनः ॥ ४ ॥

दूसरी ओर कुरुनन्दन युधिष्ठिरने शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ कर्णको बारह आदित्योंके साथ विराजमान देखा ॥ ४ ॥

अथापरस्मिन्नुद्देशे मरुद्गणवृतं प्रभुम् ।
भीमसेनमथापश्यत्तेनैव वपुषान्वितम् ॥ ५ ॥

अनन्तर दूसरे स्थानमें मरुद्गणसे घिरे हुए प्रभु भीमसेनको पहलेहीके समान शरीरसे युक्त अवलोकन किया ॥ ५ ॥

अश्विनोस्तु तथा स्थाने दीप्यमानौ स्वतेजसा ।
नकुलं सहदेवं च ददर्श कुरुनन्दनः ॥ ६ ॥

अनन्तर कुरुनन्दनने दोनों अश्विनीकुमारोंके निकट निज तेजके सहारे दीप्यमान नकुल और सहदेवको देखा ॥ ६ ॥

×

तथा ददर्श पाञ्चालीं कमलोत्पलमालिनीम् ।
वपुषा स्वर्गमाक्रम्य तिष्ठन्तीमर्कवर्चसम् ॥ ७ ॥

और सूर्यकी भांति तेजशालिनी कमलोंकी मालासे विभूषित द्रौपदीको अपनी तेजस्वी शरीरकी सुघराईसे सुरपुरको अभिभूत करती हुई देखा ॥ ७ ॥

अथैनां सहसा राजा प्रष्टुमैच्छद्युधिष्ठिरः ।
ततोऽस्य भगवानिन्द्रः कथयामास देवराट् ॥ ८ ॥

राजा युधिष्ठिरने उसे देखते ही उसे सहसा पूछनेकी इच्छा की । अनन्तर देवराज भगवान् इन्द्रने उनसे कहा ॥ ८ ॥

श्रीरेषा द्रौपदीरूपा त्वदर्थे मानुषं गता ।
अयोनिजा लोककान्ता पुण्यगन्धा युधिष्ठिर ॥ ९ ॥

हे युधिष्ठिर ! यह साक्षात् लक्ष्मी है, द्रौपदीरूपसे तुम लोगोंके निमित्त मनुष्यलोकमें गई थी। यह अयोनिजा, सर्वलोककान्ता और पुण्यगन्धशालिनी है ॥ ९ ॥

द्रुपदस्य कुले जाता भवद्भिश्चोपजीविता ।
रत्यर्थं भवतां ह्येषा निर्मिता शूलपाणिना ॥ १० ॥

यह द्रुपदकुलमें जन्म लेकर तुम लोगोंके द्वारा अनुगृहीत हुई थी; तुम लोगोंकी प्रसन्नताके निमित्त इसे स्वयं भगवान् महादेवने बनाया था ॥ १० ॥

एते पञ्च महाभागा गन्धर्वाः पावकप्रभाः ।
द्रौपद्यास्तनया राजन्युष्माकममितौजसः ॥ ११ ॥

हे राजन् ! ये अग्निप्रभासदृश अमित तेजस्वी महाभाग पांच गन्धर्व द्रौपदीके गर्भसे तुम लोगोंके पुत्ररूपसे जन्मे थे ॥ ११ ॥

पश्य गन्धर्वराजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ।
एनं च त्वं विजानीहि भ्रातरं पूर्वजं पितुः ॥ १२ ॥

इस गन्धर्वराज मनीषी धृतराष्ट्रका दर्शन करो, इन्हेंही तुम अपने पिताका बडा भाई जानो ॥ १२ ॥

अयं ते पूर्वजो भ्राता कौन्तेयः पावकद्युतिः ।
सूर्यपुत्रोऽग्रजः श्रेष्ठो राधेय इति विश्रुतः ।
आदित्यसहितो याति पश्यैनं पुरुषर्षभ ॥ १३ ॥

ये अग्निसदृश तेजस्वी कुन्ती-नन्दन सूत-पुत्रोंके ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ थे और येही राधेयके नामसे विख्यात थे । आदित्योंके साथ कर्ण जा रहे हैं, उस पुरुषश्रेष्ठको देखो ॥ १३ ॥

साध्यानामथ देवानां वसूनां मरुतामपि ।
गणेषु पश्य राजेन्द्र वृष्ण्यन्धकमहारथान् ।
सात्यकिप्रमुखान्वीरान्भोजांश्चैव महारथान् ॥ १४ ॥

हे राजेन्द्र ! साध्यगण, वसुगण और मरुद्गणके बीच वृष्णि तथा अन्धकवंशीय सात्यकि प्रभृति महारथियों और भोजवंशीय वीरवर महाबली पुरुषोंको देखो ॥ १४ ॥

सोमेन सहितं पश्य सौभद्रमपराजितम् ।
अभिमन्युं महेष्वासं निशाकरसमद्युतिम् ॥ १५ ॥

चन्द्रमासदृश कान्तिवाले, महाधनुर्धर, अपराजित सुभद्रापुत्र अभिमन्युको चन्द्रके सहित बैठे देखो ॥ १५ ॥

एष पाण्डुर्महेष्वासः कुन्त्या माद्र्या च संगतः ।
विमानेन सदाभ्येति पिता तव ममान्तिकम् ॥ १६ ॥

ये तुम्हारे पिता महाधनुर्धर पाण्डु कुन्ती तथा माद्रीके सङ्ग विमानके सहारे सदा मेरे समीप आते हैं ॥ १६ ॥

वसुभिः सहितं पश्य भीष्मं शान्तनवं नृपम् ।
द्रोणं बृहस्पतेः पार्श्वे गुरुमेनं निशामय ॥ १७ ॥

शान्तनुपुत्र राजा भीष्मको वसुओंके सहित देखो और बृहस्पतिके निकट अपने गुरु द्रोणको अवलोकन करो ॥ १७ ॥

एते चान्ये महीपाला योधास्तव च पाण्डव ।
गन्धर्वैः सहिता यान्ति यक्षैः पुण्यजनैस्तथा ॥ १८ ॥

हे पाण्डव ! ये सब तथा इनके अतिरिक्त अन्यान्य राजा तुम्हारे योद्धा लोग गन्धर्व, यक्ष और पुण्यात्मा लोगोंके सहित गमन करते हैं ॥ १८ ॥

गुह्यकानां गतिं चापि केचित्प्राप्ता नृसत्तमाः ।
त्यक्त्वा देहं जितस्वर्गाः पुण्यवाग्बुद्धिकर्मभिः ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते स्वर्गारोणहपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ १४० ॥

किसी किसीने देह त्यागके पवित्र वाणी, बुद्धि और कर्मसे स्वर्ग लोकपर अधिकार प्राप्त करके गुह्यकगणकी गति प्राप्त की है ॥ १९ ॥

महाभारतके स्वर्गारोहणपर्वमें चौथा अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥ १४० ॥

: ५ :

जनमेजय उवाच—

भीष्मद्रोणौ महात्मानौ धृतराष्ट्रश्च पार्थिवः ।
विराटद्रुपदौ चोभौ शङ्खश्चैवोत्तरस्तथा ॥ १ ॥

जनमेजय बोले— महानुभाव भीष्म और द्रोण, महाराज धृतराष्ट्र, विराट, द्रुपद, शङ्ख, उत्तर ॥ १ ॥

धृष्टकेतुर्जयत्सेनो राजा चैव स सत्यजित् ।
दुर्योधनसुताश्चैव शकुनिश्चैव सौबलः ॥ २ ॥

धृष्टकेतु, जयत्सेन और राजा सत्यजित्, दुर्योधनके पुत्रगण, सुबलनन्दन शकुनि ॥ २ ॥

कर्णपुत्राश्च विक्रान्ता राजा चैव जयद्रथः ।
घटोत्कचादयश्चैव ये चान्ये नानुकीर्तिताः ॥ ३ ॥

कर्णके पराक्रमी पुत्रगण, राजा जयद्रथ और घटोत्कच प्रभृति जिन लोगोंका नाम नहीं कहा गया ॥ ३ ॥

ये चान्ये कीर्तितास्तत्र राजानो दीप्तमूर्तयः ।
स्वर्गे कालं कियन्तं ते तस्थुस्तदपि शंस मे ॥ ४ ॥

तथा जिन राजाओंका वर्णन किया गया है, उन तेजस्वी शरीर धारण करनेवाले राजाओंने कितने समयतक स्वर्गमें वास किया था, वह भी मेरे समीप वर्णन करिये ॥ ४ ॥

आहो स्विच्छाश्वतं स्थानं तेषां तत्र द्विजोत्तम ।
अन्ते वा कर्मणः कां ते गतिं प्राप्ता नरर्षभाः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं प्रोच्यमानं त्वया द्विज ॥ ५ ॥

हे द्विजोत्तम ! क्या उन लोगोंको वहां शाश्वत स्थानकी प्राप्ति हुई थी ? अथवा कर्मफल भोगनेके अनन्तर उन श्रेष्ठ पुरुषोंको कौनसी गति प्राप्त हुई ? इसे मैं आपके मुखसे सुननेकी इच्छा करता हूं ॥ ५ ॥

सूत उवाच—

इत्युक्तः स तु विप्रर्षिरनुज्ञातो महात्मना ।
व्यासेन तस्य नृपतेराख्यातुमुपचक्रमे ॥ ६ ॥

सूत बोले— उस विप्रर्षि वैशम्पायन मुनिने राजाका ऐसा प्रश्न सुनके महात्मा व्यासदेवकी आज्ञानुसार उनके निकट सब वर्णन करना आरम्भ किया ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच—

गन्तव्यं कर्मणामन्ते सर्वेण मनुजाधिप ।
शृणु गुह्यमिदं राजन्देवानां भरतर्षभ ।
यदुवाच महातेजा दिव्यचक्षुः प्रतापवान् ॥ ७ ॥

श्री वैशम्पायन मुनि बोले– हे नरनाथ ! कर्मोकी समाप्ति होनेपर सब लोगोंको जानाही पडता है । हे भरतश्रेष्ठ ! महाराज ! यह देवताओंका गोपनीय रहस्य है । महातेजस्वी प्रतापवान् दिव्यचक्षु मुनि व्यासने जो कहा है, उसे बताता हूं, सुनो ॥ ७ ॥

मुनिः पुराणः कौरव्य पाराशर्यो महाव्रतः ।
अगाधबुद्धिः सर्वज्ञो गतिज्ञः सर्वकर्मणाम् ॥ ८ ॥

हे कुरुनन्दन ! महान् व्रतधारी, अगाध बुद्धि, सर्वज्ञ, सब कर्मोंकी गतिको जाननेवाले, पुरातन मुनि पराशर पुत्र व्यासदेव हैं ॥ ८ ॥

वसूनेव महातेजा भीष्मः प्राप महाद्युतिः ।
अष्टावेव हि दृश्यन्ते वसवो भरतर्षभ ॥ ९ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जो आठही वसु दीखते हैं, उसका कारण महातेजस्वी महाद्युति भीष्म उन वसुओंके स्वरूपमें ही प्रविष्ट हुए है ॥ ९ ॥

बृहस्पतिं विवेशाथ द्रोणो ह्यङ्गिरसां वरम् ।
कृतवर्मा तु हार्दिक्यः प्रविवेश मरुद्गणाम् ॥ १० ॥

आचार्य द्रोण आङ्गिरसोंमें श्रेष्ठ बृहस्पतिके शरीरमें प्रविष्ट हुए, हार्दिक पुत्र कृतवर्माने मरुद्गणमें प्रवेश किया ॥ १० ॥

सनत्कुमारं प्रद्युम्नः प्रविवेश यथागतम् ।
धृतराष्ट्रो धनेशस्य लोकान्प्राप दुरासदान् ॥ ११ ॥

प्रद्युम्न जहांसे आये थे, उस ही सनत्कुमारमें प्रविष्ट हुए । धृतराष्ट्रने धनाध्यक्ष कुबेरके दुर्लभ लोकोंमें गमन किया ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रेण सहिता गान्धारी च यशस्विनी ।
पत्नीभ्यां सहितः पाण्डुर्महेन्द्रसदनं ययौ ॥ १२ ॥

उनके सङ्ग यशस्विनी गान्धारीको भी उक्त लोक प्राप्त हुए । राजा पाण्डुने दोनों पत्नियोंके सहित महेन्द्रके भवनमें गमन किया ॥ १२ ॥

विराटद्रुपदौ चोभौ धृष्टकेतुश्च पार्थिवः ।
निशठाक्रूरसाम्बाश्च भानुः कम्पो विदूरथः ॥ १३ ॥

राजा विराट, द्रुपद, राजा धृष्टकेतु, निशठ, अक्रूर, साम्ब, भानु, कम्प, विदूरथ ॥ १३ ॥

भूरिश्रवाः शलश्चैव भूरिश्च पृथिवीपतिः ।
उग्रसेनस्तथा कंसो वसुदेवश्च वीर्यवान् ॥ १४ ॥

भूरिश्रवा, शल, पृथ्वीपति भूरि, उग्रसेन, कंस और वीर वसुदेव ॥ १४ ॥

उत्तरश्च सह भ्रात्रा शङ्खेन नरपुंगवः ।
विश्वेषां देवतानां ते विविशुर्नरसत्तमाः ॥ १५ ॥

तथा अनेक भाई शङ्खके साथ नरश्रेष्ठ उत्तर प्रभृति श्रेष्ठ पुरुषोंने विश्वेदेवगणोंमें प्रवेश किया ॥ १५ ॥

वर्चा नाम महातेजाः सोमपुत्रः प्रतापवान् ।
सोऽभिमन्युर्नृसिंहस्य फल्गुनस्य सुतोऽभवत् ॥ १६ ॥

चन्द्रमाके महातेजस्वी प्रतापवान् पुत्र जो वर्चा हैं वे अभिमन्युरूपसे नरश्रेष्ठ अर्जुनके पुत्र हुए थे ॥ १६ ॥

स युद्ध्वा क्षत्रधर्मेण यथा नान्यः पुमान्क्वचित् ।
विवेश सोमं धर्मात्मा कर्मणोऽन्ते महारथः ॥ १७ ॥

उस धर्मात्मा महारथीने अनन्यसाधारण पुरुषोंकी भांति क्षत्रियधर्मके अनुसार संग्राम करके कर्म पूरा होनेपर चन्द्रमामें प्रवेश किया है ॥ १७ ॥

आविवेश रविं कर्णः पितरं पुरुषर्षभ ।
द्वापरं शकुनिः प्राप धृष्टद्युम्नस्तु पावकम् ॥ १८ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! कर्ण अपने पिता सूर्यमें प्रविष्ट हुए । शकुनिने द्वापरमें और धृष्टद्युम्नने अग्निमें प्रवेश किया ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्रात्मजाः सर्वे यातुधाना बलोत्कटाः ।
ऋद्धिमन्तो महात्मानः शस्त्रपूता दिवं गताः ।
धर्ममेवाविशत्क्षत्ता राजा चैव युधिष्ठिरः ॥ १९ ॥

धृतराष्ट्रके सब पुत्र बलोन्मत्त राक्षस थे, उन महाबलियोंने समृद्धिसम्पन्न तथा शस्त्रसे मरकर स्वर्गमें गमन किया है । विदुर और राजा युधिष्ठिर धर्ममें प्रविष्ट हुए ॥ १९ ॥

अनन्तो भगवान्देवः प्रविवेश रसातलम् ।
पितामहनियोगाद्धि यो योगाद्गामधारयत् ॥ २० ॥

जिन्होंने पितामह ब्रह्मदेवकी आज्ञाके अनुसार योगबलसे पृथ्वीको धारण किया है, वे भगवान् अनन्तदेव जिन्होंने बलरामका स्वरूप धारण किया था, रसातलमें प्रविष्ट हुए हैं ॥ २० ॥

षोडशस्त्रीसहस्राणि वासुदेवपरिग्रहः ।
न्यमज्जन्त सरस्वत्यां कालेन जनमेजय ।
ताश्चाप्यप्सरसो भूत्वा वासुदेवमुपागमन् ॥ २१ ॥

हे जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णकी जो सोलह हजार स्त्रियां थीं, कालक्रमसे सरस्वती नदीमें डूबी, वेही अप्सराएं होकर भगवान् श्रीकृष्णके समीप गई ॥ २१ ॥

हतास्तस्मिन्महायुद्धे ये वीरास्तु महारथाः ।
घटोत्कचादयः सर्वे देवान्यक्षांश्च भेजिरे ॥ २२ ॥

उस महासंग्राममें जो घटोत्कच प्रभृति महारथी वीर मारे गये थे, वे देवताओं तथा यक्षोंके लोकोंको प्राप्त हुए ॥ २२ ॥

दुर्योधनसहायाश्च राक्षसाः परिकीर्तिताः ।
प्राप्तास्ते क्रमशो राजन्सर्वलोकाननुत्तमान् ॥ २३ ॥

हे राजन् ! दुर्योधनके जो सहायक थे, वे राक्षसरूपसे कहे गये हैं; तोभी उन लोकोंने क्रमसे उत्तम लोकोंको पाया है ॥ २३ ॥

भवनं च महेन्द्रस्य कुबेरस्य च धीमतः ।
वरुणस्य तथा लोकान्विविशुः पुरुषर्षभाः ॥ २४ ॥

उन श्रेष्ठ पुरुषोंने देवराज महेन्द्रके भवन, धीमान् कुबेर और वरुणके लोकोंमें प्रवेश किया है ॥ २४ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं विस्तरेण महाद्युते ।
कुरूणां चरितं कृत्स्नं पाण्डवानां च भारत ॥ २५ ॥

हे महाद्युतिमान् भारत ! यह मैंने तुम्हारे समीप कुरु-पाण्डवोंका समस्त चरित्र विस्तार-पूर्वक वर्णन किया ॥ २५ ॥

सूत उवाच—
एतच्छ्रुत्वा द्विजश्रेष्ठात्स राजा जनमेजयः ।
विस्मितोऽभवदत्यर्थं यज्ञकर्मान्तरेष्वथ ॥ २६ ॥

सूत बोले- द्विजश्रेष्ठगणोंसे राजा जनमेजय यज्ञकार्यके बीच इसे सुनके अत्यन्त विस्मित हुए ॥ २६ ॥

ततः समापयामासुः कर्म तत्तस्य याजकाः ।
आस्तीकश्चाभवत्प्रीतः परिमोक्ष्य भुजंगमान् ॥ २७ ॥

अनन्तर यज्ञ करानेवालोंने उनके उस यज्ञकार्यको समाप्त किया; आस्तिक मुनि भी सर्पोंको प्राणसंकटसे छुडाके अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ २७ ॥

ततो द्विजातीन्सर्वांस्तान्दक्षिणाभिरतोषयत् ।
पूजिताश्चापि ते राज्ञा ततो जग्मुर्यथागतम् ॥ २८ ॥

अन्तमें राजाने उन सब ब्राह्मणोंको पर्याप्त दक्षिणा देके परितुष्ट किया; वे लोग भी राजासे पूजित होकर जैसे आये थे उसी तरह निज निज स्थानपर गये ॥ २८ ॥

विसर्जयित्वा विप्रांस्तान्राजापि जनमेजयः ।
ततस्तक्षशिलायाः स पुनरायाद्गजाह्वयम् ॥ २९ ॥

महाराज जनमेजय भी ब्राह्मणोंको विदा करके तक्षशिलासे फिर हस्तिनापुरमें आये ॥ २९ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं वैशंपायनकीर्तितम् ।
व्यासाज्ञया समाख्यातं सर्पसत्रे नृपस्य ह ॥ ३० ॥

इस प्रकार राजा जनमेजय सर्पयज्ञमें व्यासदेवकी आज्ञानुसार श्रीवैशम्पायन मुनिके द्वारा कहे हुए ये सब विषय तुम्हारे निकट वर्णित हुए हैं ॥ ३० ॥

पुण्योऽयमितिहासाख्यः पवित्रं चेदमुत्तमम् ।
कृष्णेन मुनिना विप्र नियतं सत्यवादिना ॥ ३१ ॥

हे विप्र! सत्यवादी मुनि व्याससे निश्चित किया हुआ यह पुण्यमय इतिहास परम पवित्र और अत्यन्त उत्कृष्ट है ॥ ३१ ॥

सर्वज्ञेन विधिज्ञेन धर्मज्ञानवता सता ।
अतीन्द्रियेण शुचिना तपसा भावितात्मना ॥ ३२ ॥

सर्वज्ञ, विधि विधानके ज्ञाता, धर्मज्ञानवान्, साधु, अतीन्द्रिय, शुद्ध और पवित्र तपस्यासे शुद्धचित्त ॥ ३२ ॥

ऐश्वर्ये वर्तता चैव सांख्ययोगविदा तथा ।
नैकतन्त्रविबुद्धेन दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा ॥ ३३ ॥

ऐश्वर्यसम्पन्न, सांख्ययोगवित् अनेक तन्त्रविशुद्ध कृष्णद्वैपायन मुनि (वेदव्यास) ने दिव्य दृष्टिके सहारे देखकर ॥ ३३ ॥

कीर्तिं प्रथयता लोके पाण्डवानां महात्मनाम् ।
अन्येषां क्षत्रियाणां च भूरिद्रविणतेजसाम् ॥ ३४ ॥

लोकमें महानुभाव पाण्डवों तथा अन्यान्य अधिक धन तथा तेजसम्पन्न क्षत्रियोंकी कीर्तिका विस्तार करनेके लिये इसकी रचना की है ॥ ३४ ॥

य इदं श्रावयेद्विद्वान्सदा पर्वणि पर्वणि ।
धूतपाप्मा जितस्वर्गो ब्रह्मभूयाय गच्छति ॥ ३५ ॥

जो विद्वान् पुरुष सदा प्रत्येक पर्वपर इसे सुनाता है, उसके सारे पाप नष्ट होते हैं तथा स्वर्गपर जय करके ब्रह्मस्वरूपताको प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

यश्चेदं श्रावयेच्छ्राद्धे ब्राह्मणान्पादमन्ततः ।
अक्षय्यमन्नपानं वै पितॄंस्तस्योपतिष्ठते ॥ ३६ ॥

जो श्राद्धकर्ममें ब्राह्मणोंको कमसे कम इसका एक पाद–थोडासा अंश सुनाता है, उसका पितरोंको दिया हुआ अन्नपान अक्षय होकर पितरोंको प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

अह्ना यदेनः कुरुते इन्द्रियैर्मनसापि वा ।
महाभारतमाख्याय पश्चात्संध्यां प्रमुच्यते ॥ ३७ ॥

दिनमें इन्द्रियों अथवा मनसे मनुष्य जो पाप करता है, वह सायंसन्ध्याके समय महाभारतका पाठ करके उन पापोंसे छूट जाता है ॥ ३७ ॥

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥ ३८ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके विषयमें जो इसमें कहा गया है, वह अन्यत्र भी है; जो इसमें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है ॥ ३८ ॥

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो भूतिमिच्छता ।
राज्ञा राजसुतैश्चापि गर्भिण्या चैव योषिता ॥ ३९ ॥

यह ‘ जय ’ नामक इतिहासका श्रवण समृद्धि चाहनेवाले मनुष्योंको करना चाहिये; राजकुमार क्षत्रिय और गर्भिणी स्त्रियोंको भी इसे अवश्य सुनना योग्य है ॥ ३९ ॥

स्वर्गकामो लभेत्स्वर्गं जयकामो लभेज्जयम् ।
गर्भिणी लभते पुत्रं कन्यां वा बहुभागिनीम् ॥ ४० ॥

इसे सुनके स्वर्गकी इच्छा करनेवाला मनुष्य स्वर्ग पाता है, युद्धमें विजयके अभिलाषीको विजय प्राप्त होती है; गर्भिणी स्त्रीको पुत्र अथवा अत्यन्त भाग्यवती कन्या प्राप्त हुआ करती है ॥ ४० ॥

अनागतं त्रिभिर्वर्षैः कृष्णद्वैपायनः प्रभुः ।
संदर्भं भारतस्यास्य कृतवान्धर्मकाम्यया ॥ ४१ ॥

नित्यसिद्ध सर्वशक्तिमान् कृष्णद्वैपायन व्यासदेव मुनिने धर्मकी कामनासे इस महाभारत संदर्भकी रचना तीन सालमें की है ॥ ४१ ॥

नारदोऽश्रावयद्देवानसितो देवलः पितॄन् ।
रक्षो यक्षाञ्छुको मर्त्यान्वैशंपायन एव तु ॥ ४२ ॥

नारद मुनिने इसे देवताओंको सुनाया, असित देवल मुनिने पितरोंको, शुकदेवने यक्ष तथा राक्षसोंको और श्रीवैशंपायन मुनिने मनुष्योंको सुनाया है ॥ ४२ ॥

इतिहासमिमं पुण्यं महार्थं वेदसंमितम् ।
श्रावयेद्यस्तु वर्णांस्त्रीन्कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः ॥ ४३ ॥

जो मनुष्य ब्राह्मणोंको आगे करके इस वेदतुल्य अर्थसे प्रसिद्ध पवित्र इतिहासको तीन वर्णोंको सुनाता है ॥ ४३ ॥

स नरः पापनिर्मुक्तः कीर्तिं प्राप्येह शौनक ।
गच्छेत्परमिकां सिद्धिमत्र मे नास्ति संशयः ॥ ४४ ॥

वह इस लोकमें पापरहित तथा कीर्ति लाभ करके अन्तमें परम सिद्धि प्राप्त करता है, इस विषयमें मुझे कुछ सन्देह नहीं हैं ॥ ४४ ॥

भारताध्ययनात्पुण्यादपि पादमधीयतः ।
श्रद्दधानस्य पूयन्ते सर्वपापान्यशेषतः ॥ ४५ ॥

पवित्र महाभारतका जो एक पादभी पाठ करता है, उसे संपूर्ण महाभारतके अध्ययनका पुण्य प्राप्त होता है और उस श्रद्धावान् मनुष्योंके सब पाप छूट जाते हैं ॥ ४५ ॥

महर्षिर्भगवान्व्यासः कृत्वेमां संहितां पुरा ।
श्लोकैश्चतुर्भिर्भगवान्पुत्रमध्यापयच्छुकम् ॥ ४६ ॥

धर्मात्मा महर्षि व्यासदेवने पहले इस संहिताकी रचना करके अपने पुत्र शुकदेवको चार श्लोकोंसे पढाया था ॥ ४६ ॥

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे ॥ ४७ ॥

मनुष्य संसारमें सहस्रों मातापिता तथा सैकडों स्त्रीपुत्रोंके संयोग-वियोगका अनुभव कर चुके हैं, करते हैं और करते रहेंगे ॥ ४७ ॥

हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ ४८ ॥

हर्षके सहस्रों स्थान और भयके सैकडों समय प्रदिदिन अज्ञानी मनुष्यको प्राप्त होते हैं, परन्तु पण्डित पुरुषके मनमें वे प्रवेश नहीं कर सकते ॥ ४८ ॥

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥ ४९ ॥

मैं दोनों हात ऊपर उठाकर चिल्ला रहा हूं, कोई मेरा कहना नहीं सुनता; धर्मसे मोक्ष, तथा अर्थ और काम भी सिद्ध होते हैं, फिर लोग उसकी आराधना क्यों नहीं करते ? ॥ ४९ ॥

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥ ५० ॥

काम, भय, लोभ अथवा जीवनके निमित्त कदापि धर्मको न छोडे, धर्म ही नित्य है; सुख और दुःख अनित्य मात्र हैं; जीव नित्य है, जीवके हेतु शरीरादि अनित्य हैं ॥ ५० ॥

इमां भारतसावित्रीं प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ५१ ॥

जो प्रतिदिन भोरके समय उठके इस भारत सावित्रीका पाठ करता है, वह संपूर्ण महाभारतके अध्ययनका फल पाके परब्रह्म परमात्माका लाभ करता है ॥ ५१ ॥

यथा समुद्रो भगवान्यथा च हिमवान्गिरिः।
ख्यातावुभौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते ॥ ५२ ॥

सर्व ऐश्वर्यशाली समुद्र और हिमवान् पर्वत जिस प्रकार रत्नोंकी निधि कहके विख्यात हैं, वैसाही महाभारत भी उपदेशमय रत्नोंका भण्डार है ॥ ५२ ॥

महाभारतमाख्यानं यः पठेत्सुसमाहितः।
स गच्छेत्परमां सिद्धिमिति मे नास्ति संशयः ॥ ५३ ॥

जो भलीभांति एकाग्रचित्त होके इस भारत आख्यानका पाठ करता है, उसे परम सिद्धि प्राप्त होती है, इसमें मुझे सन्देह नहीं है ॥ ५३ ॥

द्वैपायनोष्ठपुटनिःसृतमप्रमेयं पुण्यं पवित्रमथ पापहरं शिवं च।
यो भारतं समधिगच्छति वाच्यमानं किं तस्य पुष्करजलैरभिषेचनेन ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते स्वर्गारोहणपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥ १९४ ॥

जो वेदव्यास मुनिके मुखसे निकले हुए अप्रमेय, पुण्यकारक, पवित्र, पाप हरनेवाले तथा कल्याणकारी इस महाभारतका पाठ दूसरोंके मुखसे सुनता है, उसे पुष्करतीर्थके जलमें स्नान करनेका क्या प्रयोजन है ? ॥ ५४ ॥

महाभारतके स्वर्गारोहणपर्वमें पांचवां अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥ १९४ ॥

॥ इति स्वर्गारोहणपर्व समाप्तम् ॥

॥ इति श्रीमहाभारतं संपूर्णम् ॥

पारडी [जि. बलसाड]